# ब्रह्मविज्ञान

पं. मधुसूदन ओझा
विद्यावाचस्पति

राजस्थान पत्रिका, प्रकाशन

# ब्रह्मविज्ञान

ग्रन्थ रचयिता :

समीक्षा चक्रवर्ती

**पं. मधुसूदन ओझा**

विद्यावाचस्पति



सम्पादन :

**पं. प्रद्युम्न शर्म्मा ओझा**

प्रकाशक :

**राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,**

केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर।

द्वितीयावृत्ति ] वि. सं. २०४४ [ अमूल्य

प्रकाशक:
राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर ।

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय,
"मानवाश्रम", दुर्गापुरा रोड़,
जयपुर–१५

# प्रकाशकीय

'ब्रह्मविज्ञान' का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष होता है। वेदविद्या वाचस्पति पं० मधुसूदन ओझा का यह एकमात्र ग्रन्थ है जो उन्होंने बोल-बोल कर हिन्दी में लिखवाया था। प्रथम बार ओझा जी महाराज के सुपुत्र पं० प्रद्युम्न कुमार ओझा ने वि. संवत् २००० में इसे संपादित कर प्रकाशित किया था। इसके बाद ग्रन्थ अप्राप्य हो गया। विद्यावाचस्पतिजी के ग्रन्थों की खोजबीन के दौरान जब मैं उनकी पौत्री श्रीमती शान्ता देवी और पौत्र श्री पद्मलोचन से मिला तो मुझे उन्होंने बताया कि हिन्दी में लिखा हुआ उनके पूज्य दादाजी का एक ग्रन्थ "ब्रह्मविज्ञान" रतनगढ़ के राजकीय पुस्तकालय में उपलब्ध है। उन्होंने सुझाव दिया कि इस ग्रन्थ का नियमित प्रकाशन हिन्दी पाठकों के लिए किया जाय। मुझे यह सुझाव शिक्षाप्रद मालूम हुआ। इस बीच श्री किशोर कल्पनाकान्त को पत्र लिख कर रतनगढ़ के पुस्तकालय से यह ग्रन्थ मंगवाया और फोटोस्टेट कापी कर के वापिस लौटा दिया।

ग्रन्थ उपलब्ध होते ही पहला कदम तो यह उठाया कि 'राजस्थान पत्रिका' ने इसे धारावाहिक रूप में 'विज्ञान वार्ता' स्तम्भ में प्रकाशित करना शुरू कर दिया। बाद में समूचे ग्रन्थ का दूसरा संस्करण भी प्रकाशित करने का निर्णय किया गया। 'मानवाश्रम' में ही अन्यान्य ग्रन्थों के साथ इसे भी छपने के लिए दे दिया गया। प्रूफ देखने का काम श्री कैलाश चतुर्वेदी ने संभाला। प्रूफ देखने में सबसे बड़ा काम यह था कि बोली हुई भाषा का स्वरूप यथावत् रखा जाय। निश्चय ही ओझा जी की बोली हुई भाषा उनकी लिखित भाषा से सर्वथा भिन्न है। हमने उसके "श्रुति" रूप को यथेष्ट महत्त्व दिया है। ग्रन्थ मुद्रण की देख-भाल का दायित्व श्री प्रद्युम्न कुमार शर्मा ने लिया।

"ब्रह्मविज्ञान" वेद शास्त्र की कुञ्जी है। इसको पढ़ कर विश्व की रचना का स्वरूप अवश्य ही समझ में आयेगा और यह भी समझ में आ जायेगा कि वेद का वास्तविक स्वरूप क्या है। मुझे आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि पाठक अवश्य ही इस ग्रन्थ को पढ़ कर लाभान्वित होंगे। जो लोग वेद को सीधे नहीं पढ़ सकते उनके लिए तो यह वरदान ही सिद्ध होगा।

**कर्पूर चन्द्र कुलिश**

**मकर संक्रान्ति, सम्वत् २०४४ वि.**

# वक्तव्य

पूज्य पिताजी के स्वर्गवास के अनन्तर उनके रचित जो ग्रन्थ है उनके प्रकाशन के लिये समिति आदि कई व्यवस्थायें हुई परन्तु कार्य में परिणत होने की निकट भविष्य में मुझे कोई सम्भावना प्रतीत न हुई। इसका मुख्य कारण यह प्रत्यक्ष है कि प्रथमतः ये वैज्ञानिक विषय उपन्यास आदि की तरह रोचक नहीं हैं; दूसरी बात यह है कि वेदों के अन्तर्गत जो फिलासॉफी आदि कूट-कूट कर भरी हुई हैं उन गम्भीर विषयों को ही प्रकाश में लाया गया है जो बहुत से तो क्रोड़--पत्रों (रफ कापियों) से मूल ग्रन्थ तैयार किये गये और उनमें से कुछ प्रेस कापियां भी तैयार हुई शेष ज्यों के त्यों क्रोड़-पत्र ही रहे। उक्त मूल तथा प्रेस कापियां विभिन्न लेखकों ने लिखी जिससे उनमें बहुत सी गलतियां रह गई साथ ही जहां-जहां प्रमाण के लिये श्लोक अथवा ऋचायें दी गई हैं उनमें कहीं ग्रन्थों का नम्बरों के रूप में सङ्केत दिया गया है और कहीं यह कार्य शेष ही रह गया है तात्पर्य यह कि इन सब बातों को यथावत् ठीक तरीके से सम्पादन करना भी आसान बात नहीं। इन ग्रन्थों के लिये मुख्यतया ऐसे विद्वान की आवश्यकता है जो ग्रन्थों की रचना शैलियों से भी पूर्ण अभिज्ञ हो, यह एक कठिन समस्या उपस्थित हुई। इनके अतिरिक्त आर्थिक संस्था का भी होना परमावश्यक तथा मुख्य बात है। अतः इन्हीं परामर्शों में समय व्यतीत होते देखकर मैंने यही उचित समझा कि जब तक यह सब कुछ तय नहीं पाता है तब तक कम से कम, मैं इस कार्य को शीघ्र प्रारम्भ कर दूं। यही सोचकर मैं इस महान् कार्य में यथाशक्य संलग्न हो गया और आज करीब ४ वर्ष होते आये, इस सम्पादन तथा प्रकाशन के कार्य को उसी प्रगति से बराबर करता चला आ रहा हूं। इस अवसर में १२ ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं और ५ ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशनार्थ दिये जा चुके हैं शेष का सम्पादन आदि कार्य हो रहा है। अभी तक करीब-करीब यह संपूर्ण कार्य भार मेरे ही ऊपर है, यह स्पष्ट है कि उपरोक्त कार्य को एक व्यक्ति का सम्पन्न कर लेना सर्वथा असम्भव है परन्तु मैंने यही विचार रखा है कि मुझसे जितना हो सके वह तो मैं यावज्जीवन करता रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता रहूं जो शेष रह जायगा उसके लिये परमेश्वर किसी न किसी को अवश्य प्रेरणा करेंगे, यह पूर्ण विश्वास भी है।

इसके व्यय के विषय में मैंने तो अपना सर्वस्व अर्पण कर देना निश्चित कर ही रखा है परन्तु श्रीमान् अलवरेन्द्र का भी पूर्ण साहर्य रहा है। मुझे श्रीमान् जयपुर नरेश तथा श्रीमान् मिथिलाधीश से भी पूर्ण भरोसा है कि वे भी अवश्य इस कार्य में अपनी उदारता दिखायेगें, इनके अतिरिक्त कतिपय विद्यानुरागी रईस आदि भी इसे अपनावेंगे ऐसी आशा होती है।

यह जो ब्रह्मविज्ञान नामक हिन्दी भाषा का ग्रन्थ है इसका श्रेय पुरोहित गोपीनाथजी जोशी भूतपूर्व हैडमास्टर चांदपोल हाईस्कूल तथा पर्सनल ऐसिस्टेन्ट शिक्षाविभागाध्यक्ष जयपुर को ही है। उन्होंने बरसों पूज्य पिताजी की सेवा में उपस्थित होकर जब जितना सा समय पाते उनसे आग्रह पुरस्सर निवेदन

करके जो वे कहते जाते वह जोशी जी अक्षरशः लिखते जाते। जोशीजी के इस ब्रह्मविज्ञान के असली कापी में जिस दिन जितना लिखा गया उसके अन्त में तिथि लिखी हुई है यह तिथियां कभी कुछ पंक्तियों के बाद ही हैं तो कभी एक दो पृष्ठ के बाद लगी हुई हैं इस प्रकार यह वि० सं० १९७७ के कार्तिक शु० ७ से प्रारम्भ करके वि० सं० १९८१ कार्तिक शु० ११ को ४ वर्षों में बड़े परिश्रम से जोशीजी ने इसको पूर्ण किया है। उन्होंने कही-कही संस्कृत श्लोकों का अनुवाद हिन्दी पद्य में कर दिया है।

जोशीजी का इस वृद्धावस्था में इतना विद्यानुराग साथ ही इतने परिश्रम की क्षमता, यह साधारण बात नहीं बल्कि आपको एक आदर्श विद्या प्रेमी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

पूज्य पिताजी ने इस ब्रह्म के विषय पर कई ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु वे संस्कृत में ही हैं परन्तु यह हिन्दी भाषा में होने से आशा है कि हिन्दी भाषा के प्रेमी विद्वज्जन भी इससे लाभ उठावेंगे।

जो भी ग्रन्थ प्रकाशित किये जा रहे हैं यथाशक्ति शुद्ध छपने का पूरा ध्यान रखा जाता है फिर भी बहुत सी अशुद्धियां रह ही जाती हैं जिसके लिये पाठकवृन्द से क्षमा चाहता हूं।

अन्त में विद्याप्रेमी संसार से मेरा यही एक मात्र, निवेदन है कि मुझे इस कार्य में सफलता हो, ऐसी परमेश्वर से प्रार्थना करें।

**पं. प्रद्युम्न शर्म्मा ओझा**

विद्याधर का रास्ता
जयपुर सिटी
ता० १-५-४३

पूज्यपाद विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदनजी महाराज (श्रीगुरुचरणाः)

❀ श्रीः ❀

# समीक्षा चक्रवर्ती पं. मधुसूदन ओझा संक्षिप्त परिचय

लेखक–म० म० पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा चतुर्वेदी, प्रधानाध्यक्ष,
महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर ।
१ जून, सन् १९४२ ई०

**यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।** (गीता)

इस भगवदुक्ति के अनुसार जब जब वैदिक सत्यविद्या अज्ञान धूम से आवृत होने लगती है और मोह वश जनता का विश्वास हटने लगता है, तब परमेश्वर की प्रेरणा से कोई शक्ति प्रकट होकर सत्य-विद्या व सत्य-धर्म को राहुग्रास से मुक्तकर अज्ञान का नाश कर देती है । वेद एक सत्य-विद्या है और वैदिक धर्म सत्य-धर्म है, अतएव इनकी रक्षा का आयोजन ईश्वर की ओर से समय समय पर सदा होता रहता है, जिसकी साक्षी इतिहास दे रहे हैं । वर्तमान समय में वेद विद्या और वैदिक धर्म्म के लिए एक प्रचंड आपत्ति का समय है । पुराने इतिहास की खोज के लिए चाहे आज नाम मात्र को वेद का गौरव माना जाता हो, किन्तु वेद सत्यविद्या का निधान है, सब प्रकार के विज्ञानों का मूल स्रोत है, या भारतीय विज्ञान सूर्य्य के प्रकाश का पूर्ण विवरणात्मक इतिहास है, इस अटल सत्य को मानने के लिए आज की शिक्षित जनता तैय्यार नहीं । वैदिक धर्म्म एक वैज्ञानिक धर्म्म है, त्रिकालावाध्य एक रस है, यह विश्वास आज पाश्चात्य क्रम से शिक्षित जनता के अंतःकरण में स्थान नहीं पाता । पावे कहां से ? आज सत्य-विद्या या सत्य-धर्म की तौल होती है वस्तु-विज्ञान (Science) की तराजू पर ? वस्तुविज्ञान ही इस युग की मुख्य विद्या है । वस्तु विज्ञान को वर्तमान शैली के अनुकूल प्रस्फुटित करने वाला कोई वेद का भाष्य आजतक उपलब्ध नहीं । वैदिक धर्म्म का वस्तु–विज्ञानों से सम्बन्ध बताने के साधन काल समुद्र की तरंगों में लीन हो चुके हैं, फिर विज्ञान राशि कहकर वेद का गौरव इस युग में किस आधार पर टिक सके ! बस, नाममात्र की श्रद्धा वेद की बच गई है । "इलहामी पुस्तक" कहकर कुछ आस्तिक लोग "कुरान" आदि की तरह उस पर भी श्रद्धा कर लेते हैं; किन्तु श्रद्धा का आधार अंधकारमय है । यह निराधार श्रद्धा कितने दिन चल सकती है ? इस बीसवीं शताब्दी में अंधविश्वास का कहां ठिकाना ? भारत के कई योग्य आधुनिक विद्वानों ने वेद गौरव शिक्षा के लिये वस्तु विज्ञान से वेद का सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया, किन्तु भारतीय शास्त्रों की नियत परिभाषा के अनुसार क्रम-बद्ध विज्ञान का मूल वेद में न बताया जा सका और विना उसके वैज्ञानिकों का विश्वास उस विवरण पर नहीं जम सकता था । वे इधर उधर की ले उड़ी बातें कह कर ऐसे प्रयत्नों को उपहास का ही स्थान मानते रहे ।

जब तक क्रम बद्ध रूप में वैज्ञानिकों को स्पष्ट न बता दिया जाय कि वेद में वस्तु विज्ञान की इतनी ऊँची परिभाषाएं हैं कि जहां तक का बीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों को स्वप्न भी नहीं आया। जब तक यह सिद्ध न कर दिया जाए कि आधुनिक वस्तु विज्ञान की बहुत सी उलझनें वैदिक-विज्ञान की शरण में आने से अनायास सुलझ सकती हैं तब तक वैज्ञानिक जगत् वेद का यथोचित गौरव नहीं मान सकता। किन्तु जगन्नियन्ता जगदीश्वर को यह कब सह्य हो सकता था कि सत्यविद्या का गौरव विज्ञान के मध्याह्न काल में छिपा रह जाय? उसने एक ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति को संसार क्षेत्र में उतार दिया, जिसने उसी जगन्नियन्ता की प्रेरणा से अपनी सब आयु वैदिक-विज्ञान और वैदिक-इतिहास के अन्वेषण में लगाकर उक्त महत्व पूर्ण विज्ञान और इतिहास का एक क्रमबद्ध सूत्र तैय्यार कर ही डाला, जिसके अतुल परिश्रम और अलौकिक प्रतिभा के प्रकाश से अनेक शताब्दियों से अमूल्य विज्ञान रत्नों को अपने उदर में छिपा रखने वाली गुहा का द्वार आज देखने में आ गया और उसमें प्रवेश करने वालों को परम सौकर्य्य मिल गया। वही व्यक्ति हमारे (चरित नायक) गुरुवर जयपुर राज्य के प्रधान राजपंडित समीक्षाचक्रवर्ती स्वर्गीय पं० श्री मधुसूदनजी ओझा विद्यावाचस्पति महामहोपदेशक हुए। आपका वैदिक अन्वेषण सम्बन्धी कार्य जब पूर्ण रूप से प्रकाश में आवेगा तब विद्वज्जन हमारी इन पंक्तियों की सत्यता का अनुभव करेंगे, यह हमें पूर्ण विश्वास है।

अस्तु ऐसे महापुरुषों का पवित्र परिचय जाति की एक सम्पत्ति होती है, कार्य-क्षेत्र में उतरने वालों के लिये योग्यतम आदर्श होता है, और विद्या रसिकों के लिये कोतूहलवर्द्धक होता है। इस विचार से श्री पंडितजी महाराज का संक्षिप्त परिचय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

बिहार प्रान्त में मिथिला के मुजफ्फरपुर जिले के गाढ़ा नामक ग्राम में जो कि रेलवे स्टेशन सीतामढ़ी से दक्षिण की ओर दश मील की दूरी पर है पंडित श्री वैद्यनाथ ओझाजी के घर वि० सं० १९२३ में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी (भा० कृ० ८) की रात्रि को १० १/२ बजे मृगशिरानक्षत्र में आपका जन्म हुआ।

आपकी जन्म-कुण्डली इस प्रकार है।

आपका कुल एक प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुषों की परम्परा का है। आपका बाल्यकाल स्वदेश में पिता के पास ही लालन-पालन व प्रारम्भिक शिक्षा में व्यतीत हुआ। आपके पिता के बड़े भाई

पं० राजीवलोचनजी ओझा जिनने जयपुर महाराज स्व० रामसिंह जी से अतुल सम्मान और पूर्ण-जीविका प्राप्त की थी, उनके कोई सन्तान न थी इससे वे अपने छोटे भ्राता वैद्यनाथ झा के पुत्र श्री मधुसूदनझा जी को अपना दत्तक पुत्र बनाकर यज्ञोपवीत संस्कार के अनन्तर वि० सं० १९३२ में अपने साथ जयपुर ले आये और जयपुर में ही उच्च कक्षा के विद्वानों के पास आपके पठन पाठन का प्रबन्ध किया गया। पं० श्री राजीवलोचनजी अपने साथ महाराजा साहिब के पास भी उक्त पंडितजी को ले जाया करते थे पण्डितजी बचपन से ही बड़े कुशाग्र बुद्धि थे अतः कभी-कभी महाराज के प्रेम पूर्वक किसी प्रश्न का बड़ी मधुरता और बुद्धिमत्ता से उत्तर देते, जिससे महाराज इनको वात्सल्य पूर्ण प्रेम दृष्टि से देखते और पण्डित राजीवलोचन जी से यह कहा करते कि यह लड़का बड़ा होनहार मालूम होता है।

पांच छः वर्ष व्यतीत हुये थे, उक्त पण्डितजी सिद्धान्तकौमुदी ही पढ रहे थे कि इस अवसर में आपके पितृव्य पं० राजीवलोचन ओझा जी का स्वर्गवास हो गया। इसके एक या डेढ़ वर्ष बाद ही महाराज रामसिंहजी का स्वर्गवास हो गया। अतः इन घटनाओं से आपके जीवन क्रम का एकदम परिवर्तित हो जाना एक स्वाभाविक बात थी किन्तु चरित्र नायक को स्वाभाविक विद्या का व्यसन था, आपको विद्याध्ययन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता था। अब जयपुर में विद्या प्राप्ति का सुयोग न देखकर इन्हें अपनी पितृव्य पत्नी के साथ सं० १९३९ वि० में अपनी जन्म भूमि को प्रस्थान करना पड़ा, किन्तु वहां भी अध्ययन क्रम आपकी रुचि के अनुकूल न हो सका और आपकी विद्यापिपासा अति प्रबल थी, इस कारण आप अपने कुटुम्बियों को समझा बुझा कर अध्ययनार्थ काशी चले गये, वहां दरभंगा पाठशाला में स्वनाम धन्य म० म० स्वर्गीय श्री शिवकुमार मिश्र जी के समीप विद्याध्ययन करने लगे और लगातार ८ वर्ष तक वहां ही पढ़ते रहे। अपने उत्कट परिश्रम तथा अद्भुत बुद्धि के कारण व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा, वेदान्त आदि के ग्रन्थों का आपने गुरु मुख से न केवल अध्ययन ही कर लिया प्रत्युत उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया। आपने काशी में विद्याध्ययन के अतिरिक्त भगवान् कामेश्वर शंकर की उपासना भी बड़े मनोयोग से की जिससे आपको विद्योन्नति में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

आपका विवाह १७ वर्ष की अवस्था में अलवर के राजगुरु पं० श्री चंचल ओझाजी मन्त्र शास्त्री की कन्या से वि० सं० १९४० में हुआ। इस समय चंचल झा के सुपुत्र पं० रामभद्र ओझाजी राज्य के लब्धप्रतिष्ठ रिटायर्ड जुड़ीशियल मिनिस्टर हैं। काशी में विद्याध्ययन पूर्णकर पण्डितजी बूंदी, कोटा, झालरापाटन, रतलाम आदि के नरेशों से मिले और पूर्ण सम्मानित हुए। अन्त में जयपुर राज्य से विशेष अनुरोध होने पर वि० सं० १९४६ में जयपुर चले आये।

जयपुर में आते ही पण्डितजी महाराजाज कॉलेज में संस्कृत प्रोफेसर नियुक्त हुए। बीच में आपने कुछ समय संस्कृत कालेज में वेदान्त के प्रधान अध्यापक का कार्य भी किया था। इस अरसे में कई घटना ऐसी हुई जिनसे आपके प्रखर पाण्डित्य की महिमा भूतपूर्व जयपुर नरेश स्व० महाराज माधवसिंहजी के के कानों तक पहुंची और गुणग्राहक महाराज ने इन्हें अपने आत्मिक परिजनों में नियुक्त कर वि० सं० १९५१ में निजी पुस्तकशाला का प्रबन्ध इनके अधीन कर दिया व मौजमन्दिर (धर्मशाला) का सभापति बना दिया और राज्य के सर्वप्रधान पण्डित मान कर परम आदर पूर्वक अपने पास रखा। श्रीमान्

प्रायः नित्य ही कुछ समय इनसे शास्त्रीय वार्तालाप किया करते थे जिसका महाराज पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह पण्डितजी की अनुमति बिना कोई भी धार्मिक-कार्य नहीं करते थे।

पंडितजी महाराज न केवल शास्त्रों ही में नैपुण्य रखते थे अपितु शासन नीति में भी आप पूर्ण प्रवीण थे, अतः समय-समय पर महाराज के नैतिक विषयों में भी आप से वार्तालाप होता रहता था इस प्रकार पण्डित जी स्व० जयपुर नरेन्द्र के उच्चकोटि के कृपापात्रों में से बन गये और महाराज के नवरत्नों में आपकी गणना थी। जयपुर राज्य के उच्च सामन्तों के समान आप आदरणीय थे, और आपका प्रभाव राज्य वर्ग में तथा प्रजाजनों में बहुत विशेष था। आपको महाराज ने आजीविका भी पूर्ण दे रक्खी थी, इसलिये रईसों के समान ही आपका जीवन बीता।

सन् १९०२ ई० में भारत सम्राट एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक के समय जो ऐतिहासिक विलायत यात्रा हुई थी, उसका सब धार्मिक आयोजन पण्डितजी के सत्परामर्शानुसार ही हुआ था और महाराजाधिराज इन्हें भी अपने साथ ले गये थे। वहां संस्कृत के यूरोपियन विद्वान् जब आप से मिले तो बड़े प्रभावान्वित हुए और शीघ्र ही वहां आपकी कीर्ति फैल गई। वहां के आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध विद्वान् मैकडोनैल्ड, कैम्ब्रिज के विद्वद्वर बैंडाल और इण्डिया आफिस के पुस्तकालयाध्यक्ष टामस पंडितजी से मिलकर इनकी वैज्ञानिक विवेचनाओं पर मुग्ध हो गये और आपका बड़ा सम्मान सत्कार उनने किया। आपका वहां वेद धर्म पर एक बड़ा जोरदार व्याख्यान भी हुआ (जो जयपुर के संस्कृत रत्नाकर मासिकपत्र में कई वर्ष पहले छप चुका है) इससे वहां के सभी विद्वज्जन आश्चर्यान्वित हुये और आप के कारण वैदिक धर्म का डंका विलायत में गूंज उठा।

उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करने को विलायत से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्रों के कुछ अंश नीचे दिये जाते हैं।

## The Westminister Gazette–26.70.2

A Hindoo savant in London

In the back-ground of the group of Personages, who have come to London for the Cororation, the Presence has remained unnoticed of a Hindoo savant, a great celebrity in India, a human store-house of Vedic wisdom and philosophy. This is a Pundit Madhusudan Ojha a profound sanskrit scholar. The pundit's conversation in fluent Sanskrit greatly interested the Cambridge Orientalist in his Eastern visitor.

The Sun—23.7.02.

The Pundit visited Professor Macdonald of Oxford who was greatly pleased to cultivate his acquaintance. Last Sunday the Pundit was invited to Cambridge by Professor C. Eendall who with his wife gave him a warm reception. what interested the Cambridge Orientalist most was the conversation of the Pundit in

fluent Sanskrit which is a rare treat now even in India while he was deeply impressed by the deep learning of his Eastern visitor.

सम्राट के राज्याभिषेक के अवसर पर पण्डितजी महाराज ने कुछ पद्य बनाकर इङ्गलिश अनुवाद सहित छपाकर सम्राट को समर्पित किये थे, जिनकी सादर स्वीकृति के साथ सम्राट ने आपको मैडिल, तथा एक लिखित धन्यवादपत्र सम्मानित किया था।

पंडितजी महाराज सदा वैदिकविज्ञान की खोज में ही लगे रहते थे। आपका संपूर्ण समय वेद-रहस्य के उद्घाटन के प्रयत्न में ही बीतता था। आप अस्वस्थ हो जाने की दशा में भी अपना कार्य करते ही रहते थे। अपने शरीर, स्वास्थ्य, आराम व अर्थोपार्जन आदि सब बातों की उपेक्षाकर यह महान् कार्य आपने आजीवन किया। आपके लगभग ५० वर्ष घोर तपस्या के रूप में बीते, जिस तपस्या के फल-स्वरूप आपके लिखे हुए १२५ से भी अधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो संस्कृत विद्या, सनातनधर्म और भारत-वर्ष का वैज्ञानिक युग में मस्तक ऊँचा करने के लिए पर्याप्त साधन हैं। आपने अपने हाथों से इन सब ग्रन्थों की पाण्डुलिपि, साथ ही प्रतिलिपि लिखी है। इनमें दो चार ग्रन्थों के अतिरिक्त प्रत्येक ग्रन्थ २०० से ५०० पृष्ठ तक के हैं और कोई कोई तो इससे भी अधिक हैं। इतनी मौलिक रचना कर लेना कोई मामूली बात नहीं है। आपका लेख भी बड़ा सुन्दर छापे के सदृश होता था और आप चित्रकला में भी कुशल थे।

राजकार्य और ग्रन्थ लेखन व्यसन के कारण विशेष देश भ्रमण का अवसर पण्डितजी को नहीं मिला इसीलिये आपके असाधारण पांडित्य व अलौकिक वैदिक रहस्योद्घाटन शैली और विषयों के प्रवचन की चतुरता का भारतीयों को विशेष परिचय प्राप्त न हो सका, किन्तु जब कभी भी ऐसा अवसर प्राप्त हुआ, तब श्रोतागणों को चित्रित् होता हुआ ही देखा और धीरे-धीरे देश में आपकी ख्याति बढ़ती ही गई।

सन् १९०६ ई० में काशी में कांग्रेस सभा के अवसर पर और प्रयाग के सम्वत् १९६२ वि. कुम्भ के अवसर पर जो भारतधर्म महामण्डल के महाधिवेशन हुए थे, जिनमें सभी भारतीय नरेशों को सानुरोध निमन्त्रण भेजा गया था, वहां जयपुर राज्य की ओर से पण्डितजी महाराज गये थे। उस समय भूतपूर्व दरभंगा नरेश के सभापतित्व में आपका भाषण सुनकर न केवल विद्वन्मण्डली ही, किन्तु अंग्रेजी के बड़े-बड़े विद्वान् और साधारण जनता भी मुग्ध तथा गद्गद हो गये थे। बहुत दिनों तक यह आपकी ख्याति कई समाचार पत्रों में प्रकाशित होती रही थी उसी अवसर पर भारतधर्म—महामण्डल की ओर से आपको विद्यावाचस्पति तथा महामहोपदेशक इन दो पदवियों से विभूषित किया गया था। इसके अतिरिक्त आप-के अभिभाषण लाहौर, काशी, कलकत्ता आदि में बड़े जोरदार हुये थे, जिनसे उपस्थित जनता बहुत प्रभावान्वित हुई और आपको बड़े सम्मानपूर्वक अभिनन्दन पत्र समर्पित किये गये। आप वैदिक गहन विषयों के उद्घाटनार्थ शास्त्रों का अवलोकन तथा लेखन कार्य तो करते ही रहते थे साथ ही जिज्ञासु वर्गों को प्रायः नित्य ही कुछ समय अनेक विषयों को समझाया भी करते थे। आपकी प्रवचन शैली बहुत ही उच्चकोटि की थी आप श्रोताओं के हृदय में वस्तुज्ञान पूर्ण रूपेण जमा देते है श्रोतालोग अद्भुत

विषयों को सुनकर चकित तथा मुग्ध हो जाते। कोई भी विषय जब तक जिज्ञासुओं की समझ में पूरे तौर से न आजाता तब तक वह अनेक प्रकार से घण्टों तक उस वस्तु की मीमांसा करते ही रहते थे। इस कार्य में उनका मस्तिष्क कभी नहीं थकता था। उनमें यह एक खास बात थी कि गूढ़तम तत्वों के विचार में इतना प्रबल परिश्रम अहर्निश करते रहने पर भी उनका मस्तिष्क अश्रान्त ही दीख पड़ता था इस अत्यधिक परिश्रम के कारण पाचन शक्ति की कमी से उनका स्वास्थ्य तो ठीक नहीं रहता था और शरीर बड़ा कृश था, किन्तु लिखने या बोलने में वे कभी नहीं रुकते थे। वे बहुत ही स्वल्पाहारी थे, कभी-कभी तो वे अपनी इस धुन में भोजन करना तक भूल जाते थे, दो चार बार ताकीद करने पर भोजन के लिये जाना तो नित्य नियम सा ही था।

पण्डितजी महाराज के समीप जिज्ञासुओं के आने जाने की संख्या ही क्या हो सकती थी, देश विदेश से भी लोग नई-नई शंकाओं को सुलझाने के लिये उपस्थित हुआ करते थे। वर्तमान जयपुर नरेश महाराज श्री १०८ श्री मानसिंहजी को महाराजकुमार अवस्था में हिन्दी, संस्कृत की प्रथम शिक्षा का आरम्भ पण्डितजी महाराज ने ही कराया था। स्वर्गीय भूतपूर्व महाराज माधवसिंह जी के अनुसार वर्तमान जयपुर नरेन्द्र भी धार्मिक विषयों में सभी परामर्श पण्डितजी से ही लिया करते थे, ये पण्डितजी को बड़ी श्रद्धा तथा मान की दृष्टि से देखते थे और उनके पांडित्य से बहुत प्रभावान्वित रहते थे।

अन्यान्य कई राजा महाराजा भी आपको बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। स्वर्गीय तथा वर्तमान श्रीमान् दरभंगा महाराज का आप पर बड़ा ही प्रेम प्रसाद था, साथ ही आपकी इस अद्वितीय विद्वता को वे अपना निजी गौरव समझते थे। वर्तमान अलवर नरेश ने तो अपने यज्ञोपवीत के अवसर पर आप से ही दीक्षा ग्रहण की थी और आपको अपना सर्वश्रेष्ठ गुरू मानकर ये आपका बहुत ही सम्मान करते थे। स्व० महाराज किशनगढ़, स्व० भूतपूर्व काशी नरेश तथा शाहपुराधीश भी आपके बड़े भक्त थे।

इतने पर भी एक विशेषता यह थी कि पण्डितजी ने राजा महाराजा, बड़े-बड़े सेठ आदि किसी से भी कभी कोई याचना नहीं की। आप स्वतन्त्र प्रकृति और निरपेक्ष व्यक्ति थे। साथ ही आपकी प्रकृति अतिशान्त और नितान्त सरल थी। आपका रहन सहन बहुत ही सादगी का था। संसार में रहकर भी संसार से अलग थे यह आप में एक अलौकिक गुण था। आपको किसी प्रकार का कोई शौक या वांछा कभी नहीं हुई। यदि थी तो सर्वोपरि वही एक मात्र वैदिक विज्ञान के आविष्कार का पराकाष्ठा का व्यसन, और इसी में मनसा वाचा कर्मणा अन्तश्वास तक वे तल्लीन भी रहे बल्कि प्राण वियोग के समय तक इसी का मनन रहा।

यों तो पंडितजी महाराज के शिष्यों की संख्या बहुत हैं, परन्तु जिनने नियमपूर्वक पुस्तक खोलकर आपसे विद्याध्ययन किया ऐसे भी कम नहीं है। इन पंक्तियों के लेखक ने प्रायः ४० वर्ष किसी रूप में उनके चरणों में बैठकर अध्ययन किया है। मृत्यु से ३ दिन पूर्व भी मेरा पाठ हुआ था और भी बहुत से प्रतिष्ठित विद्वान् उनके शिष्य हैं जिनमें से कुछ विद्वानों के नाम निम्नलिखित हैं:—

१—राजगुरु पं. चन्द्रदत्तजी चौधरी, रिटा. प्र. व्याकरणाध्यापक, महाराजाज संस्कृत कालेज, जयपुर।

२—पं. सूर्यनारायणजी आचार्य, प्र. संस्कृताध्यापक, महाराजाज कालेज, जयपुर।

३—पं. कन्हैयालालजी न्यायाचार्य, प्र. न्यायाध्यापक, महाराजाज संस्कृत कालेज, जयपुर

४–पं. मदनलालजी व्याकरणाचार्य, रिटा. धर्मशास्त्राध्यापक, ,, ,,
५–पं. मथुरानाथजी भट्ट साहित्याचार्य, प्र. साहित्याध्यापक, ,, ,,
६–पं. मोतीलालजी शास्त्री, शतपथ संपादक, बालचन्द्र यन्त्रालयाध्यक्ष, ,,
७–स्वामी सुरजनदासजी वेदान्त, व्याकरणाचार्य, दादूविद्यालय, ,,
८–पं. केदारनाथजी साहित्यभूषण, राजकीय ज्योतिषयन्त्रालाध्यक्ष, जयपुर।
९–पुरोहित गोपीनाथजी जोशी, भूतपूर्व हैडमास्टर चांदपोल हाईस्कूल, तथा पर्सनल एसिस्टेंट, शिक्षा विभागाध्यक्ष, जयपुर।
१०–पं. आद्यादत्तजी, ठाकुर एम्. ए. संस्कृत प्रोफेसर लखनऊ यूनिवर्सिटी।
११–पं. देवराजजी शास्त्री (पंजाब)
१२–पं. पुरुषोत्तमजी साहित्याचार्य, धर्मशिक्षक, मेयो कालेज, अजमेर।
१३–पं. अशेश्वर झा (मिथला)

वि. सं. १९९३ में अखिल भारतवर्षीय संस्कृत-साहित्य सम्मेलन की ओर से जयपुर के गण्यमान्य सरदारों, विद्वानों और सेठ साहूकारों की स्वागत समिति के तत्वावधान में पंडितजी महाराज के ७० वें वर्ष के उपलक्ष में आचार्य प्रवर गोस्वामी श्री १००८ श्री गोकुलनाथजी महाराज शुद्धाद्वैत संप्रदायाचार्य बम्बई के सभापतित्व में रामनिवास बाग के अलबर्ट हाल में हीरकजयन्ती ( Diamond Jubilee ) मनाई गई थी जिसमें बाहर के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् म.म. हाथी भाई शास्त्रीजी राजपण्डित जामनगर (काठियावाड़) म. म. पं. मथुराप्रसादजी दीक्षित राजपंडित सोलन (पंजाब) विद्यामार्त्तण्ड पं. सीताराम शास्त्री भिवानी, पं. विद्याधर शास्त्रीजी एम. ए. प्रोफेसर, डूंगर कालेज बीकानेर आदि भी सम्मिलित हुए थे। संस्कृतरत्नाकर मासिकपत्र का (वेदाङ्क) नाम का विशेषाङ्क और अभिनन्दनपत्र पंडितजी महाराज को समर्पित किया गया था। और इस अङ्क में संस्कृत तथा हिन्दी में पंडितजी महाराज का जीवन चरित्र भी प्रकाशित हुआ है इसके अतिरिक्त आपका जीवन चरित्र 'सुधा' में छपा है। पूर्णरूपेण आपका विस्तृत जीवन चरित्र पुस्तकाकार में प्रकाशित करने का भी विचार है।

वि. सं. १९९६ भाद्रपद शुक्ला १५ को केवल दो तीन दिन ही अस्वस्थ रहकर गुरुवर पंडितजी का अचानक स्वर्गवास हो गया। स्थानीय सिविल सर्जन का कथन था कि यह दिमागी उत्कट परिश्रम का आघात हृदय पर हुआ।

पंडितजी के परिवार में आपके सहोदर भाई भतीजे कोई भी न थे, आपकी धर्मपत्नी का स्वर्गवास वि. सं. १९६२ में ही हो चुका था और फिर आपने विवाह नहीं किया। केवल एक मात्र पुत्र पंडित प्रद्युम्नजी उन दिनों अलवर नरेश के पास थे जिन्हें आपके अस्वस्थ होते ही तार द्वारा बुला लिया गया था। पंडितजी ने अपने अन्तिम समय में स्वरचित ग्रन्थों के प्रकाशित करने की एक मात्र इच्छा अपने पुत्र से प्रकट की जिसके लिए आपके सुपुत्र ने दृढ़ प्रतिज्ञा की।

उस दिन सम्पूर्ण नगर में शोक छाया हुआ था। राजकीय उच्च कर्मचारियों व राज के लवाजमे के साथ आपका शवविमान श्मशान पहुंचाया गया, वहाँ शव को स्नान कराकर विभूति तिलक धारण

कर जो सूर्याभिमुख बैठाया गया तो मुख पर विज्ञानज्योति का ऐसा अद्भुत दर्शन हुआ कि सब लोग आश्चर्य चकित हो प्रणाम करने लगे। यह वैदिक विज्ञान का प्रत्यक्ष चमत्कार था। आपकी उत्तरक्रिया श्राद्धादिक शास्त्रीय विधि विधान तथा राज्य के सम्मान के अनुसार आप के सुपुत्र ने बड़ी श्रद्धा से किया। मासिक क्षयाह में ब्राह्मण भोजनादिक होते रह कर वार्षिक श्राद्ध के अनन्तर ही पितृपक्ष में पं. प्रद्युम्नजी ने गयाश्राद्ध भी सविधि सम्पन्न कर डाला।

पंडितजी के स्वर्गारोहण के अवसर पर समाचार पत्रों में "वैदिकविज्ञान का सूर्य अस्त" यह हैडिङ्ग निकला था। अलवर, दरभंगा आदि कई नरेशों तथा महामना पं. मदनमोहनजी मालवीय, प्रयाग के वाइस चांसलर डा० गङ्गानाथ झा आदि अनेक गण्यमान्य व्यक्तियों के समवेदना सूचक बहुत से तार व पत्र आये थे और बहुत स्थानों में शोक सभाएं हुई। जयपुर में भी रायबहादुर पं. अमरनाथजी अटल एम. ए, फाइनेन्स मिनिस्टर के सभापतित्व में महाराजाज़ संस्कृत कॉलेज में बड़े-बड़े सरदारों, उच्च कर्मचारियों, विद्वानों तथा गणमान्य पुरवासियों की उपस्थिति में एक विराट् शोक-सभा की गई।

पंडितजी महाराज के पुत्र पण्डित प्रद्युम्नजी ओझा का बाल्यकाल से अपने पूज्य पिताजी के पास ही अधिकांश रहन सहन व पठन पाठन का प्रबन्ध रहा था, यह अपने पिता के इकलौते पुत्र थे अतः इनका लालन पालन भी अत्यधिक प्यार से होता था। आपकी शिक्षा संस्कृत हिन्दी तथा अंग्रेजी में हुई। यह भी अपने पिता के साथ स्वर्गीय जयपुर नरेश महाराज माधवसिंहजी के समीप जाया करते थे और महाराज भी इनको छोटे पण्डितजी के नाम से सम्बोधित कर बड़ा वात्सल्य प्रकट किया करते थे। ये बाल्यकाल से ही बड़े बुद्धिमान् और चंचल प्रकृति के हैं। इनकी बुद्धिमता से प्रसन्न होकर महाराजाधिराज ने इन्हें अपने पास आने जाने के लिए स्वतन्त्र आज्ञा प्रदान कर रखी थी और इनके लिये भी अपने खासा अस्तबल से सवारी के लिये घोड़ा अलग नियुक्त कर दिया था। साथ ही जहां कहीं भी महाराज विदेश पधारते वहां आपके पूज्य पिताजी तो साथ होते ही थे, ये भी महाराज की आज्ञानुसार बहुत सी यात्राओं में साथ रहा करते थे। जब यह कुछ बड़े हुए तो पंडितजी के स्वदेश आदि जाने पर या अस्वस्थ होने पर महाराज इन्हीं को पुस्तकशाला, मौजमन्दिर ( धर्मसभा ) आदि कार्यों पर पंडितजी के स्थानापन्न नियुक्त कर कार्य लिया करते थे और उस समय के प्रधानमंत्री स्व० बाबू संसारचन्द्रसेनजी, सी० आई० ई० तथा स्व० नवाब मुस्ताजुद्दौला सर फैयाजअलीखांजी, के० सी० आई० ई० एम० वी० ओ० और राय बहादुर पुरोहित स्व० सर गोपीनाथजी, सी० आई० ई० इनके कार्य से परम संतुष्ट तथा प्रसन्न रहते थे इस प्रकार इन्होंने पूर्ण नीतिकुशलता और सभाचातुरी प्राप्त करली और महाराज के कृपापात्र बन गये।

जब स्वर्गीय दरभंगा नरेश श्रीमान् श्री १०८ रमेश्वरसिंहजी जयपुर पधारे थे तो भूतपूर्व जयपुर नरेश ने इन्हीं पं० प्रद्युम्नजी ओझा को उनके आतिथ्य सत्कार पर प्रमुख नियुक्त किया था उस समय दरभंगा नरेश इनके प्रबन्ध से बहुत प्रसन्न हुए थे और तब से वह इनको विशेष प्रेम और कृपा की दृष्टि से देखने लगे। वर्तमान दरभंगा नरेश श्रीमान् महाराजाधिराज श्री १०८ श्री कामेश्वरसिंह भी इन पर उसी प्रकार पूर्ण कृपा रखते हैं और इस ग्रंथ प्रकाशन कार्य में उनकी भी सहानुभूति रहती है।

कुछ समय पं० प्रद्युम्नजी को अपनी संपत्ति के प्रबन्ध के लिये स्वदेश जाकर भी रहना पड़ा था वहां उच्च यूरोपियन आई० सी० एस० आफिसर ने इनकी नीति निपुणता देखकर एक इलाके का इन्हें

प्रेसीडेन्ट नियुक्त कर दिया जिसमें दीवानी तथा फौजदारी विभाग का कार्य इन्होंने कई वर्ष तक बड़े न्याय निपुणता से किया जिससे पब्लिक बड़ी परितुष्ट रही और उस अरसे में जो जो यूरोपियन आफिसर बदल कर आये वे सभी इनके कार्य से परम संतुष्ट रहे और इसके लिये उन्होंने लिखित प्रमाण पत्र भी इन्हें दिये हैं साथ ही जब वहां बहुत से लाईसेंस वापस लिये जाकर कमी की जा रही थी उस समय इनको सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिये दुनाली अंग्रेज बन्दूक का लाईसेंस देकर बिहार गवर्नमेन्ट ने इन्हें राजभक्त रूप से सम्मानित किया था।

पं० प्रद्युम्नजी अपने पिता के समक्ष वर्तमान श्रीमान् अलवर महाराज श्री १०८ श्री तेजसिंहजी के राज्य सिंहासनारोहण के अवसर से ही उनके बड़े कृपापात्र तथा पूर्ण विश्वास पात्र होकर उनके आत्मीय परिजनों में सम्मानित हुए और उनके पास ही रहा करते थे। वे धार्मिक सभी कार्य इनके परामर्शानुसार करते और समय समय पर अन्य विषयों पर भी परामर्श लिया करते थे, साथ ही शस्त्र तथा अश्व के कार्य में भी सुयोग्य होने के कारण इन्हें महाराज ने अपना ए० डी० सी० नियुक्त कर आखेट ( शिकार ) आदि में भी अपने साथ रखते थे।

पिता के अस्वस्थ होते ही पं० प्रद्युम्नजी को जयपुर आ जाना पडा। वर्तमान श्रीमान् महाराजा जयपुर ने इनके पिताजी की जीविका इनको यथावत् प्रदान कर दी। श्रीमान् महाराज अलवर की पं० जी में पूर्णभक्ति और उनके पुत्र पं० प्रद्युम्नजी पर पूर्ववत् अतुल कृपा है और श्रीमान् पण्डितजी की इन महान् कृतियों से पूर्ण परिचित हैं अतः श्रीमान् का इस ग्रंथ प्रकाशन कार्य में पूर्ण सहयोग है।

पं० प्रद्युम्नजी ने अपने पिता के अन्तिम इच्छा ग्रंथ प्रकाशन की उनके समक्ष प्रतिज्ञा कर उन्हें परितुष्ट किया था उस प्रतिज्ञा के अनुसार इस कार्य में प्राणपण से जुटे हुए हैं। इन तीन वर्षों में आपने ६–७ ग्रन्थ प्रकाशित कर डाले हैं और कई विभिन्न प्रेसों में मुद्रणार्थ दिये जा चुके हैं, साथ ही आगे कार्यक्रम जारी कर रखा है।

जो कुछ सम्पत्ति पूज्य पण्डितजी ने छोड़ी है उसे ये एकमात्र ग्रन्थ प्रकाशन में ही लगा रहे हैं, और तो क्या आपका यहां तक संकल्प है कि यदि द्रव्य का अभाव होगा तो मकान आदि बेच कर इस कार्य को यथा सम्भव सम्पन्न करेंगे। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या देश में गुणग्राहकता का इतना अभाव हो गया है कि वह ऐसा होने देगा ? इसका उत्तर भविष्य देगा।

**वेदज्ञमाविष्कृतदिव्यशक्तिं लोकेषु गीतार्जुनकीर्तिमर्च्यम् ।**
**प्रद्युम्नतातं समदर्शिनं च गुरुं भजे श्रीमधुसूदनार्यम् ।।**

( पं० ब्रह्मदत्त शर्मा शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य सम्पदित, संस्कृतरत्नाकर के वेदाङ्क से उद्धृत )

।। इति ।।

# विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|

विषय | पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

विषय — पृष्ठ

| विषय | पृष्ठ |
|---|---|


इति शुभम्

विषय | पृष्ठ

इति शुभम्

※ श्रीः ※

# ब्रह्मविज्ञान

## सिद्धान्तवाद-व्याख्यान

### ※ मङ्गलाचरण ※

निषु सीद गणपते गणेषु
त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे
महामर्कं मघवन् चित्रमर्च ।।(१)
(ऋ० १०/११२/६)

(२)

जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं
वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूरगोना-
मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।। (२)
(ऋ० १०/४७/१)

**१—सरलार्थ**—हे (गणपते) हे समूह के पति ! (गणेषु) आप अपने समूह में (निषुसीद) विराजें । (त्वां) आपको सभी (कवीनां) विद्वानों के (विप्रतमं) अग्रगण्य (आहुः) कहते हैं । (त्वदृते) आपके बिना (किञ्चनारे) कोई भी काम कहीं भी (न क्रियते) नहीं किया जाता है । (मघवन्) हे पूजनीय प्रभो ! (चित्रं) नाना प्रकार के (महामर्कं) बडे प्रकाश अर्थात् दिव्य ज्ञान को (अर्च) प्रकाशित कीजिये ।।१।।

### (वैज्ञानिक–विवेचना)

संसार में प्रत्येक मनुष्य की आत्मा **प्रज्ञा और प्राण** से बनी हुई है । शरीर में प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान का और प्राण के द्वारा क्रिया का संचार निरंतर होता रहता है । यदि सम्पूर्ण जगत् की भूत,

विषय | पृष्ठ

| विषय | पृष्ठ |
| --- | --- |


इति शुभम्

❀ श्रीः ❀

# ब्रह्मविज्ञान

## सिद्धान्तवाद-व्याख्यान

### * मङ्गलाचरण *

निषु सीद गणपते गणेषु

त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।

न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे

महामर्कं मघवन् चित्रमर्च ।।(१)

(ऋ० १०/११२/९)

(२)

जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं

वसूयवो वसुपते वसूनाम् ।

विद्मा हि त्वा गोपतिं शूरगोना-

मस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः ।। (२)

(ऋ० १०/४७/१)

**१—सरलार्थ**—हे (गणपते) हे समूह के पति ! (गणेषु) आप अपने समूह में (निषुसीद) विराजें। (त्वां) आपको सभी (कवीनां) विद्वानों के (विप्रतमं) अग्रगण्य (आहुः) कहते हैं। (त्वदृते) आपके बिना (किञ्चनारे) कोई भी काम कहीं भी (न क्रियते) नहीं किया जाता है। (मघवन्) हे पूजनीय प्रभो ! (चित्रं) नाना प्रकार के (महामर्कं) बडे प्रकाश अर्थात् दिव्य ज्ञान को (अर्च) प्रकाशित कीजिये ।।१।।

### (वैज्ञानिक-विवेचना)

संसार में प्रत्येक मनुष्य की आत्मा **प्रज्ञा और प्राण** से बनी हुई है। शरीर में प्रज्ञा के द्वारा ज्ञान का और प्राण के द्वारा क्रिया का संचार निरंतर होता रहता है। यदि सम्पूर्ण जगत् की भूत,

भविष्यत् और वर्त्तमान सभी आत्माओं को एक दृष्टि से देखा जाय तो, सर्वजगद्-व्यापक समस्त प्रज्ञा और प्राणों का घनस्वरूप वह एक ही आत्मा होगी। इसी को **'इन्द्र'** कहते हैं। इस इन्द्र के कुछ-कुछ भाग से प्रत्येक मनुष्य की आत्मा बनी है। यही इन्द्र यहां **गणपति** शब्द से व्यवहृत किया गया है। भारतवर्ष में जो प्रत्येक कर्म के आरम्भ में गणपति का पूजन किया जाता है, वह इसी जगद्व्यापक आत्मा वाले इन्द्र की अर्चना है। यह इन्द्र मरुद्गण के साथ रहता है, इसी कारण इसे गणपति कहते हैं। तथा मरुतों की उत्पत्ति रुद्र से हुई है अतः इन्हें रुद्रपुत्र ( महादेवजी के लड़के ) भी कहते हैं। इस इन्द्र आत्मा को प्रज्ञा और प्राण का घन बता चुके हैं, अतः सभी विद्वानों का सब प्रकार का ज्ञान इसी आत्मा से आरम्भ होता है। मन्त्र में भी इसीलिए कहा गया है कि गणपति विद्वानों में अग्रगण्य हैं। इनके प्राण के घन होने के कारण यह कहना भी सत्य है कि गणपति के बिना कहीं भी कोई क्रिया (कार्य) नहीं की जा सकती। इसी से उस व्यापक आत्मा से प्रार्थना की जाती है कि आपका जितना भाग मुझ छोटी सी आत्मा में है, उसमें अधिक प्रकाश डालिये, जिससे मेरी इस आत्मा में प्रज्ञा और प्राण का अर्थात् ज्ञान और क्रिया का अधिक प्रकाश हो जिसके द्वारा बहुत से दिव्य, अलौकिक वैज्ञानिक विषयों का यथार्थज्ञान मेरे में हो और अधिक क्रिया करने में समर्थ हो सकूं ।।१।।

**२—सरलार्थ**—हे इन्द्र प्रभो ! हमने आपका दाहिना हाथ पकड़ा है। हे धन के स्वामी ! हम धन की आशा रखते हैं। हे शूरवीर ! आपको हम गायों का स्वामी जानते हैं। आप हमें बढ़ती हुई सम्पदा दीजिये।

## (वैज्ञानिक–विवेचना)

प्रत्येक मनुष्य की आत्मा से जो शक्तियां निकलती हैं वे सूर्य की दक्षिण गति के कारण शरीर के दाहिने भाग में कुछ अधिक रूप में और बांये भाग में कुछ कम होती हैं। इसलिये दाहिने हाथ से तात्पर्य, अधिक शक्ति की ओर संकेत करना है। यद्यपि यह इन्द्र प्राण की घनरूप एक ही आत्मा है और उसके हाथ–पांव आदि कोई भी खास अङ्ग नहीं है तथापि उसकी अधिक शक्ति शरीर में दाहिनी ओर जाया करती है। उसी शक्ति का हम आश्रय लेते हैं। दाहिना हाथ पकड़ने का यही तात्पर्य है। हम धन की आशा रखते हैं और वह धन का स्वामी है। हम गौ के सदृश अर्थात् पशु–तुल्य अल्पज्ञ हैं और वह आत्मा पशुरूप छोटी-छोटी आत्माओं का सर्वप्रभु है। इसलिए हमारे दुःखों को दूर करने का अधिकारी उस परमात्मा इन्द्र को समझ कर प्रार्थना की जाती है कि वह हमारी मांग को पूरी करें।

## प्रतिज्ञा

जहाँ तहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, इन सब की जड़ क्या है, प्रारम्भ कब से है, संस्था अर्थात् स्वरूप-विन्यास किस प्रकार है और गति किस प्रकार की है अर्थात् जो जैसा दृष्टि में आ रहा

है वह पीछे किस रूप में दिखाई देगा और कहां जायेगा—इत्यादि बातों की जिज्ञासा प्रत्येक मनुष्य के दिल में स्वतः उत्पन्न हुआ करती है। इन सब बातों को यथार्थ रूप से जानने के लिए प्राचीन समय अर्थात् देवयुग में आप्तवाक्य ऋषि, महर्षियों ने जो कि अत्यन्त विचारशील और असाधारण धारणा के अग्रगण्य विद्वान् हुए थे उन्होंने अपने विचारानुसार अथवा परामर्शपूर्वक जो भी कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये, उन्हीं सिद्धान्तों का कुछ दिग्दर्शन कराने का यहां यत्न किया जाता है।

### वैदिक वाक्यों से इस विषय में दस प्रकार के वाद सुनने में आते हैं—

**१ सदसद्वाद, २ रजोवाद, ३ व्योमवाद, ४ अपरवाद, ५ आवरणवाद, ६ अम्भोवाद, ७ अमृतमृत्युवाद, ८ अहोरात्र, ९ दैववादवाद, १० संशयवाद।** इस प्रकार मुख्य ये दश हैं। इनमें कितने ही अवान्तरवाद भी और हैं। उन सब को इस ग्रन्थ में पृथक् करके प्रदर्शित करते हैं।

# विकल्प निर्देश—सदसद्वादविकल्प

## (त्रिपक्षीसूत्र)

प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण में बदलती रहती है। बदलती हुई भी प्रायः सभी वस्तुएँ दीर्घकाल तक ठहरी हुई रहती हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में दो भाव पाये जाते हैं—एक प्रतिक्षण नष्ट होता हुआ और दूसरा स्थायीरूप। इन दोनों में मुख्य कौन है—इस विचार के सम्बन्ध में तीन मतभेद हैं—सत्, असत् और सदसद्।

यहाँ नष्ट होने वाले भाव को असत् शब्द से, और अविनाशी भाव को सत् शब्द से व्यवहार किया जाता है। असत् भाव एक क्षण से दूसरे क्षण तक भी एक रूप में नहीं रहता, किन्तु दूसरा सत् भाव वर्षों तक एक रूप में स्थायी रहता है।

किसी का मत है कि इन दोनों भावों में असत् भाव ही प्रधान है पहले असत् ही था उसी से पश्चात् में सद्भाव उत्पन्न हुआ है। हम देखते हैं कि जो घड़ा या कपड़ा पहले उपयुक्त नहीं है वही पीछे बनाने पर उपयोगी होता है। इसी प्रकार यह विश्व भी कहा जा सकता है कि किसी दिन नहीं था जो पश्चात् उत्पन्न हुआ उसको किसी ने उत्पन्न नहीं किया क्योंकि जब कुछ था ही नहीं तब किसी का किसी चीज से किसी प्रकार किसी वस्तु की उत्पत्ति करने का प्रयत्न कैसे संभव हो सकता है, मानना पड़ेगा कि जो न था उसने अपने आप अपने को बना लिया इसीलिये विश्व को स्वकृत कहते हुए आचार्यों ने सुकृत नाम दे दिया यह मत तैत्तिरीय लोगों का है (उपर्युक्त असद्वाद है)।

दूसरों का यह मत है कि असत् से सत् कभी हो ही नहीं सकता। असंभव विषय मान लेना समझ से बाहर है। हम कह सकते हैं कि इन दोनों भावों में सत् भाव ही प्रधान है। सत् से ही असत्

भी हो जाया करता है। जो घड़ा या कपड़ा आज सद्रूप में मौजूद हैं, वही नष्ट कर देने पर सदा के लिये असद् रूप में आ जाते हैं अथवा यों समझें कि इस जगत् में जो असद् भाव दीखता है वह भ्रम है क्योंकि जिसको असत् समझते हो उसकी भी सत्ता तुम मानते हो जैसाकि जो घट पहले सत् था नष्ट कर देने पर अब यह असत् है इसका यही अर्थ हुआ कि उस वस्तु के दो रूप हैं-एक स्थिति और दूसरा नाश। जबकि यह सब सत् है और सत् से ही सत् उत्पन्न होता है। यह संसार पहले भी सत् था, अभी सत् है और भविष्य में भी सदा के लिये इसी रूप से सत् ही रहेगा। यह सद्वाद का मत आरुणी वंश वालों का है, ( यह सद्वाद है )।

पहले सत् था अब असत् है, अर्थात् शून्य रूप है तो इस असत् शून्यरूप के साथ भी "है" को लगाते हुए तुम सत्तावाला कह रहे हो, जब उसकी सत्ता है तो अवश्य ही वह सत् माना जा सकता है फिर खयाल में आने वाली कोई भी चीज को असत् कह कर कैसे माना जा सकता है।

अब तीसरी राय यह है कि पहले सत् ही था पीछे असत् हुआ अथवा यों कहना कि पहले असत् ही था पीछे सत् पैदा हुआ ये दोनों रायें ही भूल हैं क्योंकि जब हम दोनों भाव बराबर देखते हैं तो उसमें आगा-पीछा कायम करना भूल है। सत्य तो यह है कि जो सत् है वही असत् है। सत्, असत् दो वस्तु नहीं, जब ये दो नहीं हैं तो इनमें अग्र, पश्चात् कहना नहीं बन सकता। किसी रूप से यह सब जगत् सत् है तो वही किसी रूप से असत् कहलाता है और यह दोनों ही खयाल सत्य हैं। यह तीसरा सदसद्वाद याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों का है।

इस प्रकार सदसद्वाद में तीन मतभेद होने से त्रिपक्षी कहलाता है।

## सप्त विकल्पपुत्र।

यह जो तीन पक्ष (मत) सदसद्वाद कहा गया है, उसके सत्, असत् इन दोनों पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ लेकर पूर्वाचार्यों में जो सात मतभेद हो गये थे वे ये हैं—१-प्रत्ययाद्वैतवाद, २-प्रकृत्यद्वैतवाद, ३-तादात्म्यवाद, ४-अभिकार्यवाद, ५-गुणवाद, ६-सामञ्जस्यवाद, ७-अक्षरवाद। इन सातों मतों में उपर्युक्त रीति के अनुसार प्रत्येक के सत्, असत् और सदसत् ये ३ पक्ष होने के कारण २१ मत हो जाते हैं। इन्हीं २१ मतों का वर्णन इस प्रथम सदसद्वाद में किया गया है।

यद्यपि उपर्युक्त मतों का विस्तृत वर्णन आगे स्वतंत्ररूप से किया जायेगा, तथापि यहाँ संक्षेप में उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

## (१) प्रत्ययाद्वैतवाद।

जब हम किसी तरफ दृष्टि डालते हैं, तो हमें जो भी कुछ दृष्टिगोचर होता है और हम उसे देखते हैं इसी देखने में दो खण्ड प्रतीत होते हैं—**द्रष्टा और दृश्य। इनमें द्रष्टा सत् और दृश्य असत्**

है। ये दोनों ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। **द्रष्टा देखने वाला और दृश्य जो दृष्टिगोचर** होता है, उसे कहते है। मैं कुछ देखता हूँ इसी खयाल को देखना कहते हैं। इस देखने में 'मैं' का भाग द्रष्टा है, जो सभी की दृष्टि में एक ही रहता है इसी को सत् कहते हैं, और 'कुछ' का भाग दृश्य है, जो प्रत्येक की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होता है, एकरूप नहीं रहता, इसीसे उसको असत् कहते हैं। इन दोनों के मिलने से जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, **जिस ज्ञान के ये दो टुकड़े हैं, उसी ज्ञान को 'प्रत्यय' कहते हैं,** यह एक है।

इस प्रत्यय से जो उपर्युक्त दो खण्ड दीखते हैं, उन पर यदि हम सूक्ष्म विचार करें तो, कह सकते हैं कि उन दोनों में द्रष्टा ही मुख्य है। इसी की ज्योति से दृश्य के रूप बनाये जाते हैं। इस लिए कोई भी दृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं माने जा सकते। बस, द्रष्टा और दृश्य दोनों एक द्रष्टा ही हैं और उसी को प्रत्यय कहते है। यह सत् पक्ष का मत हुआ।

दूसरा मत यह है कि प्रत्यय के दो खण्डों में 'दृश्य' खण्ड ही मुख्य है। दृश्य के अतिरिक्त द्रष्टा कोई वस्तु नहीं हो सकता। क्योंकि वह द्रष्टा तुमको दृश्य है या नहीं, यदि नही है तो तुम उसका वर्णन नही कर सकते। क्योंकि तुमको दिखा ही नही, और यदि यह कहो कि वह द्रष्टा भी मुझको दिखाई देता है तो अवश्य वह दृश्य हो गया, फिर दृश्य से वह भिन्न खण्ड कैसे हो सकता है। कितने ही लोग यह भेद करते हैं कि दृश्य छोटा-२ खण्ड मात्र परिच्छिन्न पदार्थ है। किन्तु द्रष्टा व्यापक है। इस प्रकार भेद मानना भी सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि कितने ही द्रष्टा अधिक विचारशील होने से अधिक देखते हैं और कितने ही मन्दबुद्धि अल्पज्ञ होते हैं इस प्रकार जब आत्मा छोटी-बड़ी होती है और कितनी ही परिच्छिन्न औषधियों के योग से मूर्च्छित होती है तो उस आत्मा को व्यापक कैसे कह सकते हैं। इसलिये जैसे द्रष्टा और दृश्य सभी परिच्छिन्न पदार्थ हैं उसी प्रकार यह आत्मा भी एक परिच्छिन्न वस्तु है और दृश्य है। यह असत् पक्ष का अद्वैतवाद हुआ।

तीसरा मत यह है कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। द्रष्टा वह है, जहां से ज्ञान शुरू होता है और दृश्य वह है जहां से ज्ञानसूत्र पहुंचता है। इनमें जब आदि और अन्त का भेद पाया जाता है तो ये दोनों खण्ड एक नहीं हो सकते। हाँ यह मान सकते हैं कि जिसका आदि और अन्त हुआ और आखिर हुआ वह शुरू से आखिर तक एक ही वस्तु है। उसी वस्तु को हम 'प्रत्यय' कहते हैं। वह प्रत्यय एक अवश्य है, किन्तु उसके टुकड़े भी अवश्य ही दो हैं वह सदसत् पक्ष का अद्वैतवाद हुआ। इन तीनों पक्षों का प्रत्ययाद्वैतवाद प्रथम विकल्प है।

## (२) प्रकृत्यद्वैतवाद

कर्म को असत् कहते हैं, कर्म वह वस्तु है, जो पहले न रहकर पीछे उत्पन्न होता है और क्षणमात्र रह कर पीछे नष्ट हो जाता है। जो क्षणमात्र रहने वाला, पूर्व पश्चात्, अनन्त काल तक

नहीं रहता है, वह असत्, कहलाता है। क्योंकि यदि वह सत् होता तो नष्ट कभी नहीं होता; इसलिये जो उसकी क्षणमात्र की सत्ता प्रतीत होती है वह भी एक भ्रममात्र है, अब यदि हम जगत् की ओर दृष्टि डालते हैं तो सर्वत्र क्रिया ही क्रिया प्रतीत होती है। कोई भी वस्तु एक क्षण के लिये भी ठहरी हुई नहीं है। जिसे हम ठहरी हुई देखते हैं वह भी हमारा भ्रम है। क्योंकि उसका नयी से पुरानी हो जाना हम कालान्तर में अनुभव करते हैं, वह सर्वथा पुरानी नहीं होती, किन्तु उसमें प्रतिक्षण कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। प्रत्येक परमाणु बदलता रहता है। यही परिवर्तनशील क्रिया जो प्रत्येक वस्तु में सूक्ष्मरूप से पाई जाती है, जिससे किसी वस्तु का ठहरना असंभव प्रतीत होता है। जबकि सब क्रिया ही क्रिया है तो इस क्रिया के असत् होने से हम मानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् असत् रूप है। यह असत् पक्ष वाला प्रकृत्यद्वैत का मत है।

ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को सत् कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञानरूप है। क्योंकि किसी वस्तु का होना या न होना विचार के अधीन है। जिस वस्तु का जैसा ख्याल होता है वैसी ही वह वस्तु मानी जाती है। होना या न होना, छोटा या बड़ा होना काला या पीला इत्यादि जैसी भी हम वस्तु कहते या मानते हैं, सब हमारा खयाल ही खयाल है। जिस वस्तु का खयाल नहीं होता उसको नहीं कह सकते हैं। इसलिये यह सम्पूर्ण खयाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो लोग इस जगत् को कर्मरूप मानते हैं वे भूल करते हैं, क्योंकि कर्म को असत् कहते हैं। असत् का अर्थ है न होना। असत् वही है जो न कभी था, न है और न रहेगा। किन्तु यह जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। फिर उसको असत् कहना सर्वथा अनुचित है। जो वस्तु है, उसे नहीं कह देना साहस नहीं है तो क्या है? वास्तव में यह जगत् ज्ञानरूप है। ज्ञान क्रियारूप नहीं होता, इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् सदा रहने वाला जगत् सत् रूप है। यह सत् पक्ष वाला प्रकृत्यद्वैतवाद का मत है।

कर्म को असत् और ब्रह्म या ज्ञान को सत् कहते है। जगत् को जब हम देखते हैं तो प्रत्येक वस्तु में ये दोनों पाये जाते हैं। जिस आदमी को जन्म से अंतकाल तक देखा है, उसके शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होने से कभी बच्चा, कभी जवान और कभी वृद्ध इत्यादि कई दशाओं का हम भिन्न-भिन्न अनुभव करते हुए भेद व्यवहार करते हैं। किन्तु साथ ही फिर उसको एक ही व्यक्ति समझते और मानते हैं। भिन्न को एक समझना या एक को भिन्न समझना अनुचित है, किन्तु जगत् में अक्सर ऐसा व्यवहार होने से दोनों व्यवहार का कारण दोनों तत्व मानना आवश्यक हुआ है। जिस के कारण एकता प्रतीत होती है, वह ज्ञान रूप सत् है और जिसके द्वारा भिन्न २ अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं वह क्रिया रूप असत् है इस प्रकार सत् और असत् से प्रत्येक वस्तु बनी हुई है। सब सदसत् रूप हैं। यह दोनों (सत् असत्) पक्ष वाला तीसरा प्रकृत्यद्वैतवाद हुआ है। यहाँ दूसरा विकल्प समाप्त हुआ।

## (३) तादात्म्यवाद

यह तीसरा तादात्म्यवाद है। तादात्म्य का शब्दार्थ है, उसीसे अपना अस्तित्व रखना। जैसे धर्म और धर्मी का तादात्म्य होता है अर्थात् जैसे आग और गरमी ये दोनों परस्पर अविनाभाव हैं, न गरमी बिना आग का और न आग बिना गरमी का अस्तित्व कायम रह सकता है इसी प्रकार असत् और सत् का भी परस्पर तादात्म्य है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। असत् का अर्थ कर्म और सत् का अर्थ ज्ञान है। इतना अवश्य है कि इसमें कर्म जो असत् है वही प्रधान है या विशेष्य ( धर्मी ) है और ज्ञान उसका गुण है। अर्थात् विशेषण धर्म है, इसी से हम कह सकते हैं, यह ज्ञान कर्म से भिन्न वस्तु नहीं। कर्म के ही आधार से ज्ञान का अस्तित्व है। यह असत् पक्ष वाला तादात्म्यवाद है।

अथवा अब यों समझिये कि ज्ञान ही इन दोनों में प्रधान है अथवा विशेष्य है और कर्म उसका गुणभूत विशेषधर्म है। ज्ञान के ही आधार से कर्म का अस्तित्व है और ज्ञान से कर्म भिन्न नहीं है। अर्थात् ज्ञान का ही कर्म एक स्वरूपविशेष है। यह सत् पक्ष वाला तादात्म्यवाद हुआ।

तीसरा पक्ष यह है कि जगत् की वस्तुओं में जब सत् और असत् अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों ही अविनाभूत होकर दीखते हैं तो उसमें किसी को प्रधान और किसी को गौण मानने के लिए कोई विशेष युक्ति नहीं है। एक से एक बंधे हुए अथवा घिरे हुए हैं। दोनों मिलकर एक चीज ही जगत् की प्रत्येक वस्तु हैं और दोनों ही दोनों की आत्मा हैं। यह उभयपक्ष वाला तादात्म्यवाद हुआ। यहां तीसरा तादात्म्यवाद का विकल्प समाप्त हुआ।

## (४) अभिकार्यवाद

चौथा अभिकार्यवाद है। तात्पर्य यह है कि इस मत में सत् और असत् शब्दों से कार्य की ओर लक्ष्य है। ऊपर के तीनों मतों में उन दोनों शब्दों से कारण का खयाल बांधा जाता है किन्तु इसमें कारण का खयाल न करके केवल कार्य का सत् या असत् होना वर्णन किया जाता है। इसीसे इसे अभिकार्यवाद कहते हैं। यद्यपि इस जगत् में ब्रह्म और कर्म दोनों पाये जाते हैं। किन्तु उनमें ब्रह्म सदा ही सत् है, वह कभी असत् नहीं है। इसलिए उसमें दो पक्ष हो ही नहीं सकते। इसलिए उसको छोड़ते हैं। परन्तु दूसरा कर्म सत् और असत् दोनों रूप में दीखता है। पूर्व में तथा पश्चात् भी नहीं रहेगा। इसलिए असत् है। किन्तु मध्य में कुछ काल के लिए विद्यमान है। इसलिए सत् है। इस प्रकार जब उसके दो रूप हैं तो उसमें यह शंका अवश्य हो जाती है कि वह असल में सत् है या असत् है। इसमें एक मत यह है कि यह कर्म वास्तव में असत् ही है। वह असत् ही सत् होकर प्रतीत हो जाता है। इसका सत् होना मिथ्या है, असत् होना सत्य है। दूसरा मत यह है कि यदि यह कर्म असत् ही होता तो इसमें क्रिया किसी प्रकार उत्पन्न ही नहीं हो सकती तो फिर यह कर्म असत् से सत् होकर कैसे दीखता

है जबकि हम इसको एक क्षरण के लिए भी सत् होना पाते हैं; तो मानना पड़ता है कि यह पूर्व भी सत् ही था। केवल इसका आविर्भाव पीछे होकर तत्पश्चात् तिरोभाव हो जाता है। इसी तिरोभाव को असत् कहते हैं। किन्तु वस्तुतः इसकी असत्ता नहीं है। तीसरा मत यह है कि जिस प्रकार ब्रह्म को सत् माना है उसी प्रकार कर्म को सदसत् मानना चाहिए। वस्तु का स्वभाव विलक्षरण होता है। उसमें क्यों का प्रश्न नहीं उठता। इसलिए यह कह सकते हैं कि ब्रह्म सत् ही सत् है। असत् कभी नहीं होगा। किन्तु कर्म स्वभाव से ही सत् और असत् होता है। यदि कोई कहे कि यह सत्–असत् नहीं हो सकता, या असत्–सत् नहीं हो सकता यह प्रश्न भी अनुचित है। क्योंकि हम प्रत्यक्ष में इसकी सत्ता और नाश दोनों देखते हैं। अतः वैसा ही स्वभाव मानना अनुचित नहीं है। इस प्रकार यह तीनों पक्ष वाला अभिकार्यवाद चौथा विकल्प है।

## (५) आत्मगुरणवाद

वेद में कहीं पर 'सदेवेदमग्र आसीत्' लिखा है, कहीं पर 'असदेवेदमग्र आसीत्' ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य भगवान् याज्ञवल्क्य महर्षि ने इस प्रकार वर्णन किया है कि जिस आत्मा में संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, उसके स्वरूप को कायम करने वाले तीन गुण हैं—मन, प्राण और वाक्। इनमें मन को सदसत् कहते हैं, प्राण को असत् और वाक् को सत्। ये इन तीनों के तीन नाम हैं। इनमें पहले मन होकर उससे प्राण और वाक् पीछे उत्पन्न हुए हैं। यह सदसत् पक्ष है। अथवा प्राण पहले था उसी से मन और वाक् उत्पन्न हुए, यह असत् पक्ष है। अथवा वायु ही प्रथम था; उसीसे प्राण और मन पैदा हुआ। यह सत् पक्ष है। इस प्रकार किसी ने इन तीनों गुणों के पौर्वापर्य का विचार करके उन श्रुतियों का अर्थ किया है। किन्तु यह अनुचित है; क्योंकि जब यह तीनों गुण आत्मा के स्वरूपसमर्पक हैं तो इनमें आगे पीछे कहना अनुचित प्रतीत होता है। मानना होगा कि ये तीनों ही नित्य हैं और आत्मा के स्वरूप होने से एक साथ तीनों अनादि हैं। बात यथार्थ में यह है कि आत्मा के इन तीनों गुणों से सृष्टि की तीन धारायें पृथक् २ उत्पन्न होती हैं—ज्ञानधारा, क्रियाधारा और अर्थ या द्रव्यधारा। इनमें ज्ञानधारा की सृष्टि में वेद कहता है कि सबसे प्रथम सदसत् था; अर्थात् मन था। बल अर्थात् क्रिया की सृष्टि में सबसे प्रथम असत् था; अर्थात् प्राण था। इसी प्रकार अर्थ की सृष्टि में सब से प्रथम सत् था; अर्थात् वाक् थी। यही उन श्रुतियों का तात्पर्य है और यह तीनों ही वाद सत्य हैं। इनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता। यह त्रिपक्षी गुणवाद पांचवां विकल्प है।

## (६) सामञ्जस्यवाद

जो पहले वेद के वाक्य भिन्न–भिन्न दिखाये गये हैं; स्थूल दृष्टि से यद्यपि उनमें विरोध प्रतीत होता है, तथापि सूक्ष्म विचार से उनका सामञ्जस्य अर्थात् अविरोध ( मेल ) पाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तुएं इस समय मौजूद हैं उनको सत् कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ये सब

वस्तुएं कुछ भी न थी, अतः कहा जा सकता है; पहले ये सब असत् थीं अर्थात् विद्यमान नहीं थीं। इसी अभिप्राय से '**असदेवेदमग्र आसीत्**' यह श्रुति कही गई है। किन्तु ये सब किसी न किसी चीज से जरूर उत्पन्न हुई है; वह चीज पहले अवश्य थी। अगर वह न होती तो बिना कारण इन चीजों की उत्पत्ति नहीं होती। अतः जब वह सृष्टि की आदि में कुछ वस्तु थी तो उसी अभिप्राय से "**सदेवेदमग्र आसीत्**" यह श्रुति चरितार्थ होती है। जब इस प्रकार कार्य के अनुरोध से पहले असत् होना और कारण के अनुरोध से पहले सत् होना पाया जाता है तो एक ही वस्तु को सत् और असत् दोनों कहना संभव है; विरोध नहीं रहा; यह एक युक्ति है। इसी में दूसरी युक्ति है कि इस जगत् में प्रत्येक वस्तु आपस में भिन्न हैं; अर्थात् एक से एक में भेद पाया जाता है। भेद को अन्योन्याभाव कहते हैं, अर्थात् घोड़ा हाथी नहीं है और हाथी घोड़ा नहीं है; तात्पर्य यह है कि हाथी अपने रूप से भाव है और घोड़े के रूप से अभाव है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु जो अपने रूप से भाव है वही दूसरे सब रूपों से अभाव है, इस प्रकार भाव-अभाव का जब सामञ्जस्य है तो सत् और असत् इन दोनों का एक ही अर्थ हुआ। इसी से श्रुतिवाक्यों में भी विरोध नहीं रहा। यह सामञ्जस्यवाद छठा विकल्प है।

## (७) अक्षरवाद

सांख्य का मत है कि पुरुष और प्रकृति ये दो मूल तत्व हैं। पुरुष को सत् और प्रकृति को असत् कहते हैं। इनमें पुरुष ज्ञानरूप है, निर्विकार है और सदा एक रूप है। किन्तु प्रकृति विकारी है और सर्वदा नानारूपों में बदलती रहती है। इसी मूल प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं और इस का अक्षर भी नाम है। जहां वेद में अक्षर से सृष्टि होना कहा हैं वह इस मूल प्रकृति से समझना चाहिए, यह असद्वाद का तात्पर्य है। किन्तु वेदान्त का मत है कि पुरुष और प्रकृति इन दोनों में जो पुरुष सत्रूप है वही अव्यक्त और अक्षर शब्द से कहा जाता है। जहां अक्षर से वेद में सृष्टि का होना कहा गया है वह इस पुरुष से समझना चाहिए, यही सद्वाद का तात्पर्य है। इस प्रकार यह सातवां विकल्प अक्षरवाद समाप्त हुआ।

इस प्रकार सदसद्वाद में सात विकल्प सिद्ध होते हैं। जिनका संक्षेप में स्वरूप मात्र ऊपर दिखाया गया है। किन्तु इनको विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। यद्यपि ये सब इतने निगूढ़ तत्व हैं कि इनका सहज में विचार करना और विचार करके यथार्थ सत्य को पा जाना सर्वथा कठिन है, बल्कि मनुष्य बुद्धि के बाहर है। किन्तु विचार करके इन का थोड़ा भी जानना बड़े आनन्द का कारण है, बड़ी आपत्तियां दूर होती हैं, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि जहां तक हो सके ढूंढ कर सत्य को निकाले। इसी तात्पर्य से इन सातों विकल्पों का अपनी बुद्धि से जहां तक हो सकता है; कुछ विचार करने को हम तैयार हुए हैं।

सदसद्वादाधिकार में पहला उपक्रमाधिकार समाप्त हुआ।

# मूलोपनिषत्

## [ १ ]

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।"

सदसद्वाद में सप्त विकल्प पहले दिखाये गये हैं । उन सब में पहला "प्रत्ययाद्वैतवाद" है । उसका तात्पर्य यह है कि यह सब एक ही प्रत्यय अर्थात् ज्ञानरूप है । परन्तु यदि हम इन वस्तुओं की ओर दृष्टि डालते हैं तो यह ज्ञान से भिन्न अर्थात् ज्ञेय रूप से दीखता है । अतः प्रथम इनका प्रत्ययरूप होने का निर्णय करना उचित है । किन्तु उस निर्णय में कई प्रकार के भिन्न-भिन्न मत उपस्थित होते हैं । उनको १० उपनिषद् कहते हैं । वे ही यहां क्रम से दिखाये जाते हैं । इनमें प्रथम मूलोपनिषत् है ।

यह सब जो कुछ है, वही जगत् कहलाता है, इसका एक ही मूल है उसको ब्रह्म कहते है, इसी से यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप है । उस ब्रह्म को "ओम्, तत्, सत्" इन तीनों रूपों से या तीन प्रकार से समझना चाहिये । यह ब्रह्म दो प्रकार का है । आभु और अभ्व । **द्रष्टा को आभु और दृश्य को अभ्व कहते हैं** । अर्थात् दिग्, देश, काल इन तीनों से जिस का परिच्छेद न हो वही द्रष्टा अर्थात् ज्ञान है उसी को आभु कहते हैं । किन्तु इसके विपरीत जो दिक्, देश, काल से परिच्छिन्न है उसको कर्म या दृश्य कहते हैं, वही अभ्व है ।

इन दोनों में 'आभु' तीन प्रकार का है । आनंद, चेतना और सत्ता । इसी प्रकार अभ्व के भी तीन भेद हैं कर्म, रूप और नाम ।

कितने ही आचार्यों का मत है कि इनमें 'आभु' को ही ब्रह्म कहना चाहिए । किन्तु अभ्व के तीनों भेद ब्रह्म नहीं हैं । अर्थात् माया के भेद हैं । माया से तात्पर्य है–मिथ्या वस्तु से । नाम, रूप, कर्म तीनों ही मिथ्या हैं, अतएव ब्रह्म का अद्वैत होना सिद्ध होता है किन्तु वास्तव में ये तीनों भी ब्रह्म के ही रूप हैं । इनको तैत्तिरीय संहिता और माध्यन्दिनीय संहिता में ब्रह्म शब्द से स्पष्ट कहा है । जब कि इनको हम प्रत्यक्ष देखते हैं तो इनको मिथ्या कहना सर्वथा मिथ्या है । वास्तव में हमको इन तीनों सिवाय कुछ दिखता ही नहीं है । जो कुछ दिखता है श्रुति के अनुसार वह सब ब्रह्म है । क्योंकि श्रुति कहती है–**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', ब्रह्मैवेदं सर्वम्'** इत्यादि । अतः ये तीनों भी ब्रह्म हैं । अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि आनन्द, चेतना, सत्ता, कर्म, रूप और नाम ये छओं रूप ही सब ब्रह्म हैं ।

दूसरी बात यह है कि जिससे दूसरी चीज पैदा होती है, परन्तु वह खुद कम नहीं होती है और न बिगड़ती है । जैसे बीज का अंकुर, बीज की हालत बिगड़ने से ऊगता है, दूध के नष्ट होने से दही पैदा होता है, घास की सूरत नष्ट होने से दूध पैदा होता है किन्तु नाना प्रकार की वस्तु जिससे

पैदा होती रहती हैं तथापि उसका असली स्वरूप नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि आनन्द पद में दो विभाग हैं—'आ' और 'नन्द' आकार का अर्थ है चौतरफ, नन्द का अर्थ है बढ़ना, चारों ओर बढ़ने से तात्पर्य यह हुआ कि जो दूसरी जगह चला जाता है परन्तु अपनी पुरानी जगह को नहीं छोड़ता। या यों समझिए कि जो खूब धावा करता है परन्तु कुछ भी नहीं चलता अर्थात् बैठा हुआ ही बहुत दूर तक चला जाता है। इस प्रकार अपने असली स्थान को न छोड़ कर बहुत दूर तक चला जाना, यह लक्षण सिवाय हमारी आत्मा के अन्यत्र नहीं है। इसी से आत्मा को आनन्द कहते हैं। क्योंकि यह आत्मा जो मन के रूप से हृदय में वर्त्तमान है वह हृदय को न छोड़कर दूर-दूर तक पदार्थों को जानने के लिए जाती रहती है। शरीर से उसके बाहर जाने पर भी शरीर में उसका कुछ भी भाग कम नहीं होता। इसीलिए कहा जा सकता है; वह ठहरा हुआ चलता रहता है। इसी प्रकार उस हृदय में बसते हुए आत्मा से शरीर के नाना विभाग लोम, त्वचा, शोणित, माँस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र, आंख, पित्त इत्यादि भिन्न २ पदार्थ आत्मा से निकलते और बनते रहते हैं; परन्तु उस आत्मा में कुछ भी कमी नहीं होती और न कुछ विकार होता है। अतएव उस आत्मा को आनन्द कहते हैं। आत्मा के आनन्द होने का प्रमाण यह है कि संसार के सभी पदार्थ—सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि से अपनी आत्मा सभी को अधिक प्यारी होती है। उनकी रक्षा का भी अधिक ध्यान रहता है, किन्तु अपने शरीर तक से भी यह आत्मा अधिक प्रिय है। जिस अंग में पीड़ा से आत्मा में वेदना हो तो उस आत्मा के अनुरोध से उस अंग को काटना पड़ता है। अतः स्पष्ट हुआ कि सबसे प्रिय आत्मा है, जो आनन्द-रूप है। हाँ, इतनी विशेषता है कि यह आनन्द दो प्रकार का है—भूमा और शान्ति। भूमा वृद्धि को कहते हैं। किसी प्रकार की वृद्धि होने पर जब तक आत्मा बढ़कर दूसरी सीमा में नहीं आ जाती तब तक आनन्द का अनुभव होता है किन्तु यह स्मरण रहे कि यह वास्तव में आनन्द नहीं, जिसे सब आनन्द समझते हैं वह आनन्द का अनुभव अर्थात् ज्ञान है न कि स्वयं आनन्द। असल में आनन्द शान्ति का नाम है। जैसे जल में कोई लहर न हो, बिल्कुल ठहरा ठहरा हुआ हो तो उसको प्रसाद (अच्छी तरह ठहरा हुआ) कहते हैं। उसमें प्रतिबिंब ठीक रूप धारण करता है। यहां तक, कि उस पानी का स्वरूप तक दीखता है। ऐसी दशा में ठहरे हुए पानी को प्रसन्न कहते हैं। ठीक इसी प्रकार जिसकी आत्मा में किसी प्रकार की हलचल न हो तो वह आत्मा का प्रसाद है। उसमें सोचने विचारने का सामर्थ्य रहता है, जिसका विचार करता है उसके अन्त तक पहुंचता है। ऐसी दशा में उस आत्मा को प्रसन्न कहते हैं। इसी को शांति और आनन्द कहते हैं। जैसे जल का शांत रहना स्वाभाविक धर्म्म है किन्तु हलचल होना बाहरी पदार्थ वायु इत्यादि का कारण होता है, वैसे ही इस आत्मा का भी प्रसन्न रहना अर्थात् शांति स्वाभाविक धर्म है किन्तु उसमें हलचल होना बाहरी अनात्मिक पदार्थों के सम्बन्ध से अज्ञानता के कारण होता है। जितनी ही अज्ञानता घटती जाय और ज्ञान की मात्रा बढ़ाई जाय

उतनी ही आत्मा को शक्ति मिलती है, हलचल कम होकर शान्ति होती है । यही शान्ति वास्तव में आनन्द का रूप है इसी से आत्मा आनन्दमय या आनन्द रूप है ।

आनन्द जो आत्मा का प्रथम स्वरूप है, वह अपने स्थान पर कूटस्थ ( अविचाली ) रह कर चारों ओर फैलता हुआ जाता हुआ सा दीखता है । असली बिम्ब से बाहर जितनी दूर फैला हुआ उसका प्रकाश दीखता है उस प्रकाश को उस बिम्ब की 'चिती' कहते हैं । जैसे किसी चीज पर कोई दूसरी चीज़ एक के ऊपर एक करके बराबर चुनते जायँ तो वह चुनाव उसकी 'चिति' होगी । जैसे किसी दीवार की नींव पर ईंट या पत्थर रख कर चेजा करते हुए ईटों से उसको चुनते जाते हैं जिस से वह दीवार अपनी जगह ठहरी हुई ऊपर २ बढ़ती जा रही है । इसी प्रकार यह आनन्द अपने एक केन्द्र की नींव पर ठहरा हुआ चारों ओर बढ़ गया है वह बढ़ा हुआ भाग उस आनन्द की 'चिति' है । उस 'चिति' ही को चेतना कहते हैं ।

हम देखते हैं कि सूर्य या दीपक जैसे एक स्थान पर रह कर चारों ओर अपना प्रकाश फैला रहा है इसी तरह यह मेरी आत्मा जो आनन्दरूप है, मेरे शरीर के केन्द्र में अर्थात् हृदय में स्थिर रह कर शरीर से बाहर अनन्त आकाशमण्डल में दूर २ तक पदार्थों को प्रकाश करता हुआ या पकड़ता हुआ फैला हुआ है । यह फैलाव इस आनन्द की 'चिति' या चेतना है । जिस प्रकार शरीर के सम्पूर्ण शोणितमण्डल में यह फैला हुआ है, उसी प्रकार आंख, कान आदि इन्द्रियों के द्वारा यह शरीर से बाहर भी उपरोक्त प्रकार से निकला हुआ रहता है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इसके शरीर के बाहर इतने फैलने पर भी शरीर के भीतर कमी नहीं होती क्योंकि इसकी जहां तक 'चिति' है वहां तक इसका वास्तविक स्वरूप है। सूर्य के समान जिस मध्यवाले बिम्ब को हमने आनन्द कहा है और प्रकाश के समान जिस बाहरी फैलाव को हमने चेतना कहा है यह दोनों भाग एक से एक अविनाभूत हैं । सदा मिलते हुए ही स्वरूप धारण करते हैं इसलिए मोटी दृष्टि से जुदे २ दीखने पर भी वास्तव में इन दोनों को एक ही समझना चाहिए ।

इस चेतना के सम्बन्ध में यह और जानना चाहिए कि हमारे शरीर की आत्मा का यह चेतना-भाग जो बाहर निकल रहा है वह बाहर जिस वस्तु के साथ जितने अंश में सहयोग करता है उसी क्षण उसी प्रकार का ज्यों का त्यों बन जाता है । किन्तु स्मरण रहे कि उस वस्तु के पृष्ठ भाग या दूसरी ओर या भीतरी भाग को स्पर्श न करने से उस रूप में नहीं बनता । उस वस्तु में जो भारीपन इत्यादि कितने ही धर्म हैं, उनको भी नहीं धारण करता, केवल अपने सम्मुख भागवाले पृष्ठ को पकड़ कर उसी को दृश्य बनाता है, अर्थात् उसी रूप को धारण कर लेता है । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु के साथ आत्मा का चेतना संयोग करता है वह वस्तु हमारे ज्ञान से पृथक् है ।

किन्तु उसी के स्वरूप को हम अपने खयाल पर चढ़े हुए जो मान रहे हैं उसका यह अर्थ है कि वही चेतना उस रूप को पैदा करती है। उस आकार की एक नई वस्तु हमारी चेतना से उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने को संस्कृत भाषा में "विजायते" कहते हैं। उसी को बदलकर भेद दिखलाने के अभिप्राय से इस उत्पत्ति को 'विज्ञायते' कहते हैं। 'विजायते' का अर्थ जनना है और 'विज्ञायते' का अर्थ जानना है। 'विजायते' का धातु 'जन' है उसमें 'नकार' के पहले रहने वाले 'अकार को 'नकार' के पीछे लगाकर ( ज+न+ञं+आ=ज्ञा ) 'ज्ञा' धातु बना लिया गया है इसी कारण इस वस्तु की उत्पत्ति को, जो चेतना से की गई है विज्ञान कहते हैं। **'चेतना का अर्थ आत्मा के प्रकाश का विस्तार है किन्तु विज्ञान का अर्थ उस चेतना में किसी वस्तु का स्वरूप आ जाना है।** यही उस वस्तु का जानना अर्थात् अपने ज्ञान से उस वस्तु का एक प्रकार की 'उत्पत्ति' है। इस से उस आनन्द के दूसरे स्वरूप के दो नाम सिद्ध हुए 'चेतना' और 'विज्ञान' ( चेतना और विज्ञान एक ही है )।

आनन्द का जो दूसरा स्वरूप यह विज्ञान है, वह वास्तव में जब तक शरीर के आभ्यन्तर रहता है तब तक निर्विषयक रहता है। अतएव उसमें किसी प्रकार का अन्य आकार अथवा उसके निज का भी कोई आकार प्रतीत नहीं होता और वह एक रस या एक रूप का रहता है। किन्तु वही विज्ञान इन्द्रियों के द्वारा बाहर आकर जब बाह्य जगत् में किसी वस्तु के साथ संयोग करता है तो तत्काल ही उस वस्तु के रूप में बदल जाता है। वह वस्तु जो हमारी आत्मा से बनी है हमें दीखती है। यह मानी हुई बात है कि जिस वस्तु के संयोग से हमारी आत्मा बदल कर साकार रूप में आई है वह वस्तु हमारे लिए परोक्ष है अर्थात् उसको न कभी देखा था, न देखते हैं, न देखेंगे और न वह वस्तु हमारे ज्ञान में आती है केवल उस वस्तु का चित्र ही ज्ञान में खिच जाता है। यद्यपि यह चित्र मेरी आत्मा से बना है, इसके बनने में मेरा विज्ञान ही खर्च हुआ है तथापि इस विज्ञान का यह माहात्म्य है कि इतना खर्च होने पर भी वह पूर्ववत् ज्यों का त्यों बना हुआ प्रतीत होता है और उस विज्ञान में वह वस्तु अन्तर्गत प्रतीत होती है। इसी कारण से उस विज्ञान को अब हम दो खण्ड में देखते हैं—द्रष्टा और दृश्य, अथवा विज्ञान और विज्ञेय। तात्पर्य यह है कि वह वस्तु जिस आधार पर ठहरी हुई हमें नजर आती है वह भाग विज्ञान है। वही द्रष्टा या मेरी आत्मा है। किन्तु जो वस्तु उस विज्ञान पर चढ़ी हुई दीखती है वह विज्ञेय है। उसको हम विज्ञान से भिन्नरूप में देख रहे हैं इसलिए उस रूप को विज्ञान न कह कर 'सत्ता' कहते हैं। जगत् में जो प्रत्येक दृष्टि "है है" की प्रतीत होती है उसी को सत्ता कहते हैं। यह सत्ता विज्ञान के भीतर किसी प्रकार का आकार ही है इसलिए उसी आकार को 'सत्ता' कहना चाहिये। अब यह सिद्ध हुआ है कि एक ही विज्ञान के दो रूप होते हैं—एक निराकार और दूसरा साकार—एक निर्विकार और दूसरा सविकार—एक दिग्, देश, काल से अपरिच्छिन्न और दूसरा परिच्छिन्न। इनमें निराकार, निर्विकार अपरिच्छिन्न रूप को तो पहले के अनुसार विज्ञान ही कहते हैं किन्तु दूसरे साकार, सविकार और परिच्छिन्न रूप को 'सत्ता' कहते हैं।

इस प्रकार एक 'आभु' के ३ रूप सिद्ध हुए—आनन्द, विज्ञान और सत्ता। यह तीनों भिन्न दीखने पर भी वास्तव में एक ही वस्तु है। यद्यपि 'सत्ता' परिच्छिन्न दीखती है किन्तु यह समष्टि, व्यष्टि का भेद है। व्यष्टि-दशा में केवल सत्ता ही नहीं, विज्ञान और आनन्द भी खण्ड २ करके अनेक संख्या में पाये जाते हैं। जिनको जीव आत्मायें कहते हैं किन्तु इन ही तीनों की समष्टिदशा में ये तीनों अनन्त और व्यापक रूप में आ जाते हैं। उस दशा में 'सत्ता' साकार होने पर भी निराकार और व्यापक प्रतीत होती है। उस समय उन तीनों का भेद समझना भी कठिन हो जाता है।

## अभ्व

अब हम अभ्व के स्वरूपों का वर्णन करेंगे। जिस प्रकार आनन्द से विज्ञान और विज्ञान से सत्ता प्रतिपन्न हुआ है ( समझ में आया है ) उसी प्रकार अब सत्ता से कर्म, रूप, नाम ये तीनों ही 'अभ्व' प्रतिपन्न होते हैं। जब हम अपने विज्ञान में किसी सत्ता को पाते हैं और उसकी ओर खासकर दृष्टि डालते हैं तो वह सत्ता जो अखण्ड अनवयव होकर प्रतीत होती थी, उसमें तीन प्रकार के अन्य भाव पृथक्-पृथक् हमें प्रतीत होने लगते हैं—कर्म, रूप और नाम। मान लीजिए कि हम घट देख रहे हैं अर्थात् घट की सत्ता प्रतीत हो रही है तो उसमें यदि हम विशेष दृष्टि दें, तो सबसे प्रथम कुछ ऐसा आकार गृहीत होता है कि जिससे उस वस्तु की सीमा कायम होती है। और उस सीमा के अन्दर कुछ रंग प्रतीत होता है कि जो उस सीमा के बाहर नहीं है। यही आकार और रंग उस वस्तु का रूप कहलाता है। और वह किसी पृथ्वी भाग या आकाश के भाग को आवरण करता हुआ प्रतीत होता है। हमारे विज्ञान की किरणों को भी धक्का देकर आगे जाने से रोकता है और वापस लौटा कर अपने स्वरूप को किसी आत्मा के पहुंचाने का कारण बनता है। इसके अतिरिक्त उसके कितने ही और भी कर्म, जिनके लिए कि उस वस्तु का संसार में जन्म है, गृहीत होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु के ३ कर्म होते हैं अर्थात् उस वस्तु के ज्ञान होते वक्त उसके नाम का अभिनय किया जाता है अर्थात् उसका नाम मन में आ जाना ही उस वस्तु के ज्ञान का स्वरूप बनता है। जिस प्रकार 'गाय' यह नाम सुनने से गाय का रूप मन में चढ़ आता है। इस प्रकार गाय के रूप को देखते ही 'गाय' यह नाम मन के अन्दर विना बोले ही बुल जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दृष्टि में जो कुछ सत्ता प्रतीत होती है उसमें विशेष कर्म, विशेष रूप और विशेष नाम ही ज्ञान में आते हैं। इन्हीं तीनों के आने से किसी वस्तु की सत्ता ज्ञान में आती है। इन्हीं तीनों को अभ्व कहते हैं।

इस प्रकार ६ रूप सिद्ध हुये इनमें प्रथम के ३ अर्थात् आनन्द, विज्ञान और सत्ता इनको 'आभु' या द्रष्टा कहते हैं, यह सत् है, और दूसरे तीन अर्थात् कर्म, रूप और नाम इनको 'अभ्व' या दृश्य कहते हैं। ये 'असत्' हैं। यद्यपि इस प्रकार सत् असत् का भेद किया जाता है तथापि वास्तव

में इन दोनों भावों को 'सत्' ही समझना चाहिए। क्योंकि जो ज्ञात होता है वही—"है" और जो "है" वही ज्ञात होता है। और जो "है" और जो ज्ञात होता है वह "है" और "ज्ञान" इन दोनों का आश्रय होने से आनन्द कहलाता है। इस प्रकार सभी कर्म, रूप, नाम का जगत् "है" और "ज्ञात" होता है। इसलिए आनन्द रूप है।

किसी समय सब से प्रथम यह एक दर्शन प्रचलित हुआ था किन्तु इसी सद्-असद्-वाद पर विचार करते २ कितने ही समय पीछे इसमें दो मत हो गये। एक पक्ष यह था कि इनमें "सत्" ही मुख्य है "असत्" कोई वस्तु नहीं अर्थात् "आभु" जो द्रष्टा है, वही जगत् की आत्मा है और वही "मैं" ( जीव ) हूं इसी आत्मा से सत्ता के द्वारा तीनों "अभ्व" अर्थात् कर्म, रूप, नाम कल्पित हो गये हैं। वास्तव में आनन्द, विज्ञान, सत्ता ये ही ३ तत्त्व हैं और ये ही तीनों मिलकर जगत् है—यह एक दर्शन हुआ।

दूसरे पक्षवाले कहने लगे कि कर्म, रूप, नाम, ये जो ३ 'अभ्व' कहलाते हैं वास्तव में इन ही को तो हम चारों ओर देख रहे हैं। जिनको हम बार-बार सर्वत्र देखते हैं और जिस देखने को हम धोखा खाना नहीं मान सकते उनको न मानकर झूठा कायम करना सर्वथा अनुचित है। जो तीन 'आभु' के रूप कहे गये हैं, वे भी एक-एक प्रकार के रूप हैं। उनमें भी कर्म है, उनके भी नाम हैं। बस जबकि यह ३ तत्त्व मान लिए गए तो इनसे जुदा कह कर कोई भी वस्तु न कहीं जा सकती है और न खयाल ही में आ सकती है, क्योंकि कहना नाम से और खयाल करना रूप से सम्बन्ध रखता है। 'आभु' तीनों को आप अवश्य किसी न किसी रूप में ही खयाल करते हैं। इसी लिये उनके कुछ नाम भी रख लिये हैं। फिर वे नाम, रूप से पृथक् कैसे हो सकते हैं। अब रहा यह कि ये तीनों अनित्य हैं तो रहें, यह कोई नियम नहीं है कि कोई नित्य ही पदार्थ बिना प्रमाण के भी मान लिया जाय। यदि प्रमाण से अनित्य ही पदार्थ सिद्ध होता है तो वही वास्तविक तत्त्व होगा। तात्पर्य यह है कि आत्मा कोई नित्य पदार्थ नहीं है। "मैं" भी अनित्य हूं यह दूसरा दर्शन हुआ। इस प्रकार दो मत होने पर बहुत दिनों तक इन दोनों पक्षवालों में विवाद और विरोध चलते रहे और सद्सद्वाद में ही कई मतमतान्तर खड़े हो गये जो आगे दिखाये जायेंगे। नाना प्रकार के विरुद्ध मत होने पर किसी-किसी ने ऊब कर ( उखता कर ) संशयवाद कायम कर दिया। यही संशयवाद आगे दिखाया जाता है।

इति मूलोपनिषद् सदसद्-वाद का प्रत्ययाद्वैत के सम्बन्ध में संशयोपनिषत्।

———❀———

# संशयोपनिषद्

## [ २ ]

### स्याद्वादसूत्र ।।१।।

मूल उपनिषद् के पश्चात् सत् और असत् इन दोनों भावों को लेकर बहुत से मत इतने बढ़े कि उनमें से एक को भी निश्चयरूप से पकड़ कर किसी बात का सिद्धान्त करना कठिन हो गया। इसीलिए कितने ही आचार्यों ने उन सब विरुद्ध मतों को मान कर स्याद्वाद का स्थापन किया जिससे "सप्तभङ्गी" ( सात टुकड़े ) नाम से एक 'नया' ( कायदा ) अर्थात् युक्तिविशेष जो कायम की, वह इस प्रकार है।

**१ स्यादस्ति, २ स्यान्नास्ति ३ स्यादस्तिनास्ति ४ स्यादवाच्यम् ५ स्यादस्ति अवाच्यम् ६ स्यान्नास्ति अवाच्यम्, ७ स्यादस्तिनास्ति अवाच्यम्** । अर्थात्—

१–सम्भव है कि यह सब सत् ही सत् हो।
२–सम्भव है कि यह सब असत् ही असत् हो।
३–यह भी सम्भव है कि यह सब सत्–असत् दोनों हो।
४–सम्भव है कि यह सब अनिर्वचनीय हो। अर्थात् किसी एक रूप में यह सब कहा न जा सकता हो।
५–सम्भव है कि यह सब सत् होकर भी ठीक–ठीक कहा न जा सके।
६–सम्भव है कि यह सब असत् होकर भी ठीक–ठीक कहा न जा सकता हो।
७–यह भी सम्भव है कि यह सब सत् या असत् दोनों हों किन्तु ठीक–ठीक कहे न जा सकते हों।

बस इस प्रकार निरुक्त और अनिरुक्त ये दो भेद नियत करके एक निरुक्त में ३, और दूसरे अनिरुक्त में ४ भेद मान कर ७ भेद स्थिर किये गये। तात्पर्य यह है कि सत् और असत् को लेकर जितने प्रकार के मत उस समय प्रचलित हुए थे, उन सब विरुद्ध मतों को संग्रह करके सब का सम्भव होना इस मत में स्वीकार किया है—मानों एक प्रकार से सब विरोध का परिहार ( मिटाना ) किया गया किन्तु इससे यह सिद्ध हुआ कि इस जगत् के सब ही पदार्थ इस प्रकार छिपे हुए हैं कि इनका सूक्ष्म विचार करने पर भी इनकी असलियत न आज तक कभी किसी को ज्ञात हुई, न आगे कभी किसी को ज्ञात होगी, फिर इसके लिए सिर तोड़ परिश्रम करके विचार करना व्यर्थ है। जो जैसा कुछ तुम इसको समझ लो या मान लो, वह सब सम्भव है और सब तरह हो सकते हैं। बस यही इस मत का सिद्धान्त है। यह संशयवाद रूपी स्याद्वाद है। यह बहुत पुराने समय से चला आता है। जिसको भगवान् 'जिन' या जिनेन्द्र स्वामी ने स्वीकार करके उपदेश किया किन्तु बहुत काल पश्चात् 'उमास्वामि' आचार्य ने 'सूत्रजी' निर्माण करके एक प्रकार का दूसरा दर्शन प्रचार किया। जिसमें सम्पूर्ण जगत् के

पदार्थ एक निश्चित रूप प्रणाली पर मान लिये गये हैं जैसा कि—**'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'** । अर्थात् सही-सही देखना, समझना और चलना मोक्ष का द्वार है ।

**"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् जीवाजीवाश्रवबन्धसम्वर निर्जरा मोक्षास्तत्वम्"**
अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व हैं ।

## मूलाशुद्धिसूत्र ।। २ ।।

जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में मूलतत्व को ढूंढने के लिए विचार करना सर्वथा व्यर्थ है । क्योंकि यह विषय मनुष्य बुद्धि के बाहर है । हम इस सम्बन्ध में लोगों के अनेकानेक विरुद्ध विचार देख रहे हैं । भला क्या कहा जा सकता है कि इनमें कौन सत्य या मिथ्या है । जैसा इस जगत् का बीज किसी ने 'परमाणु' कहा है, किसी ने 'प्रत्यय' को माना है, कोई परमेश्वर की इच्छा से जगत् का होना बताता है । यह परमेश्वर भी किसी के विचार से जगत् के बाहर घड़े के अनुसार जगत् को बनाने वाला माना गया है । और किसी के विचार से इस सारे जगत् को ही परमेश्वर कहते हैं । और किसी के विचार में इस जगत् के प्रत्येक विषय में अन्दर घुसा हुआ परमेश्वर माना जाता है । भला कह सकते हैं, कि इनमें कौनसा विचार सत्य है ? मेरे विचार से तो मैं दावे के साथ कह सकता हूं उपरोक्त सब ही विचार वाले सन्देह में पड़े हुये हैं । यह सब मत सन्दिग्ध हैं कोई विचार स्थिर नहीं किया जा सकता । यह केवल मेरी ही राय नहीं है किन्तु कितने ही प्राचीन महर्षियों ने भी नाना प्रकार के इन मतों को देखकर अपना असन्तोष प्रकट किया है । जैसा कि भगवान् विश्व-कर्मा महर्षि और भगवान् परमेष्ठी प्रजापति ने उन सब मतों का उपहास करके सन्देहवाद स्थापन किया है । जैसा कि ऋग्वेद के १० वें मण्डल ८२ सूक्त में विश्वकर्मा बहुवन ऋषि ने **'न तं विदाथ'** इत्यादि मन्त्र कहा है । इसका अर्थ है कि तुमने उसको नहीं पहचाना है जिसने इस जगत् को पैदा किया, तुम लोगों की बुद्धि में कुछ और ही बात समा रही है । इस सम्बन्ध में जितनी बहस की जाती है, वे सब बर्फ से ढके हुए के सदृश हैं । इस जगत् के मूलतत्व ढूंढकर कहने वाले सब कुछ कहकर भी अपनी आत्मा में पूर्णरूप से सन्तुष्ट न होकर ही फिरते हैं ।

इन्हीं विश्वकर्मा ने ऋग्वेद दशम मण्डल ८१ सूक्त में **'किंस्विद्वनम्'** इत्यादि मन्त्र कहा है । अर्थ यह है कि वह कौनसा वन है और उस वन का कौनसा वृक्ष है कि जिसको काट कर इतना बड़ा त्रैलोक्य बनाकर खड़ा किया गया है । हे विद्वान् लोगों इस बात को हल् करने के लिए मन ही मन आप लोग उससे पूछो, जो सम्पूर्ण विश्वमण्डल को थाम कर सब पर हावी होकर बैठा है ।

इसी प्रकार 'परमेष्ठी प्रजापति' ने भी ऋग्वेद के दशम मण्डल १२९ सूक्त छठा और सातवां मन्त्र कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि किसने साफ-साफ तौर पर समझा है, और किसने निःसन्देह होकर साफ-साफ इसका वर्णन किया है कि यह जगत् कहां से आया और कैसे इस प्रकार का बन गया । देवतागण जगत् को भीतरी चीज हैं । पीछे उत्पन्न हुए हैं । यह इस सृष्टि के पैदा करने में असमर्थ हैं । कौन जानता है कि कहां से, कैसे, यह कहां तक फैला हुआ है । तात्पर्य यह है कि लाख

विचार करने पर भी इसका मूलतत्त्व सर्वथा अज्ञेय और अनिर्वचनीय है । (६) यह जगत् जिस मूलतत्त्व का बना हुआ है वह ऐसी कोई निराली चीज है या नहीं इस बात को वही जानता है जो इस विशाल आकाश में बैठा हुआ कोई संसार का मालिक है । अथवा यों समझो कि वह भी शायद ही जानता हो । (७) इस प्रकार महा बुद्धिशाली महाविद्वानों की भी यही राय पाई जाती है कि इस संसार का मूलतत्त्व अभी तक शुद्ध नहीं हुआ अर्थात् स्पष्ट रूप से जाना नहीं गया और न जाना जा सकता है ।

## तूलाशुद्धिसूत्र ॥ ३ ॥

अनेक दार्शनिक लोगों ने इस जगत् के सम्बन्ध में खूब सोच-सोच कर जितने सिद्धान्त स्थापित किये हैं, उनमें से किसी को भी हम सत्य नहीं कह सकते हैं क्योंकि उनमें किसी का मत भी ऐसा नहीं है कि जिस पर विरुद्ध दलील खड़ी न की जा सके। जैसा कि समझो—मैं जगत् को देख रहा हूं उस मेरे देखने में द्रष्टा और दृश्य दोनों जुदे २ प्रतीत होते हैं। उनमें दृश्य के देखने का मूल कारण केवल दृष्टा है। यदि हम दृष्टा के भाग को निकाल कर अलग कर दें तो कहो कि वह दृश्य क्या कुछ भी दीख सकता है ? कभी नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि वह दृश्य द्रष्टा से जुदा वस्तु नहीं है। अथवा वह दृश्य सर्वथा नहीं है। मेरे ज्ञान ने ही दृश्य का रूप बनाया है। दूसरा यह है कि जिस दृश्य को मैं देखता हूँ वह मेरे ज्ञान का रूप है किन्तु उस रूप के बनने का का कारण, उससे अतिरिक्त कोई दृश्य वस्तु है। अथवा जो कुछ हमें प्रत्यक्ष होता है, वही वास्तव में दृश्य है। इन बातों पर खूब विचार करने पर भी क्या कोई निर्धारण करके कह सकता है कि वास्तव में दृश्य क्या है। जब यह नहीं कहा जा सकता तो उस दृश्य के लिए विचार करना व्यर्थ है इसलिए उसको अब द्रष्टा जो आंख से देखता है, नाक से सूंघता है, कान से सुनता है, जीभ से चखता है, त्वचा से स्पर्श करता है, इन सब ज्ञानों में द्रष्टा के द्वारा दूसरे पदार्थ दीखते हैं, किन्तु उस द्रष्टा को जिस पर कोई इन्द्रियां नहीं जा सकती, न द्रष्टा ही आप अपने ऊपर जा सकता है, ऐसी सूरत में उस द्रष्टा का वास्तविक रूप क्या है, क्या कभी किसी ने जाना ? क्या कोई जान सकता है ? कभी नहीं। जब कभी हमने द्रष्टा को देखा है तो बाहर वाले किसी रूप में बदले हुए को ही देखा है किन्तु उस बाह्य-रूप को अलग करके द्रष्टा का असली रूप क्या है, कभी कुछ ज्ञात नहीं होता और जबकि आंख, कान आदि इन्द्रियों की सहायता न हो अर्थात् यह इन्द्रियां बाहर के पदार्थों से यदि स्पर्श न करें, तो यह द्रष्टा कभी किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता। इस प्रकार द्रष्टा जब इन्द्रियों के साथ बाह्य किसी दृश्य पदार्थ से योग करता है तब इन तीनों के मिलने से उस ही समय एक नयी वस्तु बनती है जिसको कि हम देखना कहते हैं। वह सहयोग से बना हुआ पदार्थ सत्य नहीं हो सकता किन्तु जिनके संयोग से वह रूप बन गया है वह द्रष्टा, दृश्य व इन्द्रिय कोई भी अपने असली रूप में कैसा है सो जाना नहीं जा सकता।

द्रष्टा है इसलिए दृश्य का रूप उसके भीतर भासता है। उस दृश्य की 'सत्ता' द्रष्टा से कभी जुदा नहीं हो सकती। अथवा इससे उलटा समझो कि जब द्रष्टा कभी दृश्य के रूप में बदलता है। तब

ही हम द्रष्टा को भी पाते हैं; इसलिए द्रष्टा भी एक प्रकार का दृश्य ही है । **दृश्य से अलग करके द्रष्टा की कोई सत्ता नहीं ।**

अथवा द्रष्टा प्रत्यक्ष को ही समझना चाहिए । यह प्रत्यक्ष ३ प्रकार का है—**सामान्य, बाह्य और आन्तर ।** बाह्य इन्द्रियों से जो देखना-सुनना आदि ज्ञान होता है, वह बाह्य इन्द्रियों के द्वारा होने के कारण बाह्य प्रत्यय है । किन्तु मन ही मन विचार करता हुआ जब किसी बाह्य इन्द्रियों की सहायता नहीं लेता है उसका मानसिक विचार अथवा सुख-दुःख आदि ज्ञान,—यह सब आन्तर प्रत्यय है । इन दोनों में बाह्य इन्द्रियों और मन का संयोग है । किन्तु इन्हीं दोनों प्रत्ययों में बाह्य इन्द्रिय का और मन का जितना भाग है उसको जुदा करके उनसे अलग एक तीसरे भी ज्ञान का भान प्रतीत होता है । जो देखना, सुनना या मन से समझना सब में एक रूप दीखता है, वही सामान्य प्रत्यय है । इनमें वह सामान्य प्रत्यय जितना मन के संयोग से आन्तर प्रत्यय पैदा करता है अथवा बाह्य इन्द्रिय के संयोग से जितना बाह्य प्रत्यय पैदा करता है; यह दोनों प्रत्यय मन और इन्द्रिय के संयोग से उसी समय नये बन गये हैं । ये वास्तव में कोई तत्त्व नहीं हो सकते । तात्त्विक न होने से उनका ज्ञान सत्य नहीं है । अब रहा सामान्य प्रत्यय, सो इन दोनों प्रत्ययों अर्थात् बाह्य और आन्तर प्रत्यय इन दोनों के बिना मिलाये कहीं कभी दीखता ही नहीं ।

तात्पर्य यह है कि जो तत्त्व है, उसका ज्ञान किसी को न कभी हुआ न होगा । और जो ज्ञान हम सब को सदा होते रहते हैं, वे उसी समय के बने हुए अतात्त्विक हैं । इसीलिए मिथ्या हैं । ऐसी सूरत में कोई ज्ञान सत्य नहीं ।

## ४—दोषमूल का प्रामाण्यखण्डनसूत्र

प्रत्यक्ष के अप्रमाण सम्बन्ध में प्रत्यक्ष को सर्वथा अप्रमाण ही मानते हुए कितने ही दार्शनिकों ने इस प्रकार की व्यवस्था रची है कि—आंख अपने स्वभाव से जहां जो कुछ देखती है **वह सब यथार्थ** है, सत्य है, और प्रामाणिक है । किन्तु आंख और वस्तु के मध्य में यदि कोई दोष आजावे तो उस दोष के कारण उस ज्ञान को अप्रमाण कह सकते हैं, किन्तु दोष के संयोग से अप्रमाण होने पर भी यह दृष्टि सर्वथा अप्रमाण नहीं मानी जाती । **हरे काच के संयोग से सूर्य का प्रकाश हरा दीखने पर भी सूर्य का प्रकाश सर्वथा हरा ही नहीं माना जा सकता** इत्यादि इत्यादि । किन्तु इस आक्षेप पर यह कहा जा सकता है कि जहां आप दृष्टि के साथ किसी दोष का संयोग समझते हैं, अथवा जहां पर बिना दोष के शुद्ध दृष्टि समझते हैं—इन दोनों स्थानों में आँख से किसी विषय का देखना बराबर है, फिर उसमें दोष का अदोष की व्यवस्था करना सर्वथा असंगत है । जबकि दृष्टि से कोई वस्तु दीखती है तो वहां किसी दोष को दोष कहकर तिरस्कार करना अनुचित है; अथवा जहां विशुद्ध दृष्टि समझते हैं वहां भी क्या किसी दोष का होना सम्भव नहीं है । हम कह सकते हैं यदि हमारी दृष्टि और किसी प्रकार की बनी होती तो हम इन सब वस्तुओं को दूसरे प्रकार से देखते हुए विचार से जानते, जैसे कि जल के प्रत्येक परमाणु गोल होते हैं, इसलिए जल का धरातल उच्चावच होना चाहिए किन्तु हमारी दृष्टि जल की सतह को समधरातल देखती है । अतः इस आंख को हमेशा के लिए क्यों न दोष-

युक्त मानी जाय। यदि यह दृष्टि निर्दोष होती तो अवश्य ही जल के दाने-दाने पृथक् दिखाई देते। ऐसी स्थिति में जबकि सभी आंख दोषयुक्त ही हैं तो कहीं सदोष या निर्दोष की पृथक् व्यवस्था करना मिथ्या है अथवा जहां आप दोष मानते हैं वहां उस दोष को दोष मानने के लिए भी कोई प्रमाण आपके पास नहीं है। यदि बुखार में चीनी कड़वी लगे और इसको आप दोषयुक्त मानें तो यह आपकी भूल है। यह रसना इन्द्रिय चीनी का मिठास बनाती हुई जिस प्रकार प्रमाणभूत है उसी प्रकार कडवा बताती हुई भी कडवा बताने के लिए प्रमाणस्वरूप होगी। यदि यह प्रमाण नहीं है तो कडुवे के ज्ञान का विश्वास भी आपको नहीं होना चाहिए। और उसके द्वारा रोग समझ कर उसके हटाने का उद्योग नहीं करना चाहिए। जब आप कड़वेपन पर विश्वास करते हैं तो अवश्य ही वह रसना आपकी प्रमाण है—इसलिये दोष वाली इन्द्रियों को प्रमाण मानना आपका सर्वथा असत्य है। अथवा जिस प्रकार आप चीनी को कड़वी समझने के लिए रसनेन्द्रिय में कोई दोष मानते हैं उसी प्रकार चीनी को मीठी समझने के लिए उसी रसना में कोई दोष हम मान सकते हैं। सम्भव है कि यह दोष सम्पूर्ण जगत् की रसना में साधारण रीति से आगया हो; जिससे बिना मीठे, चीनी को मीठी बनाकर दिखाता हो। इसी प्रकार सफेद शंख को, पीला दिखाने वाले पीलिया रोग में भी समझना चाहिए। मानना चाहिए कि यह पीलिये की बीमारी यदि साधारण रीति से सभी प्राणियों की आँखों में होती तो पीला देखते हुए भी आप इसको कभी दोष नहीं कहते। इसलिए कहीं दोष मानना, कहीं न मानना यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। उसके द्वारा किसी इन्द्रिय का प्रमाण होना न होना सर्वथा असम्भव है।

इसके अतिरिक्त हम यह भी कहते हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमाण मानने वाले दार्शनिक भी निरिन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं। क्योंकि कितने ही दार्शनिकों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्रत्यक्ष होते समय चार व्यापार होते हैं—**अवग्रह, ईहा, अवगम और धारणा।** अर्थात् सबसे पहले इन्द्रिय का वस्तु के साथ साधारण संयोग होता है अर्थात् इन्द्रिय के मैदान की हद में वह वस्तु आ जाती है। इससे जो संयोग होता है उसको **अवग्रह** कहते हैं। इसके अनन्तर यह क्या झलक पड़ी, यह क्या वस्तु है—इस बात को जानने के लिये उत्सुक होकर मन अपनी चेष्टा करने लगता है और कितनी ही वस्तुओं का वहां सन्देह उठाकर—किसी अंग का छोड़ना, किसी अंग का उसमें मिलाना इत्यादि—आवाप (मिलाना) उद्वाप (हटाना) करता हुआ औरों को छोड़कर किसी एक वस्तु पर स्थिर हो जाता है—इस प्रकार वस्तु की परीक्षा करना मन की ईहा कहलाती है। जिस प्रकार अवग्रह से इन्द्रिय ने कुछ रंग रूप देख कर मन को निवेदन किया था उसी प्रकार मन अपनी ईहा से कुछ वस्तु स्थिर करके आत्मा को निवेदन करता है। आत्मा उस वस्तु को मन के अनुसार स्वीकार करता है। इसी को **अवगम** कहते हैं। अवगम होने पर आत्मा उस वस्तु के रूप को चिरकाल के लिए अपने में धारण करता है, जिसके द्वारा समय-समय पर स्मरण होता रहता है। इसी को **धारणा** कहते है। इस प्रकार ज्ञान के चार काण्ड हैं। जिनमें प्रथम इन्द्रिय से, दूसरा मन से और तीसरा आत्मा से होकर तीसरे दर्जे में ज्ञान का स्वरूप पूर्ण हो जाता है और वही प्रमाण है। ऐसी स्थिति में ईहा जो मन की चेष्टा है उससे पहले ज्ञान का स्वरूप ही पूर्ण नहीं बना फिर वह प्रमाण क्यों कर हो सकता है। अलबत्ता मन

ने ईहा करके जो वस्तु स्थिर करली है उसी को आत्मा स्वीकार करती है। इसीलिये इन्द्रिय को प्रमाण न मान कर मन के विवेक को ही आप भी प्रमाण मानते हैं और सब को भी वैसा ही मानना चाहिये। चाहे इन्द्रियजन्य ज्ञान हो या बिना इन्द्रिय के कोई ज्ञान हो। सभी में मन की चेष्टा आवश्यक है, मन ने विचार कर जो जैसा कहा वही यथार्थ है, सत्य है और प्रमाणिक है।

## ५ मनःप्रामाण्यखण्डनसूत्र

उपर्युक्त रीति से मन को प्रमाण कहा गया है, किन्तु हम देखते हैं कि यथार्थ में मन भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि यह मन ही बहुधा मिथ्याविज्ञान उत्पन्न करता है। हम देखते हैं कि किसी वस्तु को कोई मनुष्य अपने मन से अच्छी या बुरी समझता है उसी वस्तु को दूसरा मनुष्य अपने मन से दूसरे प्रकार से देखता है। एक ही वस्तु अच्छी होकर एक ही काल में बुरी नहीं हो सकती अतः इन दोनों प्रकार के मन में एक मन अवश्य मिथ्या है। जबकि एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न भावों से भिन्न प्रकार का मन प्रत्यक्ष कराता है तो उसमें सत्यता नहीं मानी जा सकती। एक मन किसी बात को सत्य कह कर देखता है और उसी वस्तु को दूसरा मन मिथ्या सिद्ध करता है। जिस मन के विवेक को आपने प्रमाण माना है, उसी विवेक का यह काम है कि कोई दार्शनिक इस जगत् को पूर्ण विचार करके सच्चा कह रहा है तो दूसरे दार्शनिक अनेकानेक युक्तियों से विचार करके उसी जगत् को असत् अर्थात् मिथ्या कह रहे हैं। जिस आचार-विचार को एक समाज अच्छा समझ कर उसका आदर करता है और नित्य ही उसका आचरण करता है उसी आचार-विचार को दूसरा मनुष्य समाज बड़ी घृणा दृष्टि से देखता है और निन्दा करता है। कहा तक इस मन के विवेक की यह महिमा है, दार्शनिकों के विचार में नाना मत-मतान्तर प्रचलित हैं, उपासना में भी कई मतभेद हैं, इन सब में किसका मत सत्य है और किसका मिथ्या यह निर्णय करना कठिन है। अथवा परस्पर प्रत्याघात और प्रतिद्वन्द्विता से सभी मिथ्या कहे जा सकते हैं। यह तो हुई भिन्न पुरुषों के मन की कथा। किन्तु हम एक ही मनुष्य के एक ही मन में देखते हैं कि वह किसी काम को कभी अच्छा या कभी बुरा समझता है। कभी किसी काम के लिये संकल्प-विकल्प करके विरुद्ध दो भाव खड़ा करता है तो ऐसी दशा में सब ही मन को एक रूप से प्रमाण कैसे माना जा सकता है और जब मन के ऊपर पूरा विश्वास नही रहा तो अब इस जगत् के प्रत्येक भाव को जैसा कुछ जिस प्रकार हम देखते हैं, वह बिल्कुल सब वैसा ही है यह निर्धारण करना अत्यन्त कठिन हो गया है, इसीलिये हम कह सकते हैं कि संसार का सब ज्ञान या ज्ञान के सभी पदार्थ संशयरूप में हैं।

## ६—आत्माप्रामाण्यखण्डनसूत्र

अब यहां पर तीन प्रश्न उठते हैं। प्रथम यह है कि—उपर्युक्त प्रकार से अन्यान्य प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण और मन के विवेक का प्रामाण्य भी खंडित हो जाने से आपके कथनानुसार माना कि ये सम्पूर्णजगत् के भाव संदेहमय हैं। इनमें कोई कुछ भी निश्चित रूप से यथार्थ जाना नहीं जा सकता। किन्तु इन्हीं कारणों से यह निश्चित रूप से ही जान लिया गया है कि सब कुछ संदेह से भरा हुआ है। इन सब संदेहों के होने का जो आपका ज्ञान है वह अवश्य निश्चित है। उसमें अब आपको किसी प्रकार का संदेह बाकी

नहीं रह गया। एक यही निश्चय ऐसा है कि जिससे आपके संपूर्ण संशयवाद की इमारत ढक जाती है। माना कि यह सम्पूर्ण जगत् संदिग्ध है किन्तु इस प्रकार परीक्षा करके सब को सन्दिग्ध निर्धारण करने वाली कोई मेरी आत्मा ऐसी बलवान् सत्य वस्तु है, जो बिना प्रमाण ही अपने आप को सत्यरूप से प्रकाश करती हुई अपने से अतिरिक्त संपूर्ण जगत् को सन्दिग्ध रूप में हम को दिखा रही है।

दूसरा प्रश्न यह है कि—हम आप ही से पूछते हैं कि–आपने जब सब प्रमाणों का खण्डन कर दिया तो ऐसी स्थिति में यह सम्पूर्ण जगत् संदिग्ध है यही ज्ञान आपको किस प्रमाण से हुआ, या आपका यह ज्ञान सत्य है या नहीं इसमें क्या प्रमाण है।

तीसरा प्रश्न यह है कि—यहां पर आप अवश्य यही उत्तर देंगे कि बिना प्रमाण ही मेरी अन्तरात्मा इस बात की साक्षी है कि यह सब जगत् संदिग्ध है तो उस पर हम अवश्य कहेंगे कि आप अपनी उस आत्मा को अवश्य प्रमाण मानते हैं कि जिसके साक्षी होने से सम्पूर्ण जगत् की संदिग्धता में विश्वास करते हैं और उसको सत्य मानते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जो मन से भी परे है महाप्रमाण है। यही आपके पक्ष पर बड़ा आक्षेप है।

इस प्रश्न पर संशयवादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि मेरी आत्मा का मुझको निश्चित हैं इसी प्रकार अन्यान्य व्यक्तियों को भी अपनी-अपनी आत्मा का निश्चित है किन्तु उस पर यह बड़ा भारी संदेह उठता है कि यह हमारा निश्चय ही सत्य है। जिस निश्चय के द्वारा मेरी आत्मा के ज्ञान से तुम या अन्यान्य व्यक्ति सब भासित हो रहे हैं। अथवा तुम्हारे या अन्य किसी व्यक्ति के ज्ञान से हम भासित हो रहे हैं। क्योंकि आत्मा मानने वाला यही कहता है कि एक आत्मा ही सत्य है और सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है वह सब आत्मा से ही भास रहा है।

आत्मा के ज्ञान से अतिरिक्त वास्तव में वे सब पदार्थ पृथक् कुछ नहीं है तो अब कहिये कि तुम या अन्यान्य व्यक्ति जिनको मैं देखता हूँ, जिनसे बात कर रहा हूँ यह सभी मेरे ज्ञान की बनावट हैं। वास्तव में न तो तुम कुछ हो, न अन्य कोई व्यक्ति है, न उनके किसी प्रकार के व्यवहार ही सत्य हैं—इस प्रकार हम समझते हैं। और हमारी आत्मा यदि प्रमाण है तो यही सत्य भी है, किन्तु सोचो कि ठीक इसी प्रकार जैसा कि मैं समझता हूँ तुम भी समझते होंगे। अब सिद्ध यह हुआ कि हमारी आत्मा सच्ची, हमारा ज्ञान सच्चा और हमारे ज्ञान के बने हुए तुम सब अन्यान्य जगत् के पदार्थ के अनुसार झूंठे अथवा इसके विरुद्ध तुम्हारी आत्मा सच्ची, तुम्हारा ज्ञान सच्चा और हम तुम्हारे ज्ञान के बने हुए हैं, वास्तव में हैं झूंठे। यह बड़े प्रबल सन्देह के दो पक्ष उठते हैं जिनका निर्धारण करना न तुम्हारी आत्मा के आधीन हैं, न हमारी आत्मा के। यह जाना ही नहीं जा सकता कि हमारे ज्ञान से तुम बने हुए हो या तुम्हारे ज्ञान से हम। बस, इस प्रकार आत्मा में संदेह है। इसलिये कोई भी आत्मा प्रमाण नहीं।

आत्मा में एक और यह संदेह है कि मैं हूँ—इसलिये मेरा ज्ञान है; अर्थात् मुझमें से सूर्य के प्रकाश के समान एक प्रकार का प्रकाश निकलता है उसी को मेरा ज्ञान कहते हैं। और उसी ज्ञान के

कारण यह जगत् भासता हुआ नजर आता है, यह एक बात हुई। दूसरा पक्ष यह है कि—इस जगत् का जो ज्ञान हो रहा है अर्थात् कुछ जाना जा रहा है उसी जानने से मैं अपने आप को भी जानता हूँ। इसीलिये मैं भी कोई वस्तु हूँ। सारांश यह है कि मैं हूँ इसलिये यह ज्ञान है, अथवा यह ज्ञान है जिसमें मैं हूं—इस संदेह का निर्धारण किसी प्रमाण से नहीं हो सकता जबकि दोनों पक्षों में से कोई भी पक्ष स्थिर नहीं होता तो सिद्ध हो गया कि मैं हूं, न ज्ञान है और न ज्ञान का विषय ही है।

अथवा इस आत्मा में यह भी संदेह हो सकता है कि अभी तक जो युक्तियां दी जा चुकी हैं, उनसे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञानरूप है। ज्ञान का तात्पर्य यहां प्रत्यय से है। प्रत्यय उस ज्ञान को कहते हैं कि जिसमें तीन टुकड़े जुड़े हुऐ हों। अर्थात् जानने वाला, जानने की चीज और जानना। वही प्रत्यय मैं हूँ। क्योंकि मैं जानने वाला हूँ और यही प्रत्यय यह जगत् है। क्योंकि वह जानने की चीज है और वही प्रत्यय यह जानना है कि जिसके द्वारा मैं और जगत् ये दोनों आपस में जुड़े हैं। यह आत्मा के सम्बन्ध में एक पक्ष हुआ। इसके विरूद्ध दूसरा पक्ष यह उठता है कि ज्ञाता(१) ज्ञान (२) और ज्ञेय (३) ये तीनों मिलकर जो एकरूप बना है वह आत्मा है, यह बात नहीं, किन्तु यह तीनों ही अलग २ अलग चीज़ हैं। इनमें ज्ञाता को ही आत्मा कहते हैं। किन्तु ज्ञान और ज्ञेय इस आत्मा से पृथक् चीज हैं क्योंकि मूर्छा की अवस्था में ज्ञान और ज्ञेय नष्ट हो जाते हैं, लेकिन आत्मा बनी रहती है यदि ये तीनों मिलकर आत्मा का स्वरूप होता तो मूर्छा में भी आत्मा की सत्ता रहने के कारण ज्ञान और ज्ञेय की सत्ता भी नष्ट नहीं होती। यह दूसरा पक्ष है।

तीसरा पक्ष यह है कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीनों जो तुम्हारे प्रत्ययज्ञान में भासते हैं उस ज्ञेय से सर्वथा भिन्न एक और परोक्ष ज्ञेय है, जिसके अधीन तुम्हारे प्रत्यय का ज्ञेय और ज्ञान है। किन्तु वह ज्ञेय तुम्हारी आत्मा के अधीन नहीं है।

चौथा पक्ष यह है कि मेरा ज्ञान बिना विजय को पकड़े हुए कुछ–भासता ही नहीं है, अपनी सत्ता को धारण ही नहीं करता। किन्तु विषय को पकड़ कर उसी के रूप में भासता है और इसी प्रकार वह विषय भी जब ज्ञान पर चढ़ता है तभी उसकी सत्ता या स्वरूप कायम होता है। यदि ज्ञान की मात्रा पृथक करदी जाय तो उस विषय का न स्वरूप ही रहेगा और न सत्ता ही रहेगी। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों ही पृथक् रहकर कुछ अपना स्वरूप ही नहीं रखते। यदि रखते भी हों तो हमारे ज्ञान के बाहर होने से उन पर हमारा सामर्थ्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हम अपने ज्ञान और ज्ञेय को जो पृथक् २ दो चीज मानते हैं वही मेरा ज्ञेय है और वही मेरा ज्ञान है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों भिन्न वस्तु नहीं है। यह चौथा पक्ष हुआ है।

इस प्रकार इस आत्मा के जो जो रूप दार्शनिकों ने स्थिर किये हैं, उनके एक-एक अंश का यदि हम विचार करने लगें तो प्रत्येक अंश में अनेकानेक संशय उपस्थित होते हैं जिनका लाखों प्रयत्न करने पर भी यथार्थ रूप से निर्धारण करना असंभव है।

---

१ जानने वाला, २ जाना जाना, ३ जिसको जाना जाय।

## आत्मप्रामाण्यखण्डनसारांश

जब संदेह ही संदेह है तो संदेह निश्चित हो चुका और इस निश्चित होने से संदेहवाद की जड़ कट गई। क्योंकि जब संदेहवाद में संदेह नहीं रहा तो संदेहवाद ही कहां रहा और यदि संदेहवाद में भी संदेह रक्खा जाय तो जिनमें संदेह किया गया है उनके संदेह में संदेह हो गया अर्थात् वे निश्चित ठहर गये और संदेहवाद बिल्कुल उठ गया।

## ९—सत्यज्ञानाशक्यतासूत्र

उपर्युक्त सारे प्रमाणवाद का सारांश यह है कि सभी प्रमाण अप्रमाण हैं। क्योंकि किसी भी प्रमाण के प्रमाण होने में कोई दूसरा प्रमाण दिया नहीं जा सकता। जबकि इस तरह प्रमाण सभी अप्रमाण हैं तो वे सत्य नहीं माने जा सकते और जो असत्य है उसके द्वारा सत्य की खोज करने पर भी सत्य वस्तु नहीं मिल सकती; तो ऐसी स्थिति में अब सत्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये कोई भी उपाय दृष्टिगत नहीं होता और बिना उपाय के किसी उद्देश्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती। अतः जो बात मनुष्य की शक्ति के बाहर है उसकी परीक्षा के लिये श्रम उठाना सर्वथा व्यर्थ है; इसलिये उचित है कि इस विषय में चुप रहै।

## १०—जीवखण्डनसूत्र

कितने ही दार्शनिकों का यह विश्वास हो गया है कि इस शरीर में शरीर से सर्वथा पृथक् वस्तु एक आत्मा है जो कि इस शरीर के स्थूल भाग और सूक्ष्म भाग इन दोनों से अतिरिक्त एक अलौकिक रूप में है जिसका वास्तविक स्वरूप मनुष्य की बुद्धि में नहीं आ सकता। यह आत्मा जिसको जीव कहते हैं वस्त्र बदलने के अनुसार इस शरीर को बदला करता है। पुराने शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर धारण करता है। इसमें भी दो मत हैं। एक दल का कहना है कि इस शरीर को छोड़ते ही उसी क्षण दूसरे शरीर में प्रवेश करता है अर्थात् मरने के अनन्तर ही जन्म ले लेता है। क्योंकि बिना शरीर के यह जीव क्षण भर भी पृथक् नहीं रह सकता। दूसरे दल का यह मत है कि मरने या शरीर छोडने के पश्चात् यह जीव अपने कर्मानुसार कुछ काल के लिये ऐसी जगह जाता है, जहां इसको कुछ काल सुख या दुःख भोगना पड़ता है। पश्चात् उस स्थान से लौट कर फिर पृथ्वी में जन्म लेना पड़ता है—इत्यादि—इत्यादि। किन्तु इस पर मेरा कहना यह है कि यह सब कल्पनामात्र है, निरी गप्प है। क्योंकि इन सब बातों में प्रमाण दिया नहीं जा सकता। वास्तव में सही बात यह है कि इस शरीर की बनावट एक अद्भुत ढंग पर है। **इसके अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म कोई भाग है, जिससे धीरे-धीरे स्थूल भाग बनता रहता है।** स्थूल भाग को हम देखते हैं; किन्तु सूक्ष्म भाग उसकी क्रिया से पाया जाता है। इनमें जो सूक्ष्म भाग है **उसी को जीव-आत्मा कहते हैं।** और वही जीव इस बहिरंग शरीर का अन्तरग भाग है **और इसी शरीर के साथ पैदा होता है और इसी स्थूल के अनुसार वह सूक्ष्म भी बदलता बिगड़ता रहता है। तथा इस शरीर के साथ ही नष्ट भी हो जाता है।** मरने के बाद यह आत्मा पृथ्वी से बाहर किसी दूसरे लोक में कुछ काल के लिये जाती है और वहां सुख-दुःख भोगती है, यह सब धोखे की बात है,

भूल है और बच्चों की कहानी है। इसीलिये इस शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जन्म लेना भी झूठी बात है, इसमें कुछ तत्व नहीं है।

## ११–(क) (आनन्द) खण्डनसूत्र

नीच मनुष्य से लेकर विशिष्ट विद्वानों तक बड़े बड़े यत्न करके भी आज तक जिसको किसी ने भी नहीं देखा है, न कभी देखने की आशा है, ऐसे एक मिथ्या पदार्थ की कल्पना करके कितने ही भोले-भाले मनुष्य उसके लिए नाना प्रकार के उपासनाकर्म व्यर्थ करते हमें दिखाई देते हैं। उन लोगों का विश्वास है कि वह परमेश्वर सच्चिदानन्दरूप है। अर्थात् सत् याने सत्य जो तीनों काल में रहने वाला हो, कभी नष्ट न हो और चित् अर्थात् चेतन याने ज्ञानमूर्ति हो, सर्वज्ञ हो और आनन्द अर्थात् दुःख रहित हो, इत्यादि इत्यादि।

इस पर मेरा यह कहना है कि वह परमेश्वर कभी आनन्दरूप नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसी सूरत में उसको अकाम होना चाहिये। अर्थात् उसमें किसी प्रकार की कामना व इच्छा नहीं हो सकती। कामनावाले को जब तक यह कामना पूरी नहीं होती तब तक एक प्रकार का दुःख रहता है। उसी दुःख को दूर करने के लिए प्रत्येक प्राणी भरपूर यत्न करता है। कामना पूरी होने पर दुःख मिटने से सुख मिलता है। यह एक साधारण नियम है। यदि इसी प्रकार ईश्वर भी कुछ कामना रखता होगा तो वह अवश्य दुःखी होगा। किन्तु यदि वह आनन्दघन है अर्थात् उसमें दुःख नहीं है तो अवश्य यह कहना होगा कि उसमें किसी प्रकार की कामना भी नहीं है। अब यदि उसको निष्काम मान लेते हैं तो वह इस जगत् का कर्त्ता, विधाता हो ही नहीं सकता क्योंकि वह किस काम के लिये इतने विशाल जगत् को रचेगा, और क्यों रक्षा करेगा तथा संहार करेगा। यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर कृष्णद्वैपायन ने यों दिया है कि— "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" अर्थात् किसी प्रकार की कामना न रहने पर भी साधारण लोक व्यवहार के अनुसार यह परमेश्वर की भी केवल लीलामात्र है। परन्तु इस प्रकार का उत्तर ईश्वर के लिये ठीक नहीं जचता। यह एक विडम्बना मात्र है, या प्रतारण ( धोखा देना ) है। क्योंकि इतना बडा ईश्वर जिसने इस अगाध और विशाल विश्वमण्डल को बनाया है, क्या साधारण मनुष्य के अनुसार वह लीला या व्यर्थ काम कर सकता है। कभी नहीं। हम देखते हैं कि लोक में यह लीला दो ही अभिप्राय से की जाती है। या तो चित्तविनोद के लिये अथवा जलताडन के अनुसार व्यर्थ होती है। इनमें चित्तविनोद के लिये वही करता है, जिसके चित्त में कुछ व्याकुलता या उदासीनता हो। वह अपनी विफलता को दूर करने के लिये कुछ ऐसा काम करता है कि जिसमें मन लग जाय यदि इस प्रकार ईश्वर की रचना जगत् है तो अवश्य कहना होगा कि इस रचना से पूर्व उनके चित्त में किसी प्रकार की उदासीनता या खिन्नता थी; जिसको मिटाने के लिये जगत्- रचना का खेल किया गया और इसके से उनकी आत्मा को संतोष हुआ; तो ऐसी स्थिति में सिद्ध होगया कि साधारण प्राणी के अनुसार परमेश्वर भी कभी दुःखी और सुखी होता रहता है। फिर वह आनन्दघन कैसे कहा जा सकता है। यदि तुम कहो कि उसको दुःख नहीं है किन्तु व्यर्थ ही उसने यह खेल रचा दिया है तो हम कहेंगे कि ईश्वर पापी है, क्योंकि व्यर्थ काम करना एक प्रकार का पाप है; फिर जो जगद्गुरु है, जो जगत् को पाप न करने का उपदेश देता है वह स्वयं

व्यर्थ लीला करे यह कदापि सम्भव नहीं। अब आप विचार सकते हैं इन दो प्रकार के अतिरिक्त और कोई लीला करना ईश्वर में कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि ईश्वर अवश्य ही अपनी किसी आवश्यकता को पूरी करने के लिये जगत् की रचना की है और वह बिना जगत् के बनाये आनन्द का लाभ नहीं कर सकता।

जगत् की रचना से उसकी वह आवश्यकता पूरी होती है कि जिसकी उसको इच्छा थी। किसी प्रकार की भी इच्छा रहना दुःख का कारण होता है तो इच्छा रखते हुए ईश्वर में दुःख का होना मानना पडेगा, फिर वह आनन्दमूर्ति कैसे हो सकता है।

## ११–(ख)–ईश्वरखण्डनसूत्र

### (प्रकारान्तरसे)

इसी प्रकार जो ईश्वर को विज्ञानरूप कहते हैं, सो भी ठीक नहीं जचता। क्योंकि उसमें भी कई शङ्कायें उत्पन्न होती हैं। प्रथम यह है कि विज्ञान को ही ईश्वर कहते हैं अथवा विज्ञानवाला ईश्वर है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है या ज्ञानवन् है। यदि ज्ञानस्वरूप माने तो ईश्वर जडरूप ठहरेगा। क्योंकि ज्ञान में ज्ञान नहीं है, और जिसमें ज्ञान नहीं होता वह जड़ कहलाता है। अगर हम उसे ज्ञानवान् कहते हैं तो वह ज्ञान का आश्रय होने से ज्ञान से भिन्न पदार्थ ठहरता है। याने वह आधार और ज्ञान आधेय है किन्तु ईश्वर को ज्ञानमय कहा गया है। अर्थात् ज्ञान से भिन्न पदार्थ कहकर नहीं मानते है अतः यह सन्देह होना है कि ईश्वर ज्ञानरूप है या ज्ञान का आधार है—यह हम कुछ नहीं कह सकते। दूसरी शङ्का यह होती है कि कोई भी ज्ञान बिना प्रमाण के उदय नहीं होता। परन्तु जगत् रचना के पहले जब केवल ईश्वर है तो उस समय ईश्वर के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण नहीं है। इसलिये बिना प्रमाण के ज्ञान नहीं होता तो वह ईश्वर ज्ञानमय कैसे हो सकता है। और वह ईश्वर ज्ञानमय है—इससे प्रमाण ही क्या है। प्रत्युत ईश्वर ज्ञानरूप नहीं है, इसमें प्रबल प्रमाण हम पाते हैं। वह यह कि—बिना विषय को पकडे किसी भी ज्ञान की स्वरूपसिद्धि नहीं होती, किन्तु ईश्वर जगत् का उत्पन्न करने वाला माना गया है तो अवश्य कहना होगा कि वह इस जगत् की रचना से पहले ही था। तो उस समय जबकि जगत् की रचना कुछ नहीं हुई थी किसी विषय का होना सम्भव नहीं है। ऊपर कहा गया है कि बिना विषय का ज्ञान कोई भी नहीं होता तो मानना होगा कि जगत् के पहले किसी भी विषय के न रहने से ज्ञान भी कोई नहीं हो सकता। इसलिये यदि ईश्वर ज्ञानमय ही है तो उस समय ज्ञान के न रहने से ईश्वर भी नहीं हो सकता और यदि जगत् के पहले ईश्वर का होना मान भी लिया जाय तो वह ज्ञानमय नहीं हो सकता। इसी तरह के प्रमाण से हम कह सकते हैं कि ईश्वर ज्ञानमय नहीं है।

तीसरी शङ्का यह हो सकती है कि सम्पूर्ण जगत् को ज्ञान के अन्दर बैठा हुआ हम देखते हैं, किन्तु साथ ही इस ज्ञान को क्रिया से भिन्न वस्तु हम देख रहे हैं। यहाँ तक कि जैसे क्रिया में ज्ञान नहीं है उसी प्रकार ज्ञान में भी क्रिया नहीं है। इसलिये जबकि हम इस जगत् को ज्ञान में ही भासता हुआ देख रहे हैं तो कहना होगा कि यह जगत् क्रिया से बना है यह मिथ्या हैं, न क्रिया से बना है और न

ज्ञान ही इसे बना सकता हैं । क्योंकि ज्ञान में क्रिया ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में यही मानना होगा कि यह जगत् इसी प्रकार का अनादिकाल से अनन्तकाल तक ज्ञान में ही भासता आया है और सदा-सर्वदा इसी प्रकार भासता रहेगा । न इसका आदि है न अन्त है; न इसका कोई पैदा करने वाला है तो फिर ईश्वर की ही क्या आवश्यकता है ?

## ११—(ग) ईश्वरखण्डनसूत्र

### ( प्रकारान्तर से )

ईश्वर के विषय में और भी बहुत सी शंकायें उत्पन्न होती है । जैसा कि यह ईश्वर नित्य है, अथवा जन्म लेने वाला यदि जन्म वाला है तो जन्म वाले को जगत् कहते हैं इसलिये वह भी जगत् हुआ, न कि जगत् का बनाने वाला ईश्वर । यदि यह कहें कि वह ईश्वर जिससे जन्म लेता है उसको हम ईश्वर कहेंगे तो वहाँ भी यह प्रश्न होगा कि वह किस से उत्पन्न हुआ । यों अनवस्था प्राप्त होती है । और अनवस्था वाला पदार्थ मिथ्या कहा जाता है । यदि ईश्वर को आकस्मिक मान लें अर्थात् बिना कारण के अपने आप होने वाला मान लें तो उसी प्रकार जगत् को भी अपने आप होने वाला आकस्मिक मान सकते हैं । फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता रहेगी ? इसलिये न ईश्वर आकस्मिक है और न जन्मवाला है । किन्तु मानलें कि वह नित्य है अनादि-अनन्त है तो ऐसी अवस्था में हम यह प्रश्न करेंगे कि यदि ईश्वर नित्य है तो वह इस जगत् की नित्य ही रचना करता है अथवा कभी करता है, कभी नहीं । तात्पर्य यह है कि जगत् की रचना की कामना या इच्छा उस की नित्य है अथवा मनुष्य के अनुसार अनित्य है । यदि माने कि उसकी इच्छा नित्य है तो मानना होगा कि यह संसार सदा नित्य है, संसार का अभाव कभी था ही नहीं । इसीलिये संसार का कभी आदि नहीं । अतः संसार की रचना का ईश्वर से प्रारम्भ करना मिथ्या ठहरता है और यदि मानें कि ईश्वर जगत् को कभी रचता है, कभी नहीं, अर्थात् जगत् रचना की इच्छा उसकी कभी होती है, कभी नहीं होती तो उस पर हम प्रश्न करेंगे कि ईश्वर की सृष्टि रचना की कामना क्यों होती है क्योंकि कामना उसी को होती है जो अपूर्ण हो । अपूर्ण होने से सभी वस्तु की सम्पदा की उसे इच्छा होती है परन्तु यह ईश्वर पूर्णरूप माना गया है अतः पूर्णकाम है अर्थात् सभी सम्पदा सर्वदा उसको प्राप्त रहने से वह 'आतमकाम' है । अर्थात् सब जरूरत उसको हासिल है इसलिये निष्काम है; निष्काम होने से सृष्टि रचना की कामना उसमें हो ही नहीं सकती, फिर उसकी इच्छानुसार सृष्टि कैसे हुई । क्योंकि इस सृष्टि से उसका कोई नया उद्देश्य सिद्ध होना नहीं पाया जाता । यदि मानो कि विनोद के लिए कहा जाय तो वही पुराना प्रश्न उठेगा कि सृष्टि के पहले उसमें आनन्द या विनोद हुआ किन्तु ऐसा करना ईश्वरवादियों के सिद्धान्त के विरुद्ध है और निरर्थक सृष्टि रचना करना भी ईश्वर के लिये अनुचित ठहरता है । क्योंकि निरर्थक काम करना पाप है और यदि यह कहें कि कि उस ईश्वर की इच्छा की कोई आवश्यकता नहीं उस की इच्छा के बिना ही सृष्टि की रचना हो गई तो फिर ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, इत्यादि-इत्यादि ।

दूसरा प्रश्न यह होता है कि ईश्वर को आप स्रष्टा मानते हैं या निर्माता । स्रष्टा वह है कि सामग्री न होते हुए भी अपनी इच्छा से और अपनी आत्मा से सब कुछ बनवा ले । जैसे मकड़ी अपनी

ही आत्मा से जाल बनाकर अपने में ही उस जाल सूत्र को लीन कर लेती है। निर्माता उसे कहते हैं जो कुम्हार के समान किसी बाह्य सामग्री को लेकर उसके आधार से किसी वस्तु की रचना करता हो; किन्तु सामग्री न मिलने पर इच्छा रखते हुए भी उस काम को न करते। इन दोनों में से ईश्वर की सृष्टि रचना किस प्रकार की है। यदि मानो कि वह स्रष्टा है तो अवश्य उसी की आत्मा या शरीर से यह सम्पूर्ण संसार बना हुआ है, कहना पड़ेगा। वह ईश्वर के विकार बिना हो नहीं सकता है। इसलिए ईश्वर को विकार कहना पड़ेगा। किन्तु ईश्वरवादियों ने ईश्वर को निर्विकार सिद्धांत किया है, उस सिद्धान्त से यह विरूद्ध होगा। अथवा यदि आप ईश्वर को निर्माता मानते है तो अवश्य उसको बाह्य सामग्री अपेक्षा होगी। ऐसी स्थिति में दो आक्षेप उठते हैं। एक तो यह कि ईश्वर को परतन्त्र मानना पड़ेगा। सामग्री रहने पर रचना हो सकती। सामग्री न रहने पर इच्छा रखते हुए भी वह रचना नहीं कर सकता। यदि यह कहें कि वह सब सामग्री अपनी इच्छा से बना लेता हैं तो पुनः वही प्रश्न उठेगा कि वह उस सामग्री का स्रष्टा है या निर्माता स्रष्टा होने पर विकारी होगा और निर्माता होने परतंत्र होगा। इस प्रकार अनवस्था होगी और यदि उन सामग्रियों को ईश्वर के अधीन पैदा हुई न मानकर नित्य मानलें अर्थात् सदा सर्वदा ईश्वर के अनुसार उनको भी मौजूद ही मान लें तो एक प्रकार जगत् को ही नित्य मानना होगा, क्योंकि ईश्वर के अतिरिक्त जो कुछ है वह सब जगत् है। जब सामग्री नित्य है तो एक प्रकार से संसार नित्य है फिर उस सामग्री में बदलने बिगड़ने का स्वभाव यदि मानलें तो अपने आप उस सामग्री से सृष्टि रचना बनती-बिगड़ती रहेगी और ईश्वर का मानना व्यर्थ होगा। इसलिए हम कह सकते हैं कि वह ईश्वर न स्रष्टा हो सकता है, न निर्माता और इन दो से अतिरिक्त कोई तीसरा प्रकार हो नहीं सकता। अतः मैं मानता हू कि ईश्वर नहीं है।

और भी शंकाएं इस प्रकार की हैं कि परमेश्वर का शरीर क्या है और सृष्टि रचना के उपाय या सामग्री ईश्वर के पास क्या है, कहाँ स्थित होकर सृष्टि को किस स्थान पर कब, कैसे बनाई और जैसे मिट्टी से घड़ा बनाते हैं, उसी तरह यहाँ किस वस्तु से यह सृष्टि बनाई गई और इस जगत् में मकान बनाना, रसोई बनाना, कपड़ा बुनना इत्यादि २ भिन्न–भिन्न कामों में भिन्न प्रकार की जैसे चेष्टायें करनी पड़ती हैं, उसी प्रकार इस सृष्टि की रचना करने में परमेश्वर किस प्रकार की चेष्टा करता है। इन सब प्रश्नों का तात्पर्य यह है कि सृष्टि रचना के पूर्वकाल में मानना होगा कि केवल एक ईश्वर था। उसके अतिरिक्त न देश है, न काल है, न आधार है. न आधेय है, न उपाय है, न सामग्री है, न चेष्टा है और न क्रिया है। क्योंकि ये सभी जगत् के रूप हैं। जगत् रचना के पहले इनका रहना कदापि संभव नहीं तो ऐसी स्थिति में इन सबके बिना जगत् की रचना भी सर्वथा असंभव है। अतः मानना होगा कि वह समय कभी था ही नहीं जब कि जगत् न था और उनकी रचना के लिए ईश्वर ने कोई उद्योग किया हो। सत्य तो यह है कि जगत् की रचना ईश्वर ने कभी आरंभ की ही नहीं है। यह तो सर्वदा जैसा है वैसा ही चल रहा है।

ईश्वर के सम्बन्ध में एक यह भी प्रश्न है कि वह व्यापक है या परिच्छिन्न। यदि परिच्छिन्न मानें तो एक प्रकार से उसे जगत् ही मानना होगा। क्योंकि परिच्छिन्न होना ही जगत् का रूप है। और यदि यदि ईश्वर को व्यापक मानें तो इसका यही अर्थ होगा कि ईश्वर के बिना कोई भी जगत् ईश्वर से खाली

नहीं है। अर्थात् जो कुछ है सब ईश्वर है तो अब कहिये कि आप तो ईश्वर से अलग जगत् और जगत् से भिन्न ईश्वर को मानते हैं। जब ईश्वर से खाली कोई जगह नहीं है तो इस जगत् को रक्खें तो भी जितना भाग जगत् का है वह ईश्वर से अतिरिक्त मानना होगा और ऐसा मानने से ईश्वर की व्यापकता जाती रहती है और यदि ईश्वर में रहते हुए जगत् को अलग न मान कर ईश्वर ही मान लें तो दो शब्दों में हमारे-आपका विवाद खतम हो जायगा। आपका एक शब्द यह होगा कि यह सब जगत् नहीं, केवल ईश्वर ही ईश्वर है। इसी के पलटे में हमारा एक शब्द यह होगा कि यह सब कुछ जो हम अपने विचार से देख रहे हैं सो जगत् ही जगत् है। इसके अतिरिक्त ईश्वर कोई पदार्थ नहीं।

इस प्रकार ईश्वर के न मानने में कितनी ही अनुपपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि जिनके मानने से वितंडावाद कायम हो जाता है। जो बिना प्रमाण के व्यर्थ ही कोई बात जोर देकर कायम या कबूल करवायी जाय उसी को वितंडावाद कहते हैं। वितंड का मानना विचारशैली से बाहर है और अनुचित है। अतः ईश्वर का मानना व्यर्थ है और मिथ्या है। हम कह सकते हैं कि यह जगत् इसी प्रकार बनता-बिगड़ता हुआ अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक इसी प्रकार सदैव चलता रहेगा।

कितने ही दार्शनिकों का यह विश्वास है कि यह जो जगत् अनादिकाल से दीख रहा है। इस जगत् की यही सत्ता वास्तव में ईश्वर है। इसी सत्ता में यह जगत् है। यदि सत्ता न रहती तो जगत् भी नहीं रहता—इत्यादि। किन्तु इस पर मेरा कहना है कि इस जगत् की सत्ता जगत् के अधीन है या सत्ता के अधीन जगत् है। यह विचार करना कुछ कठिन काम है आपका सिद्धान्त है कि सत्ता के अधीन जगत् है, उसके पलटे में मेरा सिद्धान्त है कि जगत् ही सत्ता है। ज्ञान से ही इन दोनों में भेद आ गया है। वास्तव में यह जगत् ही सत्ता है।

इसी ईश्वर के सम्बन्ध में कितने ही देवताओं को भी बहुत से विद्वान मानते हैं और उनके अदृश्य होते हुए भी शरीरधारी मानते हैं। उनको भी स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु, कुल-परिवार आदि समाज बन्धन माने जाते हैं और पाप-पुण्य के सम्बन्ध से उनकी भी सुख-दुःख का भोग होता रहता है। इतने पर भी कितने ही भोले-भाले मनुष्य उन देवताओं की ईश्वर के समान उपासना करते हैं। और उनकी प्रसन्नता से अपनी मन-मानी कामनाओं की सिद्धि होने का विश्वास रखते हैं। किन्तु ये सब वृथा विडम्बना है जो स्वयं पाप पुण्य के बल से सुख-दुःख आदि कर्मों का भोग परतंत्रता से पाते हैं, स्वयं अपनी ही रक्षा नहीं कर सकते, वे मनुष्यों को कर्मों के भोग से कैसे छुडा सकते हैं। सत्य तो यह है कि देवताओं के शरीरधारी होने में ही कोई प्रमाण नहीं है, न उनकी उपासना से कोई फल होना संभव है।

## १२—सर्वसिद्धान्तखण्डनसूत्र

विज्ञान के मंथन से अर्थात् गहरा विचार करने से जो सिद्धान्त हृदय में अपने आप निश्चित रूप से जम जाता है उसी विश्वास को उपनिषत् कहते हैं क्योंकि धर्म या अधर्म सभी कर्ममार्ग में प्रत्येक मनुष्य का ठहरना या उसके अनुसार चलना उसी उपनिषत् के अधीन है। उपनिषत् शब्द का अर्थ है किसी विश्वास पर अच्छी तरह जमकर ठहरना। जिस विश्वास पर ठहर कर प्रत्येक मनुष्य बिना किसी दबाव

के अपनी ही इच्छा से किसी काम को करें या छोड़ें वही उसका विश्वास उपनिषत् है। किन्तु जबकि यह संपूर्ण जगत् सब प्रकार से सन्दिग्ध है, तो कोई निश्चित रूप से सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः हमारा विचार है कि किसी प्राणी को किसी काम के लिए करने या छोडने का दबाव डालना अनुचित है। यह आचार-विचार का बन्धन सब मनुष्य के बनाये हुए मिथ्या है। पशु-पक्षियों के अनुसार स्वतंत्र रहकर, जिससे अपनी आत्मा को सुख हो, करना चाहिए। जो कुछ जब कभी जिस तरह तुम्हें पसन्द हो, वही उस समय उसी प्रकार मानना चाहिये। व्यर्थ हृदय पर इच्छा के विरुद्ध दबाव डालकर हृदय पर आघात नहीं पहुंचाना चाहिये। अलबत्ता तुम्हारे पसंद होने के समय पर इतना अवश्य सोचना चाहिये कि पसंद किये हुए काम करने से तुमको किसी प्रकार के अनिष्ट का भय सामने न हो तो निःशंक होकर उस काम को करो। तात्पर्य यह है कि किसी नियम का बंधन डालकर अपनी आत्मा को न सताओ, जिस बात से सुख मिले सो करो।

## १३—अज्ञानश्रेयस्त्वसूत्र

दार्शनिक विज्ञानों के लिये विचार का परिश्रम उठाना व्यर्थ है। क्योंकि ज्ञान से किसी प्रकार का श्रेय अर्थात् कल्याण किसी को प्राप्त नहीं हो सकता। विद्वानों के विचार करते समय परस्पर विरुद्ध मत-मतान्तर की भाषा समझने से विवाद की झंझट पैदा होती है और अपनी बात की पुष्टि के जिद्द में आकर बहुत कुछ चित्त में कलुषता अर्थात् मलिनता पैदा हो जाती है। हम देखते हैं कि अनादि काल से ये ज्ञानी विद्वान् लोग जगत् के तत्त्व जानने की उत्कट इच्छा से व्याकुल होते आये हैं। किन्तु अत्यन्त परिश्रम करने पर भी आज तक पहाड़ में राई के बराबर भी सत्य किसी ने नहीं जाना। क्योंकि वास्तव में जगत् का तत्त्व अज्ञेय है अर्थात् जानने की वस्तु नहीं। इसलिए व्यर्थ काम में पड़कर अपने हृदय और मस्तिष्क को यहां तक कि अपने शरीर जीवन को नष्ट करके हाथ में रखे हुए मधुर अन्न की भी स्वाद नहीं लेते। संसार का आनन्द जानबूझ कर छोड़कर और परमार्थ का आनन्द तो मिल ही नहीं सकता। इसलिये ऐसे ज्ञानी दोनो सुख से वंचित रहते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध अज्ञानियों को न अहंकार है न चित्त में कलुषता है, न किसी बात की सोचने की चिन्ता है। सुख से हैं, सुख से जगते है और प्रायः संपूर्ण जीवन उनका सुखमय व्यतीत होता है। बस, इस प्रकार प्राचीन समय में कितने ही अज्ञानवाद को पुष्ट करने वाले अज्ञानिक नाम से दार्शनिक हो गये हैं; उनमें प्रधान हैं—सात्यमगि, शाकल्य और वसु आदि इन अज्ञानिक दार्शनिकों का यही सिद्धान्त है कि इस जगत् की सत्यता को जानने के लिए श्रम करना सर्वथा व्यर्थ है, अर्थात् अज्ञानी रहना ही सुखदायक है।

## इति संशयोपनिषत्

———

# अथ असत्योपनिषत्

## [ ३ ]

## ( तृतीया )

इस प्रकार संशयवादियों के मत से जगत् के संपूर्ण पदार्थ जैसे तैसे अनिश्चित रूप से भले ही मान लिये गये हों, किन्तु हम जहाँ तक देखते हैं जबकि प्रमाणों का निःशेष खण्डन हो चुका अर्थात् किसी वस्तु की सिद्धि करने के लिये जब कोई प्रमाण न रहा फिर संदेह क्यों न निश्चित रूप से सब पदार्थो का असत्य होना मान लिया जाय क्यों किसी स्थान पर पानी का रहना किसी प्रमाण से ही सिद्ध होता है। विचारशील पुरुष जब उन प्रमाणों को नहीं देखता तो निश्चित रूपसे यही स्थिर करता है कि यहाँ पानी नहीं। तात्पर्य यह है कि वस्तु की सत्ता जिन प्रमाणों से सिद्ध होती है उन्हीं प्रमाणों के न रहने से उन वस्तुओं का अभाव सिद्ध हो जाता है। अथवा यों कहिये कि सत्ता के लिये प्रमाण की आवश्यकता है किन्तु वस्तु के अभाव के लिये किसी प्रमाण का न होना ही आवश्यक है न कि अभाव के लिये भी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता होती है। जैसे प्रकाश के लिये दीपक की आवश्यकता है, किन्तु अन्धकार के लिये किसी वस्तु की आवश्यकता नहीः प्रत्युत दीपक का न होना ही पर्याप्त है। जब कि साधारण रीति से सब प्रमाणों का अभाव है तो फिर संशय कहाँ रहा। प्रमाण के अभाव में सिद्ध हो गया कि जगत् का अभाव है। वस्तु का अभाव किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वतःसिद्ध ही रहता है। किन्तु किसी वस्तु की सत्ता प्रमाण की अपेक्षा रखती है। अतः जो किसी ने यह प्रश्न किया था कि कोई भी वस्तु प्रमाण से ही सिद्ध होती है इसलिये प्रमाण न होने से यदि जगत् की सत्ता नहीं, तो उसी प्रकार प्रमाण के न होने से ही जगत् का अभाव भी नहीं सिद्ध हो सकेगा, इत्यादि। किन्तु यह प्रश्न सर्वथा असार है क्योंकि मैं कह चुका हूँ कि वस्तु-सत्ता के लिये प्रमाण की अपेक्षा होती है। वस्तु के अभाव के लिये प्रमाण की अपेक्षा नहीं। प्रमाण का न होना ही पर्याप्त है, अथवा यदि प्रमाण के न होने जैसे वस्तु की सत्ता नहीं उसी प्रकार यदि अभाव भी नहीं कह दिया जाय तो भी मेरा ही पक्ष सिद्ध होता है। क्योंकि मेरा पक्ष है कि भाव-अभाव ये दोनों ही जगत् के रूप हैं। वास्तव में न कुछ भाव है न अभाव है। एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि भाव या अभाव संपूर्ण जगत् के पदार्थो को मिथ्यां मान भी लिये जायें तो भी वह ज्ञान कि जिस ज्ञान में जगत् का न होना निश्चित रूप से भास रहा है वह सत्य है, उस ज्ञान की सत्ता अवश्य माननी होगी क्यों कि उसी ज्ञान के प्रभाव से जगत् का अभाव आप देख रहे- हैं इत्यादि। तो इस प्रश्न पर हम यह कहेंगे कि स्वप्न के समान वह ज्ञान भी मिथ्या है क्योंकि यह नियम है कि जिस ज्ञान का विषयभाग मिथ्या है, वह ज्ञान भी मिथ्या है। स्वप्नज्ञान के विषय सभी मिथ्या होते हैं इसीलिये वह ज्ञान भी मिथ्या है ठीक इसी प्रकार हम यहाँ पर भी कह सकते हैं कि हमारे ज्ञान का विषय भाव या अभाव यह जगत् ही हो सकता है। जब प्रमाण के न होने से यह जगत् मिथ्या है तो उस विषय का

ज्ञान भी अवश्य ही असार और मिथ्या है। जिस प्रकार तृणों के अत्यंन्त सघन और विशाल ढेरे में अग्नि लगाने से वह अग्नि उसे शान्त करता हुआ साथ ही आप भी शान्त होता रहा है, यहाँ तक कि उस ढेर के नष्ट होने पर, उस ढेर को नष्ट करने वाली अग्नि भी साथ ही नष्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जिस ज्ञान के विचार से विचार करते-करते इस विशाल जगत् के पुरजे-पुरजे को अप्रमाण सिद्ध करके मिथ्या सिद्ध किया गया है उसके साथ ही वह विचार करने वाला मेरा ज्ञान भी मिथ्या ठहराता है। यहाँ तक कि संपूर्ण जगत् के मिथ्या सिद्ध होने पर सिद्ध हो गया कि मेरा विचार और मेरा यह ज्ञान भी सब मिथ्या है, न जगत् है, न जगत् का ज्ञान वाला मैं हूँ। तात्पर्य यह है कि अब संदेह करने का अवसर नहीं रहा। प्रमाण के न होने से निश्चित रूप से सिद्ध हो गया कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह सब असत्य हैं।

॥ इति ॥

———

# विशिष्ट–त्रिसत्योपनिषत्

[ ४ ]

## १–ज्ञानप्रामाण्यसिद्धिसूत्र

संशयवादियों ने संशय दिखाकर 'वेद्य' अर्थात् जानने की वस्तु जगत् को तथा 'वेत्ता' अर्थात् जानने वाली जीवात्मा और तीसरा 'ईश्वर' इन तीनों का प्रत्याख्यान (खण्डन) करके सब कुछ संदेहमय निर्धारण किया है ? किन्तु वह प्रत्याख्यान उनका सर्वथा भ्रममूलक है।

उनका सबसे प्रधान आक्षेप यह है कि प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। किन्तु प्रमाण सब बिना प्रमाण के ही मान लिये जाते हैं, इसलिये सब प्रमाण अप्रमाण हैं। इस पर मेरा कहना यह है कि 'प्रमेय' वस्तुओं में प्रमाण की आवश्यकता होती है, न कि प्रमाण के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता है। यह तो साधारण मनुष्य भी जानते हैं कि जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों के प्रकाश के लिये जिस सूर्य की आवश्यकता है उस सूर्य के लिये दूसरे सूर्य की आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह है कि जगत् में दो प्रकार के पदार्थ हैं-एक भास्वर (चमकदार) और दूसरा अभास्वर अर्थात् जिसमें से स्वयं प्रकाश नहीं निकलता हो। इनमें अभास्वर वस्तुओं को प्रकाश के लिये भास्वर वस्तु की अपेक्षा होती है। किन्तु जो स्वयं भास्वर है, वह अपने जिस प्रकाश से अन्य अभास्वरों को प्रकाशित करता है; उसी प्रकार अपने आप को भी प्रकाशित करता है। यह कब संभव है कि वह स्वयं बिना प्रकाश हुए ही दूसरे को प्रकाश करे। यह ज्ञान जो कि सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान पदार्थ है, वह स्वयं प्रकाशित न होकर दूसरी वस्तु का प्रकाश कैसे कर सकता है। सूर्य के समान यह स्वयं अपने को प्रकाशित करता हुआ ही अपने विषय को भी प्रकाशित करता है। यही ज्ञान तो वास्तव में प्रमाण है। फिर प्रमाण यदि स्वयं अप्रमाण होगा तो दूसरे के लिये कैसे प्रमाण माना जा सकता है। अथवा यह संभव ही कब है कि जो दूसरे के लिये प्रमाण है वह स्वयं अप्रमाण हो। प्रमाण को अप्रमाण मानना ठीक वैसा ही है-जैसा कि सूर्य को अन्धकारमय मानना। इस प्रमाण के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता भी ठीक वैसी ही है-जैसे दीपक के प्रकाश के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता मानना। जब कभी कुछ ज्ञान होता है तब उसमें कुछ न कुछ अवश्य भासता है। अवश्य ही किसी वस्तु का हमें बोध होता है। यह कदापि संभव नहीं है कि ज्ञान है और मुझको उससे कुछ बोध न हो। जिसके द्वारा किसी वस्तु का बोध होता है, उसी को प्रमाण कहते हैं। जबकि ज्ञान से अवश्य ही हम को किसी विषय का बोध होता है तो अवश्य ही यह ज्ञान भी प्रमाण हो सकता है। "ज्ञान है परन्तु प्रमाण नहीं है"-यह कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि सूर्य है, किन्तु प्रकाश नहीं करता। इस सब के कहने का तात्पर्य यह है कि जब ज्ञान है तो बिना दूसरे प्रमाण के ही वह प्रमाण सिद्ध हो चुका, उसके लिये दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

अब रही यह बात कि ज्ञान होने से वह प्रमाण कायम किया जा सकता है; किन्तु जब यह कहा जाय कि ज्ञान ही नहीं है तो ऐसी स्थिति में कौन सा प्रमाण कायम किया जा सकता है-तो इसके उत्तर

में यही कहना होगा कि यह प्रतिज्ञा ठीक वैसी ही है-कि जैसे कोई कहे कि मेरी माता वन्ध्या है, उसने मुझे कभी पैदा किया ही नहीं। जबकि वह वादी जिस अपने ज्ञान व विचार के बदोलत यह दावा करता है कि ज्ञान नहीं है-यदि वह ज्ञान न था तो ज्ञान के न होने की प्रतिज्ञा कैसे उत्पन्न हुई। ज्ञान के बल से ज्ञान को ही काटना ठीक वैसा ही है, जैसे किसी वृक्ष की शाखा पर सवार होकर उसी शाखा को काटना। भला यह कौन कह सकता है कि जगत् में ज्ञान पदार्थ ही नहीं है यदि ज्ञान एक वस्तु न होती तो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ रहते हुए भी यह जगत् अन्धकारमय सर्वथा शून्य हो जाता। फिर आप या हम ही क्या होते और विचार ही किस का होता। बड़े आश्चर्य का विषय है कि जो मनुष्य इस जगत् को अपने ज्ञान के द्वारा देखता हुआ अपना विचार प्रकट करता है और उस जगत् के लिये सत् और असत् का निर्णय करता है किन्तु साथ ही यह भी कहता जाता है कि मैं कुछ नहीं देखता और न कुछ करता जबकि वह इस जगत् का विचार करता है, सत्य या असत्य का निर्णय करता है तो वह अवश्य ही इस जगत् को कुछ न कुछ देखता है। जब देखता है तो अवश्य ही उसे यह जगत् कुछ न कुछ भासता है । यह भासना ही ज्ञान है। इस ज्ञान के आधार पर जब वह विचार करता है तो कहना अवश्य होगा कि यह ज्ञान तुम्हारे-हमारे सबके लिये सत्य है। इस ज्ञान में जितने पदार्थ हैं भासते हैं उन्हीं को जगत् कहते हैं। यह जगत् अर्थात् उस ज्ञान में भासता हुआ पदार्थ सब सत्य हो या असत्य हो यह आगे चल कर पृथक विचार करना होगा। किन्तु यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि वे सब विषय जिसमें भासते हैं वह ज्ञान निश्चित रूप से सत्य है। अब दूसरी बात है कि अन्य-अन्य आस्तिक दार्शनिकों ने भी किसी-किसी ज्ञान को असत्य स्थिर किया है किन्तु इस पर यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा बाह्य ज्ञान हुआ करता है, अतः उन इन्द्रियों के किसी प्रकार के दोष आने से वह दोष उस अर्थज्ञान में शामिल हो जाता है। दोष वाले बाह्य ज्ञान से पैदा हुए मानसिक विचार में अर्थात् आन्तरिक ज्ञान में भी कभी-कभी वह दोष शामिल हो जाता है। इसलिये उस ज्ञान को दोषयुक्त कहना या असत्य कहना किसी अंश में अनुचित नहीं है, किन्तु उस दोषभाग को छोड़ कर जो आत्मा का शुद्ध अपना अंश विवेक रूप प्रकाश है वह कभी असत्य नहीं हो सकता। उसे अप्रकाश नहीं कह सकते जैसा कि दोषयुक्त तेल के सम्बन्ध से यदि दीपक का प्रकाश ठीक न हो या घर में धूंआ भरने से यदि दीपक का प्रकाश ठीक न होता हो तो क्या उस से यह सिद्धान्त निकाला जा सकता है कि दीपक में प्रकाश ही नहीं है। कभी नहीं। दीपक सदा स्वच्छ प्रकाशमान पदार्थ है और सदा प्रकाशक है। इसी प्रकार हमारा ज्ञान भी सदा प्रकाशक है।

**॥ इति ज्ञानप्रामाण्यसिद्धि सूत्र ॥**

## २–प्रत्यक्ष प्रामाण्य स्थापनसूत्र

प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द –इस प्रकार ज्ञान के मुख्य तीन भेद हैं। इनमें प्रत्यक्ष ही मुख्य ज्ञान है, क्योंकि इसी के प्रामाण्य से अन्य अनुमिति आदि भी प्रमाण सिद्ध होते हैं। कितने ही अप्रामाणिक मनुष्यों ने इस प्रत्यक्ष को भी अप्रमाण माना है। किन्तु यह उनका मत ही अप्रमाण है, क्योंकि ज्ञान होते ही किसी न किसी वस्तु की हमें उपलब्धि होती है। अर्थात् ज्ञान में कुछ न कुछ वस्तु अवश्य भासती है। किसी वस्तु का भासना ही उपलब्धि है। उपलब्धि के हेतु को ही प्रमाण कहते हैं। अतः ज्ञान से जब हमें उपलब्धि होती है तो अवश्य हम उसको प्रमाण कहेंगे।

किसी न किसी इन्द्रिय के स्थान में गंध-रूप-रस आदि कितने ही तात्कालिक भावों को हम प्रत्यक्ष के द्वारा ही पाते हैं। इसलिये उन इन्द्रियों को हम अवश्य प्रमाण कहते हैं। उन गंध-रस आदि भावों का जो हमें ज्ञान होता है, उसको इन्द्रिय के स्थान में नया उत्पन्न हुआ जो तात्कालिक भाव माना जाता है, इसमें भी कोई हानि नहीं। मान लिया जाय कि ये गंध-रूप-रस आदि भाव पहले न थे किन्तु इन्द्रिय संयोग से इन्द्रियों के स्थान में ही नये उत्पन्न होते हैं तो भी उन नये भावों का ज्ञान हमें इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुआ है और ज्ञान के प्राप्त होने के कारण को ही प्रमाण कहते हैं तो फिर क्यों न इन इन्द्रियों को प्रमाण मानें।

अलवत्ता जो इन इन्द्रियों पर यह आक्षेप किया गया है कि ये इन्द्रियाँ प्रमाण नहीं हो सकती, क्योंकि ये हमें धोखा देती हैं; जो आकाश स्वच्छ साफ बिना रंग का है उसको नीला दिखलाती है, इत्यादि इत्यादि, किन्तु इस पर भी हम कहेंगे आकाश का कि यह नीलापन यदि हमारी आँख दिखलाती है और उस नीलेपन का किसी दूसरे काल में या किसी दूसरे व्यक्ति की आँखों से कभी भी यदि अन्तर नहीं पड़ता तो हम इस आकाश को वास्तव में ही नीला क्यों न मानें। इसके क्या मायने कि जिसको हम सदैव से एक ही रूप में देखते हैं उसको झूंठा मान लें। जबकि नीला ही हम देखते हैं तो निस्सन्देह कह सकते हैं कि—यह आकाश नीला है। अब विचार इस बात का है कि जो आकाश मेरे पास है उसको नीला नहीं देखते, इसलिये आकाश नीला नहीं है तो हो सकता है-कि आकाश नीला न हो, किन्तु यह जो नीला दीखता है यह आकाश है, इसमें क्या प्रमाण है। संभव है कि इस विशाल आकाश मंडल में जिस प्रकार सूर्य-चन्द्रमा धूमकेतु-मंदाकिनी आदि विविध भांति के पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, उसी प्रकार कोई नीले रंग का पदार्थ भी बहुत दूर आकाश में चारों ओर फैला हो। अब भी जगत् में कितने ही ऐसे पदार्थ हैं जो शक्ति से बाहर हैं, परन्तु इसका क्या अर्थ है-कि उस नीले असली पदार्थ का ठीक-ठीक न जानने के कारण हम उसको आकाश ही मानलें और उसके नीलेपन को झूंठा मानकर देखने वाले की आँख को भी झूंठा मान बैठें। हम देखते हैं कि बहुत से दार्शनिक इसलिये पदार्थ की खोज करते हुये कुछ-कुछ उसका तत्त्व जान पाये हैं, जैसा कि एकमत है-कि सूर्य का प्रकाश बहुत विशाल होने पर भी परिच्छिन्न है, कहीं न कहीं उसका अन्त अवश्य है, किन्तु उस प्रकाश मंडल से बाहर अनन्तानन्त आकाश मंडल घोरतम अन्धकार से भरा पड़ा है। वही घोर अन्धकार सूर्य के प्रकाश के अन्दर से आकर हमें नीला दिखाई देता है। दूसरा मत है कि—सूर्य का यह प्रकाश पृथिवी के धरातल से १२ योजन ( ४८ कोस ) ऊपर तक ही है। क्योंकि पृथिवी के चारों ओर से घेरे हुए भू वायु नाम की एक वायु इतनी ही दूर ऊँचे फैली हुई है। उसी वायु में जब सूर्य की काली किरणें जोर से धक्का मारती हैं और उसका दबाव पड़ता है तो इस भू वायु के अन्दर की कोई खास तरह की जलने वाली वस्तु जल उठती है। वह जब तक जलती रहती है तब तक प्रकाश नजर आता है। इस प्रकाश के होने का इस १२ योजन के अन्दर ही संभव है, इसके ऊपर भू वायु के न होने से दबाव पड़ना या किसी वस्तु का जलना संभव नहीं, इसलिये १२ योजन के ऊपर सूर्य मंडल तक चारों ओर घोर अन्धकार है, वही अन्धकार प्रकाश के अन्दर से दीखता हुआ हमें नीला दीखता है। और तीसरा मत है कि पृथिवी से ऊपर सूर्य तक इस आकाश मंडल में ७ जाति के, ७ वायु

के ७ स्तर ❀हैं। वे आपस के दबाव के कारण इतने घने हो गये हैं, कि दूर से देखने पर वे घन नीले दिखाई देते हैं, । यद्यपि निकट से उन वायुओं के परमाणु छीदे-छीदे बिखरे होने के कारण उनकी घनता वा उनके अन्तर न देखने से एक ही स्तर दीखता है। उसी प्रकार वायु सघन होने के कारण उनका कोई खास वर्ण नीला बनके हमें दीखता है। इस प्रकार बहुतों ने बहुत तरह से इस नीले रंग पर अनुमान बाँधा है। संभव है कि इन्हीं में से कुछ न कुछ हो, अथवा संभव है कि ये सब कुछ न होकर और ही कुछ हो, परन्तु यह बात अवश्य है कि कोई न कोई नीले रंग का पदार्थ आकाश में चारों ओर फैला हुआ है, उसी को देखती हुई हमारी आँखें बहुत सच्चाई का काम कर रही हैं। हम ऐसी आँख को झूठा कहकर धोखा देने वाली नहीं मान सकते।

## सारांश

प्रत्यक्ष, अनुमिति और शब्द ये तीन ज्ञान के मुख्य स्थल हैं। प्रत्यक्ष और अनुमिति प्राकृत हैं किन्तु शब्द ( शब्दों के द्वारा ) सांकेतिक ज्ञान है। इनमें प्रत्यक्ष ही प्रमेय के ज्ञान का मुख्य द्वार है और इसीलिये प्रत्यक्ष को वैज्ञानिकों ने मुख्य प्रमाण रक्खा है। क्योंकि अनुमिति-इत्यादि इसी पर निर्भर है और यही ज्ञान उपलब्धि का हेतु है इसलिये अमिट और अटल प्रमाण है। गंधादि भावों का ज्ञान इन्द्रियों के स्थानों में यद्यपि नया है, तथापि इन्द्रियों के ही तो द्वारा होता है, इसलिये ज्ञान प्राप्ति का कारण इन्द्रियाँ प्रमाण सिद्ध हो चुकीं।

इन्द्रियों पर धोखा देने का आक्षेप-स्वच्छ, रंगहित आकाश को नीला दिखलाना। उत्तर—

१—भूत-भविष्यत्-वर्तमान के सकल मनुष्यों को जो नीला दीख रहा है, वह धोखा नहीं कहा जा सकता।

२—आकाश के दो भाग—स्वच्छ (वर्णरहित) और नीला-संभव है कि सूर्य चन्द्रादि समान श्वेत आकाश के ऊपर नीले रंग का पदार्थ हो उस आकाश को भी श्वेत ही मान लेने में क्या प्रमाण है। बिना प्रमाण ही नीले को श्वेत मान बैठना अप्रमाण और मिथ्या है। नीले को नीला बताना सत्य है, या नीले को श्वेत बताना सत्य है। इसीलिए नीले को नीला बताने वाली इन्द्रियों को झूठ कहना सर्वथा झूठ है। इस नीले आकाश के विषय में दार्शनिकों का एक मत है कि सूर्य का प्रकाश अनन्तानन्त घोरतम अन्धकार को, जो सर्वत्र चलरूप से व्यापक है, नीला दिखलाता है।

३—सूर्य की काली किरण से १२ योजन ही की भू वायु के प्रकाश से ऊपर का अन्धकार नीला दिखता है।

४—अन्तरिक्ष में ७ गति के, ७ पवनों के ७ स्तर दूर से घन एक स्तर हैं, ये नीले दिखते हैं, यद्यपि निकट से घन होने से नीले नहीं दिखते। दूर की वायु सघन होने के कारण, उनका कोई खास रंग या वर्ण नीला बनके दिखता है। ये सब मत सत्य हों या असत्य, किन्तु यह अवश्य है कि

---

❀ तह

कोई न कोई नीले रंग का पदार्थ आकाश में फैला हुआ है, उसको देख कर आँख जो नीला बताती है, वह काम सत्य है।

इन्द्रियों पर दूसरा और आक्षेप यह था कि वर्तुलवृत्त अर्थात् चारों ओर से गोल इस पृथ्वी के स्तर को समधरातल के रूप में इन्द्रियां दिखलाती है। यह इन्द्रिय का दोष है। किन्तु इसका उत्तर यह है कि किसी गोल दिखलाना यह आंख का काम नहीं है। यह स्मरण रहें कि दृश्य पदार्थ की उन्नत पृष्ठता ( पीठ की ऊंचाई ) दृष्टि में कभी नहीं आती, क्योंकि वह आंख से नहीं पकड़ी जाती। बात असल यह है कि आंख दीखती हुई वस्तु के प्रदेश में नहीं जाती, है और न वह दीखती हुई वस्तु ही आंख पर आती है, ये दोनों ही अपने-अपने प्रदेश पर स्थिर रहते हैं, किन्तु सूर्य आदि प्रकाशक पदार्थों की किरण उस वस्तु के बाहरी सतह पर प्रत्येक परमाणु से धक्का खाकर वापस लौटते हुए आँख पर आकर उस वस्तु की उसी धरातल का आकार बन कर आँख इन्द्रिय के हवाले करती है, जिस को आँख पर बैठी हुई प्रज्ञा-बुद्धि ग्रहण करके आत्मा को समपर्ण करती है इसी को हम देखने का ज्ञान कहते हैं, तो ऐसी स्थिति में वस्तु के पृष्ठ के ऊँचे नीचे होने के कारण वह किरण यद्यपि ऊँचे नीचे सतह बना कर ही वस्तु पृष्ठ से रवाने होते हैं किन्तु आंख पर आते हुए वे आंख के समधरातल पर सम्प्रदान बनकर के ही बैठते हैं। इसलिये उस वस्तु की ऊँचाई नीचाई का आँख पर आना कदापि संभव नहीं है।

यह जो कहा जा चुका है कि आंख किसी वर्तुत वृत्त के पीठ की ऊँचाई का ग्रहण नहीं करती। इसी कारण आकाश में सूर्य या चन्द्रमा के बिम्ब वर्तुलपिंड होने पर भी आँख से थाली का धरातल के समान छः सात अंगुल की चौड़ाई के दीखते हैं, उनकी पीठ की ऊँचाई हम आँख से अनुभव नहीं करते, उसका यही कारण है।

किन्तु समधरातल पृष्ठ से वा ऊँचे नीचे पृष्ठ से आए हुए किरणों के अवयव में कुछ अन्तर अवश्य रहता है, वह यह कि बीच के भाग के किरण कुछ बिखरे हुए रहते हैं और दोनों बगल की किरणें घन रूप में कुछ तम को लिये हुए आँख पर आते हैं। इसी विशेषता के कारण देखने के पश्चात् मानस विचार उस वस्तु के पीठ कीं ऊँचाई की कल्पना कर लेता है क्योंकि उसी गोल पीठ को हाथ से टटोलने के समय गोलाई का अनुभव कर चुका था, इसलिये इस गोलाई और इस ऊँचाई की कल्पना मानस विचार का काम है न कि आँख का। जब कि आँख पृथिवी के धरातल की वह ऊँचाई, जिकको स्पर्श कर के पहिले कभी मन में नहीं पहिचाना था, उस ऊँचाई को आँख को आँख के देखने के पश्चात् मन भी अनु-भव नहीं कर सकता और आँख का तो ऊँचाई ग्रहण करना, जिसका काम ही नहीं है। इसलिये पृथिवी के धरातल की ऊँचाई का ग्रहण करने से आँख कदापि अप्रमाण नहीं हो सकती।

जो कंदुक ( गेंद ) वर्तुलवृत्त होता है और मकानात ऊँचे नीचे रहते हैं और जो कितने हीं वस्त्र ईकटटे रक्खे हों या अनेक लकड़ियों के ढेर हों, ये सब एक ही जगह हों या दूर दूर फासले पर रक्खे हों इन सबके रूप में समधरातलता न होने पर भी किसी दीवार पर जब इसकी छाया पड़ती है, वह समधरा तल होती है। आसमान में जिन ताराओं को वा ग्रहों को रात में हम देखते हैं, ये सब एक धरातल में

नहीं हैं। विज्ञान से मालूम है कि एक तारा दूसरे तारे से लाखों कोस दूर है, तो भी मुझ को आकाश में एक धरातल पर जमे हुए से दिखते हैं। दूब के हरे खेत जो कि दूब की शाखा-पत्तों के कारण खेत के धरातल को ऊँचा-नीचा बना देते हैं, दूर से देखने पर यह हरी चद्दर के समान समधरातल पर बने हुए दीखते हैं, वन में वृक्ष यद्यपि बिखरे हुए रहते हैं, किन्हीं-किन्हीं नदियों के पानी प्रबल तरंग के कारण ऊँची नीची सतह बनाते हैं, किन्तु दूर से दीखने पर वन या नदियाँ एक चादर के समान समधरातल बने हुए दीखते हैं। इन सब का कारण यही है कि इनको पीठ पर से इनकी रूप की किरणें इनके पीठ के अनुसार ऊँचे-नीचे प्रदेश से ही आरंभ होती हैं किन्तु मेरी आँख का धरातल समान होने के कारण वहाँ पर ये किरणें समधरातल बन कर ठहरती हैं इसलिये हमारी आँख उन सब के पीठ की ऊँचाई-नीचाई को या उनके आपस की दूरी को कुछ भी ग्रहण नहीं करती। जिस प्रकार दीवाल पर उनकी छाया समधरातल होकर गिरती है, उसी प्रकार आँख पर भी उनका समधरातल होना प्रकृति के नियमानुसार है। जिस रूप में किरणें आँख पर पड़ेगी, उसी प्रकार उनको ग्रहण करना, यह आँख का कर्तव्य है, इसमें आँख का दोष नहीं, किन्तु ऐसा ही करने से आँख प्रमाण होगी।

एक और आक्षेप आँख पर यह है कि सूर्य को मध्याह्न में छोटा सफेद दिखला कर प्रातः काल में अपेक्षा कृत बड़ा और लाल दिखलाती है, किन्तु इस पर हमारा उत्तर है कि जिस प्रकार विषम धरातल के काच में किसी वस्तु को देखने से रूप की किरणों के बिखरने से दृश्य वस्तु का आकार बड़ा हो जाया करता है, उसी प्रकार तिरछे फैले हुए भू वायु के स्तर का विषम धरातल होने के कारण सूर्य से आते हुए किरण बिखर कर आँख पर पहुँचते हैं, इसलिये सूर्य का बिम्ब प्रातः-सांय बड़ा बनके दीखता है। किन्तु मध्याह्न में सीधी किरणें वायु को फाड़ कर आँखों पर आती हैं, वहाँ किरणों के बिखरने का कोई कारण नहीं भाता, इसलिये सूर्य वास्तव में ज्यों का त्यों छोटे रूप में दीखता है, इसमें किरण का बिखरना प्रकृति सिद्ध है, यह विकार यदि दोष में गिना जाय तो इसमें वायुस्तर का दोष है, जिसने किरण को विकीर्ण करके आँख पर पहुँचाया है, किन्तु आँख ने अपने पास आये हुये रूप को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है, इसमें आँख का दोष नहीं और यह भी एक नियम है कि कोई आवरण काला होकर यदि पारदर्शक हो और उसके परलीपार कोई भास्वर शुक्ल (तेज चमकीली सफेद) वस्तु हो तो उसकी सफेद किरणें उस पारदर्शक काले आवरण के अन्दर होकर आँख पर पहुंचे तो उस काले पर सवार होकर सफेद रंग लाल रंग में बदल जाता है। सभी जगह लाल रंग का यही कारण है। काली जमीन पर सफेद किरण के सवार होने से लाल रंग प्रकट होता है। जब वास्तव में दो रंग बनकर लाल रंग बन कर कोई किरण आँख पर आवे तो उसको लाल रंग में ग्रहण करना आँख का कर्त्तव्य है, इसीलिये आंख प्रमाण है। बात यह है कि प्रातःकाल उगता हुआ सूर्य जिस स्थान पर आपको दीखता है, वह उस स्थान पर नहीं रहता क्योंकि इस पृथ्वी का व्यास ८००० मील का उसके केन्द्र से हमारी आँख तक ४००० मील की दूरी है। कल्पना करिये कि पृथ्वी के केन्द्र से पृथ्वी को आधी काटती हुई एक रेखा पूर्व से पश्चिम आकाश में जाकर स्पर्श करती है उसको 'क' कहते हैं। इसी प्रकार मेरे आँख से भी पूर्व-पश्चिम समधरातल में जाती हुई रेखा- कहीं आकाश में स्पर्श करती है, उसको 'ख' कहते हैं। अब यह सूर्य हमको 'ख' की ही जगह ऊगता हुआ दीखता है किन्तु यदि हम 'ख' की ही जगह ऊगता हुआ मान लें तो दिन बहुत

छोटा और रात बहुत बड़ी होनी चाहिये। क्योंकि आकाश का गोला जो ३६० अंश में बटा हुआ है, वह 'क' रेखा से आधे (मध्य) में कटता है। १८० अंश पृथ्वी के नीचे अदृश्य आकाश है। किन्तु 'क' से 'ख' और उतना ही अंश हमारी ओर पृथ्वी के ऊपर दृश्य आकाश है। रेखा का अन्तर ४००० मील का है। इसलिये संभव है कि ४००० हजार पूर्व ४००० ही पश्चिम आकाश का प्रदेश हमारे आँख से न दीखे, क्योंकि वह प्रदेश हमारी आँख वाली 'ख' रेखा के नीचे है तो इस प्रकार पूर्व-पश्चिम मिलाकर ८००० मील आकाश का भाग अदृश्य आकाश मिल गया। अदृश्य आकाश का भाग अधिक हो जाने से दृश्य आकाश का भाग छोटा हो गया। दृश्याकाश ही की चीज हमें दीखती है। सूर्य के दीखने को ही दिन कहते हैं। इसलिये सदा दिन छोटा और रात बड़ी होनी चाहिये किन्तु ऐसा नहीं होता, दिन-रात बराबर होते, बराबर घटते भी हैं, इसलिये लाचार मानना होगा कि सूर्य 'क' रेखा पर आने से ही पूर्व में उगता है, पश्चिम में छिपता है। परन्तु वह 'क' रेखा हमारी आँख वाली 'ख' रेखा से ४००० मील नीचे है, हमें सूर्य कैसे दीख जाता है, इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी के चारों ओर १२ योजन की दूरी में भू वायु दरियाव के समान गहरा है। जिस प्रकार किसी दरीयाव में कोई लकड़ी खड़ी करने से जितना अंश पानी के भीतर जाता है वह टेढ़ा होकर दिखता है इसी प्रकार 'क' स्थान में आया हुआ सूर्य के किरण इस भू वायु में घुसते हुये टेढ़े हो जाते हैं और उनका टेढ़ापन ऐसा कोना बनाता है कि जिससे यह किरण उसी समय मेरे आँख पर आ लगते हैं और वायु में जिस स्थान पर यह लम्बन होता है, उसी सीध में उस रेखा को यदि आगे बढ़ा दें तो वह रेखा ठीक 'ख' रेखा से मिल जायगी। इसी लम्बन के कारण 'क' स्थान पर आए हुये सूर्य को हमारी आँख उस लम्बन रेखा के द्वारा 'ख' रेखा पर देख लेती है। यह देखना उसका प्रकृति नियमानुसार है। उसने अपने पास आये हुये सूर्य के रूप को देखा है, इसलिये उस आँख का दोष नहीं, अब यह जानना चाहिये कि इस प्रकार सूर्य के स्थान में है, इसलिये हमारे प्रदेश में भूमा अर्थात् पृथ्वी छाया जो वास्तव में काली है और जिस के द्वारा रात में कालापन दीखता है, वह आधे पृथ्वी के भाग में अर्थात् पृथ्वी के जिस आधे भाग की तरफ सूर्य का आकाश रहता है उसके परली ओर १८० अंश के बराबर भू पृष्ठ पर वह अंधेरा रहता है। सूर्य के 'क' स्थान पर रहने के समय उसकी सीधी रेखा पृथ्वी पर जहाँ पड़ती है उससे ९० अंश दूरी पर इस पृथ्वी की छाया का अन्धकार सदा स्थिर रहती है, इसलिये 'क' स्थान पर सूर्य के रहने के समय हम या हमारी आँख अवश्य ही इस पृथ्वी की छाया के भीतर है। यह पृथ्वी की छाया पारदर्शक काला आवरण है इसके अन्दर से लम्बन के द्वारा आते हुये भास्वर शुक्ल सूर्य की किरणें काला-सफेद के रासायनिक संयोग के कारण लाल होकर आँख पर आते हैं। इसलिये वास्तव में आए हुए लाल रूप को देखती हुई आँख सच्चाई का काम कर रही है। इसलिये प्रमाण है।

एक और आक्षेप आँख पर यह किया गया है कि जब हम आँख के ठीक सामने कुछ दूरी पर चिराग रखते हैं; उस चिराग और आँख के दर्मियान में कोई भी आवरक (रोकने वाली) चीज न रक्खे, किन्तु अपनी एक हथेली को इस अन्दाजे आँख के पास सामने रक्खे कि उस हथेली से जो सामने की जगह रुकती हो अर्थात् न दीखती हो उस जगह का उस चिराग से एक अंगुल का फासला हो। इसी तरह दूसरी आँख की तरफ भी दूसरी हथेली को इस तरकीब से रक्खो कि उस हथेली से रुकने वाली जगह का भी चिराग से दूसरी छोर में एक ही अंगुल का फासला हो; ऐसी सूरत में यद्यपि रोकने वाली दोनों

क
ख
कल्पित अहोरात्र रेखा
वास्तव
अहोरात्र खण्ड
वास्तव
अहोरात्रखण्ड
कल्पित अहोरात्र
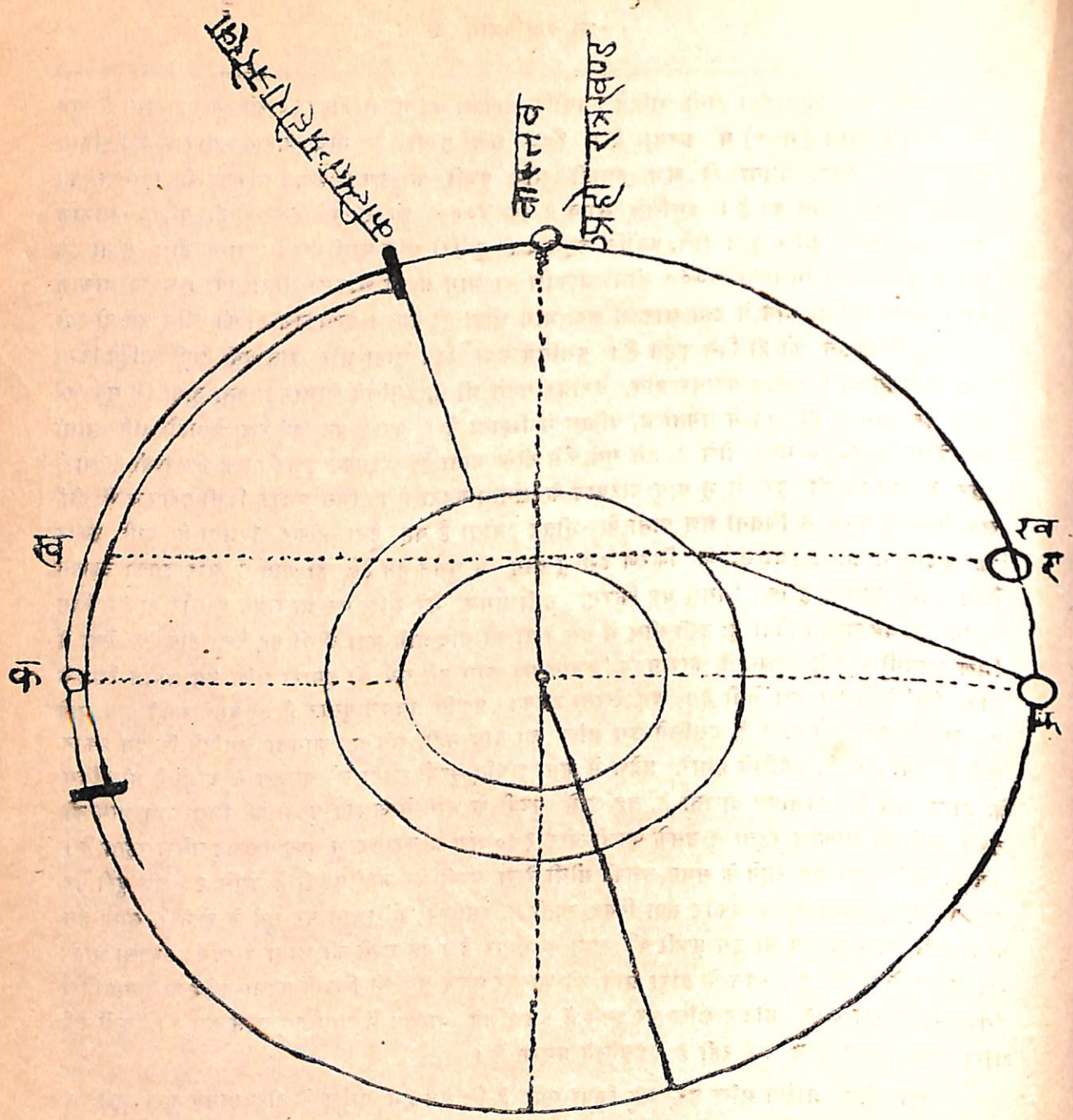
हथेली एक दूसरे से फासले पर रहते हैं, तो भी बीच वाले चिराग की लो बिल्कुल गायब हो जाती है। आश्चर्य है कि जब बाँयी या दहनी किसी भी हथेली को हटा लें तो चिराग दीख आती है यह नहीं समझ में आता की वह चिराग किस हथेली से ढकी हुई थी; क्योंकि हथेली दो हैं और दोनों अलग जगह पर हैं फिर एक चिराग अलहदा जगह किसी हथेली से ढकी नहीं कही जा सकती। और दूसरा आश्चर्य यह है कि हथेली से जो जगह रोकी गई है उसमें किसी जगह वह चिराग नहीं है, यह सिद्ध हो चुका है कि उन ढकी हुई दोनों जगहों से अलग दोनों जगहों के बीच में वह चिराग है जो कि किसी से ढकी नहीं गई किन्तु फिर भी दिखाई नहीं पड़ती। इसी से आँख का झूंठापन सिद्ध है। किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि आँख दो हैं और दोनों देखकर स्वतंत्ररूप से अलग-अलग वस्तु के आकार को ग्रहण कर के मस्तक में पहुँचाने का सामर्थ्य रखती हैं, इनमें दोनों आँखों का फासला चार अंगुल का है। दोनों की काली पुतलियों में से दो दृष्टिसूत्र अलग-अलग रवाना होकर एक विषय पर जाते हैं। विषय के एक होने के कारण उस विषय पर झुकते हुए दोनों दृष्टिसूत्र टेढ़े होकर उसी एक वस्तु पर संपात करते हैं अर्थात् दोनों मिल जाते हैं। यदि दोनों आँख की अन्तर की ४ अंगुल रेखा कायम करें तो वहां से उसके दृश्य विषय तक दोनों दृष्टिसूत्रों के मिलने से एक विषम त्रिभुज क्षेत्र बनेगा, इन दोनों दृष्टिसूत्र मार्गों में यदि हथेली या और कोई आवरक रख दें तो दृष्टिसूत्र का उसके विषय से संयोग न होगा। माना कि चिराग आपके नाक के ठीक सामने है और उसके बीच में कोई आवरक नहीं है किन्तु जहां से दृष्टिसूत्र चला था उसके मार्ग में कहीं भी यदि कोई आवरक रख दिया जाय तो दृष्टिसूत्र का विषय तक संयोग नहीं होगा, इसी संयोग को ये दोनों हथेलियाँ अलग-अलग रोकती हैं इसलिये हथेलियों के अलग रहने पर भी बीच की चिराग गायब हो जाती है क्योंकि दोनों दृष्टिसूत्र विषय पर जाकर संपात नहीं कर सकते हैं। जब एक हथेली कोई सी हटा दी जाय तो बजाय दो सूत्र के एक दृष्टिसूत्र जाकर विषय को ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषय से किसी न किसी प्रकार संयोग होना आवश्यक है। संयोग होने से आँख अवश्य उस वस्तु को ग्रहण करेगी, किन्तु संयोग न होने से आँख वस्तु को ग्रहण न करे तो इसमें आँख का कुछ भी दोष नहीं।

आँख पर एक और यह भी आक्षेप है कि बड़ी वस्तु भी दूर से देखने पर छोटी दिखाई देती है, किन्तु इसमें आँख का दोष नहीं समझना चाहिये, क्योंकि ईश्वर के समान वेद भी इस जगत् में एक सत्य वस्तु है जोकि प्रत्येक वस्तु में नियमानुसार पाया जाता है। उसी वेद के कारण बड़ी वस्तु दूर से देखने पर छोटी दीखती है।

इस वेद को पहले इस प्रकार जानना चाहिए कि वेद उस वस्तु को कहते हैं कि जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु को हम जानते हैं और जिस ज्ञान से उस वस्तु का अस्तित्व (सत्ता) सिद्ध होती है, कोई भी वस्तु भासती है—इस कारण से 'है' और 'है' इसी कारण से भासती है। इसी ज्ञान और सत्ता के मूलतत्त्व को वेद कहते हैं। वेद यह शब्द 'विद्' धातु से बना है। जिनका अर्थ ज्ञान है अथवा सत्ता है। अर्थात् 'येन वेत्ति, और येन विद्यते' स वेदः। अर्थात् जिससे जाने और जिससे वह है, वही वेद है।

यह वेद तीन प्रकार का है—ऋक्, साम और यजुः। संसार की प्रत्येक वस्तु अलग-अलग ऋक्, साम, यजुः का ही स्वरूप है। इसमें साम वह है, जो किसी वस्तु के बाहर बड़ी दूर तक अनेक अदृश्य मड़ण्ल बनाता है और वह एक २ मण्डल पहले मण्डल से क्रमशः बढ़ता जाता है। उसका फैलाव बढ़ने पर भी सब मण्डल अंशों में बराबर माने जाते हैं। जो सब से छोटा मण्डल है जो खास उस वस्तु का पृष्ठ है, यदि उसको हम ३६० अंशों में विभक्त करें तो उससे बहुत दूर का सब से बड़ा मण्डल भी उतने ही अंशों में विभक्त होगा, किन्तु पहले मण्डल के अंश का जितना प्रदेश है, उससे बहुत अधिक प्रदेश बाहर वाले मण्डल के एक अंश का होगा। यह बाहर वाला मण्डल उस स्थान पर माना जाता है कि जहाँ से उस वस्तु के देखने न देखने की सीमा बनती हो अर्थात् जिस रेखा से उस वस्तु की नजदीकी की ओर झुकने पर वह वस्तु दीखे किन्तु उस प्रदेश से वस्तु की दूरी की ओर झुकने पर वह वस्तु कुछ भी न दीखे, वही साम की अन्तिम सीमा है। उस सीमा से वस्तु की पीठ तक जितने आकाश के प्रदेश हैं उनमें इस साम को सूक्ष्म रूप से सर्वत्र व्याप्त होने पर भी समझने के लिए उसको सहस्र (१०००) भाग में बाँटना उचित है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु के चारों ओर साम के १००० मण्डल नियम से रहते हैं, उन मण्डलों के केन्द्र में वह वस्तु घिरी हुई रहती है। यद्यपि इन साम के १००० मण्डलों में से एक भी हमें नहीं दीखता तथापि वह साम का प्रदेश इसलिये नियमानुसार माना जा सकता है कि उतने ही आकाश के प्रदेश में आँख रखने पर हम उस वस्तु को देख सकते हैं। उस सीमा से बाहर होते ही वह वस्तु हमारी आँख से अदृश्य हो जाती है। इसलिये उतनी दूरी में वह वस्तु अपना रूप चारों ओर अवश्य भेजती है जो कि मेरी आंख पर आकर उस वस्तु का आकार या चित्र उतारती है। यदि उस वस्तु का रूप उस देश में न जाता तो मेरी आँख कदापि उस वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकती, इस-लिए प्रत्येक वस्तु के रूप के जाने की सीमा अवश्य ही माननी पड़ेगी और उसी को साम मण्डल कहते हैं। इन सामों का अर्थात् मण्डलों का आलम्बन (आधार) अर्थात् जिस वस्तु से वह मण्डल बनता है वह ऋक् है; यह ऋक् उस वस्तु का आकार है। जितनी दूरी में साम माना गया है उसमें आँख रखने से वह वस्तु एक रूप में दीखती है परन्तु उतने में कहीं भी हम अपनी आँख को लगावें वहाँ सभी जगह उस वस्तु को देखते हैं, इसलिए जाना गया कि उस वस्तु से आरम्भ करके साम की अन्तिम सीमा तक अदृश्य दशा में अनन्तानन्त संख्या में वह वस्तु भरी हुई है। जिस प्रकार एक सरोवर करोड़ों जल बिन्दुओं से भरा हुआ रहता है, जहाँ हाथ डालें—पानी मिलता है, उसी प्रकार इस साम समुद्र में करोड़ों उस वस्तु के आकार इस तरह से जमे हुये हैं कि जहाँ आँख डालो वहां ही वह वस्तु आंख पर चढ़ जायगी। अलबत्ता इतना विशेष अवश्य है कि सरोवर में जल के बिन्दु सब समान हैं किन्तु इस साम समुद्र में वस्तु के आकार सब छोटे-बड़े होते हैं तात्पर्य यह है कि जो साम के १००० मण्डल कल्पना किये गये हैं उनमें एक-एक मण्डल पर सब आकार आपस में समान होते हैं, उनमें अणु मात्र भी छोटा-बड़ा नहीं होता, किन्तु प्रत्येक मण्डल के आकार की अपेक्षा भीतरी मण्डल के आकार अवश्य ही बड़े होंगे और बाहरी मण्डल के आकार भीतरी वाले की अपेक्षा छोटे होंगे। इनमें बड़े से बड़ा वही आकार है जिसको आप हाथ से टटोल कर अन्दाजा कर सकते हैं और छोटे से छोटा वह आकार है जो कि सामकी सीमा पर बहुत ही छोटे बिन्दु के आकार पर कठिनता से कुछ भासता है। एक चमत्कार और है कि इस

सामसमुद्र के अन्दर जितने आकार आँख पर आते हैं उसी स्थान में उस आकार की अपेक्षा क्रम से छोटे होते हुए अन्तिम सीमा के छोटे आकार तक सभी आकार तह के तह जमे हुए रहते हैं जो कि काँच इत्यादि छोटे २ बिम्ब ग्राहक वस्तु पर उस क्षेत्र के छोटे-बड़े होने के अनुसार दीखा करते हैं इस सामसमुद्र के भीतर इस प्रकार छोटे-बड़े जितने वस्तु के आकार चारों ओर भरे पड़े हैं उन्हीं को ऋक् कहते हैं।

वेद कहता है कि—**"सर्वं तेजः साम रूपं हि शश्वत्"** अर्थात् संसार में जितने प्रकार के तेज हैं वे ही साम के नमूने हैं। सदैव सभी प्रकार के साम का इसी तेज के रूप से अन्दाजा करना चाहिये तात्पर्य यह है कि सूर्य, चन्द्रमा या दीपक कोई भी तेज हो उसका स्वभाव है कि उसका कुछ भाग लौ के रूप से केन्द्र में रहता है और उस केन्द्र की लो से चारों ओर बहुत दूर तक एक प्रकाश मण्डल में चलने फिरने वालों को उस प्रकाश के किरणों से कोई आपत्ति या रूकावट नहीं होती, किन्तु वह प्रकाश मण्डल उसी बीच की लौ से सर्वदा दृढ़ता से बंधा रहता है। यदि प्रकाश को हटाना चाहें तो उस बीच की लौ को हटाने से हटा सकते हैं. कमी बेशी कर सकते हैं। ठीक इसी प्रकार संसार की जितनी वस्तु हैं सब एक लौ हैं उनके चारों ओर दूरतक उसी वस्तु का रूप मण्डल घेरे रहता है उस रूप मण्डल में चलने-फिरने वालों को किसी प्रकार की रूकावट नहीं होती। यदि उस रूप मण्डल को हटाना चाहें तो उस मूल वस्तु को हटाने से हटा सकते हैं। अब इनमें जानने की मुख्य बात यह है कि वह आकाश मण्डल जिस प्रकार चारों ओर व्याप्त है उसको यदि चारों ओर मण्डल के रूप में खयाल करें तो उसे हम साम कहेंगे। किन्तु उस प्रकाश मण्डल के भीतर अनन्तानन्त उसी लौ कि सूरत भिन्न २ पड़ी हैं, जिनको हम सीधी आँख से लौ के रूप में नहीं देखते। किन्तु यदि उस प्रकाश मण्डल के अन्दर कहीं भी एक काच रखदें तो एक लौ दीखेगी और हजार काँच रखने से हजार लौ दीखेगी। तात्पर्य यह है कि अनन्त लौ रहने पर भी किसी वस्तु पर प्रतिबिम्बत होकर वे लौ भिन्न २ दीखती हैं किन्तु यह कभी ख्याल नहीं करना चाहिये कि वे काँच के टुकड़े लौ को नये सिरे से गढ़ते हैं क्योंकि ऐसा करने से काँच का कुछ भाग अवश्य खर्च हो जाता, किन्तु हम देखते हैं कि उस प्रतिबिम्ब के दिखाने में काँच सर्वथा बेलोग है इसलिये मानना होगा कि लौ उस स्थान पर आकाश में मौजूद थी जो कि काँच के वहाँ रखने से उस पर सवार होकर प्रतिफलित कर हमें दीखती है, बस वे ही सब लौ जो प्रकाश मण्डल के अन्दर है उनको हम ऋक् कहते हैं। यही ऋक् और साम दोनों की पहचान है।

जिस प्रकार सोम के मण्डल में केन्द्र से साम की सीमा तक यदि रेखा चारों ओर खीचें तो केन्द्र से दूरी के अनुसार वे रेखाएँ आपस में अधिक अन्तर पैदा करेंगी। अर्थात् वे रेखाएँ सूचीमुख होंगी किन्तु इसके विरुद्ध केन्द्र से जो ऋक् की धाराएँ चारों ओर साम की सीमा तक जाती हैं वे दूरी के अनुसार अपने व्यासों को कम करती जाती हैं, यही कारण है कि उस मूल वस्तु के जितने समीप हम आँख रक्खेंगे उतनी ही वह वस्तु बड़ी दीखेगी और ज्यों-ज्यों हम दूर हटेंगे उस वस्तु को छोटी देखेंगे, क्योंकि हमारी आँख के पास उस वस्तु की ऋक् उतने ही छोटे रूप में है। इसका आलेख्य (नक्शा) भी सरलता से समझने के लिये दिया है।

साम वह है जो आगे को फैलता जाता है
साम धारा है
ऋक धारा है
ऋक वह है जो आगे को सुकडता जाता है
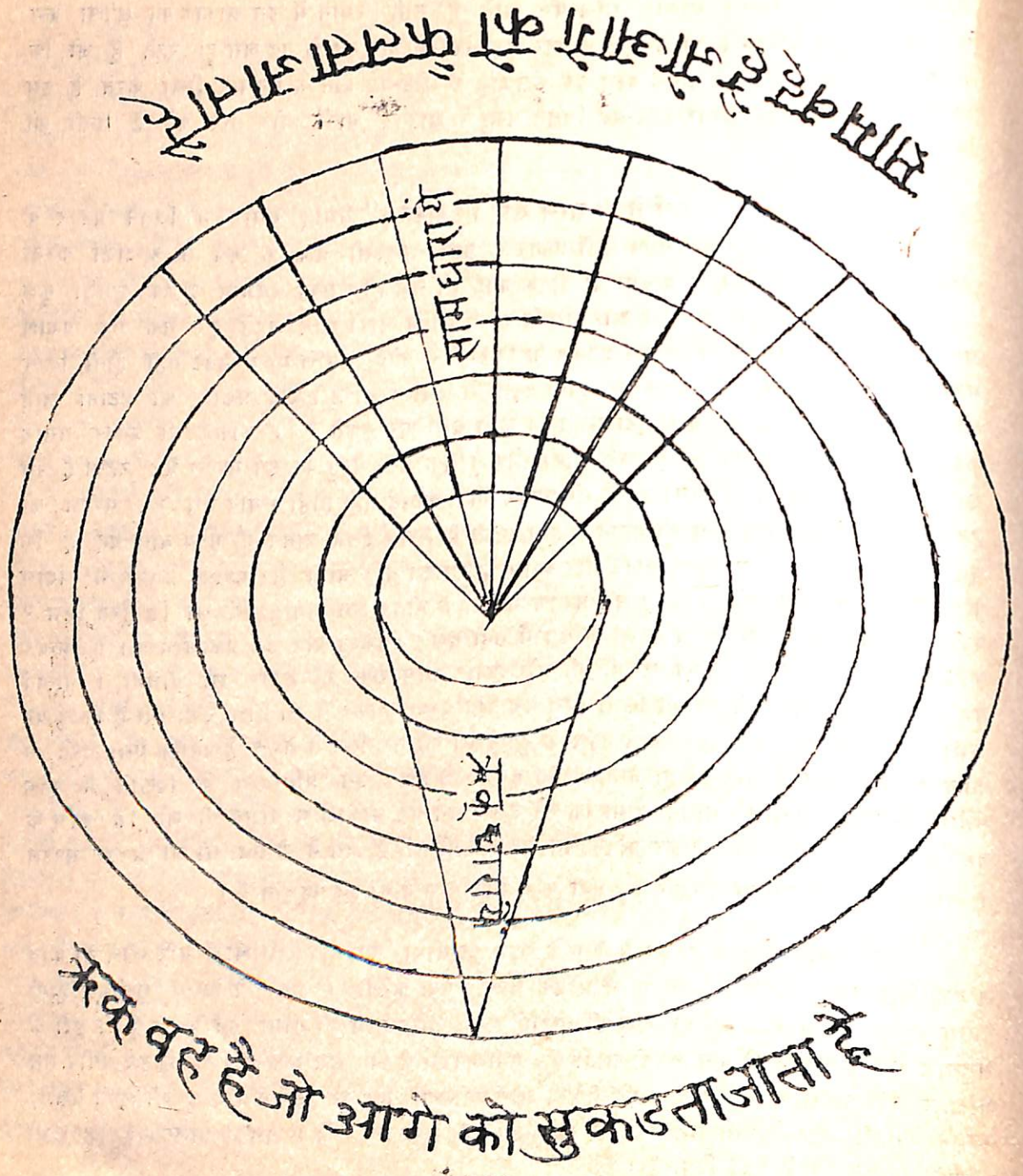
इस प्रकार ऋक् और साम जो प्रत्येक वस्तु में नियमित रूप से पाये जाते हैं, उनमें प्रकृति के अनुसार ऋग्वेद प्रत्येक वस्तु की दूरी के अनुसार छोटा बनता है। यही कारण है कि ऊपर, नीचे, तिरछे कहीं भी कोई वस्तु हो दूरी के अनुसार छोटी हो जाती है। किसी-किसी का ख्याल है कि पृथ्वी की गोलाई के कारण प्रत्येक वस्तु दूर से छोटी दीखती है। परन्तु जब हम प्रत्येक वस्तु के ऊपर से पैंदे तक बराबर देखते हैं तो उनका कोई भी भाग पृथ्वी की गोलाई के कारण डूबा हुआ प्रतीत नहीं होता और जो आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, तारे आदि बड़ी वस्तुएँ छोटी होकर दीखती हैं उनमें पृथ्वी की गोलाई का दबाव सर्वथा असम्भव है। इसलिये छोटा होने का जो कारण ऊपर दिखाया जा चुका है—वही सत्य है। माना कि वह सूर्य पृथ्वी से भी बहुत बड़ा-चौड़ा है। कितने ही तारे उस सूर्य से भी बहुत चौड़े और बड़े हैं। किन्तु दूर बहुत से आने का कारण उनका ऋक् हमारी आँख पर जिस अन्दाजे का पड़ता है, उसी का ग्रहण करना आँख के लिए संभव है। ऐसा करती हुई आँख यथार्थग्राही होने के कारण सत्य और प्रमाण है। इतना और समझना चाहिये कि यह ऋक् यद्यपि प्रत्येक वस्तु में उसी वस्तु के स्वाभाविक धर्मानुसार पृथक्-पृथक् रहता है किन्तु यदि उस वस्तु पर सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों का प्रकाश न पहुँचे तब तक उस ऋक् का स्फोट नहीं होता। इसलिये बहुतों का यही सिद्धान्त है कि यह सूर्य ही वास्तव में ऋक्, यजुः, साम इन तीनों वेदों का भण्डार और उत्पत्ति स्थान है—"**त्रयी वा एष यस्तपति**" (शत०ब्रा०) यह लिखा भी है। इसीलिये सूर्य को वेदमूर्ति कहते हैं। इसी सूर्य से ऋक्, साम और यजुः आकार प्रत्येक वस्तु में लगे हुए दीखते हैं, इसलिये वह ऋक् जो कि दूर से छोटा होता जाता है वह भी सूर्य का प्रकाश ही है। समस्त वस्तु तीन प्रकार की हैं—कोई ज्योतिष्मान् अर्थात् अपने आप प्रकाशक है—जैसे सूर्य, आदि। कितने ही परज्योति है, जो स्वयं प्रकाशक न होकर दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं जैसे—चन्द्रमा-काँच आदि, इसी प्रकार कितने ही अज्योति पदार्थ हैं जिनके शरीर से वह प्रकाश नहीं निकलता कि जिसके द्वारा समीप की अन्य वस्तुओं को प्रकाश मिलता हो किन्तु एक प्रकार का प्रकाश उनके शरीर से भी चारों ओर अवश्य ही निकलता है, जिसको उस वस्तु का रूप मण्डल कहते हैं। जिस प्रकार परज्योति पदार्थ सूर्यज्योति लेकर ज्योतिर्मय प्रकाश से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार ये अज्योति पदार्थ भी सूर्य से ही रूपमय प्रकाश पाकर प्रकाशित होते रहते हैं। प्रकाशित होना ही वेद का रूप धारण करना है। इसलिए कहा जा सकता है कि "स्वज्योति" "परज्योति" और "अज्योति" इन तीनों पदार्थों को सूर्य से ही वेद का लाभ होता है, यह सूर्य साक्षात् वेद का प्रत्यक्ष रूप है। सूर्य से ही रूप मिलता है और उस रूप को ऋक् कहते हैं। इसी सूर्य से मिले हुए रूप के किरणों को जब दूरवीक्षण ( दुर्बीन ) आदि उत्कृष्ट यंत्र से विकीर्ण करते हैं तो किरण फैलाने के कारण कभी-कभी वस्तु छोटी भी बड़ी दीखने लगती है। इसमें भी आँख का दोष नहीं है। क्योंकि दूरवीक्षण यन्त्र रूप के किरणों को फैलाकर जितना बड़ा बनाकर आँख पर पहुँचाता है, उसको ज्यों का त्यों आँख ग्रहण करती है। इसमें फैलाना यदि दोष है तो यन्त्र का है न कि आँख का। यहां पर एक यह भी कह देना अनुचित नहीं है कि जिस सूर्य या तारे को छोटे रूप में आँख देखती है, उसको जो आप बहुत बड़ा समझते हैं, यह आपके मन के विचार का काम है। उसकी सत्यासत्य परीक्षा हम मनः प्रामाण्यपरीक्षा में करेंगे। यहाँ इतना ही कहना है कि सूर्य की किरणों से वस्तुओं को रूप मिलता है और रूप ही ऋक् कहलाता है और ऋक् की धारा का उत्तरोत्तर

छोटा होना स्वभाविक धर्म है और सत्य है। इसी सत्य रूप को आँख ग्रहण करती है इसलिये आँख सत्य है और प्रमाण है।

आँख पर एक और आक्षेप है कि वह रज्जु को कभी सर्प, वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य, सीप को चाँदी दिखाती है किन्तु उत्तर यह है कि रज्जु को देखते समय वक्र और काला भाग जो सर्प और रज्जु में सादृश्यभाव से रहता है उसी को केवल आँख देखती है। वह न उसको सर्प कहती है और न रज्जु किन्तु पश्चात् हमारा मन का विचार रज्जु और सर्प के भेद करने वाले धर्मों को न पाकर कभी धोखा खा जाता है, रज्जु को सर्प मान बैठता है। यह मन के विचार का दोष है न कि आँख का। इसी प्रकार ठूंठ और मनुष्य में जो सादृश्यभाव है उसी को आँख ने ग्रहण किया किन्तु उनके परस्पर भेद बताने वाले धर्म किसी कारण आँख पर नहीं आ सके। इसी कारण मन के विचार में कुछ का कुछ हो गया। सीप को देखने में भी जो सीप और चाँदी में श्वेतता की समानता की झलक है वह ही आँख पर आई, उनके भेद बतलाने वाले धर्म नहीं आये। अतः मानसिक विचारों में भूल होना सम्भव हो गया किन्तु आँख का दोष कदापि सम्भव नहीं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए।

मरुस्थल में मध्याह्न की तेज धूप में दूर से देखने पर जो लहराते हुए जल की सतह दृष्टिगोचर होती है वह भी आँख का दोष नहीं है क्योंकि उस स्थान पर सूर्य की किरणें जमीन की बालू से टकरा कर उलटी ऊपर को जाती है। जिस समय आने-जाने वाली किरणों में टक्कर होती है तो उनमें लहर पैदा हो जाती है। सूर्य के तप्त तेज से वायु का ताप बढ़ जाता है और यह तप्त वायुस्तर हलका होकर ऊपर को उठता है और उसके स्थान पर ऊपर का शीतल वायु आने लगता है इस प्रकार वायुस्तरों में एक प्रकार की लहर पैदा हो जाती है। ये लहरें ठीक जल की लहरों के समान होती हैं। इन लहरों की जल की लहरों से घनिष्ट समानता है कि मन को विचार करते समय किरण तथा वायु के लहरों के देखने का अभ्यास न होने के कारण बार बार देखे हुए जल के लहर की ओर मन का वेग शीघ्रतया पहुँच जाता है। यह भी दोष मन के विचार का है न कि आंख का क्योंकि आँख का काम लहर ग्रहण करने का है उस लहर के साथ जल का सम्बन्ध ठहरा लेना मन के विचार का कार्य है। अथवा हम इस प्रकार कहेंगे किसी दर्शन के अनुसार पानी ४ प्रकार का होता है—अम्भ, मरीचि, मर, आप—इनमें द्यौ से ऊपर द्यौ तक जिस मूलतत्त्व से द्यौ अथवा उसकी सब वस्तुएँ बनी है उस जल को 'अम्भ' कहते हैं। सूर्य से पृथिवी तक जो बीच का अन्तरिक्ष है और उसमें जितने पदार्थ हैं, वे जिस मूलतत्त्व से बनते हैं उसको 'मरीचि' नाम का जल कहते हैं। और जिस जल तत्त्व से हमारी यह पृथिवी बनी है उसको 'मर' कहते हैं। और पृथिवी से जिस ओर सूर्य है उसकी दूसरी ओर लोकालोक तक जितना आकाश है उसके सब पदार्थ जिस मूलतत्त्व से बनते हैं उसको 'आप' नाम का जल कहते हैं। इन चारों तत्त्वों में मरीचि जल वह है जो सूर्य से पृथिवी तक सूर्य के किरणों तथा वायु सूक्ष्म रूप से फैला हुआ है, जिसके कारण सूर्य की धूप की गरमी लगने पर भी कोई वस्तु सहसा जलने नहीं पाती। सूर्य के तप्त तेज के साथ मरीचि की नमी आया करती है। यह मरीचि सूक्ष्मरूप में एक प्रकार का वास्तव जल है उसके लिए यह आकाश का मैदान समुद्र है उसमें यह मरीचि जल सूर्य से गरमी पाकर बहते हुए हवा से वास्तव में लहराने लगता है। यह ही कारण है

कि सागर के जल में जिस प्रकार वृक्ष का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार कभी इस लहराते हुये मरीचि जल में भी वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ना देखा गया है अतः यदि उस 'मरु-मरीचिका' को अर्थात् लहराती हुई किरणों को हम वास्तव में ही जल कह सकते हैं। अब यदि मेरी आँख उसको जल रूप से देखती हैं। तो वह भी सत्य हो सकता है।

## सारांश

१—रज्जु और सर्प के सादृश्य भाव को आँख ने देखा उस पर मन को विचार करके सर्प के निश्चित करने में धोखा हो गया। मन ने सर्प और रज्जु के भेद कारक धर्मों को न पाकर ऐसा किया।

२—इसी प्रकार वृक्ष के ठूंठ को मनुष्य समझ लेना भी मन का ही धोखा है न कि आँख का।

३—सीप को चाँदी समझ लेना भी मन का ही धोखा है आँख का नहीं।

४—(क) मरुस्थल में जल लहरों के दिखने का कारण किरणों का बालू से टकराकर उलटा ऊपर को जाने से और ऊपर से आने वाली किरणों से टकराने से किरणों में लहरें दीख पड़ती हैं।

(ख) बालू की, हल्की वायु का तथा ऊपर की शीतल और भारी वायु का सम्बन्ध होने से लहर दीखती है। आँख केवल लहर को देखती है। पानी समझ लेना मन का धोखा है।

(ग) अंतरिक्ष में 'मरीचि' प्रकार का जल, सूर्य की गरमी के कारण लहराती हुई वायु से वास्तव में ही लहराते हैं सो आँख का जल लहरें बतलाना वास्तव में सत्य ही है। सागर में वृक्षों की छाया के समान इस 'मरू मरीचिका' रूपी जल में वृक्षों की छाया भी दीखती है।

आँख पर एक और आक्षेप यह है कि वह एक ही मनुष्य को बाल्यावस्था, में जवानी तथा वृद्धावस्था में भिन्न २ रूप से देखती हुई उसकी एकता को भी ग्रहण करती है। हम आँख के कहने से ही बालक, वृद्ध को भिन्न समझते हैं और उसी आँख के कहने से अवस्था भेद होने पर भी जन्म से बुढ़ापे तक मनुष्य को एक समझते हैं किन्तु एक को अनेक और अनेक को एक समझना दोनों मिथ्या है और अप्रमाणिक है। जब एक ही आँख विरुद्ध दो भाव को दरसाती है तो उनमें एक अवश्य असत्य है अथवा दोनों असत्य हैं। असत्य को ग्रहण करने वाली आँख प्रमाण नहीं हो सकती। अब इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य को हमें दो भागों में विभक्त समझना चाहिये। एक शरीरात्मा, दूसरा अन्तरात्मा। शरीर आत्मा वह स्थूल भाग है जो मरने पर भी यहां बना रहता है और जलाने आदि क्रियाओं से पंच महाभूतों में मिल जाता है और अन्तरात्मा वह सूक्ष्म भाग है जिसको मरने के पश्चात् हम नहीं पाते और जिसकी चेष्टा से यह शरीर चलता फिरता था जिसमें इच्छा थी, क्रिया थी, जो निराकार था किन्तु इस शरीर को धारण करने के लिए एक बलशाली तंत्र (System) रखता था, उसी अन्तरात्मा और शरीरात्मा के वियोग को मृत्यु कहते हैं। इसमें शरीरात्मा भौतिक विकारों को ग्रहण करता हुआ जन्म से मृत्यु तक तीन अवस्था, पाँच अवस्था, छः अवस्था अथवा अनन्त अवस्था धारण करता है। बाल्य यौवन और वार्धक्य ये तीन अवस्थायें हैं। शैशव, पौगंड, तारुण्य, प्रौढ़ और स्थविरता ये पाँच अवस्थाऐं

हैं। जब तक बालक नंगा रहता है वह शैशव अवस्था है यह ५ वर्ष तक रहती है। खेलने-कूदने की अवस्था को पौगंड कहते हैं इसका समय १५ वर्ष तक है। चढ़ती जवानी अर्थात् तारुण्य ५० वर्ष तक रहती है, जवानी ढल जाने को वार्धक्य कहते हैं और इसका समय क्रम ८० वर्ष वर्ष तक रहता है और जब शरीर बहुत ही असमर्थ और शिथलता को प्राप्त हो जावे तो उस काल को स्थविरता कहते हैं और यह ८० वर्ष से ऊपर होता है अथवा जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति ये ६ विकार हैं अर्थात् जन्मना, सत्ता कायम होना, बढ़ना, बदलना, घटना और नष्ट होना ये ६ विकार जिसमें पाये जावें उसको शरीर कहते हैं किन्तु जो इन विकारों से रहित है वह अन्तरात्मा है। किसी प्रकार के विकार न होने के कारण जन्म से मृत्यु तक एक ही रूप में प्रतीत होता है 'अहम्' अर्थात् 'मैं हूं' इसी एक रूप में जन्म से मृत्यु तक भासता है। किन्तु इसका वह शरीर विकारी होने के कारण प्रतिक्षण बदलता हुआ अनेक रूप ग्रहण करता है, वह जन्म से मृत्यु तक भिन्न २ रूपों में भासता है जबकि इस प्रकार एक ही मनुष्य नौ भाग में बटा हुआ है तो बहुत संभव है कि उस एक आत्मा के विचार से आँख उस व्यक्ति को एक कहकर दिखावे और शरीर के अनुरोध से भिन्न अवस्था के कारण भिन्न करके दिख-लावे जबकि वस्तु दो हैं। एक और अनेक-तो उनको उसी प्रकार देखना आँख का कर्त्तव्य है। इसमें आँख का दोष नहीं है।

यह ध्यान देने का विषय है कि कोई भी इन्द्रिय सब ही विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। उनके विषय नियत हैं अर्थात् जिस विषय में जिसकी शक्ति है उस ही विषय को ग्रहण करने से वह इन्द्रिय प्रमाण होती है जैसे शब्द, गंधादि विषयों को ग्रहण न करने पर भी केवल रूप के ग्रहण करने से आँख प्रमाण है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को भी समझना चाहिये; किन्तु अपने विषयों को ग्रहण करने के समय भी यदि मध्य में कोई दोष आ जावे तो उसके प्रतिबन्धक होने से वह इन्द्रिय अपने काम को यथार्थ रूप से नहीं कर सकती। परन्तु इससे उनके प्रमाण्य में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती। सूर्य या चन्द्रमा के नीचे बादल आने से या सूर्य के नीचे चन्द्रमा के आने से कभी-कभी सूर्य का प्रकाश नहीं होता अतः क्या यह सिद्धान्त माना जा सकता है कि सूर्य प्रकाशवान् नहीं है। ऐसा कदापि नहीं। इसी प्रकार इन्द्रियों में भी समझना चाहिये अर्थात् दोष की उपस्थिति में भी हम इन्द्रियों को प्रमाण पाते हैं। माना कि श्वेत शंख को कभी पीला बतलाती हुई आँख भूल करती है, मीठी चीनी को कडुवा बताती हुई जिह्वा कभी भूल करती है किन्तु इस पर हम कहेंगे कि यह आँख पीले शंख को प्रदर्शित करती हुई अपने अन्दर पित्त का संयोग बतला रही है इसी प्रकार जिह्वा भी पित्त के संयोग की तरफ संकेत करती है। पित्त के संयोग को बताने में ये ही इन्द्रियाँ प्रमाण हैं और इन पर हम विश्वास करते हैं अन्यथा इस पित्त रोग को दूर करने का हम कभी प्रयत्न न करते। अतः विश्वसनीय है कि दोष की अवस्था में भी उन दोषों को प्रदर्शित करने के लिये वे इन्द्रियाँ ही प्रमाण हैं जैसा कि लाल, पीले, हरे काँच में होकर जमीन पर गिरती हुई सूर्य की लाल, पीली, हरी रोशनी हम को यही सूचित करती है कि उसी रंग के काच के भीतर होकर आई है और इस बताने के लिए वह रोशनी प्रमाण है किन्तु इससे यह नहीं पाया जाता कि सूर्य का प्रकाश हरा इत्यादि हैं। अतः सभी इन्द्रियों में जो कुछ जिस प्रकार का ज्ञान पैदा होता है उसके लिये वही इन्द्रिय प्रमाण हो सकती है।

## सारांश

आँख पर और आक्षेप—एक मनुष्य को दो भाँति से दिखलाना—एक और अनेक । प्रत्येक मनुष्य की दो आत्मा है—शरीरात्मा और अन्तरात्मा एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म, एक विकारी दूसरा निर्विकारी, एक चैतन्य निराकार होकर भी चेष्टा, इच्छा, क्रिया शरीर में बलवान् तन्त्र इत्यादि का कारण और जिसके अलग होने से यह शरीर मृत कहलाता है वह अन्तरात्मा है और दूसरा शरीर आत्मा भौतिक विकारों को ग्रहण करता हुआ कई अवस्थाओं अर्थात् ३, ५, ६, इत्यादि को धारण करता है । शरीर में ऐसे नाना विकार है आत्म-निर्विकार जन्म से मृत्यु तक एक ही है—'अहम्' अर्थात् 'मैं हूँ' इस एक ही रूप में जन्म से मृत्यु तक भासता है किन्तु इसका बाह्य शरीर विकारी होने के कारण प्रतिक्षण बदलता हुआ अनेक रूप धारण करता है । इस प्रकार मनुष्य के दो भाग हैं एक बहुरूपा और दूसरा एक ही रूप । अतः एक ही व्यक्ति आत्मा के सम्बन्ध से एक है और शरीरानुरोध से अनेक अवस्था का है । एक व्यक्ति में अब ये दो पदार्थ है एक तो सदैव और दूसरा प्रतिक्षण भिन्न अतः अनेक । इसी कारण आँख एक व्यक्ति में दो पदार्थ देख कर दो बतलाती है अर्थात् आत्मा और शरीर, तो अब आँख का ऐसा बतलाना यथार्थ और सत्य ही है । यदि आँख ऐसा न बतलावे तो धोखा देने वाली कहलावे अतः आँख धोखा देने वाली कदापि नहीं प्रत्युत यथार्थ और वास्तविक स्वरूपदर्शी है जो कि इसका कर्तव्य है वही सदा किया करती है । प्रत्येक इन्द्रियां अपने-अपने पृथक-पृथक नियमित कार्य को ही सदा करती रहती हैं अन्य कार्य को कदापि नहीं करती अतः ये प्रमाण हैं । प्रतिबन्धक दोष से इन्द्रिय प्रमाण्य में त्रुटि नहीं हो सकती । चन्द्रमा के नीचे बादल या सूर्य के नीचे चन्द्रमा या बादल के आ जाने से क्या चन्द्रमा प्रकाश रहित समझे जा सकते हैं ? कदापि नहीं । तब इसी प्रकार इन्द्रियों में भी समझना चाहिये । दोष सहित इन्द्रियों पर गहरे विचार करने के पश्चात् विदित होगा कि उनमें जो दोष आगया है उस दोष को बताने वाली भी तो इन्द्रियां ही हैं । जैसे पीले शंख को दर्शित करती हुई अपने में पीले दोष को आँख ही तो सूचित करती है और जिह्वा चीनी को कडुवा कहती हुई कडुवे दोष को सूचित करती है । यह दोनों दोष हमारे अन्दर के पित्त के संयोग से भासित होते हैं । आँख के पिलास तथा जिह्वा के कडुवास के विकारी को जो कि पित्त के संयोग से हैं इन्द्रियों ने ऐसा स्पष्ट रूप से दिखलाया कि इस विकार का हमको विश्वास होकर हमने इसका निदान कराया । इस दोष रूपी रोग की चिकित्सा कराने वाली भी ये ही तो इन्द्रियाँ हैं । तो सिद्ध है कि दोष की दशा में भी दोष को बताने वाली इन्द्रियां ही प्रमाण हैं । इसको फिर यों समझो कि जैसे हरे काँच में होकर आने वाला हरा प्रकाश हरे काँच का भी ज्ञान कराता है और ऐसा ज्ञान कराने में प्रमाण हैं किन्तु इससे यह नहीं पाया जाता कि सूर्य या दीपक जिससे वह प्रकाश आता है वे भी हरे हैं प्रत्युत यह भी पक्के तौर से कह सकते हैं कि रंग रहित किरण जिस रंग में होकर आती है उसी रंग को धारण करके उस रंग रूपी दोष के बताने में भी प्रमाण है बस अब पूर्णतया सिद्ध है कि इस प्रकार सभी इन्द्रियों में जो कुछ जिस प्रकार का ज्ञान पैदा होता है उस ज्ञान की उपलब्धि के लिये वही इन्द्रिय प्रमाण है ।

## ३—मनः प्रमाण्य सिद्धिसूत्र

जिस प्रकार इन्द्रियों का प्रमाण होना सिद्ध है उसी प्रकार मन को प्रमाण मानना उचित है। क्योंकि प्रमाण का अर्थ है–प्रमा–अन अर्थात् ज्ञान का साधन या ज्ञान उपजाने वाला । जबकि हम मन

को ज्ञान का साधन देखते हैं तो अवश्य ही प्रमाण मानना पड़ेगा। यह संभव है कि मन किसी दोष के कारण कभी-कभी भूल करे अर्थात् झूँठा ज्ञान पैदा करे। किन्तु फिर भी हम कहेंगे कि झूँठा ज्ञान भी ज्ञान है। ज्ञान को पैदा करता हुआ मन अवश्य प्रमाण होगा किन्तु उसमें झूंठ का जितना सम्बन्ध है उतना दोष के सम्बन्ध के कारण हैं जैसाकि रस्सी को सर्प समझ लेना झूंठा ज्ञान है किन्तु इसमें समझ लेना ज्ञान का भाग है वही मन का काम है इसमें रस्सी का साँप झूठा भाग है वह दोष का काम है। मन और दोष दोनों अपना-अपना काम करते हैं अत: दूसरे के काम का आक्षेप दूसरे पर नहीं किया जा सकता अर्थात् दोष के कारण जो झूंठापन ज्ञान में आया है उसका आक्षेप मन पर नहीं हो सकता।

यहाँ पर ज्ञान से हमारा तात्पर्य उपलब्धि से है। उपलब्धि का अर्थ है पाना जो दो प्रकार का है, एक तो सत्तावान् का ज्ञान अर्थात् मौजूद का जानना और दूसरा जाने हुए की सत्ता अर्थात् मौजूद होना। इस प्रकार जिसकी उपलब्धि होवे उसको सत्य कहते हैं। वह सत्य जिससे जाना जावे उसको प्रमाण कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसको हमने जैसा जाना है उसको उसी प्रकार का होना चाहिए अथवा जो जिस प्रकार का है वह उसी प्रकार का जाना जावे। सारांश यह है कि जिसका ज्ञान है उसी की सत्ता है अथवा जिसकी सत्ता है उसी का ज्ञान है। ऐसा ज्ञान कराने वाला प्रमाण कहलाता है। जैसा आकाश में हम चन्द्रमा को देखते हैं और वह चन्द्रमा आकाश में वास्तव में है अत: ऐसा ज्ञान उपजाने वाली आँख या किसी का वचन प्रमाण होगा किन्तु यदि आकाश में हम एक साथ दस चन्द्रमा देखें तो वह आँख के तिमिर रोग का दोष है और वह अप्रमाण है इस प्रकार प्रमाण या अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा की है। किन्तु पारमार्थिक दशा में ज्ञान और सत्ता ये दोनों भिन्न वस्तु नहीं हैं अत: जिसका ज्ञान हुआ है उसकी सत्ता भी हो चुकी। अतएव व्यावहारिकों का यह कहना कि जिसका ज्ञान हुआ है उसकी सत्ता भी होनी चाहिए क्योंकि बिना सत्ता के ज्ञान भ्रम है, मिथ्या है। ऐसा ज्ञान उपजाने वाला अप्रमाण है इत्यादि, व्यावहारिकों की भाषा स्वीकार के योग्य नहीं है क्योंकि पारमार्थिक दशा में जबकि ज्ञान और सत्ता एक है तो ज्ञान होने से ही सत्ता का होना माना जा सकता है। जितना सा अंश ज्ञान का है उतना ही अंश सत्ता का साथ है। 'अस्ति' अर्थात् 'है' यही तो ज्ञान का स्वरूप है। इस ज्ञान को उपजाता हुआ मन पारमार्थिक दशा में अवश्य ही प्रमाण माना जा सकता है क्योंकि किसी भी प्रकार का ज्ञान उपजाता हुआ मन अप्रमाण कैसे हो सकता है। जबकि मन का धर्म केवल प्रकाश करना है तो प्रकाश करता हुआ मन अपना कर्तव्य कर चुका अत: प्रमाण है। जबकि उस प्रकाश की दुष्टता किसी दोष के योग से है तो सिद्ध हुआ कि दोष के असंयोग दशा में यह मन अवश्य विशुद्ध है और इसलिये वह अपने स्वरूप से प्रमाण है। ज्ञान में जो कभी दोष का सम्बन्ध देखते हैं उस दोष के प्रवेश के कई द्वार हैं। प्रथम अवग्रह में इन्द्रियों के द्वार दोष का प्रवेश होना है, अत: अवग्रह अप्रमाण माना जाता है, दूसरा ईहा में मन के द्वारा दोष का प्रवेश होना है अत: ईहा अप्रमाण है और तीसरा अवगम में आत्मा के द्वारा दोष का प्रवेश होता है अत: अवगम अप्रमाण होता है। इन तीनों में एक भी दूषित हो तो ज्ञान असत्य हो जाता है और उसका कारण अप्रमाण होता है क्योंकि अवग्रह ईहा और अवगम ये तीनों ज्ञान के भाग हैं और तीनों भागों के मिलने से ज्ञान का पूरा स्वरूप बनता है अत: तीनों में से कोई भी भाग दूषित हो तो सम्पूर्ण ज्ञान अवग्रह हो जाता है।

दूषित अवग्रह से ईहा निर्दोषित रहते हुए भी दूषित हो जाती है और उसी के द्वारा निर्दोषी अवगम भी दूषित हो जाता है। इस प्रकार प्रमाण अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा में मानी जाती है किन्तु परमार्थ दशा में यही सिद्धान्त है कि ज्ञान दोषयुक्त हो अथवा निर्दोष हो किन्तु जितना भाग ज्ञान का है वह प्रकाश रूप है वह कभी अप्रमाण नहीं हो सकता। हरे काँच के अन्दर से आने के कारण सूर्य का प्रकाश हरा होकर भले ही दूषित हो गया हो किन्तु जो दोष हरेपन का है वह भी प्रकाश का विषय है और प्रकाश की अपेक्षा वह रंग दूसरी वस्तु है किन्तु उस रंग का भी प्रकाश करने वाला जो वास्तव में प्रकाश वस्तु है वह अपने रूप से सदा शुद्ध व निर्दोष है। इसी प्रकार ज्ञान को भी सर्वत्र निर्दोष समझना चाहिये।

कितने ही व्यक्ति यह कहते हैं कि जो ज्ञान सामग्री पूरी न होने से अपूर्ण हो वह अप्रमाण है जैसा बालक या पशु का ज्ञान। किन्तु इस पर भी विचार का स्थान है। यदि अपूर्ण होने से ज्ञान अप्रमाण माना जाय तो जगत् के पामर सेलेकर विद्वान् तक सभी के ज्ञान अप्रमाण मानने पड़ेंगे। यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि आज तक जो कुछ जाना गया है वह बहुत अंश निर्णय करने पर भी अभी तक अपूर्ण है। अतः व्यवहार दशा में भी उस अपूर्ण ज्ञान को प्रमाण मानते हुए ऊपर की बात का विरोध करते हैं। यथार्थ तो यह है कि अपूर्णता में भी जितना अंश उसका प्राप्त होता है उतने अंश के लिए उसको अवश्य प्रमाण मानना उचित है और उसकी पूर्णता के वास्ते प्रयत्न करना चाहिए न कि अपूर्ण कह कर उसको छोड़ना चाहिए। बहुत अधिक जल में बहुत अल्प मधुर मिलाने से सम्भव है कि जल मीठा नहीं होगा किन्तु जितना सा मधुर उस जल में डाला गया है वह भी मधुर नहीं था ऐसा मान लेना भूल है। एक सौ मन मधुर में जिस प्रकार का मधुर है उसका एक कण भी अपने रूप में उतना ही मधुर है। इसी प्रकार इस ज्ञान में भी जितने बढ़ाये जावें उतना ही ज्ञान बढ़ेगा किन्तु सारे जगत् का ज्ञान जिस प्रकार ज्ञान है एक तुच्छ वस्तु का ज्ञान भी उसी प्रकार अपने रूप में परिपूर्ण ज्ञान है वह ज्ञान अपूर्ण कदापि हो ही नहीं सकता। अतः यह ज्ञान सर्वदा नित्य प्रमाण है।

ज्ञान और सत्ता ये दोनों ही उपलब्धि के रूप हैं इसी उपलब्धि को वेद कहते हैं। वेद शब्द का धातु 'विद्' जिसका अर्थ सत्ता, ज्ञान और प्राप्ति है- जब वस्तु की सत्ता है, ज्ञान है और प्राप्ति है तो अवश्यमेव उसका वेद सिद्ध हुआ और वेद सर्वदा प्रमाण होता है अतः विद्वान् लोगों का सिद्धान्त है कि- वेदाः प्रमाणम्।

ऊपर कहा जा चुका है। कि प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भाग हैं-अवग्रह, ईहा और अवगम। इनमें अवग्रह इन्द्रियों से होता है तत्पश्चात् ईहा मन के विचार को कहते हैं और अवगम आत्मा में होता है-इसमें आत्मा के न रहने से ये तीनों ही नहीं हो सकते। अतःप्रथम आत्मा के संबंध से ज्ञान की परीक्षा की गई, तत्पश्चात् ज्ञानइन्द्रियों के द्वारा अवग्रह की परीक्षा करके मन के द्वारा ईहा की परीक्षा की गई है इस प्रकार तीनों भागों की परीक्षा करके प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है।

## मनःप्रामाण्य सिद्धिसूत्र का सारांश

इन्द्रियों के समान मन भी प्रमाण है- प्रमाण का अर्थ प्रमाण का साधन है-अर्थात् प्रमा=ज्ञान और अन=साधन। मन भी ज्ञान उपजाने का साधन होने से प्रमाण है। कभी-कभी मन दोष के

कारण कुछ का कुछ समझ लेता है यहाँ पर समझ लेना मन का मुख्य काम है और कुछ का कुछ दोष का काम है। समझ लेने के कार्य में मन कभी धोखा नहीं देता अतः दोष सहित अथवा दोष रहित दोनों दशा में मन ज्ञान उपजाने में प्रमाण है।

यहाँ ज्ञान उपलब्धि अर्थात् प्राप्ति का बोधक है-यह पाना या प्राप्ति दो प्रकार से है-एक तो सत्तावान् का ज्ञान या पाना और दूसरा ज्ञान या पाई हुई की सत्ता; या होना। ऐसी उपलब्धि को सत्य कहते हैं और इसलिये प्रमाण है। सारांश यह है कि ज्ञात वस्तु की सत्ता हो और सत्तावान् का ज्ञान हो, ऐसी एकता की उपलब्धि सत्य होने से प्रमाण है। ज्ञान और सत्ता एक होने से प्रमाण और भिन्न होने से अप्रमाण यह कच्ची निगाह व्यावहारिकों की है। वैज्ञानिकों की पारमार्थिक दशा ज्ञान और सत्ता की एकता है। ज्ञान होने से सत्ता भी साथ में हो चुकी, जितना अंश ज्ञान का है उतना अंश सत्ता का ज्ञान में जड़ से चोटी तक है। 'अस्ति' या है यह ही ज्ञान का स्वरूप है और ऐसा ज्ञान उपजाता हुआ मन पारमार्थिक दशा में प्रमाण है। अब सिद्ध है कि मन किसी न किसी सत्ता को लिए हुए एक प्रकाश है। सत्ता सहित ज्ञान ही ज्ञान का स्वरूप है, सत्ता रहित ज्ञान का कोई स्वरूप नहीं अतः ज्ञान सत्ता का बोधक है सत्ता चाहे कैसी ही क्यों न हो ज्ञान सत्य-सत्ता का बोध कराता है। व्यावहारिकों ने ज्ञान की सत्य सत्ता को न समझकर अन्य सत्ता कि जो ज्ञान का विषय नहीं हुआ है उसका बोध न कराने पर ज्ञान को दूषित मान लिया। वह उनकी बड़ी भारी भूल है। यह दोष जो यथार्थ विचार से निश्चित नहीं है तीन द्वारों से यह प्रवेश हो सकता है—अवग्रह, ईहा और अवगम। इन तीनों में एक भी दूषित हो तो ज्ञान असत्य हो जाता है, क्योंकि ये तीनों ही ज्ञान के भाग हैं और इनके मिलने से ज्ञान का स्वरूप बनता है। इन में कोई भी भाग दूषित हो तो संपूर्ण ज्ञान दूषित हो जाता है यह प्रमाण अप्रमाण की व्यवस्था व्यवहार दशा में है किन्तु परमार्थ दशा में ज्ञान दोष युक्त हो या निर्दोष हो वह प्रकाश रूप होने से जो सत्ता उस पर बैठी हुई है वह सत्य है जैसे हरे काँच की किरण हरी होने पर भी वह शुद्ध और निर्मल रह कर अपने विषय हरे-पन को बताती है।

ज्ञान सामग्री अपूर्ण होने से ज्ञान को भी अपूर्ण मान कर अप्रमाण मानना यथार्थ नहीं है। बालक या पशु का ज्ञान एक बड़े विद्वान के सामने (ज्ञान के जाति में) तो दृश्य है किन्तु विषयों में या मात्रा में भिन्न है। एक कण शर्करा का भू-मण्डल समस्त शर्करा से जाति में एक है किन्तु मात्रा में भिन्न है। दोनों का मिठास एक परन्तु मात्रा भिन्न है। ऐसे ही एक ज्ञान बिन्दु समस्त ज्ञान सागर की अपेक्षा प्रकाश रखने में तो परिपूर्ण है किन्तु अनन्त विषय रूपी सत्ताओं से तुच्छ है। अतः ज्ञान छोटा बड़ा कैसा ही हो वह सदा नित्य प्रमाण है।

ज्ञान और सत्ता ये दोनों ही उपलब्धि के रूप हैं। इसी उपलब्धि को 'वेद' कहते हैं। 'वेद' का धातु 'विद्' है जिसका अर्थ 'सत्ता, ज्ञान, प्राप्ति' है। वस्तु की 'सत्ता, ज्ञान, प्राप्ति' से उसका वेद सिद्ध होता है और वेद सर्वदा प्रमाण है अतः सिद्धान्त है कि 'वेदाः प्रमाणम्'

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भाग हैं—अवग्रह, ईहा और अवगम। इन्द्रियजन्य ज्ञान अवग्रह है, मानसिक ज्ञान ईहा है और आत्मा का माना हुआ ज्ञान अवगम है। आत्मा के न रहने से कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता अतः पहले आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान की परीक्षा की गई तत् पश्चात् इन्द्रिय द्वारा ईहा ज्ञान की परीक्षा करके तीनों ज्ञान के भागों की परीक्षा करके प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण सिद्ध किया गया।

## ४—(क) जीवसिद्धिसूत्र

जहाँ कहीं हम रहें यह जगत् हमको भासता है इस भासने को हम कहें कि कुछ नहीं भासता तो इस कहने का बल हम में नहीं है। क्योंकि यह भासना स्वतः अपने को सिद्ध करता हुआ इतना बलशाली है कि इस की सिद्धि के लिए किसी भी दूसरे प्रमाण की आवश्यक नहीं होती किन्तु विचार यह है कि जो कुछ यह जगत् हमें भासता है उसमें जगत् का हिस्सा यदि अलग कर दिया जावे तो केवल भासना अर्थात् एक प्रकार का प्रकाश रह जाता है। उस प्रकाश का यदि मूल ढूंढे तो हमारे सिवाय और कोई उसका मूल नहीं पाया जाता है। जिस प्रकार लोक में सभी वस्तुओं के प्रकाश का कारण ज्योतिर्मण्डल का मूल सूर्य है ठीक उसी प्रकार इस जगत् के भासने के प्रकाश का मूल भी कोई इस मेरे प्रकाश के केन्द्र में प्रतीत होता है वही मैं हूँ। जो युक्ति या प्रमाण प्राप्ति के द्वारा विवेचना करके किसी एक विषय का निर्धारण करता है अथवा जो विचारता हुआ किसी संशय में आ जाता है वही सब ज्ञान का मूलभूत कोई सत्य पदार्थ है जो 'मैं' हूँ ऐसा कहकर जाना जाता है। किन्तु उस अहम् अर्थात् आत्मा का उस ज्ञानीय प्रकाश के साथ इतना घनिष्ठ संन्बध है कि न अहम् के बिना यह जगत का प्रकाशन रूप ज्ञान रहता है और न इस ज्ञान के बिना वह 'अहम्' रूप आत्मा ही रह सकता है प्रत्युत यह कह सकते हैं कि वह ज्ञान ही हम हैं और हम ही वह ज्ञान है जब यह ज्ञान जगत् का प्रकाश करने वाला भासता है तो मिथ्या नहीं हो सकता। अतः इसको दूसरे प्रमाण बिना ही मान लेना होगा कि वह सत्य है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा जिसको हमने सत्य रूप में पाया है, वही जीव आत्मा है।

१—हम देखते हैं कि कोई मनुष्य या पशु जब दूसरे मनुष्य या पशु को देखता है तो एकाएक ही उसके हृदय में तुलना करने की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वह अपने को और उस दीखते हुए दूसरे को शीघ्रता के साथ झट तोल कर जान लेता है कि यह मेरे समान बलशाली है। अथवा कम या अधिक बलवाला है। कम बल का अन्दाज होते ही आत्मा उठने लगती है और उस पर आक्रमण करने की ठान लेती है यदि बाह्य क्रिया से आक्रमण न भी करें तो भी आत्मा एक प्रकार निर्भय और स्वतन्त्रता का आडम्बर अवश्य रचा बैठता है जिससे अपने में कुछ गौरव की झलक आ जाती है किन्तु जब उस दूसरी आत्मा को अपने से बलशाली पाता है तो उसकी अपनी आत्मा सहसा ही कुछ संकुचित होने लगती है यहाँ तक कि उससे दूर हटने की इच्छा प्रकट हो जाती है, अथवा यदि उस दूसरे को बल में सदृश देखता है तो अकस्मात् इस बात का विचार करने लगता है कि देखें यह मेरे साथ क्या बर्ताव करता है। बस इस प्रकार की तुलना करने में जो तराजू का काम करता है, जहाँ से यह तुलना का बल उठता है वही जीव आत्मा का असली बिन्दु अथवा केन्द्र है।

२—तात्पर्य यह है कि किसी काम को करते समय उस कार्य को देखते ही शीघ्रता से यह अन्दाज बँध जाता है कि यह काम मेरे वश अथवा काबू का है या नहीं। इस प्रकार उस कार्य की जिस बल के साथ तुलना की जाती है उस बल का मुख्य आधार ही हमारी जीवन आत्मा है।

३—और भी इस प्रकार समझना चाहिए कि जब कभी आत्मा कुछ काम करने लगती है तो पहले उसमें यह विचार उठता है कि इस कार्य की करने में बल खर्च करने से कितना दुःख होगा और इस कार्य के होने पर कितना सुख होगा, इन दोनों दुःख और सुख को जिस पात्र में रखकर न्यूनाधिक का अन्दाजा बाँधा जाता है वही हमारी जीव आत्मा है। इस प्रकार क्रिया के द्वारा भी जीव आत्मा पहचानी जाती है।

## जीवसिद्धिसूत्र का सारांश

यह सब जगत् मुझको भासता है, मेरे ज्ञानरूपी प्रकाश में यह जगत् भासता है। इस जगत् को प्रकाश करने वाले दो प्रकाश हैं—१—सूर्य का प्रकाश जिसका केन्द्र सूर्य है, २—मेरे ज्ञान का प्रकाश जिसके प्रकाश से सूर्य का प्रकाश भी प्रकाशित है। अतः मेरे ज्ञानप्रकाश के महामंडल का केन्द्र 'मैं' हूँ। मेरी अटल 'अहम् बुद्धि' ही मेरे विश्वप्रकाशक ज्ञान का केन्द्र है। इस अटल 'अहम् बुद्धि' को ही जीव आत्मा के नाम से कहते हैं।

वाद-विवाद के पश्चात् युक्ति अथवा प्रमाण से किसी सिद्धान्त का निर्धारण या संशय स्थित करना ज्ञान का व्यापार है। इस ज्ञान का मूलभूत जो सत्य पदार्थ है वही 'मैं' हूँ वही मेरी जीवात्मा है निर्णय या संशय निर्धारण करने पर उससे जहाँ से सत्यता आती है वही जीवात्मा है। मेरी 'अहम्' बुद्धि या 'आत्मा' का मेरे ज्ञान प्रकाश मंडल से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि न अहम् बिना यह ज्ञान है और न ज्ञान बिना अहम् है जैसे सूर्य बिना प्रकाश और प्रकाश बिना सूर्य असम्भव है। कह सकते हैं कि अहम् ज्ञान है और ज्ञान ही अहम् है। जगत् का जितना ज्ञान है वह वस्तु की सत्यता को लिये हुए प्रकाश है क्योंकि उस प्रकाश में किसी वस्तु का सत्य रूप में होना पाया जाता है। इसी सत्यता को लिये हुए प्रकाश को अथवा प्रकाश को लिये हुए सत्यता को जीव आत्मा कहते हैं। यह जगत् का ज्ञान प्रकाश रूप है इसको प्रकाश करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है अतः स्वयं सिद्ध होने से सत्य है। इस प्रकार ज्ञान के द्वारा ही इस ज्ञान का सत्य रूपी केन्द्र जो 'अहम् बुद्धि' है वही जीव आत्मा है यह जीव-सिद्धि ज्ञान के द्वारा हुई।

सब सारांश का सारांश यह है कि मेरा विश्वप्रकाशक ज्ञान जिस से फैलता है उसी को मेरी आत्मा कहते हैं और वह मेरा ज्ञानप्रकाश ही मेरे जीने की दशा या अवस्था है अतः इसको जीवात्मा कहते हैं। मेरे सकल ज्ञान का केन्द्र 'ममत्व' है। यही ममत्व जीवात्मा है। ज्ञान का केन्द्र जो 'मैं' हूँ वह जीवात्मा है। सत्य-असत्य रूपी प्रकाश का जो स्रोत है वही जीवात्मा है। 'मैं' और मेरे ज्ञान के प्रति विशाल आकाश में एकता करने वाला भी जो ज्ञानबिम्ब है वही जीवात्मा है। ज्ञानकेन्द्र, ज्ञानविवेक और ज्ञान एकता ही जीवात्मा है। आत्मा का सत्य-स्वयं-सिद्धि बोध तो ज्ञान ही ज्ञान से होता है और यह ज्ञान तीन स्वरूपों से हुआ है।

१—जब हमको किसी जीव के बल से हमारे बल की तुलना करने का ज्ञानबल होता है तो उस बल का जो केन्द्र या बिन्दु है वही जीवात्मा है।

२—किसी काम करने की योग्यता के बल का अनुमान जिस बिन्दु से होता है वह जीवात्मा है।

३—जब किसी काम के करने में बल का कार्य होता है उस दुःख से अधिक सुख प्राप्ति हो तो कार्य किया जाता है वरना नहीं। इस सुख-दुःख का तुलनात्मक यन्त्र है वह जीवात्मा है।

यह तो हुई ज्ञानधारक और क्रियाधारक जीवसिद्धि अब अर्थधारक जीवसिद्धि को यों समझना चाहियेः—

## ४-(ख) अर्थधारक जीवसिद्धिसूत्र

इस शरीर में मुख्यतया तीन प्रकार की आत्मा दीखती है १ अग्नि, २ वायु और ३ इन्द्र। यदि इस शरीर में से गरमी निकल जावे तो तथा श्वास बंद हो जाय अथवा आँख का टिमटिमाना बंद हो जावे तो मनुष्य जी नहीं सकता। इसमें शरीर की गरमी अग्नि है उसे 'वैश्वानर' कहते हैं और श्वास का आना-जाना वायु से होता है उसे 'सूत्रात्मा' कहते हैं और तीसरा जिससे आँख की पलक खुलती-जुड़ती है वह 'इन्द्र' है, इन्द्र का स्थान मस्तक है इन्द्र की ज्योति कुछ हरे-नीले रंग की झाँई देती हुई कभी-कभी आँखों के पलक के अन्दर दीख आती है, ज्योति के कारण हम वस्तुएं देखते हैं अर्थात् यह सब बाह्यप्रकाशगोचर है और उसीसे हमारे शरीर में चेतना है। तलवकार ऋषि कहते हैं कि यह इन्द्र वही विद्युत् है जो कभी बादल से निकलकर सम्पूर्ण आकाश में दौड़ता हुआ दीखता है और इसी विद्युत् की क्रिया के द्वारा शरीर में हमारा मन जो वास्तव में प्राण के साथ बंधा हुआ है सर्वत्र दौड़ता हुआ भासित होता है यह इन्द्र सूर्य से आता है और द्यौलोक का पदार्थ है। किन्तु वायु अन्तरिक्ष का पदार्थ है और अग्नि पृथ्वी का पदार्थ है इस प्रकार तीनों लोक से पृथक पृथक ये तीनों रस शरीर में एकत्र होते हैं। इनका शरीर में पृथक-पृथक स्थान है। इन्द्र का प्रकाश मुख से शिर में प्रकाशित होकर सर्वाङ्ग शरीर में काम करता है वायु वक्षस्थल में रहकर सब शरीर में काम करता है और अग्नि उदर में रहकर सर्वाङ्ग शरीर में कार्य करता है। इस प्रकार यद्यपि ये तीनों भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर शरीर में भिन्न स्थानों में रहकर ज्ञान, क्रिया तथा भूत या अर्थ उत्पन्न करना इत्यादि पृथक-पृथक कार्य करते हैं तथापि इन तीनों का परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक के नष्ट होने से शेष दोनों भी नष्ट हो जाते हैं। अतः निस्संदेह प्रतीत होता है कि ये तीनों ही अवश्य किसी न किसी एक सूत्र में बंधे हैं। एक के नष्ट होने पर वह सूत्र नष्ट हो जाता है जिससे तीनों की मात्रा एक साथ नष्ट हो जाती है। वही इन तीनों में तुरीय अर्थात् चौथा है। वास्तव में वही जीवात्मा है जो प्रत्यक्ष न होने पर भी प्रत्यक्ष इन तीनों पदार्थों के परस्पर मेल कराने के कारण प्रतीत होता है। इसी आत्मा में जिस प्रकार ये तीनों आत्मायें तीन लोक से आकर आश्रय पाती हैं उसी प्रकार चन्द्रमा से आकर उसका रस मन के रूप में एक और आत्मा बनकर प्राण के साथ बँधा रहता है। तात्पर्य यह है कि शरीर में पांच आत्मायें हैं किन्तु जिस प्रकार अँगुलियाँ हथेली के आश्रय से मिली रहती हैं उसी प्रकार अग्नि, वायु, इन्द्र और मन चारों आत्मा जिसके आश्रय से मिलकर शरीर में रहती हैं अथवा इन चारों का कार्य पृथक्-पृथक् होने पर जिस एक आत्मा का काम कहलाता है वही आत्मा जीव आत्मा है और वही "मैं" हूँ। इस प्रकार अर्थ-द्वारा भी जीवात्मा की सिद्धि की गई है।

## अर्थधारक – जीवसिद्धिसूत्र का सारांश

इस शरीर में ३ प्रकार की आत्मा हैं—अग्नि, वायु, सूर्य। इन से क्रमशः सर्वत्र शरीर में गर्मी, श्वास का आना-जाना और आँख का निमेष—उन्मेष होता है। इनका आपस में ऐसा घनिष्ट संबन्ध है

कि एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। इनको मनुष्य शरीर में वैश्वानर, तैजस या सूत्रात्मा और प्राज्ञात्मा कहते हैं। इन्द्र मस्तिष्क में रहता है किन्तु इसका ज्योति कुछ हरे नीले रंग की झाँई देती हुई कभी कभी आँखों की पलक के अंदर दीख आती है। इसी ज्योति के कारण हम सब वस्तुओं को देखते हैं और यह जगत् प्रकाशित हो रहा है। इस ज्योति से ही हमारे शरीर में चेतना स्थिर रहती है।

तलवकार ऋषि कहते हैं कि कभी कभी आकाश में जो विद्युत् दौड़ती और चमकती है वह इन्द्र है। हमारा मन जो प्राण से बँधा हुआ है इसी विद्युत् की क्रिया द्वारा सर्वत्र दौड़ता हुआ भासित होता है यह इन्द्र सूर्य से आता है और द्यौलोक का पदार्थ है। वायु अन्तरिक्ष का और अग्नि पृथिवी का पदार्थ है। तीनों इस शरीर में मस्तिष्क, हृदय और उदर स्थान में रहकर सर्वत्र शरीर में कार्य करते हैं। ज्ञान क्रिया और अर्थ उत्पन्न करना इनका कार्य है।

ये तीनों आत्मायें किसी न किसी सूत्राधार पर अवलम्बित हैं। इनमें से किसी के भी नष्ट होने पर वह सूत्र ही नष्ट हो जाता है और जिसके नष्ट होने से तीनों ही नष्ट हो जाती हैं वही सूत्र इन तीनों का तुरीय अर्थात् चौथा है, वास्तव में यही जीवात्मा है जो प्रत्यक्ष न होने पर भी इन आत्माओं में मेल कराने के कारण प्रतीत होता है। इसी आत्मा में इन तीनों आत्माओं की तरह ही चन्द्रमा का रस मन के रूप में एक और आत्मा बनकर बँधा रहता है। इस प्रकार ये चारों आत्मायें अग्नि, वायु, इन्द्र और मन जिसके आश्रय से हथेली में अँगुलियों के सदृश रहते हैं वही जीवात्मा है। इन चारों का कार्य पृथक् पृथक् होने पर भी जिस आत्मा, का एक कार्य कहलाता है वही जीवात्मा है और वही "मैं" हूँ। इस प्रकार अर्थ द्वारा भी जीवात्मा की सिद्धि की गई है।

## ५–अन्तर्जगत् सिद्धिसूत्र

जबकि 'मैं' हूँ इस प्रकार का भान निर्विवाद सिद्ध है तो इस भान से वेत्ता की सिद्धि से वित्ति और 'वेद्य' इन दोनों की भी साथ ही सिद्धि हो जाती है क्योंकि वेत्ता, वित्ति और वेद्य इन तीनों से त्रिपुटी बनकर एक प्रत्यय होता है जिसको ज्ञान कहते हैं। इस प्रत्ययज्ञान का एक भाग वेत्ता यदि सिद्ध हो गया तो उससे वित्ति और वेद्य की भी सिद्धि अवश्य ही माननी पड़ेगी क्योंकि वह वेत्ता पृथक् कोई ज्ञान नहीं है किन्तु त्रिपुटी-प्रत्यय ज्ञान का एक अंश है। अतः वेत्ता का सत्य मानना ही त्रिपुटी प्रत्यय को सत्य मानना है, बिना वित्ति और वेद्य के वह प्रत्यय जिसका वेत्ता है सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्यय की असिद्धि में वह वेत्ता भी सिद्ध नहीं हो सकता किन्तु वेत्ता यदि निर्विवाद सिद्ध है तो मानना होगा कि प्रत्यय भी सिद्ध है और जब प्रत्यय की सिद्धि मान ली गई तो उसके त्रिपुटी होने के कारण वह भी मानना होगा कि वित्ति और वेद्य ये दोनों अंश भी सिद्ध हो चुके। कोई कहे कि वेत्ता, वित्ति और वेद्य ये तीनों तीन ज्ञान हैं तो इस पर हम कहेंगें कि यह उनकी भूल है क्योंकि खूब ढूंढ कर देखने से भी कोई ऐसा ज्ञान नहीं दीखता कि जिसमें जानने वाला, जानना और जानी गई वस्तुयें तीनों मिले हुए न हों अथवा इन तीनों में से एक ही हो। जबकि प्रत्येक ज्ञान इन तीनों में से मिलकर बनता है तो अवश्य मानना होगा कि एक प्रत्यय ज्ञान के ये तीनों अवयव हैं। ऐसी स्थिति में जब उस एक ही प्रत्यय ज्ञान का एक भाग जिसको वेत्ता कहते हैं और जिसका 'अहम्' रूप है वह यदि सत्य मान लिया गया तो यह कब हो सकता है कि उसी एक प्रत्यय ज्ञान के दूसरे दो

अवयव वित्ति और वेद्य मिथ्या ठहराये जावें। वेत्ता को सत्य कहने के लिये जबकि उस प्रत्ययज्ञान को ही सत्य मान लेना पड़ेगा तो उसके और भी अवयव अर्थात् वित्ति और वेद्य सत्य हो चुके। अतः हमारे इस प्रत्ययज्ञान के जिस ज्ञान में मैं अपने को सत्य रूप में पाता हूं उसी ज्ञान का विषय यह सम्पूर्ण जगत् जो मेरे ज्ञान में भासता है उसको भी सत्य कहने की मैं प्रतिज्ञा करता हूं।

दूसरी बात है कि प्रत्यय ज्ञान के प्रकाश से जो प्रथम 'अहम्' अर्थात् वेत्ता का भान हुआ है उस वेत्ता को भी हम वेद्य कह सकते हैं और वित्ति को भी वेद्य कह सकते हैं क्योंकि जो वेद्य नहीं है वह जानी ही नहीं गई और नहीं जानी हुई वस्तु की सत्ता ही नहीं की जा सकती। यदि वित्ति और वेत्ता वेद्य नहीं होते तो हम त्रिपुटी का भी अनुभव नहीं कर सकते, ऐसी स्थिति में जब कि तीनों ही वेद्य हैं तो उनमें से एक जो अहम् है उसी को सत्य मानें और शेष दोनों वेद्यों को मिथ्या कहें यह कदापि संभव नहीं हो सकता। क्योंकि एक ही ज्ञान के प्रभाव से एक साथ तीनों ही वेद्य हुए हैं, यदि उनमें कोई भी एक सत्य है तो वेद्य होने के कारण तीनों को ही सत्य कहना होगा। यह वह प्रत्यय है कि जिसमें 'मैं' और सम्पूर्ण जगत् के साथ मेरा संबंध तीनों ही शामिल हैं और वह प्रत्यय हम सब को अपने आप स्वतः सिद्ध भासता है अतः दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा न रखकर उसको स्वतः प्रमाण कहते हैं और उसका कोई बाधक न होने से त्रिकाल में बाधा रहित है अतः सत्य है। तात्पर्य यह हैं कि पहले सूत्र में जिस प्रकार 'अहम्' का सत्य होना निश्चित हुआ था उसी प्रकार अब हम इस संपूर्ण जगत् को भी सत्य समझते हैं।

## अन्तर्जगत् सिद्धिसूत्र का सारांश

जगत् दो प्रकार का है–अन्तर्जगत् बाह्यजगत्। अन्तर्जगत् वह है जो हमारे ज्ञान में चित्र होकर भासित है। इस अन्तर्जगत् को सत्य सिद्ध करना है। यह दो प्रकार से सत्य सिद्ध किया जा सकता है-प्रत्यय के सत्य होने से और प्रत्यय का विषय होने से। प्रत्यय के सिद्ध होने से जगत् सत्य सिद्धि–जानना या ज्ञान प्रत्यय कहलाता है। इस प्रत्यय ज्ञान के तीन अवश्य हैं–जानने वाला वेत्ता, जानना वित्ति, और जानने की वस्तु अर्थात् वस्तु चित्र वेद्य कहलाते हैं। अन्तर जगत् ही वेद्य कहलाता है। जीवसिद्धिसूत्र में वेत्ता को सत्य सिद्ध किया है किन्तु वेत्ता सत्य नहीं हो सकता जबतक की प्रत्यय न हो लेवे। प्रत्यय जब सत्य है तो इसके तीनों अवयव भी सत्य हैं। इन तीनों में से वेत्ता तो सत्य है ही किन्तु वित्ति और वेदय भी सत्य हो चुके। बस जब वेत्ता सत्य है तो वेद्य भी सत्य है। प्रत्यय का विषय वेद्य है क्योंकि वेत्ता और वित्ति भी जानें जाते हैं अतः जानने या प्रत्यय के विषय हैं। अतः वेत्ता, वित्ति और वेद्य ये तीनों ही प्रत्यय के विषय सिद्ध हो गये। किन्तु इनमें वेत्ता सत्य सिद्ध हो चुका है तो वित्ति और वेद्य भी सत्य सिद्ध हो चुके। इस प्रकार वेद्य विषय होने से सत्य है। बस इस प्रकार वेद्य अर्थात् अन्तर्जगत् की सत्यसिद्धि हुई।

## ६–जीवानन्त्यसिद्धिसूत्र

वेत्ता, वित्ति और वेद्य ये तीनों एक ही वेत्ता की सिद्धि होते हैं अर्थात् वेत्ता जीव की सिद्धि जिस प्रत्ययज्ञान से होती है उसी से वेद्य जगत् की भी सिद्धि होती है ऐसा इससे पूर्व के दोनों सूत्रों में

कहा गया है । उसमें वेद्य कहकर जो जगत् समझा जाता है उसमें नदी, पर्वत आदि जड़ पदार्थों को छोड़ कर कुछ ऐसे चेतन पदार्थ भी दीखते हैं जो शरीर की बनावट में धर्म और व्यवहारों में हमारे समान ही प्रतीत होते हैं। सब प्रकार समान धर्म होने पर भी हम उनमें कुछ ऐसे विरुद्ध धर्म अर्थात् देश–काल आदि का भेद पाते हैं कि जिनमें हम उनको अपने से भिन्न कहते हैं । जबकि मैं जीव हूँ और मुझ में जो जीव के लक्षण हैं वे ही सब धर्म उन दूसरों में भी हम पाते हैं जिससे उनको भी हम अवश्य जीव कह सकते हैं परन्तु 'मैं' और 'वे' कदापि एक नहीं हो सकते । देश, काल, शरीर आदि के भेद से हम अपने से उन सब में विभिन्नता पाते हैं अतः कहना पड़ता है कि 'हम' और 'वे' सब भिन्न भिन्न प्रकार के अनन्त जीव हैं । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इस प्रकार प्रत्येक जीव आत्माओं की प्रकृति में भेद पाते हैं और जन्म-मृत्यु आदि की भी भिन्नता है अतः सांख्य वाले कहते हैं जीव अनन्त है । जिस प्रकार एक ब्रह्माण्ड के नियन्ता एक २ सूर्य भिन्न होकर अनन्त ब्रह्माण्ड के अनन्त सूर्य हैं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान मण्डल भिन्न हैं । प्रत्येक ज्ञान मण्डल का नियन्ता जीवात्मा भी भिन्न २ ही हैं। यदि कोई कहे कि इस प्रकार जीवात्मा की अनन्तता भी वास्तविक नहीं किन्तु प्रात्यायिक अर्थात् केवल ज्ञान मात्र से है (खयाली है) । किन्तु इस पर हम कहेंगे कि इस प्रकार जीवों का अनन्त रूप से भासना किस जीव के प्रत्यय का फल कहा जा सकता है क्योंकि जिस प्रकार हम अपने में सोचते हैं और अपने ज्ञान से मैत्र को अपने ज्ञान का वेद्य समझते हैं । उसी प्रकार मैत्र भी अपने आप को सोचता हुआ मुझको अपने ज्ञान का वेद्य समझता है इसी प्रकार और भी सब समझते हैं । ऐसी स्थिति में किसको, किसके खयाल को माना जावे यह निर्णय करना कठिन है । उचित यह ही है कि भिन्न जीवात्मा माना जावे । प्रत्येक जीवात्मा अपने २ ज्ञान मण्डल में संपूर्ण जगत् को वेद्य बनाते हुंए सब ही जीवात्माओं को वेद्य-रूप से ग्रहण करता है । हमारा वेद्य जिस प्रकार मैत्र और अन्य सब है उसी प्रकार मैत्र का भी वेद्य हम और अन्य सब हैं और अपने २ रूप में इन वेद्यों को ग्रहण करने के कारण ये सब जीवात्मा भिन्न वेत्ता हैं ।

## जीवानन्त्यसिद्धिसूत्रसारांश

पूर्व के दोनों सूत्रों में प्रत्ययज्ञान से ही वेत्ता और वेद्य की सिद्धि हुई है । उसमें वेद्य कह कर जो अन्तर जगत् सिद्ध किया गया है उस अन्तर्जगत् में दो प्रकार के पदार्थ भासते हैं—एक तो धर्म और व्यवहार में मुझ से सदृश है किन्तु देश, काल, शरीरादि धर्मों में भिन्न हैं और दूसरे ऐसे हैं जो मुझसे धर्म व्यवहार में भी भिन्न हैं और देश, काल इत्यादि में भी तो भिन्न हैं ही । ऐसे दो प्रकार के पदार्थों में से प्रथम को चेतन या जीव कहते हैं और दूसरे को जड़ या अजीव कहते हैं। मेरे वेद के विषय में जीव और जड़ है । उन जीवों में 'मैं' भी एक जीव हूँ वैसे ही दूसरे भी मुक्त जैसे जीव हैं । वेत्ता और वेद होने में 'मैं' और, 'वे' एक हैं किन्तु देश, काल, पात्र से भिन्न हैं । इस एकता से जाति स्थिर होती है और भिन्नता से व्यक्ति नियत होते हैं । अतः सजाति में भिन्न २ व्यक्तियाँ हैं । अतः मुझ जैसे जीव व्यक्तिगत अनेक या अनन्त हैं । देश, काल आदि से जीवों का अनन्त होना इस प्रकार सिद्ध हुआ ।

सांख्यदर्शन मतानुसार जीव अनन्त हैं क्योंकि सत्व, रज और तम गुणों से प्रत्येक जीव की प्रकृति में भिन्नता रहती है । इस भिन्नता से जीव अनन्त हैं और जन्म-मृत्यु आदि की भी भिन्नता से भिन्न हैं ।

जैसे एक सूर्य एक ब्रह्माण्ड का नियन्ता है वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डों के अनन्त सूर्य नियन्ता हैं। ठीक इसी प्रकार जैसे एक जीव एक ज्ञानमण्डल का नियन्ता है वैसे ही अनन्त जीव अनन्त ज्ञान मण्डल के नियन्ता हैं। इसलिए भिन्न २ अनन्त जीव हैं। जीवों के अनन्त व्यवहार होने से जीव अनन्त हैं। एक ही समय में कोई खाता है कोई पीता है और कुछ करता है।

## ७—अन्तर्जगदानन्त्य सिद्धिसूत्र

कहना यह है कि जो यह जगत् मुझको भास रहा है वही भासना जगत् का मूल है। उसी भासने के आधार पर जगत् ठहरा हुआ है। यदि भासना नहीं रहता तो यह जगत् भी निःसंदेह नहीं रहता। मुझको भासता है इसी से हम इसकी सत्ता कायम करते हैं। किन्तु जिस प्रकार इस जगत् का मूल यह भासना है अर्थात् मेरा ज्ञानमण्डल है उसी प्रकार मेरे इस भासने का अर्थात् ज्ञानमण्डल का मूल भी मैं हूँ। इस प्रकार जबकि जगत् का मूल मैं सिद्ध हुआ तो कहना होगा कि यह जगत् भी अनन्त है क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि यह वेत्ता जीव अनन्त है तो प्रत्येक वेत्ता का ज्ञान मण्डल भिन्न-भिन्न होगा और प्रत्येक ज्ञानमण्डल में भासता हुआ जगत् भी भिन्न-भिन्न ही होगा क्योंकि मेरे ज्ञान से जो जगत् भासता है वह कदापि संभव नहीं कि राम के ज्ञानमण्डल से भासता हो क्योंकि हमारे ज्ञान से भासते हुए जगत् में और राम के भासते हुए जगत् में हम कहीं-कहीं प्रत्यक्ष भेद पाते हैं। जबकि मैं सूर्य को उगता हुआ देखता हूं तो ठीक उसी समय मेरे षड्भान्तर पर अर्थात् मुझसे १८० अंश की दूरी पर रहता हुआ राम उसी सूर्य को अस्त होता हुआ देखता है और तीसरे किसी की दृष्टि में मध्याह्न का सूर्य है और चौथे किसी की दृष्टि में और किसी समय का सूर्य है। इसी प्रकार कोई एक मनुष्य को मित्र रूप से देखता है तो दूसरा शत्रु रूप से। कोई वस्तु किसी के लिए आनन्दप्रद है तो वही वस्तु दूसरे के प्रति दुःखदायी है जिसकी आज्ञाकारी संतति और परिवार है, घर में पूर्ण संपत्ति है और शरीर में आरोग्यता है तो उसके लिये इस इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ चारों ओर आनन्दमयी दीखते हैं किन्तु जिसके स्त्री, पुत्र दुःखदायी है और दरिद्री या रोगी है उसके लिये संपूर्ण जगत् दुःखमय प्रतीत होता है इत्यादि अनेक उदाहरण दिये जा हैं जिससे प्रतीत होता है जिस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा भिन्न-भिन्न है उसी ही प्रकार उनके ज्ञानमण्डल भी भिन्न हैं अतः उनके अपने-अपने ज्ञान मण्डल से बने हुए जगत् भी भिन्न है। जब कोई सुप्तावस्था अथवा मूर्च्छा में रहता है तो उसके ज्ञानमण्डल के साथ-साथ उसका जगत् भी अस्त हो जाता है किन्तु उसी समय जागते हुए अन्य जीवों के जगत् भासित होते रहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार जीव अनन्त हैं उसी ही प्रकार उन जीवों से बने हुए जगत् भी अनन्त है।

## ८—अन्तर्जगदानन्त्यसिद्धिसूत्र का सारांश

मेरे ज्ञानमण्डल में जो अन्तर जगत् भासता है उस अन्तर जगत् के भासने का कारण मेरा ज्ञान-मण्डल है और मेरे ज्ञान का कारण 'मैं' हूँ। पूर्व के जीवनन्त्यसिद्धिसूत्र में जीव अनन्त सिद्ध हो चुके हैं तो जीवों के अनन्त होने से अनन्त जीवों के ज्ञानमण्डल भी अनन्त हैं और अनन्त ज्ञानमण्डल होने से उनमें भासने वाले जगत् भी अनन्त होंगे क्योंकि एक जीव के ज्ञानमण्डल के अन्तर जगत् से देश, काल

इत्यादि के भिन्न होने से भिन्न हैं। अन्तर्जगत् के भिन्न-भिन्न होने के और भी प्रमाण है प्रथम एक ही सूर्य को एक ही समय में भिन्न देश के कारण एक जीव ऊगता हुआ, दूसरा जीव अस्त होता हुआ और तीसरा मध्याह्न वाले सूर्य को देखता है। दूसरा-एक ही जगत् किसी को दुःख भरा हुआ और किसी को सुख से परिपूर्ण ज्ञात होता है। तीसरे किसी को एक ही व्यक्ति मित्र और किसी को शत्रु दीखता है। येनकेन-प्रकारेण और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे सिद्ध है कि भिन्न जीवों के भिन्न ज्ञानमण्डल में भिन्न अन्तर्जगत् है अतः यह बात है कि सोते हुए या मूर्छा पाये हुए जीव या व्यक्ति का अन्तर्जगत् उसके ज्ञान-मण्डल के न रहने से नहीं रहता किन्तु उसी समय के जगत् मनुष्यों तथा जीवों का ज्ञानमण्डल रहने से अन्तर्जगत् भी कायम रहता है। बस अब सिद्ध है कि जैसे जीव अनन्त हैं वैसे ही उनके भिन्न-भिन्न ज्ञान-मण्डल के अनुसार अन्तर्जगत् भी अनन्त हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि रात्रि को एक हो चन्द्रमा को १०० या एक हजार मनुष्य एक ही समय में देखें तो उनके भिन्न ज्ञानमण्डल में भिन्न-भिन्न चाँद है। ऐसे एक ही चन्द्रमा अनन्त ज्ञानों में अनन्त सिद्ध हुआ इसी प्रकार एक ही मनुष्य या जगत् अनन्त सिद्ध हुए। जैसे एक ही वस्तु अनन्त काँचों में अनन्त भासती है उसी प्रकार अनन्त जीवों के अनन्त चक्षु रूपी काँचों के द्वारा अनन्त ज्ञानमण्डलों में यह एक ही जगत् एक ही समय में अनन्त होकर भासता है।

## अन्तर्जगतो अहमालम्बनत्व सिद्धिसूत्र

अन्तर जगत् की अनन्तता की सिद्धि में यह आक्षेप है कि यदि यह जगत् ज्ञान का बना होता तो जीवों के ज्ञान के अनन्त होने से ज्ञान के बने हुए जगत् भी अनन्त हो सकते थे किन्तु यदि यह मान लिया जावे कि जगत् के प्रत्येक पदार्थ भातिसिद्ध नहीं हैं केवल सत्तासिद्ध है, तो ऐसी स्थिति में ज्ञान के आधीन वस्तु की सत्ता नहीं प्रत्युत सत्ता के आधीन वस्तु का ज्ञान है। अतः वस्तु की सत्ता स्वतंत्र है। वह ज्ञान के अनन्त होने पर भी अनन्त नहीं हो सकती। एक ही वस्तु को एक ही काल में अनेक जीव देख सकते हैं। इस प्रश्न पर यह उत्तर है कि यह जगत् भले ही सत्तासिद्ध हो किन्तु उससे भातिसिद्ध वस्तु का खण्डन नहीं हो सकता। मानाकि आकाश में चन्द्रमा हमारे ज्ञान से नहीं वह सृष्टि के आदि से स्वतः सिद्ध वस्तु है तथापि जब हम देखते हैं चन्द्रमा का ज्ञान होता है। यह ज्ञान कैसे हुआ यदि इसका विचार किया जावे तो तीन पक्ष की सम्भावना हो सकती है। एक यह कि ज्ञान मेरे अन्दर है, चन्द्रमा आकाश में है दोनों का दोनों से संयोग नहीं हुआ किन्तु प्रकृति का नियम है कि आँख के सामने किसी चीज के रहने पर उसका ज्ञान हो जावे। दूसरा पक्ष यह है कि हमारी ज्ञान की वृत्ति आँख से बाहर निकल कर वस्तु के समीप जाकर उसको स्पर्श करता है और उसी से उसका ज्ञान होता है। तीसरा पक्ष यह है कि वस्तु के शरीर से उस वस्तु के रूप की मात्रा चारों ओर अनन्त निकली हुई रहती हैं किन्तु उसकी भी एक सीमा है उस सीमा के अन्दर यदि आँख हो तो उस पर वस्तु का रूप उसी तरह बैठता है जैसे काँच या जल पर वस्तु का प्रतिबिम्ब। विशेषता यह है कि उस आँख पर ज्ञान पैदा करने वाले कोई स्नायु मस्तक से आकर इस प्रकार जमे हुए हैं कि उनके द्वारा मस्तष्क से चक्षु तक ज्ञान की धारा प्रवाहित रहती है। जिह समय आँख का प्रतिबिम्ब पड़ा उस समय आँख पर बैठा हुआ प्रज्ञाप्राण जिसके द्वारा ज्ञान होता है वह उस वस्तु के रूप में परिणत हो जाता है और उसी रूप में आँख से मस्तक ज्ञान की धारा बहने लगती है। यह ज्ञान का बना हुआ वस्तु का रूप वस्तु के शरीर से आँख पर आये हुए वस्तुरूप से सर्वथा भिन्न है

क्योंकि उस वस्तु के हटने या ढकने पर उस वस्तु का प्रतिबिम्ब वाला रूप भी आँख से हट जाता है किन्तु प्रज्ञाप्राण का बना हुआ ज्ञानमय उस वस्तु का रूप कदापि नहीं हटता और वह मेरे अन्दर बहुत समय तक बना रहता है। इससे विदित हुआ कि ये दोनों रूप भिन्न हैं एक भूतमय है और दूसरा ज्ञानमय। भूतमय में गुरुता है किन्तु ज्ञानमय में गुरुता का लेश भी नहीं। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होने पर भूतमय रूप को हम सत्ता सिद्ध कहेंगे और ज्ञानमय रूप को अवश्य ही भातिसिद्ध कहना पड़ेगा। इन दोनों में सत्तासिद्धि रूप वस्तु से इस प्रकार बंधा हुआ है कि उस वस्तु के आलम्बन को छोड़ कर कदापि दूसरे के आधीन नहीं रह सकता किन्तु ज्ञानमय वस्तु का रूप हमारे साथ हमारे ज्ञान के आधीन रहता है। इसी से कहना पड़ेगा कि मेरे ज्ञान के अन्दर जो रूप भासता है वह उस वस्तु का भौतिक रूप नहीं है किन्तु मेरे ज्ञान का प्रातिभासिक रूप है। इस प्रतिभासिक या प्रात्ययिक रूप को हम अन्तर जगत् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञान के अन्दर ही रहता है, ज्ञान के बाहर उसकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार यह अन्तर्जगत् तो भातिसिद्ध है और ज्ञान का ही बना हुआ सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का अनन्त होने से वह जगत् भी पृथक-पृथक ज्ञान में रहते हुए अनन्त है।

## सारांश

अन्तर्जगत् की अनन्तता सिद्धि पर किसी का आक्षेप है कि यदि यह जगत् ज्ञान से ही बना हुआ होता तो अनन्त ज्ञान होने से अनन्त हो सकता था अर्थात् जगत् भातिसिद्ध नहीं है यह तो केवल सत्तासिद्ध ही है; ऐसी स्थिति में वस्तु-सत्ता ज्ञान के आधीन नहीं प्रत्युत ज्ञान वस्तु सत्ताधीन है और वस्तु सत्ता स्वतन्त्र है वह ज्ञान के अनन्त होने पर भी अनन्त नहीं हो सकती। एक ही वस्तु को अनन्त जीवों का एक ही काल में देखना हो सकता है। यह आक्षेप अन्तर और बहिर्जगत् के भेद को न समझने वालों का है। बाह्य-सत्तासिद्ध जगत् एक ही होकर भी अन्तर-भाति-सिद्ध जगत् तो अवश्य ही अनन्त हैं। मनुष्य और चन्द्रमा में इतना अन्तर होने पर भी वह मनुष्य के ज्ञान का विषय होने से भातिसिद्धि है और अनन्त है। चन्द्रमा के ज्ञान होने की रीति समझने के लिए तीन पक्षों की सम्भावना हो सकती है:—

१—प्रकृति नियमानुसार आँख के सामने वस्तु के आने से ही ज्ञान हो जाता है।

२—मनुष्य के ज्ञान की किरणें आँख से बाहर निकल कर वस्तु के समीप जाकर उसको स्पर्श करती है और उसी से उसका ज्ञान होता है।

यह दोनों मत तो व्यावहारिकों के हैं किन्तु पारमार्थिक वैज्ञानिकों का तीसरा मत यह है:—

३—वस्तु के ऋक् सम्बन्धी साम के अन्दर वस्तु का प्रतिबिम्ब आँख पर वैसे ही गिरता है जैसे काँच या जल पर, अर्थात् वस्तु के रूप का चित्र आँख पर स्थिर हो जाता है किन्तु विशेषता यह है कि आँख चैतन्य है। मस्तक से आँख तक स्नायु के द्वारा ज्ञान की धारा बहती रहती है। और स्नायु में प्रज्ञाप्राण के होने से ज्ञान होता रहता है। आँख पर ठहरा हुआ रूप या प्रतिबिम्ब प्रज्ञाप्राण में अथवा प्रज्ञाप्राण उस रूप में परिणत होकर उस रूप में आँख मस्तक तक ज्ञान-धारा बहने लगती है। किन्तु ज्ञान का बना हुआ रूप उस वस्तु रूप सत्ता से भिन्न है क्योंकि उस वस्तु के परोक्ष में भी ज्ञान का बना हुआ रूप

नष्ट नहीं होता । अतः स्पष्ट सिद्ध है कि ये दोनों रूप भिन्न हैं एक भूतमय और दूसरा ज्ञानयय । भूतमय में गुरुता है ज्ञानमय में लवलेश भी नहीं । अतः भूतमय रूप सत्तासिद्ध है और ज्ञानमय रूप भातिसिद्ध । एक ही जगत् में दो रूप सिद्ध हुए एक बाह्य-भूतमय-सत्तासिद्ध दूसरा अन्तर-ज्ञानमय-भातिसिद्ध । सत्तासिद्ध रूप बाह्य जगत् से बंधा हुआ वहाँ का वहाँ ही रहता है और भाति-सिद्ध रूप ज्ञानाधीन होने से ज्ञान में उस भूत वस्तु से भिन्न है । यह भौतिक नहीं किन्तु मेरे ज्ञान का प्रात्ययिक रूप है और वही प्रात्ययिक रूप अन्तर्जगत् कहलाता है क्योंकि वह ज्ञान में हीं रहता है, ज्ञान से बाहर उसकी सत्ता नहीं । इस प्रकार यह अन्तर्जगत् जो भातिसिद्ध है ज्ञान का ही बना हुआ सिद्ध होता है । ऐसी स्थिति में ज्ञान अनन्त होने से वह जगत् भी पृथक् पृथक् ज्ञान में रहते हुए अनन्त हैं ।

## ९–बहिर्जगत् सिद्धिसूत्र

मैं, मेरा भ्राता, पिता, मित्र, शत्रु इत्यादि भिन्न रूप में हमें भासते हैं । उनमें कितने मर गये कितने मरेंगे तथापि यह विश्व कदापि नष्ट न हुआ न होगा । एक जीव की मृत्यु पर अथवा मोक्ष होने पर संभव है कि उस जीवात्मा का ज्ञान मण्डल पृथक् रूप से न रहे, सर्वथा नष्ट हो जावे तथापि क्या उस ज्ञान के नाश से विश्व का नाश होना संभव है, कदापि नहीं । चैत्र की मृत्यु से मैत्र का अन्तर्जगत् नष्ट नहीं होता इसी प्रकार मैत्र के नष्ट होने पर भी जगत् नष्ट नहीं होता । हम जब गाढ़ निद्रा में सो जाते हैं या मूर्छा में रहते हैं तो अवश्य मेरे साथ ही मेरा संपूर्ण विश्व मण्डल मुझमें लय हो जाता है तथापि यह विश्व बाहर ज्यों का त्यों बना रहता है क्योंकि हम देखते हैं कि जब दूसरा मनुष्य गाढ़ निद्रा में सो जाता है या मूर्छित रहता है तथापि यह जगत् हमें भासता रहता है । इससे जाना गया कि यह विश्व मण्डल हमारे ही ज्ञान कें आधीन नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र है ।

## १–अन्तर्जगद् बहिर्जगतोः पृथकत्व सिद्धिसूत्र

कदाचित् इस पर कोई कह सकता है कि बाहर कोई जगत् स्वतन्त्र रूप से नहीं है केवल जो मनुष्य जाग्रत् अवस्था में है उसी का ज्ञान मण्डल केवल उसी को जगत् दिखा रहा है । जितने जीवात्मा जाग्रत हैं उन्हीं के ज्ञान मण्डलों के आधार पर यह सम्पूर्ण जगत् खड़ा हुआ दिखता है । वास्तव में ज्ञान मण्डल से बाहर स्वतन्त्र रूप से किसी बाह्य जगत् की सत्ता सर्वथा नहीं है तो इस पर हम कहेंगे कि यदि जगत् मेरे ही ज्ञान के आधार पर है और मेरे ही ज्ञान का बना हुआ है तो कोई भी जीवात्मा किसी दुःख दारिद्रय के कारण किसी स्थिति में भी विवश न होता, अपने ही ज्ञान से सुख-साम्राज्य की समृद्धि स्वेच्छा रूप से पाता, स्थानान्तर में न जाकर सभी स्थानों को इच्छानुसार अपने ज्ञान से कल्पना कर लेता । परन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान करने पर भी जो, जहाँ, जैसा हम चाहते हैं वैसा नहीं होता । मेरी इच्छा के विरूद्ध कहीं मुझको भय देने वाली वस्तु दीखती है और वह मेरी इच्छानुसार नहीं हटती । अतः जाना जाता है कि मेरे ज्ञान से बाहर कोई न कोई वस्तु स्वतन्त्र रूप से अवश्य है कि जिसकी सत्ता के अधीन मेरे ज्ञान की सत्ता है । जहाँ, जो, जैसी वस्तु है नियम से उसी स्थान पर वैसा ही मेरा ज्ञान उत्पन्न होता है । मेरे ज्ञान उत्पन्न होने का कारण स्वतंत्र रूप से बाहर है उसी को हम बहिर्जगत् कहते हैं। यद्यपि वह बहिर्जगत् मेरे

ज्ञान में नहीं आता इसीलिए हम उसको बहिर्जगत् कहते हैं, तथापि यदि वह न होता तो एक ही स्थान पर बीस मनुष्यों को ही एक रूप में एक वस्तु का ज्ञान नहीं होता। प्रत्येक के ज्ञान मण्डल भिन्न होने के कारण स्वतन्त्र रूप से भिन्न कुछ का कुछ दीखता। किन्तु एक ही रूप में सबको दिखने के कारण किसी परोक्ष वस्तु का होना अनुमान से पाया जाता है और उसी के अधीन मेरा ज्ञान मण्डल है जिसको हम देखते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जगत् दो प्रकार का है–१–जो मेरे ज्ञान में भासता है, यह सब पदार्थ मेरे ही ज्ञान के अन्दर हैं और मेरे ही ज्ञान का बना हुआ है–२–किन्तु दूसरा एक जगत् मेरे ज्ञान के बाहर है और स्वतन्त्र सत्ता रखता है और वही मेरे ज्ञान वाले अन्तर्जगत् का कारण भी, यही जगत् बहिर्जगत् कहलाता है।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार बहिर्जगत् की आवश्यकता होने पर इस सम्पूर्ण जगत् को केवल बहिर्जगत् ही क्यों न मान लिया जाय—अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् कह कर दो प्रकार का जगत् क्यों माना जाता है क्योंकि सम्भव है कि हमारी ज्ञान इन्द्रिय बहिर्जगत् से स्पर्श करके ज्ञान पैदा करता हो जिस प्रकार सूर्य या दीपक अपने प्रकाश से उन्हीं वस्तुओं को प्रकाशित करता है जो कि प्रकाश के आने पहले भी वहां विद्यमान थे। जो वस्तु विद्यमान ही नहीं वह प्रकाशित नहीं होती। इससे ज्ञात हुआ कि वस्तु की सत्ता प्रकाश आधीन नहीं है, स्वतन्त्र है। ठीक इसी प्रकार हमारा ज्ञान भी एक प्रकार से है उसके अधीन किसी वस्तु की सत्ता नहीं। प्रत्युत स्वतन्त्र रूप से वस्तु की सत्ता रहने पर ज्ञान से प्रकाशित होती है जैसे सूर्य का प्रकाश हाथी, घोड़ा नहीं बनता किन्तु वर्तमान हाथी, घोड़े को दिखा देता है वैसे ही ज्ञान भी हाथी, घोड़ा न बनकर विद्यमान हाथी घोड़े को दिखला देता है। ऐसी स्थिति में किसी अन्तर्जगत् का होना पाया नहीं जाता केवल ज्ञान के बाहर रहने वाली वस्तुओं का ज्ञान से संसर्ग हो जाना ही उस वस्तु का ज्ञान कहलाता है अतः सिद्ध हुआ कि केवल बहिर्जगत् ही सब वस्तु है। अन्तर्जगत् कोई वस्तु नहीं।

इस आक्षेप का उत्तर हम इस प्रकार देवेंगे—जो उदाहरण सूर्य या दीपक के प्रकाश का दिया गया है वहाँ भी दो प्रकार पदार्थ हैं—एक वह हाथी जो बहुत भारी बाहरी किसी प्रदेश में खड़ा रहता है उसका प्रकाश होना मानों हमारी दृष्टि में आना है परन्तु क्या आप विचार सकते है कि वह भारी हाथी आपकी आँख पर सवार हो गया? कदापि नहीं। वह अपने स्थान को किञ्चित् मात्र भी नहीं छोड़ता केवल उस हाथी के बाहरी चर्म के ऊपर जितने परमाणु हैं जिस रंग के हैं उन परमाणुओं का संसर्ग करके सूर्य का प्रकाश उसी रंग में रंग कर वहाँ से उलटा निकलता हुआ (Reflected) आँख पर आता है, उसी से आँख पर उन्हीं किरणों कि एक प्रकार हाथी की सूरत बन जाती है जिसको कि हाथी आँख पर आना कहते हैं। यह आँख का हाथी अवश्य ही उस बाहरी हाथी से भिन्न है। इस प्रकार जैसे सूर्य के प्रकाश में दो हाथी की सिद्धि हुई उसी प्रकार ज्ञान प्रकाश में भी दो हाथी मानना उचित है। इस कारण यह है कि जब हम हाथी को देखते हैं तब एक ही हाथी हम अपने शरीर से बाहर किसी जगह देखते हैं किन्तु मान लीजिये कि वह हाथी वहाँ से कहीं चला गया तो उस दशा में भी मेरी आँखों के सामने यदि मैं कल्पना करूँ तो उसी प्रकार का हाथी दीखेगा जिसको कि हम या आप कल्पित मानेंगे। इस कल्पित से तात्पर्य यह है कि वह आपके ज्ञान का बना हुआ है। इस कल्पित हाथी और

प्रत्यक्ष हाथी में अब कुछ सम्बन्ध नहीं है, दोनों ही स्वतन्त्र हैं। उस प्रत्यक्ष हाथी से जिसको हम बहिर्जगत् कहते हैं इस कल्पित हाथी जिसको हम अन्तर्जगत् कहते हैं भिन्न मानना पड़ेगा क्योंकि यह हमारे ज्ञान के अन्दर है। इस प्रकार बहिर्जगत् के साथ-साथ अन्तर्जगत भी मानना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जिस वस्तु की बाह्य सत्ता इस समय सर्वथा नहीं है ऐसी भूत-वस्तु या भविष्य वस्तु या कितनी ही विचारणीय वस्तुयें जिनका कोई व्यक्ति विशेष नहीं है ये सब कल्पना अच्छी तरह विचारे जा सकते हैं कल्पना में एक प्रकार का उनका स्वरूप बनकर ज्ञान की मर्यादा बनती रहती है। उन स्वरूपों को कदापि कोई भी बहिर्जगत् नहीं कह सकता। बिना बहिर्जगत् के केवल अन्तर्जगत् की ही वहाँ सत्ता सिद्ध होती है अतः बहिर्जगत् के अतिरिक्त अन्तर्जगत् की भी सत्ता मानना आवश्यक है। अथवा यों कहिये कि जितने आप बहिर्जगत् कह रहे हैं वे वास्तव में सब अन्तर्जगत् हैं क्योंकि बहिर्जगत् के पदार्थ जबकि ज्ञान के बाहर हैं तो ज्ञान से उनका व्यवहार हो ही नहीं सकता; केवल अन्तर्जगत् के कारण कह कर कल्पना किये जा सकते हैं किन्तु जिनका मुझको ज्ञान है वे सब स्वरूप मेरे ज्ञान के अन्दर हैं। सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों का हमको ज्ञान है अतः वे सब हमारे ज्ञान के अन्दर हैं इसीलिये वे सब अन्तर्जगत् हैं। आप यदि अपनी एक आँख की पुतली को अँगुली से जरा टेढ़ी करके देखें तो आपको दोनों आँखों की गति भिन्न होने के कारण एक हाथी की जगह दो हाथी दीखेंगे। उन दोनों हाथियों में से बायाँ हाथी बांई आँख के बन्द करने से और दाहिना हाथी दाहिनी आँख के बन्द करने से लोप हो जाता है। उस जगह यदि उन दोनों हाथियों में से एक भी हाथी अपनी सच्ची सत्ता से स्वतन्त्र होता तो हमारे हजार बार आँख बन्द करने से भी अदृश्य नहीं होता। इससे जाना गया कि उन दोनों कि सत्ता मेरे ज्ञानाधीन है। अतः उनको हम अन्तर्जगत् कहते हैं। इस प्रकार अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् इन दोनों की पृथक-पृथक सत्ता सिद्ध होती है।

## ११—ज्ञानोपपादन सिद्धिसूत्र

इस प्रकार अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् इन दोनों की उत्पत्ति पृथक-पृथक बताई गई किन्तु ये दोनों इसलिये भी आवश्यक होते हैं कि बिना इन दोनों के किसी ज्ञान का स्वरूप सिद्ध नही होता, इन दोनों के संयोग से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है और वह इस प्रकार है—

मैं जो जीवात्म हूँ वह अनन्त शक्तियों का एक घन है अर्थात् इस जगत् में जितनी शक्तियाँ काम करती है पृथ्वी, आकाश के आवरण में हर कहीं भी जिन शक्तियों से इस जगत् का चक्र चल रहा है उन सब शक्तियों का एक-एक बिन्दु एकत्र करके यदि कोई स्वरूप बने तो वही मेरी आत्मा है और वही मैं हूँ किन्तु उसमें सभी शक्तियां हर समय काम नहीं करती, कितनी ही उनमें दबी हुई है ( सर्वथा ) जो समय-समय पर बाह्य समग्री की उत्तेजना पर कार्य करने लगती है किन्तु कितनी ही शक्तियाँ उसमें सर्वथा उभरी हुई रहती हैं उन उभरी हुई शक्तियों ही को हम इन्द्रियां कहते हैं यह इन्द्रियां मेरी आत्मा की भिन्न शक्तियां हैं जो आत्मा के अतिरिक्त नहीं रहती और न आत्मा से पृथक् होती हैं वे सब इन्द्रियां मिल जुल कर एक आत्मा का स्वरूप बनता है। इस इन्द्रिय पर जो कि आत्मा का एक भाग है बाहर

के किसी पदार्थ का सूर्य आदि प्रकाश के द्वारा योग होने पर उस बाहरी पदार्थ का और इस इन्द्रिय का कुछ कुछ अंश आपस में मिलकर दोनों के विकार से एक नई चीज बन जाती है उसी को रूप, रस, गन्ध आदि का ज्ञान कहते हैं। इन दोनों में रूप, रस आदि का जो भिन्न भाव मिलता है वह बाह्य पदार्थों का अंश है और जो उनका प्रकाश हमारी आत्मा में कुछ मालूम होता है वही इन्द्रिय का अंश है। इन दोनों में से यदि एक भी हटा दिया जाय तो किसी भी ज्ञान का कोई भी स्वरूप कदापि नहीं बनेगा।

हम देखते हैं कि तेल में कोई भी दोष होने से दीपक की ज्योति फीकी और धुंधली हो जाती है ठीक इसी प्रकार बाह्य पदार्थ में यदि अन्धकार, सूक्ष्मता आदि कोई दोष मिला हुआ रहे तो उसके संसर्ग से उत्पन्न हुआ ज्ञान फीका और धुंधला होता है अतः उसको संशय या भ्रम कहा करते हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि इस ज्ञान में कुछ बाह्य पदार्थों का अंश भी सम्मिलित होता है इसी कारण हमारा ज्ञान जो मेरी आत्मा में होता है उसमें भी वैठे हुए भासते हैं मेरे ज्ञान के भीतर रहने पर भी जो उन वस्तुओं में बाह्यपन हमें भासता है वह बाहर से पदार्थ का अंश आने के कारण से ही होता है। यदि बहिर्जगत् नहीं होता तो बाह्य पदार्थों का अंश कोई भी ज्ञान में सम्मिलित नहीं होता। उस समय मेरा ज्ञान मेरी ही आत्मा के आधार पर होना माना जायगा तो ऐसी स्थिति में हमारे ज्ञान के अन्दर प्रतीत हुई चीजों का जो बाह्य किसी देश काल से सम्बन्ध मालूम होता है वह निर्मूल हो जाता है अतः हमारे इस ज्ञान में अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों की आवश्यकता स्पष्ट है।

इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति की व्यवस्था मानी जाती है किन्तु इसमें बहुतों की विप्रतिपत्ति है। वे कहते हैं कि किसी ज्ञान में भी बाहर के पदार्थ का कुछ भी अंश सम्मिलित नहीं होता क्योंकि ऐसा होने से जहाँ पर एक वस्तु को सहस्रों प्राणी देखते हैं तहाँ उन सहस्रों ज्ञानों में उस वस्तु के सम्मिलित होने से वह वस्तु अवश्य ही कुछ न्यून हो जाती किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि वह बाह्य वस्तु मेरी इन्द्रियों पर केवल आघात करता है उसी से मेरी इन्द्रियों का स्वरूप बदल जाता है उसी को हम ज्ञान कहते हैं। जिस प्रकार जल में वायु के आघात से लहरें उत्पन्न हो जाती हैं किन्तु वे लहरें केवल जल ही का विकार है उसमें वायु का अंश सम्मिलित नहीं होता इसी प्रकार यह भी जानो। जो काला-पीला रंग हमारे ज्ञान में भासता है वह वस्तु का अंश नहीं बल्कि मेरा ज्ञान ही उस रंग में बदल गया है अतः कहना होगा कि केवल इन्द्रियों के विकार होते हुए सभी ज्ञान मेरे आत्मा ही का विकार है किन्तु फिर भी मेरे ज्ञान में भासती हुई चीजों में जो बाह्य प्रदेश का सम्बन्ध पाया जाता है उसमें बाहर के पदार्थ का अंश सम्मिलित होना कारण नहीं है किन्तु बाहर से आते हुए वस्तुओं का जो आघात पहुंचता है उसमें समीपता और दूरी के कारण कुछ विशेषता आ जाती है उसी से ऐसा बाह्यपन का प्रतीत होना इन्द्रियों का स्वभाव है।

इसी तरह भ्रम या संशय होने में बाह्य वस्तुओं के अंश का दोष कारण बताया गया है किन्तु वास्तव में वह आघात का दोष है। यदि इन्द्रियों की धरातल पर पूर्ण रीति से आघात पहुंचे तो इन्द्रिय का परिणाम पूर्ण रीति से होगा और ज्ञान भी स्वच्छ होगा किन्तु आघात में कमी होने से परिणाम ठीक न होकर ज्ञान अधूरा रह जाता है।

इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति की दो व्यवस्था हैं-एक में हमारी इन्द्रिय के अंश के साथ बाह्य वस्तु के अंश का मिल कर ज्ञान होना कहा गया है। और दूसरे मत में बाह्य वस्तु के कुछ भी अंश न मिल कर केवल उनके आघात मात्र से इन्द्रिय के अंश का विकार होना ही ज्ञान का होना कहा गया है। यद्यपि इस मत में ज्ञान होने में बाह्य वस्तु के कुछ अंश की भी आवश्यकता नहीं होती है तो भी केवल आघात पहुंचाने ही के लिए बाह्य वस्तु की सत्ता माननी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि चाहे कोई मत हो, सब मतों से ज्ञान की उत्पत्ति में बाहर की वस्तु की सत्ता और आत्मा की सत्ता इन दोनों की आवश्यकता है। इस प्रत्येक ज्ञान से बहिर्जगत् की सत्ता सिद्ध होती है।

प्रत्येक ज्ञान का विषय तीन प्रकार का है—१. मौलिक, २. माण्डलिक, ३. प्रात्ययिक। मौलिक, जगह रोकने वाला और भौतिक है। किन्तु उसी मौलिक के चारों ओर उसी के समान आकृति वाले ऋक् मण्डल रूप की कोई अदृष्ट प्रतिकृति ( image ) दूर तक फैली हुई है जो आँख पर आने से काच के समान प्रतिबिम्बत होती है वही माण्डलिक है यह भी भौतिक है किन्तु स्थान नहीं रोकता अतः इसको प्राणमय कहते हैं। यह मौलिक से लेकर आँख तक रहता है किन्तु आँख से मस्तक तक एक तीसरा मनोमय विषय पैदा होता है उसको प्रात्ययिक या मानस कहते हैं मौलिक एक है किन्तु प्राणमय और मनोमय रूप अनन्त हैं। मनोमय का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से और भूतमय और प्राणमय का बहिर्जगत् से है।

यदि बाहर कोई वस्तु नहीं रहती है तो मेरे चाहने पर भी किसी वस्तु की सत्ता बाहर नहीं होने पाती इससे ज्ञात हुआ कि बाह्य सत्ता मेरे ज्ञानाधीन नहीं है। इस लिए कोई स्वतन्त्र बहिर्जगत् मानना आवश्यक हुआ बाहर किसी वस्तु के रहने पर जिस प्रकार मुझको उस स्थान पर उसका ज्ञान होता है उसी प्रकार जगत् के प्रत्येक मनुष्य को उस वस्तु का ज्ञान उसी स्थान पर हुआ करता है। इसलिए भी बहिर्जगत् की स्वतन्त्र सत्ता माननी पड़ती है और उसी के आधीन ही मेरे ज्ञान का होना पाया जाता है। इतना होने पर भी हम कह सकते हैं कि जो वस्तु बहिर्जगत् के रूप में बाहर है वही मेरे ज्ञान के अन्दर भी भासता है यह बात कदापि नहीं है क्योंकि इस ज्ञान के अन्दर वाले पदार्थ में लेश मात्र भी गुरुता नहीं है और बाहर में है, इससे सिद्ध हुआ कि बहिर्जगत् के साथ हमारी आत्मा का इन्द्रियों के द्वारा संयोग होने पर उसी वस्तु के रूप में हमारी आत्मा का परिणाम होता है और वही परिणाम चिरकाल तक मेरी आत्मा में स्थिर रहता है उसी को हम अन्तर्जगत् कहते हैं। इस प्रकार अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् अवश्य ही पृथक् पृथक् मानने पड़ते हैं।

यहाँ एक बात और भी जान लेना आवश्यक है कि बहिर्जगत् का पदार्थ सूर्य किरणों द्वारा हमारी आत्मा के ज्ञान धरातल में आकर जितना आघात करता है उतने ही अंश का ज्ञान होता है। इन्द्रिय रूप के उस ज्ञान धरातल पर जो अंश नहीं आता है अथवा आकर हट जाता है उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इस ज्ञान धरातल पर उसका आघात जैसा होता है ठीक उसका चिन्ह उस आत्मा के ज्ञान पर बन जाता है वह संस्कार ( अतिशयाधान, बनावट ) कहलाता है और उसी के द्वारा पश्चात स्मरण हुआ करता है। आघात अधिक होने से अधिक से अधिक ज्ञान होता है तात्पर्य यह है कि स्पर्श के तारम्य से ज्ञान उत्पन्न होने में भी तारतम्य हुआ करता है।

यहाँ पर कितने ही आक्षेप किया करते हैं कि यह आत्मा या ज्ञान कमल पत्रवत् निर्लेप हैं और असंग हैं अतः बाह्य वस्तुओं का आत्मा या ज्ञान पर आकर आघात करना और आघात से चिन्ह होना दोनों असत्य हैं। किन्तु इस पर हम कहेंगे कि आत्मा या ज्ञान अवश्य ही निर्लेप या असङ्ग है किन्तु इसका यह है कि जिस प्रकार जल और वायु मरकर एक नई वस्तु फेन पैदा होता है उसी प्रकार यह ज्ञान किसी के साथ इस प्रकार मिले कि मर कर नई वस्तु पैदा करे ऐसा सङ्ग उसमें नहीं होता। किन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं। कि हर्ष, शोक होने का प्रभाव हमारे ज्ञान पर पड़ता है और ज्ञान संकुचित और विकसित होता है और इस संकोच, विकास का कारण बाह्य वस्तु का संयोग ही कहा जाता है तो हम अवश्य कहेंगे कि बाहर की वस्तु का आघात आत्मा या ज्ञान पर अवश्य पड़ता है किन्तु वह बाह्य वस्तु उस आत्मा के स्वरूप के अन्दर घुस नहीं जाता। इतने इतने ही से उसको निर्लेप या असङ्ग कह सकेंगे।

एक बात और जानना चाहिये कि इस आत्मा या ज्ञान पर बाह्य वस्तु का आघात आत्मा के अंशों को व्याप्त करके नहीं होता किन्तु किसी न किसी प्रदेश में संयोग होकर उतने ही ज्ञान के अंश में उस वस्तु का ज्ञान प्रकट होता है यद्यपि आत्मा प्रकाश को ही हम ज्ञान कहते हैं इसलिये आत्मा ज्ञानमय है किन्तु यहाँ ज्ञान से अभिप्राय अर्थ-ज्ञान से है। जबकि आत्मा किसी वस्तु के रूप में परिणत होता है तो उसी को वस्तु ज्ञान कहते हैं। अतः आत्मा के जितने अंश से किसी वस्तु का प्रकाश हो रहा है वही भाग ज्ञान है। इसके अतिरिक्त जितने आत्मा के अंश शेष हैं वे उस समय किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं करा रहे हैं। इसलिये उस अवस्था को हम अज्ञान कहेंगे।

प्रत्येक वस्तु के ज्ञान के समय आत्मा का बहुत अल्प अंश वस्तु के रूप में परिणत होकर ज्ञान का रूप धारण करता है और शेष अधिक अंश अज्ञान के रूप में रहता है अतः प्रत्येक समय ज्ञान का अंश चारों ओर अधिक अज्ञान के अंश से घिरा रहता है इस कारण यह जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं कहलाता और अज्ञान की मात्रा अधिक रहने के कारण दुःख और भय की मात्रा जीवात्मा में अधिक रहा करती है अतः गीता में भगवान् ने कहा है:—

**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**

यह बहुत ठीक है क्योंकि यह मेरी आत्मा जो इस शरीर में इन्द्र है वह अपने इन्द्रियवर्गों के द्वारा ही अर्थवर्ग का स्पर्श करती है। बिना इन्द्रियों के किसी अर्थ से साक्षात् सम्बन्ध नहीं करता। किन्तु ये इन्द्रियाँ सभी सब अर्थों को स्पर्श करने की क्षमता या योग्यता नहीं रखती। इसलिये किसी विशेष इन्द्रिय से भी ज्ञान करते समय किसी विषय का ज्ञान आत्मा को होता है किन्तु उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का ज्ञान उस समय नहीं होता इसी से यह आत्मा अल्पज्ञ कहा जाता है। परन्तु इसकी यह ज्ञान योग्यता अभ्यास से बढ़ाई जा सकती है। यदि विद्या के द्वारा अथवा योगाभ्यास आदि तपश्चर्या के द्वारा उस आत्मा की शक्ति बढ़ाई जावे तो शनैः शनैः बढ़कर संभव है कि अनेक जन्म के पश्चात् यह जीव सर्वज्ञ होकर ईश्वर हो जाय। अतः गीता में कहा है:—

**बहुनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**
**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।**

एक बात और जाननी चाहिये कि इस जगत् की बाह्य कामनाओं का त्याग करता हुआ यदि कोई अपनी ही आत्मा की कामना रखता हुआ अन्तर्मुख वृत्ति करे तो वह जिस प्रकार बाह्य पदार्थों को जान लेता था उसी प्रकार अब वह अपनी आत्मा को अन्तर दृष्टि से देखता हुआ जान लेता है। यदि यह ज्ञान उसको पूर्ण हो जावे तो वह केवल आत्मज्ञान से संपूर्ण जगत् का ज्ञानी हो जाता है क्योंकि ऊपर कहा जा चुका है कि जगत की संपूर्ण शक्तियों का घन मेरी आत्मा है अतः आत्मा का ज्ञान ही संपूर्ण जगत् का जानना है और यही जानना सर्वज्ञ ईश्वर का लक्षण है, अतः जो योगिराज बाह्य कामनाओं को त्याग कर आत्मा की कामना करते हैं उनको अन्त में संपूर्ण जगत् की प्राप्ति अपने आप हो जाती है और अन्तर और बाह्य जगत् एक हो जाता है किन्तु जब तक जीवात्मा और ईश्वर का भेद है तब तक दोनों जगत् अवश्य पृथक-पृथक रहते हैं

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।। १ ।।**

( कठोपनिषद्– २।१ )

## ज्ञानोत्पादनसूत्र का सारांश

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् मनुष्य ज्ञान के प्रधान कारण हैं, इनमें जैसे बहिर्जगत् अन्तर्जगत् का कारण है वैसे ही अन्तर्जगत ज्ञान उत्पन्न करने का कारण है। देखिये—अनन्तशक्तियों के घन या समूह का नाम जीव या 'मै' हूँ अथवा जीवात्मा या अहम् अनन्तशक्ति–सम्पन्न हैं। इन शक्तियों में से कितनी ही उद्भूत और कितनी ही तिरोहित रूप में रहती है। तिरोहित का उत्तेजना पर विकास होता है किन्तु कितनी ही सदा जन्म से मृत्यु तक उद्भूत रहती हैं। ये उद्भूत शक्तियाँ तीन हैं – १ ज्ञान शक्ति, २ क्रियाशक्ति, ३ अर्थ या द्रव्यशक्ति। मूल ज्ञानशक्ति से पञ्च ज्ञानशक्ति शाखाएं हुई जो ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। ऐसे ही मूल क्रिया-शक्ति से पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और अर्थशक्ति से सब शरीर स्थित हुआ, जीवात्मा की उद्भूत शक्तियों में से ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ही बहिर्जगत् के द्वार हैं विचारिये कि जगत् के पञ्च महाभूतों की सूक्ष्म मात्राओं रूप, रस, गन्धादि का सूर्य वायु आदि के द्वारा जब ज्ञानेन्द्रिय पर योग होता है तब इन दोनों के अंश से एक नई विकारी वस्तु पैदा हो जाती है इसी का नाम रूप-रसादि का ज्ञान होना कहते हैं। इस ज्ञान में रूप, रसादि की भिन्नता तो बाह्य भौतिक वस्तु है और इस भिन्नता का भास कराने वाला प्रातिभासिक इन्द्रियज्ञान है। इस भौतिक भिन्न भाव का अंश और प्रातिभासिक इन्द्रिय अंश दोनों अंशो के योग से ही किसी ज्ञान का स्वरूप संभव है। एक के अभाव से ज्ञान का स्वरूप संभव नहीं। देखिये कि इस बाह्य और अन्तर के योग से ज्ञान का स्वरूप पैदा करने में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बाह्य पदार्थ सूक्ष्म या तम से आच्छादित होने के दोष से अस्पष्ट भान होता है। ऐसे ही इन्द्रिय ज्ञान में भी दोष होने से बहिर पदार्थ का स्पष्ट भान नहीं होता। इसी से इस अस्पष्ट भासने को ही संशय या भ्रम कहते हैं। यह भ्रम कदापि नहीं होता यदि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध न होता। ज्ञान में अन्दर और बाहर का भेद मालूम होने से स्पष्ट विदित है कि अन्तर और बाह्य जगत् का अंश ज्ञान में बाहर से अवश्य आया है जिससे कि यह भेद मालूम हुआ करता है बाह्यपन बाहर से और अन्तरपन अन्दर से उत्पन्न होकर बाह्य और अन्तर का भेद बताते हैं। यदि ऐसा न होता तो ज्ञान के ही आधार पर रह

कर बाहरी-भीतरी वस्तु का जो देश, काल से भेद सम्बन्ध प्रतीत होता है वह निर्मूल हो जाता। अतः हमारे इस ज्ञान में अर्थात् ज्ञान का स्वरूप उत्पन्न कराने में अन्तर और बाह्य उभय जगत की पूरी-पूरी आवश्यकता निःसंदेह प्रतीत होती है।

ज्ञानोत्पत्ति के विषय में २ मत हैं—१ वस्तुओं का अंश ज्ञान में सम्मिलित होता है ( यह मत पहले कहा जा चुका है ) २ अंशों के मिलने से वस्तु मात्रा कम हो जानी चाहिए थी किन्तु ऐसा नहीं होता। ज्ञानोत्पत्ति का वास्तविक कारण बाह्य वस्तुओं के प्रतिफल का इन्द्रियों पर आघात होना ही है। वस्तुओं की समीपता, दूरी, सूक्ष्मता, विशालता आदि का भिन्न २ रूप से आघात पड़ने से ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु के विशेष आघात से उसका विशेष प्रकार का ज्ञान होता है। आघात में कमी होने से परिणाम ठीक नहीं होता। बाह्य वस्तु के अभाव पर आघात का होना संभव नहीं अतः इस आघात से बाह्य जगत् पूर्णरीति से सिद्ध होता है।

प्रत्येक ज्ञान का विषय ३ प्रकार का है:—१ मौलिक अर्थात् जगह रोकने वाला भौतिक है, २ माण्डलिक मौलिक की प्रतिकृति जो ऋक्-मण्डल रूप में है यह माण्डलिक है परन्तु यह भौतिक अवश्य है पर जगह नहीं रोकता केवल प्राणमय है। यह रूप मौलिक से लेकर आँख तक रहता है, ३ प्रात्य-यिक या मानसिक यह विषय आँख से लेकर मस्तक तक रहता है।

इन में मौलिक तो एक ही है किन्तु शेष दोनों रूप अनन्त रहते हैं। इनमें केवल मनोमय का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से है और भूतमय और प्राणमय का बहिर्जगत् से है।

बाह्य वस्तु मेरे चाहने पर उपस्थित नहीं होती। जिस बाह्य वस्तु को जिस स्थान पर मैं देखता हूं उसी स्थान पर दूसरे भी उसको वैसी ही देखते हैं अतः बाह्य वस्तुसत्ता स्वतन्त्र है। वह मेरे ज्ञान के आधीन नहीं बलिक मेरा ज्ञान उसके आधीन है। बाह्य वस्तु आत्मप्रकाश के सामने आती है तब यह आत्मप्रकाश ज्ञान कहलाता है और जब कोई बाह्य वस्तु सामने ही नहीं आती तो यह आत्मप्रकाश प्रकाश होते हुए भी किसी वस्तु का रूप न धारण करने से अज्ञान कहलाता है ज्ञान के स्वरूप के लिए बाह्य जगत् की आवश्यकता है किन्तु ज्ञान का आधार होने पर भी ज्ञान में स्वयं नहीं घुसता। बहि-र्जगत् के केवल रूपमात्र में आत्मा का परिणाम ही ज्ञान कहलाता है। यह रूप आत्मा में चिरकाल तक रहता है। आत्मा में बाह्यजगत् के रूप के परिणाम का ज्ञान ही अन्तर्जगत् कहलाता है। बाह्यजगत् वस्तुतः साक्षात् है किन्तु अन्तर्जगत् आत्मधरातल पर बाह्यजगत् का केवल चित्रमात्र है। बाह्यजगत् भूतमात्र और अन्तर्जगत् ज्ञानमय है। जगत् जैसा है वैसा ज्ञान के बाहर भूतरूप और वही चित्ररूप से ज्ञान के अन्दर है। अन्तर्जगत् का मनोमय व्यापार है वह बाह्यजगत् के न रहने पर भी उसके चित्ररूपों के साथ क्रीड़ा किया करता है। इस तरह भूतमय बाह्यजगत और ज्ञानमय अन्तर्जगत् सिद्ध हुए।

अन्तर्जगत् के विषय में निम्न विषय स्मरणीय हैं:—

आत्मा का एक ही मूल स्तम्भ पाँच भिन्न २ शाखाओं में विभक्त है। इनको ही इन्द्रियाँ कहते हैं। आत्मा के ये पाँचों धरातल हैं किन्तु प्रत्येक का विशेष कार्य पृथक् २ नियत है। रूप का आँख, शब्द का कान इत्यादि हैं। बाह्यजगत् का पदार्थ जितना सूर्य किरणों से ज्ञान धरातल पर आता है

उतने ही का ज्ञान होता है विशेष का नहीं। ज्ञान धरातल पर उसके आधार से जो चिह्न होता है उसको संस्कार कहते हैं इसके द्वारा पीछे स्मरण हुआ करता है। आघात की न्यूनाधिकता पर ज्ञानोत्पन्न होने की न्यूनाधिकता निर्भर है। आघात के तारतम्य से ज्ञानोत्पन्न होने में तारतम्य हो जाता है।

कोई कहे कि कमलपत्रवत् ज्ञान पर जगत् का कोई प्रभाव नहीं होता तो यहाँ पर यही कहना है कि वायु और जल के मर जाने से फेन होता है वैसा ज्ञान के विषय में नहीं है। बाह्य वस्तु ज्ञान में न मिल कर केवल उसका आघात मात्र है अतः बाह्यवस्तु से यह निर्लेप है।

ज्ञानोत्पत्ति के विषय में एक बात और है कि ज्ञान के सकल प्रदेश में ज्ञान एक ही समय में नहीं होता। कुछ अंश ज्ञान का एक समय में ज्ञान कराता है वही ज्ञान कहलाता है शेष अज्ञान है अतः गीता में कहा है:—

**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्वः।**

क्योंकि मेरी आत्मा इन्द्ररूप है यह अपने इन्द्रियवर्गों द्वारा अर्थवर्गों का स्पर्श करती है किन्तु ये इन्द्रियां अपना पृथक् २ कार्य करती हैं। एक इन्द्रिय से ज्ञान होते समय दूसरा ज्ञान उस समय नहीं होता इसी से आत्मा अल्पज्ञ कहलाती है।

किन्तु विद्या और तपस्या के अभ्यास से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। विद्या और तपस्या से अन्तर्दर्शी या आत्मदर्शी होकर सर्वज्ञ ईश्वरतुल्य हो सकता है। इसी आशय को लेकर गीता में कहा है:–

**बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**

अथवा

**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्।**

अन्तर्मुख वृत्ति से अपनी आत्मा को अन्तर्दृष्टि से देखने से सम्पूर्ण जगत् को देखने की योग्यता हो जाती है। आत्मा में जगत् की सब शक्तियाँ विद्यमान् होने से आत्मदर्शी सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है और सकल जगत् को जान लेता है। सर्वज्ञ ईश्वर का यही लक्षण है। बाह्य और अन्तर जगत् का भेद दूर हो जाता है क्योंकि इन्द्रियों से तो अल्पज्ञान ही होता है किन्तु आत्मज्ञान से सर्व-जगत् का ज्ञान हो जाता है क्योंकि सर्व जगत् आत्मा में विद्यमान रहता है। जीवात्मा में अन्तर और बहिर्जगत् का भेद रहता है और आत्मदर्शी होने पर यह भेद दूर हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा की कक्षा में हो जाता है।

**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।**
**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥**

(कठोपनिषद् २।१)

## ईश्वर सिद्धिसूत्र

जो कुछ मेरे ज्ञान का प्रकाश है उसका मूलकेन्द्र मान कर 'अहम्' अर्थात् जीवात्मा की सिद्धि हुई। उसी जीवात्मा के विकास को ज्ञान कहते हैं और उसी ज्ञान के धरातल पर स्थित जो कुछ हमें

भासता है उसी को जगत् कहते हैं। किन्तु इस जगत् के निर्माण करने में हमारी आत्मा अथवा हमारे ज्ञान को हम स्वतन्त्र नहीं पाते हैं अतः एक दूसरा जगत् और मानना पड़ता है। इन दोनों में एक को अन्तर्जगत् और दूसरे को बाह्यजगत् या बहिर्जगत् कहना होगा। जो जगत् मेरे ज्ञान के धरातल पर बैठा रहता है उस ही को **अन्तर्जगत्** कहते हैं। किन्तु जो जगत् ज्ञान पर चढ़ा हुआ नहीं है जीव के ज्ञान के धरातल से बाहर है उसको **बहिर्जगत्** कहते हैं। किन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान के धरातल पर है उसी प्रकार इस ज्ञान के बाहर वाला वह बहिर्जगत् किस धरातल पर है। क्योंकि यह निश्चित हो चुका है कि हमारा अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान में से ही बनकर ज्ञान में ही रहता है और ज्ञान ही में लीन हो जाता है। तो इसी प्रकार वह बहिर्जगत भी एक जगत् है वह भी किसी ज्ञान से उत्पन्न होकर उस ही ज्ञान में रहता होगा और उसी में उसका लय होगा ऐसा ज्ञान किसी जीवात्मा का नहीं हो सकता क्योंकि एक जीवात्मा के ज्ञान से उत्पन्न हुए जगत् को दूसरे जीवात्मा का ज्ञान कदापि सहयोग नहीं करता अतः उसके संयोग से अपने में जगत् नहीं बना सकता किन्तु बहिर्जगत् के साथ संपूर्ण जीवात्माओं का ज्ञान संयोग करके उसी सांचे में ढ़ाल कर अपने में जगत् बनाते हुए दिखाई पड़ते हैं अतः अवश्य ही यह बहिर्जगत् किसी ऐसे ज्ञान के आधार पर विचार किया जा सकता है जो ज्ञान किसी जीवात्मा का नहीं है।

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि इस बहिर्जगत् के लिए किसी ज्ञान के धरातल होने की आवश्यकता ही क्यों मानी जाती है, क्यों नहीं वह स्वतन्त्र रूप से मान लिया जाता ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि हमारा ज्ञान अथवा अनन्त जीवों का ज्ञान ही यह सब कुछ है उन ज्ञानों के अतिरिक्त कौनसा स्थान खाली रह गया है कि जिसमें बहिर्जगत् का रहना माना जावे क्योंकि कोई भी जगत् यदि ज्ञान से बाहर नहीं दीखता तो बहिर्जगत् को बिना ज्ञान के आश्रय पाये स्वतन्त्र रूप से कहीं मान लेना असमंजस ( गड़बड़ ) होगा। क्योंकि इस संपूर्ण जगत् को हम गम्भीर दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञान और ज्ञान के बने हुए जगत् दोनों के अतिरिक्त कहीं भी कुछ नहीं भासता। जबकि यह यही दोनों संपूर्ण विश्व मण्डल हैं तो कहना होगा कि सम्पूर्ण जगत् ज्ञानमण्डल में है और ज्ञानमण्डल ही विश्वमण्डल है। ऐसी स्थिति में इस ज्ञान के जगत् तथा ज्ञान मण्डल के अतिरिक्त उस बहिर्जगत् के लिये कोई स्थान ही खाली नहीं रह जाता कि जिस पर बहिर्जगत् की सत्ता मानी जावै। स्वतन्त्र रूप से जगत् की सत्ता हमारे ज्ञान वाले जगत् की यदि नहीं है तो उसी दृष्टान्त से उस बहिर्जगत् की भी स्वतंत्र सत्ता नहीमान सकते हैं ऐसी स्थिति में एक ऐसा विशाल ज्ञानमण्डल मानना उचित होगा कि जिस ज्ञानमण्डल के धरातल में यह संपूर्ण बहिर्जगत् प्रतिष्ठित है और उसी ज्ञान से उत्पन्न होकर उसी ज्ञान में लीन भी हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हमारे अन्तर्जगत् का हमारे ज्ञान से सम्बन्ध है उसी प्रकार उन सब बहिर्जगतों का उस एक विशाल मण्डल से सम्बन्ध है इस प्रकार जबकि एक महाव्यापक ज्ञानमण्डल सिद्ध हुआ तो उसका भी कोई केन्द्र होगा उसी को हम ईश्वर करते हैं। अथवा जिस प्रकार हमारा ज्ञान हमारी आत्मा का विशाल है अतः सम्पूर्ण ज्ञानमण्डल ही हम हैं इसी प्रकार वह विशाल ज्ञानमण्डल भी उस ईश्वर का ही विकास होगा अतः व सम्पूर्ण एक विशाल ज्ञानमण्डल ही परमेश्वर है।

जबकि सम्पूर्ण जीवों के भिन्न ज्ञानमण्डल उसी विशाल ज्ञानमण्डल के पदार्थों का संयोग करके अपन जगत् बनाया करते हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि सभी जीवों के सब ही ज्ञानमण्डल उस ही विशाल ज्ञानमण्डल के भीतर व्यष्टि रूप से विद्यमान हैं तो इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार ईश्वर में सम्पूर्ण वहिर्जगत् है उसी प्रकार सब जीवों के ज्ञानमण्डल भी हैं, उससे बाहर और कहीं कुछ भी नहीं हैं। और न वहाँ भीतर-वाहर का कुछ भेद है क्योंकि जीवों का ज्ञानमण्डल परिमित होने के कारण सीमाबद्ध है अतः उसको बाहर कहाँ जा सकता है किन्तु इस विशाल ज्ञानमण्डल की कोई भी सीमा निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं होती अतः वह असीम है इसलिए उससे बाहर कुछ भी कहा नहीं जा सकता तो सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ एक ही ईश्वर का रूप है।

## उदाहरण:

जब हम इस जगत् की ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें चारों ओर तारामण्डल से भरा हुआ एक आकाशमण्डल दीखता है बस वहीं तक हमारी दृष्टि पहुँचती है उतने ही मण्डल को हम जगत् कह कर देख रहे हैं। किन्तु हमारी अन्तरात्मा इस विषय की साक्षी दे रही है कि इतना ही नहीं अपितु जितने तारों से घिरा हुआ जगत् मण्डल हमारे ज्ञान में भासता है उससे भी आगे, ऊपर-नीचे चारों ओर अनन्त प्रदेश या अनन्त लोक और भी होवेंगे। यह कदापि सम्भव नहीं जितना हम देख रहे हैं या जहाँ तक हमारे ज्ञान की पहुँच है उतना ही बड़ा यह जगत् है। इस प्रकार अपने ज्ञान के बाहर जो जगत् का विस्तार बाँधा जाता है अथवा अनन्त सीमा तक माना जाता है यह ज्ञान हमारे जीव के ज्ञान के अन्दर विस्तृत ईश्वरीय ज्ञान का अंश है। ईश्वरी ज्ञान होने के कारण यद्यपि उस बाह्य जगत् के रूप को हमारी आत्मा व ज्ञान स्पष्ट नहीं पकड़ता तथापि वह ईश्वरी ज्ञान हमारे ज्ञान अन्दर है इसी कारण उस बाह्य जगत् की झलक पूर्ण विश्वास को धारे हुये सत्यरूपेण हमारे ज्ञान में है।

आकाश में कितने ही तारे अथवा ग्रह चलते हुए और कितने ही सैकड़ों वर्षों से एक स्थान में दृष्टिगोचर हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी माता के गर्भ में जब उत्पन्न होता है तब सब के आँख, कान, नाँक, मुख, हाथ, पाँव आदि प्रत्येक अंग यथा स्थान अपने आप उत्पन्न होते हैं उनमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। तेज की लौ ऊपर को और पानी सर्वदा नीचे को अपनी दिशा बनाते हैं इन सब में इन सब क्रियाओं के लिये एक प्रकार का सत्य इन सब में स्थित प्रतीत होता है वही सब का नियन्ता है और नियमानुसार वही प्रत्येक वस्तु को अपने अपने कार्य पर नियुक्त करता है। यही सत्य जो प्रत्येक वस्तु में भिन्न रूप से कार्य करता हुआ सर्वत्र व्यापक प्रतीत होता है वही सत्य ईश्वर का रूप है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण जगत् में जहाँ जो कार्य होता है वह सब एक नियति के अनुसार ही होता हुआ दीखता है। यह नियति अकृत्रिम नियम है इस नियति को ही सत्य कहते हैं और वही परमेश्वर का रूप है।

जीव जिस समय जाग्रत अवस्था में रहता है उस समय बहुत कुछ चेष्टा करता है किन्तु ये उसकी चेष्टायें इच्छानुसार होती हैं अर्थात् प्रथम मन में जैसा विचार आता है वैसे ही प्राण में यत्न होता है और तदनुसार शरीर में क्रिया होती है। इससे जाना गया कि उसकी सब क्रियायें उसके ज्ञानाधीन हैं और उसीके अनुसार हैं किन्तु जब मनुष्य सुप्तावस्था में रहता है उस समय उसके शरीर

जो २ चेष्टा होती है इसका क्या मूल कारण है क्योंकि वे उसकी इच्छानुसार नहीं हैं। जाग्रत् अवस्था में भी कितनी ही क्रियायें ऐसी हैं जो जीव की इच्छा के आधीन नहीं हैं जैसे हृदय का स्फुरण होना, खून का बहना, नाड़ियों का पकड़ना, भोजन का रस बनना और फिर मल विभाग होना इत्यादि २। इन सब का सम्बन्ध जीव के ज्ञान से नहीं है और जितना जीव में ज्ञान होता है वह भी एक प्रकार के शरीर में स्नायु-यन्त्र द्वारा होता रहता है जिसको मनुष्य ज्ञान होने पर अनुभव करता है। किन्तु वह ज्ञान कैसे होता है इन सब विषयों के जानने में जीव असमर्थ है। जबकि जीव के शरीर में ही अनन्त क्रियायें ऐसी हैं जिनके जानने में न जीव की इच्छा है और न जीव उसका प्रयास ही करता है, न जीव को उसका ज्ञान ही है किन्तु उन क्रियाओं के द्वारा ही उसकी जीवन सत्ता है और सम्पूर्ण ज्ञान या चेष्टा है और उनकी चेष्टाओं के आधीन जीव का जन्म और मृत्यु है, तो ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि जिस क्रिया के आधीन जीव की सत्ता है और जीव की इच्छा या यत्न के बिना ही जीव के शरीर में हुआ करती है वह क्रिया किसकी इच्छा से उत्पन्न होती रहती है क्योंकि जीव के ज्ञान के अन्दर होने वाली क्रियाओं को जीव की इच्छा के आधीन होते हुए देखते हैं अतः यह अनुमान बांधा जाता है कि वह दूसरी क्रिया जो जीव की इच्छा के आधीन नहीं है वह भी किसी की इच्छा के आधीन अवश्य होगी। बस वह इच्छा जिसकी हो सकती है वही ईश्वर है और वह ईश्वर का अंश जो हमारे शरीर के यन्त्र को चला रहा है वह हमारे ही शरीर के अन्दर रहता है और वही हमारा कर्त्ता, हर्त्ता विधाता है और वही हमारा आराध्य देव है उन्हीं की हम सेवा या प्रार्थना करते हैं, उसी के आधीन हम हैं। इसी अभिप्राय को लेकर गीता का वचन हैः—

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**
**भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥**

(अ० १८ श्लोक ६१)

अर्थात्-हे अर्जुन सब प्राणियों के हृदय प्रदेश में ईश्वर निवास करता है। अपनी माया से वह सब प्राणियों को माया से जगत् रूपी यन्त्र पर चढ़ा कर घुमाता है।

सभी प्राणियों के जन्म काल से लेकर अन्त तक प्रायः कितनी ही बातों में ऐसा ज्ञान देखने में आता है जो शिक्षा से सम्बन्ध नहीं रखता जैसे जानवरों के नये बच्चों को प्यास लगने पर पानी की ओर को झुकना और उस पानी से अपनी तृषा निवृत्ति का ज्ञान होना, कौआ और घूघू तथा भैंस और घोड़ा इन जीवों में परस्पर बिना किसी व्यवहार के भी वैर भाव का ज्ञान होना अथवा किसी ढेले या अस्त्र-शस्त्र के आते ही उससे हटने का यत्न करना इत्यादि २। इस प्रकार के सभी ज्ञान जीव के अपने विचार से उत्पन्न नहीं होते किन्तु इस शरीर के अन्दर जो ईश्वरीय कला है उसी से ये सम्बन्ध रखते हैं अतः ये स्वभावसिद्ध धर्म कहे जाते हैं।

प्राचीन काल में मनुष्य गङ्गा तथा हिमालय को देखते थे उसी स्थान पर आज हम भी इनको देखते हैं। पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में जो जीवात्मा है सो अपना ज्ञानमण्डल भिन्न-भिन्न बनाता है। किसी जीव के ज्ञानमण्डल से अन्य जीव के ज्ञानमण्डल का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं होने

पाता। प्रत्येक का ज्ञानमण्डल स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करता है किन्तु इन हिमालय-गङ्गा आदि पदार्थों के ज्ञान में बिना किसी शिक्षा के भी एक ही स्थान पर सब का ज्ञान सामान्य रूप से हो जाता है इसका क्या कारण है। यदि यह ज्ञान किसी जीव के विचार से होता तो अवश्य सम्भव है कि जीवों के विचार में अंतर होने के कारण इनकी दृष्टि सब के ज्ञान में एक स्थान पर न होती। इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार के ज्ञान हमारे अन्दर ईश्वरी कला से सम्बन्ध रखते हैं जो ईश्वरी कला प्रत्येक जीवों के शरीर में एक रूप से वर्त्तमान रहती है तदनुसार प्रत्येक जीव में एक सा ही ज्ञान का उदय होता है।

जबकि हम कह चुके हैं कि प्रत्येक जीव का ज्ञानमण्डल भिन्न है तो प्रत्येक ज्ञानमण्डल में प्रत्येक इन्द्रिय से बना हुआ अन्तर्जगत् भी अवश्य ही भिन्न होगा। तात्पर्य यह है कि जहां हम एक हाथी को देख रहे हैं उस हाथी का अन्तर्जगत् वाला रूप देखने वाले १०० मनुष्यों के भिन्न १०० ज्ञान मण्डलों में भिन्न १०० हैं उनमें से कोई भी हाथी का रूप दूसरे हाथी के रूप से दिक् देश, काल, द्रव्य, संख्या सभी विषयों में भिन्न हैं तथापि वे हाथी के रूप भिन्न २ न दीख कर बाहर किसी एक ही स्थान में १०० या अधिक मनुष्य उस एक हाथी को एक ही रूप से देखते हैं और अपने देखे हुए हाथी को दूसरे के देखे हुए हाथी से तुलना करते हुए सर्वथा एक ही हाथी होने का विश्वास रखते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न हाथियों में एक ही हाथी का ज्ञान जो प्रत्येक जीव में एक रूप से रहता हुआ ईश्वरी कला के कारण से है उनमें जो भिन्नता प्रतीत होती है वह जीवों के निज के ज्ञान से सम्बन्ध रखती है किन्तु जो एकता है वह ईश्वरीय ज्ञान से सम्बन्ध रखती है।

जब हम किसी बाह्य चीज को देखते हैं उस समय मेरी आत्मा बहिर्जगत् से सम्बन्ध करती है किन्तु मेरी आत्मा जिस प्रकार मन, प्राण और वाक् इन तीनों तत्त्वों से बनी है उसी प्रकार बहिर्जगत् भी इन तीन तत्वों से बना हुआ है अतः जब उन दोनों का सहयोग होता है उस समय आत्मा के तीनों तत्त्व बहिर्जगत् के तीनों तत्वों से सजातीय क्रम होकर इस प्रकार से मिल जाते हैं कि उन दोनों के भिन्न मन मिलकर एक मन, भिन्न प्राण मिल कर एक प्राण और दोनों वाक् की एक वाक् हो जाती है तात्पर्य यह है कि आत्मा और बहिर्जगत् दोनों परस्पर मिलकर एक मन, प्राण, वाक् का पदार्थ बन जाता है। अतः जो ईश्वर के मन, प्राण और वाक् से बना हुआ बहिर्जगत् है उसके साथ जीव के मन, प्राण और वाक् के मिलने से उस वस्तु की जीव के ज्ञान से पृथक्ता जाती रहती है। अतः वह बहिर्जगत् जीव के ज्ञान रूप में परिणत होकर जीव के ज्ञान के अभिन्न रूप में एक अन्तर्जगत् बन जाता है जिसको कि जीव अपने ज्ञान के अन्दर की वस्तु को समझने लगता है।

जब हम घट को देखते हैं तो सर्वप्रथम उस घट का रूप अर्थात् उसका आकार जिसको हम वस्तु-सीमा कह सकते हैं दिखाई देता है। तत्पश्चात् उस आकार के भीतर उस आकार को भरने वाले कितने ही द्रव्यगुण दीखते हैं और इन दोनों पर जमी हुई वस्तु की सत्ता अलग दीखती है बस इन तीन के सिवाय और कुछ नहीं है। इन पृथक् पृथक् होने पर भी जिस किसी गूढ़तत्व के द्वारा एकता की प्रतीति होकर हमें एक वस्तु का ज्ञान होता है वह तत्त्व हमारे ज्ञान में मिश्रित ईश्वरीय ज्ञान का भाग है। उस जगह सत्ता की बुद्धि घट की उपलब्धि अर्थात् घट के ज्ञान से अलग नहीं है। तात्पर्य यह है कि घटसत्ता

का ज्ञान ही घट का ज्ञान है । अथवा घट का ज्ञान होना ही घट की सत्ता है और उस घटरूप या रूप के भीतर वाले द्रव्य गुण मेरे ज्ञान के बाहर होने पर भी सर्वदा स्थिर रहते हैं हमारे ज्ञानाधीन नहीं हैं । अतः उन रूपों को रूप के अन्दर वाले द्रव्यगुणों को और वस्तुसत्ता को व इन तीनों को मिलाने वाले एक तत्त्व को हम ईश्वरीय महाज्ञान कह सकते हैं ।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि जो तेल पानी के आकार में था कितने ही उनके गुण पानी के समान थे किन्तु वह दीपक जलते समय अकस्मात् भिन्न रूप में परिणत हो जाता है अर्थात् उसमें ऊपर उठने की शक्ति, जलाने की शक्ति, श्वेत या स्वर्णमय रंगत आदि कितने ही धर्म उसमें अकस्मात् ऐसे आ जाते हैं जिनका वहां भी प्रादुर्भाव न था । यदि ईश्वर न माना जावे तो यह शक्तियाँ कहाँ से आकर अकस्मात् उपस्थित हो जाती हैं इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त कठिन होगा, तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण अनन्तानन्त शक्तियों का घन सर्वव्यापक रूप से सर्वत्र कोई अवश्य प्रतीत होता है उस ही खान में से जहाँ चाहें उस स्थान पर सब प्रकार की शक्तियाँ मिल जाया करती हैं और पश्चात् वे सब उसी घनशक्ति में लय होती रहती हैं । इसी सर्वशक्ति घन को हम विश्वमूर्ति परमेश्वर कहते हैं ।

## नास्तिक प्रश्नों का उत्तर

नास्तिकों ने संशयोपनिषद् में ईश्वर खण्डन करते हुए जो प्रश्न किये थे उनका यहाँ सम्भव तब होता यदि ईश्वर भी मनुष्यों के अनुसार ही रचना करता किन्तु जीवों का किया हुआ वस्तुरचना का प्रकार और ईश्वर की रचना का प्रकार भिन्न-भिन्न हैं प्रत्युत यों कहना चाहिये कि जिस प्रकार मनुष्य वस्तु की रचना करता है वह प्रकार भी जगत् का ढंग है जिसको जगत् की रचना करने वाले परमेश्वर ने एक असाधारण व्यवस्था के साथ नियत किया है किन्तु ईश्वर का किया हुआ रचना का प्रकार सर्वथा निराला है अतः उस पर यह प्रश्न करना कि परमेश्वर ने किस स्थान पर बैठ कर किस सामग्री को लेकर कैसी चेष्टा करके और किस कामना से इस जगत् को कैसे रचा है इत्यादि प्रश्न सर्वथा व्यर्थ हैं, क्योंकि ये सब ढंग शरीर धारियों के और परतन्त्रों के हैं परन्तु ईश्वर जो किसी के परतन्त्र नहीं हैं शरीरधारी नहीं हैं जो सर्वव्यापक है स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा मात्र से अनहोनी को होनी कर सकता है उसके उसके लिये न किसी सामग्री की अपेक्षा है और न किसी स्थान की । जब हम परमेश्वर के स्वरूप को ही मनुष्य के समान नहीं देखते हैं तो मनुष्य के समान क्रिया करने का आक्षेप उस पर कैसे कर सकते हैं ।

दूसरा प्रश्न यह है कि परमेश्वर विज्ञानरूप हैं या विज्ञान वाला है ? इसका उत्तर यह है कि यदि हम मानलें कि वह विज्ञानस्वरूप ही है तथापि उस पर जड़ होने का आक्षेप नहीं हो सकता । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं रखता । जो स्वयं प्रकाशित नहीं हैं वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता । इसी प्रकार यदि विज्ञान जड़ हो तो उससे दूसरे का प्रकाश नहीं हो सकेगा, अतः मानना होगा कि वह स्वतः प्रकाश है और उसी विज्ञान-घन को हम ईश्वर कह सकते हैं और यह कहते भी हम नहीं रुकते कि विज्ञान रूप होता हुआ परमेश्वर विज्ञानवान् भी है । तात्पर्य यह है कि हमारा परमेश्वर आनन्द, विज्ञान और सत्ता इन तीनों का घन है, उसमें यद्यपि ये तीनों धर्मरूप से विद्यमान हैं तथापि उसका घन-धर्मी कहा जा सकता है । जिस प्रकार वृक्षों को ही हम वन कह सकते हैं और मनुष्यों को ही सेना कहते हैं तथापि यह कहने में भी हमको संकोच नहीं है कि वन में वृक्ष हैं और सेना में मनुष्य हैं, जिस प्रकार वृक्षमाला वन है और मनुष्य वाली सेना है उसी प्रकार विज्ञान वाला ईश्वर है ।

अथवा यदि हम परमेश्वर को जड़ भी कहें तो कुछ हानि नहीं है क्योंकि इस जगत् में जितने विरुद्ध धर्म हैं कोई भी परमेश्वर से भिन्न चीज नहीं है। जड़ हो या चेतन, काला या श्वेत, छोटा या बड़ा तात्पर्य यह है कि जो कुछ जगत् का रूप है सब परमेश्वर है। अतः इस परमेश्वर के ऊपर किसी विषय होने न होने का कोई भी प्रश्न लागू नहीं हो सकता।

सम्पूर्ण जगत् जो कुछ भासित है परमेश्वर रूप है वह सम्पूर्ण शक्तियों का घन है एक है और अविनाशी है। कपड़े में जिस प्रकार रुई की सत्ता है वर्फ में जिस प्रकार जल की सत्ता है उसी प्रकार इस जगत् में परमेश्वर की सत्ता है।

परमेश्वर का इस जगत् के साथ षड्विकल्प सम्बन्ध है अर्थात् परमेश्वर से इस जगत् का मिलाव ६ प्रकार का है:—

१—जगत् में ईश्वर है।

२—ईश्वर में जगत् है।

३—ईश्वर ही जगत् है या जगत् ही ईश्वर है।

४—जगत् से भिन्न ईश्वर या ईश्वर से ही भिन्न जगत् है।

५—ईश्वर से भिन्न जगत् है किन्तु जगत् से भिन्न ईश्वर नहीं है।

६—असली ईश्वर में प्रातिभासिक रूप से जगत् भासता है।

## ईश्वरसिद्धिसूत्र का सारांश

१—जो ब्रह्माण्ड हमारी आँख से पकड़ा जाता है उसके अतिरिक्त कई अन्य ब्रह्माण्ड जिनकी गणना नहीं हो सकती उनको जब हमारा ज्ञान निश्चयात्मक बुद्धि से अनुमान करता है तो इस अनन्तता अथवा असीमता का ज्ञान में भान होना ईश्वरीय ज्ञान को हमारे ज्ञान में सिद्ध करता है क्योंकि अल्पज्ञ मनुष्य के ज्ञान में अनन्तता या असीमता का विश्वास होना सर्वज्ञता की झलक को प्रदर्शित कर रहा है।

२—समस्त विश्व के कार्य ऐसे नियमों से सदा संचालित रहते हैं कि उनमें कुछ भी कदाचित किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। जैसे जो ग्रह चलते हैं तो नियमबद्ध चलते ही रहते हैं और जो ग्रह जिस नियम से अचल हैं तो अचल ही रहते हैं कभी नियमभंग नहीं करते। माता के गर्भ में प्रत्येक जीव के नियमानुसार सब, अङ्ग, हाथ, पाँव, आँख, नाँक इत्यादि-इत्यादि सदा बनते रहते हैं। पानी सर्वदा नीचे को और अग्नि की लौ सदा ऊपर को नियमानुसार चलते रहते हैं। ऐसे ऐसे उदाहरण अनन्त हैं कि जिनमें नियमबद्ध सब कार्य होते रहते हैं। ये नियम सदा अचल, अमिट, अटल, सर्वत्र व्यापक एक ही रूप को धारण किए हुए संसार को चलाते रहते हैं। इन नियमों में कभी कोई भूल नहीं होती। इन नियमों की अचूक और निरन्तर दृढ़ता से इनका सत्यरूप प्रकट होता है। इन नियमों की सत्यता ही ईश्वर का रूप है। यही सब नियमों में सत्यरूप से विराजमान होकर सब क्रियाओं का नियन्ता हो रहा है समस्त विश्व को ऐसे अटल नियमों के

साथ चलाने वाला जो सत्यरूप है और जो कभी असत्यता किंचित्मात्र भी नहीं दिखाता वही सत्यरूप ईश्वर का रूप है। ये विश्वव्यापक नियम सर्वव्यापी सत्यस्वरूप ईश्वर को प्रकट कर रहे हैं।

३—मनुष्य में मानसिक, वाचिक और कायिक व्यवहार करने वाली शक्ति को जीव आत्मा कहते हैं। इन मानसिक, वाचिक और कायिक व्यवहारों को चलाने के निमित्त मनुष्य शरीर में एक बड़ा यन्त्रालय है जिस पर मनुष्य का कोई भी आधिपत्य नहीं है। इस यन्त्र की अद्‌भुत और विलक्षण क्रियाओं को संचालित करने वाली जो ज्ञानरूप शक्ति है वही ईश्वर है। मनुष्य शरीर के यन्त्र की समग्र कौशल कलाओं का यथार्थ प्रेरणा करने वाला केन्द्र जो हृदय प्रदेश में स्थित हुआ विराजमान है उसी को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर ही जीवात्मा का आधार है। यह ईश्वर शरीर यन्त्रों को इस प्रकार चला रहा है कि जिसके द्वारा जीवात्मा स्थिर रह रहा है। इस प्रकार मनुष्य जीवन का ईश्वर हेतु है अतः हमारा कर्त्ता, हर्त्ता विधाता होने के कारण हमारा आराध्य देव है उसी की हम सेवा, प्रार्थना करते हैं और उसी के अधीन हैं। इस अभिप्राय को लेते हुए गीता का वचन है:—

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**
**भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया॥**

( गी० अ० १८ श्लोक ६१ )

ईश्वर जिस प्रकार मनुष्य शरीर का आधार होकर शरीर के हृदय केन्द्र में स्थित है वैसे ही सब प्राणियों का आधारभूत है।

४—सकल प्राणियों के जीवन भर में कितने ही ज्ञान ऐसे हैं कि जिनका शिक्षा से सम्बन्ध नहीं है जैसे—जन्मते हुए बच्चों का पानी या दूध से तृषानिवृत्ति का ज्ञान होना, कौवे और घूघू में जन्म से ही वैर भाव रहना, अस्त्र शस्त्र से हटने की क्रिया करने का ज्ञान होना। ये सब ज्ञान जीवों के विचार से उत्पन्न नहीं होते ये सब जो ईश्वर की कला शरीर में है उससे सम्बन्ध रखते हैं अतः ये सब ईश्वरोक्त हैं।

## १३—जीव और ईश्वर का साधर्म्यवैधर्म्य सूत्र

१—सबसे प्रथम आत्मा के दो भेद जानने चाहिये—१ व्यष्टि और २ समष्टि। अनेक भेदों को व्यष्टि कहते हैं और उन सब को मिला कर यदि एक बुद्धि की जावे तो उसको समष्टि कहेंगे। एक समष्टि में अनन्त व्यष्टियाँ होती हैं। यदि आत्मा की किसी समष्टि में अनन्त व्यष्टियों को हम देखें तो वे ही जीव होवेंगे और उन सब जीवों को यदि समष्टि रूप से देखें तो उसी को ईश्वर कहेंगे।

२—जिस प्रकार एक ही सूर्य के अनन्त स्थानों में अनन्त प्रतिबिम्ब हुआ करते हैं और उन प्रतिबिम्बों का मूलस्वरूप बिम्बवान् सूर्य एक होता है उसी प्रकार किसी एक बड़ी आत्मा के अनन्त प्रतिबिम्ब हो गये हैं उन्हीं को जीव कहते हैं और उन प्रतिबिम्बों का बिम्बी एक मूल आत्मा है उसी को ईश्वर कहते हैं।

३—जिस महाज्ञान का नाम ईश्वर है उसको 'ओम्' शब्द से और जिन अनन्त ज्ञानों को जीव कहते हैं उनका 'अहम्' शब्द से व्यवहार होता है।

४—जो जहाँ कुछ हम देखते हैं स्थूल पुद्गल हमें दृष्टिगोचर होता है। इन पुद्गलों को शरीर कहते हैं। ये छोटे-बड़े अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उन सब को भिन्न-भिन्न शरीर कहेंगे। कितने ही शरीर कितने ही शरीरों से बनते हैं। जिस प्रकार मनुष्य का एक शरीर है ऐसे कई शरीरों से एक सेना का शरीर बनता है और कई शरीरों से एक जाति का शरीर बनता है और कई जातियों के शरीरों से एक जमात या ग्राम बनता है। तात्पर्य यह है कि कितने पुद्गलों को हम एक दृष्टि से देखें, वे एक वस्तु होने के कारण एक शरीर हो जाते हैं। इस प्रकार जितने इस जगत् में छोटे-बड़े शरीर है सब के अन्दर उस शरीर के चेष्टा करने का कोई शक्ति केन्द्र रहता है उसी शक्ति केन्द्र को उस शरीर की आत्मा कहते हैं। इस प्रकार छोटे-बड़े जितने शरीर है उनकी आत्मा को अर्थात् उनके प्रत्येक शक्ति केन्द्रों को हम जीव कहते हैं किन्तु यह सम्पूर्ण महा विशाल जो जगत् अनादि काल से वर्तमान है जिसका शरीर अनन्त पुद्गलों से बना हुआ है उसको चलाने वाला भी अनन्तानन्त शक्ति वाला अवश्य ही कोई शक्ति केन्द्र हो सकता है, वही ईश्वर है इसमें विशेषता यह है कि जीवों का शरीर परिमत होने के कारण उसका शक्ति केन्द्र एक नियत स्थान में आ जाता है, किन्तु जो असीम अनन्तरूप से जगत् को शरीर बनाता है उसकी आत्मा कोई नियत शक्ति केन्द्र न रख कर प्रत्येक बिन्दु को अपना शरीर बनाये रहती है इसी से परमेश्वर के प्रत्येक स्थान में हृदय, मस्तक, पाँव, आँख, कान, आदि माने जा सकते हैं अतः महर्षियों ने उसका स्वरूप कहा है:—

**सर्वतः पाणि पादम् तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।**
**सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥**

अर्थात् यह सब हाथ-पैर वाला, सब तरफ आँख मस्तक और मुख वाला और सब तरफ कान वाला होकर सब को ढक कर ठहरा हुआ है।

५—ज्ञान के स्वरूप में और जगत् की कल्पना करने में ईश्वर और जीव दोनों बराबर धर्म रखते हैं अर्थात् जिस प्रकार जीव को हमने ज्ञान रूप में देखा है उसी प्रकार ईश्वर भी महा ज्ञान का घन है। यद्यपि जीव ज्ञान का एक छोटा घन है किन्तु ईश्वर अनन्त अपरिमित और सम्पूर्ण ज्ञानों का भण्डार है। इतना अन्तर होने पर भी ज्ञान स्वरूप होने में कुछ भी भेद नहीं है इसी प्रकार दोनों ही अपना-अपना जगत् भी रखते हैं। जिस प्रकार जीव का ज्ञानमण्डल अन्तर्जगत् से सर्वदा व्याप्त रहता है और अपने ही ज्ञान की सामग्री से नया-नया अन्तर्जगत् बनाया करता है और उस अन्तर्जगत् को अपने ही में रखता हुआ अपने ही में लय कर लेता है। इसी प्रकार ईश्वर

भी अपने ज्ञानमण्डल में सर्वदा बहिर्जगत् को बनाकर अपने में रखता है और अपने ही में लय करता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों बातों में जीव की और ईश्वर की समानता देखी जाती है किन्तु इन दोनों में बड़ा भारी अन्तर यह है कि जीव सर्वदा अपनी स्थिति के लिये किसी कोष की आवश्यकता रखता है किन्तु ईश्वर को किसी कोष की आवश्यकता नहीं। जीव के कोष इस प्रकार है—१ इन्द्रियवर्ग, २ अर्थवर्ग, ३ मन और ४ बुद्धि। इन ४ तहों के अन्दर 'अहम्' की मात्रा विहार करती है। इस प्रकार जीव चतुष्कोष के बिना कदापि नहीं रहता। हमारा जीवात्मा ज्ञानमय है। ज्ञान का विकास इन्द्रियों द्वारा होता है। हम देखते हैं कि किसी इन्द्रिय के द्वारा जो कुछ अनुभव होता है वह भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका अभिमान एक ही आत्मा अर्थात् मुझको होता है। देखती आँख है, सुनता कान है इन दोनों के कार्य में दूसरे का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तथापि हम अभिमान करते हैं कि मैंने देखा, मैंने सुना अतः निश्चित है कि देखने का फल या सुनने का फल दोनों एक ही केन्द्र में जाकर उसी का अंश बनते हैं वही मेरी आत्मा है। यह तब ही हो सकता है कि यदि सभी इन्द्रियों का उसी एक केन्द्र से सम्बन्ध माना जावे यह उस केन्द्ररूप आत्मा का सबसे बाहरी कोश है किन्तु इसके अन्दर दूसरा अर्थ कोश है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये ५ ही भूतमात्रा है। ये पाँचों ही थोड़े बहुत अत्यन्त सूक्ष्म बीज रूप से आत्मा में वर्तमान रहते हैं। जिस आत्मा में कदाचित् इनका कोई अंश न रहे या किसी आघात से पश्चात नष्ट हो जावे तो उस मात्रा का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा सिद्ध नहीं होता। कितने ही मनुष्य को लाल रंग बिल्कुल नहीं दीखता और किसी को किसी रंग का बोध नहीं होता तो यह रूपमात्रा के न होने के कारण से है। किसी के सिर में चोट लगने के कारण प्राचीन ज्ञान का कुछ भी स्मरण नहीं रहता अतः जाना गया है कि इन्द्रियों के द्वारा जो रूप हमारे चक्षु में आते हैं वह इन्द्रिय के अन्दर वाले स्थायी रूप से संसर्ग करते हैं तब आत्मा के केन्द्र में पहुँच सकते हैं। यदि यह कोश न होता तो उस व्यक्ति को भी बाहर से रूप देखने पर उस रूप का ज्ञान आत्मा को अवश्य हो जाता। अतः इन्द्रिय कोश के भीतर अर्थकोश का मानना आवश्यक हुआ। अब इस कोश के भीतर मनकोश की सत्ता है क्योंकि यदि मन किसी दूसरी ओर लगा हुआ रहे तो आँख के सामने आती हुई वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता इससे जाना गया कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान मन में पहुँच कर आत्मा में पहुँचता है, मन यदि न पहुँचे तो आत्मा के केन्द्र में न वह पहुँचने पाता है और न आत्मा को उसका ज्ञान होता है किन्तु मन, इन्द्रिय अर्थ को पकड़ कर अपना कार्य आरम्भ करता है अतः मन का तीसरा कोश है। इसके भी अन्दर बुद्धिकोश है क्योंकि हम देखते हैं कि एक ही बात १० मनुष्यों को सुनाई जाती है, गुरु का उपदेश एक ही भाव से एक ही रूप से होता है किन्तु उससे भिन्न-भिन्न मनुष्यों को भिन्न-भिन्न रूप से ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका कारण उन सब में बुद्धि का भेद है। जो अधिक बुद्धिमान होता है उसका मन शीघ्रता से यथार्थ अर्थ को ग्रहण करता है और स्थूल बुद्धि के मनुष्य का मन अधिकतर प्रयत्न करने पर भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में भी समर्थ नहीं होता। अतः जाना जाता है कि यह मन बुद्धि के आधार पर चलता है और उसी के अनुसार आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करता है। बुद्धि एक प्रकार का ज्ञान है और आत्मा भी ज्ञान स्वरूप है अतः इन्द्रिय में बुद्धि तक जो जितना

आत्मा के समीप आता जाता है उसमें प्रकाश की मात्रा बढ़ती जाती है। बुद्धि आत्मा के अत्यन्त समीप है इन दोनों के भीतर किसी दूसरे का व्यवधान (रोक) नहीं है अतः दोनों के स्वरूप एक ही प्रकार से हैं अर्थात् ज्ञानमय है। इनमें अन्तर इतना है कि बुद्धि नाम का ज्ञान सर्वदा विषयक है अर्थात् किसी विषय को पकड़े हुए ज्ञान का स्वरूप धारण करता है किन्तु आत्मा ज्ञान विशुद्ध निर्विषयक है वह जिस बुद्धि की ओर होता है उसी बुद्धि का विषय आत्मा का विषय बन जाताहै। बुद्धि हमारी सीमाबद्ध है, बाल्यकाल से लेकर आज तक शिक्षा के द्वारा जितनी बुद्धि हमने उपार्जित की है उतनी ही मेरे पास है किन्तु मैं वह ज्ञानरूप आत्मा हूँ कि जिसने इन बुद्धियों का का संग्रह किया है, करता है और करेगा। उसी के प्रकाश से बुद्धि, मन, अर्थ और इन्द्रिय में चारों जड़ होने पर भी प्रकाशमान् दीखते हैं, इन चारों में आत्मा बँधा हुआ रहता है और इनके साथ ही शरीर छोड़ने पर जाता है अतः ये चारों आत्मा के कोष कहलाते हैं अतः भगवान् का वचन है:-

**इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।**
**मनसस्तु पराबुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः॥**

अर्थात्—इन्द्रियों से परे अर्थ याने विषय हैं और उनसे परे मन है,मनसे परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे वह अव्ययात्मा है।

बुद्धि, मन, अर्थ और इन्द्रिय ये चारों आत्मा के साथ इस प्रकार दृढ़ बन्धन से बंधे हैं कि इनमें एक के आने से चारों ही प्रकट होते हैं और एक के नाश होने से सब नष्ट हो जाते हैं। अतः किसी का यह मत कि पशुओं में न आत्मा है, न बुद्धि है और न मन है सर्वथा भ्रम मूलक ज्ञात होता है क्योंकि इनमें काले-पीले रूपों का भी ज्ञान पाया जाता है और साथ ही इनमें मन भी है क्योंकि इनमें विचार शक्ति भी पाई जाती है। चारा-घास नित्य देने वाले को ये शान्ति और प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु अस्त्र शस्त्रधारी को तथा हिंसक जीवों को देख कर भागते हैं, कोई अद्भुत वस्तु को देख कर अकस्मात् चमक पड़ते हैं और बड़े आतङ्क तथा विचार की दृष्टि से देखने लगते हैं। ये सब इनमें मन के होने का प्रमाण है। बुद्धि भी इनमें पाई जाती है। बहुत से पशु-पक्षी ऐसे हैं जिनको शिक्षा क्रम पर लाने से लगभग मनुष्य के सदृश शिक्षित होकर कार्य करने लगते हैं। शिक्षा का ग्रहण करना तथा उससे संस्कार का उत्पन्न होना किसी विद्या से आत्मा का सम्बन्ध होना बुद्धि का काम है। और जब इस प्रकार बाह्य सामग्री उपस्थित है तो इनको एक सूत्र में बाँधने वाला इन चारों का आश्रय एक अवश्य होना चाहिए, वही आत्मा है। इस प्रकार पांचों धर्म मनुष्यों के अनुसार पशु, पक्षी, कीट आदि सब जीवों में अवश्य हैं किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य की अपेक्षा इन ४ की मात्रा न्यूनाधिक रहती है, किन्तु सर्वथा न होने का अभिमान करना मिथ्या है।

अतः जीव मात्र में चारों कोश अवश्य ही सर्वत्र पाये जाते हैं किन्तु ईश्वर में इनका एक भी नहीं होता क्योंकि वह असीम है अतः दूसरे से उसका बन्धन नहीं हो सकता। परमेश्वर में न बुद्धि है, न मन है और न इन्द्रियाँ हैं किन्तु इनकी अनुपस्थिति में भी इनके कार्यों की हानि परमेश्वर में नहीं है। वह

वस्तु के उत्पन्न करने में इस प्रकार स्वतन्त्र है कि विशेष इन्द्रिय न होने पर भी अपने शरीर के प्रत्येक स्थान से देखता है, सुनता है, विचारता है, समझता है—

**अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्य चक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।**
**स वेत्ति वेद्यम् न च तस्य वेत्ता, प्राहुस्तमग्रचम् पुरुषं पुराणम् ।।**

अर्थात्—जिसके हाथ और पैर नहीं हैं किन्तु वेग वाला है, पकड़ने वाला है और जिसके नेत्र नहीं हैं किन्तु देखता है जिसके कान नहीं है किन्तु सुनता है और वह सब को जानता है किन्तु स्वयं जाना नहीं जाता, उसको आदि परम पुरुष कहते हैं।

जीव की विचार शक्ति में दोष आ सकता है, कमी हो सकती है, गलती हो सकती है किन्तु ईश्वर का विचार निर्दोष और सदा एकरूप में रहने वाला होता है। अतः जीव के इन्द्रिय, मन, बुद्धि परिछिन्न है उसकी अपेक्षा अपरिमित बुद्धि, विचार और इन्द्रियज्ञान रखने वाले ईश्वर में अवश्य विशेषता पाई जाती है। यहाँ पर एक बात कहना और आवश्यक है कि जिस प्रकार मनुष्य में इन्द्रियों के द्वारा कभी अर्थों का ज्ञान होता है और कभी नहीं होता और मन भी उस अर्थ का निश्चय करने के लिए नया व्यापार आरम्भ करता है किन्तु ईश्वर में इन्द्रिय या मन के द्वारा किसी ज्ञान का नवीन तौर से आरम्भ नहीं होता। सृष्टि के आदिकाल से अन्तकाल तक जिस पदार्थ को परमेश्वर ने जैसा जान लिया है वह पदार्थ वैसा ही हो गया और वैसा ही रहेगा। परमेश्वर का ज्ञान ही वस्तु की सत्ता है। उसकी कोई भी वस्तु न जानी हुई नहीं है अतः जानने के लिए नया व्यापार नहीं करता। यह भी जीव से ईश्वर में वैधर्म्य है।

जीव के लिए जगत् में कितने ही पदार्थों का त्याग या ग्रहण करना आवश्यक होता है। बिना त्याग या बिना ग्रहण किये आत्मा की हानि होने की सम्भावना हो जाती है। किन्तु परमेश्वर इस प्रकार परिपूर्णरूप है कि वह किसी वस्तु को त्याग नहीं सकता और न अपने से अलग कर सकता और न उसको कोई वस्तु अप्राप्य है कि जिसकी प्राप्ति के लिए वह यत्न करे किन्तु इतना होने पर भी बिना किसी आवश्यकता के ज्ञान क्रिया रूप होने के कारण सर्वदा जानता और करता रहता है अतः गीता में लिखा है :—

**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषुलोकेषु किंचन ।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवच कर्मणि ।।**

(गी० ३।२२)

अर्थात्—हे अर्जुन ! यद्यपि तीनों लोकों में मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है और न कोई पदार्थ ऐसा है कि जो मुझको प्राप्त नहीं होकर अब पाने योग्य हो तथापि मैं कर्म करने में प्रवृत हूं।

संसार में जितने अर्थ हैं वे स्वभावतः परिवर्तनशील हैं। उनके रूपों का परिवर्तन होने पर जीव की अवस्था का परिवर्तन होना स्वभावसिद्ध है। अवस्था परिवर्तन से अथवा जीवों के अर्थों के परिवर्तन

से जीव का ही परिवर्तन कहा जा सकता है। इस प्रकार जीव प्रतिक्षण नाशवान् होने पर भी उनके अर्थों की उत्पत्ति या नाश का चिरकाल तक अनुवर्तन रहने से जीवों को संख्या में अनन्त कह सकते हैं किन्तु इनके विरुद्ध ईश्वर अविनाशी और संख्या में एक है। जीव विनश्वर है और ईश्वर अविनश्वर है। जीव परिवर्तनशील है और ईश्वर अपरिवर्तनीय है।

यदि स्वरूप की ओर विचारें तो जीव का स्वरूप त्रिवृत् अर्थात् तीन सामग्रियों से बना हुआ है—उक्थ❀, अर्क× और अशीति+। जिस प्रकार प्रकाशमय सूर्य का बिम्ब प्रकाश के मध्य में है और उसके चारों ओर प्रकाशमण्डल उस बिम्ब से बद्ध है और उस प्रकाशमण्डल की सीमा के अन्दर पृथ्वी, मङ्गल, शनि, बृहस्पति आदि नाना प्रकार के पिण्ड उस प्रकाश के आधीन विद्यमान हैं तो इन तीनों में बीच वाले बिम्ब को 'उक्थ' कहेंगे और प्रकाशमण्डल को 'अर्क' तथा उसके अन्तर्गत पृथ्वी आदि पिण्डों को उसकी 'अशीति' कह सकते हैं। इसी प्रकार जीव का भी स्वरूप समझना चाहिये। ज्ञानमय जीव के मध्य में जो एक चमकता हुआ बिन्दु है उसको 'उक्थ' कहते हैं किन्तु उसके आधार से विद्यमान ज्ञान मण्डल को उसका 'अर्क' कहते हैं और उस मण्डल के अन्तर्गत जो नाना जगत् के रूप भासते हैं वे सब उस मण्डल की 'अशीति' है। अशीति से मतलब अन्न से है कि जिसके द्वारा आत्मा का अंश बनता रहता है। यह निश्चित हो चुका है कि शनि आदि पिण्डों से सूर्य सर्वदा रस चूसता रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी अपने अन्तर्जगत् से रस लिया करता है। जिस प्रकार पृथ्वी आदि पिण्डों के न होने पर उन पिण्डों के चारों ओर वायुमण्डल भी न रहेगा तो सम्भव है कि इन्हीं वायुमण्डलों के आघात या घर्षण से उत्पन्न होता हुआ सूर्य का प्रकाश भी नहीं होगा प्रकाश के न होने पर रहता हुआ सूर्य भी प्रकाशित न होने से न होने के बराबर होगा। इसी प्रकार अन्तर्जगत् वाले विषयों से ही ज्ञान का रूप बनता है। यदि कदाचित् एक भी विषय ज्ञान में न आवे तो ज्ञान का स्वरूप ही नहीं बनेगा। ज्ञान का प्रकाश न होने पर जीव की सत्ता भी होकर न होने के बराबर होगी। अतः पृथ्वी आदि पिण्डों के सदृश्य अन्तर्जगत के रूप भी अशीति कहे जा सकते हैं। अशीति का यह भी अर्थ है कि जो किसी अर्क में व्याप्त होकर उसका अन्न बने अर्थात् जिससे अर्क की स्वरूप सिद्धि हो। सब ही आत्मा स्वभावतः अपने शरीर को ज्यों का त्यों बनाये रखने के लिए कुछ न कुछ अन्न खाया करती हैं और वह अन्न आत्मा के आधीन हो जाता है उसी को अशीति कहते हैं किन्तु अर्क वह वस्तु है कि जिसमें इन अन्नों को संग्रह करने के लिए यत्न पाया जाता है और स्वयम् किसी मध्य बिन्दु के अधीन रहता है अथवा उसी मध्य बिन्दु से उठता है, इससे उत्पन्न होकर अन्न के लिए अर्चना करता है, अर्थात् व्यापार करता है इसीसे उसको अर्क कहते हैं। यह अर्क जिससे उठता है उसे ही उक्थ कहते हैं। जैसे सूर्य के बिम्ब से उठ कर चारों ओर प्रकाश फैलता है अतः वह उक्थ है और चारों ओर फैल कर अन्न को पकड़ने वाला और उस अन्न के रस को

---

नोटः—❀ उक्थ—उत्थ=उठना।
× अर्क—अर्च=स्तुति करना, प्रस्ताव करना, किसी उद्देश्य को कार्यक्षेत्र में लाना।
+ अशीति—अश = भोजन करना; अशू—व्याप्त होना, फैलना।

उक्थ तक पहुंचाने वाला प्रकाशमण्डल ही अर्क है अथवा जीव का मध्य बिन्दु जिसको अहम् कहते हैं उसी से ज्ञानमण्डल उठ कर दूर २ तक विषय रूपी अन्नों को ग्रहण करके उक्थ अर्थात् आत्मा तक पहुंचता है अतः ज्ञान अर्क है और वह ज्ञान जहाँ से उठता है वही आत्मा उक्थ है इसी प्रकार सूर्य के अनुसार जीवात्मा भी अपना त्रिवृत्‌रूप रखता है।

यहाँ एक बात और भी जानना चाहिए कि सूर्यमण्डल में रहते हुए जितने पिण्ड हैं वे सब सूर्य से ही बने हुए हैं इस विषय का किसी अन्य प्रकरण में विस्तार पूर्वक निर्णय किया गया है। इसी प्रकार यह अन्तर्जगत् भी जो आत्मा के ज्ञान में बने हुए दीखते हैं वे आत्मा की इच्छा से बने हुए हैं। उनके बनने में इच्छा अर्थात् आत्मा का काम प्रधान कारण है क्योंकि जीव आत्मा में मन, प्राण, वाक् ये भाग सदा बने रहते हैं उनमें सब से प्रथम मन से इच्छा करता है, पीछे प्राण से यत्न करता है तत्पश्चात् वाक् अर्थात् भूत भाग में क्रिया उत्पन्न हो जाती है तो सिद्ध हुआ कि आत्मा से जो कुछ उत्पन्न होता है उसमें प्रथम काम ही प्रधान कारण है अतः ज्ञान के अन्तर्जगत् जो कुछ जगत् का रूप दीखता है उसको काम कहते हैं। महर्षियों का मत है कि यह जीवात्मा काममय है अर्थात् चारों ओर कामों से व्याप्त है। ये सब काम जीवात्मा के रूप हैं और अन्न भी हैं अतः निष्काम कर्म करते २ जबकि आत्मा से सब काम निवृत्त हो जाते हैं तो अकाम होने पर जीवात्मा का रूप ही नहीं रहता वह अपने मूलाधार ईश्वर के रूप में लीन हो जाता है। जिस प्रकार किसी कारण से पानी झाग के रूप में आता है और उस कारण के निवृत्त होने पर वह झाग अपने पानी के रूप में फिर आ जाता है इसी प्रकार काम के निवृत्त होने पर अकाम आत्मा ईश्वर हो जाता है और काम रूप अन्न न मिलने से फिर जीव का रूप नहीं बनने पाता अर्थात् जन्मादि बन्धन जो जीवात्मा के लक्षण हैं जिनके उत्पन्न होने का कारण काम है, काम के निवृत्त होने पर फिर जन्म बन्धन नहीं होता। इसी को मोक्ष कहते हैं। इस मोक्ष को क्षीणोदर्क और इससे अतिरिक्त दूसरे मोक्ष को भूमोदर्क कहते हैं। यह सब धर्म जीव के हैं किन्तु ईश्वर में यह सब कुछ नहीं हैं। प्रथम उसके रूप में उक्थ, अर्क, अशीति का भेद नहीं है क्योंकि जीव में जो उक्थ का भाग है वह प्रज्ञा अर्थात् बुद्धिरूप है उसी प्रज्ञा पर जो ईश्वर का रूप प्रतिबिम्बित होता है उसी को चिदाभास कहते हैं यही चिदाभास जीव कहलाता है। परन्तु यह प्रतिबिम्ब ईश्वर में नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर से परे कोई दूसरा ईश्वर नहीं है कि जिसके प्रतिबिम्ब से ईश्वर बनता और अपना प्रतिबिम्ब अपने पर नहीं पड़ता। अतः ईश्वर के रूप में उक्थ नहीं हो सकता। उक्थ के न रहने से अर्क और अशीति भी नहीं हो सकते अतः जीव के अनुसार ईश्वर का त्रिवृत् रूप नहीं हैं यह दोनों में भेद सिद्ध हुआ।

दूसरी बात यह है कि जीव को जिस प्रकार काममय कहा गया है उसी ही प्रकार ईश्वर भी काममय है किन्तु विशेषता यह है कि जीव का काम अनित्य है और सर्वदा सभी काम ज्ञान में रहते भी नहीं अर्थात् उनका अविर्भाव, तिरोभाव होता रहता है और सभी काम उसमें उत्पन्न भी नहीं हो सकते क्योंकि वह अलपज्ञ भी हैं किन्तु ईश्वर के काम नित्य है और सर्वदा एक रूप हैं उनके कामों का तिरोभाव नहीं होता और सर्वज्ञ होने के कारण सभी काम ज्ञान में एक साथ वर्तमान हैं जिसको कि जगत् कहते हैं। यदि ईश्वर अपने काम को भूलता तो जगत् ही नष्ट हो जाता। अतः कहना चाहिए कि वह सर्वदा आप्त काम है। काम के प्राप्ति होने से इच्छा की निवृत्ति हो जाती है अतः ईश्वर में इच्छा नहीं

मानी जा सकती। उसके सब काम इच्छा के ही सर्वदा परिपूर्ण रहते हैं अथवा किसी नियम के बद्ध रहते हैं अतः इच्छा न होने के कारण उस आप्त काम को भी हम अकाम कह सकते हैं। यही जीव से ईश्वर में भेद है।

सभी जीव अपने ज्ञानमण्डल के भीतर के जगत् को ग्रहण करते हैं और दूसरे जीव के ज्ञान मण्डल के भीतर वाले जगत् को कदापि ग्रहण नहीं करते। किन्तु ईश्वर के ज्ञान मण्डल में जो जगत् विद्यमान है उससे सभी जीवों का संपर्क होता है इससे भी ईश्वर को जीव से भिन्न कहते हैं। जीवों में जन्म-मृत्यु सुख-दुःख आदि व्यवहारों का इस प्रकार भेद प्रतीत होता है कि जिससे जीवों का भेद स्पष्ट दीखता है किन्तु इस प्रकार का कोई भेद ईश्वर को अनेक मानने के लिए नहीं पाया जाता अतः हम कह सकते हैं कि जीव अनेक हैं और ईश्वर एक है।

सभी भूत आत्मा में रहते हैं और सब भूतों में आत्मा रहती है इस प्रकार आत्मा और भूत का परस्पर सम्बन्ध जीव और ईश्वर दोनों में बराबर है क्योंकि दोनों ही अपने अपने जगत् के साथ इसी सम्बन्ध रखते हैं। दोनों के ज्ञान मण्डल से उनके जगत् बनते हैं। वे जगत् उस ज्ञान से कदापि पृथक् नहीं रहते। अतः कहा जा सकता है कि ज्ञान में जगत् है और जगत् में ज्ञान है। परन्तु इसके अतिरिक्त एक बड़ा अन्तर यह है कि जीवात्मा का अन्तर जगत् एक जीव का नहीं प्रत्युत अनन्तानन्त जीवों का पृथक्-पृथक् अनन्तानन्त जगत् मण्डल सभी ईश्वर, के ज्ञान मण्डल में सदा विद्यमान रहते हैं। यह ईश्वर जिस प्रकार अपने जगत् को अपने ज्ञान मण्डल में रखता है उसी ही प्रकार जीवों के ज्ञान मण्डलों को भी रखता है कारण यह है कि जड़ पदार्थों के अनुसार जीव विभाग भी ईश्वर के ज्ञानमण्डल का एक जगत् है जब सभी जीव ईश्वर के ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् हैं तो जीवों का अन्तर्जगत् कदापि ईश्वर के ज्ञान से बाहर नहीं रह सकता अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि जीव दूसरे जीव के ज्ञान विषय को नहीं देखता तथापि ईश्वर सम्पूर्ण जीवों को अपने ज्ञान में रखता हुआ उनकी चेष्टायें, उनका ज्ञान, उनके मन का विषय आदि सभी को सर्वदा देखता रहता है अतः ईश्वर को साक्षी कहा जाता है।

बहिर्जगत् जिस प्रकार का होता है उसके योग से ठीक उसी प्रकार की सृष्टि अन्तर्जगत् में हुआ करती है जिस नाम-रूपवाले बहिर्जगत् से हमारी अन्तरात्मा मिलती है उस अन्तरात्मा की कल्पना की हुई अन्तर्जगत् की वस्तु का भी वही रूप वही नाम उत्पन्न (सावित) होता है किन्तु कहीं कहीं हमारा अन्तरात्मा वाह्य के जगत् वाली वस्तु के सब धर्मों का सहन न करने के कारण अथवा बहिर्जगत् के बिना ही नये पदार्थ की कल्पना करने के कारण कभी-कभी बहिर्जगत् के विरुद्ध भी अन्तर्जगत् का रूप बना लिया करता है उसको भ्रम या संशय कहते हैं। इसमें कुछ अँश तो बहिर्जगत् के अनुसार है और कुछ रूप नया कल्पित रहता है अतः इस को ज्ञान कहते हैं।

किन्तु कहीं-कहीं हमारा अन्तरात्मा बहिर्जगत् के अनुसार अन्तर्जगत् न बना करके स्वतन्त्र अपनी इच्छानुसार अन्तर्जगत् बनाया करता है। किन्तु फिर ऐसी चेष्टा करता है कि उस अन्तर्जगत् के अनुसार बहिर्जगत् का नया रूप बन जावे जैसा घर, रथ, छत्र, आसन आदि आदि में सब प्रथम बहिर्जगत् में न थे

किन्तु प्रथम अन्तर्जगत् में आकर पीछे बहिर्जगत् में चले गये हैं। जो प्रथम जीव की सम्पत्ति थी वह पीछे से ईश्वर की सम्पत्ति हो गई।

किन्तु कभी-कभी यह अन्तरात्मा बहिर्जगत् के अनुसार सूर्य, चन्द्र, पर्वत, वृक्ष, गाय, घोड़ा आदि पदार्थों का अपने अन्तर्जगत् में रूप कल्पना करके अपनी चेष्टा से फिर अपनी उस आत्मसंपत्ति को ईश्वर के जगत् में दे दिया करता है और फिर वह ईश्वर की सम्पत्ति हो जाती है किन्तु स्मरण रहे कि यह दोनों प्रकार शिल्प के है ऊपर के पैरे में जो प्रकार लिखा है उसको अपूर्व शिल्प कहते हैं जैसे—कपड़ा बर्तन, तख्ता, बिछायत, काच आदि किन्तु इस पैरे के प्रकार की प्रतिरूप शिल्प कहते हैं जैसे हाथी, घोड़ा, पर्वत आदि की प्रतिमा या चित्र बनाया जाय। ये दोनों ही प्रकार अन्तर्जगत् के पश्चात् बहिर्जगत् के हुये हैं।

अब एक प्रकार ऐसा भी है जहाँ हमारी अन्तरात्मा बहिर्जगत् से विशेष रूप से सम्बन्ध न करके स्वतन्त्र अपनी इच्छा से अन्तर्जगत् बनाया करती है जैसे किसी कवि के मन में नये नये भाव उत्पन्न होते हैं और कभी कोई विक्षिप्त नया २ मनोराज का संगठन किया करता है अथवा सोता हुआ मनुष्य स्वप्नावस्था में नये २ अन्तर्जगत् की कल्पना किया करता है कभी आकाश में उड़ता हुआ चलता है, कभी स्वयं को मरा देखता है, कभी सर्प में हाथी का मस्तक देखता है। तात्पर्य यह है कि जो बहिर्जगत् में कहीं नहीं है वह अन्तर्जगत् में भासता रहता है यह जीव का सामर्थ्य है सौर यह उस की निज की सम्पत्ति है।

जीव के ज्ञान मण्डल का जीव से उसी प्रकार सम्बन्ध है जैसे दीपक की लौ से दीपक के प्रकाश का है। दीपक के प्रकाश को साफ करना, चलाना या ढकना तभी हो सकता है कि दीपक की लौ जब उस प्रकार की जावे। इसी प्रकार जीवात्मा का ज्ञान भी तब ही पकड़ा जा सकता है यदि मूल बिन्दु अन्तरात्मा संस्कार के द्वारा अपने अधीन किया जावे जिस प्रकार अनेक दीपकों के रहते किसी एक दीपक के बिगाड़ने या बुझाने से दूसरे दीपक न बिगड़ते हैं और न बुझते हैं अर्थात् इक दीपक का धर्म दूसरे दीपक पर लागू नहीं होता इसी प्रकार जीव अनन्त हैं अतः किसी एक जीव के मूर्ख या विद्याहीन होने से रोग या मृत्यु पाने से दूसरे जीव कदापि वैसे नहीं होते। एक दीपक के बुझने पर दूसरा दीपक जला करता है उसी तरह एक जीव के मरने से दूसरा जीव जीवित रहता है जैसे बुझे हुए दीपक का प्रकाश मण्डल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मरे हुए जीवात्मा का ज्ञानमण्डल या अन्तर्जगत् भी नष्ट हो जाता है किन्तु यह बहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञानमण्डल की वस्तु है, यदि ईश्वर नष्ट होता तो सम्भव होता कि जगत् भी नष्ट हो जाता किन्तु ईश्वर के नित्य सनातन होने के कारण बहिर्जगत् की कोई वस्तु न अपने स्थान से च्युत होती है और न नष्ट होती है और न जीवों की इच्छा से उसमें कोई अन्तर पड़ता है। जीव के ज्ञान का उसमें कुछ सम्बन्ध नहीं है अतः किसी जीव के मरने से भी यह जगत् अनादि काल से नित्य सनातन रूप से इसी प्रकार भासता हुआ चला आ रहा है अर्थात् ईश्वर और जगत् दोनों ही नित्य सनतन हैं और वास्तव में दोनों ही एक हैं।

## जीव और ईश्वर का साधर्म्य वैधर्म्य सूत्र का सारांश

१—समष्टि आत्मा ईश्वर है और व्यष्टि आत्मा जीव है।

२—एक सूर्य के अनन्त प्रतिबिम्बों के समान एक मूलात्मा के अनन्त प्रतिबिम्ब आत्माओं को जीव और मूलबिम्बी आत्मा को ईश्वर कहते हैं।

३—महाज्ञानरूप ईश्वर को 'ओम्' और अनन्त ज्ञानरूपी जीवों को 'अहम्' कहते हैं।

४—जीव पृथक-पृथक परिमित पुद्‌गल होने से अपना शक्तिकेन्द्र नियत स्थान में रखता है। किन्तु ईश्वर असीम अनन्त न होने के कारण अपना शक्तिकेन्द्र किसी नियत स्थान पर न रखकर प्रत्येक स्थान में हृदय, मस्तक, पाँव, आँख, कान आदि माना जा सकता है महर्षियों ने उसका स्वरूप कहा है:—

**सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।**
**सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥१॥** (गीता १३।१३।)

**पाणिपाद शिर आँख मुख, करण सहित सब ठोर ।**
**सकल जगत घेरे हुए, वह व्यापक सब ओर ॥१॥**

( पु० गोपीनाथ जोशी )

५—जीव और ईश्वर, ज्ञान और जगत् कल्पना में समान हैं अन्तर इतना ही है कि जीव अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है। जीव अन्तर्जगत् की कल्पना करता है और ईश्वर बहिर्जगत् की। ज्ञान और जगत् कल्पना करने में समान होने पर भी इनमें बड़ा अन्तर है। जीव अपनी स्थिति के लिए कोशों की आवश्यकता रखता है और ईश्वर नहीं रखता। जीव के ४ कोश हैं—इन्द्रिय, अर्थ, मन और बुद्धि। जीव इन चतुष्कोशों में विहार करता है। इनके विना स्थित नहीं रह सकता। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। पाँच इन्द्रियों का भिन्न २ ज्ञान होने पर भी इनका अनुभव एक ही केन्द्र में होता है जो आत्मा कहलाता है। पाँच इन्द्रियों का पाँच भिन्न २ ज्ञानफल एक ही आत्मा के अन्न होने के कारण ये पाँचों इन्द्रियाँ उस आत्मा का एक प्रकार का कोश या स्तर है। इन्द्रियाँ अपने केन्द्ररूप आत्मा के सब से बाह्य कोश हैं। इन्द्रियों के भीतर अर्थकोश है। पाँचों इन्द्रियों के भीतर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अर्थ या भूतमात्रा के अत्यन्त सूक्ष्म रूप की तह अवश्य ही है। किसी इन्द्रिय के भीतरी अर्थमात्रा के नष्ट होने से उस मात्रा का ज्ञान आत्मा को नहीं होता। कान और आँख में शब्द और रूप मात्रा के न रहने से आत्मा को इन दोनों का ज्ञान नहीं होगा। अतः सिद्ध है कि इन्द्रिय कोश के पश्चात् अर्थकोश अवश्य है। अर्थकोशान्तर मनकोश की सत्ता है जिस इन्द्रिय मन का प्रादुर्भाव न होवे तो आत्मा को ज्ञान नहीं होता अतः जाना गया है कि इन्द्रियों से अर्थ में और अर्थ से मन में बाह्य वस्तु ज्ञान होकर आत्मा में पहुँचता है। इस प्रकार तीसरा मन कोश है। इसके पश्चात् चौथा कोश बुद्धि का है। मन, बुद्धि के आधार पर कार्य करता है। तीव्र, मन्द और नष्ट बुद्धि अनुसार मन वस्तुओं को पकड़ता है। बुद्धि अपने धरातल पर चञ्चल मन के व्यापारों के ज्ञानों को एकत्र करती है। आत्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश से ये ४ जड़ होने पर भी चैतन्य और प्रकाशित रहते हैं।

आत्मा के निकटस्थ रहने से बुद्धि भी ज्ञानमय है। अन्तर केवल इतना ही है कि बुद्धि सविषयक है और आत्मा शुद्ध, निर्विषयक है और आत्मा जिस बुद्धि की ओर होती है उस बुद्धि का विषय आत्मा विषय बन जाता है। बुद्धि सीमाबद्ध है—बाल्यकाल से अब तक शिक्षा द्वारा जितनी बुद्धि उपार्जन की है वह तो मेरे पास है ही किन्तु मैं वह ज्ञानरूप आत्मा हूँ जिससे यह बुद्धिज्ञान उत्पन्न हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। इस आत्मा से ही चारों कोश प्रकाशमान् हैं। आत्मा ये ४ बँधे रहते हैं और इनके साथ शरीर छोड़ने पर आत्मा जाती है अतः चारों आत्मा के कोश कहलाते है अतः भगवान् ने कहा है :—

**इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थभ्यश्च परं मनः इत्यादि।**

**इन्द्रिय परैं तो अर्थ है अर्थ परैं मन जान ।**
**मन के आगे बुद्धि है, फिर है आतम ज्ञान ।।१।।**
**इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि के, कोश आतमा मान।**
**इनसे आतम जीव है, इन बिन ईश्वर जान ।।२।।**
**कोश सहित जो आतमा जीवमात्र का रूप ।**
**कोश रहित जो आतमा, ईश्वर रूप अनूप ।।३।।** (पु० गोपीनाथ जोशी)

आत्मा के साथ चारों कोशों का दृढ़ सम्बन्ध है। एक के रहने से सब रहते हैं और एक के नष्ट होने से सब नष्ट हो जाते हैं। जीव जन्तुओं में ४ कोश पाये जाते हैं तो उनमें आत्मा का होना भी सिद्ध है किन्तु ईश्वर स्वयं आत्मास्वरूप है उसका नियमन किसी कोश से नहीं है वह सर्वदर्शी और सर्वज्ञ है बिना इन्द्रिय के सब कार्य करता है। जैसा कि महर्षियों का वाक्य है:—

**अपाणिपादो जवनोग्रहीता, पश्यत्य चक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः ।**
**स वेत्ति विद्यम् न च तस्य वेत्ता, प्राहुस्तमग्रथं पुरुषं पुराणम् ।।** (उपनिषद्)

**पाणिपाद बिन पकड़ता और दौड़ना दूर ।**
**चक्षु करण बिन देखता, सुनता सब भरपूर ।।**
**वह नहीं जाना जा सकत, वह सकता सब जान ।**
**ऐसे को ऋषि कहत हैं, अग्रयं पुरुष पुराण ।।** ( पु० गोपीनाथ जोशी )

जीव की बुद्धि आदि परिछिन्न हैं किन्तु ईश्वर की अपरिछिन्न और अपरिमित बुद्धि आदि हैं। मनुष्य जानते जानते कुछ जानने लगता है किन्तु ईश्वर आदि अन्त तक सब कुछ जानता है उसके सर्वज्ञ ज्ञान में नवीन पुरातन का भेद नहीं है। जीव अपनी रक्षा निमित्त कुछ त्यागता है कुछ ग्रहण करता है

किन्तु ईश्वर परिपूर्ण होने से ऐसा नहीं करता। परिपूर्ण होने के उपरान्त भी अपने ज्ञान क्रियारूप के अनुसार सदा जानता रहता है और सब कुछ करता रहता है। जैसा गीता में कहा है :—

**न मे पार्थास्ति कर्तव्यं, त्रिषुलोकेषु किंचन।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं, वर्त एवच कर्मणि॥** (गीता)

**पार्थ मुझको है नहीं करना कोई कर्म।**
**अप्राप्य वस्तु कोई नही कर्म होत यही मर्म॥** (पु०गोपीनाथ जोशी)

परिवर्तन से जीव के क्षण-क्षण रूप अनेक माने जाते हैं किन्तु ईश्वर में अदल-बदल कुछ नहीं होता, वह निरन्तर एक है।

जीव का स्वरूप त्रिवत् है किन्तु ईश्वर का त्रिवत् नहीं है। संसार की समस्त वस्तुओं के स्वरूप त्रिवत् हैं। जीव का त्रिवत् होना सूर्य के समान जानों। सूर्य त्रिवत् इस प्रकार है–पहले सूर्य बिम्ब, दूसरे उसका प्रकाश, तीसरे उस प्रकाश में ग्रहों आदि तथा बहुत सी वस्तुओं का होना। सूर्य बिम्ब को 'उक्थ', प्रकाश को 'अर्क', प्रकाश की वस्तुओं को 'अशीति' कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानमय जीव के मध्य में जो एक चमकता हुआ बिन्दु है उसको 'उक्थ' और उसके आधार से विद्यमान ज्ञानमण्डल को 'अर्क' और इस ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् जो अन्तर्गत है उसको 'अशीति' कहते हैं। अशीति के द्वारा आत्मा का अंश बनता रहता है। आत्मा अन्तर्जगत् से रस लिया करता है। अन्तर्जगत् से ही ज्ञान का स्वरूप बनता है और अन्तर्जगत् सहित ज्ञान प्रकाश से ही आत्मा की सत्ता भी है। यदि अन्तर्जगत् न रहे तो ज्ञान का कोई स्वरूप ही नहीं बनेगा और आत्मा की सत्ता रहने पर भी न रहने बराबर है। इस प्रकार अन्तर्जगत् ही अशीति है अर्थात् ज्ञान के द्वारा आत्मा का भोजन या अन्न है। अश् धातु का अर्थ व्याप्त होना भी है अतः अशीति अर्क में व्याप्त होकर उसका अन्न बनता है। कई अपने मध्य बिन्दु से उठकर इसके लिए अन्न व्याप्ति के अर्थ यत्न करता है। जिस बिन्दु से यह उठता है उसको उक्थ कहते हैं। जीव के मध्य बिन्दु को जो 'अहम्' या 'आत्मा' कहलाता है जिससे ज्ञानमण्डल उठता है और बँधा हुआ है 'उक्थ' कहते हैं। जो ज्ञानमण्डल इससे उठा हुआ है उसी अर्क और ज्ञानमण्डल के अन्तर्जगत् को अशीति कहते हैं। इस प्रकार जीव, उक्थ, अर्क, अशीति से त्रिवत् कहलाता है।

ऋषियों ने जीव को काममय कहा है। जीव में इच्छा पैदा होती है और इच्छा ही से अन्तर्जगत् पैदा हो जाता है। इसी जगत् को काम कहते हैं। यह इच्छा या काम धीरे-धीरे आत्मा में से हटा दिया जावे तो आत्मा निष्काम होकर ईश्वर रूप हो जाता है। काम सहित आत्मा जीव है और काम रहित आत्मा ईश्वर है। काम बन्धन से जन्म-मरण होता है। और इसके न रहने से मोक्ष मिल जाता है (क्षीणोदर्क मोक्ष) ये सब जीव के धर्म हैं। ईश्वर में यही धर्म नहीं है उक्थ, अर्क, अशीति जीव का धर्म है ईश्वर का नहीं क्योंकि उक्थ वास्तव में वह प्रज्ञा का रूप है जिस पर ईश्वर का रूप प्रतिबिम्बित होता है और जिसको चिदाभास कहते हैं। यह चिदाभास ही जीव का स्वरूप है। यह ईश्वर नहीं है अतः ईश्वर

के रूप में उक्थ नहीं है और जब उक्थ की सत्ता नहीं तो अर्क और अशीति भी नहीं हो सकते अतः जीव के सदृश ईश्वर त्रिवत् रूप नहीं है । यह दोनों में भेद सिद्ध हुआ ।

जीव काममय है और ईश्वर भी काममय है किन्तु विशेषता यह है कि जीव का काम अनित्य है क्योंकि वह अल्पज्ञ है किन्तु ईश्वर के काम नित्य हैं और सर्वदा एकरूप हैं । इनका तिरोभाव नहीं होता और सर्वज्ञ होने के कारण सभी काम ज्ञान में एक साथ मौजूद रहते हैं अतः ईश्वर आप्त काम है । ईश्वर को बिना इच्छा ही सब प्राप्य हैं और सब काम सर्वज्ञ होने से परिपूर्ण तथा अचल नियमों से बद्ध रहते हैं अतः ईश्वर आप्त काम होकर भी अकाम कहा जा सकता है । अतः जीव काममय है और ईश्वर अकाम है ।

एक जीव का ज्ञानमण्डल दूसरे जीव के ज्ञानमण्डल को नहीं जानता किन्तु ईश्वर के ज्ञानमण्डल में जो जगत् है उसको सभी जीव जानते हैं । जीव आपस के अन्तर्जगत् को नहीं जानते किन्तु ईश्वर के ज्ञान पर ठहरे हुए बहिर्जगत् को सब जानते हैं ।

जन्म-मरणादि के कारण से जीव अनेक हैं किन्तु भेद न होने से ईश्वर एक है । जीवों का अन्त-जंगत् जीवों के ज्ञान से इस प्रकार बना है कि उनके ज्ञान में अन्तर्जगत् है और उनके अन्तर्जगत में उनका ज्ञान है । इसी प्रकार ईश्वर का बहिर्जगत् है अर्थात् सकल पाञ्चभौतिक विश्व ईश्वर के ज्ञान में है और ईश्वर का ज्ञान विश्व में है जैसे घड़े में मिट्टी और मिट्टी में घड़ा कहा जा सकता है । जीव और ईश्वर, ज्ञान में जगत् और जगत् में ज्ञान होने के सम्बन्ध से सार्वमिक हैं किन्तु भेद इतना सा है कि जीव तो अपने अन्तर्जगतों को आपस में नहीं जानते किन्तु ईश्वर के ज्ञानमण्डल में सब जीवों के अन्त-र्जगत् विद्यमान हैं अतः ईश्वर को साक्षी कहते हैं ।

बहिर्जगत् के अनुसार अन्तर्जगत् बना करता है किन्तु कभी-कभी बहिर्जगत् का अंश या कभी बहिर्जगत् के विरुद्ध अन्तर्जगत् हो जाता है । इन दोनों अवस्थाओं को संशय और भ्रम कहते हैं । दोनों को ही अन्यथा ज्ञान भी कहते हैं । जीव बहिर्जगत् के अनुसार तो अपने अन्तर्जगत् बनाया ही करता है किन्तु प्रायः बहिर्जगत् के पदार्थों से विलक्षण वस्तुऐं अपने अन्तर्जगत् बना कर उसके अनुसार बहिर्जगत् के पदार्थों को तोड़-मोड़ कर नये २ स्वरूप जगत् में अपनी इच्छानुसार निर्माण कर देता है जैसे घर, नगर, घड़ी, रेल, कपड़े इत्यादि जितनी मनुष्य की बनाई हुई वस्तुऐं हैं और जो मनुष्य उन्नति की सामग्री हैं । ये सब नवीन निर्माण की हुई वस्तुऐं जीव के अन्तर्जगत् में तो जीव संपत्ति है किन्तु बाहर प्रकट रूप में होते ही ईश्वरी सम्पत्ति हो जाती है । बहिर्जगत् के पदार्थों को हेर-फेर कर नवीन वस्तु निर्माण को ही शिल्प कहते हैं । यह दो प्रकार का है एक अपूर्व शिल्प जैसे घर, कुर्सी, विमान इत्यादि दूसरा प्रतिरूप शिल्प है जैसे कृत्रिम घोड़ा, हाथी, मनुष्य इत्यादि । ये दोनों ही जीव सम्पत्ति ईश्वर सम्पत्ति हो जाते हैं । अन्तर्जगत् में जीव की और बहिर्जगत् में ईश्वर की सम्पत्ति है ।

जीव बहिर्जगत् के अनुसार तो अन्तर्जगत् बनाया ही करता है किन्तु प्रायः बहिर्जगत् से भिन्न २ नये भावों की घटना करके अपने अन्दर जगत् रचना किया करता है । अपनी कल्पनाशक्ति से अपने मन में नया जगत् रच लेता है जैसे कवि आदि किया करते हैं यह संगठन उसका मनोराज है यह मनुष्य की निजी नवीन सम्पत्ति है ।

दीपक का प्रकाश दीपक की लौ के अनुसार अपना काम करता है। ऐसे ही जीवात्मा के मूल-बिन्दु के संस्कारानुसार ही उसके ज्ञानप्रकाश का व्यवहार है। जीव के नष्ट होने से उसकी अन्तरात्मा नष्ट हो जाती है किन्तु जीवों का बहिर्जगत् ज्यों का त्यों रहता है। बहिर्जगत् ईश्वर के नष्ट होने पर नष्ट हो सकता है किन्तु ईश्वर नित्य और सनातन है अतः उसके ज्ञान का बहिर्जगत् नष्ट नहीं होता। यह जगत् भी नित्य और सनातन है, ईश्वर और जगत् दोनों ही नित्य और सनातन हैं और वास्तव में दोनों ही एक हैं क्योंकि जगत् ईश्वर के ज्ञान का ही रूप है।

## १४. जीव ईश्वर की पृथक् सत्ता

चित्त की सत्ता के आश्रय से जितनी वस्तुऐं हैं उनकी सत्ता चित्त की सत्ता से भिन्न कहनी चाहिए जैसे कि प्रज्ञा एक वस्तु है जो कि चित्त की सत्ता के आश्रय से विद्यमान है उसकी सत्ता पृथक है अतः वह चित्त के अंश को धारण करके कितने ही अहं तत्व अर्थात् जीवों को उत्पन्न करती है। यदि प्रज्ञा की सत्ता चित्त से पृथक न होती तो वह चित्त को अपने पर धारण नहीं कर सकती। जिस प्रकार मिट्टी की सत्ता ही घट की सत्ता है तो उस घट के ऊपर वही मिट्टी चढ़ नहीं सकती। जहाँ वस्तु की सत्ता भिन्न २ होती है जैसे सूर्य की सत्ता और जल की सत्ता भिन्न २ है तो वहां जल पर सूर्य का प्रति-बिम्ब होना सम्भव होता है। जब प्रज्ञा पर चित्त का प्रतिम्बिम्ब है तो प्रज्ञा की सत्ता चित्त की सत्ता से पृथक माननी चाहिए। मैं अर्थात् जीव भी अपने ज्ञानमण्डल से जो अपने जगत् की कल्पना किया करता हूं वह भी मिट्टी के घड़े के सदृश नहीं किन्तु अपनी सत्ता से उनमें पृथक् सत्ता उत्पन्न की जाती है। वे मेरी सत्ता से ही सत्ता वाले नहीं हैं यही कारण है कि वे अन्तर्जगत् संस्काररूप से हमारे अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं जिनका स्मरण करता हुआ मेरा ज्ञान पृथक् रूप से पकड़ता और देखता है। यदि अन्त-र्जगत् की सत्ता मेरे ज्ञान की सत्ता से पृथक् न होती तो ज्ञान अपने को आप पकड़ने में असमर्थ हो जाता। मेरे ज्ञान में बैठी हुई वस्तु दीखती है जिसको ज्ञान ग्रहण करता हुआ पृथक् रूप से देखता है सो ऐसा कदापि नहीं होता अतः विश्वास करना चाहिए कि यह सम्पूर्ण अन्तर्जगत् जो आत्मा के ज्ञानमण्डल से उत्पन्न हुआ है वह आत्मा से ही उत्पन्न होने पर भी आत्मा से सर्वदा पृथक्रूप में आत्मा में भरा रहता है अर्थात् अन्तर्जगत् के बनने के पूर्व आत्मा की जितनी मात्रा थी आज अनन्त जगत् बनने पर भी या बनते रहने पर भी उस मात्रा में कुछ भी कमी नहीं होती। वह अपने स्वरूप में—अपने प्रमाण में ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि इस आत्मा से अनन्तानन्त जगत् बन गया किन्तु आत्मा उससे पृथक् अपने स्वरूप में ज्यों का त्यों मौजूद है। दूसरा आश्चर्य का विषय यह भी है कि वह अन्तर्जगत् ज्ञानमण्डल से इस प्रकार चिपका हुआ है कि उससे पृथक् एक क्षण के लिए भी उसका कोई स्थान नहीं है किन्तु आत्मा उस अन्तर्जगत् से सर्वथा असङ्ग है। जिस प्रकार आकाश में अनन्ता-नन्त जल की धारा रात दिन रहने पर भी आकाश कभी नहीं भीगता और आकाश के सिवाय जल के लिये स्थान नहीं है किन्तु आकाश उन जलों से सदा पृथक् असङ्ग रहता है, यह वस्तु धर्म है, इसी प्रकार ज्ञान और अन्तर्जगत् का भी सम्बन्ध जानना चाहिये। यह सम्बन्ध जीव के साथ जिस प्रकार अन्तर्जगत् का है उसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान के साथ भी बहिर्जगत् का सम्बन्ध है अतः कहा जाता है कि जगत् की सत्ता ईश्वर की सत्ता से भिन्न है।

जब घट हम देखते हैं तो घट का ज्ञान घट से मिला हुआ हमें भासता है यहाँ तक कि ज्ञान और घट को पृथक् करना भी कठिन है तथापि जब वह ज्ञान घट को छोड़ कर हाथी पर जाता है तो घट को इस प्रकार बेलाग छोड़ता है कि जैसा उसका घट से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। इसी प्रकार स्फटिक के पास जिस प्रकार गुडहल का फूल रखने से स्फटिक जो निरा सफेद होता है वह सर्वथा लाल दीखने लगता है यहाँ तक कि स्फटिक की वह लाली अपनी निज की मालूम होती है परन्तु जब गुडहल को हटाते हैं तो वह लाली इस प्रकार बेलाग छूट जाती है कि जैसे वह लाली स्फटिक में थी ही नहीं। इसी प्रकार ज्ञान का और अर्थ का सम्बन्ध जानना चाहिये।

यदि जगत् की सत्ता ज्ञान की सत्ता से पृथक् है तो यह प्रश्न उठता है कि ज्ञान से उत्पन्न होते हुए जगत् में वह सत्ता कहाँ से आई। इसके उत्तर में तीन मत होते हैं पहला यह है कि ज्ञान ही से जगत् में सत्ता आई है अर्थात् ज्ञान की सत्ता ही जगत् की सत्ता है क्योंकि ज्ञान के नाश में जगत् का नाश देखते हैं, जगत् ही ज्ञान का आकार है न जगत् बिना ज्ञान रहता है और न ज्ञान बिना जगत्, अतः जगत् ज्ञान का ही विकार है, ज्ञान की सत्ता वाला है। दूसरा मत है कि ज्ञान की सत्ता ही जगत् की सत्ता तब मानी जाती कि यदि घास से दुग्ध, दुग्ध से दही अथवा सूत से कपड़ा और मिट्टी से घड़ा इनके सदृश ज्ञान से जगत् बना होता किन्तु जैसा हम देखते हैं कि दुग्ध बनने पर घास नहीं रहता उसी प्रकार जगत् बनने पर ज्ञान का रूप न रहे ऐसा नहीं होता। ज्ञान में ही बैठा हुआ जगत् भासता है अतः कहना होगा कि जल में बुद्बुद् या झाग के अनुसार ज्ञान में जगत् की उत्पत्ति है किन्तु इसमें भी विशेषता यह है कि झाग के बनने में खर्च हो जाने से पानी अवश्य घट जाता है और पानी अपने स्वरूप से बिगड़ कर झाग बनता है किन्तु ज्ञान में वह दोनों बातें नहीं। जगत् के बनने से न ज्ञान में कोई विकार आता है न उसकी मात्रा की कमी होती है ऐसी स्थिति में ज्ञान की सत्ता से जगत् की सत्ता कहना असंगत है। हम कह सकते हैं कि ज्ञान में जो जगत् उत्पन्न हुआ है उसमें नाम, रूप और कर्म ये तीनों ही अकस्मात् उत्पन्न हो जाते हैं। जो वस्तु लाल या काली दीखती है उसकी वह रंगत वह आकार ज्ञान में न थी वह उस जगत् के अर्थ में कहाँ से आ गया इसका उत्तर केवल अनिर्वचनीय है जिस प्रकार ज्ञान में न रहता हुआ रूप अर्थात् रंग तथा आकार उस वस्तु में अकस्मात् आ गया उसी प्रकार सत्ता का भी आ जाना सम्भव हो सकता है। ज्ञान के भेद से जैसे वस्तु का रूप नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट हो जाती है यही मत यथार्थ ज्ञात होता है। तीसरा मत यह भी है कि जैसे रस्सी में सर्प उत्पन्न हो जाता है वह सर्प मिथ्या है उसकी सत्ता भी मिथ्या है केवल रस्सी की सत्ता से प्रातिभासिक सत्ता सर्प की बन गई है सो मिथ्या है इसी प्रकार ज्ञान पर जगत् मिथ्या बन गया है उसकी सत्ता मिथ्या है केवल ज्ञान की सत्ता से ही जगत् की प्रातिभासिक सत्ता बन गई है वह भ्रम है और मिथ्या है। यह मत आजकल दार्शनिकों में प्रचलित है किन्तु यह विचार अधिक प्रबल नहीं है।

## जीव ईश्वर की पृथक् सत्ता का सारांश

चित्त सत्ता अर्थात् ईश्वर की ज्ञानसत्ता आश्रय से जगत् वस्तुओं की सत्ता स्थिर है। किन्तु चित्त सत्ता वस्तु सत्ता से भिन्न है। चित्त सत्ता के आश्रय से जगत् सत्ता की रचना होने पर भी चित्त सत्ता कम नहीं होती और चित्त सत्ता के आश्रय सम्पूर्ण जगत् सत्ता रहने पर भी चित्त सत्ता जगत् सत्ता से

असंग है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर जगत् को पेट में रखते हुए भी जगत् से भिन्न है जगत् की रचना करते हुए भी घटता नहीं और जगत् को अपने आश्रय रखता हुआ भी सदा असङ्ग रहता है । निम्न-लिखित उदाहरण से इस सिद्धान्त को समझना चाहिए—दो समान सत्ता में प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं किन्तु भिन्न सत्ता में ही आभास देखा जाता है । इस नियमानुसार प्रज्ञा पर जो चित्त से भिन्न है चिदाभास हुआ करता है । चिदाभास सहित प्रज्ञा ही को जीव या अहम् कहते हैं । प्रज्ञा पर चिदाभास ही मनुष्य की आत्मा है । इस आत्मा के प्रकाश का नाम ही ज्ञान है । इस ज्ञान में जो अन्तर्जगत् पैदा होता है उसकी सत्ता और इस ज्ञान की सत्ता सर्वथा भिन्न है क्योंकि अन्तर्जगत् मेरे ज्ञान में केवल संस्काररूप से रहता है वह ज्ञान की सत्ता में परिणत कभी नहीं होता । ये दोनों पृथक् २ हैं अतः ज्ञान अन्तर्जगत् को पकड़ने में समर्थ है यदि एक होते तो ज्ञान अन्तर्जगत् को पृथक् देखने में असमर्थ होता और ज्ञान में भरा हुआ अन्तर्जगत् कुछ भी भान नहीं होता अतः सिद्ध है कि ज्ञान सत्ता अन्तर्जगत् सत्ता से भिन्न है । ज्ञाना-श्रय में अन्तर्जगत् अनन्त हो जाने पर भी ज्ञान की मात्रा कुछ भी कम नहीं होती क्योंकि अन्तर्जगत् का ज्ञान केवल प्रकाश करने वाला है और अन्तर्जगत् के अनन्त रूपों को धारण करता हुआ सा दीखता हुआ भी उस अन्तर्जगत् से सर्वथा पृथक् और असङ्ग है । जैसे ज्ञानसत्ता अन्तर्जगत् सत्ता से पृथक् है, अन्तर्जगत् के अनन्त रूपों को धारण करने पर भी परिपूर्ण मात्रा वाला है और अन्तर्जगत् को अपने उदर में रखते हुए भी असङ्ग है वैसे ही ईश्वर की ज्ञान सत्ता जगत् से पृथक् है, जगत् रचने पर भी पर भी परिपूर्ण है और जगत् को धारण करने पर भी असंग है ।

**जग-सत्ता से पृथक् है, ईश्वर ज्ञान अपार ।**
**परिपूर्ण निर्लेप है, जग रचना भण्डार ॥१॥**
**जिमि है अन्तर्जगत् का, जीव ज्ञान आगार ।**
**तिमि सारे संसार का ईश्वर ज्ञानाधार ॥२॥** ( पु० गोपीनाथ जोशी )

ज्ञान और अर्थ का सम्बन्ध स्फटिक और गुडहल के फूल के सदृश असङ्ग है । ज्ञान और अन्त-र्जगत् की सत्ता जब पृथक् २ है तो जगत् की सत्ता के विषय में तीन मत हैं—१ ज्ञान जगत् का उपादान कारण है । ऐसे मतानुसार जगत् की सत्ता ज्ञान की सत्ता ही से आती है । २. उपर्युक्त पहले मत को दूध, दही, मिट्टी, घड़ा, झाग, बुदबुदे के उदाहरण से काट कर दूसरा मत कहता है कि बहिर्जगत् के नाम, रूप, कर्म जैसे ज्ञान में आकर अर्न्तजगत् बनाते हैं वैसे ही अन्तर्जगत् की सत्ता भी आ जाती है और उनके साथ-साथ चली भी जाती है । यह मत यथार्थ ज्ञात होता है । ३. ज्ञान पर ज्ञान से ही जगत् की प्रातिभासिक सत्ता रस्सी में सर्प के समान बन गई है । यह मत आजकल दार्शनिकों का प्रचलित है किन्तु यह विचार अधिक प्रबल नहीं है ।

## १५. ज्ञान और सत्ता का पौर्वापर्य सूत्र

ज्ञान और सत्ता में पहले कौन, पीछे कौन इस प्रश्न का उत्तर भी जगत् के दो होने से सरल हो गया है । हम कह सकते हैं कि जगत् जबकि सत्तामय है अर्थात् 'है' इस बुद्धि ही को जगत् कहते हैं और

यह जगत् ज्ञान से बना हुआ है तो माना गया कि ज्ञान पहले है और सत्ता पीछे है। बहिर्जगत् की सत्ता ईश्वरीय ज्ञान के आधीन है और अन्तर्जगत् की सत्ता जीव रूप ज्ञान के आधीन है तात्पर्य यह है कि बिना ज्ञान के सत्ता नहीं अतः ज्ञान पहले है और सत्ता पीछे।

किन्तु स्मरण रहे कि जिस प्रकार बहिर्जगत् ईश्वर के ज्ञान के आधीन है उसी प्रकार जीव की सत्ता भी ईश्वर के आधीन है क्योंकि जीव भी एक प्रकार का बहिर्जगत् है अर्थात् प्रज्ञा के ऊपर चिदाभास होता है उसी को जीव कहते हैं। प्रज्ञा बहिर्जगत् है। प्रज्ञा के न होने से चिदाभास नहीं हो सकता अतः कहा जा सकता है कि चिदाभास का ज्ञान अर्थात् जीव का ज्ञान की सत्ता के आधीन है अर्थात् सत्ता पहले है और जीव का ज्ञान पीछे है।

अथवा यों समझना चाहिए कि अन्तर्जगत् का ज्ञान वाह्य जगत् की सत्ता के आधीन है, यदि बाहर घट की सत्ता नहीं है तो हमको घटका ज्ञान कदापि नहीं होगा। हम को जो कुछ भी ज्ञान होता है उस ज्ञान को उत्पन्न होने के लिए बाहर किसी न किसी वस्तु की सत्ता आवश्यक है अर्थात् पहले सत्ता रहती है तत्पश्चात् ज्ञान होता है।

तीसरी बात यह है कि इस प्रकार बहिर्जगत् की सत्ता के आधीन अन्तर्जगत् का ज्ञान भले ही हो किन्तु ईश्वरीय ज्ञान के आधीन बहिर्जगत् की सत्ता और जीव के ज्ञान के आधीन अन्तर्जगत् की सत्ता पहले कही जा चुकी है उस पर किसी का मत है कि ज्ञान और सत्ता इन दोनों में पहले-पीछे का विचार बांधना असमंजस है क्योंकि जो वस्तु का ज्ञान होता है वही वस्तु की सत्ता है—घट है—यही घट का ज्ञान है। 'है' को बिना पकड़े ज्ञान का रूप नहीं बनता और ज्ञान के बिना वस्तु की सत्ता कुछ भी नहीं कही जा सकती अतः वस्तु ज्ञान और वस्तु सत्ता दोनों एक है। इनको आगे-पीछे कहना भ्रम है इसी तात्पर्य को लेकर एक महर्षि का वचन है:—

**नैन वाचा न मनसा, प्राप्तुं शक्योन चक्षुषा।**
**अस्तीति ब्रुवतो ऽन्यत्र, कथं तदुपलभ्यते ।।**
**अस्तीत्येवोपलब्धस्यस्तत्व भावेनचोभयोः।**
**अस्तीत्येवोपलब्धस्य, तत्वभावः प्रसीदति ।।**

अर्थात् न तो वाणी से न मन से न नेत्रों से वह प्राप्त हो सकता है। जो 'है' यह कहता है उससे दूसरी जगह वह कैसे प्राप्त हो सकता है। है इसीलिए वह प्राप्त हो सकता है दोनों के रहने से ही 'है' इस रूप में प्राप्त होने पर सत्ता भाव सिद्ध हो जाताहै।

## ज्ञान और सत्ता पौर्वापर्य सूत्र का सारांश

ज्ञान तो प्रकाशमय है और समस्त जगत् ज्ञान का विषय है। ज्ञान का जो विषय हो वही सत्तामय है या सत्ता का रूप है। 'है' बुद्धि का नाम सत्ता है। जगत् 'है' बुद्धि के सिवाय और कुछ नहीं है अतः जगत् सत्ता मय है। जगत् २ प्रकार का है—अन्तर और बहिर्। अन्तर्जगत् का कारण

ज्ञान है-ऐसे ही बहिर्जगत् का भी कारण ईश्वरीय ज्ञान है। अतः दोनों जगत् का कारण ज्ञान है और जगत् सत्तामय है अतः ज्ञान सत्ता का कारण है अतः ज्ञान सत्ता से पहले है क्योंकि कारण कार्य से पहले होता है।

प्रज्ञा पर चिदाभास का नाम जीव है। प्रज्ञा बहिर्जगत् है अतः सत्तामय है। प्रज्ञा की सत्ता होने से चिदाभास का होना सम्भव है अर्थात् प्रज्ञा की सत्ता होने से चिदाभास या जीव का ज्ञान होता है अतः पहले सत्ता और ज्ञान पीछे है। दूसरी तरह समझो कि अन्तर्जगत् का ज्ञान बहिर्जगत् की सत्ता के आधीन है अतः सत्ता पहले और ज्ञान पीछे कहा जा सकता है।

जो यह बात कही गई कि ज्ञानाधीन अन्तर्जगत् है और अन्तर्जगत् का ज्ञान बहिर्जगत् के आधीन है और बहिर्जगत् की सत्ता ईश्वरीय ज्ञानाधीन है और इससे ज्ञान पहले और सत्ता पीछे बताई जाती है तो इस पर यह विचारणीय है कि ज्ञान का स्वरूप ही सत्ता से कायम होता है और सत्ता का भास ज्ञान से ही हो सकता है अतः कोई ज्ञान कभी भी बिना सत्ता के नहीं होता और कोई सत्ता बिना ज्ञान के स्थिर नहीं होती अतः ज्ञान और सत्ता दोनों ऐसे अविनाभूत हैं कि एक दूसरे बिना कभी नहीं रहते। ऐसी स्थिति में ज्ञान और सत्ता में से किसी को भी पहले पीछे नहीं कह सकते।

**मन वाणी अरु चक्षु से नहीं पकड में आत।**
**'है' उपलब्धि के परे, कछु न समझा जात।।**

(पु० गोपीनाथ जोशी)

## उपसंहार

इन प्रकरणों से यह सिद्धान्त निकला कि एक जगत् स्वतन्त्र रूप से है जो जीव के आधीन नहीं है और दूसरा जगत् जीव के ज्ञान से बना हुआ उसके आधीन है और इन दोनों जगतों से अतिरिक्त एक जीव है जो जगत् के अनुसार देश या काल के संबन्ध से छोटी सत्ता रखता है और अनन्त है किन्तु जगत् के अनुसार जड़ नहीं है। इन सबका प्रभु पृथक् एक ईश्वर है वह चेतन है। चेतनता में जीव ईश्वर के तुल्य है और छोटी सत्ता या अनन्त संख्या में जीव जगत् के तुल्य है।

ऐसी स्थिति में न विश्व को सत्य कह सकते हैं और न जीव अथवा ईश्वर को। बस इन तीनों से अर्थात् जगत्, जीव और ईश्वर से पृथक् और कुछ नहीं है। इन्ही तीनों को तत्वत्रय अथवा त्रिसत्य कहते हैं। इन तीनों में मुख्य परमेश्वर है। जीव और जगत् उसके आधीन में रहकर उसकी उपासना करते हैं किन्तु सत्यता की परीक्षा में जीव की कक्षा प्रथम है क्योंकि आपामर सभी को 'मैं हूँ' इस प्रकार अपना साक्षात्कार स्पष्ट रूप से होने के कारण जीव की सत्यता सबसे प्रथम सिद्ध होती है। फिर अन्तर्जगत् की सत्यता जीव ज्ञान की सत्यता पर निर्भर है। अन्तर्जगत् की सत्यता बहिर्जगत् की सत्यता पर निर्भर है और बहिर्जगत् की सत्यता ईश्वर की सत्यता पर निर्भर है। इस प्रकार जीव की सत्यता प्राप्त करके ही जगत् की सत्यता के द्वारा ईश्वर की सत्यता तक हम पहुँचते हैं अतः जीव की परीक्षा प्रथम है, ये तीनों ही एक से एक इस प्रकार सम्मिलित रहते हैं कि एक के बिना अन्य दोनों नहीं रह सकते अतः

तीनों का संयुक्त रूप होने के कारण इसको विशिष्ट त्रिसत्य कहते हैं इसी विशिष्ट त्रिसत्य सम्मिलित सिद्धान्त को आधार मान कर उपासक लोगों के नाना प्रकार के उपासना धर्म प्रचलित हुए हैं।

## उपासना सूत्र

कितने ही बल किसी एक बिन्दु में मिलकर संयोग से आपस में गूंथ जावे तो उसका हृद् ग्रन्थि कहते हैं। बल एक ऐसी वस्तु है जो बिना आश्रय के नहीं रहता। उसके आश्रय को हम यहाँ 'रस' शब्द से व्यवहार करेंगे। रस एक ऐसी वस्तु है कि जो सदा शान्त एक रूप पर रहता है क्योंकि वह क्रिया रूप नहीं है केवल सब बलों का वह आश्रय है परन्तु बल वह वस्तु है जो क्रिया के रूप में परिणत हुआ करता है क्रिया ही उसका रूप हैं। बिना क्रिया के अर्थात् बिना परिणाम के कभी रहता ही नहीं। जैसे रस शान्त रूप है उसी प्रकार उसके विरुद्ध बल क्षुब्ध रूप है। बिना बल के रस नहीं रहता और बिना रस के बल भी नहीं रहता। यही कारण है कि बल अपना क्षोभ करके नष्ट हो जाता है किन्तु उस क्षोभ का फल रस पर छोड़ जाता है और वह रस का संस्कार होकर रस के स्वरूप में परिवर्तन बन जाता है। इसी कारण से एक बिन्दु पर बलों के परस्पर मेल से जो हृद् ग्रन्थि बनती है उस में रस ही हो जाता है। इस रस को हम आत्मा कहते हैं। यह आत्मा यद्यपि क्रिया रूप न होने से बन्धन में कदापि नहीं आ सकती तथापि अपने बल के कारण बँधी हुई सी हो जाती है। इस ग्रन्थि के कारण यह आत्मा का बन्धन कहलाता है। इसी बन्धन के छुटकारे को मोक्ष कहते हैं और मोक्ष सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

जहां हृद्ग्रन्थि से रस में बलों की गांठ एक प्रकार की बँध चुकी है उस ही बिन्दु में उस गाँठ पर जब दूसरा बल लगाया जाता है तो उससे दूसरी गांठ फिर बनती है। दूसरा बल पहले बल से न मिलने के कारण दूसरी गाँठ अलग ही बनती है और अलग ही ढंग से खुलती है। बल जब किसी वस्तु पर लगता है तो उसकी दो गति होती है कभी पहले ही रस पर केवल शुद्ध नया बल आता है तो वहाँ गाँठ नहीं बनती केवल बल अपना क्षोभ दिखा कर नष्ट हो जाता है किन्तु जबकि रस पर बैठा हुआ बल अपने रस को साथ लिए हुए किसी वस्तु पर लगाया जाता है तो वहाँ वह नवीन गाँठ पैदा करता है जैसा कि कोई तीर या गैंद ऊपर या तिरछा फैंक दिया जावे तो वहां बल उस तीर या गैंद में पैदा किया गया किन्तु उसमें नया रस नहीं मिलाया गया है अतः गैंद या तीर बल के अनुसार कुछ दूर चलकर फिर ज्यों का त्यों हो जाता है उसमें सदा के लिए उस बल से कोई नया परिवर्तन नहीं होता किन्तु एक मिट्टी को भट्टी पर चढ़ा कर जब औटाया जाता है तो वह विशेष प्रकार के बल को पाकर काँच बन जाता है उस में उस बल से सदा के लिए एक नया परिवर्तन हो जाता है। पानी के परमाणुओं में विशेष प्रकार के बल लगने से बलों की एक गाँठ बँध गई थी उस ही गाँठ को मिट्टी कहते हैं अब उस गांठ पर दूसरा बल लगाने से दूसरे प्रकार की गाँठ बँधी गई है जिसको काँच कहते हैं। उस काँच वाली गाँठ को यदि प्रयत्न से खोलें या प्रकृति के अनुसार अपने आप खुल जावे तो संभव है कि काँच फिर मिट्टी हो जावे उस ही प्रकार मिट्टी की भी गाँठ खोल देने से वह पानी के रूप में आ जाती है। यही गाँठ का बँधना और खुलना है।

इस प्रकार हृद् ग्रन्थि के मुक्ति से आत्मा के बन्धन की मुक्ति हुआ करती है जिसमें रस, बल का आश्रय होने के कारण अपने आप बंध कर जगत् के रूप में आ जाता है और फिर अपने आप खुल कर आत्मा के रूप में अर्थात् स्वरूप में आ जाता है। इस प्रकार एक ही आत्मा कभी जगत् बनता है और कभी अपने रूप में रहता है। दोनों भेद एक ही तत्व के हैं। जो आत्मा पहले सर्वथा अखण्ड था, व्यापक था और एक रूप था उसी में बल के बन्धन से हृद्ग्रन्थि बन कर भिन्न रूप आ जाता है और परिमाण अर्थात् बल की न्यूनाधिकता के अनुसार परिछिन्न वस्तु बन कर उसी आत्मा के भिन्न २ अनेक खण्ड बन जाय करते हैं। पहली ग्रन्थि से जो वस्तु बनी थी उस पर दूसरी ग्रंथि से दूसरी वस्तु, तीसरी से तीसरी वस्तु इस प्रकार नाना वस्तुओं की सृष्टियाँ एक ही वस्तु के रस में हुआ करती हैं जैसे एक पानी की बूंद से अंकुर, शाखा, पत्र, पुष्प, फल, बीज होते हैं और उस बीज का गऊ के पेट में जाने पर दूध, दही, मलाई, मक्खन आदि नई २ सृष्टियाँ एक ही रस की हुई हैं इन सब में रस नहीं बदला है केवल बल नया २ चढ़ता गया है। यह ही बन्धन का सिलसिला जगत् का रूप है। ज्यों २ इन वस्तुओं से बल का बन्धन छुड़ाया जावे त्यों २ वस्तु अपने कारण के रूप में क्रम से आते २ अन्त में सब बलों का बन्धन मुक्त होने पर शुद्ध रस रह जाता है और उस पर बिना बन्धन के बल सब धरे रहते हैं। यही आत्मा की मुक्ति कहलाती है। इस मुक्ति की दशा में आत्मा या रस अपने स्वरूप में ही रहता है।

आत्मा क्रम से बन्धन पर बन्धन पाकर मन, प्राण, वाक् अर्थात् आकाश वायु, तेज, जल, मिट्टी, खनिज, उद्भिज, वृक्ष और जीव तथा जीवों के शरीर तक बन्धन में आ जाते हैं और ये सब अर्थ कह-लाते हैं जो प्रथम न; के रूप में कुछ २ ज्ञान रखता था वही अब बल की मात्रा बढ़ने से अत्यन्त जड़ के रूप में आ गया है किन्तु शरीर में फिर अपने स्वरूप से प्रवेश करके अपने उद्धार की चेष्टा के लिए ज्ञान स्वरूप का विकास करता है। यदि यह ज्ञान की मात्रा क्रम से बढ़ाई जावे तो भूमोदर्क क्रम से अथवा क्षीणोदर्क के क्रम से बन्धन सब खुलते खुलते शरीर से वृक्ष, खनिज, मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वाक्, प्राण, मन के रूप में आकर शुद्ध रस बन सकता है और जगत् की संज्ञा मिट कर शुद्ध सच्चिदा-नन्द की दशा मिल सकती है। जो शरीर के पकड़ में आकर परिछिन्न रूप में रह कर अल्पज्ञ, सुखी, दुखी हो गया था वही अब परमानन्द के रूप में आ गया है। इस प्रकार इस आत्मा का बन्धन पाकर जगत् बनना और मुक्ति पाकर निज स्वरूप में आना प्रवाहसिद्ध होने के कारण स्वाभाविक प्रतीत होता है किन्तु यदि विशेष प्रयत्न किया जाय तो बन्धन का आत्यन्तिक मुक्ति के कारण बन्धन का बीज सर्वथा निकल जाने से सम्भावना की जाती है कि फिर बन्धन न आवे इसी यत्न को विज्ञान कहते हैं। पूर्ण रीति से आत्मज्ञान होने पर यह विशुद्ध मुक्ति होना सम्भव है किन्तु यह आत्मज्ञान का प्रयत्न अत्यन्त कठिन है अतः उसका एक सुगम मार्ग निकाला गया है उसको उपासना कहते हैं।

जीव का मन अर्थात् ज्ञान चञ्चल है किन्तु परमेश्वर का मन अर्थात् ज्ञान नितान्त शान्त है क्योंकि जीव का ज्ञान अल्प या परिछिन्न होने के कारण अज्ञान से घिरा रहता है। इसी अज्ञान के वश नाना प्रकार के भय, शोक आदि दुःख के कारण जीव के ज्ञान में उपस्थित हुआ करते हैं इसीसे जीव का ज्ञान चञ्चल है किन्तु परमेश्वर का ज्ञान व्यापक होने के कारण उसमें अज्ञान का संबन्ध हो नहीं

सकता अतः अज्ञानजन्य भय शोकादि दुःख को कोई भी कारण उपस्थित नहीं होता इसीसे ईश्वर का ज्ञान सदा एक रूप है ऐसी स्थिति में यदि जीव भी अपने मन से चञ्चलता मिटा कर मन की वृत्ति को रोक कर योगाभ्यास के द्वारा यदि अपने मन को स्थिर कर सके तो चिदाभास का मन और ईश्वर का मन दोनों ही शान्त रूप होने से एकतान हो जाते हैं और इस प्रकार जीव का मन धीरे २ ईश्वर के मन में लीन हो जाता है और धीरे २ ईश्वर के मन की कला बढ़ाने लगती है यह ही उपासना का रहस्य है। इस उपासना क्रिया में जीव का मन ईश्वर के मन से इतना समीप होकर ठहर जाता है कि अन्त में जीव का मन भी ईश्वर के मन की शक्ति अर्थात् अवयव बन जाता है। पास रहने से उपासना और भाग बन जाने से भक्ति कहते हैं।

जिस प्रकार चक्षु को स्थिर करें किन्तु पानी में प्रतिबिम्ब चञ्चल हो तो दोनों का पूरा एकतान योग नहीं हो सकता किन्तु यदि प्रतिबिम्ब भी स्थिर किया जाय तो वह प्रतिबिम्ब चक्षु के समीप में अच्छी तरह आ जाता है इसी मेल को योग कहते हैं। इसी पास आने को उपासना कहते हैं और इसी प्रतिबिम्ब का आँख पर फिर प्रतिबिम्ब हो जाने को भक्ति कहते है; यदि यह क्रिया संयम शक्ति से स्थिर की जावे तो जिस प्रकार आँख प्रतिबिम्ब के प्रत्येक भाग पर अपना प्रकाश डालती है उसी प्रकार भक्ति होने पर जीव के ज्ञान में ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश खूब पड़ता है जिससे अष्टसिद्धि नाम का योग बल प्रत्यक्ष प्राप्त होते हुए दीखता है। यह प्रकृति का नियम है कि जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से योग करती है तो अल्प मात्रा की शक्ति में अधिक मात्रा की शक्ति धीरे २ आने लगती है जैसे एक ठण्डी वस्तु के पास गरम वस्तु का योग किया जावे तो उस ठण्डी वस्तु में भी गरमी का प्रवेश हो जायगा। इसी नियम के अनुसार अल्पज्ञ जीव का सर्वज्ञ ईश्वर में योग करने पर अल्पज्ञ जीव के ज्ञान की मात्रा बढ़ जाया करती है यही योगबल कहलाता है।

योग तीन प्रकार का है—क्रियायोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग। क्योंकि क्रिया और ज्ञान में ही परमेश्वर के दो मुख्य स्वरूप है अतः जीव यदि चाहे तो क्रिया द्वारा परमेश्वर में प्रवेश कर सकता है अथवा ज्ञान के द्वारा उसमें लीन हो सकता है। इसी प्रवेश करने को योग कहते हैं। यदि केवल क्रिया के द्वारा योग किया जाय अथवा केवल ज्ञान के द्वारा तो उसे क्रियायोग या ज्ञानयोग कहेंगे। किन्तु यदि ज्ञान संयुक्तक्रिया के द्वारा अथवा क्रिया संयुक्त ज्ञान के द्वारा योग किया जावे तो उसे भक्ति योग कहते हैं क्योंकि भक्तियोग में कर्म का ज्ञान अथवा ज्ञान का कर्म भक्ति अर्थात् भाग बन जाता है। इन तीनों योगों में कर्मयोग से महत्व की प्राप्ति है क्योंकि कर्म की शक्ति जीव में बढ़ जाती है और शक्तिमान् होने के कारण महत्व बढ़ता है और भक्तियोग अत्यन्त सरल उपाय है जिसके द्वारा ज्ञानयोग प्राप्त करने की सामर्थ्य आ जाती है और ज्ञानयोग से जीव अपने अल्पज्ञान को परमेश्वर के पूर्ण ज्ञान में लय कर देने के कारण ईश्वर तुल्य हो जाता है इसी को सार्ष्टच मोक्ष अर्थात् सायुज्यमोक्ष कहते हैं।

स्वार्थ की लिप्सा ( लोभ ) न करके अथवा किसी खास व्यक्ति के पदार्थ की लिप्सा से कर्म न किया जावे, केवल सामान्यभाव से संपूर्ण जगत् की जनता के हित करने वाला कर्म यदि निष्कारण बुद्धि से किया जावे तो उसे योग कहते हैं। एकदम स्वार्थ का कोई भी विचार न करके विश्वहितकारी कर्म

करने से विश्व के रूप में पुष्टि होती है जिससे विश्वमूर्ति परमेश्वर से हमारा योग उत्पन्न होता है । यही कर्मयोग का मुख्य तात्पर्य है । उपासना का मुख्य लक्ष्य जीव का ईश्वर में योग करना है और यह दो प्रकार से होता है अपने आत्मा के अंश को परमात्मा के अंश में योग करना अथवा परमात्मा के अंश को जीवात्मा के अंश में योग करना । इन दोनों अल्प मात्रा के जीव का पूर्ण मात्रा के ईश्वर में तुल्य रूप से आत्म समर्पण हो जाता है और यही आत्म समर्पण उपासना का मुख्य स्वरूप है । यह संपूर्ण जगत् परमेश्वर का शिल्प है इसमें यदि जीव अपने निज के ज्ञान से उत्पन्न शिल्प को यदि बहिर्जगत् के रूप में समर्पण कर दे तो वह जीव के ज्ञान का ईश्वरीय ज्ञान में आत्म समर्पण होगा । यह प्रथम उपासना है ।

जैसे वन का उत्पन्न होना प्राकृत होने के कारण ईश्वरीय शिल्प है किन्तु एक बगीचा लगाने में मनुष्य की बुद्धि खर्च होती है और बहिर्जगत् के रूप में परिणत हो जाती है । इससे कहना होगा कि जीव ने अपनी ज्ञान की मात्रा को बहिर्जगत् रूप ईश्वरीय ज्ञान की मात्रा में सदा के लिये आत्म समर्पण कर दिया है । जब तक जगत् में वह जीव का शिल्प विद्यमान रहेगा तब तक जीव का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान में समर्पित है । यह ही जीव की ईश्वर उपासना है ।

जितने पदार्थ इस जगत् में दीखते हैं उन सब की विद्या पृथक् २ है । प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति, स्थिति और नाश और परस्पर के संबन्ध का ज्ञान ही विद्या कहलाता है । जो एक महाज्ञान परमेश्वर का स्वरूप है । इन भिन्न-भिन्न पदार्थों का भिन्न-भिन्न सभी ज्ञान भी उसी महाज्ञान का अङ्ग प्रति अङ्ग है । अतः यह सभी विद्या रूपी ज्ञान परमेश्वर के अङ्ग होने से परमेश्वर का स्वरूप कहे जाते हैं । जितना ही इन विद्याओं का उपार्जन किया जावे उतना ही ईश्वर के स्वरूप का हम स्पर्श करते हैं अथवा यों समझो कि परमेश्वर की आत्मा से अपनी आत्मा का स्पर्श कराते हैं । यदि संभव होता की जगत् के समस्त पदार्थों का हम ज्ञान कर लेते तो परमेश्वर की संपूर्ण आत्मा और मेरी आत्मा एक हो जाती । किन्तु ऐसा कदापि नहीं । क्योंकि कोई भी मनुष्य संपूर्ण जगत् के पदार्थों का ज्ञान या अनुभव नहीं कर सकता अतः बहुत अच्छा उपाय यह है कि जगत् के सभी पदार्थों को छोड़ कर केवल अपनी आत्मा को बाह्य जाने क्योंकि संपूर्ण जगत् के पदार्थों की रचना में जितनी शक्तियाँ लगी हुई हैं उन सब शक्तियों का एक-एक बिन्दु लेकर ही हमारी आत्मा बनी है जो सर्व शक्तियों का छोटा घन है । उस हमारी एक आत्मा को जान लेना सम्पूर्ण जगत् को जान लेने के बराबर है । यदि हम अपने ही आत्मा को यथार्थ रीति से जान लेवें तो संपूर्ण जगत् को हमने जान लिया । और जगत् से पृथक् कोई ईश्वर का स्वरूप नहीं है अतः जगत् को जानना ही ईश्वर को जानना है । तो इससे सिद्ध हुआ कि अपनी आत्मा का यथार्थ ज्ञान होने से हमारी जीवात्मा ईश्वरज्ञानमय हो जाती है और जीव ईश्वर में भेद-भाव नहीं होने पाता । इसी को सायुज्यमुक्ति कहते हैं और यह सायुज्यमुक्ति आत्म ज्ञान रूपी ज्ञानयोग द्वारा सिद्ध होती है । इस प्रकार यह ज्ञानयोग की उपासना हुई ।

इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग तीन उपासना के मार्ग बतलाये गये हैं । इन मार्गों में यदि हम संपूर्ण मनोयोग न दे सके तो बहुत थोड़ा भी चलना परम लाभदायक है क्योंकि उस मार्ग में जाने का संस्कार आत्मा में हो जाने से दूसरे जन्म में उतनी गति स्वभावतः सहज ही में हो जाती है

और आगे भी उसी मार्ग में चलने के लिए प्रबल इच्छा और प्रकृति होती है। इस प्रकार अनेक जन्म में कभी न कभी सायुज्य मुक्ति मिल जाती है। यही विषय गीता में भगवान् ने कहा है;—

**बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।**
**अनेकजन्मसंसिद्ध, स्ततो याति परां गतिम् ॥**

अर्थात् बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मेरे को प्राप्त कर लेता है। अनेक जन्मों में अच्छे प्रकार ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति पा जाता है।

ऐसी कोई भी उपासना नहीं है कि जिससे जीव का आत्मबल न बढ़े किन्तु उपासना करता हुआ मनुष्य यदि दुःखी रहे यदि उसका हृदय दुर्बल हो तो निःसन्देह समझना चाहिए कि वह उपासना नहीं करता है और उसकी उपासना विधियुक्त नहीं होती क्योंकि प्रकृति नियमानुसार तीनों प्रकार की उपासना मनुष्य के आत्मबल को बढ़ाने वाली है।

## उपासनासूत्र का सारांश

रस और बल दो तत्वों से सकल जगत् बना हुआ है। रस वास्तव में शान्त और एक रूप में रहने वाला है किन्तु बल उसके विरूद्ध क्षुब्ध और बहुरूपा है। रस और बल वैधर्म्मी होकर भी जुदे-जुदे नहीं रहते वे सदा मिले हुए रहते हैं। रसबल संयोग का नाम ही जगत् है। जब रस पर बलों के ढ़ेर मिलते हैं तब वह रसबलों सहित एक प्रकार की ग्रन्थि सी हो जाती है इसी को हृद् ग्रन्थि कहते हैं। रस को आत्मा कहते हैं। हृद्ग्रन्थि के कारण आत्मा का बन्धन है और इस ग्रन्थि के छुटकारे या खुलने का नाम ही मोक्ष है मोक्ष ही सब से बड़ा पुरुषार्थ कहलाता है हृद्ग्रन्थि पर केवल बल के आने से क्षोभ मात्र होता है किन्तु रससहित बल के आने से दूसरी ग्रन्थि बन जाती है जैसे जल पर रससहित बल आने से मिट्टी और फिर मिट्टी से काच बन जाता है। इन गाँठों के खुलने से फिर वस्तु अपने पूर्वरूप में चली जाती है। वही गाँठ का बंधन या खुलना है।

अनादि, अनन्त, असीम, सर्वव्यापी, शान्त, एकरस और ज्ञानमय जो तत्व है उसको रस, आत्मा या ब्रह्म के नाम से कहते हैं। इनके विरुद्धधर्म वाला सादि, सान्त, सीमाबद्ध, परिच्छिन्न, क्षुब्ध, अन्धकारमय, बहुरूपा, अनेक आधार रस में तिरोहित, उद्भूत होने वाला, जो निराला एक तत्व है उस को बल, जड़, या माया कहते हैं। रस में बल के उद्भूत होने का नाम सृष्टि है और रस में बल के तिरोहित होने का नाम प्रलय है। सृष्टिदशा में बल, रस में ऐसा लिपट जाता है कि रस बल से बँधा हुआ सा प्रतीत होता है। रस में बलों के इतने ढेर के ढेर एकत्र हो रहे हैं कि साधारण दृष्टि में सकल जगत् जड़ ही जड़ दीखता है। किसी न किसी कारण से कहीं कहीं बल इतना निर्बल हो जाता है कि वहाँ ज्ञानमय रस का भान होने लगता है। ऐसी दशाओं को ही चेतना कहते हैं। बल का जोर कम होने से ही जड़ ही चेतना कहलाता है, ये चेतन वस्तुयें हीं जीवन कहलाते हैं। इन जीवों में बल का जोर घटते 2 इतना घट जाता है कि ज्ञान जो रसस्वरूप है भली प्रकार दीखने लगता है और ऐसे जीव ही

मनुष्य कहलाते हैं। जड़ से चेतन में बल आधार रह जाता है और जीवों की अपेक्षा मनुष्य में बल और भी न्यून हो जाता है और ज्ञान की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि अपने शेष बलबन्धन से मुक्त होने का उपाय कर सकता है। इस उपाय का नाम ही विज्ञान है। पूर्ण रीति से आत्मज्ञान होने पर बल का बन्धन, बल के रहते हुए भी टूट जाता है इसी को मुक्ति कहते हैं किन्तु यह आत्मज्ञान का प्रयत्न अत्यन्त कठिन है अतः उसका एक सुगम मार्ग निकाला गया है, जिसको उपासना कहते हैं।

विशिष्टत्रिसत्योपनिषद् के निरुपण के अनन्तर और भी अधिक सूक्ष्म विचार करने के पश्चात् जीव और ईश्वर के अतिरिक्त एक परमेश्वर भी ज्ञात होता है। यह जगत् इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत नहीं होता। अतः जीव, ईश्वर और परमेश्वर इन्हीं तीनों को सत्य मान कर यह शुक्लत्रिसत्य नाम का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस में निम्न परिच्छेद हैं।

**१ प्रजापतिपरिच्छेद । २ व्यूहानुव्यूहपरिच्छेद । ३ आत्मपरिच्छेद । ४ आत्मगतिपरिच्छेद ।**

# शुक्लत्रिसत्योपनिषत्

## [ ५ ]

## १–प्रजापति-परिच्छेद का प्रथम 'मूलैकत्वसूत्र'

प्रजापतिपरिच्छेद का प्रथम सूत्र 'मूलैकत्व' है अर्थात् इस जगत् का एक ही मूल है। इस विषय का निरुपण इस परिच्छेद में किया है।

जो जहाँ कुछ हम देखते हैं इन्हीं सब को जगत् कहते हैं। यह जगत् यद्यपि नाना प्रकार की वस्तुओं का समूह दृष्टिगोचर होता है तथापि इन सब को एक ही वस्तु से उत्पन्न हुआ समझना चाहिये। एक ही वस्तु क्रम से पश्चात् अनेक रूपों में परिणत हो गई है। वह वस्तु जिससे यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है उसको 'ब्रह्म' कहते हैं। वह एक है, इसके जोड़ का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। वह सब का आदि है और वह ही यह सब कुछ है। ब्रह्म से अतिरिक्त यहाँ कुछ नहीं जाना गया है

एक ही वस्तु से यह सब भिन्न २ पदार्थ बन कर इस प्रकार विस्तृत हो गये हैं जिनको हम अनन्त भिन्न २ रूपों में देखते हैं। इन सबको एक ही किसी तत्व से उत्पन्न होना मानने में मुख्य प्रमाण यही हैं कि हम इन सब भिन्न पदार्थों को आपस में परिवर्तनशील पाते हैं। अग्नि, आप और मृत्तिका जो अत्यन्त भिन्न अवस्था में हैं समय पाकर आपस में बदल जाते हैं यहाँ तक कि पानी पाषाण (पत्थर) हो जाता है और पाषाण पानी। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे कहीं होगा परन्तु इससे इतना अवश्य निश्चित हो गया कि अग्नि, आप और मिट्टी इत्यादि आपस में पर्याय हैं। जो कड़ा (एक भूषण) और कुण्डलादि भूषणों के अनुसार आपस में परिवर्तनशील हैं उनका आपस में किसी का कोई कारण नहीं हो सकता और जब बदलते हैं तो कार्य है और कार्य का कारण होना आवश्यक है। अतः मानना होगा कि इन पर्यायों से भिन्न इन सब का मूल कारण कोई एक ही पदार्थ है।

जिस प्रकार एक ही बीज से उत्पन्न होकर अंकुर, पिण्ड, शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि भिन्न २ प्रकार के पदार्थ बन कर उनके समूह से एक वृक्ष का रूप हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म रूपी एक तत्त्व से शनैः शनैः अनन्तानन्त भाव उत्पन्न होकर उनके समूह से यह जगत् का रूप खड़ा हो गया है।

जिस प्रकार एक ही पिता के शुक्रबिन्दु से शरीर के नाना प्रकार के भिन्न २ भाव जैसे रुधिर, अस्थि, मज्जा, वसा (चरबी), स्नायु आदि बनते हैं और इनमें एक ही प्रकार के बिन्दु से इस प्रकार के भिन्न २ भाव कैसे बने और क्यों बने यह जाना नहीं जा सकता, ठीक इसी नियम के अनुसार एक ही ब्रह्म से जगत् के अनन्त भिन्न २ भाव बन गये हैं, ऐसा जानना चाहिए।

जैसे उसी शुक्रबिन्दु से चक्षु, श्रोत्र, वाक् आदि भिन्न २ इन्द्रियां बनी हैं परन्तु चक्षु का काम श्रोत्र से नहीं होता और श्रोत्र का कार्य वाक् नहीं करती, इस प्रकार शक्तियों में अन्तर क्यों पड़ गया; एक ही वस्तु से उत्पन्न होकर क्यों नहीं सब का कार्य सब करते हैं यह ज्ञात नहीं होता वैसे ही एक ही ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले अग्नि, आप, वायु, शब्द आदि में भिन्न २ प्रकार की शक्तियां कैसे उत्पन्न हुई यह विषय अचिन्त्य है किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उस एक वस्तु से भिन्न २ प्रकार की शक्तियों का भिन्न २ प्रकार की वस्तुओं का विकास हुआ है। हम यदि इस पर विचार करें तो चक्षु में क्या शक्ति है वा श्रोत्रादि इन्द्रियों की शक्तियों में क्या भिन्नता है अथवा जल, वायु, अग्नि प्रभृति में क्या २ शक्तियां हैं इन बातों की भली प्रकार परीक्षा कर सकते हैं और सम्भवतः उन शक्तियों को यथार्थ रीति से जान सकते हैं किन्तु फिर भी उन शक्तियों के निज के वास्तविक रूप क्या हैं, उनका विकास कैसे हुआ इत्यादि विषय अब भी हमारे ज्ञान की सीमा से बाहर हैं अर्थात् किसी मनुष्य की भी विचार शक्ति ग्रहण नहीं कर सकती।

यहाँ पर किसी २ दार्शनिक का ऐसा विश्वास है कि वृक्ष का मूल ( बीज ) जिससे वृक्ष उत्पन्न होता है स्थूलरूप से देखने पर एक ही वस्तु प्रतीत होती है किन्तु वह बीज, अंकुर, पिण्ड, डाल, पात, फल भिन्न २ पदार्थों का संग्रह रूप है उसी का क्रमशः विकास होकर ये सब पृथक् २ दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य का शुक्र भी रुधिर, अस्थि, मज्जा, चक्षु, कर्ण आदि अत्यन्त सूक्ष्मरूप से विद्यमान भिन्न २ पदार्थों का एक संग्रह है जिसमें से क्रमशः विकास होकर भिन्न २ अवयवों में विस्तृत होकर शरीर का रूप प्रकट होता है। ये सब जो पहले भिन्न-भिन्न थे उन्ही से भिन्न २ जाति के पदार्थ पृथक् २ उत्पन्न हुए हैं। किसी एक ही वस्तु से भिन्न २ रूप या भिन्न २ शक्तियां उत्पन्न होना कदापि नहीं माना जा सकता। अतः संपूर्ण जगत् में जितने प्रकार के पदार्थ विद्यमान हैं उन सब का अत्यन्त सूक्ष्मरूप का नाम ही 'ब्रह्म' है, वह भिन्न २ रूपों का एक मिश्रण मात्र है। जिस प्रकार किसी शरबत में सौ (१००) प्रकार की वस्तुएं मिश्रित हों और उसमें से एक बूंद ली जावे जो देखने में एक बिन्दु के समान है किन्तु विश्वास करना होगा कि उस एक बूंद में भी उन सौ (१००) वस्तुओं का अंश सूक्ष्मरूप से मिश्रित है। इसी प्रकार ब्रह्म को भी मिश्रित पदार्थ मानना चाहिये। यह एक मत है और इसमें बौद्ध और वैदिक विद्वानों का विश्वास है। ऐतरेय ऋषि के कथनानुसार विश्वास करने का कारण यह है कि प्राणी के शरीर के प्रत्येक अङ्ग से तेजोरस निकल कर एक स्थान अर्थात् अण्डकोष में जमा होता है। उसका संनिवेश उसी

प्राणी के अङ्ग के अनुसार होने से उस प्राणी के आकार का एक कीट पैदा होता है जिसको भ्रूण कहते हैं वह जल बिन्दु के समान अत्यन्त मृदु और तरल होता है अतः सहस्रों भ्रूणों का समूह एक तरल शुक्र के रूप में प्रतीत होता है। इस शुक्र में जो असंख्या भ्रूण कीट हैं उनका एक २ मनुष्य के आकार का होने से चक्षु, श्रवण, मुखादि सभी अङ्ग प्रति अङ्ग सूक्ष्मता से विद्यमान रहते हैं जिनका ही पश्चात् में विकास होकर प्राणी का बड़ा भारी शरीर बनता है अतः कहना होगा कि वह एक ही किसी अमिश्रित बिन्दु से बना हुआ नहीं है। यदि कोई प्रश्न करे कि यह प्रक्रिया प्राणी से प्राणी उत्पन्न होने पर संभव हो सकती है किन्तु इस सृष्टि में जो सर्व प्रथम प्राणी उत्पन्न हुआ वह अपने पिता के शुक्र से उत्पन्न न था अतः वह भ्रूण से उत्पन्न न होकर किसी एक ही जाति के अमिश्रित बिन्दु से अवश्य बना होगा, तो इसके उत्तर में हम बौद्ध सिद्धान्तरूप से यह निर्णय करते हैं कि ऐसा कभी कोई समय ही न था जबकि प्राणी अपने पिता से उत्पन्न न हुआ हो। यह सृष्टि अनादि है जैसे वृक्ष का बीज अवश्य ही दूसरे वृक्ष से पैदा हुआ है उसी प्रकार दूसरे के शरीर में उत्पन्न हुए शुक्र से ही दूसरे प्राणी का शरीर बनने के नियम का सदा से प्रारम्भ है अतः शुक्र के अनुसार ब्रह्म का भी नाना विजातीय पदार्थों का संग्रहरूप एक मिश्रित पदार्थ होना ही निश्चित किया जा सकता है।

अब इस उपर्युक्त सिद्धान्त पर यह विचार करना है कि शुक्र के विषय में यद्यपि यह कहना बहुत कुछ सत्य ठहरता है किन्तु हम देखते हैं कि संसार में सभी प्राणी योनिज ही नहीं है बहुत से अयोनिज भी है। जैसे गोबर, केले का रस और दही मिलाकर बन्द घड़े में रखने से बिच्छू उत्पन्न होते हैं, किसी देश में संदूक भर कर सब प्रकार के मेवे बन्द करके धूप में ताप देने से हजारों कीटाणु उत्पन्न होकर पीछे उन सब का एक कीड़ा बन जाता है, लकड़ी में घुन पैदा होते है, फलों में कीड़े पैदा होते हैं। यहाँ देखना है कि फलों का रस जो सर्वथा एक ही प्रकार का है उससे अस्थि, मज्जा, चक्षु, श्रवणादि भिन्न २ आकार के पदार्थ बनते दिखाई देते हैं यह कोई विश्वास नहीं कर सकता कि उन रसों में आंख और कान, हड्डी और माँस भिन्न रूप में वर्तमान हैं। जिस रस से अस्थि बनी है उस ही रस से चक्षु भी बना है अतः यह कहा जाता है कि इस जगत् में एक ही किसी पदार्थ से भिन्न २ प्रकार के पदार्थ भी उत्पन्न हो सकते हैं अतः ब्रह्म को अमिश्रित पदार्थ मान सकते हैं।

अब हम को वृक्ष के बीज पर भी कुछ विचार करना है। बौद्धों का विश्वास है कि एक वट के बीज में सारा वटवृक्ष ज्यों सूक्ष्मरूप से विद्यमान है जिस का पीछे विकास होता है किन्तु यह विश्वास निरा अज्ञानता से भरा हुआ है किसी वृक्ष के बीज में उस वृक्ष का कोई भी अवयव पहले से विद्यमान नहीं रहता। प्रायः करके वृक्षों का बीज के डिब्बे के तौर पर दो पाट के संपुट से जुड़ा हुआ है। दोनों पाटों के अन्दर केवल दो पत्ते बतौर सांचे के विद्यमान रहते हैं और उन दोनों पत्तों को जोड़ने वाला एक वृन्त ( डांड ) भी होता है। इस वृन्त और पत्तों के जोड़ के स्थान पर तीन प्रकार का प्राण नियम से रहता है। एक प्राण वृन्त के द्वारा पृथ्वी में से मिट्टी घुला हुआ पानी खींच कर ऊपर चढ़ाता है जिन से पत्ते, डाली वगैरह बनते रहते हैं।। दूसरा प्राण दोनों पत्तों की अणी के द्वारा आकाश का रस अर्थात् सूर्य, चन्द्र की अमी पीता रहता है, और तीसरा प्राण पृथ्वी और आकाश से लाये हुए रस को लेकर प्रथम वृन्त और पत्तों को साँचे में ढाल कर उनकी सूरत बनाता है और पीछे किसी न

किसी अङ्ग को फोड़ कर पत्ते की सूरत में बने हुए उस रस को बाहर निकाल देता है। बाहर निकलने पर मिट्टी मिश्रित पानी में से पानी के भाग को सूर्य और वायु चूँस लेता है किन्तु मिट्टी के भाग को ऊपर जाने से पृथ्वी का आकर्षण रोक लेता है अतः फिर पानी सींचने की आवश्यकता हो जाती है। यह एक प्रकार का नियम है इसी में कुछ न कुछ न्यूनाधिक परिवर्तन करके भिन्न-भिन्न प्रकार का नियम देखा जाता है जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना यहां आवश्यक नहीं है परन्तु इतना कहना आवश्यक है कि इन बीजों में कुछ सांचे के अंश के अतिरिक्त और होने वाले वृक्षों के अवयव कुछ भी नहीं रहते। उसी सांचे के द्वारा मिट्टी पानी से पिण्ड, पत्ते, डाल, फल, फूल, रस, गुठली आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार हमारे ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् के भिन्नभिन्न पदार्थों का उत्पन्न होना माना जा सकता है।

यह एक दृष्टान्त केवल इसीलिये दिखाया है कि एकजातीय वस्तु से अनेक भिन्न जातीय वस्तुऐं उत्पन्न हो सकती हैं किन्तु वास्तव में जब देखा जाय तो ब्रह्म के लिये कोई दृष्टान्त देकर किसी विषय को सिद्ध करना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि दृष्टान्तों से सिद्ध किया हुआ नियम भी सृष्टि का ही एक स्वरूप है। नियमों का बनाना ही सृष्टि का रूप है। सृष्टि होने पर ये नियम स्थान स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु जब हम सृष्टि के मूलतत्व का निरीक्षण कर रहे हैं तो वह तत्त्व अवश्य ही सृष्टि से पहले होगा। सृष्टि से पहले उस मूलतत्त्व में उन नियमों का जो सृष्टि के पश्चात् उत्पन्न हुए हैं जानना असंभव है अतः सृष्टि के पश्चात् के पदार्थों का दृष्टान्त देकर मूलतत्त्व का निरूपण करना एक प्रकार अनुचित प्रतीत होता है, अतः इस सृष्टि का हम किसी एक ही मूलतत्त्व से होना आरम्भ करते हैं। इसमें संभव–असंभव का प्रश्न उठाना निरी अज्ञानता है। यदि हम सृष्टि की रचना पर गम्भीर दृष्टि डालें तो छोटी से छोटी सृष्टि का ढंग आश्चर्य-जनक और असंभव प्रतीत होता है किन्तु जिनको हम बारबार होते हुए देखते हैं उनका असंभव स्वभाव संभव में परिणत हो जाता है। केवल जिन नियमों को हमने नहीं देखा है उन्हीं को मनुष्य असंभव करके त्यागने को तत्पर हो जाता है किन्तु इस प्रकार का ग्रहण और त्याग व्यवहार मार्ग में किसी सीमा तक ठीक है किन्तु पारमार्थिक विज्ञानमार्ग में कोई भी असम्भव नहीं माना जा सकता। मनुष्य की बुद्धि सीमा-बद्ध है अतः उसके जानने न जानने से संभव असंभव की व्यवस्था करना उचित नहीं हो सकता अतएव हम यहाँ सिद्धान्तरूप से यह स्थापित करते हैं कि यह संपूर्ण सृष्टि एक ही मूलतत्त्व से बनी है और वह मूलतत्त्व विजातीय भेद, सजातीय भेद और स्वागत भेद इन तीनों से रहित है, पूर्ण, अखण्ड, अद्वितीय है। इससे किसी प्रकार सृष्टि हुई यही दिखाने के लिए हम अग्रसर होते हैं। अलबत्ता मुझको इसमें बिना संकोच के इतना कहना आवश्यक है कि ब्रह्मा की सब कार्यवाही दृष्टान्त के अनुकूल नहीं हैं क्योंकि सृष्टि में बीज आदि से वृक्षादि के उत्पन्न होने में कितने ही नियम दीखते हैं। यह कि बीज से अंकुर उत्पन्न होने में पृथ्वी की गरमी, उसकी उर्वरता, जल का सींचना, हवा, सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की अमी और ऋतु आदि बहुत से सहयोगी कारण होते हैं, इनके एक के भी न होने पर अंकुर नहीं होता और अंकुर उत्पन्न होने पर बीज का असली स्वरूप सर्वथा नष्ट हो जाता है परन्तु ब्रह्म में ये सब कुछ भी नहीं होते अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त न किसी सहयोगी करण की आवश्कता होती है और न इतने बड़े जगत् की सृष्टि होने पर भी उस मूलतत्त्व ब्रह्म के असली स्वरूप में किसी प्रकार का फर्क आता है वह ज्यों का त्यों बना हुआ रह

कर अत्यन्त अद्भुत सृष्टि की रचना कर देता है। यही उसकी महिमा है। यदि हम से कोई प्रश्न करे कि इस सृष्टि के अन्दर सहकारी कारण का आवश्यक होना और ब्रह्म में उसका न होना, अथवा सृष्टि के अन्दर कारण में विकार होना और ब्रह्म में विकार न होना इस प्रकार के भेद होने में कारण क्या है तो इसका यथार्थ उत्तर मेरे पास नहीं हैं क्योंकि इस सृष्टि की विद्या के दो विभाग हैं पर और अपर। पर विभाग इस प्रकार का जटिल है कि प्राणीके मन और बुद्धि की सीमा से बाहर है उसके जानने का दावा करना अज्ञानता है और अनिर्वचनीय है केवल अपर विभाग को मनुष्य बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जान सकता है अर्थात् उस एक मूलतत्त्व से इतनी विशाल सृष्टि किस रीति से उत्पन्न हुई, क्या क्या उत्पन्न हुए, जगत् का क्या रूप है इत्यादि विषय जानना ही अपर विद्या है उसी का विचार करने लिए हम यहाँ पर कुछ वर्णन करते हैं।

## मूलैकत्वसूत्र का सारांश

इस सूत्र में इस विषय का निरूपण किया जाता है कि इस समस्त जगत् का एक ही मूल है। यह जगत् अनन्त भिन्न भिन्न पदार्थों का एक समूह है। इस असीम भिन्नतामय जगत् का कारण या बीज या मूलतत्त्व एक ही पूर्ण, अखण्ड, अद्वितीय, भेदशून्य पदार्थ है जिसको 'ब्रह्म' कहते हैं इसका कुछ विचार करने से विदित होगा कि जगत् के समस्त भिन्न पदार्थ परस्पर बदलते रहते हैं। जैसे पृथ्वी से घास और घास, दूध, रक्त, गोबर और फिर दूध से दही, मक्खन इत्याद बदल जाते हैं और फिर समय पाकर घास, दूध आदि पृथ्वी में परिणत हो जाते हैं। ऐसी दशा में न पृथ्वी घास, दूध का कारण कहीं जा सकती है और न घास दूध पृथ्वी का कारण कहा जा सकता है। ऐसे ही पृथ्वी पानी में और पानी पृथ्वी में बदल जाया करते हैं यहाँ पर कौन किसका कारण है, नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ आपस में बदलते रहते हैं। ये सब आपस में कार्य पर्याय हैं ये एक दूसरे के कारण नहीं कहे जा सकते। क्योंकि जगत् परिवर्तनशील है अतः कार्य है। और जब कार्य है तो कारण अवश्य होना चाहिये। जगत् का कारण होने में मुख्य प्रमाण इस जगत् का कार्य होना ही है और जब कार्य सिद्ध हुआ तो इसका कोई न कोई कारण होना स्वतः सिद्ध हो गया। कार्य, रूपधारी और सीमाबद्ध है किन्तु कारण अरूप और असीम है अतः केवल अनुभवगम्य हैं। जैसे स्वर्ण आभूषणों का कारण है वैसे ही इस जगत् कार्यरूप का कोई आधारभूत कारण है और वह अरूप, असीम है किन्तु अनुभवगम्य अवश्य प्रतीत होता है। इस कार्य रूप जगत् का आधार भूत कारण, बीज मूलतत्त्व ही 'ब्रह्म' कहलाता है। यह अरूप, असीम, पूर्ण, अखण्ड अद्वितीय आदि सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ जैसे एक ही बीज से कई पदार्थों के पश्चात् एक वृक्ष बनता है उसी प्रकार 'ब्रह्म' रूपी एक तत्त्व से धीरे धीरे अनन्तानन्त भाव उत्पन्न होकर उनके समूह से यह एक जगत् का रूप खड़ा हो गया है जैसे एक ही पिता के शुक्रबिन्दु से शरीर के अनेक भाव, रस, खून, आदि बन जाते हैं और एक ही बिन्दु से ये अनेक भाव कैसे बन गए और क्यों बन गये कोई नहीं कह सकता, वैसे ही एक ही ब्रह्म से जगत् के नाना भाव बन गये हैं। जैसे एक ही शुक्रबिन्दु से भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न शक्तियों के साथ बन गई हैं और ये शक्तियां एक बिन्दु से कैसे बन गई यह नहीं जाना जा सकता वैसे ही पृथ्वी, जल, तेज आदि में भिन्न भिन्न शक्तियां कैसे पैदा हो गई, नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता ये क्या हैं और क्या कार्य करते हैं यह कहा जा सकता है किन्तु इनका वास्तविक रूप और उनका विकास कदापि नहीं कहा जा सकता।

किसी किसी दार्शनिक का ऐसा विश्वास है कि बीज में वृक्ष के समस्तभाग सूक्ष्मरूप से रहते हैं जैसे वृक्ष और मनुष्य, बीज और वीर्य में सूक्ष्मरूप से विद्यमान हैं वैसे ही यह स्थूल जगत् अपनी समस्त शक्तियों सहित ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से रहता है। अतः ब्रह्म एक भांति का पदार्थ नहीं है वह मिश्रित पदार्थ है। इस मत में बौद्ध और वैदिक दोनों का ही विश्वास है। ऐतरेय ऋषि के कथनानुसार वैदिक विद्वानों का विश्वास करने का कारण यह है कि वीर्य भ्रूणों का समूह है और भ्रूण मनुष्य के शरीरानुसार सब अङ्गों से परिपूर्ण है अतः वीर्य एक मिश्रित पदार्थ है और क्योंकि मनुष्य वीर्य से बना हुआ है अतः वह भी मिश्रित पदार्थ से बना हुआ है। यदि कोई आक्षेप करे कि आदिम पुरुष भ्रूणों से बना हुआ नहीं कहा जा सकता तो उत्तर में यह कहेंगे कि ऐसा कोई आदिम पुरुष नहीं हो सकता क्योंकि जब यह जगत् अनादि काल से है और अनन्त काल तक ऐसा ही रहेगा तो ऐसा कोई समय नहीं था कि जब प्राणी अपने पिता से उत्पन्न न हुआ हो। जैसे वृक्ष का बीज अवश्य ही दूसरे वृक्ष में पैदा हुआ है वैसे ही दूसरे के शरीर से ही उत्पन्न हुए शुक्र से ही दूसरे प्राणी के शरीर बनने का नियम सदा से है। इसी प्रकार 'ब्रह्म' भी शुक्रानुसार नाना विजातीय पदार्थों का संग्रहरूप एक मिश्रित पदार्थ होना ही निश्चित किया जा सकता है।

उपर्युक्त विषय शुक्र के तथा योनिज प्राणियों के विषय में ठीक हो सकता है किन्तु अयोनिजों में कभी ठीक नही रहता, जैसे बिच्छू का पैदा होना, मेवे से कीड़ों का पैदा होना और फिर उन सब से एक कीड़े का बनना, लकड़ी में घुन का पैदा होना आदि। यही विचार करने पर विदित होगा कि एक ही रस से कीट के हाड़, मांस, आँख आदि कैसे उत्पन्न हो गये। यह कोई नहीं कह सकता कि एक ही रस में हड्डी, माँस, आँख आदि वर्तमान हैं। अतः संभव हो गया कि रस से नाना भाँति की चीजें बन सकती हैं और एक ही ब्रह्म से अनेक रूप जगत् हुआ है।

बौद्धों का विचार है कि एक वट बीज में संपूर्ण वृक्ष ज्यों का त्यों सूक्ष्म रूप से विद्यमान है किन्तु यह उनकी भूल है क्योंकि बीज में न डाल है, न पात है और न कोई वट के अवयव है बलिक वृक्षों का बीज डिब्बे के सदृश दो पाट के संपुट से जुड़ा हुआ है और दोनों पाटों में दो पत्ते और बतौर साँचे के रहते हैं और उन दोनों को जोड़ने वाला एक वृन्त भी होता है। इस वृन्त और पत्तों के जोड़ के स्थान पर तीन प्रकार का प्राण नियम से रहता है। एक नीचे के रस को खींचता है दूसरा ऊपर के रस को और तीसरा दोनों रसों के पहले के वृन्त और पत्तों को साँचे में ढाल कर उनकी सूरत बनाकर बीज के किसी अंग को छेदन कर उस रस को बदल कर वृन्त तथा पत्तों की सूरत में बाहर निकाल देता है। बस इन बीजों में कुछ ऐसे साँचे के सिवाय वृक्ष के और अवयव कुछ भी नहीं रहते। उसी साँचे के द्वारा इसी मिट्टी पानी से पत्ते, डाल, फूल इत्यादि उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसी प्रकार हमारे ब्रह्म में से भी जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का बनना माना जा सकता है। यह एक दृष्टान्त इसीलिये दिखाया गया है कि एक ही वस्तु से नाना प्रकार के भाव बन सकते हैं। जब जगत् में यह संभव है कि एक से अनेक बनते हैं तो फिर एक ब्रह्म से जगत् की अनेक वस्तु क्यों नहीं बन सकती अर्थात् अवश्य ही बन सकती है। किन्तु वास्तव में देखा जाय तो जगत् के नियमों का दृष्टान्त देकर ब्रह्म की किसी बात का सिद्ध करना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि सृष्टि के नियम सृष्टि के ही रूप हैं जगत् रूपी कार्य के दृष्टान्त देकर

कारण रूप मूलतत्व ब्रह्म का निरूपण करना एक प्रकार से अशुद्ध प्रतीत होता है। अतः इस सृष्टि का एक ही मूलतत्व कारण दिखा कर हम इसका आरम्भ करते हैं इसमें संभव-असंभव का प्रश्न करना अज्ञानता है, क्योंकि हमारी बुद्धि सीमा बद्ध है कभी संभव असंभव हो जाता है और कभी असंभव संभव। अतः इस व्यवस्था को छोड़ कर यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि यह समस्त जगत् एक ही मूलतत्व से बना है और वह मूलतत्व सकल प्रकार के भेद अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत से रहित है, भेद-रहित, पूर्ण, अखण्ड और अद्वितीय है। ऐसे मूलतत्व से यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है। इस विषय को सिद्ध करने को हम उद्यत हुए हैं। इस ब्रह्म में न सहयोगी कारण की आवश्यकता है और न जगत् के बनने पर उस मूलतत्व में किसी प्रकार का अन्तर पड़ता है। वह जगत् से पहले और पीछे ज्यों का त्यों सदा एक पूर्ण अवस्था में रहता है। यह उसकी अद्भुत महिमा है। यदि कोई प्रश्न करे कि जगत् में सहकारी कारण का होना और ब्रह्म में न होना अथवा सृष्टि के अन्दर कारण में विकार होना और ब्रह्म में विकार न होना क्यों है तो इसका उत्तर मनुष्य की बल, बुद्धि से बाहर है क्योंकि सृष्टि की विद्या के दो भाग हैं एक 'पर' और दूसरा 'अपर'। पर विभाग अनिवर्चनीय है केवल अपर विभाग सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर जाना जा सकता है अर्थात् उस एक मूलतत्व से यह जगत् किस प्रकार उत्पन्न हुआ, क्या-क्या उत्पन्न हुए, जगत् का क्या रूप है ? इत्यादि विषय जानना ही अपर विद्या है और उस ही का विचार करने के लिये हम यहाँ पर कुछ वर्णन करते हैं।

## संक्षेप

**१. जगत् का मूल कारण 'ब्रह्म' है।**

**२. जगत् व्यष्टि व समष्टिरूप से परिवर्तनशील है अतः कार्य है और कार्य होने से कारण स्वतः सिद्ध होता है।**

## सृष्टि और इसके मूल कारण ब्रह्म इन दोनों का आपस में षड्विकल्प सम्बन्ध

a) जहां किसी वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ एक ही तो कारण से कार्य पृथक् होता है
b) जैसे पिता का पुत्र; और कहीं कारण विगड़ कर कार्य होता है जैसे बीज का वृक्ष, परन्तु इसमें कारण का बहुत कम भाग लिया जाता है और वृक्ष का बहुत सा हिस्सा दूसरे सहयोगी कारणों से लिया गया
c) है और कहीं पर कारण ही बदलकर कार्य हो जाता है जैसे दूध का दही। परन्तु कहीं पर कारण न
d) बदलता है और न बिगड़ता है और न कारणों से वह कार्य पृथक् ही होता है तथापि कारण के ज्यों के त्यों रहते हुए उसी में कार्य एक भिन्न वस्तु उत्पन्न हो जाता है परन्तु कारण का कुछ नहीं बिगड़ता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है जैसे मिट्टी में घड़ा और सूत में कपड़ा और जैसे कहीं पर कारण से कार्य
e) पृथक् उत्पन्न हो जाता है परन्तु कारण का कुछ नहीं बिगड़ता और न कम होता है वह ज्यों का त्यों बना रहता जैसे मकड़ी से जाल का तार। तात्पर्य यह है कि जगत् में कारण कार्य की प्रक्रिया अनेक प्रकार की देखी जाती है, ऐसी दशा में ब्रह्म का जगत् से कारण कार्यभाव है वह भी एक अनूठे प्रकार का हो सकता है। इसमें कारण से कार्य पृथक् बनता है पर कारण से कार्य जुदा नहीं रहता। जैसे मिट्टी से घड़ा जुदा

नहीं बनता किन्तु कारण में ही कार्य ओत-प्रोत होकर बैठा रहता है यहाँ तक कि कारण के नष्ट करने से उसके साथ-साथ वह कार्य भी नष्ट हो जाता है परन्तु दूसरा कारण मकड़ी है जो आप बिना बिगड़े ज्यों की त्यों रह कर अपने से पृथक् कार्य पैदा करती है और मकड़ी के नाश होने पर उस कार्य का नाश नहीं होता। परन्तु अब इन दोनों कारणों का मिश्रण हम ब्रह्म पाते हैं वह मकड़ी के अनुसार अपने से जुदा कार्य पैदा करता है जिसको जगत् कहते हैं। परन्तु यह जगत्‌रूपी कार्य मिट्टी में घड़े के अनुसार घिलमिल होकर एक हो रहा है कि जिस तरह मिट्टी से पृथक हम घड़े को नहीं पाते उसी प्रकार ब्रह्म से पृथक् यह जगत् कदापि नहीं हो सकता जैसे सब मिट्टी घट की घड़ा है और सब घट मिट्टी है। उसी प्रकार सर्वजगत् ब्रह्म है। इस कारण का कार्य के साथ अर्थात् ब्रह्म का जगत् के साथ षड्विकल्प संबन्ध है, वह इस प्रकार है।—

१. ब्रह्म में जगत् है।
२. जगत् में ब्रह्म है।
३. ब्रह्म और जगत् दोनों एक ही पदार्थ हैं अर्थात् जगत् ही ब्रह्म और ब्रह्म ही जगत् है।
४. ब्रह्म और जगत् दोनों भिन्न पदार्थ है।
५. जगत् से ब्रह्म भिन्न है परन्तु ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है।
६. ब्रह्म जगत् का सम्बन्ध अनिर्वनीय है।

अर्थात ब्रह्म में जगत् प्रातिभासिक रूप से है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म से जगत् बना ही नहीं। जगत् कोई वस्तु ही नहीं। बिना बने ही रस्सी में सर्प के अनुसार अथवा हमारी आत्मा में स्वप्नजगत् के अनुसार माया (जो बिलकुल झूठा होकर बिलकुल सच्चा दीखे वह ही माया है) से भासता है। यह माया क्या है सो अनिर्वचनीय है। किन्तु भासता है अतः माया का होना माना जाता है। परीक्षा करने पर सर्प के अनुसार यह जगत् भी कुछ नहीं ठहरता अतः माया को झूठा कहना पड़ता है। बस यही मायिक संबन्ध षड्विध है।

यह षड्विध् संबन्ध परस्पर विरुद्ध होने पर भी अविरोधरूप से ब्रह्म में घटित होते हैं अतः इसको षड्विकल्प सम्बन्ध कहते हैं जैसे जगत् में कारण कार्यों के कई प्रकार के भेद ऊपर दिखाये जा चुके हैं वे सब सम्भव हो सकते हैं। इस षड्विकल्प सम्बन्ध के अनुसार हम इस जगत् का मूल कारण उस एक ब्रह्म को मानते हैं।

## व्युत्पत्ति सूत्र

इस जगत् में जहां किसी वस्तु से कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहां दो भाग अवश्य होते हैं। एक उत्पन्न होने वाला उसको 'तूल' कहते हैं और दूसरा जिसमें उत्पन्न होता है उसे 'मूल' कहते हैं। यहां पर इस सम्पूर्ण विशाल जगत् को तूल समझकर उसके मूल पर विचार किया जाता है। बहुत विचार वृद्धि करने पर यह सिद्ध हो चुका है कि यह संपूर्ण जगत् एक ही किसी मूल का बृंहण है अर्थात् उफान के सदृश वही मूल तत्व बढ़कर इस जगत् रूप में आ गया है। बृंहण उस बढ़ाव को कहते हैं जिसमें कि पूर्ण

होने पर भी वास्तव में कुछ भी वृद्धि न होती हो। जैसे समुद्र की लहर जिसमें वायु के सम्बन्ध से जल का ऊँचा होना दीखता है परन्तु वास्तव में जल जितना था उतना ही रहता है। उस ही प्रकार माया के सम्बन्ध से ब्रह्म में बहुत कुछ क्षोभ होना दीखता है परन्तु वास्तव में ब्रह्म जितना है उतना ही रहता हैं। इस प्रकार मूलतत्व के बृंहण से यह जगत् हमको दृष्ट होता है उस ही मूलतत्व के बृंहण के कारण हम ब्रह्म नाम रखते हैं। बृह धातु का अर्थ बढ़ना है। आकाश सदृश व्यापक होने के कारण उस मूलतत्व से परे कोई बृहत् नहीं है और इस मूल से अतिरिक्त और कोई इस जगत् का बृंहण अर्थात् बढाने वाला नहीं है। वह ही सब बृहत् है और उसी के बृंहण से यह जगत् उत्पन्न हुआ है अतः उस मूलतत्व को ब्रह्म कहते हैं इसमें बृह धातु के आगे मन प्रत्यय जोड़ने से 'ब्रह्मन्' बना हैं यहां मन का अर्थ कर्ता है। एक ऋषि कहते हैं कि यह ब्रह्म शब्द 'भृ' धातु से बना है जिसका अर्थ धारण, तथा पोषण करना है यह सब कुछ जिस पर रक्खा हुआ है, जो इन सब को एक साथ धारण किये हुए है जिससे बाहर कुछ भी रक्खा हुआ नहीं है वह ही तत्व इन सबका धारण करने तथा पोषण करने वाला ब्रह्म कहलाता है। इस में 'भृ' धातु के प्रत्यय लगाने पर 'भर्' बन जाता है। उसके आगे 'मन्' प्रत्यय जोड़ने से 'भर् मन्' शब्द बनता है अब 'भर्' शब्द के 'ह' और 'र' इन दोनों वर्णों को आपस में बदल देने से 'ब्रह्मन्' बन जाता है। ( ब्+ह+अ+र्+मन्=ब्+र्+अ+ह+मन्=ब्रह्मन् ) जिसका अर्थ धारण पोषण करने वाला है। इस ही ब्रह्म को 'उक्थ' वा 'साम' भी कहते हैं जिससे कोई चीज उठती है वह उठने वाले का 'उक्थ' है और जो सब कार्य पर्यायों में समान रूप से रहता है वह उसका 'साम' है जो धारण करता है वह उसका ब्रह्म कहलाता है। जैसे वाक् प्रत्येक इन्द्रिय नाम का 'उक्थ' 'ब्रह्म' और 'साम' है। क्योंकि उसी से उठती है और वही धारण करती है और सब नामों के लिए समान है। इसी प्रकार 'रूप' के लिए चक्षु और कर्मों के लिए शरीर समझना चाहिये। इसी प्रकार इस सम्पूर्ण जगत् का एक ही कोई तत्व उक्थ, ब्रह्म और साम है, क्योंकि उसी से यह सब कुछ उभरा है और उसी से धारण किया हुआ है और सब में समान रूप से रहता है।

## ४. आत्मनिर्वचनसूत्र

जो जिसका उक्थ, ब्रह्म और साम हो उसी को उसका आत्मा कहते हैं। ये तीनों एक ही के स्वरूप हैं अर्थात् जो जिसका आत्मा कहा जाता है उसको उस वस्तु का उक्थ, ब्रह्म और साम समझना चाहिये, क्योंकि जो जिसका आत्मा है उसी से वे वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और वही आत्मा उन सब को धारण किये रहता है और वे कार्य पर्याय सब यद्यपि आपस में भिन्न रूप के होते है परन्तु उन सब में वह आत्मा सर्वथा समान रूप से रहती है। इसी कारण वह आत्मा कहलाती है। (आत्मा=आ सब ओर +अत् (पहुँचने )+मन् (वाला) अर्थात् अपने कार्य में सर्वत्र व्यापक )

इस आत्मा के जितने कार्य होते हैं वे दो भाग में अवश्य विभक्त होंगे। एक विशेष्य और दूसरा विशेषण। विशेषण वह है कि जिससे किसी वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद समझते हैं और जिस वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद किया गया वह भाग विशेष्य है। जैसे घट विशेष्य है और घटत्व विशेषण। घटत्व रूप और संख्या आदि वस्तु के गुण को कहते हैं जैसे पैंदे में गोलाई, पेट खाली और गला तंग यही

आकार घडे का घडापन है इसी को विशेषण कहते है। इस घडेपन को देखकर जिस द्रव्य को हम घट कहते हैं वह विशेष्य है इस घटत्व को हम आखों से देखकर उसी के द्वारा घट द्रव्य को भी आंखों से देखा हुआ। समझते हैं परन्तु वास्तव में घटत्व को विचार पर से हटा दिया जावे तो वह घट जो विशेष्य है विचार पर कभी नहीं रह सकता। ये दोनों विशेष्य और विशेषण मिल कर एक विशिष्ट कार्य रूप समझना चाहिये। इनमें विशेष्य भाग को हम अमृत कहेंगे और विशेषण को सत्य।

यह सत्य भाग तीन भाग में बाँटा जा सकता है १ कर्म, २ रूप और ३ नाम। इन्हीं तीनों सत्यों से ढका हुआ जो अमृत का भाग है वही आत्मा है। वह अमृत भाग केवल प्राण जो प्रायः जगत् के प्रत्येक पदार्थ में एक रूप से रहता है अर्थात् हाथी, घोड़ा, आग, पानी जहाँ जो कुछ है सब एक ही वस्तु प्राण ही प्राण है अतः वह प्राण अमृत है। वह प्राण जिस भिन्न २ सत्य से ढका हुआ होता है वह प्राण दूसरे प्राणों से भिन्न २ समझा जाता है अर्थात् कर्म, रूप और नाम इन तीनों सत्यों के भेद होने से प्राण सजातीय होकर भी भिन्न माना जाता है इसी भिन्नता को जगत् कहते हैं। इनमें प्राण भाग जो आत्मा का अंश है वह सर्वत्र एक होने पर भी भिन्न २ कर्म, रूप और नाम के कारण इस जगत् का अनन्त स्वरूप बन गया है। इस से इतना और समझना चाहिये कि जो अमृत का भाग यहाँ प्राण पद से कहा गया है वह कर्म, रूप और नाम की सृष्टि में प्रधान होने के कारण आत्मा मानी गई है। किन्तु वह प्राण, मन और वाक् के बिना कदापि नहीं रहता। अतः अब यह सिद्ध हुआ कि मन, प्राण और वाक् ये तीनों मिले हुए एक अमृत भाग हैं और वही आत्मा है जैसा कि वेद कहता है—स **वा एष आत्मा वाङ्-मयः प्राणमयो मनोमयः (बृहदारण्यक उपनिषद्)**।

अर्थात् वह यह आत्मा, वाक, प्राण और मनोमय है और कर्म, रूप, नाम ये ही तीनों सत्य भाग हैं और यही जगत् का रूप है। जो जहाँ कुछ हम देखते हैं एक ही आत्मा नाम, रूप, कर्म के भिन्न २ होने के कारण भिन्न २ दिखलाई दे रही है किन्तु इस आत्मा में मन की प्रेरणा, वाक् को भिन्न २ कर्म रूप, नाम में परिणत कर देता है। अतः इस जगत् में कर्म, रूप, नाम भिन्न २ प्रतीत होकर जगत् का रूप बना देते हैं। ये सब मन, प्राण की प्रेरणा से ही भिन्न २ सत्य उत्पन्न हुए हैं इसलिए आत्मा से ही जगत् का होना माना जाता है।

## ५. आत्माप्रतिपत्तिसूत्र

जो जिसका उक्थ, ब्रह्म और साम होता है अर्थात् जहां से उठता है जिसमें रहता है और जो उत्पन्न होने वाले में समान रूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है वही उत्पन्न होने वाले की आत्मा कहलाती है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूप पहले कहा जा चुका है अतः यह आत्मा शब्द 'सनिरूपक' अर्थात् सापेक्ष व संबन्धी शब्द ठहरता है। जिस तरह पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य आदि शब्द एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं उसी तरह यह आत्मा शब्द भी जगत् या शरीर से अवश्य ही आपेक्षिक संबन्ध रखता है। (जगत् भी एक प्रकार का शरीर है और शरीर भी एक प्रकार का जगत् है।) तात्पर्य यह है कि आत्मा से भिन्न कोई दूसरा भाग ऐसा है कि जिस को हम जगत् वा शरीर कहते हैं और आत्मा से उत्पन्न होकर अपनी परिस्थिति करता है। उसी की वह आत्मा कहलाती है। न आत्मा के बिना शरीर वा जगत् रहता है और न शरीर वा जगत् के बिना कभी आत्मा, आत्मा कहलाती है।

इस आत्मा की प्रतिपत्ति ( विचार ) ६ प्रकार से की जा सकती है—

**१–अवैकारिकरूढ, २–वैकारिकरूढ, ३–योगरूढ, ४–यौगिकरूढ, ५–यौगिक, ६–व्यूह ।**

इन्हीं ६ दशाओं में हम आत्मा को पाते हैं । आत्मविद्या का मुख्य स्वरूप इन्हीं ६ प्रकारों का निरूपण करना है । वही यहां क्रम से किया जाता है ।

## (१) अवैकारिकरूढ

वह पदार्थ जिसके भीतर कुछ अवयव न हो अर्थात् एक दूसरे से फरक करने वाले कोई अंश न हो और भिन्न २ प्रकार के पदार्थ जिस एक पदार्थ से उत्पन्न हुए हों वह अखण्ड, निरवयव, असीम ही सब से प्रथम मुख्य आत्मा मानी जा सकती है । किन्तु वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय इसलिये कहा जाता है कि उसका कुछ भी स्वरूप ठीक २ जाना नहीं जा सकता है और न कहने में आ सकता है ।

किसी वस्तु का जानना मन का कार्य है परन्तु यह मन किसी वस्तु को दूसरी किसी वस्तु से भिन्न नहीं कर सकता जब तक उस चीज को नहीं पकडता है । यह मन का स्वभाव है । क्योंकि वह अखण्ड आत्मा असीम और सर्वत्र व्यापक है तो उससे खाली कोई स्थान हो नहीं सकता और न कोई पदार्थ ही ऐसा है कि जिसके कण २ वा किसी भी अंश को हम ब्रह्म न कह सकते हो । जब कि इस प्रकार आत्मा की किसी वस्तु से मन भिन्नता को नहीं देख सकता तो उस अखण्ड आत्मा को पूर्ण स्वरूप से ग्रहण करने में असमर्थ है । अतः आत्मा अज्ञेय है और अनिर्वचनीय यो है कि संसार भर की किसी भी भाषा का कोई भी शब्द विशिष्ट कार्य के अतिरिक्त किसी भी अर्थ को कहने में सामर्थ्य नहीं रखता हैं । विशेष्य और विशेषण इन दोनों से बना हुआ जो अर्थ का रूप है उनमें विशेषण के द्वारा अर्थात् विशेषण की ओर हमारी दृष्टि पहुँचा कर उसके द्वारा किसी विशेष्य की ओर दृष्टि पहुँचाने का कार्य करता है बिना विशेषण को पकडे उस विशेष्य को जो सर्वत्र एक ही है उसको समझने में जगत् का कोई भी शब्द सामर्थ्य नहीं रखता । अतः वास्तव में वह आत्मा सर्वथा अनिर्वचनीय कही जा सकती है क्योंकि जब तक उसमें कोई नाम, रूप, कर्म स्थापित न किया जावे या जब तक उसमें कुछ भेद भाव उत्पन्न न हो जावे तब तक यह मूलतत्व हमारे वाक् और मन के अगोचर हैं अर्थात् उनकी दौड़ के मैदान के बाहर हैं ।

**यही निर्विशेष, अव्याकृत, अव्याहृत निराकार, निरंजन, निर्धर्मक निर्गुण ब्रह्म है ।**

## (२) वैकारिकरूढ

इस प्रकार जो निर्विशेष, कह कर एक आत्मा दिखाई गई है अर्थात् जिसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदों का अभाव है उसी निर्विशेष में अकस्मात् स्वगत भेद उत्पन्न हुआ अर्थात् वह अपनी महिमा से जो पहले अखण्ड थी सो पश्चात् तीन खण्डों में स्वतः परिणत होकर दीखने लगी । अब हम यहां से उस ब्रह्म आत्मा को ३ खण्ड वाली ही मानकर सृष्टि का आरम्भ करेंगे । इन ही ३ खण्डों से जो जिस प्रकार सृष्टि हुई वह 'अपरा विद्या' है और उस सृष्टि को हम किसी सीमा तक जानने का पूर्ण दावा रखते हैं । ये तीनों खण्ड वैकारिकरूढ हैं । (अभिन्न एक तत्व में तीन भेद का होना ही विकार है ) वैकारिक इसलिए है कि यह संपूर्ण सृष्टि इन तीनों से उत्पन्न हुई है और यह नित्यसृष्टि के आदि मध्य और अन्त में अनवरत ( हर समय ) दिखाई देते हैं । वे तीनों ये है, **मन, प्राण, वाक् ।**

# (३)—योगरूढ

मन, प्राण और वाक् ये तीनों भिन्न भिन्न करके नहीं रहते। तीनों सर्वदा सम्मिलित रूप में ही सृष्टि के कारण होते हैं अतः इन तीनों अवयवों से कोई एक ही अवयवी आत्मा माननी पड़ेगी। उसी एक आत्मा को हम यहां 'प्रजापति' कहेंगे और वह सर्वदा यज्ञ करता रहता है। इस यज्ञ से यह सृष्टि उत्पन्न होती है अथवा जिस सृष्टि को हम देख रहे हैं वही उस आत्मा का यज्ञ हो रहा है। कारण यह है कि इस मन भाग में एक प्रकार की 'अशनाया' (क्षुधा) उत्पन्न होती है जो अशनाया आज तक इस जगत् के प्रत्येक पदार्थों में अब भी दीखती है जिसके कारण सूर्य हमारी पृथ्वी के एक एक अंश को प्रतिक्षण भक्षण किया करती है अंतः दोनों के अंश प्रवेश करते रहते हैं और अपने अंशों को निकालते रहते हैं। इसी कारण इन दोनों अर्थात् सूर्य और पृथ्वी का स्वरूप कदापि नष्ट नहीं होता। इसी अशनाया के कारण इस प्रजापति में ३ भाव उत्पन्न हो जाते हैं जिनको 'उक्थ', 'अर्क' और 'अशीति' कहते हैं। जब कभी दूसरे किसी प्रजापति की अशनाया के कारण किसी प्रजापति का कुछ अंश निकलता है तो उस प्रजापति की अपनी अशनाया प्रबलता से जाग्रत हो जाती है और उसके उक्थ में से एक प्रकार का भाव बाहर से अन्न लेने के उठ खड़ा होता है और व्याकुलता से अन्न को लेने के लिए व्यापार करने लगता है उसी अंश को 'अर्क' कहते हैं। वह अर्क जिस अन्न को ग्रहण करके अपनी आत्मा की ओर खींचता है उसी अन्न को 'अशीति' कहते हैं। वह अर्क इस प्रकार अपने भीतर अशीति को लेकर जब अपने वाक् की कमी को पूरा कर लेता है तब शान्त होकर अपने उक्थ में जो मन है लीन हो जाता है। उस समय उक्थ के अतिरिक्त अर्क का कुछ व्यापार नहीं होता। बस इसी प्रकार उक्थ से अर्क का उठकर अशीति के ग्रहण करने से प्रत्येक आत्मा की कमी पूरी होती रहती है अतः दूसरी आत्मा के भोजन करने से न्यूनता होने पर भी किसी आत्मा का कुछ अंश कम नहीं होने पाता। अब यहां इतना और समझ लेना आवश्यक है कि जिस अशीति अर्थात् अन्न को ग्रहण करके अर्क ने अपनी आत्मा में खीच लिया है उस अशीति में उसी समय से एक दूसरा व्यापार होने लगता है अर्थात् वह अन्न 'ऊर्क' नाम के रस में परिणत हो जाता है और वह ऊर्क प्राण में परिवर्तित हो जाता है और वही प्राण फिर अर्क होकर फिर अशीति अर्थात् अन्न को ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार अन्न, ऊर्क और प्राण जो क्रमशः आपस में परिवर्तन होते रहते हैं इसी को 'यज्ञ' कहते हैं। जब तक यह यज्ञ होता रहता है तब तक उस आत्मा का वह रूप बिगड़ने नहीं पाता। यह यज्ञ प्रत्येक प्रजापति का नित्य नियत कर्म है। कोई भी प्रजापति एक क्षण के लिए भी बिना यज्ञ के नहीं रहता। अलबत्ता यज्ञ का स्वरूप बदलता रहता है और यज्ञ का स्वरूप बदलने से वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है। इस परिवर्तन के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, अग्नि, वायु आदि भिन्न भिन्न प्रकार के प्रजापति जगत् में दिखाई दे रहे हैं। यद्यपि ये प्रजापति अनन्त हैं तथापि प्रत्येक प्रजापति दूसरे प्रजापति को भक्षण किया करता है और आप भी दूसरे प्रजापति से खाया जाता है किन्तु प्रत्येक प्रजापति का बल बराबर नहीं होता। इसी कारण यज्ञ का बल भी न्यूनाधिक हो जाता है और अन्न से प्रबल यज्ञ के आक्रमण के कारण कोई कोई यज्ञ नष्ट हो जाता है यही सृष्टि का क्रम है और यही हमारे प्रजापति का स्वरूप है और यह यज्ञ रूप आत्मा है।

## (४)–यौगिकरूढ

यह जो प्रजापति एक आत्मा है उसके अङ्ग में तीन आत्मा मन, प्राण, वाक् रहते हैं। इन आत्माओं के स्वरूप से ही दो अवस्थायें देखी जाती हैं। एक 'उक्थ' और दूसरी 'महिमा' जैसे दीपक में जो लौ है वह उक्थ के रूप में हैं। किन्तु उसके चारों ओर जो प्रकाश मण्डल फैला हुआ दीखता है वही उस दीपक की महिमा है।

जगत् में ४ प्रकार के पदार्थ हैं—१–**स्वतःप्रकाश**। २–**परतः प्रकाश**। ३–**रूपप्रकाश** ४–**अप्रकाश**। जैसे सूर्य, अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थ स्वप्रकाश हैं! चन्द्रमा, दर्पण आदि परप्रकाश हैं। घट, पट आदि अस्वच्छ पदार्थ सभी रूपप्रकाश हैं और वायु, शब्द, प्राण आदि अप्रकाश हैं। इनमें स्वः प्रकाश पदार्थों के दोनों भाग जिस प्रकार स्पष्ट दिखाई देते हैं उसी प्रकार पर प्रकाश में आधे भाग में महिमा दीखती है और आधे में नहीं। किन्तु रूपप्रकाश और अप्रकाश में यद्यपि कुछ भी महिमा नहीं दीखती तथापि विश्वास करना होगा कि इन चारों में समानभाव से उक्थ और महिमा दोनों भाग रहते हैं। रूप-प्रकाश की महिमा जहां तक व्याप्त है उसी के भीतर दृष्टि रखने से हम उस वस्तु को देख सकते हैं। अथवा जहां तक हम उसको देखते हैं वहां तक कोई उस वस्तु का भाग मेरी आँखों पर आता है किन्तु वह वस्तु जहां की तहां रहती है मेरी दृष्टि पर नहीं आती तथापि उस वस्तु का जो भाग मेरी दृष्टि पर आता है उसी को हम उसकी महिमा कहते हैं। वस्तु का गन्ध बहुत दूर तक फैला हुआ उसकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि जगत् के पदार्थ के उक्थ अर्थात् बीच के कन्दल [ ऋक् ] के चारों ओर महिमा रहती है।

अब यह महिमा ३ प्रकार की हैं क्योंकि प्रत्येक पदार्थ एक आत्मा होने से प्रजापति है अतः उसके तीन अङ्ग अवश्य होवेंगे। जिनमें मन के उक्थ से उठे हुए महिमा को 'वेद' कहते हैं जो तीन प्रकार का है 'ऋक्', 'यजु' और 'साम' जिनका वर्णन आगे होगा। प्राण के उक्थ से उठे हुए महिमा को 'यज्ञ' कहते हैं और वाक् के उक्थ से उठा हुआ महिमा 'प्रजा' कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रजापति के चारों ओर नियम से वेद, यज्ञ और प्रजा ये तीनों महिमाएँ व्याप्त रहते हैं। और उसी महिमा तक उस प्रजापति की सत्ता विद्वानों की दृष्टि में रहती है। वेद, यज्ञ और प्रजा प्रजापति की प्रथम सृष्टि है। और वह नित्य है। इसके बिना प्रजापति कभी भी देखने में नहीं आता। ये तीनों ही 'यौगिकरूढ' हैं।

इन में वेद से ज्ञान, यज्ञ से क्रिया, प्रजा से अर्थ तात्कालिक उत्पन्न होते हैं जैसे किसी वस्तु की वेद रूपी महिमा जहां तक फैली रहती है उसी सीमा के अन्दर दृष्टि रखने से उस वेद का भाग जितना दृष्टि पर पड़ा या किसी नाड़ी के द्वारा मस्तिक में जाकर मेरे प्रजापति के मन भाग से संयोग करता है और दोनों के संयोग से जो परिणाम उत्पन्न हुआ वही उस वस्तु का 'मेरा ज्ञान' हैं। यह ज्ञान दो वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुआ है अतः यौगिक रूढ है। किसी प्रजापति के प्राण की महिमा या यज्ञ जब किसी दूसरे प्रजापति पर अपना प्रभाव डालता है तो उस महिमा को दूसरा प्रजापति अपने में ले लेता है वही प्रथम प्रजापति की क्रिया कहलाती है जैसे हम बोलते हैं, चलते हैं, हिलते हैं, इन कम्पन से मेरे शरीर का प्राण अवश्य ही कुछ खर्च हो जाता है और वह प्राण क्रियारूप में बदल कर वायु आदि मेरे चारों ओर

पदार्थों में प्रवेश करके उनमें कुछ परिवर्तन अवश्य ही कर देता है। यदि इस प्रकार दूसरे पदार्थ मेरे प्राण को अपने में नहीं लेते तो मैं कोई भी क्रिया नहीं कर सकता अतः क्रिया भी 'यौगिकरूढ' है। अब तीसरे वाक् की महिमा से जो प्रजा उत्पन्न होती है वह जब दूसरे मन, प्राण, वाक् को ग्रहण कर लेती है तो अर्थ कहलाता है जैसे किसी फल में गूदा जो पहले एक ही प्राण रखता था अब उसका कुछ भाग बिगड़ कर प्रजा होकर जब भिन्न प्रकार के मन, प्राण, वाक् को ग्रहण करलेता है तो वह उस फल से अलग होकर एक कीड़े या लट के नाम से कहा जाने लगा और वह नया अर्थ हो गया। इस प्रकार प्रजा-पति के वेद, यज्ञ और प्रजा से ज्ञान क्रिया और अर्थ की सृष्टियां होती रहती हैं और ये भी सब यौगिक-रूढ हैं।

इन अर्थों में से दो प्रकार के अर्थ इस तरह मिले कि एक, दूसरे को मार डालते हैं और दोनों ही मर कर नया अर्थ पैदा करते हैं और पहले के दोनों भाग न दिखाई देकर एक ही सर्वथा रूढ़ तत्त्व बन जाता है उसी को यौगिकरूढ़ कहते है जैसे पानी में वायु का झौका लगने से पानी में लहर पैदा होती है जिससे पानी ऊँचा उठकर सतह की ऊपर वाली हवा को ढक लेता है बुदबुदा पैदा हो जाता है। यह बुद-बुदा बड़ा होने से हवा का बल अधिक रहता है अतः हवा पानी की पतली झिल्ली को तोड़कर बाहर निकल जाता है। परन्तु यदि यह बुदबुदे छोटे-छोटे बहुत से होते हैं तो वहां पर दूसरे बुदबुदों के दबाव से उनकी हवा बाहर निकलने नहीं पाती। कुछ समय तक हवा पानी को तोड़ कर बाहर निकलने का और पानी हवा को दबाने का भरपूर यत्न करते रहते हैं अन्त में कुछ समय पश्चात् दोनों मर जाते हैं। पानी स्वभावतः चेपदार है और हवा रूखी है अतः पानी से एक जीव होकर उसको रूखा बना देती है इसका परिणाम यह होता है कि पानी और हवा दोनों ही न रहकर एक तीसरी जाति की वस्तु पैदा हो जाती है वह झाग कहलाता है और यह झाग ही मिट्टी का पहला रूप है इस प्रकार दो पदार्थों का मरकर तीसरे पदार्थ का बन जाना यौगिकरूढ़ है। दो के मिलाव को किन्तु उनकी पृथक्ता नष्ट होने को रूढ़ कहते हैं।

## (५) यौगिक

दो पदार्थों के मिलने पर भी उन दोनों का तत्व अलग-अलग रहे तो उसको 'मिश्रण' कहते हैं जैसे पानी में चीनी घोलने से शरबत होता है किन्तु इन तत्वों का एक का दूसरे से मिलाव नहीं होने पाता अतः इनसे भिन्न एक नया तत्त्व पैदा नहीं होता। ऐसे मिश्रित तत्त्वों को यौगिक कहते हैं। यह रूढ़ नहीं है।

## (६) व्यूह

## (व्यूह, त्रिपुरुषमय व्यूह, अव्यय, अक्षर, क्षर)

उपरोक्त पाँचों आत्मा मिलकर एक व्यूह बना है। ऐसे कई व्यूह मिलकर एक आत्मा बनी हो वह व्यूह कहलाता है और जिसमें अनेक व्यूह हों वह व्यूहानुव्यूह है जिनका वर्णन विस्तार पूर्वक आगे होगा।

### १—अवैकारिकरूढ या परात्पर आत्मा सूत्र

जब हम जगत् पर दृष्टि डालते हैं तो इसके तीन भाग दीखते हैं—पहला भाग यह पृथ्वी और अनन्तानन्त पदार्थ इस पृथ्वी के सम्बन्ध से इस पर चारों ओर दृष्टिगोचर होते हैं। दूसरा भाग सूर्यमण्डल

है कि जिसके प्रकाश के सम्बन्ध से एक विश्वचक्र बना हुआ दीखता है। बस ये ही दो मुख्य भाग हैं। इन दोनों के सब पदार्थ इन दोनों से बँधे हुए होने के कारण 'सायतन' अर्थात् सीमित हैं, अपनी बँधी हुई सीमा से बाहर स्वतंत्रतापूर्वक नहीं जा सकते। तीसरा भाग जो इन दोनों के मध्य में खाली आकाश है और जिसके कारण पूर्व के दोनों भागों का अन्तर ज्ञात होता है अन्तरिक्ष कहलाता है इसमें कितने ही पदार्थ 'निरायतन' रूप से हैं जो किसी केन्द्र से न बँधे हुए होने के कारण सर्वत्र फैले हुए रहते हैं और इधर-उधर स्थानान्तर भी होते रहते हैं। इन तीनों भागों को तीन लोक कहते हैं। इन तीनों में सामान्य रूप से अग्नि रहता है जिसके इन तीनों लोकों के भेद से नाम, रूप, कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं जिनको अग्नि (पृथ्वी), वायु (अन्तरिक्ष) और सूर्य कहते हैं। यदि हम स्थूल दृष्टि से जगत् को देखें तो तीन लोक दीखते हैं और इसी त्रैलोक्य को जगत् कहते हैं किन्तु विज्ञान दृष्टि से निश्चित ज्ञात हुआ है कि ऐसे-ऐसे त्रैलोक्य अनन्तानन्त विद्यमान हैं जैसे यह पृथ्वी इस सूर्य के साथ बँधी हुई है उसी प्रकार अनन्तान्त त्रैलोक्य भी एक दूसरे महासूर्य के आधीन उसके चारों ओर जहाँ-तहाँ स्थित है। जिस प्रकार हमारे सूर्य में से ७ रङ्ग अथवा अनन्त रङ्गवाला भौतिक प्रकाश निकलता है उसी प्रकार उस महासूर्य से भी एक-एक महाज्योति निकलती है जिसमें रूप नहीं और दृष्टि से नहीं देखा जाता उसको 'ज्ञानमय प्रकाश' कहते हैं। उसी के द्वारा प्रकाश और अन्धकार का ज्ञान होता है और वह इस भौतिक प्रकाश तथा घोर अन्धकार में भी बराबर अपना प्रकाश जारी रखता है। हमारी स्वप्नावस्था में जहां सूर्य, चन्द्र, अग्नि के प्रकाश कुछ नहीं पहुँचते वहां आत्मा के उसी प्रकाश से सब दिखाई देते हैं और उस समय इस प्रकाश का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार विद्वान् लोग त्रिलोकी से बाहर उस महा ज्योतिष्मान् सूर्य की आत्मा को परोरजा स्वयंभू प्रजापति या परमात्मा कहते हैं। त्रिलोकी से परे होने के कारण परोरजा है यहाँ तक तो हुआ यह जगत् का स्वरूप किन्तु जगत् छोटा-बड़ा कैसा भी हो सब कार्य है अतः इसकी उत्पत्ति का कोई कारण ऐसा अवश्य होना चाहिए जो असीम, अनन्त, केन्द्ररहित और भेद–भाव रहित हो, क्योंकि जगत् के धर्मों से भिन्न होना चाहिए। हमारी बुद्धि किसी न किसी भेद–भाव या सीमा विभाग को पकड़ कर ही किसी वस्तु को धारण करती है किन्तु जगत् के उस आदि कारण में इन सब धर्मों के न रहने के कारण उसको हमारी बुद्धि ठीक ठीक ग्रहण नहीं कर सकती। अज्ञेय और अनिर्वचनीय कह कर उससे हट जाती है तो भी इतना मानने को वह सर्वदा तैयार है कि इस संपूर्ण जगत् का मूल कारण कोई न कोई ऐसा पदार्थ है कि जिसमें जगत् के धर्म कुछ भी नही हैं। वही पदार्थ सर्वप्रथम है और विज्ञान की परिभाषा में 'परात्पर' के नाम से व्यवहृत किया जावेगा। इसका अर्थ है परे से परे अर्थात् त्रिलोकी से परे एक सच्चिदानन्द, आत्मा पुरुषोत्तम, जो महासूर्य के नाम से कहा गया है उस से भी परे होने के कारण अगम्य, अगोचर, निर्विशेष आत्मा को 'परात्पर' कहते हैं।

यद्यपि वास्तव में इसके कोई भी नाम, रूप, कर्म नहीं हो सकते तथापि हम यह कहते संकोच नहीं करेंगे कि इस जगत् में जितने नाम हैं, जितने रूप हैं और जितने कर्म हैं वास्तव में सब उसी के हैं। जगत् में काला और सफेद, छोटा और बड़ा आदि भावों में परस्पर विरोध है अतः एक का रूप दूसरे का रूप नहीं हो सकता। परन्तु जबकि सब नाम, सब रूप, सब कर्म उस एक से निकलते हैं तो हमको कहना होगा कि ये सब नाम, रूप, कर्म उस निर्विशेष आत्मा का प्रपञ्च (फैलाव) विशेष हैं।

वह यद्यपि अज्ञेय है अनिवर्चनीय है तथापि यही उसका ज्ञान, और निर्वचन समझना चाहिये क्योंकि अज्ञेय को अज्ञेय निश्चय करना ही उसका वास्तविक ज्ञान है और अनिर्वचनीय को अनिर्वचनीय कहना ही उसका यथार्थ निर्वचन हो सकता है। यदि उस अज्ञेय को ठीक-ठीक जानने का दावा करें तो वह अज्ञानी है और वह उसको कुछ नहीं समझा ऐसा समझना चाहिए। वह जानने का दावा करने वालों के लिये न जानी हुई चीज है और जो उसको न जानने का तत्त्व कहकर जानते हैं वे उसको एक प्रकार पैंदे तक पहुँचकर जान चुके हैं जैसा कि वेद कहता है:—

**यस्यामतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः ।**
**अविज्ञातं विजानताम्, विज्ञातमविजानताम् ।।**

अर्थात् जो नहीं जानता वह जानता है जो जानता है वह नहीं जानता है क्योंकि वह जानने वालों से नहीं जाना गया है और जो नही जानते हैं उनने उसको जाना है। परिभाषिक शब्दों में जिसको अवैकारिकरूढ कहा है वह वैज्ञानिक भाषा में परात्पर आत्मा से व्यवहृत हुआ है।

**न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ।**
**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।** [ कठ० उपनि० ]

**सूर्य चन्द्र नहिं भासते, नहिं विद्युत की ठोर ।**
**भासत जिससे विश्व को, चमाचमी चहुँ ओर ।।** [पु० गोपी० जोशी]

---

## २– वैकारिकरूढ या सत्यत्रयसूत्र

इस जगत् के पदार्थों का यदि हम विचार करें तो तीन ही पदार्थ सर्वत्र दिखाई देवेंगे:–**ज्ञान, क्रिया और अर्थ**। अतः सहज ही में यह विश्वास होता है कि इन तीनों के मूल कारण भी तीन ही होवेंगे। उन ही मूलतत्वों को हम मन, प्राण और वाक् कहते हैं। सब कुछ इन्हीं तीनों से हुआ है। इनके कार्य समस्त परिवर्तनशील हैं कुछ समय तक रहकर फिर नहीं रहते अथवा बदल जाते हैं अतः वे सब असत्य हैं। उनकी अपेक्षा ये तीनों कारणरूप से सदा विद्यमान रहते हैं अतः मन, प्राण और वाक् इन तीनों तत्वों को 'सत्य' कहते हैं। जब ये तीनों मिलकर एक रूप पैदा करते हैं तब किसी वस्तु की अस्तित्वबुद्धि हुआ करती है इसलिये भी इन तीनों को सत्य कहते हैं इन में भी मन को सत्य का भी सत्य कहते हैं क्योंकि वस्तुओं में प्राण ही सत्य का रूप है परन्तु वह प्राण मन ही के आधार से ठहरता है और उसी की आज्ञा से काम करता है अतः वह मन सत्य का भी सत्य है। यह भी एक मत है कि इन में वाक् तो सत् और प्राण असत् और मन सद्सत् कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि दिक्–देश–काल आदि से जिसका परिच्छेद हो सके उसको सत् कहना चाहिये। वह वास्तव में वाक् के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता। वाक् ही से सब अर्थ बने हैं और सब अर्थ परिच्छिन्न रूप में हैं अतः उनको सत् कहते हैं किन्तु प्राण कार्य करने से ही अनुमान किया जाता है उसका कोई निज का रूप हमें नहीं दीखता अतः उसको असत् कहते हैं। परन्तु इस मन को ज्ञान

के रूप भी अपने भीतर समझता है परन्तु दूसरे का मन भी प्राण के अनुसार दृष्टिगोचर नहीं होता या अनुभव में नहीं आता अतः उसको सत् और असत् दोनों कहते हैं। प्राचीन ऋषियों ने इन तीनों को इन ही तीनों नाम से अधिकतर व्यवहार किया है अतः इस शास्त्र में भी इनका व्यवहार इन्हीं शब्दों से होगा।

**मन—प्राण—वाक्** के और-और नाम जो व्यवहृत होते हैं:—

**१ प्रज्ञा—बल—आकाश**
**२ धी—असु—रयि**
**३ बुद्धि—+—+**

## १.—मन के लक्षण

**मन निर्लेप, असङ्ग, अक्रिय, और अनवच्छिन्न है।** अर्थात् इस मन पर कितनी ही वस्तु आवे परन्तु वे इस पर चिपकती नहीं है अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र पर रङ्ग चढाने से वह रंग चिपक जाता है, बर्तन में तेल रखने से वह चिपकता है उसी प्रकार मन सदा के लिए चिपक नहीं जाता। जब तक मन किसी विषय को उठाये रहता है तब तक लिप्त हुआ सा दीखता है किन्तु जब उस विषय को छोड़ता है तो बेलाग होकर निकल जाता है और दूसरे विषय के रूप में आ जाता है। लाल रङ्ग का खयाल करके लाल हो जाता है किन्तु तत्काल ही सफेद का विचार होते ही श्वेत हो जाता है। वह प्राचीन लाली अब सर्वथा लुप्त हो गई अतः मन को **'निर्लेप'** कहते हैं।

जिस प्रकार आकाश अहर्निश वायु-जलादि पदार्थों से युक्त होने पर भी सर्वदा उनसे बेलाग रहता है उस ही प्रकार सब पदार्थों से युक्त होता हुआ मन भी उन से बेलाग रहता है अतः उसको **'असङ्ग'** कहते हैं।

मन एक प्रकार का आकाश है जिसमें सब पदार्थ प्रवेश करके ठहरे हुए दीख कर पीछे निकल जाया करते हैं अतः उस मन में कुछ भी क्रिया नहीं है जो कुछ क्रिया मन में भासती है वह उसके साथ ही प्राण से उत्पन्न होती है किन्तु मन अपने स्वरूप से **'निष्क्रिय'** है।

यह मन जिसको हम ज्ञान रूप में देखते हैं यदि हम उस ज्ञान पर दृष्टि डालें तो उसमें ऊंचा, नीचा, बगल आदि कोई भी प्रदेश या दिशा दृष्टि में नहीं आती अतः उसको **'अनवच्छिन्न'** कहते हैं जो मन राई को लेकर पूर्ण रूप होता है वह ही एक विशाल पर्वत या विश्वमण्डल को अपने में लेकर उन्हीं के रूप से परिपूर्ण होता है। वास्तव में मन न छोटा है, न बड़ा है केवल छोटी-बड़ी वस्तु को ग्रहण करके छोटा-बड़ा दीखा करता है। यदि उसका कोई अपना रूप होता तो इस प्रकार छोटे-बड़े रूप में कभी नहीं आ सकता अतः उसको **'अनवच्छिन्न'** कहते हैं। परन्तु उसमें यह गुण अवश्य है कि जिस वस्तु के साथ उसका योग किया जावे उस ही वस्तु के परिमाण और रूप-रङ्ग को लेकर दीखा करता है। बहुतों का यह भी मत है कि संपूर्ण जगत् में जितने पदार्थ हैं उन सब के अत्यन्त सूक्ष्म रूपों के समूह ही का नाम मन है। अतः यह जगत् का एक संक्षिप्त रूप है।

## २–प्राण के लक्षण

प्राण 'कुर्वद्रूप' अर्थात् प्रतिक्षण क्रियाशील है। जगत् में जो कुछ जहां क्रिया होती है वह सब प्राण का ही रूप है। प्राण एक स्थान से दूसरे स्थान में जब सम्बन्ध करता है तो उस वस्तु में कम्पन होता है उसी को क्रिया कहते हैं। सभी क्रियाओं का उपादान यही प्राण है। जिसमें क्रिया होती है उसमें से कुछ प्राण का भाग निकल जाता है। जिस प्रकार सरोवर में से एक बिन्दु पानी निकाल देने से उसका कुछ भी भाग कम होता हुआ नहीं दीखता है उसी प्रकार एक अंगुली हिलाने या चलने–फिरने से शरीर में प्राण की कमी नहीं मालूम होती परन्तु कमी अवश्य होती है, क्योंकि किसी भी क्रिया को यदि हम देर तक करते रहे तो अवश्य ही हम थक जाते हैं और यह थकना केवल प्राण की कमी है। जब इस अनन्त आकाश से अथवा वायुमण्डल से फिर हमारी वह प्राण की कमी हो जाती है तो थकान मिट जाती है अतः सिद्ध हुआ कि सब ही क्रिया प्राण का विकार है।

प्राण का दूसरा लक्षण यह है कि पञ्चभूतों अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के लक्षण एक भी प्राण में नहीं होते। प्रत्येक भूत आपस में टकराने से शब्द उत्पन्न करते हैं परन्तु प्राणों के घन आपस में टकराने से कुछ भी शब्द उत्पन्न नहीं करते। वायु का धक्का हमारे शरीर पर लगता है किन्तु प्राणों का आघात होने पर भी उनके स्पर्श का कुछ भी बोध हमें मालूम नहीं होता। लाल, पीला आदि न उसमें किसी प्रकार का रूप है और न मीठा, खट्टा आदि स्वाद है और न किसी प्रकार का गन्ध है अतः उसको भूत नहीं कह सकते परन्तु इतने पर भी उसमें एक असाधारण धर्म 'विधरणशक्ति' ऐसी है कि जिसके द्वारा हम इस प्राण को स्पष्ट रीति से पहचान सकते हैं जैसा कि थोड़ी सी मिट्टी में पानी मिलाकर खूब गूंधकर एक ढेला बनावे तो जल सूखकर केवल मिट्टी रह जावेगी परन्तु जिस प्रकार पहले मिट्टी बिखरी हुई थी अब सिमटकर एक ठोस रूप में ढेला बन गई है। इस मिट्टी में इस ठोस बनने का और मिट्टी को बिखरने न देने का कारण कोई नया पदार्थ अवश्य इसमें प्रवेश किया हुआ मानना पड़ेगा वही प्राण है। इस प्राण के विधरण धर्म के कारण मिट्टी के सब ही परमाणु इस प्रकार बंध गये हैं कि स्वतन्त्रता पूर्वक इधर–उधर बिखरने नहीं पाते। कोई कह सकते हैं कि परमाणु में एक प्रकार की आकर्षण शक्ति है जो आपस में एक-दूसरे को पकड़कर तनाव में आ गये हैं किन्तु यह भूल है। यदि परमाणुओं का अपना निज का स्वभाव ऐसा होता तो यह मिट्टी बिखरी हुई न रहती क्योंकि वस्तु में निज का स्वभाव नित्य होता है किन्तु इसी ढेले को प्रहार करने पर यह चूरमूर हो जाता है और फिर मिट्टी अपने स्वभाव के अनुसार बिखर जाती है। इससे मानना होगा कि उन परमाणुओं में आपस में पकड़ने का धर्म निज का स्वाभाविक नहीं है। दूसरे योग के कारण उसका योग हटाया और मिलाया जा सकता है, न्यूनाधिक किया जा सकता है। बस इसी विधरण करने वाले तत्त्व को 'प्राण' कहते हैं। यदि इन परमाणुओं में आकर्षण शक्ति मानी भी जावे तो उसी को हम प्राण कहेंगे। उस प्राण में आसंजन (खिचाव) होने के कारण बीच में भूत को रखकर आप उसके बाहर–भीतर इस प्रकार बंधा रहता है कि जिसके कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु को पकड़ने की क्रिया किया करता है।

तीसरा लक्षण यह है कि कोई भी प्राण भूतमात्रा के बिना कभी कहीं भी नहीं रहता। प्रत्युत इसी स्वभाव के कारण यह प्राण 'वाक्' में रहकर अपने विधरण धर्म से प्रतिक्षण घन बनता रहता है।

जिस प्रकार रूई के परमाणु अत्यन्त विरल दीखते हैं यही रूई यदि १० कोस में फैलादी जावे तो उतनी रूई को यह प्राण अपने विधरण के कारण यदि घन करने लग जावे तो संभव है कि एक राई के बराबर हीरे का टुकड़ा होगा। इसी प्रकार घन और विरल करता हुआ यह प्राण प्रत्येक भूत में कुछ न कुछ रहता है अतः प्राण को 'अर्थवान्' कहते हैं।

यहां यह और समझना चाहिए कि प्राण ४ जाति का हैः—**१–परोरजा** जिससे त्रैलोक्यसृष्टि के सब पदार्थ उसके विधरण से स्थान २ पर नियत रूप से रहते हैं। **२–आग्नेय**–जो विशकलन करने का स्वभाव रखता है। **३–सौम्य**–जो घन करने का स्वभाव रखता है। **४–आप्य**–जो रूपान्तर में बदलने का स्वभाव रखता है जैसे घास का दूध।

चौथा लक्षण **'आसंजन'** है। यह कहा जा चुका है कि मन असङ्ग है अर्थात् किसी वस्तु का धर्म उस पर नहीं आता वह बेलाग होकर निकल जाता है ठीक इसके विरुद्ध प्राण में आसञ्जन धर्म है। इसमें एक प्रकार का चेप है जिसके कारण आप स्वयम् भी भूतों के परमाणु से इस प्रकार चिपका रहता है कि जिससे प्राण और भूत पृथक् पृथक् स्थान नहीं रखते। प्राणमय भूत या भूतमय प्राण ही देखने में आते हैं। इस ही आसंजन धर्म के कारण यह प्राण विधरण भी कर सकता है।

यह प्राण मन को बांधने वाला है। यद्यपि मन किसी वस्तु का संग नहीं करता किन्तु प्राण, संग करने की अधिक शक्ति रखता है अतः वह अपनी शक्ति से मन को अपने में बांध लेता है। यही कारण है कि इन प्राणियों के शरीर में मन बंधा हुआ रहता है। किसी विषय का विचार करता हुआ मन यद्यपि बहुत इधर–उधर व्यापार करता है तथापि प्राण को छोड़कर अलग नहीं हो सकता। बंधा रहना मन का धर्म नहीं है किन्तु वह प्राण ही की शक्ति से बंधा रहता है अतः प्राण में 'मनोबंधकर्त्ता' अर्थात् मन को बांधने वाला धर्म है। पाचवाँ लक्षण 'विसारिता' है अर्थात् थोड़े प्रदेश में रहकर वह अधिक प्रदेश में भी रह सकता है जैसे दीपक की लौ और प्रकाश।

छठा लक्षण **'मन की आज्ञाकारिता'** है अर्थात् प्राण स्वयम् बिना मन के कोई भी व्यापार नहीं करता। अगुंली का हिलाना मन की इच्छा बिना प्राण नहीं करता। किसी वस्तु को हाथ से पकड़कर कोई मनुष्य सो गया, तब निद्रा से मन का व्यापार बन्द होते ही हाथ खुल जाता है और पकड़ी हुई चीज हाथ से गिर जाती है। यदि प्राण उस वस्तु के पकड़ने में स्वतन्त्र होता तो नींद की हालत में मन का काम बन्द होने पर भी प्राण का काम बन्द न होने से वह ज्यों का त्यों पकड़े रहता। यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि जब सोने में मन का काम बन्द हो गया तो और प्राणों के काम अर्थात् स्वांस का चलना, अन्न का परिपाक होना आदि कैसे होते रहते हैं तो इसका उत्तर विस्तार पूर्वक आगे दिया जावेगा, यहाँ केवल इतना ही कहना है कि इस शरीर में पृथक्-पृथक् दो मन काम करते हैं। एक जीव का और दूसरा ईश्वर का। जीव के मन की प्रेरणा से होते हुए प्राण के व्यापार निद्रावस्था में सब बन्द हो जाते हैं किन्तु ईश्वर के मन की प्रेरणा से प्राण का व्यापार नित्य रहता है। आकाश में बादलों का बनना, वायु का चलना बन्द होना जगत् के प्राणों के व्यापार ईश्वर के मन की प्रेरणा से ही है, क्योंकि जड़ पदार्थों का यह नित्य स्वभाव है कि वे आरम्भ होने पर बिना बन्द किये स्वयम् बन्द नहीं होते। जगत् में केवल

मन ही ऐसा पदार्थ है जो जड़ न होने के कारण अकस्मात् बदला करता है उसी मन की बदल को 'इच्छा' कहते हैं। जगत् में जो कुछ हम परिवर्तन देखते हैं ईश्वर के मन की इच्छा के कारण ही मानना पड़ेगा। हम जीवों के प्राणों में जब यह निश्चय हो गया कि मन की इच्छा बिना प्राण क्रिया नहीं करता तो हमको अनुमान कर लेना चाहिये कि और भी सब प्राण किसी मन की ही प्रेरणा से अपना काम करते होंगे। अतः इसी से हम ईश्वर की सत्ता में निश्चित रूप से विश्वास करते हैं। जितने प्राण जीवों की इच्छा के बिना काम करते हुए दीखते है वे सब ईश्वर के मन के अनुसार हैं। इससे सिद्ध हुआ कि प्राण मन की आज्ञा से ही अपना काम करता है अर्थात् 'मन का आज्ञाकारी' है।

सातवां लक्षण 'अप्रसुप्ति' है अर्थात् मन कभी जागता है और कभी सोता है और कभी तन्द्रावस्था में रहता है इसको स्वप्नज्ञान भी कहते हैं। इस प्रकार मन की तीन अवस्थाएं हैं। किन्तु प्राण कभी सोता ही नहीं सर्वदा काम करता रहता है इसी को 'अप्रसुप्ति' कहते हैं।

आठवां लक्षण 'श्रमराहित्य' है अर्थात् मन काम करते करते थक जाता है और विश्राम चाहता है किन्तु प्राण कभी नहीं थकता और न कभी विश्राम चाहता है। प्राण में यदि कोई थकान है तो वह भी मन की ही थकान समझनी चाहिए मन का काम प्राण को प्रेरणा करना है किन्तु थका हुआ मन प्रेरणा नहीं करता। अतः प्राण की क्रिया बंद होती हुई सी दिखाई देती है।

प्राण का नवां लक्षण 'संक्रमण' है अर्थात् वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु में चला जाता है। जिस वस्तु में जितने परिमाण से रहता है यदि उस से कम परिमाण वाली वस्तु मिल जाय तो दोनों का प्राण मिलकर संपूर्ण में समानभाव से संक्रान्त हो जाता है। अर्थात् यदि एक वस्तु अत्यन्त गरम हो उसके साथ यदि कोई शीतल वस्तु जिसमें गरमी की मात्रा कम है मिला दी जाय तो वह गरमी दोनों वस्तुओं में मिलकर समानभाव से फैल जायगी।

दशवां लक्षण 'प्राणापान' अर्थात् चलते चलते रुक जाता है और फिर चलता है। चलना ठहरना मेंढक की सी चाल है।

## वाक् के लक्षण

१. पहला लक्षण यह है कि वह जगह रोकने वाली होती है, जिस प्रदेश में वाक् रहती है जब तक वह न हटायी जाय तब तक उस स्थान पर वाक् नहीं बैठ सकती।

२. दूसरा लक्षण 'विकार' है। वाक् एक रूप से दूसरे रूप में इस प्रकार बदल जाती है कि उसका पहला रूप सर्वथा नहीं रहने पाता जैसे पानी का मिट्टी बनना और घास का दूध बनना।

३. तीसरा लक्षण 'प्राण का ग्रहण करना और छोड़ना' है। यह वाक् जिस प्राण के आधार पर बनती है किसी समय उसको छोड़कर दूसरा प्राण ग्रहण कर लेती है जैसे प्राणी का शरीर किसी प्राण के आधार पर बनते-बनते बुड्ढा हो जाता है किन्तु वाक् उस प्राण को छोड़कर सड़-गल कर राख या

मिट्टी के रूप में आ जाती है । यदि वह वाक् अपने प्राण को न छोड़ती तो यह प्राणी कभी न मरता । प्राण का निकल जाना ही मरना है । स्वर्ण को अग्नि में तपाने पर वह पिघल जाता है ठोस करने वाला प्राण उस समय निकल जाता है । इस प्रकार सर्वत्र निकलता और प्रवेश करता है ।

४. चौथा लक्षण 'केन्द्रयोगिता' है अर्थात् कोई भी वाक् ऐसी नहीं जो केन्द्रधारी न हो ।

५. पांचवां लक्षण 'मूर्ति' है अर्थात् कुछ न कुछ प्रदेश रखता है जिसके अवयव हो, विस्तार हो और लम्बाई और मोटाई हो ।

६. छठा लक्षण 'दिग्, देश और काल से उसका परिच्छेद' है ।

७. सातवाँ लक्षण कुछ न कुछ वैशेषिक धर्मयुक्तता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से कुछ न कुछ फरक करने के लिये अपने में खास धर्म रखती है ।

## मन, प्राण और वाक् का साधर्म्य वैधर्म्य

ये तीनों आपस में एक के विना एक कभी नहीं रहते अतः इन तीनों के कार्य ज्ञान, क्रिया और अर्थ ये तीनों भी मिले–जुले रहते हैं । ऐसा कोई ज्ञान नहीं जिसमें मन की क्रिया न हो और कोई न कोई विषय उसमें न रहे । विषय का रहना अर्थ भाग है और चक्षु के द्वारा विषय का आत्मा का मिलना क्रिया का भाग है । अँगुली हिलाने की क्रिया मेरी इच्छा और अँगुली से सम्बन्ध रखती है । जितनी इच्छा है वह ज्ञान का भाग है और अँगुली जो क्रिया का आश्रय है वह उसमें अर्थ का भाग है । इसी प्रकार जो घट बनाया जाता है उसमें बनाने वाले की इच्छा शामिल है वह जैसा चाहता है वैसा बनाता है । अतः उस वस्तु में वह ज्ञान का भाग शामिल है । कुम्हार के हाथ या चाक आदि का व्यापार उसमें क्रिया का भाग है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य का ज्ञान, क्रिया और अर्थ जहां जो कुछ होता है उसमें तीनों में तीनों शामिल हैं । मनुष्य चेष्टा के बाहर जो जगत् में अनन्त क्रिया और अर्थ हो रहे हैं उनमें यदि ज्ञान का अंश शामिल होते हुए नहीं दीखता तथापि मनुष्य के दृष्टान्त से ही यह दृढ़ अनुमान किया जा सकता है कि इनमें भी कोई न कोई ज्ञान का भाग अवश्य होगा । वह ज्ञान ईश्वर का समझना चाहिये । तात्पर्य यह है कि ये तीनों ही तीनों के कामों में बराबर सहायता करते हैं । इन तीनों में समान धर्म है । इन तीनों में जो अविनाभावधर्म है सो तो तीनों में समान है । इसी को साधर्म्य कहते हैं । इस प्रकार तीनों में तीनों के रहने से किसी को प्रश्न हो सकता है कि ये तीनों एक ही वस्तु हैं किन्तु ऐसा नहीं है । इन तीनों में केवल 'साहचर्य' अर्थात् एक साथ हिलमिल कर रहने वाले हैं । इनमें स्वभाव से भी एकता नहीं हैं क्योंकि क्रिया और अर्थ 'यज्ञ' है अर्थात् इनमें जानने स्वभाव नहीं हैं, ज्ञान और अर्थ 'अक्रिय' हैं अर्थात् क्रिया का स्वभाव इनमें नहीं है और ज्ञान और क्रिया अर्थानुसार प्रदेश वाले अर्थात् जगह रोकने वाले परिच्छिन्न पदार्थ नहीं हैं । तात्पर्य यह है कि क्रिया और अर्थ ये दोनों 'अज्ञेय' हैं अर्थात् ज्ञान से पकड़े जाते हैं, ज्ञान में ही रहते हैं परन्तु स्वयम् ज्ञान नहीं हैं । इसी प्रकार ज्ञान और अर्थ में क्रिया होती रहती है ये क्रिया के आश्रय हैं परन्तु स्वयम् क्रिया नहीं हैं । इसी प्रकार ज्ञान और क्रिया परिच्छिन्न अर्थ पर ही रहते हैं परन्तु स्वयं परिच्छिन्न नहीं हैं , इनमें परिच्छिन्नता अर्थ के द्वारा भासती है किन्तु यह उनका निज का धर्म नहीं

है । इससे सिद्ध हो गया कि ये तीनों भिन्न पदार्थ होकर भी सर्वदा साथ रहते हैं इनका 'साहचर्य' नियत है । हम देखते हैं कि यदि कोई वक्तृता करे तो उसके वाक्य में यदि ज्ञान का अंश हो अर्थात् जानने योग्य विषय हो और उसके भाषण में कुछ प्राण हो तो उसके भाषण में सुनने वालों को श्रद्धा होती है । यदि कहने वाला बिना मन से कहे अथवा उसके भाषण में ओज न हो तो लोगों की श्रद्धा नहीं होती अतः सिद्ध हुआ कि वाक् में मन और प्राण के योग से ही यथार्थ स्वरूप सिद्ध होता है इसी प्रकार प्राण अर्थात् बल भी बिना मन और अर्थ के प्रयोग किया जाय तो वह अनिष्टकारी होता है उससे शरीर और आयु दोनों क्षीण होते हैं । अतः किसी मुख्य अर्थ पर सचेत रहकर बल प्रयोग किया जाय तो वह लाभदायक होता है जैसे चलता हुआ मनुष्य अँधकार में में गड्ढे को न जानकर पाँव रखे तो गिर जाता है, बेअन्दाज पाँव रखने से पाँव लचक जाता है या कभी टूट भी जाता है । अब मन का तो प्राण और वाक् से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि इनके बिना मन का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता । जब कुछ मन से सोचता है तो वह भीतर ही भीतर कुछ न कुछ बोलता रहता है । वह बोलना ही मन का विचार है और किसी न किसी विषय को लेता और छोड़ता रहता है । इसी प्रकार चेष्टा करते-करते अन्त में कहीं विश्राम करके किसी बात का सिद्धान्त करता है । बोलना जिस प्रकार मन में वाक् का भाग है उसी प्रकार ऊहापोह ( लेना-छोड़ना ) की चेष्टा करना मन में प्राण का भाग है । यदि ये दोनों मन में से निकाल दिये जाँय तो मन का स्वरूप कदापि सिद्ध नहीं होगा अतः निःसंदेह हम कह सकते हैं कि यदि मन है तो वहां प्राण और वाक् भी अवश्य होंगे और यदि वाक् है तो वहां मन, प्राण अवश्य होंगे । अतः महर्षियों का सिद्धान्त है कि जो जहां कुछ पदार्थ दीखता है वह सब वाक् है **'अथो वागेवेदं सर्वम्'** ( ऐतरेय श्रुति ) अतः जिस प्रकार उसमें हम प्राण देखते हैं उसी प्रकार मन भी अवश्य ही होगा । सब चेतन हैं किन्तु लोक में जड़ चेतन का व्यवहार इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है । मन अन्तः करण है, अर्थात् भीतर की इन्द्रिय है उसके रहने न रहने से जड़–चेतन का भेद नहीं है किन्तु केवल पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के रहने से चेतन और न रहने से जड़ का व्यवहार किया जाता है । यह केवल व्यवहारिक दशा है । किन्तु पारमार्थिक विज्ञान में कोई भी पदार्थ बिना मन के सिद्ध नहीं होता अतः सचेतन है । इस प्रकार ज्ञान, क्रिया, अर्थ का और मन, प्राण, वाक् का साहचर्य सिद्धान्त रूप से यहां तक निरूपण हुआ ।

## मन, प्राण और वाक् का अधिकार अर्थात् पदार्थों में उपयोग

प्रत्येक वस्तु में मन 'अभिमानी' रूप से रहता है अर्थात् मैं अमुक हूँ यह यदि वह पदार्थ दावा करे तो वह मन के भाग में होता है । आर्य लोगों के मत में जगत् की प्रत्येक वस्तु में मन होना सिद्ध किया जा चुका है । उसी के अनुसार बहती हुई गङ्गा में जो वाक् अर्थात् मन का अंश है और जिसमें बहने की क्रिया है उसमें कोई मन का भाग है उस ही भाग को गङ्गा के अभिमानी देवता का लक्ष्य करके आर्य लोग गङ्गा की पूजा करते हैं । पीपल, तुलसी आदि जहां जहां जड़ पदार्थों में प्रतीक उपासना का नियम किया गया है उन सब ही स्थानों में अभिमानी देवता की ही उपासना की जाती है । और वह अभिमानी मन का भाग है । यही बात शारीरकभाष्य सूत्र में व्यासजी ने कहा है—**'अभिमानीव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'** अर्थात् उपासना में अभिमानी का व्यवहार होता है ।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में प्राण 'अधिष्ठाता' अर्थात् उस वस्तु का स्वरूप संरक्षक बनकर उस वस्तु को बाहर-भीतर सर्व प्रकार से पकड़े हुए उस पर आधिपत्य करता है। जैसे सेनापति सेना के प्रत्येक अङ्ग पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के भूतमात्रा पर यह प्राण अधिकार रखता है यही उसका 'अधिष्ठातृ' पना है। यदि इस वस्तु में से प्राण कुछ अंश निकाल दिया जाय तो उस वस्तु का पहले के अनुसार रूप नहीं रहेगा। दूसरे प्रकार के प्राण आने से वस्तु भी बदल कर दूसरे प्रकार की हो जाती है जैसे लकड़ी जलने पर कोयला या राख हो जाती है। राख में भी प्राण है किन्तु लकड़ी का प्राण निकल जाने से अब लकड़ी का रूप नहीं रह सकता यही उस लकड़ी के प्राण का अधिष्ठातृपना है।

इसी प्रकार वाक् प्रत्येक वस्तु में 'अधिष्ठान' रूप से रहता है अर्थात् यदि वाक् का भाग न रहे तो प्राण या मन दोनों ही नही रह सकते। उन दोनों का आश्रय यही वाक् है अतः इसको अधिष्ठान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि अभिमानी, अधिष्ठाता और अधिष्ठान ये तीनों मिलकर एक वस्तु का स्वरूप बनते हैं। इन तीनों का एक ही नाम रहता है। जैसे जल का भाग और उसके अन्तर्गत प्राण का भाग और अभिमानी देवता का भाग इन तीनों को गङ्गा शब्द से बोला करते हैं। इसका कारण यह है कि इन तीनों में एक के भी न रहने से वस्तु स्थिति नहीं रह सकती।

## अब दूसरा अधिकार इस प्रकार है

जगत् में जितने प्रकार के कर्म या क्रियायें होती हैं उनका ब्रह्म वाक् भाग है। वाक् का ब्रह्म प्राण है और प्राण का ब्रह्म मन है। ब्रह्म उसको कहते हैं कि कोई वस्तु जिसके आश्रय से रहे जिससे पकड़ा हुआ हो और जहां से बढ़ा करे, क्रियायें वाक् के आश्रय से देखी जाती हैं। अँगुली के आश्रय से हिलने की क्रिया होती है वह क्रिया अँगुली से पकड़ी हुई है और अँगुली ही उठती रहती है अतः यह अँगुली उन क्रियाओं का ब्रह्म है परन्तु वह वाक् अर्थात् अँगुली बनाने वाले प्राण के आधीन है। यदि अँगुली का प्राण सब निकल जाय तो अँगुली का रूप नष्ट हो जावेगा। यह अँगुली उसी प्राण के आश्रय से है, उसी से पकड़ी हुई है और उसी प्राण से इस रूप में बनी है, अतः प्राण उसका ब्रह्म है किन्तु यह प्राण किसी मन के आश्रय से रहता है और उससे पकड़ा हुआ है और उस मन की आज्ञा से बढ़कर काम करने लगता है। इसलिए मन उस प्राण का भी ब्रह्म है। इन तीनों में इस प्रकार मन में प्रधानता सिद्ध होती हैं।

## तीसरा अधिकार

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु के स्वभाव के लिये तीन भाव नियत हैं—**ब्रह्म, क्षत्र और विट्**। इन तीन भावों का सम्बन्ध इन ही तीनों सत्यों से समझना चाहिए।। इनमें मन ब्रह्म है, प्राण क्षत्र है और वाक् विट् है क्योंकि मन से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान उत्पन्न होने वाली जितनी वृत्तियां हैं उनको ही ब्रह्म कहते हैं। प्राण अर्थात् बल से कर्म उत्पन्न होता है अतः बल से सम्बन्ध रखने वाली जितनी वृत्तियां हैं उनको क्षत्र कहते हैं। वाक् से अर्थ उत्पन्न होता है, अर्थ सम्पत्ति से संबंध रखने वाली जितनी वृत्तियाँ हैं उनको विट् कहते हैं। इन्हीं तीनों भावों की उपासना करने वाले मनुष्य समाज के

विभाग को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहते हैं। जिस प्रकार वैश्य का नियोजक या प्रवर्तक क्षत्रिय होता है। और क्षत्रियों का नियोजक ब्राह्मण होता है। इसी प्रकार प्राण वाक् का नियोजक है और प्राण का मन है किन्तु ब्राह्मण और वैश्य दोनों किसी क्षत्रिय का आश्रय लेकर अपनी स्थिति रखते हैं या अपना योगक्षेम पाते हैं। उसी प्रकार मन और वाक् ये दोनों भी प्राण का ही आश्रय लेकर अपनी स्थिति पाते हैं। प्राण ही तीनों में विशिष्ट अर्थात् सरदार है।

## चौथा अधिकार

मन से सोम की, प्राण से अग्नि की और वाक् से आप् की उत्पत्ति है। ये तीनों रस हैं। इनमें सोम रस से चन्द्रमा की, अग्नि रस से सूर्य्यपिण्ड की और आप् रस से पृथ्वीपिण्ड की उत्पत्ति है। और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी से संपूर्ण जगत् के पदार्थ उत्पन्न हुए हैं अतः कहना होगा कि सम्पूर्ण विश्वमण्डल मन, प्राण और वाक् से उत्पन्न हुआ है इनमें भी आपोमय पृथ्वी में अग्नि और सोम भरे हैं, अग्निमय सूर्य में अग्नि और सोम हैं और सोममय चन्द्रमा में अग्नि और आप् हैं।

## पांचवाँ अधिकार

जगत् में जो कुछ जहां उत्पन्न हुआ है उसके तीन विभाग हैं—**अन्न, अन्नाद और आवपन**। ये तीनों ही सर्वदा मिले रहते हैं। न अन्न का कभी नाश होता है और न बिना अन्न के कभी अन्नाद रहता है और ये दोनों जिस सीमा के अन्तर्गत रहकर अन्न का भोजन अन्नाद करै उसी क्षेत्र को आवपन करते हैं। जगत् में जहां जो कुछ पदार्थ है सर्वत्र यही व्यवस्था है कि किसी आवपन अथवा किसी क्षेत्र में रहकर एक दूसरे को भक्षण करते हैं। जैसे हमारी आत्मा इस शरीर में रहकर इस जगत् में से सात प्रकार के अन्न सदा खाया करती है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, शब्द, बल या क्रिया और ज्ञान उसी प्रकार और-और पदार्थ भी कुछ न कुछ अन्न खाते रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में ये तीनों भाव मन, प्राण और वाक् के कारण से हैं। इनमें मन आवपन, प्राण अन्नाद और वाक् अन्न हैं। यह प्राण मन रूपी क्षेत्र आकाश में बैठा हुआ अपने वाक् को अपने अन्दर लेकर सर्वदा दूसरे प्रजापति के वाक् भाग को अपने उदर में करने का यत्न करता हुआ खाता रहता है। प्राण के रहने के आकाश को ही मन कहते हैं। मन एक प्रकार का ऐसा आकाश है कि जिसमें प्राण भरा रहता है और वह वाक् को खाया करता है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड रूपी आकाश में फैला हुआ सूर्य का तेज अर्थात् अग्निभाग पानी को खाया करता है उसी प्रकार यहां समझना चाहिये।

## छठा अधिकार

मन की क्रिया को इच्छा कहते हैं और प्राण की क्रिया को तप और वाक् की क्रिया को श्रम कहते हैं। हम देखते हैं कि प्राणी जब कुछ इच्छा करता है तो उस इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये उसके अन्दर कुछ यत्न होता है यत्न होते ही हाथ, पांव आदि की शरीर में कुछ चेष्टा होने लग जाती है। कोई भी चेष्टा बिना यत्न के नहीं होती और यत्न बिना इच्छा के नहीं होता। इच्छा मन का कर्म है, यत्न शरीर के अन्दर प्राण का कर्म है और श्रम शरीर के बाह्य भूतों का कर्म है। जब तक तीनों भाग

पूरे न हो लेवें तब तक जगत् में किसी भी कर्म का रूप सिद्ध नहीं होता। यद्यपि यह बात चेतन में ही देखने में आती है, जड़ पदार्थों में होते हुए इच्छा और यत्न का हम कुछ भी अनुभव नहीं करते, तथापि मनुष्य चेतन के दृष्टान्त से ही अनुमान करना पड़ता है कि उनमें भी वायु आदि की प्रेरणा के बिना ही अपने आप यदि कुछ क्रिया हुई है तो अवश्य उसने यत्न किया है और उस यत्न के लिये उसने इच्छा भी की है। जैसे किसी वृक्ष के पास उगी हुई वल्लिका उस वृक्ष की तरफ झुकती है और उसको पकड़ कर उसके चारों ओर लिपटती हुई ऊपर बढ़ने लगती है। अतः अनुमान करते हैं कि उसके निर्बल होने के कारण स्वयं सीधी खड़ी होने के लिये असमर्थ होकर अवश्य एक बलवान् का आश्रय ढूंढने लगती है और पास में वृक्ष को पाकर उसका आश्रय लेने का यत्न करके प्रबल इच्छा से अपने शरीर को उधर झुकाती है। इसी क्रिया से हम उस लता में इच्छा और यत्न का भी अनुमान करते हैं।

इस प्रकार इच्छा, तप और श्रम सर्वत्र पाये जाते हैं और तीनों मन, प्राण और वाक् के सम्बन्ध से हैं।

इस प्रकार वैकारिक रूढ़ दर्शन यहाँ समाप्त होता है।

---

# ३–योगरूढ

## प्रजापति–रूप–निरूपण सूत्र

सब से प्रथम जिनका प्रादुर्भाव हुआ ऐसे तीन सत्य अर्थात् मन, प्राण, वाक् इनसे तीन धातु वाला जो प्रथम पदार्थ कोई प्रगट हुआ उसी को प्रजापति कहते हैं—इस जगत् में जहाँ जो कुछ दीखता है बड़े से बड़ा पदार्थ और उसके अन्दर छोटे से छोटा पदार्थ सबको एक-एक प्रजापति समझना चाहिये। इस प्रकार अनन्तानन्त प्रजापति एक जगत् के रूप बन गये हैं इनमें प्रत्येक प्रजापति, मन, प्राण, वाक् का समवाय मात्र है इसीलिये प्रत्येक प्रजापति का नाम "ओम्" है इस ओम् अक्षर में जितना सा ध्वनि का भाग है जो कान से पकड़ा जाता है और जिसके द्वारा एक वर्ण दूसरे वर्णों से अपनी भिन्नता रखता है वही भाग वाक् है और जो इसमें स्वर का भाग है जिसके द्वारा चढाव उतार वा उच्चारण में तीव्रता या कोमलता भी अर्थात् ऊँची आवाज़ या धीमी आवाज़ आदि जो अन्तर किया जाता है वही इसमें प्राण का भाग है और ओम् शब्द को सुनकर उसके द्वारा जो किसी अर्थ पर मेरी बुद्धि दौड़ जाती है वही इसमें मनका भाग है। यद्यपि ये तीनों भाग प्रत्येक शब्द में हो सकते हैं और इसी से बिना संकोच हम प्रत्येक शब्द को प्रजापति का नाम भी कह सकते हैं तथापि उन शब्दों में से विशेषकर ओम् शब्द को इस कारण प्रजापति के नाम से कहा है कि प्रजापति के बहुत से धर्म इस ओम् शब्द में दिखाई देते हैं जिसका वर्णन उपासना प्रकरण में आगे विस्तार पूर्वक किया जायगा।

यह प्रजापति जो एक प्रकार का ब्रह्म है उसको प्रथम हम दो भागों में देखते हैं—एक "अनिरुक्त"
और दूसरा "निरुक्त" । जिसका दिग्, देश, काल संख्या आदि से ग्रहण करे वही किसी वस्तु का निर्वचन
है और उसको "निरुक्त" कहते हैं । किन्तु जिसका इस प्रकार निर्वचन नहीं होता हो अर्थात् जिसका
परिच्छेद ( हदबन्दी ) न हो सकती हो वही अखण्ड, निष्कल, निर्धर्मिक, पदार्थ अनिर्वचनीय है उसको
अनिरुक्त कहते हैं अनिरुक्त कहते पदार्थ को वस्तु सत्ता से ही कह सकते हैं किन्तु उसमें स्वगत भेद और
द्वित्व आदि संख्या नहीं कह सकते और यदि किसी पदार्थ में कई भेद बताये जावे कुछ धर्म, कुछ धर्मों का
फरक किया जावे तो वह उस वस्तु की "निरुक्ति" होंगे—इस जगत् में जहां जो कुछ देखते हैं उन सभी
में भेद और संख्या पाते हैं इसलिये ये सब निरुक्त हैं किन्तु यह निरुक्त रूप किसी न किसी अनिरुक्त रूप
से ही उत्पन्न हुए हैं इन सब का मूल अवश्य कोई अनिरुक्तरूप है—यद्यपि उसको हम विशेष रूप से ग्रहण
नहीं कर सकते किन्तु उसके होने का हम दृढ़ विश्वास रखते हैं । क्योंकि यह निरुक्तरूप सर्वदा परिवर्तन-
शील है इसलिये इनका किसी मूलतत्व पर ठहराव अवश्य मानना होगा कि जिस पर यह परिवर्तन का
सिलसिला अभङ्गरूप से प्रवर्तमान है ( जारी रहता है ) उस अनिरुक्तरूप में मन, प्राण, वाक् ये तीनों
उन्मुग्ध रूप से रहते हैं अर्थात् जो भेद मन, प्राण, वाक् में छिपे हुए भेदों से आज हम पाते हैं वे सर्वथा
किसी समय न थे । तीनों एक रूप में जब थे उसी रूप को हम "अनिरुक्त" कहते है । उसी अनिरुक्त से
यह निरुक्तरूप प्रकट हो गया है, जिसमें हम मन, प्राण, वाक् को पृथक्-पृथक् देखते हैं—इन दोनों भागों
में अनिरुक्त का विशेष प्रकार से वर्णन न करके निरुक्त भाग का ही विशेष रूप से वर्णन करना प्रारम्भ
करते हैं ।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों के समुच्चय से जो प्रजापति का त्रिधातु रूप सिद्ध होता है वही फिर
सन्निवेश क्रम से त्रिपर्वा होता है—नाभि, मूर्ति और महिमा—इनमें नभ्य भाग मन प्रधान होता है और
मूर्ति वाक् प्रधान होती है और महिमा प्राण प्रधान होता है यद्यपि इन तीनों पर्वों के मिलने से एक ही
प्रजापति का रूप सिद्ध होता है तथापि व्यवहार इन तीनों के सम्बन्ध से तीन प्रजापति भी कहे जाते है,
नभ्य, व्याकृत और सर्व; केवल नाभि भाव को नभ्य कहेंगे किन्तु नभ्य और मूर्ति दोनों को एक साथ
व्याकृत कहते हैं इसी प्रकार नाभि, मूर्ति और महिमा तीनों को एक साथ सर्व प्रजापति कहते है ।

इन तीनों में प्रधान व्याकृत है क्योंकि इनमें जो मूर्ति भाग है उसी का कर्म रूप नाम से व्याकरण
होता है और उसी को हम अपनी दृष्टि से स्पष्ट देख सकते हैं । जो कुछ वस्तु हम देख रहे हैं यह सब
व्याकृत मूर्ति के जो नाभि अर्थात् केन्द्र है उसमें जो शक्ति रहती है वह अनिरुक्त प्रजापति का अंश है,
वह भाग यथार्थ में अज्ञात और अनिर्वचनीय है किन्तु सर्व प्रजापति की शक्तियां वहीं से निकलकर अपना-
अपना कार्य करती हैं और वही वस्तु का भार केन्द्र है उस नभ्य के लिये वेद में ऋचा है—

**प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।**
**तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥**

( यजुः संहिता ३१/१६ )

अर्थात् प्रजापति गर्भ में रहता है वह जायमान नहीं है अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है किन्तु वह बहुत तरह पर उत्पन्न करता है उसके निज का स्थान विद्वान् लोग ही देख पाते हैं। उसी प्रजापति के आधार पर सब भुवन ( भुवन से तात्पर्य मूर्ति और महिमा है ) ठहरे हैं। ये ऋचा नभ्य प्रजापति जो मूर्ति की नाभि में रहता है उसके लिये है किन्तु दूसरा भाग जो मूर्ति है वही नभ्य के साथ मिलकर व्याकृत प्रजापति कहलाता है उस प्रजापति की मूर्ति से चारों ओर नाना प्रकार के गौ अर्थात् किरणें निकलकर चारों ओर दूर तक फैलती हैं। जिन किरणों के तीन भेद हैं—वेद, यज्ञ, रस। इनके अतिरिक्त सूर्य की किरणें भी इनसे सम्मिलित होकर चारों ओर बाहर फैलती है उन ही के कारण वेद उस मूर्ति का रूप बनाता है। उन ही गौओं को चारों ओर फैलाते हुए व्याकृत प्रजापति के लिये यह ऋचा है।

**"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो, विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।**
**शिवाः सतीरूपा नो गोष्ठमाकस्तासां वय प्रजया संसदेम ।।**

( ऋ० १०।१२।१६९ )

अर्थ यह है कि प्रजापति मेरे लिये गौ देता है सभी देवता और पित्रों से मेल कर के बहुत उत्तम होती हुई उन गौओं से हमारी गौशाला का उपकार करते हैं उन गौओं की प्रजाओं से हम संपन्न होते हैं, यह अर्थ सायण भाष्य का है अधिक विचार करने से दूसरा अर्थ इस प्रकार भासता है कि प्रत्येक वस्तु की आत्मा ही प्रजापति है वह प्रजापति सब ही देवताओं से अर्थात् सूर्य के प्राणों से और पित्रों से अर्थात् चन्द्रमा के प्राणों से मेल करके अपनी किरणों को प्रति फल रूप में हमारी दृष्टि पर भेजता है जिससे गोष्ठ अर्थात् किरण रूपी गौओं की टिकने की जगह हमारी चक्षुका उपकार होता है। जो सूर्य चन्द्रमा की रश्मि रूपी गौ वस्तुओं पर आये थे। उनके प्रतिफल होने पर उन गौओं की प्रजा जो उस वस्तु के रूप में बनी हुई वस्तु है जिनसे हम सम्पन्न होते हैं अर्थात् अपने ज्ञान को बनाते हैं। इस प्रकार व्याकृत प्रजापति का प्रमाण सिद्ध होता है।

इस व्याकृत प्रजापति के चारों ओर जो वेद, यज्ञ, रस से एक अदृष्टमण्डल बनता है जिसको व्याकृत प्रजापति की महिमा कहते हैं। उस महिमा समेत यह जो एक धर्मी बना है उसको सर्व प्रजापति कहते हैं प्रजापति का कोई भी भाग अवशिष्ट नहीं बचता। इसीलिये इसको सर्व प्रजापति कहते हैं, इसके लिये ऋचा है।

**प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो, विश्वा जातानि परि ता बभूव।**
**यत् कामास्ते जुहुमस्तान्नो अस्तु, वयम्, स्याम पतयो रयीणाम् ।।**

( यजु० सं० २४।६५ )

अर्थ हे प्रजापति ! आप से भिन्न कोई भी इन पैदा हुई जगत् की अखिल वस्तुओं के चारों ओर नहीं है अर्थात् प्रत्येक पैदा हुई वस्तुओं के चारों ओर केवल आप ही आप दीखते हैं इसलिये हम जिस कामना से कुछ हवन करते हैं वह मेरा काम होना चाहिये संपदाओं के स्वामी हम होवें। इस ऋचा से तात्पर्य इतना ही है कि जो-जो वस्तु हमें दीखती हैं वे व्याकृतरूप हैं किन्तु उनके चारों ओर जो महिमा फैली हुई

है वह भी एक प्रजापति का रूप है उस महिमा के द्वारा प्रजापति उस व्याकृत भाग की चारों ओर घेरे रहता है इसीलिये जब तक वह महिमा का प्रजापति मेरी दृष्टि पर न आवे तब तक हम उस वस्तु को नहीं प्राप्त कर सकते हम जो किसी वस्तु पर प्रभुत्व रखते हैं सो उस महिमा के द्वारा देखने से उस वस्तु को पाकर ही करते हैं इसलिये हम किसी वस्तु के पाने की अभिलाषा से अपनी आत्मा को दृष्टि द्वारा किसी वस्तु पर डालते हैं यदि वह महिमा न होती तो दृष्टि देने पर भी कोई वस्तु हमें न मिलती केवल यही विज्ञान इस ऋचा में कहा गया है।

वेद, यज्ञ और रस से बने हुए देवता सर्वप्रजापति के ही अङ्ग हैं सम्पूर्ण वेद प्रजापति के अङ्ग होने से प्रजापति है। इसी प्रकार यज्ञ और रस में सब देवता भी प्रजापति ही के स्वरूप हैं। किन्तु यह सृष्टि होने पर प्रजापति का जो सन्निवेश है उसके द्वारा विभाग करके प्रजापति का रूप दिखाया गया है, किन्तु वास्तव में प्रजापति का रूप केवल मन, प्राण, वाक् इन तीनों धातुओं से त्रिधातु होना ही है जो त्रिधातुपन प्रजापति का सृष्टि से पहले भी था, आज सृष्टि दशा में भी वैसा ही है ये त्रिधातु रूप उसका अविनाशी है और त्रिपर्वारूप उसका केवल सृष्टिकाल में ही है, त्रिधातु रूप कारण है और त्रिपर्वा रूप कार्य है। किसी किसी का मत है कि वास्तव में प्रजापति केवल मन रूप में ही है यही रूप उसका अविनाशी है और आकाश के सदृश शान्त है किन्तु उसमें इच्छा प्रवृति के कारण कम या अधिक या अधिकतम प्राण उत्पन्न हो जाया करता है जैसा आज भी किसी काम के करते समय कोई मनुष्य किसी वस्तु पर अपनी इच्छा के अनुसार कम बल या अधिक बल लगाया करता है ये बल इच्छा के पहले इस प्रकार निकला हुआ न था केवल इच्छा से कम या अधिक उसी मन में प्रकट हो जाता है। संभव है कि वह बल जो संपूर्ण विशाल जगत् के रूप में हमें दीखता है किसी समय उद्भट न था केवल प्रशान्त मन ही प्रजापति का रूप था उसी में से ये बल याने प्राण प्रकट होकर मन और प्राण दोनों प्रजापति का रूप बन गया फिर प्राण मिलकर घनरूप में आकर वह प्राण, वाक् बन गया और तब मन, प्राण वाक् ये तीनों मिलकर प्रजापति के रूप हो गये-अभी तक यह निश्चित नहीं हुआ है कि मन से प्राण और प्राण से वाक् उत्पन्न हुए हैं अथवा मन, प्राण, वाक् ये तीनों ही नित्य हैं।

## आदि प्रजापति सूत्र

सबसे प्रथम जो प्रजापति प्रादुर्भूत हुआ वह असीम और अनन्त है क्योंकि जिन मन, प्राण, वाक् के समुच्चय से उसका रूप बना हैं उनमें एक भी उस प्रजापति के शरीर से कुछ पृथक् अवशिष्ट नहीं रहा है, और उन मन, प्राण, वाकों का परिमाण किसी प्रकार भी प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता जगत् के अनन्त होने के साथ जगत् के धातु स्वरूप उन तीनों को भी अनन्त ही मानना पड़ेगा। इसीलिये उस आदि प्रजापति को भी जो इस विशाल जगत् के रूप में अब दीख रहा है अनन्त-असीम ही कहना उचित ही ठहरता है।

यह आदि प्रजापति ही अन्य सब प्रजापतियों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान है इसी से पीछे के सब प्रजापति उत्पन्न हुए हैं। उत्पन्न हुए उन प्रजापतियों में भी एक एक प्रजापति अन्य अन्य बहुत से प्रजापतियों की योनि होता रहता है-तात्पर्य यह है कि जो जहां कुछ हम देखते हैं ये सब एक प्रजापति इनमें कितने

ही एक प्रजापति से उत्पन्न हुए हैं और इनके कारण प्रजापति भी दूसरे किसी प्रजापति से उत्पन्न है। प्रजापति से प्रजापति उत्पन्न होता हुआ अनन्त प्रजापतियों का ढेर ये विशाल जगत् भी स्वयं एक प्रजापति है। इससे हम कह सकते हैं कि आदि प्रजापति कोई एक है, किन्तु उनके उदर में बहुत से प्रजापति और उन प्रत्येक प्रजापति के भी उदर में अनेक प्रजापति होकर अनन्त प्रजापति हैं। इनमें यदि आदि प्रजापति को एक परमेश्वर और बीच वाले कितने हीं प्रजापतियों को ईश्वर तथा क्षुद्र प्रजापतियों को जीव कहें, तो कह सकते हैं।

इनमें आदि प्रजापति के शरीर बनाने वाले तीनों धातु अर्थात् मन, प्राण, वाक् किसी असाधारण रूप में होकर इस जगत् में दीखते है जिनको क्रम से रस, बल और अभ्व कहते हैं। इनका आदि रूप ही रस है और कारण आदि रूप बल है और वाक् का प्रथम स्वरूप अभ्व है। इनमें रस को आभु, बल को तुच्छ, और अभ्व को माया भी कहते हैं।

किसी–किसी का मत है कि ये तीनों भी क्रम से उत्पन्न हुए हैं इनमें सबसे प्रथम जो किसी आदि युग में सर्वथा प्रशान्त भाव था जिसमें अभी तक कोई भी क्रिया उत्पन्न नहीं हुई थी उस प्रशान्त रूप को आनन्द समझना चाहिए। आनन्द के दो लक्षण हैं शांति और समृद्धि जब कि क्षुद्र आत्मा भूमा की ओर जावे अर्थात् उसमें कुछ आत्मा की वृद्धि हो उस समय आनन्द का अनुभव होता है किन्तु वह आनन्द कुछ क्षण तक रहता है फिर आत्मा वढ़कर अपनी शान्ति में आजाता। यदि आत्मा में किसी प्रकार का क्षोभ कोई उपद्रव या हल चल न हो तो उस समय आत्मा शान्ति मय आनन्द रूप रहता है। जैसे गहरी नींद में सोकर उठने के बाद उस समय के आनन्द का स्मरण करता है इन दोनों आनन्दों में वह शान्ति का आनन्द ही मुख्य है। वही आनन्द सृष्टि के आदि में किसी समय था। अर्थात् उस समय मन से किसी प्रकार का प्राण उत्पन्न न हुआ था, उस समय के मन को आनन्द होने के कारण "रस" कहते हैं। रस आनन्द का ही नाम है। अब भी जगत् में जब किसी-किसी बात में कुछ रस मिलता है तो आनन्द आता है इसलिये आनन्द और रस एक वस्तु है उसी रस से पश्चात् बल अनन्त रूप में उत्पन्न होत है। बल कितने प्रकार के हैं वह आज तक भी निश्चित नहीं हुआ है। ये बल प्रत्येक वस्तु में भिन्न भिन्न शक्ति के नाम से अनन्त रूप में देखे जाते हैं, इनहीं बलों के परस्पर मिलने परस्पर आघात प्रत्याघात से एक नया भाव उत्पन्न हो जाता है, वही अभ्व कहलाता है। इस मत में अभ्व सभी बलों से और बल सभी रस से उत्पन्न हुए माने जाते है, किन्तु वास्तव में शुक्ल यजु का मत है कि ये इनका प्रभव स्थान हैं जैसे दही में से घी तिल में से तेल निकला करता है उसी प्रकार मन में सर्वदा वर्तमान बल ही समय-समय पर प्रादुर्भूत होता रहता है ये तीनों नित्य हैं स्वतन्त्र हैं।

वह रस जो मन का मुख्य रूप है (१) अप्रवर्ती है (प्रवर्तित) दूसरी जगह सरकने वाला जैसे वायु अर्थात् विकृत नहीं होता और (२) आवपन है अर्थात् प्राण और वाक् के लिये कम करने का क्षेत्र है अब वह मन या रस (३) भूमा है अर्थात् अपना असीम स्वरूप रखता है इसीलिये अनन्त है। (४) आकाश के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म है। जिस प्रकार आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर बाहर समान भाव से रहता है और कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता से आकाश को रोक नहीं सकता यदि घड़े का मुख बन्द करके कहीं

ले जावे तो उस के अन्दर में आकाश निकलता प्रवेश करता जायगा जो अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु
है उसके के अन्दर भी आकाश है। हम देखते हैं लवण या शर्करा को यदि पानी में घोल दिया जाय तो
उनके प्रत्येक परमाणु अपने रूप रंग को छोड़ कर पानी के रूप में आ जाते हैं। अवश्य ही उनके परमाणु
जल के परमाणुओं से घुलकर एक हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि उन में भी आकाश है। जिस प्रकार प्रत्येक
वस्तु में आकाश है और आकाश में प्रत्येक वस्तु है, ठीक उसी प्रकार ये मन या रस अत्यन्त सूक्ष्म हैं,
उसको कोई भी घन पदार्थ अपनी घनता से रोक नहीं सकते प्रत्येक प्राण और वाक् में रस रहता है और
रस में ही प्राण और वाक् रहते हैं इसीलिये रस या मन को आकाश की तुलना से आकाश कहते हैं और
ये रस या मन अक्षुब्ध रूप हैं अर्थात् किसी प्रकार का हल चल होना इनका निज का धर्म नहीं है।
आकाश के अनुसार ये सदा प्रशान्त रूप में रहते हैं और ये रस वा मन (६) दिक्, देश, काल और संख्या
इन से परिछिन्न नहीं होते। इस रस से अपूर्व बल जो पूर्व में न था सो पश्चात् उत्पन्न हो जाया करता
है, किन्तु इस नये बल पदार्थ के उत्पन्न होने से उस मन का तनिक भी कोई अंश कम नहीं होने पाता न
कोई विकार ही होता है आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि अत्यन्त शान्त रस से अत्यन्त अशान्त बल
उत्पन्न होकर उसी रस में फिर विलीयमान हो जाता है। यह कैसे हाता है ये समझ में नहीं आता किन्तु
अनुभव करने से यह सहसा देखने में आता है, इसलिये आश्चर्य होते हुए भी शान्त में से अशान्त का
व्यक्त होना मानना पड़ता है।

यद्यपि यह रस (८) भूमा है अर्थात् असीम है तथापि उसमें जो बल उत्पन्न होता है वह छोटा
बड़ा अनेक प्रकार के खण्ड रूपों में ही देखा जाता है। ये बल संख्या में अनन्त होते हुए भी उसका बड़ा
से बड़ा खण्ड असीम नहीं है छोटा हो या बड़ा हो वह कुछ न कुछ अपना आयतन अवश्य रखता है वह
बड़ो में इतना बड़ा है कि जिससे एक एक ब्रह्माण्ड का काम चल रहा है और छोटे से छोटा इतना है कि
अग्नि वायु के परमाणु जो दृष्टि में नहीं आते वे सब उसी के एक एक रूप हैं।

इन बलों में बड़े बड़ा या छोटे से छोटा कोई बल ऐसा नहीं है जो रस के बिना आश्रय से हो,
इसलिये बल के आयतन के अनुसार उस रस का भी आयतन कल्पित हो जाता है इसलिये इस रस में
भूमा के साथ साथ बल के संबन्ध से (९) अणिमा भी उत्पन्न हो जाती है ये बल अपने स्वरूप से यद्यपि
सर्वथा असत् है वह सर्वदा सत् रूप इस रस का आश्रय पाकर सत् रूप में आया हुआ दीखता है,
किन्तु इस प्रकार रस के आश्रय से सत् बना हुआ भी बल कदापि दीखने में नहीं आता।
जबकि इस प्रकार के बल दो तीन या चार अथवा असंख्य आपस में मिलते हैं तो उनके आघात-प्रत्याघात
से एक नया रूप उनमें आ जाता है वही (१०) वाक् कहलाने योग्य होता है, अथवा वही बल इस वाक् पर
अपना प्रभाव डालकर कोई नई वस्तु उत्पन्न करता है उसी नई वस्तु को हम (११) अभ्व कहते हैं। हम
देखते हैं कि कोई भौतिक परमाणु आकाश के जितने आयतन में रहता है जब तक उस परमाणु को हटाया
न जाय, जब तक उस आयतन में दूसरा भौतिक परमाणु प्रवेश नहीं कर सकता है, किन्तु बल में यह बात
नहीं यह बल दो चार क्या प्रत्युत सौ या हजार तक एक साथ एक ही बिन्दु में मिलकर रह सकते हैं।
इनके संसर्गों के भी अनेक भेद हैं, जिनके कारण कभी-कभी इन बलों के मिलने पर इन बलों का सजा-
तीय विजातीय भेद अथवा बहुत्व की संज्ञा भी नष्ट होकर सब बल मिलकर एक ही अखण्ड तत्व हो जाता

है। इस प्रकार बलों के परस्पर संबन्ध से जो प्रथम कोई तत्व बना है उस को हम अभ्व कहते हैं। जब कभी कहीं हम किसी अर्थ को देखते हैं तो वह अर्थ क्या है केवल रस और उस पर सैंकडों प्रकार के बलों का वह एक घन मात्र है। बलों की भिन्नता अथवा बलों के परस्पर संसर्ग की न्यूनाधिकता अथवा संसर्ग की विचित्रता के कारण ये सब अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के भले ही दीखें किन्तु सभी अर्थ रस में बलों का संग्रह रूप है। इसमें सन्देह नहीं इनमें रस के कारण एकत्व की प्रतीति होती है किन्तु बलों की न्यूनाधिकता के कारण एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अवस्था वा अनेक परिवर्तन दीखा करते हैं, यही इस जगत का रूप है किन्तु इन अर्थों पर सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला अभ्व सर्वत्र नियम से रहता है।

अब इस अभ्व का यदि हम विचार करें तो यह तीन प्रकार का प्रतीत होता है — १– कर्म, २ रूप, ३–नाम, ये तीनों ही जीव से वा ईश्वर से सम्बन्ध नहीं रखते किन्तु इनका शुद्ध निर्विकार परमेश्वर से सम्बन्ध है आगे इस बात का विस्तार पूर्वक वर्णन होगा कि ईश्वर का शरीर त्रैलोक्यमय है, इसीलिये जीव का भी शरीर तीन लोक से बना हुआ है जीव और ईश्वर इन दोनों के शरीर में जो तीन लोक हैं उसके सब पदार्थ एक दूसरे लोक में जाया करते हैं वे इस लोक से निकलने के पीछे अवश्य ही किसी दूसरे लोक में पाये जाते हैं किन्तु ये रूप रङ्गत या वस्तु शक्ति रूप कर्म जब किसी वस्तु से निकल जाते हैं तो उसकी इन तीनों लोक में कहीं भी सत्ता नहीं रहती, वे एक वस्तु से दूसरी वस्तु में जाते हुए नहीं दीखते, और जब नये रूप रङ्ग वा शक्ति उत्पन्न होती हैं तो वे भी अकस्मात् कहीं से आ जाती हैं। तीनों लोक वाली किसी वस्तु से निकलकर आते हुए प्रतीत नहीं होते। तेल से चराग वा धुआँ बना अथवा लकड़ी का कोयला वा राख हुआ इनमें पुरानी रङ्गत वा शक्ति कहां से आ गई यह परीक्षा से निश्चित है कि इन जाने आने वाले या नष्ट उत्पन्न हुए इन रूप कर्मों का त्रैलोक्य भर में किसी दूसरे स्थान में सत्ता नहीं है। इसीलिये यह सिद्धान्त हो चुका है कि यह नाम, रूप, कर्म तीनों लोकत्रय से बाहर की चीज हैं, किन्तु जब कि इन तीनों लोकों में भी परमेश्वर की सत्ता व्यापक होने के कारण अवश्य है तो उसी सत्ता से ये अकस्मात् उत्पन्न हो जाते हैं और उसी परमेश्वर की सत्ता में फिर लीन हो जाते हैं इसीलिये इन तीनों लोकों में इन तीनों का नष्ट होने पर पता नहीं चलता जब कि ये तीनों लोकों में नहीं है तो इसी से यह निश्चित हो चुका कि ये तीनों ईश्वर के शरीर से उत्पन्न नहीं हैं। इसीलिये मानना पड़ता है कि ईश्वर से भी प्राचीन परमेश्वर से इनका सम्बन्ध है, किन्तु ये रूप या शक्ति जगह रोकने वाली है एक रूप दूसरे रूप से एक शक्ति दूसरी शक्ति से विरोध रखती है इसीलिये ये तीनों रस, बल न होकर परमेश्वर के शरीर की वाक् है। यद्यपि वाक् एक है और ये तीन हैं तथापि परमेश्वर के वाक् का प्रथम विकास इन तीनों को कह सकते हैं इस प्रकार रस, बल, नाम, रूप, कर्म रूपी अभ्व ये सब परमेश्वर के शरीर से संबन्ध रखते हुए प्रथम उत्पन्न होने वाले तत्व हैं, ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार योगरूढ़ दर्शन समाप्त हुआ।

———

# यौगिकरुढ़ ( वेदसूत्र )

प्रजापति के स्वरूप का वर्णन हो चुका। स्वरूप से तात्पर्य धातु का है। अब यदि इस प्रजापति के संबन्ध में कोई प्रश्न करे कि इस प्रजापति की स्वरूप संस्था अर्थात् स्वरूप विन्यास किस प्रकार है और प्रजापति का जीवन कैसा है और कर्त्तव्य क्या है ? तो इन तीनों प्रश्नों का उत्तर है—वेद, यज्ञ और प्रजापति। प्रजापति के शरीर की बनावट को ही हम वेद कहते हैं, यज्ञ से प्रजापति का जीवन स्थित रहता है और प्रजा की उत्पत्ति करना प्रजापति का मुख्य कार्य है। इन तीनों से प्रजापति का वास्तविक रूप हमारे सामने साक्षत् हो जाता है। पहले प्रजापति के शरीर में जो तीन धातु कहे गये थे उन्हीं तीनों अधिकरणों (Department) के सम्बन्ध से इन तीनों की भी स्थिति है। वेद का संबन्ध मन से, यज्ञ का प्राण से और प्रजा का वाक् से मुख्य करके माना जाता है।

## वेद का निरूपण

पहले कहा जा चुका है कि प्रजापति तीन भाग में विभक्त होकर स्वरूप धारण करता है-नाभि मूर्ति और महिमा। इनमें नाभि को छोड़ कर मूर्ति और महिमा पर दृष्टि रखनी चाहिए। मूर्ति और महिमा के भीतर वेद व्याप्त रहता है। वह वेद तीन प्रकार का है–ऋक्, साम, यजुः। किसी २ ऋषि ने ऐसा भी कहा है कि ऋक ही प्रजापति की मूर्ति है और साम उसका मस्तक है और यजुः उसका पेट। तात्पर्य यह है कि प्रजापति तीनों वेद से पृथक कुछ भी नहीं है। यदि हम प्रजापति को देखना चाहें तो वेद को ही देख कर उसको देखेगे। यद्यपि इस वेद के ऋक्, यजुः और साम ये ही तीन भेद हैं तथापि ये तीनों भी तीन-तीन प्रकार के देखे जाते हैं-रस, छन्द और वितान। इन तीनों के निरुपण से वेद का निरूपण हो सकता है।

## १–रस वेद

रस वेद के तीन विभाग है-महोक्थ, महाव्रत, अग्नि। और ये तीनों क्रमशः ऋक्, यजु और साम भी कहलाते हैं।

जगत् में जहाँ जो कुछ दृष्टिगोचर है सब अग्नि ही अग्नि है। अग्नि ही किसी न किसी रूप में वस्तु के नाम से कहा जाता हैं। अग्नि के स्वभाव के कारण प्रत्येक वस्तु में से उस अग्नि का भाग अत्यन्त सूक्ष्मरूप में आकर प्रतिक्षण कुछ बाहर निकला करता है। जो अंश किसी वस्तु के मूर्ति भाग से प्राण रूप में बाहर निकल गया, वह निकला हुआ भाग 'महोक्थ' कहलाता है। इस प्रकार निकल जाने से वस्तु शरीर के भीतर जितना अंश कम हो जाता है वह साथ ही बाहर से स्वयं आते हुए किसी न किसी प्राण भाग से पूरा भी होता रहता है इसी आते हुए प्राण भाग को 'महाव्रत' कहते हैं। यद्यपि गया हुआ अंश भी अग्नि का था और आए हुए अंश से भी फिर अग्नि ही बन जाया करता है किन्तु इन दोनों क्रियाओं के अतिरिक्त यदि हम उस भाग की ओर दृष्टि दें कि जिस भाग में अग्नि के तह के तह चुनाव होने से एक वस्तु का स्वरूप

कायम हुआ दीखता है वही भाग अग्नि का है वह अग्नि दो प्रकार का है १ चित्य, २ चितेनिधेय। चित्य अग्नि तो मूर्च्छित होकर एक वस्तु का शरीर बनाता है जैसे ईंट व पत्थर का चेजा करके एक दीवार खड़ी की जाती है। उसी प्रकार अग्नि पर अग्नि का चेजा करके वस्तु का शरीर बनता है। इस प्रकार चेजे में आये हुए अग्नि को 'चित्याग्नि' कहते हैं, इस अग्नि को एक प्रकार मूर्च्छित समझना चाहिए या निद्रित। यही मूर्ति अवस्था है किन्तु इसमे दूसरी एक अग्नि जाग्रत् काम करती है और वस्तुएं बनाया करती है उसको '**चितेनिधेयाग्नि**' कहते है। ये दोनों प्रकार की अग्नि 'यजु' कहलाती हैं। प्रत्येक वस्तु में न्यूनाधिक अग्नि का इस प्रकार आवागमन तथा वस्तु स्वरूप निर्माण और अग्नि की गरमी आदि कितने ही भावों का दीखना प्रत्येक वस्तु का स्वभाविक धर्म है अतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु ऋक् साम और यजु इन तीनों वेदों का समुदाय है।

## यजुः के विषय में अनेक ऋषियों के मतभेद

१-जो अग्नि तीनों लोकों में अग्नि, वायु और आदित्य नामों से प्रसिद्ध हैं उनमें आदित्य अग्नि ही मुख्य है और वही आकाश के अनुरोध से वायु और पृथ्वी के अनुरोध से अग्नि कहा जाता है। यद्यपि आकाश और पृथ्वी के अनुरोध से अग्नि के स्वरूप में भी कुछ भेद आ गया है तथापि वास्तव में वह आदित्याग्नि ही मुख्य है और उसी को हम यजुः कहते हैं।

२-यह अग्नि जिसको हम यजुः कहते हैं वास्तव में वायु रूप है क्योंकि वास्तव में यजु यज्जूः से बना है अर्थात् यत्+जूः जिसमें यत् का अर्थ चलने वाला और जूः का अर्थवेग उत्पन्न करने वाला आकाश (पोल) अर्थात् जिस आकाश में वेग से गति हो सके और जो वेग से गति करने वाला तत्त्व है इन दोनों को एक साथ मिले हुए रुप में यज्जूः कहते हैं। इसी का छोटा रूप बनकर यजुः शब्द का प्रयोग होता है। तात्पर्य यह है कि संपूर्ण जगत् मण्डल एक प्रकार का आकाश है जिसमें सर्वत्र एक सूक्ष्म पदार्थ भरा हुआ है जिसको "वायु" कहते हैं। सम्भव है कि इस जगत् में जो कुछ स्थूल वस्तुएं कहीं २ दीखती हैं अर्थात् सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सब उसी वायु के घन होने पर पृथक् २ पिण्ड बन गये हों। तात्पर्य यह है कि इन सब पदार्थों का मूल कारण वही तत्व समझ में आता है जो इस सम्पूर्ण आकाश मण्डल में सूक्ष्माति सूक्ष्म वायु रूप में भरा है। इनमें आकाश स्थिर है और वायु चलता हुआ तत्त्व है। ये दोनों मूल तत्त्व एक साथ रहने के कारण मिले हुए शब्द से यजुः कहलाते हैं। इसी यजुः से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है और इसी के 'चयन' अर्थात चुनाव होने से सूक्ष्मवायु स्थूलशरीर में आकर नाना पदार्थ बन गये हैं अतः इसको अग्नि कहते हैं क्योंकि जिसके चुनाव से सृष्टि की उत्पत्ति हो वही अग्नि शब्द से कहा जाता है। यह मत **शाकायनी** लोगों का तथा **श्रोमत्य ऋषि** और **हालिङ्गव** आदि ऋषियों का भी है। उनका विश्वास है कि यजुः के द्वारा यज्ञ करने वाला मनुष्य परिणाम में इस वायु रूप में आकर अपनी स्थिति करता है अतः यह वायु ही यजुः है।

शाकटचायनि ऋषि कहते हैं कि संवत्सर की सृष्टि होती है। जगत् के अग्नि को ही यजुः कहना चाहिये क्योंकि इसी में ऋतुओं का विभाग होता है और ऋतुओं से ही जगत् के प्रत्येक पदार्थ अपने २ ऋतु पर ही उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं और जिस मूलतत्त्व से संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति होती हो वही यजुः

शब्द से कहने योग्य अग्नितत्व हो सकता है अतः सम्वत्सराग्नि को ही यजुः कहना चाहिये । इसी मत पर याज्ञवल्क्य ऋषि की भी सम्मति है ।

परन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह आदित्याग्नि वा आकाशव्यापी वायु वा संवत्सराग्नि तीनों ही अभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं क्योंकि आदित्याग्नि का वा संवत्सराग्नि का भी निज का सूक्ष्म रूप वही है जो इस सर्वाकाशव्यापी वायुतत्त्व का है अतः इन मतों में कुछ अन्तर नहीं है ।

महोक्थ, महाव्रत और अग्नि इन तीनों में अग्नि प्रधान है क्योंकि सर्वप्रथम अग्नि के ही चुनाव से वस्तुका स्वरूप बनता हैं फिर उसकी नाभि से महोक्थ का उत्थान होता है । उत्थान से कमी होने पर बाहर के महाव्रत से उसकी पूर्ति होती रहती है । इस प्रकार तीनों क्रिया जो होती ही रहती हैं उनमें मुख्य कारण अग्नि ही है । अतः हम महोक्थ को भी अग्नि कह सकते हैं क्योंकि मन, प्राण वाक् के समुदाय रूपी प्रजापति की जो सन्निवेश क्रम से मूर्ति उत्पन्न होती है उसमे मन नाभि में रहकर अपने प्राण के द्वारा जो वाक् का परिणाम उत्पन्न करता है वह अग्नि रूप में आकर अपने चुनाव से एक मूर्ति बनाता है अतः वह मूर्ति प्राण से भरी हुई वाक् है । उस मूर्ति की नाभि में जहां मन है उसी स्थान से प्राण का उत्क्रमण (विकास) चारों ओर होता है । प्राण के निकलने के साथ २ मन और वाक् के भाग भी अवश्य ही निकलते रहते हैं । वह प्राण जो वाक् और मन में सम्मिलित है सृष्टि के समय अग्नि कहलाता है । वही अग्नि चारों ओर बाहर जाता है उसी को महान् उत्थान कहते हैं इसी से उसका नाम महोत्थ होकर पीछे महोक्थ हो गया है । इस अवस्था में जाते हुए अग्नि रूपी प्राण को जिसमें मन, वाक् भी सम्मिलित हैं 'ऋग्वेद' कहते हैं । जो अग्नि पहिले यजुः के रूप में था वही उत्थान में आकर ऋक् हो गया है किन्तु इस प्रकार प्रजापति की मूर्ति में जो अग्नि की कमी हुई वह अपने आप बाहर से आते हुए प्राण से भर जाती है । उस प्राण को जो नाभि की ओर आता है उसको सोम कहते हैं वह एक प्रकार से प्रजापति का अन्न होता है । उससे प्रजापति का पेट भरता है अतः उसको महाव्रत कहते हैं । क्योंकि यज्ञ में जो दीक्षित होता है उसके लिए जो दुग्ध आदि का आहार दिया जाता है उसकी व्रत संज्ञा है । यह सोम भी प्रजापति का सर्वत्र आहार होता है अतः वह महाव्रत कहलाता है उसमें भी मन, प्राण, वाक् तीनों सम्मिलित हैं किन्तु वह नाभि की ओर जाने के कारण ऋक् की अपेक्षा भिन्न चाल का होता है अतः उसको भिन्न नाम से 'साम' कहते है । इस प्रकार प्रत्येक प्रजापति में नित्य निरंतर तीन क्रियाओं के द्वारा ऋक्, यजुः, साम इन तीनों वेदों के स्वरूप सिद्ध होते हैं ।

## साम

साम के विषय में कहीं वेद में ऐसा लिखा है कि उसके प्रस्ताव (निकास) नाना हैं और निधन (अन्त) एक है अर्थात प्रत्येक वस्तु में भिन्न २ दिशाओं से सोम रस की भिन्न स्थान वाली धाराएँ एक ही केन्द्र में आकर समाप्त होती हैं यहां सोमकी समाप्ति को निधन और जिस स्थान से सोम की गति केन्द्र में आने के लिए आरम्भ होती है उसको प्रस्ताव कहते हैं । दूसरी जगह साम के विषय में यह कहा गया है कि साम प्राण स्वरूप है और सब देवता इस प्राण को अग्नि में अमुत रूप से स्थापना करते हैं जिससे अग्नि वस्तु से निकलने पर भी नष्ट नहीं होने पाती । अग्नि ही देवताओं का स्थान है । वास्तव में

तेतीसों देवता अग्नि के रूप में ही रहते हैं अतः किसी वस्तु में अग्नि के नष्ट होने से देवताओं के नष्ट होने की सम्भावना हो सकती है अमृत सोम के स्थापन से वही सोम अग्नि रूप में आकर देवताओं को नष्ट नहीं होने देता अतः यह साम देवताओं का प्रिय धाम कहलाता है अथवा यों कहिए कि यह साम देवताओं को विखरे हुए होने पर पुनः समेट कर बने हुए शरीर का कारण है।

किसी स्थान में यह भी कहा है कि ऋक् और साम इन्द्र के 'हर' अर्थात् घोड़े हैं तात्पर्य यह है कि इन्हीं ऋक्, साम के द्वारा प्राण जिसको इन्द्र कहते हैं एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है जैसा कि सूर्य में इन्द्र है वह ऋक् के द्वारा ही पृथ्वी तक आता है और अनन्त दिक् देशों में व्याप्त वही इन्द्र सूर्य में साम के द्वारा पहुँचा करता है यह इन्द्र प्रकाश का देवता है अर्थात् जिस प्रकार ताप अग्नि का स्वरूप है उसी प्रकार प्रकाश इन्द्र का स्वरूप है। यह प्रकाश किसी मण्डल से उत्पन्न होकर जो दूर तक दीखता है वह ऋक् साम ही का कारण है अतः इन दोनों को प्रकाश का ले जाने वाला यदि वाहन माने तो अनुचित न होगा।

कहीं यह भी लिखा है कि यह ऋक् साम इन्द्र के सोम पीने के पात्र हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि सूर्य में जो प्रकाश है वह इन्हीं दोनों क्रियाओं के द्वारा नये २ सोमों को अपने शरीर में लिया करता है क्योंकि ऋक् के द्वारा अग्नि की कमी होने पर बाहर से सोम खाली पेट में प्रवेश करने पाता है अतः इन दोनों को सोम पीने का पात्र कहें तो अनुचित न होगा।

## यजुः

ऋक् और साम दोनों यजुः में लय हो जाते हैं और यजुः से ही उत्पन्न होकर यजुः के आश्रय से ही ठहरते हैं। जहां नया यजुः उत्पन्न होता हैं साथ ही उसके ऋक्-साम भी नये उत्पन्न हो जाते हैं इस विषय में ऋग्वेद की एक ऋचा है:—

**अग्निर्जागारतमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि।**
**अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।**

(ऋ० ४।२।२५)

अर्थात् अग्नि स्वतन्त्ररूप से जागता है उसी की कामना ऋचाएं करती हैं अर्थात् सब ही ऋचाएं यजुः की परिस्थिति चाहती हैं इसी प्रकार जो अग्नि जागता है उसके प्रति चारों ओर से साम भी दौड़कर आया करते हैं और जो अग्नि जाग रहा है उसको यह सोम कहता है कि मैं आपके एक नीचे दरजे के सखाओं में से हूँ अर्थात् सखा होने पर भी आप मुझसे बडे हैं, आपके आश्रय से मेरी स्थिति है क्योंकि आप अन्नाद (भोक्ता) हैं और मैं आपका अन्न (भोग्य) हूँ।

## यज्ञ

ऋक्, यजुः और साम तीनों वेद वाक् रूप हैं इनमें प्राण प्रविष्ट (घुसा हुआ) रहता है। वह प्राण इन्हीं तीनों वाक् से तीन लोक उत्पन्न करके उन तीनों लोकों में एक साथ विक्रम (व्याप्त) होता है अत;

उस प्राणमय यज्ञ को 'त्रिविक्रमविष्णु' कहते हैं। यह यज्ञ रूपी विष्णु महोक्थ से द्यौः अर्थात् स्वर्ग को प्राप्त होता है, महाव्रत से अन्तरिक्ष को और अग्नि से पृथ्वी को प्राप्त होता है। प्रत्येक वस्तु में मूर्ति का भाग पृथ्वी है जो अग्नि में व्याप्त रहता है और पृथ्वी से निकल कर महोक्थ अन्तरिक्ष को पार करके द्यौः मण्डल में पहुँचता है किन्तु महाव्रत अन्तरिक्ष में रहता है क्योंकि मूर्ति में प्रवेश करने के पश्चात् वह अग्नि हो जाता है अतः उसकी स्थिति अपने रूप से अन्तरिक्ष तक ही रहती है अतः हम कह सकते हैं कि यह पृथ्वी लोक अग्नि है, अन्तरिक्ष महाव्रत और द्यौः महोक्थ है। ऋषि लोग कहते हैं कि ये तीनों समुद्र हैं, अर्थात् महोक्थ को ऋचाओं का, महाव्रत को साम का और अग्नि को यजुः का समुद्र समझना चाहिये ये तीनों समुद्र देवताओं के लोक हैं। ये तीनों ही समुद्र देवताओं से सर्वदा भरे रहते हैं और साथ ही इन्हीं तीनों समुद्रों में यज्ञ रूपी विष्णु भगवान भी निरन्तर वास करते हैं।

## वेदों का उदाहरण

यद्यपि ये तीनों वेद प्रत्येक वस्तु में रहते हैं और कोई भी वस्तु बिना वेदों के अपना कोई भी स्वरूप धारण नहीं कर सकती तथापि इन वेदों को उदाहरणार्थ ऋषियों ने सूर्य में दिखाया है। सूर्य के लिए यह बार २ कहा गया है कि वह 'त्रयीमय' है अर्थात् ये तीनों विद्या ही तप रही हैं। इनमें जो मण्डल दीखता है वही ऋक् है और जो मण्डल में कोई पुरुष है अर्थात् जिस पुरुष (पदार्थ) से वह मण्डल भरा हुआ है वही यजुः है, इस यजुः का जो आकार है अर्थात् सीमाबन्धी है वही एक प्रकार का छन्द है। छन्दोबद्ध होने के कारण उस मण्डल को ऋक् कहते हैं। इस मण्डल से बाहर जहां तक प्रकाशमय अर्ची दीखती है वह ही साम है। अर्ची का स्वरूप मण्डल से भिन्न प्रकार का है। किन्तु जहां तक अर्ची का प्रकाश है वहां तक क्रमशः छोटे होते हुए अनन्तानन्त मण्डल भी क्रमशः जमे हुए रहते हैं वे सब ऋक् हैं उन सब ऋचों पर ही सब साम अर्थात् अर्ची का प्रकाश अवलम्बित है अतः कहा जाता है **'ऋच्यध्यूढं साम गीयते'** अर्थात् ऋचा पर सवार हुआ साम गाया जाता है। तात्पर्य यह है कि यह प्रकाश उन्हीं मण्डलों के आधार से फूला हुआ सम्पन्न होता है।

इन वेदों में यजुः जो मण्डल में रहने वाला पुरुष है वह मृत्यु है किन्तु यह साम जो चारों ओर सर्वत्र व्याप्त है वह अमृतरूप है। इसी अमृत से घिरे हुए रहने के कारण मृत्यु की मृत्यु नहीं होती। मृत्यु स्वभाव होने पर भी अमृतानुसार यजुः भी सर्वदा विद्यमान् प्रतीत होता हैं।

इस अर्ची अर्थात् साम का तथा पुरुष अर्थात् यजुः का यह मण्डल जो ऋक् कहलाता है प्रतिष्ठा है इसी मण्डल के आधार से वह पुरुष और वे अर्चियां देखने में आती हैं।

रस वेद का सारांश यह है कि ये तीनों वेद रस (पदार्थ) के नाम हैं। जिनमें अग्नि एक प्रकार का रस है उसके सप्त पुरुष के नाम से सात विभाग करके प्रत्येक वस्तु में अग्निचयन हुआ करता है जिसका वर्णन कहीं अन्यत्र किया जावेगा। यहां केवल इतना ही कहना है कि जगत् में मूर्तिमान् सभी पदार्थ अग्नि का ही चयन है, उसमें चिति किया हुआ जितना अग्नि रस उस मूर्ति में भरा रहता हैं उस अग्नि रस का 'यजुर्वेद' है और वही अग्निरस विस्रंसन स्वभाव के कारण जो मूर्ति से मूर्ति के स्वरूप

में ही निकला करता है उसी को महोक्थ या 'ऋग्वेद' कहते हैं और बाहर से आते हुए सोम रस को सामवेद वा महाव्रत कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अग्नि और सोम इन्हीं दोनो रसों के किसी २ परिणाम विशेष को ऋक् यजुः और साम इन तीनों वेदों के नाम से व्यवहृत किया है।

## २ वितान वेद

प्रजापति स्वभाव से ही त्रिधातु वा त्रिपर्वा होता है। इन्हीं तीन संख्याओं के रखने के कारण प्रजापति में नियम से तीन अन्त अर्थात् तीन सीमा हुआ करती हैं। **१-नाभिविन्दु, २-मूर्तिपृष्ठ, ३-बहिः पृष्ठ**। ये तीनों ही सीमाएं परस्पर एक से एक गुथी हुई रहती हैं। इनमें नाभिविन्दु वह है कि जिसमें आयाम, विस्तार, घनता अर्थात् लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई न हो और सम्पूर्ण वस्तु भार का जहां साम्य हो और जिसके ठहरने से वस्तु में ठहराव रहे वा गति से वस्तु में गति और वही नाभिविन्दु है, किन्तु जब हम किसी वस्तु को स्पर्श करने की इच्छा से हाथ बढ़ाते हैं तो वह हाथ जहां जाकर धक्का खावे वहां पर उसकी गति रुक जाती है और जो उभरा हुआ प्रदेश हमारी आंखों को दूसरी ओर जाने से रोकता है वही मूर्तिपृष्ठ है परन्तु जब किसी वस्तु को देखते हुए बिना रुकावट के खुले मैदान में इतनी दूर हट जावे कि वस्तु धीरे २ अदृश्य हो जावे वही प्रदेश उस वस्तु की बहिःपृष्ठ सीमा है। इस प्रकार वस्तु में तीन सीमाओं का होना स्वाभाविक धर्म है।

इनमें नाभिविन्दु से लेकर बहिःपृष्ठ की धरातल तक ३६० रेखाएं खींचकर विभाग किया जाय तो मूर्तिपृष्ठ और बहिःपृष्ठ के आयतन के छोटे बड़े होने पर भी दोनों पृष्ठों के अंश बराबर समान होंगे अब इनमें मूर्तिपृष्ठ से बाहर २ चारों ओर बहिःपृष्ठ तक यदि १००० समानान्तर वृत्त किए जावें तो उन हजारों वृत्तों के छोटे बड़े होने पर भी उनमें प्रत्येक पृष्ठ के अंश उसी प्रकार बराबर ३६० होते जावेंगे।

अब इनमें बहिःपृष्ठ से भीतर मूर्तिपृष्ठ तक जो एक २ अंश छोटे होते हुए दीखते हैं उनको हम 'ऋक्' कहते हैं किन्तु मूर्तिपृष्ठ से बाहर बहिःपृष्ठ तक उन सभी वृत्तों में जो एक २ अंश हमें बड़ा होता हुआ दीखता है वही 'साम' है। तात्पर्य यह है कि भीतर वाले वृत्त पर जो अंश अपना छोटा आयतन रखता था वही अंश बाह्यवृत्त पर वितान में आकर अपना बड़ा आयतन कर लेता है। जिसका पहले छोटा आयतन था उसको यदि हम ऋक् माने तो उसी का आगे चलकर वितान होने से बड़ा आयतन हो जाता है उसको हम उस ऋक् का साम कहेंगे क्योंकि ऋक् ही के वितान करने पर साम हुआ करता है। यहां इतना अवश्य जानना है कि मूर्तिपृष्ठ वाले सभी अंश केवल ऋक् ही कहे जा सकते हैं और बहिःपृष्ठ वाले सभी अंश साम ही कहे जाते हैं, किन्तु बीच वाले प्रत्येक वृत्त के सब अंश ऋक् और साम दोनों हो सकते हैं। बाहर वाले के अनुरोध से वे भीतर वाले ऋक् हैं और भीतर वाले के अनुरोध से बाहर वाले सब साम हैं। इस प्रकार ऋक् ही साम हैं, इसलिए यह भी कहना यथार्थ है कि **"ऋच्यध्यूढं साम गीयते"**।

इस प्रकार ऋक् और साम इन दोनों से भिन्न जो कुछ भाव किसी वस्तु में दीखे उनको हम यजुः कहेंगे। नाभि से बहिःपृष्ठ तक जो अग्निरस ऋक् साम में भरा रहता है उसे यजुः कहते हैं। यद्यपि

बिन्दु की शक्तियों के तनाव से मूर्ति बनी है और मूर्ति के भीतर वाले रसों के तनाव से बहिःपृष्ठ तक प्रदेश बना है किन्तु जिस प्रकार मूर्तिपृष्ठ के भीतर वस्तु भरी हैं उसी प्रकार मूर्ति से बाहर बहिःपृष्ठ तक कोई वस्तु भरी नहीं रहती तथापि नाभि बिन्दु से लेकर बहिःपृष्ठ तक समान प्रकार के पदार्थ अर्थात् मन, प्राण, वाक् क्रमशः वितान में आए हुए हैं ऐसा विश्वास करना चाहिए।

## छन्दवेद

मन, प्राण, वाक् इन तीनों से त्रिधातु प्रजापति इस जगत् में दो रूप से दीखता हैं। १-अणु २-स्कन्ध। यद्यपि वास्तव में उन तीनों धातुओं के मिलाव से प्रथम जो रूप हुआ था वह अणु अर्थात् परमाणु (Atom) रूप में था किन्तु पश्चात् धीरे २ इन परमाणुओं के संयोग से जो वृहत् रूप उत्पन्न हुआ उसी को स्कन्ध कहते हैं इस जगत् में प्रायः जहां जो कुछ मूर्ति देखते हैं वह सब स्कन्ध रूप की ही हैं क्योंकि परमाणुओं को उनके निज के रूप में हम नहीं देख सकते किन्तु जिन स्कन्धों को हम देखते हैं वे सब वास्तव में परमाणु पुञ्ज ही हैं। इस प्रकार दो रूप होने पर भी दोनों ही बराबर नियम से अपनी २ महिमा अवश्य रखते हैं। परमाणु की महिमा यद्यपि बहुत कम अवकाश में थी किन्तु उन परमाणुओं के पुञ्ज से उस मूर्ति का आयतन ज्यों २ बढ़ता गया त्यों २ उसकी महिमा भी फैलकर अधिक अवकाश ग्रहण कर लेती है। सूर्य के प्रत्येक परमाणु की प्रत्येक महिमा बहुत ही सूक्ष्म होगी किन्तु इस विशाल सूर्य बिम्ब की महिमा लगभग २५,०,०००,००० पच्चीस करोड़ योजन चारों ओर फैली हुई हैं। सूर्य के पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊपर, नीचे सब ओर घेर कर जो किरणें फैली हुई दीखती हैं वही महिमा का स्वरूप है।

स्कन्ध की मूर्ति का जितना व्यास है उसमें क्रमशः जितने परमाणु हैं उनमें दोनों छोर के एक २ परमाणु से उठी हुई दो परमाणुओं की रेखा जहां एक होकर एक परमाणु उत्पन्न करती है वहां तक उस स्कन्ध का जो रूप है उसको महिमा धारण करती है अथवा उतने प्रदेश वाले पदार्थों को महिमा कहते हैं।

मूर्ति से निकलकर उसी मूर्ति का रस आगे को जाता है ऐसा पहले प्रकरण में कहा जा चुका है उसमें यह नियम स्मरण रखना चाहिये कि पहली मूर्ति के व्यास की नाभि का एक परमाणु अपना रस आगे को कभी नहीं जाने देता वह अपनी पहली मूर्ति की आत्मा होकर उसी के साथ रहता है। ठीक उसी नाभि वाले परमाणु के पार्श्ववर्ती दो परमाणु आगे चल कर एक हो जाते हैं। उन के योग से बना हुआ एक परमाणु आगे वाली मूर्ति की नाभि में जा बैठता हैं। इस प्रकार पहली मूर्ति से आगे वाली मूर्ति में दो परमाणु की कमी हो जाती है। इसी नियमानुसार कूटस्थ मूर्ति के व्यास वाले परमाणुओं का ह्रास होते २ किसी अन्तिम मूर्ति में कूटस्थ व्यास के दोनों छोर वाले परमाणु एक बनकर केवल वही मूर्ति का रूप रह जाता है। उस परमाणु के पार्श्व में अन्य परमाणुओं के न रहने से रस का आगे बढ़ना बन्द हो जाता है अतः स्कन्ध की महिमा भी वहीं समाप्त हो जाती है इस प्रकार पहली मूर्ति से आने वाली मूर्ति में व्यास बनाने वाले परमाणु दो-दो के नियम मे कम होते जाते हैं। अतः पूर्व २ मूर्ति की

अपेक्षा उत्तर २ मूर्ति क्रमशः छोटी होती है, इसीलिए हम वस्तु से जितना दूर हटते हैं क्रमशः वस्तु हमें छोटी दीखती जाती है।

यह प्रकार मूर्ति के तिर्यक् व्यास के परमाणु के अनुरोध से समझना चाहिये किन्तु अभिमुख व्यास समान दिक् वाले व्यास की परमाणुओं की रेखा भिन्न २ नहीं होती। एक दिशा में जाने के कारण एक होकर एक ही महिमा की रेखा बनती है। इसी कारण कूटस्थ मूर्ति की लम्बाई, गोलाई और मोटाई बहुत दूर जाने पर नहीं दीखती केवल वह वस्तु चिपटी दीखती है। इसका कारण यही है कि नाभि वाले परमाणु के साथ वाले तिर्यक् रेखा में जितने परमाणु हैं वही महिमा की रेखा बनाते हैं। उनके मुख पर मोटाई वाले परमाणुओं की रेखा से मिलकर एक हो जाती है।

## छन्दवेद का ऋक्

कूटस्थ मूर्ति वा महोक्थ मूर्तियों के प्रत्येक व्यास के दोनों छोर के दोनों बिन्दुओं को एक साथ छन्द के नाम से बोलते हैं क्योंकि वह मूर्ति उन्हीं दोनों बिन्दुओं के अन्दर उन्हीं दोनों बिन्दुओं से घिरी हुई अपना स्वरूप धारण करती है। जो वाक् किसी छन्द से बद्ध हो उसको संस्कृत भाषा में पद्य वा श्लोक कहते हैं किन्तु उसी को वैदिकभाषा में ऋक् कहते हैं यह मूर्ति वास्तव में वाङ्मय है और छन्दोबद्ध है, अतः ऋक् कहलाती है। चाहे कूटस्थ मूर्ति हो वा महोक्थ मूर्तियां हों सभी का छन्दोबद्ध वाक् होने के कारण ऋक् संज्ञा है।

कूटस्थ मूर्ति के दोनों व्यासान्त बिन्दुओं का रस योग के अनुक्रम से किसी अवसान (अन्त की) बिन्दु में जहां एकता होती है उस बिन्दु के साथ दीर्घ त्रिभुज क्षेत्र उत्पन्न होता है, जिसमें कूटस्थ की व्यास रेखा छोटा भुज है बाकी दो भुज समानरूप से वृहत् होते हैं। इसी त्रिभुजक्षेत्र में उस कूटस्थ मूर्ति की महोक्थ मूर्तियां क्रमबद्ध ह्रासोतार रूप से सन्निविष्ट रहती हैं। इस प्रकार के त्रिभुजक्षेत्र असंख्य होते हैं। अथवा यों कहिए कि कूटस्थ मूर्ति के पृष्ठ की चरम सीमा पर जितने परमाणु हैं उन सब से एक २ रेखा खींची जाय तो उसी रेखा के आधार से उतनी ही संख्या के ये त्रिभुजक्षेत्र भी अवश्य होते हैं। प्रत्येक त्रिभुजक्षेत्र के महोक्थ मूर्तियों को दृष्टि पर लाने से एक समुद्र के भीतर डूबे हुए रत्न के अनुसार कई कोटि महोक्थ मूर्तियों के महाविशालमण्डल के केन्द्र में वह कूटस्थ मूर्ति दीखेगी। वे इसी कूटस्थ मूर्ति की सब मूर्तियां महिमा स्वरूप हैं।

## छन्दवेद का साम

कूटस्थ मूर्ति के चारों ओर बहिःपृष्ठ तक एक सहस्र मण्डल की कल्पना की जावे तो प्रत्येक मण्डलपर समान मात्रा की महोक्थ मूर्तियां सन्निविष्ट होंगी। भीतर के मण्डल पर जिस मात्रा की मूर्तियां सन्निविष्ट होती हैं उनसे छोटी मूर्तियां बाहर वाले मण्डल पर होंगी। इस प्रकार बाहरवाले मण्डलोंपर क्रमशः छोटी २ मूर्तियां सन्निविष्ट होती हैं किन्तु एक मण्डलपर चारों ओर सब मूर्तियाँ समानछन्द की होती हैं छोटी बड़ी कदापि नहीं होती। इसी साम्य अर्थात् मात्रा की समानता का निर्वाह

करने वाला मण्डल साम कहलाता है जो कि एक सहस्र माना गया है। इस साम में मूर्ति की समानता के कारण ही साम संज्ञा रक्खी गई है।

ये सहस्र मण्डल भी कूटस्थ मूर्ति के ही बहिःपृष्ठ कहे जाते हैं। कूटस्थ पृष्ठ के अनुसार उन पृष्ठों में भी ३६० अंश करके समान विभाग किये जाते हैं। भीतरवाले मण्डल की अपेक्षा बाहर के मण्डल का प्रदेश अधिक होने पर भी अंशों में समता रखता है। इसी साम्य के कारण वह अधिक प्रदेश पूर्व मण्डल के छोटे प्रदेश का साम कहलाता है।

कूटस्थ मूर्ति का छोटे से छोटा प्रदेश महिमाक्षेत्र में आकर अधिक प्रदेश वाला हो जाता है। उसके इस प्रकार के फैलाव से समान देश के लिये मात्रा कम हो जाती है। जिससे समान मूर्ति न होकर महिमा के मण्डल में छोटी २ मूर्तियां हो जाती हैं। यह प्रसार घनता की शिथिलता होते हुए एक परमाणु तक आकर घनता को सर्वथा नष्ट कर देता है ऐसी दशा में एक ही परमाणु की मूर्ति रह जाती है वही अन्तिम साम है।

पूर्वोक्त के अनुसार समान ऋचाओं के अर्थात् महोक्थ मूर्तियों के मण्डल से जो पृष्ठ नाम का साम उत्पन्न होता है वह साम वहां समाप्त होता है जिसके बाहर फिर कोई ऋचाओं का समान मण्डल उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार के अन्तिम साम प्रत्येक वस्तु की कूटस्थ मूर्ति के आयतन के अनुसार छोटा बड़ा होता है और वस्तु भेद से अनन्त हो सकता हैं, किन्तु उनमें से कितनों ही के व्यवहारार्थ पृथक् २ नाम दिये गये हैं, जैसे इस पृथ्वी के अन्तिम साममण्डल को 'रथन्तर' पृष्ठ कहते हैं। सूर्य्य के अन्तिम साम को 'बृहत् पृष्ठ' कहते हैं और रथन्तर की अपेक्षा यह पृष्ठ बड़ा होता है अतः इसको बृहत् साम कहते हैं।

पृथ्वी का चरम पृष्ठ रथन्तर शब्द से कहा गया है, वह तीन प्रकार का है, जिनको रथन्तर, वैरूप और शाक्वर कहते हैं। इसका कारण यह है कि पृथ्वी में से महिमा के रूप में ३ प्रकार के पदार्थ निकलते हैं—**वाक्, गौ और द्यौ**। इनमें वाक् से रथन्तर, गौ से वैरूप और द्यौ से शाक्वर पृष्ठ उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार सूर्य से भी तीन प्रकार के पदार्थ निकलते हैं—**ज्योति, गौ और आयु**। इन तीनों से उत्पन्न हुए पृष्ठ भी ३ प्रकार के हैं—ज्योति से बृहत्, गौ से वैराज और आयु से रैवत।

पृथ्वी का अग्नि जहाँ तक पर्याप्त है उसको रथन्तर कहते हैं और पर्जन्य देवता जिसके द्वारा जल की वृष्टि होती है वह जहां तक व्याप्त है उसको वैरूप साम कहते हैं और भूः, भुवः, स्वः इन तीनों लोकों की व्यवस्था जहां पूरी होती है उसको शाक्वर साम कहते हैं।

इसी प्रकार सूर्य की ज्योति अर्थात् प्रकाश मण्डल जहां पूर्ण होता है वह बृहत् साम है सूर्य का गौ जिनसे ऋतुओं का सम्बन्ध है वैराज साम है और आकाशी पशु जिनसे देवताओं के वाहन उत्पन्न होते हैं उनसे सम्बन्ध रखने वाला रैवत साम है। इस प्रकार इन छओं सामों का स्वरूप वर्णन साम वेद के छान्दोग्य ब्राह्मण में किया गया है।

रैवत साम
वैराज साम
बृहत् साम
सू.
पृ.
रथन्तर साम
वैरूप साम
शाक्कर साम
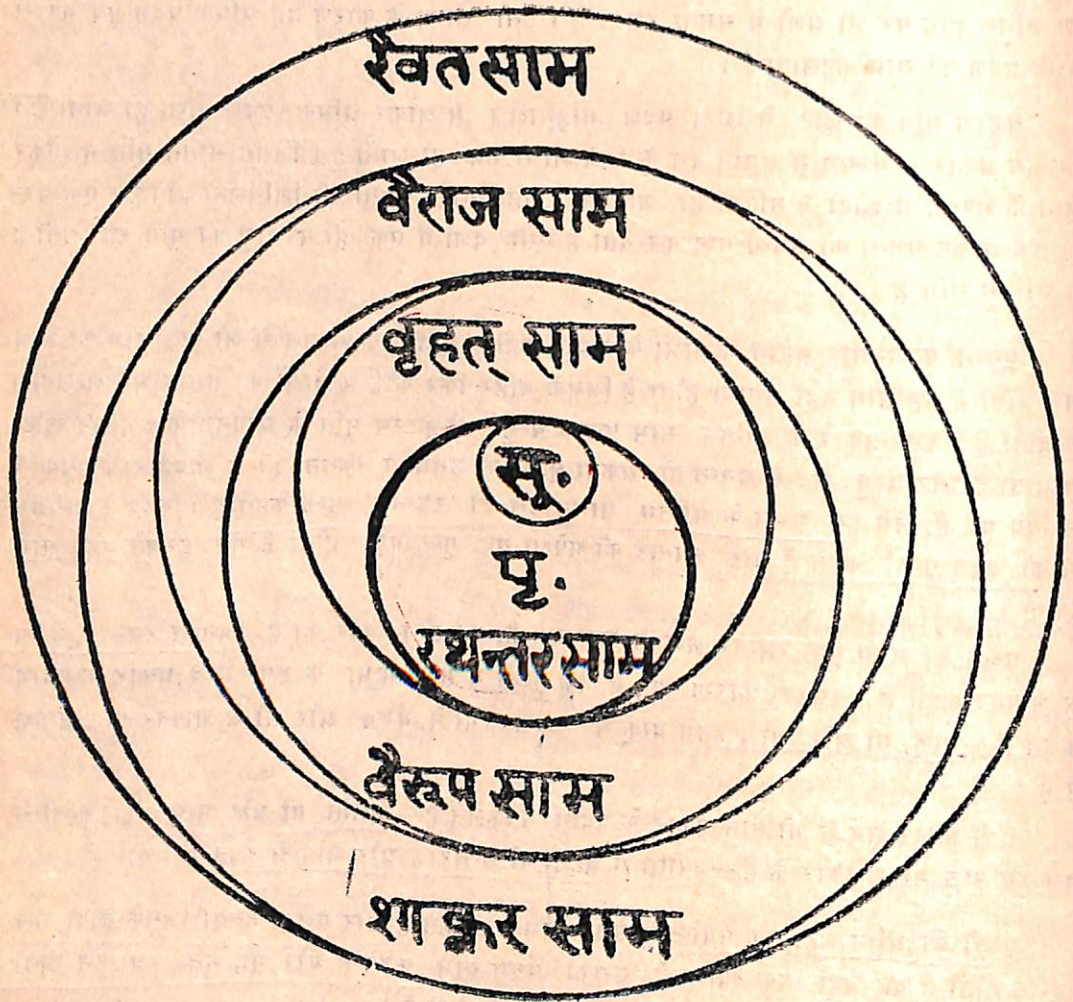
अब सूर्यका एक २ साम पृथ्वी के प्रत्येक साम को अतिमानित करता है अर्थात् अपने पेट में व्याप्त कर लेता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य जिस केन्द्र पर ठहरा है उससे कुछ दूर हट कर पृथ्वी का केन्द्र है। पृथ्वी केन्द्र से सूर्य बिम्ब तक व्यासार्ध मानकर एक वृत्त बनाया जाय वही रथन्तर पृष्ठ होगा। रथन्तर पृष्ठ के भीतर सूर्य बिम्ब सम्पूर्ण आ जाने से सूर्य को भी पृथ्वी पर विद्यमान माना जाता है। इस प्रकार रथन्तर की जहां तक व्याप्ति है वहां तक व्यासार्ध मानकर वृत्त बनाने से वृहत् पृष्ठ होता है जिसके भीतर संपूर्ण रथन्तर आजाता है। इसी प्रकार यह वृहत् जहां पूर्ण होता है पृथ्वी के केन्द्र से वहां तक व्यासार्ध से जो वृत्त होगा वही पृथ्वी का वैरूप साम है जिसके पेट में सम्पूर्ण वृहत् आता है। इसी प्रकार वैरूप को अपने पेट में रखकर सूर्य का वैराज बनता है और वैराज को पेट में लेकर पृथ्वी का शाक्वर बनता है और पृथ्वी के शाक्वर को पेट में रखकर सूर्य का रैवत साम अपना स्वरूप धारण करता है। इस प्रकार एक के भीतर एक आकर छओं साम परस्पर गुथे हुए से रहते हैं। पृथ्वी की जो पाञ्च-भौतिक मूर्ति है वही महोक्थरूप में बहिःपृष्ठ तक जाती है वे ही मूर्तियों के पञ्चभूत वाक् कहलाती हैं। पृथ्वी में से चारों ओर रेखा के रूप में जो काली किरणें निकलती हैं, जो चन्द्रमा वा सूर्य के संयोग से सफेद हो जाती हैं और जिनके द्वारा आकाश से वृष्टियां नियमानुसार किसी खास प्रदेश में होती हैं अथवा जिन कणों पर वायु के द्वारा जल के कण जम कर बादल के रूप में आते हैं वे ही पृथ्वी की गौ हैं। पृथ्वी के चारों ओर स्वभाव से वायु भरी रहती है उस वायु की ३ जाति मोटे तौर से समझी गई है। पहला वायु जिसमें मिट्टी का भाग अधिक है और घन है भू वायु कहलाती है वह १२ योजन तक है। यह प्रदेश पृथ्वी का भूलोक है। उसके ऊपर अपेक्षाकृत सूक्ष्मवायु जहां तक है उसको पृथ्वी का भूलोक कहते हैं। उसके ऊपर एक प्रकार का अत्यन्त सूक्ष्मवायु है उसी को Oxygen. शक्वरी कहते हैं और उसी के सम्बन्ध से हृदय में नासिका द्वारा जीवन वायु प्रवेश करता है जिससे हमारी वायु बनी रहती है। वह शक्वरी वायु पृथ्वी से सम्बन्ध रखता हुआ पृथ्वी के ऊपर चारों ओर जहां तक रहता है वह प्रदेश पृथ्वी का स्वर्लोक है। इस प्रकार पृथ्वी के बाहर तीन लोक का विभाग जिसके द्वारा किया जाता है वही वायुमय प्राण पृथ्वी का द्यौः कहलाता है। इस प्रकार पृथ्वी से सम्बन्ध रखते हुए ३ प्रकार के पदार्थ हुए। जिनमें वाक् मूर्ति रूप में पृथ्वी से बाहर जाती हुई है, दूसरी गौः सूत्र रूप में पृथ्वी से बाहर चारों ओर फैली हुई है और तीसरी द्यौः सरोवर के सदृश पृथ्वी के चारों ओर पृथ्वी को घेर कर दबाते हुए जमी हुई है।

इसी प्रकार सूर्य में भी ३ प्रकार के तत्त्व निकलते हैं—सर्वप्रथम ज्योति अर्थात् प्रकाश वह भाग है जो सूर्य का बिम्ब मण्डल ही क्रम से छोटा होता हुआ सूर्य के चारों ओर दूर तक फैला हुआ है। दूसरे सूर्य के किरणों के रूप में चारों ओर जो सूत्र निकलते हैं उनको गौः कहते हैं। इन गौओं से ऋषि पितर, देव, असुर और गन्धर्व आदि उत्पन्न होते हैं। ये ही सूर्य गौः अपनी अपनी वत्स रूपी पृथ्वी की गौओं के चूसने पर सप्त रस, सप्त उपरस, सप्त धातु, सप्त उपधातु आदि बहुत से पृथ्वी के स्वरूप को बनाने वाले पदार्थों को दुग्ध के रूप में देती रहती हैं। यह रस अहर्निश आकाश से बरसते हुए पृथ्वी की गौः के पेट में आते हुए पृथ्वी के स्वरूप को पुष्ट करते रहते हैं। इस सूर्य की गौः अर्थात् किरण रूपी सूत्र के डोरे, एक २ सात २ रंग के सात डोरों से बने हुए होते हैं जिनको तिकोने काच ( Prism ) आदि उपायों से पृथक् २ भी कर सकते हैं।

तीसरा वायु जो सूर्य से निकलता है एक प्रकार का प्राण है उसका इन्द्र और अमृत के नाम से भी व्यवहार होता है। यह प्रत्येक प्राणी के वा वृक्ष के शरीर को उठाये रखता है। इस के बल से मस्तक वा डालें ऊंची ओर निकाले जाने से गिर जाते हैं। इस आयु का स्वरूप न मूर्ति है और न सूत्र है किन्तु जमे हुए पानी के सदृश सूर्य के चारों ओर भरा पड़ा है। इन ६ पदार्थों से पृथ्वी का सृष्टिक्रम चलता रहता है। जिस प्रकार सूर्य वा पृथ्वी आदि के पदार्थों में उपक्रम से उठाकर उपसंहार अर्थात् समाप्ति तक पहुचने को साम कहते हैं उसी प्रकार भावमय पदार्थों में भी उपक्रम से उपसंहार तक पहुचने को साम कहेंगे। ऐसे साम भी कई हो सकते हैं जिनमें से उदाहरणार्थ कितनों ही का नाम दिखाया जाता है— जैसे, अग्नि का वृषा अर्थात् पुरुष और सोम को योषा अर्थात् स्त्री भाव से समझ कर उन दोनों का जहां कहीं मिथुन अर्थात् योग हुआ हो उस योग के पूरे होने को 'वामदेव्य' साम कहते हैं। किसी प्रकार का एक प्राण जहां अपने स्वरूप से समाप्त होता हो उसको 'गायत्र' साम कहते हैं। रथन्तर अथवा वृहत् में जिस पदार्थ को साम कहा है वह अग्नि है और अग्नि को प्राण कहते हैं इसी प्राण के अनुरोध से रथन्तर और वृहत् साम को भी गायत्र साम कह सकते हैं और अग्नि और सोम इन दोनों का योग, भी उन दोनों में होता है अतः योग की दृष्टि से उसे वामदेव्य साम भी कह सकते हैं और किसी अङ्गी के स्वरूप में उसके सब अङ्ग यदि पूरे बैठ जांय तो उसको 'यज्ञायज्ञीय' साम कहते हैं। किसी देवता का स्वरूप जहां समाप्त होता हो उसको 'राजन्' साम कहते हैं।

यहां पर यह भी स्मरण रहे कि इन सामों के नाम प्रकृति में देवता वा भूतादि पदार्थों के अनुरोध से दिखाये गये हैं। किन्तु प्रकृति के अनुसार मनुष्यों को अपने आधीन भी यज्ञों की क्रिया करने का उपदेश किया गया हैं। उस यज्ञ में ऋक्, यजु, साम उच्चारण किये जाते हुए वाक्, प्राण, मन से संबन्ध रखते है। होता ऋक् मन्त्र का उच्चारण करता है, अध्वर्यु यजुः मन्त्र का प्रयोग करता है और उद्गाता साम मन्त्र का उच्चारण करता है। ये तीनों ऋत्विक् वाक् और प्राण इन दोनों का प्रयोग करते हैं और चौथा ब्रह्मा मन, प्राण का योग देकर यज्ञ की पूर्ति करता है। इन चारों के योग से मन, प्राण, वाक् शरीर में निकल कर प्रकृति के मन, प्राण, वाक् में मिलाये जाते हैं। अध्यात्मिक मन, प्राण, वाक् को आधिदैविक मन, प्राण, वाक् के साथ मिलाने की रीति को ही यज्ञ की विधि कहते हैं। इनमें उद्गाता के उच्चारणार्थ ऐसे मन्त्र नियत किये गये हैं जिन नियमों के अनुसार गान करने पर प्रकृति के उन सामों से मिलाव हो सके। ऐसे मन्त्रों के भी वे ही नाम रक्खे गये हैं जिन सामों के मिलाने के लिए मन्त्र बोले गये हों उसके अनुसार रथन्तर, वृहत्, वैरूप, वैराज, वामदेव्य, यज्ञायज्ञीय, राजन् आदि सामों के लिए पृथक २ मन्त्र सामवेद के ग्रन्थों में माने गये हैं जिनकी दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं है। यहां उन्ही सामों का दिखाना आवश्यक है जो सूर्य वा पृथ्वी के पदार्थों में हैं अथवा भावमय पदार्थों में हैं।

कितने ही लोगों का कथन है कि जो तेज सूर्य या ताराओं के बिम्ब से निकलता है वह बड़े वेग से चलने पर भी कितने ही वर्षों के पश्चात् इस पृथ्वी पर आता है। परन्तु उनका विचार उनकी गणित के अनुसार भले ही सिद्ध होता हो, परन्तु वैदिक विज्ञान के अनुसार प्रत्येक भास्वर बिम्ब का तेजोमण्डल उसके अपने वृहत् साम तक स्थिर रूप से जमा हुआ रहता है। जब तक तेज अपने साम तक न पहुंच ले

तब तक कूटस्थ नाभि पर कूटस्थ मूर्ति वाला बिम्ब भी कदापि नहीं बनता। नाभि और कूटस्थ पृष्ठ और बहिः पृष्ठ ये तीनों ही एक ही क्षण में बनते हैं। कूटस्थ पृष्ठ से बहिः पृष्ठ तक जाने के लिए यद्यपि कुछ क्षण अवश्य लगे होंगे किन्तु यह निश्चित है कि बहिः पृष्ठ तक तेज के पहुंचने के साथ २ कूटस्थ पृष्ठ का स्वरूप भी संम्पन्न होता है। जिस प्रकार माता के गर्भ में बनते हुए शरीर में नाभि से मस्तक तक रस को जाने के लिए समय भले ही लगता हो किन्तु नाभि, मस्तक, पांव और सम्पूर्ण शरीर का चर्म और भीतर के अस्थि, शोणित, आदि सभी पदार्थ एक साथ सी सम्पन्न होते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी कूटस्थ मूर्ति के ऋक् साम और यजुः ये तीनों ही एक साथ स्वरूप धारण करते हैं इनमें कम समझना या वर्षों के बाद बिम्ब से तेज का गमन मानना केवल भूल ही नहीं हैं किन्तु अवैज्ञानिक होने के कारण मूर्खता से भरी हुई हैं, सूर्य के मन्त्र के अनुसार ऋचा को भी साम कह सकते हैं।

औपचारिक दशा में भी इन तीनों वेदों की कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक वस्तु में नाम, रूप, कर्म होते हैं इनकी भी वेद रूप से कल्पना कर सकते हैं। इनमें नाम को ऋक्, रूप को यजुः और कर्म को साम समझना चाहिये। प्रत्येक पदार्थ में जो कुछ कर्म होता है वह सब साम है और उस कर्म की समाप्ति तक साम का सात अवस्था रूप से विभाग किया जा सकता है।

१. हिंकार २. प्रस्ताव ३. आदि ४. उद्गीथ ५. प्रतिहार ६. उपद्रव ७. निधन।

अक्षर उच्चारण करते समय अग्नि की नोदना और वायु का प्रक्रमण और करण का स्थान-विशेष में जाकर योग करना ही हिंकार, प्रस्ताव और आदि हैं। जो मुख से उच्चारण करते समय अक्षर बाहर निकलते हैं वह उद्गीथ है और बाहर निकला हुआ शब्द जो चारों ओर फैलता है वह प्रतिहार है। पश्चात् शब्दों में जो विकार उत्पन्न होता है वह उपद्रव है। अन्त में शब्द सर्वथा शान्त होकर नष्ट हो जाता है वही उसका निधन है।

सूर्योदय के समय उदय से पहले की दशा, सूर्योदय की दशा, पहर दिन चढ़ने की दशा, मध्यान्ह मध्यान्ह के पीछे की दशा, चौथे पहर की दशा और सूर्यास्त की दशा क्रम से सातों विभाग समझना चाहिये।

इन सप्त विभागों में आदि और उपद्रव को छोड़दें तो पांच विभाग भी हो सकते हैं और यदि हिंकार और प्रतिहार को भी छोड़ देवें तो मुख्य करके तीन ही विभाग साम के कहे जा सकते हैं। प्रस्ताव अर्थात् वस्तु या काम का आरम्भ पहला भाग और वह जब पूरे ओज पर आ जावे वह मध्यम अवस्था उद्गीथ है, किन्तु पूरे चढ़ाव के पश्चात् जब वह वस्तु गिरने लगती है अथवा वह काम ठण्डा पड़कर शान्त हो जाता है तो उसे निधन कहेंगे। जगत् में कोई भी वस्तु, भाव या कर्म ऐसा नहीं है कि जिसमें आदि, मध्य और अन्त ये तीनों अवस्थायें न हों। उन्हीं तीनों को साम के विभाग से कह सकते हैं।

किसी वस्तु की मूर्ति में उसके व्यास का जहां अवसान होता है वह साम का प्रस्ताव-भाग है किन्तु उस वस्तु का नाभिबिन्दु साम का निधन भाग है। इन दोनों के बीच की दशा ही उद्गीथ होगी। इनमें भी प्रस्ताव का भाग प्रथम होने के कारण ऋक् के समान है और निधन का भाग भाग पश्चात्

होने के कारण साम का भाग है और मध्य का उद्गीथ मध्य में होने के कारण यजुः का भाग है। इस प्रकार इन तीनों वेदों में साम इतना व्यापक है कि प्रत्येक वेद में भी वह किसी न किसी रूप में अवश्य ही व्याप्त रहता है।

## वेद साधारण

सबसे प्रथम तीनों वेदों का सारांश दिखाया जाता है :—

**रसवेद में**—

१. चीयमान रस (चुनाव में आया हुआ)=अग्नि=यजुः (जमा हुआ रस या तत्त्व)
२ विस्रसमान रस (निकला हुआ)=महोक्थ=ऋक् (उठकर जाता हुआ रस)
३. आपूर्यमाण रस (भराव में आता हुआ)=महाव्रत=साम (आकर बैठता हुआ रस)

**वितानवेद में**—

१. कूटस्थ वा महिम स्थितमूर्ति=ऋक् है।
२. कूटस्थ मूर्ति के चारों ओर मूर्तिमण्डल=साम है।
३. मूर्तियों के मर्त्य वा अमृत दोनों रस=यजुः है।
( मर्त्य जिससे मूर्ति बनी और अमृत जो मूर्ति की आत्मा है )

**छन्दोवेद में**—

१. कूटस्थ से बाहर जाता हुआ सूच्यग्र त्रिभुज क्षेत्र=ऋक् है।
२. बाहर से कूटस्थ में आता सूचीमुख त्रिभुज क्षेत्र=साम है
३. इन दोनों त्रिभुजों में समान रूप से संचारी रस=यजुः है।

इस प्रकार तीनों वेदों के पृथक् पृथक् तीन भाव हैं किन्तु बहुतों का यह भी मत है छन्दोवेद सभी ऋचा हैं, वितानवेद सभी साम हैं और रसवेद सभी यजुः हैं। इस प्रकार प्रथम तीन वेद निरूपण करके फिर प्रत्येक वेद में तीन तीन भेद उपर्युक्त कथनानुसार जानना चाहिए। ये तीनों ही वेद परस्पर अविना-भूत हैं अर्थात् एक के बिना एक कदापि नहीं रहते।

## रसवेद का उपयोग

जहां कहीं यज्ञ होते हैं वे रसवेद से ही होते हैं। यज्ञ से अन्न और अन्नाद का परस्पर संबन्ध रहता है। ये तीनों ही प्रत्येक वस्तु में घटाव, बढ़ाव या साम्यभाव अन्न भोग से संबन्ध रखते हैं और ये तीनों प्रत्येक वस्तु में देखे जाते हैं अतः जगत् भर में रस वेद का उपयोग समझना चाहिये। यदि रसवेद न होता तो किसी प्रकार के यज्ञ नहीं होते। यज्ञ के न होने से कोई भी वस्तु अन्नाद बन कर अन्न का ग्रहण नहीं करती और अन्न ग्रहण न करने से वस्तुओं में वृद्धि, क्षय या साम्य भाव न होते।

## वितान वेद का उपयोग

प्रत्येक वस्तु कुछ कुछ संकोच, विकास का प्रदेश रखता है। जिस प्रकार अङ्गुलियां फैलाये जाने पर अधिक देश में और मुष्टिका (मुट्ठी) बांधने पर संकुचित होकर कम देश में रहती हैं इसी प्रकार हस्त या शरीर के सभी अङ्ग, प्रत्यङ्ग कुछ सीमा तक संकुचित और कुछ सीमा तक विकसित रहते हैं। सभी वस्तु कुछ न कुछ वितान अवश्य रखती है। वितान होते होते जिस समय उसका वितान बंद हो जावे अर्थात् जिस प्रमय अपना वितान न कर सके वही उस वस्तु की समाप्ति है।

## छन्द वेद का उपयोग

जगत् के प्रत्येक पदार्थ में यह साधारण धर्म देखा जाता है कि समीप से देखने पर जो वस्तु जितनी बड़ी भासती है दूर से देखने पर वही छोटी दीखा करती है यहां तक कि छोटी होते होते किसी देश से वह सर्वथा नहीं दीखती। यह प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है सो छन्द वेद के कारण ही है।

## दृष्टि विचार

आज कल ज्यौतिष शास्त्र के वेत्ताओं ने सिद्धान्त किया है कि मनुष्यों की दृष्टि चन्द्र धरातल तक जाती है अर्थात् जिस कक्षा पर चन्द्रमा घूमता है। उसके आगे मनुष्य की दृष्टि जाने की सामर्थ्य नहीं रखती अतः वही धरातल आकाश वृत्त बन जाता है। अर्थात् सूर्य या और और ग्रह अथवा उनसे भी ऊंचे नक्षत्र मण्डल से जो किरणें आती हैं वे यद्यपि आगे, पीछे, दूर या समीप से भले ही आती हों किन्तु मार्ग में आती हुई जहां हमारी दृष्टि समाप्त होती है वही दृष्टि समाप्ति के अनुरोध से आधे आकाश का समधरातल बन जाता है और उसी धरातल पर आती हुई (ऊपर से) उन सब को एक ही सीमा पर ग्रहण करती है। वही सीमा अथवा धरातल आकाश का नीला गोला ऊपर मुझको भासता है। जिस धरातल में हम असंख्य ताराओं को, ग्रहों सहित सूर्य को तथा चन्द्रमा को एक ही उंचाई पर अनुभव करते हैं उसी चन्द्र धरातल को ३६० अंशों में विभक्त करके सभी ज्योतिर्मय पिण्डों का अन्त तथा दूरी की गणना की जाती है और उनके बिम्बों के व्यास भी उसी स्थान से अनुमान करके निर्धारित किये जाते हैं। यह चन्द्रमा धरातल अन्दाजन ७५००० लाख कोस की दूरी पर निश्चित की गई है तो सिद्ध हुआ कि यहां ही तक हमारी दृष्टि पहुंचती है और हमारी दृष्टि ने ही यह धरातल स्थित की है। बस यह मत आज दिन सर्वत्र प्रचलित है, किन्तु हमारा कहना हैं कि यह धरातल जिसमें सभी ग्रह, नक्षत्र समान ऊंचाई पर हमें दीख रहे हैं यह चन्द्र धरातल नहीं है किन्तु यह मेरी चक्षु के भीतर जो सूक्ष्म बिन्दु है वही इन सब के देखने का धरातल है। दूर या समीप की ऊंचाई से आते हुए सभी ज्योतिष्मान् पदार्थ हमारी चक्षु पर आकर ही विश्रान्त होते हैं। इसी चक्षु रूपी धरातल में उन उन वस्तुओं का महोक्थ बिम्ब अपनी दूरी के नियमानुसार जितना बड़ा होकर दृष्टि पर पहुंचता है उतनी ही बड़ी उस वस्तु को हम देखते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि चन्द्रमा यदि अपने ही स्थान पर हमको दीखता तो वह इतना छोटा न होता। विज्ञान हमको समझाता है कि चन्द्रमा अपनी कक्षा (orbit) के धरातल पर बहुत विस्तार मण्डल से है। यदि हमारी दृष्टि चन्द्रमा के धरातल पर जाकर सब को देखती है तो

संभव है कि सूर्य आदि ग्रहों को छोटा देखे परन्तु चन्द्रमा को इतना छोटा कदापि नहीं देखती। इससे कहना पड़ता है कि वह चन्द्रमा भी अपनी कक्षा से उतर कर हमारे नेत्र धरातल में जितनी प्रमाण की महोक्थ मूर्ति से उपस्थित हुआ है उतने ही बड़े को हमारे नेत्र ग्रहण करते हैं। तो ऐसी स्थिति में जब चन्द्रमा, सूर्य और तारे एक धरातल में हमें दीख रहे हैं तो हम बिना संकोच के यह सिद्धान्त कर सकते हैं कि वे सब भी हमारी दृष्टि के धरातल पर ही दीख रहे हैं। इस नीले आकाश का ऊंचा दिखना ऊंचाई को कुछ ग्रहण करने वाली दृष्टि के ही प्रभाव से मानना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार अपने धरातल में यह दृष्टि ग्रहों को पकड़ती है उसी प्रकार कुछ ऊंचाई को भी ग्रहण कर रही है, किन्तु इनका धरातल चन्द्रमा की कक्षा पर कदापि नहीं। हम देखते हैं कि पास पास की दो वस्तुओं की दूरी और समीपता को हमारी दृष्टि ग्रहण कर लेती है किन्तु जब वस्तुएं बहुत दूर की होती हैं तो उनकी दूरी पकड़ने का सामर्थ्य न रखने से हमारी दृष्टि उनको एक ही धरातल पर देखा करती है अतः इस थोड़ी बहुत ऊंचाई के देखने से चन्द्र कक्षा पर धरातल अनुमान करना भूल है।

## वेद का मन, प्राण, वाक् से संबन्ध

जगत् में साम्य, वैषम्य, घटाव, बढ़ाव जो जहां दीखते हैं वे सब चारों ओर वाक् ही वाक् फैली हुई जाननी चाहिये। ये सब वेद हैं किन्तु वेद रूप में ये सब वाक् किसी न किसी नाभि से अवश्यमेव बंधी हुई रहती हैं। कोई भी वेद अपनी नाभि से च्युत नहीं होते। साम और ऋक् का आयतन नियत होता है किन्तु यजुः का आयतन कोई भी नियत नहीं होता। वाक् सदा सत्यरूपा है वह कभी प्राण के बिना नहीं रहती और प्राण कभी बिना मन के नहीं रहता। यही कारण है कि यह वेद जिस प्रकार वाक् है उसी प्रकार प्राण और मन भी है। जहां तक मन का फैलाव है वहीं तक प्राण फैला हुआ है। इसी प्राण के फैलाव के साथ साथ वाक् भी नियमानुसार फैलती है। तीनों के एक साथ फैलाव को वेद कहते हैं अतः यजुर्वेद में वाक् को वेद कहा है और ऐतरेयारण्यक में प्राण को और तैत्तिरीय वाले मन को वेद कहते हैं।

## वेद शब्द की व्युत्पत्ति

मन, प्राण, वाक् इन तीनों का जहां तक फैलाव है उसके भीतर दृष्टि रखने से दृष्टि के देश में जितनी बड़ी ऋक् मूर्ति हो सकती है वही पकड़ में आती है। दृष्टि का उस मूर्ति के पकड़ने को ही जानना कहते हैं। उसी जानने के अनुरोध से जिस मूर्ति को पकड़ कर हमारा ज्ञान होता है उसको वेद कहते हैं। जहां हम किसी वस्तु के लिये "है" ऐसा कह कर दावा करते हैं वहां केवल उसके तीनों वेदों का हमारी आत्मा से संबन्ध होता है। उसके तीनों वेद हमारी आत्मा में आते हैं उसी को हम "है" कह कर व्यवहार करते हैं। बिना वस्तु की उपलब्धि के कोई सत्ता नहीं है और बिना वस्तु की सत्ता के कोई उपलब्धि नहीं है। उपलब्धि को ही वेद कहते हैं। वेद का और सत्ता का परस्पर घनिष्ट संबन्ध है। जो नहीं है उसकी कदापि उपलब्धि नहीं होती और जिसकी उपलब्धि है उसका अस्तित्व अवश्य ही है। इसी कारण ऋषियों ने सिद्धान्त किया है कि इस जगत् के समस्त भूत वेद में सन्निविष्ट हैं अर्थात् वेद से बद्ध हैं। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् तीनों को मिला कर वेद कहा गया है और इन्हीं तीनों को मिले हुए रूप में प्रजापति

कहते हैं। अतः आदि प्रजापति से सब वेदों का उत्पन्न होना माना जा सकता है अथवा उसी मूल प्रजापति का निश्चल स्वरूप वेदों को जानना चाहिये अथवा वेदों को ही प्रजापति कहना चाहिये ये तीनों मत भिन्न होने पर भी एक रूप हैं।

## वेद की अपौरूषेयता

छन्द, वितान वा रस वेद प्रत्येक वस्तु में सम्मिलित रूप से व्यापक हैं। ये सभी वेद पुरुष के प्रयत्न के आधीन न होने से अपौरुषेय कहे जाते है। जगत् में पौरुपेय, अपौरुषेय भेद से दो प्रकार के पदार्थ हैं, इन घट, पट आदि जो पुरुषों से निर्मित हैं उनमें भी यह प्रजापति व्यापक होने के कारण वेद और यज्ञों के द्वारा स्वयम् सनिविष्ट होता है। वेद के लिये पुरुष को कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता अतः वेद सदा अपौरुषेय है।

इन्हीं वेदों को अपनी बुद्धि से देख कर इन्हीं वेदों के पदार्थों को समझाने के लिये जो शास्त्र बनाया है वह वेद के जानने के लिये है अतः वेद शास्त्र कहलाता है। प्राण देवताओं के विज्ञान और उसी के सम्बन्ध से मनुष्य देवताओं के इतिहास और प्राण देवताओं की यज्ञ विधि और उनकी स्तुति इन चारों विषयों को लेकर प्राचीन समय ऋषियों ने जिस शास्त्र को निर्माण किया था वही शास्त्र आज दिन वेद शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध है।

**।।इति वेद-निर्वचनं समाप्तम् ।।**

---

# यज्ञ

## यज्ञ के पांच रूप ये हैं

१—यहां तक प्रजापति के शरीर, रूप और वेद का वर्णन किया गया है, इन्हीं वेदों से यज्ञ सम्पन्न होता है जिनमें पहले यजुः से, पीछे ऋक् से और फिर साम से यज्ञ का स्वरूप बनाया जाता है। ये तीनों वेद सिलसिलेवार सन्निविष्ट होकर यज्ञ के स्वरूप बनाते हैं। ये तीनों वेद वाक् हैं। यह जहां तक अपना अवकाश लेता है वहीं तक यज्ञ भी संपन्न होता है क्योंकि यह यज्ञ प्राण प्रधान है और प्राण, वाक् दोनों मिलेजुले रहते हैं, एक के बिना एक नहीं रहता है, इसीलिये ये तीनों वेद ही यज्ञ के लिये योनि अर्थात् प्रभव स्थान हैं और आशय अर्थात् कर्म स्थान है अथवा यों भी कह सकते हैं कि यह यज्ञ ही वेदों की योनि वा आशय है यह विद्या (वेद) त्रिधातु है वह इस यज्ञ रूपी आशय में रहता है। इसलिये यज्ञ भी त्रिधातु होता है।

इन्हीं तीनों वेदों में से सभी भूत विद्यमान् रहते हैं और इन तीनों विद्याओं को सत्य कहते हैं इसलिये ये सब सत्य में ही वर्तमान हैं, वह सत्य उसी यज्ञ के द्वारा फैलाया जाता है।

सबसे प्रथम कोई एक **स्वयंभूयज्ञ** है जिसके तीनों वेदों के अन्तर्गत यह चराचर विशाल जगत् विद्यमान् है, यही यज्ञ अपने ही को हवन करता रहता है जिससे नये २ ऋक्, साम और यजुः उत्पन्न होते रहते हैं। इन तीनों के नये उत्पन्न होने पर नया यज्ञ होने लगता हैं, वही नयी वस्तु हो जाती है। जैसे कि सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र आदि अनन्तानन्त गोले जो इस विशालआकाश में दीखते हैं ये पृथक् २ तीन २ वेदों से पृथक् एक एक यज्ञ हो रहे हैं किन्तु इन सब यज्ञों का संबन्ध उसी एक स्वयंभूयज्ञ से है। उसी स्वयंभूयज्ञ के अन्तर्गत भिन्न २ स्थानों में भिन्न भिन्न छोटे बड़े यज्ञ हो रहे हैं। इन सब यज्ञों का क्रम भी उसी स्वयंभूयज्ञ के अनुसार है किन्तु इनके आश्रयाश्रयी भाव की विक्षेपता है। वह स्वयंभूयज्ञ परमेष्ठी पद कहलाता है। इनमें अनन्तानन्त त्रैलोक्यों के अन्तर्गत जो प्रजापति इस परमेष्ठी पद का अधिष्ठाता है वही ईश्वर है, उसके तीनों वेद भी ईश्वर ही हैं और उन तीनों वेदों से होता हुआ यज्ञ भी ईश्वर है उसी वेद से उसी यज्ञ से अथवा उसी प्रजापति से यह विशाल जगत् हुआ है वही मेरी आत्मा है।

२—ये जहां जो कुछ हम देख रहें हैं इन सबको ही प्राण समझना चाहिये। यह प्राण मन के प्रकाश में विद्यमान् है और इन प्राणों के आधार पर वाक् रहता है जो तेज रूप में दीखते हैं, ये तीनों सम्मिलित रूप में एक प्रजापति होता है उसमें मन का प्राण में जाना और प्राण का वाक् में जाना और वाक् का फिर मन में जाना इसी सिलसिले को यज्ञ कहते हैं ऐतरेय महर्षि कहते हैं कि "वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यज्ञः" अर्थात् मन प्राण में आकर वाक् बने और फिर वाक् मन में बदले इस ही काम को यज्ञ कहते है। इस प्रकार बदलने का कारण बीच का प्राण ही है, वही क्रिया रूप है, इसलिये वास्तव में वही यज्ञ है, उसी के मन और वाक् ये दोनों वर्तनी हैं।

३–सोम को अमृत् कहते हैं सोम वह रस है जो कभी नष्ट नहीं होता और जो सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों का उपादान कारण है। सोम सम्पूर्ण आकाश में सर्वत्र भरा हुआ व्याप्त रहता है उसकी व्याप्ति की दशा में उसमें न रूप है, न रस है, न गन्ध है, किन्तु उसी के संयोग से वे सब पदार्थ बन गये हैं जिनमें रूप, रस, स्पर्श और गन्ध हैं। यही सोम दूसरे सोम से जब आघात प्रत्याघात पाता है तो परस्पर के मर्दन और घर्षण से एक प्रकार का बल उत्पन्न होता है उस बल को "सहः" कहते हैं, इसी सहः से स्वभावतः अग्नि उत्पन्न हो जाता है। सोम के घर्षण से सहः उत्पन्न होकर उससे अग्नि का उत्पन्न होना जिस क्रिया से होता है उस सम्पूर्ण क्रिया को यज्ञ कहते हैं।

४–जब कभी सोम का अग्नि में हवन करते हैं तो वह सोम अग्नि में परिणत हो जाता है और अग्नि जल कर जब ज्वाला से ऊपर निकल जाता है तो जहां तक प्रकाश है उससे बाहर पहुँचकर अग्नि, अपने अग्निपने से मर जाता है और फिर सोम के रूप में ही परिणत हो जाता है इस प्रकार अग्नि सोम में और सोम अग्नि में पर्याय(बारी बारी) से बदलते रहते हैं। इस बदलने की सिलसिलेवार क्रिया को यज्ञ कहते हैं।

५–जिस प्रकार आदि प्रजापति का वितान होना यज्ञ है उसी यज्ञ से जगत् की सारी प्रजा उत्पन्न हुई है उसी प्रकार अब इस समय में भी और आगे को भी यज्ञ ही के द्वारा प्रजायें उत्पन्न हो रही हैं या

होती रहेंगी। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप या प्रत्येक वस्तु की जीवन रक्षा यज्ञ से ही होती है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थों की उत्पत्ति भी यज्ञ से ही समझनी चाहिये।

यज्ञ से होने वाली प्रजापति की प्रजा दो प्रकार की है—देवे और भूते। देवता ३३ हैं, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, द्यौ और पृथ्वी। इनमें वसुओं में सब से प्रथम अग्नि है और रुद्रों के पीछे रहनेवाले आदित्यों में बारहवां आदित्य विष्णु है इस प्रकार अग्नि से लेकर विष्णु तक जो देवताओं का सिलसिला जारी हो जाता है उसको यज्ञ कहते हैं। इसी यज्ञ में सब देवताओं का संनिवेश है। इस यज्ञ के द्वारा जिस सिलसिले में सब देवताओं का समुदाय बनता है उसी को प्रजापति कहते हैं। इन ही ३३ देवताओं के रूप में प्रजापति का फैलाव होना अनिरुक्तप्रजापति का निरुक्त रूप है।

६–तीनों वेदों में से ऋक् और साम का अपने आप उत्क्रमण(उठना) नहीं होता इसीलिये न दोनों किसी के अन्न होते हैं और न इन दोनों का कोई दूसरा अन्न होता है किन्तु इनमें अग्निरूपी जो वाक् है वह आनन्द भी है और अन्न भी इसीलिये है अन्न लेने के उद्देश्य से उक्थ से उठकर अर्क बनता है यह एक प्रकार का उत्क्रमण है और दूसरे किसी प्रजापति के अन्नाद प्राण के आक्रमण के कारण भी अन्न रूप से अग्नि का उत्क्रमण हो जाता है। अर्थात् दूसरे के बल से यहां का अग्नि या वाक् खिच कर दूसरे के शरीर में चला जाता है वह दूसरे आत्मा की तृप्ति करता है, यह दूसरे प्रकार का उत्क्रमण है। इनमें अन्नाद प्राण को अग्नि कहते हैं। और जो अंश खींच कर दूसरे का अन्न बनाया जाता है वह सोम कहलाता है। जब कभी सोम अन्नाद अग्नि में हवन किया जाता है तो सोम तत्काल ही अपने रूप से बदल कर ऊर्क् हो जाता है। ऊर्क् एक प्रकार का बल बढ़ानेवाला ठंडा रस है। यह रस थोड़े ही काल में प्राणरूप में परिणत हो जाता है। वह प्राण फिर अन्न को ग्रहण करने लगता है, इस प्रकार प्राण, ऊर्क्, और अन्न इन तीनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। एक को एक पकड़े रहता है और एक से एक उत्पन्न होता है। इन तीनों के इस प्रकार परस्पर उत्पत्ति की सिलसिलेवार क्रिया को यज्ञ कहते हैं जगत् में किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति या स्थिति इस यज्ञक्रिया के बिना नहीं होती।

इस प्रकार का यह यज्ञ प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक समय में रातदिन जारी रहता है। यही यज्ञक्रिया हमारे शरीर की अग्नि को या हमारी आत्मा को प्रतिक्षण स्वर्ग में पहुँचाता रहता है। यद्यपि हमारी आत्मा प्रतिक्षण सूर्य रूपी स्वर्ग मण्डल में इसी यज्ञ के द्वारा जाती रहती है तथापि हमारे शरीर में सूत्रात्मा के द्वारा क्षेत्रज्ञात्मा या प्रज्ञात्मा इस प्रकार बन्धे हुए रहते हैं कि इनके स्वर्ग जाने पर भी शरीर में ज्यों की त्यों आत्मा की स्थिति बनी रहती है और उनका इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध या शरीर के सम्बन्ध का अभियान भी ज्यों का त्यों बना रहता है इसलिये हमारी आत्मा नित्य स्वर्ग जाते हुये भी अपने को स्वर्ग जाती हुई नहीं पहिचानती। जिस प्रकार जल में सूर्य के बिम्ब का रस आकाश में सूर्य की गति के कारण बिम्ब में भी बदलता ही रहता है तो भी ज्यों का त्यों फिर आजाने से बिम्ब से रस का जाना नहीं प्रतीत होता न कुछ हानि प्रतीत होती है ज्यों का त्यों बिम्ब जल के साथ बिना बंधे हुये भी बंधा हुआ दीखता है उसी प्रकार शरीर में हमारी आत्मा बिना बंधी हुई भी बंधी हुई सी अपने को समझती है किन्तु अपने को बाहर जाते हुए नहीं मानती।

## यज्ञभक्तिसूत्र

ऊपर लिखे हुए यज्ञ प्रकारों का तात्पर्य्य यह है कि अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहते हैं। अग्नि को हमने ३ प्रकार से देखा है—**वैदिक, दैविक और भौतिक**। इन सभी अग्नियों का संस्कार करना ही यज्ञ है—वैदिक अग्नि को यजुः कहते हैं। यजुः के रस से ही प्रत्येक वस्तु का स्वरूप बना हुआ रहता है वही यजुः ऋक् होकर निकल जाता है और सोम के द्वारा साम रूप से आकर फिर अग्नि बनकर यजुः हो जाता है यही वैदिक अग्नि का संस्कार है। और दूसरा दैविक अग्नि वह है जिसके वसु, रुद्र, आदित्य के विभाग से प्रजापति का वैतानिक स्वरूप बनता है, और जिसमें ३३ देवताओं का सन्निवेश है, उसी में अन्न, ऊर्क् प्राण के परस्पर परिग्रह द्वारा यज्ञ का स्वरूप बतलाया जा चुका है, और तीसरा भौतिक-अग्नि है जिसमें आहुति हुआ करती है इस आहुति से अग्नि बनकर फिर कभी सोम हो जाता है, यह भी प्रकार दिखाया जा चुका है, किन्तु इसमें विशेषता यह है कि अग्नि में आहुति दो प्रकार के पदार्थों अग्नि और सोम की होती है।

अग्नि के संस्कार के लिए यदि अग्नि ही की आहुति दी जाय तो अग्निचयनयज्ञ या अग्नियज्ञ कहते हैं। वह अग्नि जिसमें अग्नि या सोम की आहुति दी जाती है वह ११ प्रकार की है-(१) गार्हपत्य जो पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, (२) आहवनीय को सूर्य से संबन्ध रखता है और तीसरा अन्तरिक्ष से संबन्ध रखने वाले ८ प्रकार के धिष्ण्याग्नि हैं और ११ वीं **नैऋताग्नि**—इन ग्यारहों अग्नियों में अग्नि या सोम की आहुति देना ही अग्नि या सोमयज्ञ है। अग्नि चयनयज्ञ में अग्नि दो प्रकार का है —चित्य और चितेनिधेय इनमें भूत और देवता ये दोनों प्रकार के चित्याग्नि होते हैं जब अग्नि में अग्नि की आहुति से अग्नि का चयन किया जाता है तो अग्नि के बलवान् होने से आत्मा भी प्रबल हो जाता है, इसीलिए उसमें भूतों का संबन्ध या सोम का सम्बन्ध निर्बल होकर टहनी में से सूखे हुए पत्तों के अनुसार झड़कर अलग हो जाते हैं इसीलिये आत्मा पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों छोड़कर शुद्ध निराले अग्निरूप से सूर्य में चली जाती है, अर्थात् वैश्वानरअग्नि जो दिव्य और पार्थिव अग्नि के मेल से उत्पन्न हुआ है इसमें से पार्थिव अग्नि का चयन संस्कार द्वारा पार्थिवपना मिट कर दिव्याग्नि भाव ही रह जाता है जिससे आत्मा की कैवल्य मुक्ति हो जाती है। परन्तु अग्नि में यदि सोम की आहुति दी जाय तो उस आत्मा की मुक्ति नहीं होती, किन्तु स्वर्ग का सुख उसको अवश्य होता है। उसके शरीर में निधेयाग्नि रूप देवता सूर्य के संवत्सर से आकर मनुष्य के देह की आत्मा बनती है और शरीर के वैश्वानर से एक होकर अग्नि के स्वभाव से प्रतिक्षण शरीर से बाहर द्यौ लोक की ओर जाया करते हैं। जिस प्रकार सूर्य का संवत्सर सब देवताओं से बना हुआ होता है उसी प्रकार जीव के शरीर में वैश्वानर अग्नि भी सब देवताओं से बना हुआ है। इसलिये अग्नि में सोम की आहुति करना सब देवताओं में ही आहुति करना है और इस आहुति को यज्ञ कहते हैं।

मेरे शरीर का वैश्वानर सूर्य के संवत्सर की प्रतिमा है, अर्थात् पूर्ण सादृश्य है इसी कारण से सूर्य संवत्सर के जितने अवश्य होते हैं उतने ही अवयव इस वैश्वानर के भी जानने चाहिये। जब हम यज्ञ करते हैं तो उसकी आहुति ऊपर जाकर जिस प्रकार सूर्य के संवत्सर का संस्कार करती है उसी

प्रकार उसके साथ-साथ ही यजमान के वैश्वानर का भी संस्कार करती रहती है। इसीलिए हम प्रथम सूर्य संवत्सर के अवयव को दिखाते हैं।

संवत्सर का सबसे छोटा अवयव अहोरात्र है। ३६० अंशों में से आधे-आधे अंश मिलाकर एक अंश का अहोरात्र होता है इसीलिए संवत्सरचक्र में एक-एक अंश काले, सफेद के विभाग से दो–दो होकर पूरे ७२० विभाग होते हैं इन में एक काला दूसरा सफेद एकान्तर क्रम से रहते हैं इस पर कोई प्रश्न कर सकता है कि ये अहोरात्र सूर्य के कारण नहीं प्रत्युत पृथ्वी के कारण होता है आकाश में पृथ्वी जहां पर है उसके सूर्य की ओर आधा भाग उजाले में रहता है और दूसरी ओर का आधा भाग काली छाया में रहता है। पृथ्वी चाहे साल भर में सूर्य के चारों ओर कहीं भी रहे वहां उसकी इसी प्रकार दोनों ओर सफेद, काले भाग रहते हैं, किन्तु जहां पृथ्वी है केवल उसी स्थान में पृथ्वी के एक पृष्ठ में एक ही काला भाग हो सकता है। उसके पहले के काले भाग सब नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए ये संवत्सर चक्र में एकान्तर क्रम से काले, सफेद का होना मिथ्या है। इसके उत्तर में कहना है कि ये आकाश के ७२० भाग यजमान के विचार से माने जा सकते हैं। पृथ्वी पर सूर्य के संमुख यजमान के खड़े रहने पर वह पृथ्वी जितनी पूर्व को चली जाती है उतने को सफेद कल्पना करके फिर सूर्य के दूसरी ओर यजमान के जाने पर वह पृथ्वी जितने आकाश प्रदेश में आगे बढ़ती है उतने को काला कल्पना करते हैं। प्रति दिन पृथ्वी अनुमान एक अंश के कम से चलती है इनमें एक अंश के आकाश में सफेद और काला दो भाग माने जा सकते हैं इसी प्रकार वर्ष भर की गति से ७२० भाग हो जाते हैं जिनको अहोरात्र कहते हैं यह पहला अहोरात्र विभाग है। (1)

इसी प्रकार दूसरा विभाग मास का है। पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा फिरता है, जिस समय सूर्य और पृथ्वी के बीच में आकर चन्द्रमा अदृश्य हो जाता है उसके दूसरे दिन में पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों की गति के कारण जब चन्द्रमा पृथ्वी के दूसरी छोर की ओर आ जाता है और सूर्य चन्द्रमा के बीच में पृथ्वी हो जाती है इतने समय में १५ दिन हो जाते हैं। इतने समय में पृथ्वी जितनी दूर पूर्व को चली जाती है उतने आकाश को शुक्लपक्ष कहते हैं फिर चन्द्रमा चलते-चलते १५ ही दिन में सूर्य और पृथ्वी के बीच में आ जाता है उतने समय में पृथ्वी जितनी पूर्व को सरकती है उसे कृष्णपक्ष कहते हैं। इसी पन्द्रह–पन्द्रह दिन के एक–एक भाग बनाती हुई पृथ्वी एक संवत्सर में २४ भाग बना लेती है जिसमें १२ शुक्र और १२ ही कृष्ण एकान्तर क्रम से होते हैं। यहां भी उसी प्रकार पूर्व पक्ष हो सकता है किन्तु यजमान ही के विचार से यहां भी पृथ्वी पर चन्द्रमा का शुक्ल भाग के दिन दो अधिक आने से शुक्ल पक्ष तथा प्रकाश के दिन दो घटने से कृष्णपक्ष कहा जा सकता है। जिस समय सूर्य्य चन्द्रमा का योग होता है उस समय पृथ्वी आकाश के जिस बिन्दु पर है वहां से आरम्भ करके फिर सूर्य्य, चन्द्रमा के दूसरे योग तक पृथ्वी जहां चली जाती है उस बिन्दु तक संवत्सर का १२वां भाग होता है उसी को मास में शुक्ल कृष्ण दो-दो भाग होने से संवत्सर के २४ विभाग हो जाते हैं, यही दूसरा विभाग है। (2)

इसी प्रकार तीसरा विभाग ऋतुओं का है। भारतवर्ष में तीन ऋतु प्रधान है ग्रीष्म, वर्षा, शीत। एक-एक ऋतु चार-चार मास का होता है। इस कारण संवत्सर के तीन विभाग हो जाते हैं यही तीसरा विभाग हैं।

इसी प्रकार चौथा भाग अयन का है हम देखते हैं संवत्सर में ६ मास तक सूर्य विपुवत्वृत्त से उत्तर की ओर रहता है जिसमें पृथ्वी नीचे और सूर्य ऊपर ज्ञात होता है, किन्तु दूसरे ६ मास में सूर्य विपुवत्वृत्त से दक्षिण की ओर रहता है इसी सूर्य या पृथ्वी की गति के कारण संवत्सर के दो भाग होते हैं, उत्तरायण गति को शुक्ल भाग और दक्षिणायन को कृष्ण भाग कहते है।

इसी प्रकार पांचवां विभाग संवत्सर का पूर्ण रूप से एक है। इस प्रकार संवत्सर के पांच रूप होते हैं इन पांचों में भिन्न २ पांच प्रकार की अग्नि मानी जाती हैं उनमें पृथक् २ आहुति देकर भिन्न २ प्रकार के सोमयज्ञ की विधियाँ हैं। इसीलिए सोमयाग चार प्रकार का है–एकाह, अहीन, रात्रिसत्र, आयन-सत्र। जो यज्ञ एक अहोरात्र में पूर्ण हो उसको एकाह कहते हैं और जो १० अहोरात्र तक में पूर्ण हो उसे अहीन या दशाह कहते हैं और जो १०० अहोरात्र तक में पूर्ण हो उसे रात्रिसत्र कहते हैं और सहस्त्र अहोरात्र तक में पूर्ण होने वाले को अयनसत्र कहते हैं। इन सब में संवत्सर के छोटे भाग अथवा बड़े भाग को पकड़ कर उसका संस्कार करना ही यज्ञ से तात्पर्य्य रखता है। किसी न किसी प्रकार यज्ञ करने से संवत्सर का ही संस्कार होता है यहां पर इतना और विशेष समझना चाहिये कि इसी संवत्सर के संस्कार की योग्यता लाभ करने के लिये छोटे २ यज्ञ किये जाते हैं जिनको–१ अग्निहोत्र २ दर्शपूर्णमास ३ चातुर्मास्य, ४ पशुबन्ध कहते हैं। इनमें अग्निहोत्र, से संवत्सर अहोरात्र विभाग का संस्कार होता है और दर्शपूर्णमास से पक्ष या मास विभाग का संस्कार होता है इसी प्रकार चातुर्मास्य ऋतु विभाग का और पशुबन्धर से अयन विभाग का संस्कार होकर फिर ५ सोमयाग से पूर्ण एक संवत्सर का संस्कार किया जाता है। सब इतने ही यज्ञ है। इनके अतिरिक्त जितने प्रकार के यज्ञ शास्त्रों में कहे गये हैं वे सब इन्हीं के रूपान्तर है। इन यज्ञों के करने से सूर्य संवत्सर के अनुसार यजमान के शरीर वैश्वनार भी संस्कार युक्त होकर शरीर छोडने के बाद सूर्य संवत्सर में सम्मिलित हो जाता है जिससे स्वर्ग का सुख मिलना संभव है, जिसका विषय दूसरे स्थान में विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

## प्रजा

सबसे पहला स्वयम्भू, प्रजापति के मन, प्राण, वाक् से ही सब कुछ सृष्टि उत्पन्न हुई है। उनमें सबसे प्रथम मन में एक प्रकार की इच्छा वृत्ति उत्पन्न हुई किसी विषय के लिये मन का उसके आकार में

आना ही इच्छा कहलाती है। यह इच्छा होते ही उसके लिये प्राण की क्रिया होने लगती है। प्राण एक प्रकार का बल है, वाक् ही पर लगा करता है। उसी बल के अनुसार जो वाक् में विकार उत्पन्न होता है उसी को प्रजा कहते हैं।

मन की इच्छानुसार प्राण-बल जो वाक् में क्रिया होने से विकार होने लगता है उससे दो रूप उत्पन्न होते हैं-अमृत और मर्त्य अथवा अमूर्त और मूर्त अथवा स्थित और यत अथवा सत्य और त्यम। जो मूर्च्छित होता है। उसी को मूर्त्य या मर्त्य कहते हैं-यह मूर्त अपने स्वातन्त्र्य को नष्ट कर देता है और पराधीन हो जाता है, इसी को भूत कहते हैं। इन मूर्तों में अमूर्त प्रविष्ट (घुसा हुआ) रहता है वह अमृत है। उसी को देवता कहते हैं। भूत और देवता ये ही दो प्रकार की प्रजा हैं। जो कुछ हम कहीं देखते हैं यह सब मर्त्य हैं और सब मन, प्राण, वाक् मय हैं, किन्तु इन सब के भीतर कोई अमूर्ततत्त्व है जो इन भूत मर्त्यों को धारण किये हुए रहता है और इनको चलाता रहता है। यद्यपि ये सब मन, प्राण, वाक्-मय कहे गये हैं तथापि मुख्यतया ये सब वाक् ही वाक् दिखलाई देते हैं। क्योंकि जितना विकार होकर इन पदार्थों में भिन्नता दिखाई देती है। वे सब विकार वाक् ही में होना सम्भव है। मन और प्राण में कोई ऐसा विकार नहीं होता जिससे उनके असली रूप में परिवर्तन हो किन्तु सांचे में ढले हुए रस के अनुसार अथवा खेत की क्यारी में पानी के अनुसार इन विकार वाले भिन्न २ रूप के वाक् में प्राण और मन भी उसी के अनुसार हो जाते हैं। वाक् का जैसा छन्द है उससे छेदे हुए होने के कारण मन और प्राण अन्यथा नहीं हो सकते अथवा यों समझिये कि सब से पहले मन जैसा हो उसी प्रकार प्राण ने क्रिया की और उसी प्रकार वाक् ने विकार पाया इसलिये इन सब पदार्थों में मन, प्राण और वाक् इन तीनों का एक ही सांचा समझना चाहिये।

मन में नाना रूप होने से प्राण नाना रूप का होता है और प्राण के नाना रूप होने से वाक् भी नाना प्रकार का होकर भिन्न भावों को उत्पन्न करता है यद्यपि ये तीनों नाना प्रकार के होते रहते हैं तथापि इनमें केवल वाक् ही विकार युक्त होती है, मन, प्राण में कदापि विकार नहीं होता। यद्यपि हम देखते हैं कि विचार करता हुआ मन बहुत से नये २ रूपों को धारण करता है तथापि वह मन अपने परिमाण में कम नहीं होता और उसके उत्पन्न हुए नाना भाव भी उससे अलग कदापि नहीं रहते फिर भी अपनी ही माया से स्वतन्त्रता पूर्वक नाना रूपों में बदलता हुआ भी सदा सर्वदा निर्विकार रहकर एक ही रूप में मन बना रहता है। इसी प्रकार प्राण भी मन के नियोग से यद्यपि नाना रूप का होता है तथापि उसमें विकार नहीं आता न उन विकारों से दृढ़ बन्धन पाता है वाक् में अपना काम करके यद्यपि कुछ काल के लिये विकारवान् प्रतीत होता है किन्तु फिर पूर्ववत् अपने स्वरूप में आ जाता है वास्तव में उसमें कोई विकार नहीं होता, परन्तु इन्हीं मन और प्राण के द्वारा वाक् में विकार होता है। प्राण बल का नाम है बल के अनन्त भेद हैं भिन्न २ प्रकार का बल थोड़ा या अधिक जिस प्रकार वाक् से मिलता है उसी क्षण वह वाक् और की और हो जाती है और उस विकार युक्त वाक् में प्राण और मन भी उसी के अनुसार अपने भी स्वरूप धारण किये रहते हैं।

मन, प्राण, वाक् इन तीनों में मन की इच्छानुसार प्राण के बल से ही वाक् में विकार उत्पन्न होता है यह कहा जा चुका है इसी नियम के अनुसार अमृत उत्पन्न होने के लिए आदि प्रजापति का मन सबसे

पहले हुग्रा इसी से वाक् के ऊपर प्राण ने ग्रमृत के लिए बल लगाया जिससे मन, प्राण, वाक् तीनों के मेल से अमृत उत्पन्न हुआ, फिर भी उसी मन की इच्छा ग्रौर प्राण के बल से वह अमृत दो प्रकार का हो गया ग्रर्थात् उसमें दो प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न हुई। एक ग्रन्तर्मुख होने का स्वभाव रखता है तो दूसरा बाह-र्मुख होने का, बहिर्मुख स्वभाव वाला चञ्चल प्रकृति का है और विकस्वर ग्रर्थात् उत्तरोत्तर ग्रधिक देश लेते हुए गति का स्वभाव रखता है इसके विरुद्ध दूसरा स्थिरता का स्वभाव रखता है ग्रौर उत्तरोत्तर संकुचित होता हुग्रा थोड़े देश की ग्रोर होता है। इनमें बहिर्मुख को "ग्रग्नि" कहते हैं ग्रौर ग्रन्तर्मुख को "सोम"। मन के ही इच्छानुसार किसी वाक् में कम प्राण ग्रौर किसी में ग्रधिक प्राण लगा, जिसके कारण दो पदार्थ उत्पन्न हुए एक महाप्राण के कारण "ग्रन्नाद" ग्रर्थात् भोक्ता हुग्रा उसे ही "अग्नि" कहते हैं ग्रौर दूसरा ग्रल्पप्राण के कारण ग्रन्न रूप में हुग्रा ग्रर्थात् भोग्य बना उसे ही "सोम" कहते हैं। सृष्टि में इन दोनों के मिलने से काम चलता है। यदि सोम न होता तो प्रत्येक वस्तु वितान ग्रर्थात् फैलाव में ग्राकर नष्ट हो जाती यदि ग्रग्नि न होता तो प्रत्येक वस्तु संकुचित् होते-होते इतने छोटी होती कि उनका ग्रस्तित्व ही नहीं रहता। दोनों के होने से ग्रग्नि के विकास को उचित प्रमाण से आगे रोक कर "सोम" संकुचित करता है ग्रौर सोम के संकोच को उचित प्रमाण से आगे रोक कर अग्नि विकास में लाता है। इस प्रकार कुछ संकोच-कुछ विकास में जगत् के सब पदार्थ दीखते हैं यही दोनों का कार्य है।

जिस प्रकार आदि प्रजापति ने अमृत के लिए इच्छा की उसी प्रकार मृत्यु के लिए भी इच्छा करना उचित था। क्योंकि यदि मृत्यु न होवे तो ग्रग्नि और सोम इन दोनों का बल कम होना ग्रसंभव हो जाता ग्रौर उन दोनों के बराबर के बल से कोई एक ही प्रकार की वस्तु बन सकती। भांति-भांति के पदार्थ नहीं हो सकते इसीलिए मृत्यु होने की भी इच्छा हुई ग्रौर उसके ग्रनुसार उन्हीं तीनों सत्वों-मन, प्राण, वाक् से मृत्यु उत्पन्न हुग्रा, वह भी मन के इच्छानुसार दो प्रकार का हो गया- १ सोम की मृत्यु जिसे 'यम' कहते हैं ग्रौर दूसरी अग्नि की मृत्यु जिसे 'ग्रमति' और 'अशनाया' कहते हैं। इनमें यम वायु के ग्राकार का एक गरम पदार्थ है जो रूखेपन का स्वभाव रखता है-इसी रूखेपन (खुश्की) से पदार्थों के ग्रवयवों का जोड़ ढीला हो जाता है। स्नेह ग्रर्थात् नमी के कारण जो उनमें ग्रापस का बन्धन हुआ था वह ढीला हो जाता है ग्रौर प्रत्येक ग्रङ्ग बिखर कर ग्रलग हो जाते हैं, ग्रौर वह वस्तु नष्ट हो जाती है, किन्तु इसके ग्रतिरिक्त दूसरी मृत्यु ग्रशनाया है जो एक प्रकार की बड़ी भूख है जो कि प्रत्येक परमाणु को भीतर-भीतर पेट में ले जाती हुई एक ही स्थान पर जमा करके उसको छुपा देती है। वह सूक्ष्म रूप में रूपान्तरित होकर उसकी मूर्ति को नष्ट कर देती है यह ग्रशनाया इतना घोर पाप है कि वह अपने अतिस्त्व को भी रख नहीं सकती। इसीलिए प्रजापति की इच्छा से अपने उदर में ग्रमृत सोम को ग्रहण किया जिससे उसमें भी ग्रात्मा ग्रा गई। अमृत के भीतर रहने के कारण उसकी ग्रपनी मृत्यु न होकर वह ग्रशनाया अर्क के रूप में ग्राई। ग्रर्क वह है जो ग्रशनाया ग्रर्थात् भूख को रखता हुग्रा ग्रन्न के लिए धावा करता है ग्रौर अन्न खाया करता है। इस ग्रर्क की अवस्था में इस ग्रशनाया का नाम "ग्राप्" हो गया। ग्राप् ही इस जगत् में ग्रश ग्रर्थात् ग्रन्त को भीतर लाया करता है, इसीलिए उसको ग्रशनाया कहते हैं यह ग्राप् स्नेह रखता है ग्रौर स्नेह के ही कारण एक में दूसरे को इस प्रकार मिलाता

है इसीलिए इसे "आप्" कहते हैं। यह प्रत्येक वस्तु को संवरण ( ढकना ) करता है इसीलिए "वारी" कहते हैं। यह अग्नि के वितान कर्म अर्थात् फैलाव को निरोध करके अन्दर की ओर लेता है इसीलिए अग्नि के विरुद्ध चाल चलने से इसे अग्नि की सत्य कहते हैं।

## अग्नि, सोम, यम, आप् का साधर्म्य वैधर्म्य

१—अमृतत्त्वधर्म से सोम और अग्नि का साधर्म्य है—मृत्यु धर्म से 'यम' और 'आप्' का साधर्म्य है. रूक्षता धर्म से यम और अग्नि का साधर्म्य है, स्नेह धर्म से सोम और आप् का साधर्म्य है।

२—अग्नि और यम ये दोनों ही अग्नि हैं किन्तु अग्नि अमृत है और यम मृत्यु हैं। यह विशेषता दोनों में हैं। सोम और आप् ये दोनों ही सोम हैं; किन्तु सोम अमृत और आप् मृत्यु है यही इन दोनों की विशेषता है।

३—अग्नि दो प्रकार का है कोई तो सोम को खाता है और सोम से घुलकर यज्ञ का स्वरूप बनता है किन्तु दूसरा अग्नि सोम से विरोध रखता है। अग्नि में आती हुई सोम की आहुति को नियमन अर्थात् रोकता है इसीलिए उसे यम कहते हैं प्रकारान्तर से अग्नि दो प्रकार का है—मौलिक और यौगिक। इनमें मौलिक अग्नि और सोम के योग से यौगिक अग्नि उत्पन्न होता है, स्थूल और रूपवान् होने के कारण उसे ही भौतिक अग्नि कहते हैं। जबकि 'यम' के द्वारा अग्नि और सोम का वियोग हो जाता है तब यह भौतिक अग्नि सोमरूप अन्न न होने के कारण स्वयम् बुझ कर नष्ट हो जाता है। अब सोम को भी अग्नि के अनुसार दो प्रकार का जानना चाहिए एक वह जो अग्नि के संयोग से जलता है और जलकर यौगिक अग्नि बनाता है उसे ही सोम कहते हैं किन्तु दूसरा सोम वह है जो अग्नि से जलता नहीं और दुर्बल होने पर अग्नि संयोग से उड़कर चला जाता है, किन्तु प्रबल होने पर अग्नि को ही हटा देता है, इस सोम को 'आप्' कहते। इस प्रकार अग्नि, यम, सोम, आप् ये चार तत्त्व सिद्ध हुए। जो कुछ कहीं हम देखते हैं वे सब इन्हीं चारों से उत्पन्न हुए हैं। इनमें यम को अग्नि और आप को सोम ऊपर कहा गया है उस नियम के अनुसार मुख्यतया दो ही तत्त्व सिद्ध है अर्थात् 'अग्नि' ओर 'सोम'। इसीलिए ऋषियों का सिद्धान्त किया है कि—**अग्निषोमात्मकं जगत्** इन चारों में मृत्यु यम का लोक विवस्वान है अर्थात् इसकी स्थिति सूर्य में है और अग्नि का लोक पृथिवी, सोम का लोक चन्द्रमा, आप का लोक इन तीनों लोक के बाहर चारों ओर फैला हुआ दिगन्त व्यापी समुद्र है।

अग्नि की दिशा पूरब, यम की दिशा दक्षिण, सोम की दिशा उत्तर, और आप् की दिशा पश्चिम है। इस पृथ्वी के ऊपर इन्हीं चारों दिशाओं से ये चारों तत्त्व आया करते हैं। पूरब, उतर मुख करके देव-कार्य, दक्षिण मुख करके पितृकार्य और पश्चिम मुख करके आसुर क्रूरकर्म करना चाहिये। अग्नि में देवता, सोम में पितर, यम में भी पितर और आप् में असुर प्रतिष्ठित रहते हैं, इन्ही चारों तत्त्वों से इन तीनों देवता, पितर और असुरों की पुष्टि होती है। इन चारों तत्त्वों के क्षय होने पर उन तीनों का भी क्षय हो जाता है।

देवताओं में से वसुदेवता अग्नि से, रुद्रदेवता सोम से और यम से, आदित्य देवता यम और आप् से विशेषतया संबन्ध रखते हैं इस प्रकार इन चारों तत्त्वों की और भी कितनी ही भक्तियां हैं। उनको दैववाद के द्वारा जानना चाहिये।

सोमतत्त्व मन की ओर जाता है अग्नि और यम प्राण की ओर, आप् वाक् की ओर विशेषतया लक्ष्य रखते हैं। मन के कारण सोम वस्तु के बनने में अवकाश या आयतन पैदा करता है और प्राण के कारण अग्नि और यम वस्तु में क्रिया उत्पन्न करते हैं और वाक् के कारण आप् वस्तु की उत्पत्ति में उपादान होता है।

सोम और अग्नि के योग से वस्तु में घनता और तनुता दोनों मिले हुए रहते हैं। घनता के होने से वस्तु में स्थूलता नहीं आती। प्रत्येक परमाणु के विशकलित होने से वस्तु का स्वरूप नहीं बनने पाता इसी प्रकार यदि तनुता न होती तो सब परमाणु घन होते होते सूक्ष्म रूप में इतने आ जाते कि वस्तु का प्रदेश वाला स्वरूप नहीं बनने पाता।

आप् के स्नेह से अणु परस्पर सन्निकट होते जाते हैं और यम के रूखेपन से उनका बन्धन ढ़ीला पड़ जाता है, यम के संबन्ध से सोम का बल कम होता रहता है और आप् के संबन्ध से अग्नि का बल घटता रहता है।

इन चारों तत्त्वों के योग से ही देवता और भूत इन दोनों प्रजाओं की सृष्टि होती है किन्तु इन चारों के बलों की न्यूनाधिकता से देवता और भूत प्रत्येक में नाना भेद उत्पन्न होते हैं विशेष कर देवता अग्नि में सोम के भोग से उत्पन्न होता है आप् और यम इन दोनों का संबन्ध इसमें किञ्चित निमित्त मात्र रहता है। इसी प्रकार यम के मिले हुये आप् से भूत उत्पन्न होते हैं, अग्नि और सोम इन दोनों का संबन्ध उनमें किञ्चित् निमित्त मात्र रहता है। किन्तु तैत्तिरीय और ऐतरेय ब्राह्मणों में आप् से ही देवता और भूत की उत्पत्ति कही गई है, परन्तु वह अम्भोवाद का एक भिन्न मत है। इस मत में चार तत्त्व न होकर आप् को ही एक तत्त्व माना है। तीसरा मत है कि अमृतरूपी अग्नि में अमृतरूप सोम के प्रवेश करने से देवता उत्पन्न होता है किन्तु सोम में अग्नि की मूर्च्छा होने से भूत होता है देवता और भूत इन्हीं दोनों से यह सम्पूर्ण जगत् भरा है इन दोनों के अतिरिक्त जगत् में कहीं कुछ नहीं है।

सोम, यम, अग्नि, आप्, ये चारों भी प्रत्येक प्रत्येक अमृत और मर्त्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं जितना कि इनमें वाक् की भक्ति है वे सब मर्त्य हैं किन्तु प्राण और मन की भक्ति लेकर ये चारों ही अमृत हैं। इन चारों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी दो प्रकार के उत्पन्न होते हैं मूर्त और अमूर्त। इनमें मूर्त सब मर्त्य हैं किन्तु उनमें रहने वाले अमूर्त सब अमृत हैं। ये मूर्त भी दो प्रकार के होते हैं। जिनमें रूप वाले—पृथ्वी, जल, तेज ये तीनों मर्त्य हैं किन्तु वायु और आकाश ये दो अमूर्त हैं। इसी प्रकार पहले कहे हुए अमूर्त भी दो प्रकार के हैं। ऋषि, पितर, देव असुर, गन्धर्व और मनुष्य, इतने निरुढ़ प्राण अमृत हैं किन्तु इनसे उत्पन्न होने वाले वैश्वानर आदि कितने ही अमूर्त जो यौगिक हैं वे अमूर्त होने पर भी मर्त्य हैं। इस प्रकार मर्त्य और अमृत के विभाग में सभी मर्त्य अमृत के अधीन रहते हैं किन्तु मर्त्य ही उन अमृतों का आश्रय है।

प्राण कभी वाक् के बिना नहीं रहता, वाक् में जितने विकार के उत्पन्न होते हैं उनका कारण प्राण ही है। वह प्राण प्रजापति की मन की इच्छा से सात भागों में विभक्त होकर सर्वत्र रहता है। जिस समय कि वह अविकृत दशा में रहकर वाक् की प्रेरणा करता है तो उसे ऋषि कहते हैं। ऋषि का अर्थ वाक् का प्रवर्तक है अर्थात् बोलने वाला है किन्तु साथ ही उसका अयौगिक होना भी आवश्यक है वह सर्वदा वाक् का प्रधान होता है। ७ सात प्रकार के होने के कारण सप्तऋषि कहलाते हैं। यद्यपि ऋषि की सात ही मुख्य जाति हैं किन्तु प्राणमात्रा और वाक्मात्रा की न्यूनाधिकता के कारण उनके और भी अनेक भेद हो जाते हैं जैसे अंगिरा ऋषि २१ प्रकार के हैं, भृगु दो प्रकार के हैं, इत्यादि। अब नाना जाति के ऋषियों के योग से जो नवीन प्रकार का यौगिक प्राण उत्पन्न होता है उसे पितर कहते हैं इनकी भी जाति बहुत प्रकार की हैं किन्तु मुख्यतया ८ प्रकार के माने जाते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रकार के पितरों के योग से देवता और असुर उत्पन्न होते हैं। जो प्रकाशवान् स्वभाव रखता है उसे देवता कहते हैं किन्तु कृष्ण जो कभी प्रकाश में नहीं आता उस प्राण को असुर कहते हैं। देव और असुर में प्रकाश और तम का ही भेद है किन्तु वास्तव में दोनों एक ही कक्षा (Class) के हैं क्योंकि दोनों ही पितरों से उत्पन्न होते हैं। देवताओं की पुरी हिरण्मयी अर्थात् सोने की होती है, पितरों की पुरी राजती अर्थात् चांदी की होती है, असुरों की पुरी आयसी अर्थात् लोहे की होती है। ये ही तीन पुरी हैं, जिनमें कि ये तीनों सर्वदा रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य का प्रकाशमण्डल हिरण्मय है और चन्द्रमा का राजत है और पृथ्वी की छाया आयसी है। सूर्य के तेज से सोने की, चन्द्रमा की चन्द्रिका से रजत की और पृथ्वी की छाया से लोहे की उत्पत्ति होती है, इसीलिये इन तीनों के नाम से सूर्यादि तीनों की छाया कही गई हैं। इनमें भी सूर्यादि के कहने का तात्पर्य सूर्यादि से नहीं है, किन्तु स्वयंज्योति, परज्योति और अज्योति पदार्थों से है। जगत् में संपूर्ण पदार्थ इन्हीं तीनों जातियों के पदार्थों में से हैं। इसीलिये यही तीनों पुरियां है जिनमें देवता, पितर और असुर जाति के प्राण पाये जाते हैं किन्तु ऋषि-प्राण इन तीनों में समान रूप से रहते हैं उनकी कोई विशेष पुरी नहीं है।

प्राणियों के शरीर में बंधे हुए जो एक प्रकार के प्राण दीखते हैं वही मनुष्य प्राण है, क्योंकि इन प्राणों में ज्ञान इन्द्रियों के रखने वाले मन का संबन्ध अवश्य रहता है इसीलिये उसे मनुष्य कहते हैं। किन्तु यही मनुष्य प्राण स्वप्न की दशा में शरीर के बाहर विचरता रहता है और मरने के बाद भी वह चन्द्रमा से नीचे पृथ्वी से ऊपर अन्तरिक्ष में एक प्रकार की योनि में जन्म लेकर अपनी आयु तक पाया गया है। उन प्राणियों के प्राण को गन्धर्व कहते हैं। इस प्रकार ऋषि, पितर, देवासुर, मनुष्य और गन्धर्व ये पांच प्रकार की प्रथम सृष्टि प्रजापति की प्रजा है।

जो पहले अग्नि और सोम के भेद से दो प्रकार के देवता कहे गये थे वे दोनों भी अमृत मृत्यु के भेद से फिर दो प्रकार के कहे जा चुके हैं उनमें अमृतअग्नि को 'शिव' कहते हैं और मृत्यु अर्थात् यमअग्नि को घोर कहते हैं इनमें शिवअग्नि तीन प्रकार की हैं—अग्नि, वायु, सूर्य—ये तीनों ही प्रातिलौकिक हैं अर्थात् तीनों लोक रक्षा करने वाले भिन्न भिन्न एक २ स्वामी हैं। तीनों लोक तीन विश्व हैं उनके ये तीनों अग्नि, तीन नायक हैं, इसलिये इन तीनों को एक साथ वैश्वानर कहते हैं। इनमें पृथ्वी की अग्नि ८

प्रकार की है जिनको वसु कहते हैं। अन्तरिक्ष के वायु ११ प्रकार के है जिनको रुद्र कहते हैं और द्यु (द्यौ) के सूर्य १२ प्रकार के हैं जिनको आदित्य कहते हैं और दो अश्विनी कुमार इस प्रकार ३३ देवता अमृतरूप शिवाग्नि के भेद हैं।

इस पृथ्वी पर यदि इन तीनों अग्नियों को देखें तो उनमें पृथ्वी की अग्नि को गार्हपत्य कहेंगे और द्यौ से आये हुए देवाग्नि को आहवनीय कहेंगे। अन्तरिक्ष की अग्नि जो ८ रूपों से पृथ्वी में रहती हैं उनको धिष्ण्याग्नि कहते हैं इस प्रकार दश अक्षर के छन्द होने से इन अग्नियों के थोक को विराट् कहते हैं। किन्तु पृथ्वी की अग्नि, अन्तरिक्ष की वायु और द्यौ के सूर्य इन तीनों वैश्वानरों के घर्षण से जो एक नया अग्नि पैदा होता है वह वैश्वनराग्नि है यह सर्वलौकिक है क्योंकि यह एक ही रूप से तीनों लोकों में वर्त्तमान रहता है यह वैश्वानराग्नि हमारे शरीर में ४ प्रकार से रहता है जिनको नारायण, भूपति, भुवनपति और भूतानामपति कहते हैं। इनका अधिक निरूपण अम्भोवाद और दैववाद में किया गया है इसलिये शिवअग्नि की व्याख्या यहां पूर्ण करते हैं।

दूसरा घोर अग्नि ४ प्रकार का है—पावक,पवमान, शुचि और निति—इनमें पावकअग्नि वायु में पवमानअग्नि जल में, शुचिअग्नि तेज में और निर्ऋतिअग्नि पृथ्वी में पाये जाते हैं। पृथ्वी में निर्ऋति वह अग्नि है कि जिसके द्वारा पृथ्वी फटकर कोसों में बड़ी २ दरारें हो जाती हैं यह दारिद्रय का देवता है इस प्रकार दोनों अग्नियों का निरूपण अन्यत्र विस्तार से किया गया है। अब सोम जो अमृत है वह दो प्रकार का है एक सायतन जो चन्द्रमा में है और दूसरा निरायतन जो दिक् में है चन्द्रमा भास्वर है और दिक् अभावस्वर है और दूसरे सोम जो मृत्यु हैं जिसको आप् कहते हैं उसमें नियम से अमृताग्नि रहता है दोनों केवल पूर्ण होने से वही आप पृथ्वी के रूपमें परिणत हो जाता है इसलिये यह पृथ्वी, अग्नि और आप् दोनों का मिला हुआ रूप है।

मुख्यतया प्रजा दो प्रकार की सिद्ध हुई है—देवता और भूत। इनमें भूत शरीर होकर रहता है और देवता उनमें आत्मा होकर उस शरीर को बनाता चलता है और उस शरीर पर अपना पूर्ण अधिकार रखता है। इनमें देवता और भूत दोनों के साथ २ व्याहृतियां होती हैं अर्थात् ७ कक्षा में कहे जाते हैं जिन कक्षाओं को लोक कहते हैं वे सात लोक ये हैं—१ भूः, २ भुवः, ३ स्वः, ४ महः, ५ जनः, ६ तपः ७ सत्यम्। इनमें देवताओं के ७ भेद इस प्रकार हैं—१ मनुष्य, २ गन्धर्व ३ देवासुर, ४ पितर, ५ ऋषि, ६ प्राण, ७ मन ये सातों देवताओं के लोक अवस्था विशेष से माने जाते हैं। इसी प्रकार भूतों की भी सात ही अवस्थायें हैं—१ पृथ्वी, २ जल, ३ तेज ४ वायु, ५ आकाश (वाक्), ६ प्राण, ७ मन। किसी का मत है कि अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्, प्राण, मन इस प्रकार देवताओं के सात भेद होते हैं। इनमें सातों भूतों से बना हुआ पिण्ड शरीर कहलाता है और इस शरीर के संचालन करने वाली आत्मा उन सातों देवताओं के समुदाय से बनती है।

देवता हो चाहे भूत, ये दोनों प्रजा आत्मा से ही उत्पन्न होती रहती है, आत्मा प्रजापति को कहते हैं। जो कि मन, प्राण, वाक् का घन है इसीलिये उसमें सृष्टि होने के पूर्व तीन क्रियायें अवश्य होती हैं—

१ इच्छा, तप, ३ श्रम। क्रिया यद्यपि प्राण की ही वृति है, मन और वाक् में स्वतः क्रिया नहीं होती तथापि मन, प्राण, वाक् इन तीनों के मिलेजुले रहने के कारण प्राण में क्षोभ होते ही तीनों एक साथ क्षुब्ध हो जाते हैं इसलिये मन में जितना क्षोभ होता है उसी को 'इच्छा' कहते हैं, प्राण के क्षोभ को 'तप' कहते हैं और वाक् में जो क्षोभ होता है उसे ही 'श्रम' कहते हैं। श्रम भौतिक शरीर की चेष्टा को कहते हैं किन्तु यह शरीर चेष्टा भीतर के प्राण के प्रयत्न से होती है उसको 'तप' कहते हैं और यह प्रयत्न किसी विषय की कामना से होता है और कामना उस विषय के ज्ञान से होती है, जब मन किसी विषय को जानता है तो अपनी रजोवृत्ति के कारण प्राण को क्षोभित करके उस विषय की कामना करता है

**इन परमाणुओं का परस्पर अपने प्राण के कारण जो मिलाव होता है वह ८ प्रकार का होता है।**
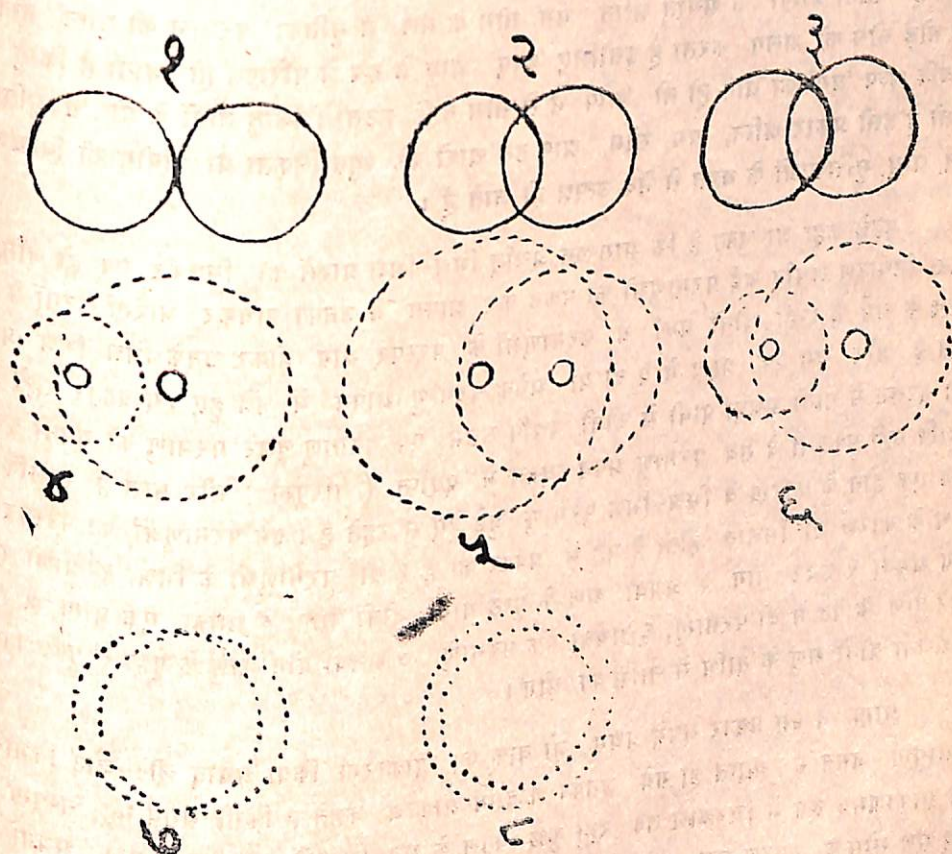
जिससे उस विषय की ओर प्रयत्न आरम्भ होते ही साथ-साथ श्रम अर्थात् शरीर की चेष्टा होने लगती है जिससे वह विषय सिद्ध होता है इसी क्रम को विद्वानों ने कहा है कि—

**ज्ञानजन्या भवेदिच्छा, इच्छा जन्या कृतिर्भवेत् ।**
**कृति जन्यं भवेत् कर्म, ततो विषयसिद्धयः ।।**

अर्थात्—ज्ञान से इच्छा होती है, इच्छा से कृति अर्थात् क्रिया होती है कृत्ति से कर्म होता है और कर्म से विषय अर्थात् अर्थों की सिद्धि होती है। इच्छा के कारण 'प्राण' छोटे-बड़े खण्डों में बंटता (विभक्त होता) है उसका एक-एक खण्ड अपने परिमाण के अनुसार वाक् को लिये रहता है। वाक् के साथ भीतर, बाहर एक में होकर इस प्रकार एक जीव हो जाता है कि जिससे वाक् को गर्भ में रखकर प्राण के, अथवा प्राण को गर्भ में रखकर वाक् के छोटे-छोटे खण्ड हो जाते हैं जिनको परमाणु कहते हैं। भौतिकसृष्टि में सबसे प्रथम इन्ही परमाणुओं की सृष्टि होती है-ये परमाणु भिन्न-भिन्न जाति के होते हैं जैसा कि-**यम और अग्नि इन दोनों प्राणों के मिले हुए रूप से यदि प्राण परमाणु उत्पन्न करें तो वह वायु का परमाणु होगा तथा सोम और अग्नि इन दोनों प्राणों के मेल से जल के परमाणु की सृष्टि होती है—तीनों प्राणों के अर्थात् अग्नि, यम, सोम के मेल से मृतिका परमाणु की सृष्टि होती है। यम थोड़े सोम को अलग करता है इसीलिए 'आप्' वायु के रूप में परिणत हो जाता है किन्तु 'आप्' में यदि अल्प 'यम' का योग हो तो 'आप' में से सोम नहीं हटता। किन्तु तीनों के योग से मृतिका हो जाती है इसी प्रकार अग्नि, यम, सोम, आप् इन चारों की न्यूनाधिकता या संयोग की विचित्रता से जल, वायु, मृत्तिकाओं के बहुत से भेद उत्पन्न हो जाते हैं।**

पहले कहा जा चुका है कि आसञ्जन अर्थात् भिन्न-भिन्न प्राणों को मिलकर एक हो जाना और दूसरा विधारण अर्थात् कई परमाणुओं को पकड़ कर आपस में उनको बांधकर धारण करना ये दोनों प्राण के धर्म हैं इन्हीं दोनों धर्मों से परमाणुओं के परस्पर योग होकर उनके भिन्न-भिन्न प्राण हो जाते हैं और उस एक प्राण में वे दो या अनेक परमाणु आपस में बंधे हुए इस प्रकार रहते हैं कि जैसे बरतन में पानी अथवा पानी में चीनी यद्यपि उनमें एक परमाणु दूसरे परमाणु को अपनी इच्छा से कदापि नहीं पकड़ता वे सब परमाणु अपने स्वरूप में पर्याप्त ( परिपूर्ण ) और मस्त है तथापि उनके प्राण एक होने के कारण वे भिन्न-भिन्न परमाणु जुड़े हुए से रहते हैं। इन परमाणुओं का परस्पर अपने प्राण के कारण जो मिलाव होता है वह ८ प्रकार का है १ दो परमाणुओं के भिन्न, २ प्राणों का पृष्ठ योग अथवा २ उदर योग, ३ अथवा अणु के पृष्ठ योगी दोनों प्राण, ४ अथवा एक प्राण, ५ अथवा दूसरे प्राण के पेट में दो परमाणु, ६ अथवा एक परमाणु, ७ अथवा दोनों अणु के पृष्ठ से पृष्ठ का योग. ८ अथवा दोनों अणु के नाभि से नाभि का योग।

प्राण ने इस प्रकार सबसे प्रथम जो वाक् का व्याकारण किया अर्थात् छोटे-छोटे विभाग किये वे सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो गये उनको शब्दमय आकाश कहते हैं किसी समय यह सम्पूर्ण जगत् इस आकाशमय रूप में चिरकाल तक रहा कुछ काल के अनन्तर वही आकाशमय वाक् अथवा उसका कुछ अंश सोम के कारण घन होने लगा अन्त में उस सम्पूर्ण आकाश में व्यापक एक घन पदार्थ भर गया उसे वायु कहते हैं किसी समय तक यह सम्पूर्ण जगत् इस वायुमय रूप में रहा फिर समय पाकर इन वायुओं में भिन्न-भिन्न चाल के कारण परस्पर घर्षण होने लगा इस घर्षण के जोर पकड़ने पर कुछ

वायु तेज के रूप में परिणत हो गई और यही तेजोमय (गर्मी) जगत् किसी समय तक विद्यमान् रहा
कालान्तर में इन तेजों के जोर पकड़ने पर तेज से तेज टकराकर मूर्छित होने लगे उसी मूर्छित अवस्था
को 'आप्' कहते हैं और सम्पूर्ण जगत् इसी आपोमय रूप में कुछ काल तक रहा। क्रम से इस आप् में
वायु और तेज के मिश्रण होते होते एक जीव होने पर मृत्तिका उत्पन्न हुई जो कि सम्पूर्ण आकाश में
सर्वत्र परमाणु रूप से व्याप्त थी। समय समय पाकर वायु ने उन परमाणुओं को एकत्र करके वह रूप
दिया जिसे पृथिवी कहते हैं। इसी प्रकार कितने ही तेज के परमाणुओं को चारों ओर से एक काल में
संग्रह करके सूर्य का गोला उत्पन्न कर दिया। इन गोलों में मन से लेकर सब उत्पन्न हुए पदार्थ अर्थात्
मन, प्राण, शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इनके संग्रह से वायु ने पुष्टि किया इस प्रकार पूर्व-पूर्व सृष्टि से
उत्तर-उत्तर सृष्टि हुई है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जो किसी समय वेदों के लिखे अनुसार सहस्रों
नदियां पृथ्वी में बहती थी अब वे सब लुप्त होकर बहुत थोड़ी रह गई हैं जो किसी समय अथाह थी
आज उनमें थाह हो गया है यहां तक कि गङ्गा सदृश अथाह नदी में भी कहीं-कहीं पर दीयर हो गये हैं
ये सब पानी से मिट्टी बनते रहने के कारण पानी की कमी से हुए हैं, ज्यों-ज्यों आगे की सृष्टि बढ़ती
जाती है त्यों-त्यों पिछली सृष्टि का वह पहला रूप कम हो जाता है। आज तक इस प्रकार सृष्टि होते-
होते इतनी ही भौतिकसृष्टि होने पाई है। सम्भव है आगे और सृष्टि बन रही हो अथवा यही सृष्टि
समाप्त हो गई हो। इस विषय में कोई निश्चित तर्कना नहीं की जा सकती इन पंच महाभूतों की सृष्टि
में मन से लेकर पृथ्वी तक मन धीरे-धीरे घन होता गया है किन्तु पृथ्वी की अवस्था में पहुंच कर जब
कि मन ने और अधिक घनता में जाने के लिए अवकाश नहीं देखा तो सम्भव है कि वह व्याकुल होकर
अपने फिर विकास के लिए मुँह फेरा हो। इसी से हम देखते हैं कि इन पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि गोलों पर
उसी मन के विकास वाले भौतिकपिण्ड को धारण करते हुए चेतनसृष्टि होने लगी है जिनमें पहले सर्वथा
जड़ भौतिकपिण्ड में से धीरे-धीरे मन विकसित होकर चेतन उत्पन्न होने लगे हैं और उनके मन में धीरे-
धीरे बुद्धि और आत्मा की मात्रा इतनी बढ़ती जा रही है कि आज क्रिमि, कीट, पशु, पक्षी आदि की
अपेक्षा मनुष्य के पिण्ड में अधिक ज्ञानमात्रा बढ़ चुकी है जिसके द्वारा वह अपने उद्धार की चिन्ता व
विद्या तपश्चर्या आदि यत्न भी करने लगा है। जिन यत्नों से सम्भवतः भौतिक मात्राओं से ज्ञान की
मात्रा उत्पन्न होवे और भौतिक बन्धन कम होकर केवल ज्ञानमय आत्मा बन कर मुक्त हो जावे उनके
भूत शुद्धि आदि क्रियाओं में स्पष्ट यही क्रिया की जाती है कि जिससे पृथ्वी का जल में, जल का तेज में,
तेज का वायु में, वायु का आकाश में लय करते-करते अन्त में आत्मा, प्राण और मन रूप में अवशिष्ट
रह जाय। इस प्रकार सृष्टि के विरुद्ध प्रतिसृष्टि से अपनी मुक्ति का उपाय मन आप ही सोच लेता है।
इस प्रकार सृष्टि के तीन भेद हुये १ मन से पृथ्वी तक भौतिकसृष्टि, २ उन भौतिकद्रव्यों से सूर्य, चन्द्र,
पृथ्वी आदि लोकसृष्टि या अनुसृष्टि, ३ इन गोलों पर प्रथम खनिज दूसरे उद्भिज, तीसरे जीवनसृष्टि
क्रम से मनुष्य तक चेतनसृष्टि इनमें मन का विकास धीरे-धीरे अधिक बढ़ता हुआ पाया जाता है यहां
तक कि मनुष्य यदि चाहे तो अपने आत्मा के भूतों को ज्ञान द्वारा मन की अवस्था में लाकर मुक्त हो
सकता है और यों इस सृष्टि के झंझट से छुटकारा पा सकता है बस इतनी ही प्रजा की सृष्टि हुई।

## ❀ अन्नादन कल्प

मन प्राण में और प्राण वाक् में नित्य नियम से इस प्रकार बंधे हुए प्रतीत होते हैं कि जिससे उनमें एक भी दूसरे से पृथक् होकर कभी रह ही नहीं सकता, इसी कारण सृष्टि के द्वारा यह वाक् जैसा-जैसा भिन्न-भिन्न अपना रूप धारण करती जाती है उसी आकार और उसी प्रमाण में प्राण और मन भी उसी प्रकार अनुयायी हो जाता है। इस प्रकार जो जहां कुछ वस्तु उत्पन्न हुई है सभी मन, प्राण, वाक् इन तीनों मूल तत्त्वों से ही व्याप्त हैं, किन्तु तथापि उनमें प्राण ही न्यूनाधिकता के कारण कोई वस्तु अन्न और कोई अन्नाद हो जाता है। अधिक परिमाण में मन, प्राण, वाक् होने से वह वस्तु बलवान् हो जाती है, प्रबल होने के कारण अपने से दुर्बल वस्तु को खाया करती है, यह तो एक विशेष नियम है, किन्तु साधारणतः सभी वस्तु दूसरी सभी वस्तुओं से अपना अन्न ग्रहण किया करती हैं किन्तु उनका अन्न ग्रहण उनके बल के अनुसार होता है और बल उनमें मन, प्राण, वाक् की मात्रा के अनुसार होता है।

प्रत्येक वस्तु में प्राण का विस्रंसन देखते हैं। यह विस्रंसन दो प्रकार के हैं—१ साक्षात् और और २ परम्परा से (पारम्परिक)। साक्षात् वह है कि प्रत्येक प्राण अपने स्वभाव से निकला करता है जो दूसरे के गर्भ में जाकर अन्न होता है और कहीं दूसरे के आकर्षण से खींचा जाकर अन्न बनता है। हम देखते हैं कि प्राण, मन की ओर जाकर मन बन जाता और वही वाक् की ओर जाकर वाक् बन जाता है और मन, वाक् दोनों को छोड़कर स्वतन्त्ररूप से वह प्राण अपने विग्रह ( मन, प्राण, वाक् के समूह रूप वस्तु की शरीर मूर्ति ) से जिस पिण्ड में कि वह निकल कर दूसरी वस्तु के विग्रह में प्रवेश कर जाता है और इस प्रकार वह इस वस्तु से विच्छिन्न हो जाता है। इन दोनों प्रकारों से प्राण का विस्रंसन होता है अर्थात् अपने विग्रह में दूसरे भावों में बदलना तो पारम्परिक हैं और प्राण का अपने विग्रह से निकल कर दूसरे विग्रह में चले जाना साक्षात् है।

प्रत्येक प्राणी के अन्न ७ प्रकार के होते हैं उनमें १ पृथ्वी २ जल ये दोनों भोजन पाने से प्रत्यक्ष देखते हैं, ३ सूर्य से तेज, ४ अन्तरिक्ष से वायु, ५ शब्द अपने आप स्वभावतः मिलते रहते हैं और ६ कर्मेन्द्रियों से प्रत्येक प्राणी कुछ न कुछ काम करता रहता है, जिससे मलिन बल शरीर में से निकलता रहता है और उसके स्थान में पूर्व की अपेक्षा अधिक मात्रा का शुद्ध बल शरीर में आता रहता है इसी प्रकार ७ प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञानेन्द्रियों से प्रतिक्षण कुछ न कुछ ज्ञान ग्रहण करता रहता है, ये ही ७ हमारे अन्न हैं। इन सातों अन्नों के ग्रहण करने में मात्रा की आवश्यकता है क्योंकि सम्भवतः इन अन्नों का योग ४ प्रकार हो सकता है—१ सुयोग, २ हीनयोग, ३ अतियोग, ४ मिथ्यायोग। इनमें सुयोग वह है जो हमारी ही आत्मा के धारण करने के बल के अनुकूल मात्रा में हो उससे कम या अधिक होना हीन या अतियोग है और आत्मा के विरुद्ध वस्तुओं का आना मिथ्या योग है, जैसे भोजन के स्थान में विष खाना इत्यादि। इनमें केवल सुयोग से आत्मा की रक्षा और पुष्टि होती है विस्त्रंसन से जो हानि हुआ करती है उसकी पूर्ति होती रहती है। यही सुख का कारण है, किन्तु इससे अतिरिक्त तीनों योग दुःख के

❀ अदन=खाना कल्प=विचार।

कारण हैं। दुःख के कारण ये तीन होने से प्रायः सब प्राणी दुःखी प्रतीत होते है, क्योंकि सुख कारण तो केवल एक ही सुयोग है इनमें सुयोग को न ग्रहण करके अन्य तीन दुर्योगों के वश में आना प्रज्ञापराध का कारण होता है। वह प्रज्ञापराध ज्ञान की न्यूनता से उत्पन्न होता है, इसीलिये इन सातों अन्नों में सबसे मुख्य अन्न ज्ञान का है। विद्या के द्वारा ज्ञान का परिपूर्ण रूप से सुयोग होने पर प्रज्ञापराध नष्ट हो जाता है और सुयोग को पहचान कर दुर्योगों से बचने का उपाय ग्रहण करने में समर्थ होता है जिससे जिससे आत्मा का कल्याण होता है।

इन सात प्रकार के अन्नों में आकाश से पृथ्वी तक ५ प्रकार के अर्थ भोजन करने पर आत्मा के वाक् मार्ग में सन्निविष्ट होते हैं और सोम के द्वारा जो बल उत्पन्न किया जाता है वह प्राण में सन्निविष्ट होता है और विद्या के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आत्मा के मन भाग में सन्निविष्ट रहता है। यद्यपि इन तीनों के मिले जुले रहने से एक एक की पुष्टि में तीनों पुष्ट अवश्य होते हैं, तथापि ज्ञान बल, अर्थ इन तीनों का संनिवेश आत्मा के मन, प्राण, वाक् तीनों भागों में पृथक पृथक ही होता है।

जिस प्रकार विरुद्ध वस्तु के सेवन से वाक् विकार को प्राप्त होकर प्राण और मन को भी दूषित कर देती है और अनुचित रीति से श्रम करने पर प्राण विकार प्राप्त होकर मन और वाक् को भी दूषित करेगा। इसी प्रकार मिथ्या या विरुद्ध ज्ञान पाने से मन भी क्षुब्ध होता है और भयभीत हो जाता है। अज्ञान का अंश ज्ञानरूप से मन में प्रविष्ट होकर उस प्रकार की मिथ्या या विरुद्ध इच्छा करके प्राण को विचलित करता है जिससे प्राण क्षुब्ध होकर मन में व्याकुलता उत्पन्न कर देता हैं। जिस प्रकार अल्पबल का मनुष्य प्रबल प्राणी के आक्रमण से पीड़ित होता है उसी प्रकार कम बुद्धि वाला बालक मूर्ख प्राणी साधारण मिथ्याज्ञान से तत्काल ही धैर्य्यच्युत हो जाता है। किन्तु जिस मनस्वी विद्वान् का मन प्रबल है वह साधारण किसी क्षुद्रज्ञान से एकाएक विचलित नहीं होता किन्तु धीरता के साथ आई हुई आपत्तियों के दूर करने का यत्न सोचता है।

इन सातों प्रकार के अन्नों में प्रसन्न-अप्रसन्न के भेद से बहुत विशेष होते हैं। जिनमें कितने ही आत्मा के विरोधी भेद हैं और कितने ही अनुकूल। इन्हीं दोनों के जानने के लिये पूर्वकाल से लेकर आज तक विद्वानों ने नाना विद्याओं का विकास किया है। इस प्रकार वेद, यज्ञ और प्रजा इन तीनों यौगिक-रूढ़ों का विचार यहाँ समाप्त हुआ।

[नोट:—व्यवहार में चरकादि विद्वानों ने केवल अन्न और जल को तो आहार शब्द से व शेष ५ अन्न के ग्रहण करने को विहार शब्द से उल्लेख किया है—आहार और विहार इन दोनों में प्रज्ञापराध से तीन प्रकार के दुर्योग हुआ करते हैं जिनसे बचकर सुयोग के लिये विद्या की आवश्यकता मानी गई है।]

## यौगिक

अन्न दो प्रकार का होता है। भुक्त और भोग्य—जब कि अन्न भोक्ता के ग्रहण करने पर वह अन्न भोक्ता में इस प्रकार प्रविष्ट हो जाय कि अब वह पृथक् न दीख कर भोक्ता की आत्मा ही बन जावे वह

अन्न भुक्त है, जिस प्रकार मनुष्य का भोजन किया हुआ अन्न अथवा अग्निकुण्ड में दिया हुआ तिल, घृत, समिधा आदि यहां अन्न भोक्ता के रूप में परिणत हो जाता है, किन्तु जहां कहीं दुर्बल दूसरी आत्मा का शरीर मात्र काम में लाया जावे अथवा दुर्बल आत्मा भी प्रबल आत्मा के वशीभूत किया जाय वह अन्न भोग्य होता है। जैसे राजा के परिजन या कर्मचारीगण इन भृत्यों के कहीं पर शरीर मात्र से काम लिया जाता है और कहीं इनके विज्ञान से, इसीलिये ये सब भोग्य हैं। राजा की सब प्रजा अन्न मानी जाती है और प्रजा के भी पशु सब अन्न वेद में माने गये हैं। इसका भी तात्पर्य भोग्य अन्न से ही है—अब हम को देखना है कि इसी भोग्य के अनुसार कहीं पर कोई आत्मा अपने लिये अनेक भोग्यों को इकट्ठे करता है, किन्तु उन भोग्यों में परस्पर अन्न-अन्नाद भाव नहीं रहता, वे सब मिलकर किसी दूसरी आत्मा का स्वरूप अवश्य बनाते हैं और इसीलिये उसी एक आत्मा के अनुरोध से उनमें किसी प्रकार एकता भी आ जाती है, तथापि परस्पर उन सब में अन्न अन्नाद भाव न होने के कारण एकता का भाव नहीं होने पाता इसी प्रकार के योग को मिश्रण कहते हैं। जिस प्रकार त्वचा, शोणित, मांस, अस्थि आदि नाना धातुओं के समुच्चय से देह बना है—यह देह एक आत्मा से पकड़े होने के कारण एक अवश्य है किन्तु इसमें त्वचा, शोणित आदि धातुओं का परस्पर, अन्न, अन्नाद भाव नहीं है। इससे इन सब के मिश्रण से देह का बनना माना जाता है इसी प्रकार धुरा, चक्र, युग आदि अनेक पदार्थों के मिश्रण से एक रथ का स्वरूप बनता है प्रायः औषधियों में कितने ही यूष(काढ़ा) शर्बत आदि पदार्थ मिश्रण के उदाहरण हैं। इसी प्रकार अन्याय यौगिक पदार्थों को भी जानना चाहिये। यहां यौगिकदर्शन पूर्ण हुआ।

## चतुर्व्यूहः

पहले यह प्रजापति अव्याकृत रूप में था। उसके पश्चात् नाम, रूप, कर्म से व्याकरण होता है किसी वस्तु का कर्म अर्थात् शक्ति का जानना और उसका रूप दीखना और इन्हीं दो तासीरों के अनुसार कुछ नाम रक्खा जाना ये ही तीनों मिलकर किसी भी वस्तु का व्याकरण कहलाता है। इन्हीं तीनों के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् की जाती है। इन नाम, रूप, कर्मों के द्वारा जो सबसे प्रथम कोई प्रजापति पृथक् रूप से निश्चित हुआ उसके मन, प्राण, वाक् के धर्मों से चार पदार्थ उत्पन्न होकर उस प्रजापति के चार व्यूह हुए। उन चारों के नाम ये हैं—१ आत्मा, २ रूप, ३ शरीर, ४ वित्त। किसी स्कन्ध में जो सब के अन्दर कोई नभ्यबिन्दु है जिसमें सब प्रकार की शक्तियां हैं वही आत्मा का भाग है वह सर्वदा अव्याकृत रूप में रहता है क्योंकि उसके कर्म, रूप, नाम कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होते, किन्तु उसी से उत्पन्न होकर उसी के आधार से तीन सत्य—१ मन, २ प्राण, ३ वाक् जो उत्पन्न हुए हैं यही उस अनिरुक्त के निरुक्त भाग हैं। इस त्रिसत्य में तीन विशेष हैं इसी कारण यह निर्विशेष नहीं है। इन्हीं तीनों को उस आत्मा का रूप कहते है। क्योंकि वह आत्मा रूपों में प्रथम प्रकट होता है अब इन तीनों सत्यों के द्वारा तीन भाव अर्थात्—वेद, यज्ञ, प्रजा उत्पन्न होकर उस आत्मा का शरीर बनाते हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि ये तीनों सम्मिलित रूप रहकर प्रत्येक वस्तु का शरीर बनाते हैं मूर्ति और महिमा दोनों को शरीर कहते हैं। अथवा यों समझिये कि किसी वस्तु का शरीर इन तीनों से अतिरिक्त कुछ नहीं—यह शरीर ही वास्तव में आत्मा का आयतन (घर) है जिसके भीतर तीनों सत्य—मन, प्राण, वाक्

व्याप्त रहते हैं। इस शरीर के अतिरिक्त और कितने ही धर्म जो इस शरीर में अनित्य रूप से कभी २ आते जाते रहते हैं, अर्थात् जिनका रहना न रहना उस आत्मा के लिये बराबर है, अर्थात् जिनके न रहने पर भी शरीर या आत्मा की कोई हानि नहीं होती किन्तु वह आया हुआ उस आत्मा के अधीन रहता है तो उसको वित्त अर्थात् धन कहते हैं। जैसा कृशता, पृष्ठता, तिलादि चिन्ह, रोग, विद्या, तप, बल, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, बन्धु, भृत्य, गृह, लक्ष्मी इत्यादि।

अब इस प्रजापति में चारों व्यूहों को यदि प्रथम २ देखा जाय तो यों विभाग हो सकते हैं—

| १–आत्मा | | २–रूप | | ३–शरीर | | ४–वित्त |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १–अव्याकृत | — | मन | — | वेद | — | सर्वैषणा |
| २–अव्याकृत | — | प्राण | — | यज्ञ | — | अन्यान्य यज्ञ |
| ३–अव्याकृत | — | वाक् | — | देवभूत | — | अन्यान्य प्रजा |

इस प्रकार एक–एक प्रजापति इन दश अवयवों से ही सर्वत्र बना हुआ होता है, यद्यपि अवयव १२ लिखे गये हैं तथापि प्रत्येक चतुर्व्यूह का उस एक अव्याकृत आत्मा से ही आरम्भ होता है वह तीनों स्थान(चतुर्व्यूह) में एक ही है, इसलिये प्रजापति के १० ही अवयव होते हैं।

प्रत्येक वस्तु में आत्मा और आत्मीय इस प्रकार २ भाग हैं जिनमें अव्याकृत भाग और दूसरा मन, प्राण, वाक् इन तीनों रूपों का भाग और तीसरा वेद, यज्ञ और प्रजा(देव, भूत)इन तीनों शरीर का भाग ये सब मिलकर एक आत्मा सिद्ध होती है इसके अतिरिक्त जो कुछ इसके अधीन में है वही इस आत्मा का वित्त है वही आत्मीय है (अर्थात् आत्मा की वस्तु जो आत्मा से भिन्न है) यह आत्मीय ३ प्रकार का है। प्रथम मन, वेद के सम्बन्ध से सर्वैषणा है, यह सर्वैषणा मनुष्य में तीन प्रकार की है— जायैषणा, पुत्रैषणा, धनैषणा, (एषणा–इच्छा) यह एषणा जड़ चेतन प्रत्येक वस्तु में रहती है, किन्तु जड़ में केवल अन्नैषणा होती है किन्तु मनुष्य में लोकैषणा भी होती है जो तीन प्रकार की पहले कही जा चुकी है।

प्राण यज्ञ के सम्बन्ध से अन्यान्ययज्ञ वह वित्त है जो शरीर के समष्टि रूप से प्रधान यज्ञ के अतिरिक्त जो प्रत्येक अङ्ग में भिन्न यज्ञ होते हैं जैसे दाँत, केश, रोग आदि की भिन्न उत्पत्ति और मृत्यु का क्रम पृथक् २ होता है, वह समष्टि के अनुरोध से वित्त हैं। इसी प्रकार वाक् और प्रजा के सम्बन्ध से अन्यान्य प्रजा वह वित्त है कि जो हमारे शरीर में बाहर से आता है, जैसा अन्न और जल अथवा वह भी वित्त है जो हमारे शरीर का छोड़ा हुआ दूसरे के शरीर में जाता है अर्थात् जो कुछ हम भोजन करते हैं उसका हमारे शरीर की अग्नि से दो भाग किये जाते हैं–रस और मल जिनमें रस का भाग देव भूत के रूप में परिवर्तन होकर हमारे शरीर की संगठन(बनावट)करते हैं और मल भाग शरीर से निकल कर दूसरों का भोग बनाता है। वह भी हमारी आत्मा से निकलने के कारण आत्मीय कहे जा सकते हैं और इसीलिये वित्त हैं।

चतुर्व्यूह के चारों व्यूहों में नभ्य पृथक् एक भाग है और शेष तीनों—रूप, शरीर और वित्त ये विकार होने से पृथक् दूसरा भाग है, इस प्रकार यहाँ दो विभाग हो सकते हैं, अथवा नभ्य, रूप और शरीर ये तीनों एक आत्मा का भाग है और शेष वित्त इस आत्मा का प्रधि अर्थात् आयतन की चरम सीमा है और आत्मीय है इनमें वित्त बहिरङ्ग और शेष तीनों आत्मा के अन्तरङ्ग होते हैं इसलिये आत्मा मुख्यतया त्रिवृत्मय है जो कि प्रधि रूप वृत्त से पुष्ट किया जाता है इस प्रकार से दो विभाग हो सकते हैं। वेद, यज्ञ और प्रजा तथा बाहर से आया हुआ वित्त यह सब प्रजापति के उपकारक होने से महिमा है, किन्तु नभ्य आत्मा जो प्रजापति का अनिरुक्त भाग है अथवा मन, प्राण, वाक् में प्रजापति का निरुक्त भाग है ये ही दोनों अनिरुक्त निरुक्त मिलकर मुख्य प्रजापति समझना चाहिये, जिसकी कि वह महिमा कही गई है। अथवा महिमा पर्यन्त प्रजापति को सर्व कहते हैं। उसकी अन्तरात्मा वेद, यज्ञ प्रजा है और उसकी भी अन्तरात्मा मन, प्राण, वाक् ये तीनों सत्य हैं और इनकी भी अन्तरात्मा अनिरुक्त नभ्य है इनमें "किम्" सर्वनाम से अनिरुक्त प्रजापति और "यत्"(जो) सर्वनाम से त्रिसत्य रूपवाला निरुक्त मूर्ति और "तत्"(वहतो) सर्वनाम से महिमा सहित सर्व प्रजापति तथा "सर्व" इस सर्वनाम से वित्त सहित सर्व प्रजापति संकेतित होते हैं।

## स्कन्धव्यूह

इस प्रकार मन, प्राण, वाक् और वेद, यज्ञ, प्रजा तथा वित्त इन सबके समुच्चय से बना हुआ प्रजापति सब से प्रथम परमाणु रूप से उत्पन्न होता है। अर्थात् जो सबसे सूक्ष्म अणु है जिसको एक तत्त्व कहकर निरवयव अखण्ड मानते हैं वह अखण्ड निरवयव न होकर मन प्राण, वाक् से अथवा वेद, यज्ञ, प्रजा से सावयव अवश्य है। किन्तु मन, प्राण, वेद, यज्ञ आदि अवयवों को निराकार होने के कारण अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय ग्राह्य न होने से निरवयव प्रतीत होता है।

यह अणु इच्छा और वित्त के भेद से नाना प्रकार के और नाना जाति के अनन्तानन्त उत्पन्न हुए हैं इनमें कितने ही सजातीय हैं कितने ही विजातीय और कितने ही अनुकूल होने के कारण परस्पर मिल

जाते हैं, कितने ही प्रतिकूल होने के कारण परस्पर नहीं मिलते और कितने ही विद्वेष के कारण परस्पर युद्ध करके दोनों नष्ट होकर तीसरे प्रकार के अणु को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अणुओं के भेद से अनन्तानन्त पदार्थ जगत् में उत्पन्न, नष्ट होते रहते हैं। इन्हीं परमाणुओं में अनेकानेक सजातीय और विजातीय तथा अनुकूल और प्रतिकूल अणुओं के योग से छोटे बड़े अनेक प्रकार के स्कन्द अर्थात् अणु समुदाय जिसे ❀ त्रिसरेणु कहते हैं, उत्पन्न होते रहते हैं, और अनेकानेक स्कन्धों के योग से भी दूसरे भिन्न प्राकर के कितने ही स्कन्ध बनते रहते हैं—ये सब स्कन्द भी अणु के अनुसार ही मन, प्राण, वाक् या वेद, यज्ञ, प्रजा और वित्त अपना-अपना पृथक् रखते हैं इनमें अणओं के त्रिसत्य (मन,प्राण, वाक्)और वेदादि महिमा पृथक्-पृथक् रहने पर भी उनसे स्कन्ध का कुछ सम्बन्ध नहीं, स्कन्ध के त्रिसत्यादि सभी व्यूह नये ही उत्पन्न होते हैं।

ढेला, घर, पट, पात्र, लकड़ी पत्थर, मणि, जल, अग्नि, वायु इत्यादि जहाँ जो कुछ जगत् के पदार्थ दृष्टि में आते हैं ये सब स्कन्ध हैं। अणु यद्यपि हमारी दृष्टि में कहीं नहीं आते तथापि यह विश्वास करना। चाहिए कि इनमें एक भी स्कन्ध बिना अणु के उत्पन्न नहीं हुआ है। इन स्कन्धों का सबसे छोटा कोई खण्ड अवश्य है, जिसको हम अणु कहते हैं इस प्रकार अणु अव्यक्त और स्कन्ध व्यक्त इनके भेद से दो प्रकार के प्रजापति सिद्ध हुए।

१ सूर्य, २ चन्द्रमा, ३ पृथ्वी और ४ जीवों का शरीर ये चार स्कन्ध मुख्य करके विचारने योग्य हैं। इन चारों स्कन्धों में उपर्युक्त के अनुसार चारव्यूह देखना चाहिये।

१—सूर्य में ये मन तो उसकी आत्मा है, ज्योति उसका रूप है, द्यौलोक ही उसका शरीर है और अनेकानेक ग्रह मण्डल (जहाँ तक सूर्य की रोशनी जाती है याने बृहत् साम तक ) उसके वित्त हैं।

२—चन्द्रमा में प्राण उसका आत्मा है, ज्योति रूप है और आपोमय अन्तरिक्ष उसका शरीर है और सत्ताईस गन्धर्वमण्डल (जहाँ तक चन्द्रमा की रोशनी जाती है याने उसके राजिन साम तक) उसके वित्त हैं यह सूर्य अग्नि प्रधान है और चन्द्रमा सोम प्रधान है किन्तु अग्नि और सोम इन दोनों के संसर्ग से बनी हुई पृथ्वी है और सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इन तीनों के रस द्रव्य को लेकर जीवों के शरीर बने हैं। जीवों के शरीर तो सोम प्रधान है और देह का स्वामी प्राण अग्नि प्रधान है। अग्नि रूप सभी देवता हैं जो जीवों के प्राण में व्याप्त हैं किन्तु सोम से बना हुआ रेत (वीर्य) से शरीर बनता है सोम से उत्पन्न शरीर दृश्य होता है किन्तु अग्नि से बना हुआ प्राणमण्डल अदृश्य रहता है।

यों तो अग्नि सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है किन्तु इस शरीर के छ प्रकार के प्रान्तों में इसकी इतनी ज्वाला निकलती रहती है कि जिसके कारण उन छ स्थानों में लोम (केश) उत्पन्न नहीं होने पाते वे प्रान्त ये हैं-१-मुख, २-योनि, ३-गुदा, ४-उपस्थ, ५-दोनों हस्ततल, ६-दोनों पादतल। सबसे प्रथम मन

---

❀ तीस अणु के समुदाय को त्रिसरेणु कहते हैं जो किसी खिड़की के जाली के छिद्रों में आते हुये सूर्य के किरण से प्रकाशित होकर वायु में इधर उधर फिरते हुये प्रत्यक्ष दीखते हैं।

उत्पन्न हुआ और उसके साथ-साथ ज्ञानसम्पत्ति के भेद स्वरूप नाना देवता भी उत्पन्न हुए इन सब के समुदाय को 'ब्रह्म' कहते हैं । पश्चात् प्राण उत्पन्न हुए और उसके साथ-साथ बलसम्पत्ति करने वाले नाना देवता भी उत्पन्न हुए इन सब के समुदाय को 'क्षत्र' कहते हैं । तत् पश्चात् वाक् उत्पन्न हुई और उसके साथ २ द्रव्य-सम्पत्ति रूप नाना देवता भी उत्पन्न हुए इन सबके समुदाय को 'विट्' कहते हैं । ये तीन आत्मा से उत्पन्न हुई किन्तु जिससे इन तीनों की पुष्टि होती रहती है जिनके द्वारा इनकी रक्षा रहती है वह सामान्य रूप अनेक धर्म्मों के समुदाय को 'शूद्र' कहते हैं । ये चारों धर्म्म हैं इन्हीं धर्म्मों से सामान्य विशेष करके भिन्न-भिन्न जीवों के शरीर उत्पन्न हुए हैं प्रत्येक शरीर में ज्ञान, वीर्य, शारीरिक अर्थ अन्न, रस, धातु आदि और उनके पोषक बाहरी धर्म इन चारों से बने हुए होते हैं ।

इन जीवों के शरीर में तीन प्रकार की 'एषणा' (इच्छा) स्वभाव से उत्पन्न होती है–स्त्री, प्रजा, वित्त जब तक इन तीनों को कोई भी शरीरधारी जीव प्राप्त नहीं करता है तब तक अपनी आत्मा को अधूरी मानता है किन्तु योग क्षेम योग्य वित्त को पाकर अपनी आत्मा की सीमा को पूर्ण हुआ मानता है । मन, प्राण, वाक् ये तीनों आत्मा के रूप हैं और देवता सभी शरीर हैं और तीनों एषणा वित्त हैं । इस प्रकार प्रजापति के सम्बन्ध से चारों व्यूहों की भावना सिद्ध होती है ।

## त्रैगुण्यसञ्चर

पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतों से उत्पन्न हुआ यह शरीर जो सबसे बाहर है उसको वाक् समझना चाहिये–इस शरीर के अन्तर्गत जितना क्रिया का मण्डल है वह सब प्राण हैं । शरीर का कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसमें क्रिया करने वाला प्राण भरा न हो इस प्राण के अन्तर्गत मन का आकाश है कि जिसके कारण कहीं भी कांटा चुभ जाय उसी समय उसी स्थान में वेदना का ज्ञान उत्पन्न होता है यह मन का प्रकाश प्राण के भी भीतर प्राण का आधार स्वरूप है वेदना होते ही प्राण उससे बचने के लिये मन की आज्ञा से हीं चेष्टा करने लगता है और वाक् अर्थात् शरीर के उस भूतमय अंश को उस स्थान से हटा देता है । इन्हीं तीनों मन, प्राण, वाक् के कारण इस शरीर में तीन धारायें अर्थात् **ज्ञानधारा, चेष्टाधारा, धातुसृष्टिधारा** सर्वथा होती रहती है । जैसे नेत्र संस्थान में नेत्र का स्वरूप भूत-भाग है और नेत्र में चेष्टायें प्राण भाग हैं और नेत्र से उत्पन्न चाक्षुषज्ञान मन का भाग है इस प्रकार तीनों के संयोग से प्रत्येक इन्द्रियां बनी हैं । और भी शरीर के धातु इसी प्रकार तीनों से बनते है जैसा शोणित एक भूत है और उसकी चेष्टाएँ प्राण हैं और और उसके स्पर्श से ज्ञान होना मन है । जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अङ्ग इन तीनों से युक्त हैं उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड भर में अथवा अनन्त ब्रह्माण्ड वाले इस विशाल विश्वमण्डल में प्रत्येक पदार्थ इन तीनों आत्मगुणों से बनकर ही अपनी स्थति रखते हैं, येही तीनों गुण आत्मा के रूप हैं, इसी से हम कह सकते हैं कि यह समस्त विश्व आत्ममय है । आत्मगुण या आत्मरूप एक ही बात है ।

## आत्मानात्मविवेकः

यह आत्मा शब्द आपेक्षिक है अर्थात् जिस प्रकार पिता, पुत्र, गुरु, शिष्य, आदि सम्बन्धित शब्द अन्यसापेक्ष होते हैं उसी प्रकार आत्मा शब्द भी अन्यसापेक्ष है । पहले कहा जा चुका है कि जो जिसका

उक्थ, ब्रह्म, साम हो वह उसकी आत्मा है, इसी नियम के अनुसार हमारे संसार का समस्त व्यवहार और कुटुम्ब आदि परिवार और मेरे सब कर्म इन सबका यह हमारा शरीर ही उक्थ, ब्रह्म, साम है, इसी से जो कुछ इस शरीर में है उन सबके सहित मेरे इस शरीर को आत्मा कह सकते हैं। यह मेरी व्यवहार दशा में प्रथम आत्मा है इस आत्मा के अनुरोध से उन सब व्यवहारों को अनात्मा कहते हैं कि जिनकी आत्मा है। अब इसमें तीन प्रकार के वाक् विकार हैं। "भौम" जिनको भूत कहते हैं, "दिव्य" जिनको देवता कहते हैं और "आन्तरिक्ष" जिनको वायु कहते हैं ये तीन वर्ग एक रूप में आकर शरीर कहे जाते हैं। अर्थात् इन्हीं तीनों वर्गों को एक शब्द से शरीर कहते हैं। इस शरीर का जो उक्थ, ब्रह्म, साम है उसको इस शरीर की आत्मा कहेंगे। वह आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनों का समष्टि रूप है। यह दूसरी आत्मा है इस दूसरी आत्मा के अनुरोध से उस शरीर को अनात्मा कहते हैं।

अब मन, प्राण, वाक् इन तीनों में भी वाक् का सब विकार मन, प्राण के अधीन है, इसलिये मन, प्राण की समष्टि को आत्मा और वाक् प्रपञ्च को अनात्मा वा शरीर कहते हैं यह तीसरा आत्मा है। अब इन दोनों में भी यह प्राण सर्वदा मन के अधीन रहता है, मन से उठकर मन ही के आधार से चलकर मन ही में लय होजाता है, इसलिये प्राण की अपेक्षा से भी मन ही एक आत्मा है। प्राण वाक् अपने विकारों के सहित इसका शरीर है यह मन व्यवहार दशा में चौथी आत्मा है। अब ये मन, प्राण, वाक् तीनों भी मय अपने विकारों के किसी ❀ अव्याकृत ( नाम, रूप, रहित ) अनिर्वचनीय, अव्यक्त किसी पदार्थ के अधीन अपनी स्थिति रखते हैं, इसलिये वही अव्याकृत यहाँ पर परमार्थ रूप से मुख्य आत्मा माना जाता है। और सब उसके शरीर हैं। अव्याकृत, अव्यवहार्य होने से व्यवहार दशा में उसको आत्मा नहीं कहते किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से वही एक आत्मा है इसी कारण आत्मा को निर्विकार, अजर अमर, अविनाशी, अखण्ड एक तत्व माना गया है। किन्तु व्यवहारिक आत्माएँ केवल व्यवहार के लिये उपयुक्त होती हैं, जिस प्रकार दीपक में केवल अर्चि (लौ) का भाग ही मुख्य दीपक है, किन्तु व्यवहार दशा में मय बत्ती, मय तेल, मयतैलाधारपात्र के, मय पात्राधारादण्ड के, मय आवरण के भी दीपक शब्द कहा जाता हैं, किन्तु उन सब में अर्चिका होना आवश्यक है अर्चि के होते हुए ही उन सब को भी दीपक कहते हैं। इस प्रकार यहां भी अव्याकृत ही केवल आत्मा है। सब के भीतर उसके रहते ही मन, प्राण, वाक् आदि शरीर तक का आत्मा शब्द से व्यवहार होता है। उन व्यवहारिक गौण आत्माओं में वेदान्त उपनिषदों के कहे हुए आत्मा के अविनाशी आदि गुण कदापि नहीं हैं, वे सब विनाशी है और कूटस्थ न होकर विचाली है, अविकारी न होकर विकारी हैं, आनन्दरूप न होकर भय, सुख, दुख, भागी हैं और अजन्मा अमर न होकर जन्म, मृत्यु भागी हैं, किन्तु इतना होने पर भी बाह्य धर्मों की अपेक्षा शरीर को, शरीर की अपेक्षा त्रिसत्य को, त्रिसत्य की अपेक्षा मन को भी आत्मा कहकर आदर अवश्य किया जाता है, क्योंकि यह सब क्रम, क्रम से आत्मा के समीपवर्ती होने से आत्मा के मुख्य धर्मों को क्रम-क्रम से अधिक ग्रहण किये हुए हैं।

---

❀ अव्याकृत आत्मा अष्टगुणी है जैसाकि श्रुति ने कहा है १—पाप या विकार का संसर्ग न होना २—वृद्ध न होना, ३—मृत्यु का न होना, ४—शोक का न होना, ५—भूख का न होना, ६—प्यास का न होना, ७—सत्य, काम, ८—सत्य संकल्प का होना।

जिस प्रकार शरीर के संबन्ध से आत्मा, अनात्मा का विभाग दिखाया गया है उसी प्रकार इस विश्व में भी उन दोनों का विभाग है। जितना वाक् के विकार का प्रपञ्च है उसे ही विश्व कहते हैं, यह प्रपञ्च ही आत्मा का शरीर है, मन, प्राण, वाक् ये तीनों उसकी आत्मा हैं, किन्तु वाक् का विकार वाक् से कदापि भिन्न नहीं है और यह वाक् आत्मा ही का एक भाग है, इसलिये इस विश्व प्रपञ्च को भी हम आत्मा ही कह सकते हैं। यह विश्व मन रूपी आत्मा में प्रविष्ट है, किन्तु प्राण रूपी आत्मा इस विश्व में सर्वत्र प्रविष्ट है और वाक् का विकार वाक् से भिन्न न होने के कारण यह सम्पूर्ण विश्व वाक् रूपी आत्मा ही है इसी से जगत् के आत्मा के साथ तीन सम्बन्ध सिद्ध होते हैं, १—आत्मा में विश्व २—विश्व में आत्मा, ३—आत्मा ही विश्व है। किन्तु यदि वाक् ही को आत्मा माना जाय वाक् के विकारों को विकार की दृष्टि से ही आत्मा न समझें तो चौथा सम्बन्ध भी सिद्ध होता है जो चौथा सम्बन्ध यह कि विश्व में आत्मा भिन्न है। किन्तु इसे भिन्नता पर भी यदि पाँचवें विकार को वास्तव में विकार न माना जाय तो सम्बन्ध भी सिद्ध होता है अर्थात् आत्मा से विश्व भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह कि आत्मा विश्व से भिन्न है किन्तु विश्व आत्मा से भिन्न नहीं है। इससे दोनों में भेदा-भेद सम्बन्ध सिद्ध हुआ है। जैसे प्रकाश और दीपक अथवा अग्नि या ताप में भेदा–भेद सम्बन्ध है वैसे ही यह समझो इस प्रकार विरुद्ध पांच सम्बन्धों के मेल होने से अर्थात् विरोध न होने से छठा अनिर्वचनीय सम्बन्ध भी सिद्ध होता है इसको ❀ षड्विकल्प सम्बन्ध कहते हैं।

वाक् के विकारों में सबसे प्रथम गुण भूत जिनको तन्त्रात्मा या विशेष भी कहते हैं उत्पन्न हुए, तत्पश्चात् परमाणु भूत पञ्चीकरण होने से महाभूत तत्पश्चात् भौतिकपिण्ड बस इतनी ही वाक् की सृष्टि अद्यपर्यन्त उत्पन्न हुई। इन विकारों को आत्मा–अनात्मा दोनों उपर्युक्त अनुसार कह सकते हैं।

किन्तु यह विकार वाक् के आधे भाग में ही होते हैं और आधा अब भी उन विकारों में सदा निर्विकार रूप से रहता है जैसे पानी में फेन होकर पानी को ढकता है उसी प्रकार यह विकार निर्विकार वाक् को निगूढ़ भाव से भीतर रखता है यही कारण है कि आकाश को छोड़कर शेष जितने भूत विकार

---

**❀ षड्विकल्प सम्बन्ध**

१–आत्मा और विश्व का–आधाराधेय भाव–आत्मा में विश्व,–(शुद्धाद्वैत–वल्लभ)।
२– ,, ,, ,, – ,, –विश्व में आत्मा,–(विशिष्टाद्वैत–रामानुज)।
३– ,, ,, ,, –अभेद सम्बन्ध—आत्मा ही विश्व है,–(अद्वैत शङ्कर)।
४– ,, ,, ,, –भेद सम्बन्ध–विश्व से आत्मा भिन्न है,–(द्वैत–माधव)।
५– ,, ,, ,, –भेदा–भेद सम्बन्ध–{ आत्मा से विश्व भिन्न नहीं है / किन्तु विश्व से आत्मा भिन्न है } (द्वैताद्वैत निम्बार्क)।
६– ,, ,, ,, –अनिर्वचनीय सम्बन्ध–अकथनीय (आश्चर्यमय)—( मायावाद... ....)।

हैं वे संयोग विभाग दोनों दिशाओं में अपने में से निर्विकार वाक् अर्थात् शब्द को प्रकट करते हैं। यह शब्द स्वयम् गतिशील न होने से वायु के द्वारा वायु पर ही सवार होकर बाहर मण्डलरूप में क्षण भर प्रकट होकर आकाश और समुद्र में लीन हो जाता है। इससे भी सिद्ध हुआ कि यह भौतिक विश्व अपनी वाक्‌रूपी आत्मा में ही रहता है।

और ये सब विकार वास्तव में वाक् ही है और प्रतिसंचर क्रम में सब भौतिक भूतों में और पृथ्वी, जल, तेज, वायु क्रम से फिर वाक् हो जाते हैं। इसमें वैज्ञानिकों की दृष्टि में कोई भी विचार नहीं माना जाता, केवल ये सब विकार वाक् के ही अवस्था विशेष हैं। जैसे सोने के टुकड़े को डला, कड़ा इत्यादि कहें, उसी प्रकार इन्हें विकार कहना भ्रम मात्र है और मिथ्या है। मोम जिस प्रकार पिघलकर द्रव होता है और फिर घन होता है उसी प्रकार यह वाक् भी केवल अपनी अवस्था पलटती है इसीलिए हम कह सकते हैं कि वास्तव में यह सम्पूर्ण विशाल जगत् निर्विकार केवल आत्मा ही आत्मा है। इसी अभिप्राय को लेकर वेद बारम्बार कहता है कि—**आत्मैवेदं सर्वम्, एतदात्म्यमिदं सर्वम्** ये ही आत्मायें सब हैं।

————

# २-व्यूहानुव्यूह परिच्छेद में ३ दर्शन हैं

१–परमेश्वरदर्शन, २–ईश्वरदर्शन, ३–जीवदर्शन

## (१) परमेश्वरदर्शन

### १—उपक्रमसूत्र

१—पहले परिच्छेद में जो व्यूह कहा गया है वह अनन्त प्रकार का है किन्तु उन व्यूहों से बना हुआ अनुव्यूह तीन प्रकार का है—जीव, ईश्वर और परमेश्वर।

प्रजापति के सहस्रों व्यूहों के समुच्चय से एक जीव का अनुव्यूह उत्पन्न होता है और सहस्रों जीवों के अनुव्यूह उत्पन्न होता है और अनन्त ईश्वर व्यूहों से एक परमेश्वर का अनुव्यूह सम्पन्न होता है। यह परमेश्वर एक ही है इसी कारण फिर चौथा अनुव्यूह सम्पन्न नहीं होता है इस कारण तीन ही अनुव्यूह सिद्ध होते हैं।

२—अपने व्यूहों को धारण करती हुई आत्मा जिन वाक्, प्राण, मनों से सम्पन्न होती है उनसे अतिरिक्त वाक्, प्राण, मनों को जीव धारण करता है और जीव सम्बन्धी उन तीनों से अतिरिक्त वाक् प्राण, मनों को ईश्वर धारण करता है और ईश्वर के भी उन तीनों से अतिरिक्त वाक्, प्राण, मन, परमेश्वर के हैं।

३—सब से प्रथम कोई एक आत्मा समस्त वाक्, प्राण, मनों से पर्याप्त अखिल विश्वव्यापी था, वही सृष्टि क्रम में आकर असीम से ससीम रूपों में आकर व्याप्त हो गया, फिर उन ससीमों में भी धीरे-धीरे बृहत्सीम के भीतर असंख्य अल्पसीम उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्रथम तीन विभाग हुए १-असीम २-बृहत्-सीम, ३-अल्पसीम। इन्हीं तीनों को क्रम से परमेश्वर, ईश्वर और जीव कहते हैं।

४-इन तीनों आत्माओं से पृथक्-पृथक् सृष्टियां होती हैं वह प्रत्येक सृष्टि अपनी-अपनी आत्मा में ही रहती है।

५—इन सृष्टियों में तीनों ही आत्मा में सर्वत्र वाक् ही बीज रूप से अर्थात् उपादान रूप से कारण होता है और प्राण उपाय रूप से निमित्त कारण होता है। इसी प्रकार मन स्रष्टा या निर्माता (कर्ता) रूप से कारण होता है। मन की इच्छा वृत्ति के अनुसार प्राण के आश्रय से वाक् ही परिणत होकर नाना रूप धारण करती हैं-यही सृष्टि का मूलतत्त्व या रहस्य है।

६—यद्यपि परमेश्वर, ईश्वर, जीव इन तीनों में मन, प्राण, वाक् अवश्य रहते ही हैं किन्तु परमेश्वर में सबसे अधिक और ईश्वर से उससे कम और जीव में उससे कम उन तीनों की मात्रा रहती है।

७— इससे पहले के "विशिष्ट त्रिसत्यवाद" में जगत्, जीव और ईश्वर ये तीन तत्त्व दिखाये गये थे, परन्तु अब सूक्ष्म विचार करने से ईश्वर के अतिरिक्त परमेश्वर भी दिखाया जाता है और जीव, ईश्वर, परमेश्वर, इन तीनों को ही लेकर हम यहाँ त्रिसत्य का वर्णन करेंगे और जगत् को जो ये तीनों पृथक-भासते हैं वह भी इन्हीं तीनों के साथ पृथक-पृथक वर्णन करेंगे, क्योंकि सूक्ष्म विचार करने पर यह जगत् इन तीनों से पृथक् कदापि प्रतीत नहीं होता है।

## २—आयुर्निर्णय सूत्र

इन तीनों में परमेश्वर की आयु अर्थात् जीवनकाल का प्रमाण नहीं पाया जाता और ईश्वर की की आयु शतकल्प की अनुमान की जाती है किन्तु सम्भव है कि ईश्वर के नाना प्रकार के होने के कारण किसी किसी ईश्वर की आयु इससे भी अधिक हो किन्तु जीवों में मनुष्य की आयु का प्रमाण भिन्न-भिन्न प्रकार का है कितने ही जीवों की आयु सहस्र वर्ष की पाई जाती है और कितने ही जीव एक दिन में ही कई बार पैदा होते हैं और मरते हैं। उन सब जीवों की आयु का भिन्न भिन्न विचार न करके यहाँ केवल मनुष्य की आयु के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है। मनुष्य की आत्मा जिन मन, प्राण, वाकों से सम्पन्न होती है उनकी संख्या ३६००० की है-३६००० मन, ३६००० प्राण, ३६००० वाकों से बनी हुई आत्मा ३६००० दिन में पृथ्वी से बने हुए शरीर से संबन्ध तोड़ लेती है। इसी कारण मनुष्य की आयु मुख्यतः १०० वर्ष की मानी जाती है।

मनुष्य की आयु १०० वर्ष की होती है। इसके कारण परीक्षा में कई मत हैं-१ यह है कि जिस प्रकार इस त्रिलोकीब्रह्माण्ड के मध्य में सूर्य अपने प्रकाश से व्याप्त हो रहा है। उसी प्रकार इस त्रिलोकी शरीर में भी हमारी आत्मा सूर्य के समान चारों ओर ज्ञानमय प्रकाश से शरीर में व्याप्त हो रही है-

सूर्य प्रकाश मण्डल के समान ज्ञान-प्रकाश-मण्डल को भी सम्वत्सर कहते हैं। सम्वत्सर में पृथ्वी पूर्वापर मध्य रेखा जिसे विषुवद्वृत्त कहते हैं उसी को ज्ञान की भाषा में बृहती कहते हैं। बृहती ९ अक्षर के छन्द का नाम है जो चतुष्पाद होकर ३६ अक्षर का होता है।

विषुवद्वृत्त में भी दश-दश अंश का एक एक अक्षर मानने से ३६ अक्षर हैं इसी से उसे बृहती कहते हैं इनके एक एक अक्षर को जो दश दश अंश के बने हैं प्रत्येक अंश को १०० से गुणा करके ३६००० हो जाते हैं। ३६००० दिन में उन ३६००० अक्षरों से सूर्य संवत्सर के संबन्ध पके हुए पत्तों के अनुसार अलग हो जाते हैं पृथ्वी और सूर्य की आत्मा का सम्बन्ध इस प्रकार टूटे जाने पर तीनों लोक के रस मिले हुए नहीं रहते याने सूर्य का रस इस पृथ्वी से बने हुए शरीर को छोड़कर ऊपर सूर्य की ओर चले जाते हैं इसी को मृत्यु कहते हैं।

२—दूसरे मन में सूर्य के क्रान्तिवृत्त को जगती कहते हैं जगती १२ अक्षर का छन्द है इसको द्वादशाह कहते हैं। जगती को जगती से गुणा करने पर १४४ होता है यही १४४ वर्ष की मनुष्य की परम आयु है अर्थात् पृथ्वी के विषुवत् को १२ भाग करके प्रत्येक भाग में उन्ही बारहों की दृष्टि पड़ने से प्रत्येक भाग १२ भागों में बट जाते हैं। यों १४४ भाग होते हैं। एक एक वर्ष में सूर्य के सम्बन्ध से पकने पर पृथ्वीरस और सूर्यरस पृथक् पृथक् हो जाता है इसी मृत्यु कहते हैं। यद्यपि मनुष्य की आयु प्रथम मत के अनुसार १०० वर्ष की मानी गयी है, किन्तु सदाचार और यज्ञादि के द्वारा अथवा शरीर संगठन की दृढ़ता के द्वारा यदि आयु बढ़े तो उसकी तीन सीमा है–१-कनिष्ठ सीमा १०८ वर्ष की, २-मध्यमसीमा १२० वर्ष की और ३-परमसीमा १४४ वर्ष की है। इनमें परमसीमा का कारण द्वितीय मत से दिखाया गया है। सौ वर्ष का नियम सामान्य मान है किन्तु १०० वर्ष से भी अधिक जीवन के मनुष्य पाये गये हैं। प्रकृति नियम के अनुसार १४४ वर्ष से अधिक मनुष्य भी नहीं जीता। अलबत्ता औषधिकल्प के द्वारा अधिक जीवन चरकऋषि ने माना है और योगाभ्यास से अधिक जीवन पुराण के ऋषियों ने माना है।

## ३—स्वातन्त्र्यसूत्र
## (जीवतन्त्र, ईश्वरतन्त्र और परमेश्वरतन्त्र)

१—जीवतन्त्र जीव, ईश्वर, परमेश्वर इन तीनों के भिन्न भिन्न तन्त्रों का अर्थात् संस्थाओं का आयतन है जैसा कि जीव के तन्त्र का आयतन हद्दबन्धी यह शरीर है। इस शरीर के भीतर जो कुछ है या जो उत्पन्न होता रहता है उनमें एक तिहाई भाग इस जीव के ही अधीन है अर्थात् जो मन, प्राण, वाक् इस जीव की आत्मा है उनसे उत्पन्न होते हुए ज्ञान, क्रिया और अर्थ सभी जीव तन्त्र के भीतर माने जा सकते हैं और वे सब जीव के अधीन हैं अर्थात् उन ज्ञान, क्रिया, अर्थ इनकी उत्पत्ति में अथवा उनके संचालन में यह जीव पूर्णतया स्वतन्त्र है उनमें ईश्वर के या परमेश्वर के तन्त्रों का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है इसीलिये जीव दुराचरण का अपराधी माना जाता है और इसीलिये शास्त्र की विधि–निषेध की

---

**नोटः**—यदि आयु का वढाव हो तो १०८, या १२० या १४४ तक हो सकता है और योगाभ्यास इत्यादि से तो ४०० वर्ष तक भी माना गया है।

आज्ञाएँ सार्थक होती हैं, अथवा ईश्वर परमेश्वर के तन्त्र में जीव सदा परवश है। ऐसी स्थिति में जीव पर किसी प्रकार की शास्त्र की आज्ञा का देना व्यर्थ हो जाता है।

इस जीव में प्राण तीन प्रकार का है १–वैश्वानर, २–तैजस, ३–प्राज्ञ-इन तीनों में वैश्वानर प्राण शरीर का संरक्षक है, अर्थात् प्रकृति नियम के अनुसार प्रतिक्षण इस शरीर में से जो कुछ क्षीण होता रहता है उसकी पूर्ति करता हुआ इस शरीर की स्थिति को ज्यों की त्यों बनाये रहता है। जो कुछ अन्न, पान इस शरीर के भीतर प्रविष्ट होता है, उसके भी रस और मल दो भाग करके रस भाग को शरीर के निर्वाह के लिए भीतर ही धारण करता है और मल भाग से अपना संसर्ग छोड़ता है। अब दूसरा प्राण तैजस है जो कि इन दोनों रस और मल भागों को स्थानान्तरित करता है, अर्थात् रस बनने के स्थान से हटकर इसको सर्वाङ्ग शरीर में आवश्यकतानुसार बांट कर संचालन करता है और मल भाग को शरीर के बाहर फेंक देता है। इसके अतिरिक्त बालक शरीर को धीरे धीरे बढ़ाकर, युवा अवस्था, वृद्धावस्था में परिणत करता है। शरीर का बढ़ना, घटना,स्फुरण होना, चेष्टा होना, अपने आप गति करना इत्यादि सभी क्रियाएँ तैजस प्राण के अधीन है और तीसरा प्राण प्राज्ञ है, जिसेके द्वारा शरीर में ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं संज्ञान अर्थात् किसी बात का संकेत करना या लक्ष्य रखना और अज्ञान अर्थात् किसी विषय की ओर अपने को या दूसरे को रूकाना, प्रज्ञान अर्थात् किसी बाहरी विषय को अपने मस्तिष्क तक भीतर पहुँचाना और विज्ञान अर्थात् किसी विषय की सत्यता को चिरकाल तक धारण करना इत्यादि इत्यादि, ज्ञान की अनेक शाखाएँ इस शरीर में प्रज्ञाप्राण के द्वारा उत्पन्न होती रहती हैं। ये ही तीन प्राण हैं इनमें वैश्वानर का संबध अर्थ से है जो आत्मा के वाक् भाग से उत्पन्न होता है, तैजस का संबन्ध क्रिया से है जो आत्मा के प्राण भाग से उत्पन्न होती है और प्रज्ञाप्राण का सम्बन्ध ज्ञान से है जो आत्मा के मन भाग से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वैश्वानर का संबन्ध अग्नि देवता से, तैजस का संबन्ध वायु देवता से और प्रज्ञा का सम्बन्ध इन्द्र देवता से सर्वदा बना रहता है। इन्हीं तीनों के द्वारा जीव की आत्मा का ईश्वर की आत्मा के साथ संयोग है। आधिदैविक पदार्थ अध्यात्म में और आध्यात्मिक पदार्थ अधिदैविक में आते जाते रहते हैं, जिनके द्वारा जीव, ईश्वर का सदा ऋणी बना रहता है। इन्हीं तीनों प्राणों को उपासना काण्ड में उपासना के लिये अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिये तीन भिन्न भिन्न नामों से बोलते हैं। वैश्वानर को विष्णु कहते हैं, जिसका काम रक्षा करना है, तैजस को ब्रह्मा कहते, हैं जिसका काम पैदा करना है और तीसरा प्रज्ञा का नाम शिव है अर्थात् सदा कल्याण या शान्त रूप है इन तीनों जीवों: की वृत्तियों में जिस मात्रा को जीव अधिक बढ़ाना चाहता है उसी में मन लगावे तो तो मन के लगने से प्राण और वाक् ये दोनों भी उसी में लग जाते हैं, जिसके कारण आत्मा में वही भाग अधिक बढ़कर तन्मय हो जाता है और उसी के द्वारा ईश्वर या परमेश्वर के भी उसी भाग में लीन हो जाता है यही उपासना का सार या तात्पर्य्य है।

## ईश्वरतन्त्र

जिस प्रकार जीव का तन्त्रायतन अर्थात् तन्त्रशाला यह शरीर है इसी प्रकार ईश्वर की तन्त्रशाला यह ब्रह्माण्ड है। ब्रह्माण्ड के भीतर जो कुछ है या जो कुछ उत्पन्न होता रहता है उनमें आधा भाग

ईश्वर के अधीन है अर्थात् जो मन, प्राण वाक् इस ईश्वर की आत्मा है उनसे उत्पन्न होते हुए ज्ञान, क्रिया, अर्थ सभी ईश्वर तन्त्र के भीतर माने जा सकते हैं और वे सब ईश्वर के अधीन हैं। अर्थात् उन ज्ञान, क्रिया, अर्थ इनकी उत्पत्ति में अथवा उनके संचालन में यह ईश्वर पूर्णतया स्वतन्त्र है। उनमें परमेश्वर के तन्त्र का साक्षात् संबन्ध नहीं है।

ईश्वर में प्राण तीन प्रकार का है—१–विराट्, २–हिरण्यगर्भ, ३–सर्वज्ञ। विराट् को वैश्वानर भी कहते हैं इन तीनों में विराट् प्राण ब्रह्माण्ड का संरक्षक है। अर्थात् प्रकृति नियम के अनुसार प्रतिक्षण इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ क्षीण होता रहता है उसकी पूर्ति करता हुआ इस ब्रह्माण्ड की स्थिति को ज्यों का त्यों बनाये रखता है।

दूसरा प्राण हिरण्यगर्भ है जो कि इस ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होते हुए भिन्न भिन्न पदार्थों को आवश्यकता के अनुसार ऊपर नीचे भिन्न भिन्न स्थानों में बाँटकर संचालन करता हुआ ब्रह्माण्ड के स्वरूप को सिलसिलेवार संपन्न करता है इस ब्रह्माण्ड का समस्त परिवर्तन इसके अधीन है।

तीसरा प्राण सर्वज्ञ है जिसको अन्तर्यामी भी कहते हैं, जिसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड के समस्त चेष्टाओं के कारण रूप, महाप्राण का उत्थान या संचालन होता रहता है। कोइ भी प्राण बिना ज्ञान के नहीं प्रवृत्त होता यह प्रजापति परिच्छेद में कहा जा चुका है। जिस प्रकार हमारे प्राण का संचालन हमारे शरीर के प्राज्ञआत्मा के अधीन होते हुए हम देखते हैं उसी प्रकार यहाँ भी प्राणों का संचालन किसी ज्ञान घन आत्मा के अधीन अवश्य होना माना जाता है। यद्यपि उसको हम अनुभव नहीं कर सकते, तथापि जिस प्रकार दूसरे शरीर के भीतर प्राण चेष्टा के कारण उसी शरीर के मन की इच्छा को सर्वथा हम अनुभव नहीं करते किन्तु अपने ही अनुसार उसके होने का भी पूर्णतया विश्वास रखते हैं ठीक उसी तरह ईश्वर के ब्रह्माण्ड में भी होती हुई सभी चेष्टाओं का कारण किसी न किसी मन की इच्छा के होने का विश्वास करना चाहिये वही ज्ञान घन सर्वज्ञआत्मा है।

ब्रह्माण्ड भर में ये ही तीन प्राण हैं, इनमें विराट् का, ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड के समस्त दैविक भौतिक अर्थों से है जो कि आत्मा के वाक् भाग से उत्पन्न होते हैं और हिरण्यगर्भ का सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड की समस्त क्रियाओं से है जो आत्मा के प्राण भाग से उत्पन्न होते हैं और सर्वज्ञ प्राण का संबन्ध ज्ञान से है जो आत्मा के मन भाग से उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार विराट् का संबन्ध अग्निदेवता से, हिरण्यगर्भ का संबन्ध वायुदेवता से और सर्वज्ञ का संबन्ध इन्द्र से है। इन्हीं तीनों के द्वारा ईश्वर की आत्मा का जीव की आत्मा के साथ ओतप्रोत संबन्ध है, जिसके द्वारा ईश्वर सर्वदा जीव पर अनुग्रह करता रहता है।

इन्हीं तीनों प्राणों को उपासक लोग भिन्न नामों से व्यवहार करते हैं। अर्थात् विराट् को विष्णु, हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा और सर्वज्ञ को शिव कहकर उपासना करते हैं। ये तीनों उपास्य देवता वास्तव में एक ही आत्मा के तीन स्वरूप हैं, इसीलिए तीनों एक ही हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में नाभि,

हृदय, सिर ये तीनों भिन्न होने पर भी एक ही शरीर के तीन भाग हैं, किसी अङ्ग की सेवा करने से उस एक शरीर की ही सेवा होती है उसी प्रकार इन तीनों देवताओं में किसी एक की भी उपासना करने से एक ही आत्मा की उपासना होती है, परन्तु यदि एक की उपासना करता हुआ दूसरे की उपासना का विरोध करें तो वह नाभि की सेवा करते हुए शिर काटने के बराबर अनुचित है। वास्तव में उपासना का मर्म यही है कि अपनी तीनों आत्माओं में से किसी आत्मा के द्वारा ईश्वर की उसी आत्मा तक पहुँ-चना और उसमें लय होकर ईश्वर में सायुज्य हो जाना।

## परमेश्वरतन्त्र

सूर्य को द्यौलोक और इस भूमि को पृथ्वीलोक और इन दोनों के बीच के वायुमण्डल को अन्तरिक्ष कह कर एक त्रैलोक्य माना जाता है। इस प्रकार के त्रैलोक्य सहस्रों की संख्या में जिसके चारों ओर विद्यमान् हैं ऐसा एक सच्चिदानन्दमय मण्डल अर्थात् जिसके किरण सत्ताघन हैं, विज्ञानघन और आनन्दघन है वही सच्चिदानन्द रूपी सूर्य अपने विशाल प्रकाशमण्डल के साथ एक ईश्वर कहलाता है। इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर जिस अनन्त विशाल परमाकाशमण्डल में विद्यमान है वही परमाकाश-मण्डल अपने अन्तर्गत समस्त मन, प्राण, वाक् के साथ समस्त उनके विकारों के साथ एक परमेश्वर कहलाता है। जीव और ईश्वर जिस प्रकार अपनी आत्मा को केन्द्र बनाकर कुछ दूर अपना आयतन बनाकर सीमाबद्ध होते हैं उस प्रकार यह परमेश्वर न तो अपना केन्द्र ही रखता है और न उसके आयतन की सीमा ही होती है। सीमाबद्ध आयतन होने के कारण जिस प्रकार एक ईश्वर की सीमा के पश्चात् दूसरे ईश्वर का भी इस अनन्त आकाश में अवकाश मिलता है और इसलिए अनन्त ईश्वर का होना संभव हो जाता है, उसी परमेश्वर कदापि संख्या में अनन्त नहीं हो सकता जब कि वह सर्वत्र ही वर्तमान है उसकी सीमा ही नहीं है तो फिर दूसरे परमेश्वर के लिए अवकाश मिलना ही कैसे संभव हो सकता है इसलिए सिद्धान्त है कि परमेश्वर देश और काल में अनन्त होकर भी संख्या में सदा एक ही है।

इस परमेश्वर का यही विशाल अनन्त परमाकाश ही तन्त्रशाला है इस विशाल विश्वमण्डल में जो जहां कुछ हो चुका है या जो कुछ उत्पन्न होने वाला है सब कुछ इसी तन्त्रशाला के अन्दर समझना चाहिए वे सब इस परमेश्वर के ही अधीन है अथवा यों भी कह सकते हैं कि वे ही सब कुछ मिलेजुले रूप में एक परमेश्वर है।

इस परमेश्वर की आत्मा अर्थात् मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न होते हुए ज्ञान, क्रिया, अर्थ ही सर्वत्र व्याप्त हैं। यह परमेश्वर इन तीनों ज्ञान का निधि है और इन तीनों से यह महाजगत् परिपूर्ण है, अथवा परमेश्वर ही परिपूर्ण है। इसी परमेश्वर रूपी निधि से आवश्यकतानुसार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मन, प्राण, वाक् को अथवा उसके विकार ज्ञान, क्रिया, अर्थ को लेकर अनन्तानन्त ईश्वर अपना स्वरूप या जीवन धारण करते हैं और फिर उन ईश्वरों से उन्हीं तीनों रसों को पाकर अनन्त जीव भी अपना स्वरूप या जीवन धारण करते रहते हैं। जीव के नाश होने पर उनके स्वरूपारम्भक सभी रस जिस प्रकार ईश्वर में लीन हो जाते हैं उसी प्रकार ईश्वर के समाप्त होने पर उनके सब रस परमेश्वर में लीन हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि वे सब रस जीव और ईश्वर के रहते भी परमेश्वर में ही लीन हैं, क्योंकि

जीव और ईश्वर भी परमेश्वर के आयतन से बाहर नहीं है। केवल जिन रसों से जीव और ईश्वर का स्वरूप बनाया वे स्वरूप केवल नष्ट हो जाते हैं। किन्तु वे रस जीव ईश्वर के पहले या पीछे भी ज्यों के त्यों रहते हैं क्योंकि वे नित्य परमेश्वर रूप हैं।

परमेश्वर के प्राण भी तीन प्रकार के हैं १–अग्नि, २–वायु, ३–इन्द्र—ज्ञान के उदय होने का कारण इन्द्र है, अर्थों की उत्पत्ति और संचालन का कारण वायु है और प्रत्येक वस्तु में से विस्रस्त (झड़ा हुआ) अंश की पूर्ति करके उस वस्तु के स्वरूप की रक्षा रखना अथवा यज्ञ के स्वरूप में वस्तु की जीवन रक्षा रखना अग्नि का काम है। इन्हीं अग्नि, वायु, इन्द्रों को, जो थोड़ी मात्रा ईश्वर के शरीर को बनाते हैं, उन्हीं को वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ कहते हैं और उन तीनों की भी थोड़ी मात्राओं से जब जीव का स्वरूप बनता है तो उन्हीं तीनों को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि आश्रय भेद और मात्रा भेद से नाम भेद होने पर भी वास्तव में परमेश्वर का अवयव ये तीनों अग्नि, वायु, इन्द्र ही सर्वत्र व्याप्त होकर इस चराचर जगत् का संचालन करते हैं। अथवा इन्हीं तीनों अर्थों को ज्ञान, क्रिया के साथ जगत् कहते हैं, यही परमेश्वर का रूप है।

## पारतन्त्र्यसूत्र

जीव अनन्त है ये सब प्रत्येक अपना-अपना पृथक् तन्त्र रखते हैं किन्तु सभी जीव एक ईश्वर के साथ इस प्रकार बंधे है कि यदि ईश्वर न रहे तो ये सब जीव उसके साथ ही विलीयमान हो सकते हैं। जिस प्रकार सहस्रों जलपात्रों में भिन्न–भिन्न प्रतिबिम्ब अपना–अपना पृथक् तन्त्र रखते हैं तथापि वे सब एक ही आकाश वाले सूर्यतन्त्र से बने हैं इसी बन्धन को अनुग्रह कहते हैं क्योंकि सूर्य अपनी सत्ता से उन प्रतिबिम्बों में सत्ता प्रदान करता है। सूर्य ही की सत्ता से उन सब की सत्ता है इसी प्रकार ईश्वर ही अपनी सत्ता से सब जीवों में सत्ता प्रदान करता है। ईश्वर की सत्ता से ही सब जीवों की सत्ता है यही ईश्वर का जीवों पर अनुग्रह है।

ठीक इसी प्रकार अनन्तानन्त ईश्वरों का संबंध एक परमेश्वर के साथ है, परमेश्वर के गर्भ में अनन्तानन्त ईश्वर हैं और एक-एक ईश्वर के गर्भ में अनन्तानन्त जीव हैं। इस प्रकार परमेश्वर का ईश्वरों के साथ और ईश्वर का जीवों के साथ अनुग्राहक अनुगृहीत भाव है। अनुग्रह शब्द का अर्थ पकड़ने के हैं, जैसे गिरते हुए को हाथ का सहारा देकर कोई पकड़ ले तो वह पकड़ना उसका अनुग्रह होगा। इसी अनुग्रह में जीव और ईश्वर दोनों का पारतन्त्र्य है अर्थात् जीव वा ईश्वर दोनों ही अपने अपने तन्त्र में पूर्ण स्वतन्त्र हैं किन्तु जीव की सत्ता ईश्वर परतन्त्र है। ऐसे ही ईश्वर की सत्ता परमेश्वर परतन्त्र है।

सम्पूर्ण जीवों पर एक ईश्वर जो अक्षर है व्याप्त होकर रहता है और उन जीवों को सब तरह से भोगता है। अर्थात् उनको इच्छानुसार उत्पन्न करता है और उत्पन्न हुओं का रस लेता रहता है और उनकी कमी को अपना रस देकर पूरा करता रहता है और अन्त में अपने ही भीतर उनको लय भी कर लेता है। इसी प्रकार समस्त ईश्वरों पर परमेश्वर भी व्याप्त होकर उनको भोगता है और ज्यों का त्यों

बनाये रखता है। जीवों की आत्मा ईश्वर से आती है और ईश्वरों की आत्माएं परमेश्वर से आती है। परमेश्वर स्वयं आतमघन है, उसमें आतमा और कहीं से नहीं आती। जीव, ईश्वर और परमेश्वर इन तीनों का संबंध राजा, सम्राट और स्वराट् के अनुसार भी समझना चाहिये राजा अपने राष्ट्र का स्वतन्त्र है किन्तु उसकी सत्ता सम्राट् के अधीन है और सम्राट उससे रस भी लिया करता है इसी प्रकार सम्राट् अपने राष्ट्र में स्वतन्त्र है, किन्तु उसकी सत्ता स्वराट् के परतन्त्र है और वह उससे सभी लेता है इसके अतिरिक्त इन तीनों का संबंध जल, बुदबुदा और प्रतिबिम्ब के अनुसार भी है—जल के परतन्त्र बुदबुद है और बुदबुद के परतन्त्र उसमें प्रतिबिम्ब है इत्यादि और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार विजातीय पारतन्त्र्य का विचार हुआ है। अब आगे सजातीय पारतन्त्र्य के विषय में कहा जाता है।

## सजातीयपारतन्त्र्य

पहले यह कहा जा चुका है कि जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीव अपना भिन्न तन्त्र रखता है तो इस कथन से यह निश्चित होता है कि जीव ईश्वर के प्रति परतन्त्र होने पर भी जीवों का जीवों के साथ पारतन्त्र्य नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर का भी परमेश्वर के प्रति पारतन्त्र्य नहीं है। किन्तु किसी ईश्वर का ईश्वर के साथ पारतन्त्र्य नहीं है ऐसी शंका किसी को हो सकती है जिसको दूर करने के लिये कहा जाता है वास्तव में जीवों की स्थिति दो प्रकार से है एक "व्यधिकरण" रूप से और दूसरी "व्याप्यव्यापक" रूप से इनमें पहला वह है जैसा कि दो मनुष्यों का परस्पर संवन्ध है। उन दोनों का आयतन भिन्न होने के कारण उनमें "वैयधिकरण्य" है। ऐसी स्थिति में जीवों का जीवों के साथ पारतन्त्र्य न होना माना जासकता है, इसी प्रकार के व्यधिकरण ईश्वरों में भी पारतन्त्र्य का न होना माना जा सकता है, किन्तु जहाँ व्याप्यव्यापक भाव है उन में एक जीव के दूसरे सहस्त्रों जीव आरम्भक होते हैं। अथवा एक ईश्वर के कई ईश्वर आरम्भक होते हैं ऐसी स्थिति में जीवों का जीव के साथ, ईश्वर का ईश्वर के साथ पारतन्त्र्य अवश्य माना जा सकता है।

जैसा कि मनुष्य के शरीर में सबसे छोटा जीव "सृमर" है। सृमर के शरीर में दूसरे किसी जीव का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु अनेक सृमर के मेल से दूसरे प्रकार का जीव उत्पन्न होता है, जिसे भ्रूण कहते हैं। वह शुक्र में, शोणित में, अस्थि प्रभृति में भी असंख्यात रूप में रहते हैं, यद्यपि वे सब सृमर या भ्रूण जीव अपनी भिन्न-भिन्न जीवन परिस्थिति रखते हैं इसलिये अपने ढ़ंग में स्वतन्त्र हैं किन्तु उनकी सत्ता हमारे शरीर की सत्ता के अधीन हैं। इसलिये हमारे शरीर के साथ परतन्त्र हैं। हमारे शरीर के आयतन के भीतर उनका आयतन होने के कारण हमारे साथ उनका व्याप्यव्यापक भाव है, इसलिये उनको व्यापक एक जीव का शरीर के आरम्भक होने से परतन्त्र कहते हैं।

इसी प्रकार ईश्वर भी जो सब से बड़ा एक मुख्य है वह सच्चिदानन्दघन है और कृष्ण है, अर्थात् रूप रङ्ग रहित है और कितने ही ब्रह्माण्डों का स्वामी है, जिसका आयतन के भीतर सहस्त्रों सूर्य तपते हैं. वही एक मुख्य ईश्वर है, जिसके शरीर के आरम्भक और भी कितने ही छोटे बड़े ईश्वर माने जाते हैं, जैसाकि एक-एक सूर्य एक-एक ब्रह्माण्ड का स्वामी ईश्वर है। वह वर्ण में श्वेत है और उसके आयतन के भीतर बहुत सी त्रिलोकी हैं, ऐसे त्रैलोक्य का भी भिन्न एक ईश्वर है। जिसकी नकल पर

मनुष्य जीवों की सृष्टि होती है । इस त्रैलोक्य में भी ये भिन्न-भिन्न तीनों लोक भिन्न-भिन्न तीन ईश्वर हैं, जैसा कि पृथ्वी एक ईश्वर की छोटी मूर्ति है इस प्रकार ये छोटे बडे सभी ईश्वर अपने गर्भ में अनन्तानन्त जीवों को उत्पन्न करते हुए रखते हैं। अपने-अपने जीवों के साथ एक-एक ईश्वर दूसरे ईश्वर के साथ व्याप्यव्यापक भाव से रहते हैं और परतन्त्र हैं। इस प्रकार जीवों के साथ और ईश्वर के साथ व्याप्यव्यापक भाव की दशा में पारतन्त्र्य है और वैयधिकरण्य अलग हद्द, भिन्न आयतन की दशा में स्वातन्त्र्य है ।

## जगत् व्यपदेशसूत्र

### (व्यपदेश--प्रयोग)

जीव, ईश्वर और परमेश्वर ये तीनों व्यूहानुव्यूह हैं। इनमें कितने ही स्कन्धव्यूहों के व्यूहों से स्वरूप का निर्माण होता है। प्रत्येक स्कन्धव्यूह में अनेक आत्माओं का संग्रह होता है और प्रत्येक आत्मा अपना रूप, शरीर और वित्त पृथक्-पृथक् रखती है अर्थात् मन, प्राण, वाक् ये तीनों मिलकर एक अनुव्यूह आत्मा हैं। ज्ञान, क्रिया, अर्थ ये ही तीनों आत्मा के उद्बुद्ध रूप हैं और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनो उस आत्मा के शरीर हैं और प्रबल आत्मा अन्य निर्बल आत्माओं से जो कुछ अपने आयतन में संग्रह करता है वह उस आत्मा का वित्त है। इस प्रकार आत्मा, रूप, शरीर और वित्त चारों मिलकर एक अनुव्यूह होता है। ऐसे अनेकानेक अनुव्यूहों से एक स्कन्ध व्यूह होता है और कितने ही स्कन्ध व्यूहों के मिलाव से एक वह व्यूह उत्पन्न होता है जिसको जीव कहते है। यह जीव तीन जाति के हैं। एक खनिज जो असंज्ञ है जैसे हीरा, माणिक इत्यादि। दूसरा जीव उद्भिज्ज है जो अन्तः संज्ञ है—जैसे वृक्षादि । तीसरा जीवज है जो ससंज्ञ है-जैसे मनुष्यादि। खनिज में केवल वैश्वानर प्राण ही आत्मा होता है । उद्भिज्ज में वैश्वानर और तैजस इन दो प्राणों की आत्मायें हैं और जीवज में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों प्राणों की आत्माएं हैं। ऐसे तीनों प्रकार के अनेकानेक जीवों से एक नया वह व्यूह उत्पन्न होता है जिसे ईश्वर कहते हैं। ऐसे अनन्त ईश्वर व्यूहों से वह एक असीम व्यूह सदा सिद्ध रहता है जिसे परमेश्वर कहते है। परमेश्वर एक ही है, इसीलिए उससे नया व्यूह उत्पन्न नहीं होता। इतना विषय पहले कहा जा चुका है, अब इतना और कहना है कि जीव व्यूह की जो आत्मा है उसका रूप तो ज्ञान, क्रिया और अर्थ आत्मा से पृथक् नहीं हो सकता किन्तु उसके आधार जो अतिरिक्त तीन भाग हैं—वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनों को यद्यपि उस आत्मा का शरीर माना गया है तथापि उनमें मुख्य शरीर का भाग प्रजा है, जो कि अग्नि, सोम, यम, आप् इन चारों देवताओं के संबन्ध से पञ्चदेव पञ्चभूत ये दसों अपने विकारों से एक प्रकार का पुद्गल उत्पन्न करते हैं, वही स्थूल होने के कारण मुख्य शरीर है। यज्ञ उसी का जीवन निर्वाह है, और वेद भी उसी का विस्तार है। तात्पर्य्य यह है कि आत्मा और उसके रूप से अतिरिक्त वेद, यज्ञ, प्रजा के भेद से जो कुछ शरीर का भाग है या वित्त का भाग है वही उस आत्मा का जगत् है ।

जिस प्रकार शरीर जीव का तन्त्र है और जिस प्रकार ब्रह्माण्ड ईश्वर का तन्त्र है उसी प्रकार यह असीम जगत् परमेश्वर का तन्त्र है। शरीर, अण्ड और जगत् ये तीनों आपेक्षिक पर्याय शब्द है अर्थात्

एक ही विषय को लक्ष्य कर के जीव सम्बन्ध से शरीर, ईश्वर के सम्बन्ध से अण्ड और परमेश्वर के सम्बन्ध से जगत् कहलाता है। तथापि परमेश्वर का जगत् उसका अण्ड और शरीर भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार जीव के शरीर को भी उसका ब्रह्माण्ड या उसका जगत् कह सकते हैं। इस प्रकार जीव, ईश्वर और परमेश्वर के भेद से यह जगत् भी तीन भिन्न-भिन्न प्रकार का है। किन्तु जीव का जगत् ईश्वर के जगत् में और ईश्वर का जगत् भी परमेश्वर के जगत् में अन्तर्गत होकर रहता है जीव के जगत् से बाहर दूसरे जीव का जगत् या ईश्वर का जगत् है। इसी प्रकार ईश्वर के जगत् से बाहर भी दूसरे ईश्वर का जगत् रहता है। किन्तु परमेश्वर के जगत् से बाहर कहीं कुछ नहीं है। परमेश्वर का जगत् ही परमेश्वर है। ईश्वर या जीव का जगत् भी ईश्वर या जीव की आत्मा से उत्पन्न होकर उसी आत्मा के आश्रय से इस प्रकार मिलाजुला रहता है कि जिससे ईश्वर के जगत् को ईश्वर से या जीव के जगत् को जीव से भिन्न कदापि नहीं कह सकते।

जीवतन्त्र का नाम शरीर है;
ईश्वर ,, ,, ,, अण्ड है;
परमेश्वर,, ,, ,, जगत् है; } शरीर, अण्ड, जगत्।

जीव, ईश्वर, परमेश्वर के तन्त्रों को शरीर, अण्ड, जगत् तीनों नामों से भी बोल सकते हैं।

जीव का तन्त्र अन्य जीव के तन्त्र से भिन्न है किन्तु ईश्वर के तन्त्र के अन्तर्गत है। ऐसे ही ईश्वर का तन्त्र अन्य ईश्वर के तन्त्र से भिन्न है किन्तु परमेश्वर के तन्त्र के अन्तर्गत है।

## आत्मत्रयसाम्यसूत्र

पहले कहा जा चुका है कि जीव में ३ आत्मायें हैं— वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इसी प्रकार से ईश्वर में तीन आत्माएं हैं—विराट्, हिरण्यगर्भ और अन्तर्यामी या सर्वज्ञ। इसी प्रकार परमेश्वर में तीन आत्मायें हैं—अग्नि, और वायु और इन्द्र। अधिकरण या व्यूह भेद से इन आत्माओं के भेद होने पर भी वास्तव में अग्नि, विराट् और वैश्वानर ये तीनों एक ही पदार्थ हैं अर्थात् अग्नि के ही ये तीनों नाम हैं और यह वाक् प्रधान है। यह तीनों अधिकरणों या व्यूहों में अर्थो की सृष्टि किया करता है— इसी प्रकार वायु, हिरण्यगर्भ और तैजस ये तीनों भी एक ही पदार्थ हैं और यह प्राण प्रधान है तीनों व्यूहों में क्रियाओं को उत्पन्न किया करता है। इसी प्रकार इन्द्र, अन्तर्यामी और प्राज्ञ ये तीनों भी एक ही पदार्थ है अर्थात् इन्द्र ही है, यह मन प्रधान है। तीनों व्यूहों में ज्ञान भाग को उत्पन्न करना इसका काम है। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् के सम्बन्ध से तीनों व्यूहों में समान जाति के तीन आत्मा होने से तीनों की समानता है।

| ज्ञानोत्पादक | क्रियोत्पादक | अर्थोत्पादक |
|---|---|---|
| इन्द्र रूप | वायु रूप | अग्नि रूप |

जीव की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही प्राज्ञ, तैजस, वैश्वानर कहते हैं।

ईश्वर की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही सर्वज्ञ, (अन्तर्यामी) हिरण्यगर्भ, विराट् कहते हैं।

परमेश्वर की आत्मा—मन, प्राण, वाक् को ही इन्द्र, वायु, अग्नि कहते हैं।

## आकाशत्रयसाम्य

तीन आकाश दहरोत्तर भाव से सदा वर्तमान रहते हैं ऐसा माना गया है कि जीव का जितना शरीर है उसको शरीराकाश कहते हैं और उस शरीर का केन्द्र हृदय है, जिसके भीतर भी "दहरपुण्डरीक" के नाम से एक छोटा सा आकाशमण्डल है। उसी में शोणित की उत्पत्ति होती है। इस शरीर भर में जितने प्रकार के प्राण हैं जिनसे कि देवता और भूत उत्पन्न होते रहते हैं वे सब उस छोटे से दहरपुण्डरीक नाम के हृदयाकाश में विद्यमान होते हैं। इन दोनों आकाशों को अर्थात् हृदयाकाश और शरीराकाश को जीव के संबन्ध के कारण एक ही मानते हैं।

अब दूसरा आकाश ब्रह्माण्ड का है अर्थात् इस भौतिक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक है वह शुद्ध ब्रह्माण्ड आकाश है और ऐसे ऐसे सहस्रों सूर्य जिस सच्चिदानन्द सूर्य के चारों ओर फिरते हैं। उसका ज्ञान प्रकाश जहाँ तक व्याप्त है वह यही ब्रह्माण्ड आकाश है इन दोनों आकाशों को ईश्वर के सम्बन्ध होने के एक ही मानते हैं।

अब तीसरे आकाश को परमाकाश कहते हैं यह परमोव्योम असीम है। इसी परमाकाश अन्तर्गत असंख्यात अण्डाकाश हैं और एक एक अण्डाकाश के अन्तर्गत असंख्यात शरीराकाश हैं। इस प्रकार एक बड़ी सीमा में छोटी सीमा और फिर उसमें छोटी सीमा की वस्तु यदि रक्खी जाय तो इसको ❀ 'दहरोत्तरभाव' कहते हैं।

वैज्ञानिक महर्षियों की सूक्ष्म परीक्षा से यह निश्चित हो चुका है कि जितने प्रकार के प्राण या मन वाक् के विकार उस परमाकाश में है वे सब उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्डाकाश में भी थोड़ी मात्रा में रहते हैं और ब्रह्माण्डाकाश में जितने प्राण हैं या जितने भूत और देवता हैं वे सब इस छोटे शरीराकाश में थोड़ी मात्रा में हैं। तात्पर्य्य यह कि इन तीन आयतनों के छोटे बड़े होने के कारण मात्रा या परिमाण में भेद अवश्य है। परन्तु उन प्राणों की जाति तीनों में बराबर है इसीलिये पिण्ड की परीक्षा करने से अण्ड की और उसके द्वारा परमव्योम की परीक्षा हो जाने का विश्वास रखते हैं।

## अनाहतनाद सूत्र
## (बिना ठोकर खाया हुआ)

जीव के शरीर में एक प्रकार की गरमी पाई जाती है उसे वैश्वानर + अग्नि कहते हैं। यह अग्नि दो प्रकार से उत्पन्न होता है। एक प्राकृतिक नियम से दूसरा कृत्रिम व्यापार से तात्पर्य्य यह है कि सूर्य

---

❀ दहर का अर्थ छोटा है उससे उत्तर बड़ा आकाश रहता है इसी से इसको दहरोत्तर कहते हैं।

+ वैश्वानर—विश्व=लोक, नर=स्वामी तीनों लोक के स्वामी तीन प्राणों के संयोग से उत्पन्न अग्नि वैश्वानर को कहते हैं और सूर्य का प्राण भी इस शरीर पर अधिकार करता है।

ग्रौर पृथ्वी का प्राण इस शरीर पर अपना अधिकार करता है इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा प्राण अन्त-रिक्ष का है वह एक प्रादेश अर्थात् १० ।। अंगुल का होकर ठीक हृदय से बन्धा हुआ रहता है उस प्राण को व्यानवायु कहते हैं इसी व्यान के आधार पर सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण से संयोग करता है। सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को दबाना चाहता है किन्तु पृथ्वी का प्राण हृदय से बन्धे रहने के कारण एकदम नष्ट नहीं होता, केवल दबकर व्यान के नीचे की छोर पर आकर फिर दबाव की जगह न पाकर एकदम उठने के लिए जोर करता है उसी के बल से सूर्य का प्राण धक्का खाकर पीछे की ओर लौटता है किन्तु वह भी सर्वदा नष्ट न होकर व्यान के ऊपरी छोर तक आकर फिर नीचे की ओर आने का जोर लगाता है। इसी प्रकार दोनों प्राणों के बारी-बारी से ऊपर नीचे दबाव पड़ने को प्राणापान व्यापार कहते हैं। सूर्य के प्राण को प्राण ही कहते है और पृथ्वी के प्राण को अपान। पंखे के अनुसार इन दोनों प्राणों के ऊपर नीचे हिलने से कुछ शरीर की वायु ऊपर नासिका होकर निकलता है और प्राण के भीतर जाने पर बाहर की वायु शरीर के भीतर घुसती है, इसी को श्वासोच्छ्वास कहते हैं व्यानवायु पर इस प्रकार प्राण और अपान का जो संघर्षण होता है उसी से एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है उसे ही वैश्वानर-अग्नि कहते हैं। यह इस अग्नि की उत्पत्ति प्राकृतिक नियम से है।

इस प्रकार उत्पन्न हुआ अग्नि शरीर के धातुओं का दाहन करने लगे इसीलिये उस अग्नि की रक्षा के अर्थ अन्न भोजन करना पड़ता है क्योंकि अग्नि का स्वभाव कुछ नकुछ खाते रहने का है। भोजन किये हुए अन्न से भी अग्नि उत्पन्न होता रहता है जिससे इस शरीर की रक्षा होती है, इस प्रकार अग्नि की उत्पत्ति कृत्रिम व्यापार से की जाती है।

अग्नि का स्वभाव है कि जलते समय जलने वाली चीजों में से जमे जमाये बहुत से भौतिक वायुओं को उधेड़ कर बाहर फेंकता है और बहुत सी बाहरी भौतिक वायुओं को अपने जलने के काम में लेता है। इसीलिये भीतर वाले वायु को बाहर के वायुओं से जो मिलने का वेग उत्पन्न होता है उससे एक प्रकार का शब्द उत्पन्न हुआ करता है। तात्पर्य्य यह है कि जीव के शरीर में इसी प्रकार वैश्वानर-अग्नि के जलते रहने से जो उसके जलने का शब्द उत्पन्न होता है उसे ही "अनाहतनाद" कहते हैं। यह नाद जब तक प्राणी का जीवन है, जब तक शरीर में अग्नि है तब तक बना रहता है किन्तु जब प्राणी के मृत्यु का समय समीप आता है तो अग्नि बन्द होने लगती है तो वह नाद भी धीमा पड़ जाता है यहाँ तक कि मरने के समय सर्वथा बन्द हो जाता है। यह तो जीव के शरीर में अनाहतनाद का कारण है। किन्तु जिस प्रकार जीव के शरीर में तीनों लोक के तीन प्राण एकत्र होकर प्राणायान करते हैं उसी प्रकार ईश्वर के ब्रह्माण्ड में भी तीन लोक हैं और तीनों के प्राण परस्पर मिलते हैं। इनीलिये वहाँ भी अन्तरिक्ष में पृथ्वी के प्राण सूर्य के प्राण के साथ संघर्षण होते रहने के कारण जो एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है उसे वैश्वानर प्राण कहते हैं। और शरीर के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। इसे हम बाहर के अग्नि को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं तो इस से हम अनुमान भी कर सकते हैं कि जिस प्रकार मेरे शरीर में अग्नि के जलन से शब्द अर्थात् अनाहतनाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में भी उसी अग्नि के जलने से वह अनाहतनाद अवश्य उत्पन्न होता होगा।

किन्तु सूक्ष्म होने के कारण हमारी श्रोत्र-इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती अथवा ऐसे समझिये कि यदि शब्द होकर न हो, तभी शब्द सहन किया जाता है परन्तु शब्द एक रस होता ही रहे उसका विच्छेद यदि हम ग्रहण न करें तो उस शब्द को भी हम ग्रहण नहीं कर सकते। यही कारण है कि सदा सर्वदा एक रस अविच्छिन्न अनाहतनाद के पेट में खड़े हुए हम उस अनाहतनाद को ग्रहण नहीं करने पाते परन्तु यदि ब्रह्माण्ड में अग्नि है तो ब्रह्माण्ड में अनाहतनाद होना भी प्रकृति नियम के अनुसार आवश्यक है। हम विश्वास रखते हैं कि हमारे अनुसार ईश्वर भी अपने अनाहतनाद को अपने जीवन पर्यन्त अवश्य ही सुनता होगा।

आजकल बहुत से विद्वानों का यह विश्वास है कि कान जब अंगुली से बन्द करते हैं तो कान के छिद्र द्वारा प्रवेश करते हुए बाहर वायु को प्रवेश का मार्ग अत्यन्त सूक्ष्म मिलता है इसलिए उसमें वायु को प्रवेश करते समय संकुचित होकर घन होना पड़ता है इसलिये वायु के प्रवेश करते समय शब्द की उत्पत्ति होती है यह उत्पत्ति कर्ण प्रदेश में ही होती है न कान के भीतर है न बाहर है इसीलिए इस शब्द को शरीर के भीतर मानना भूल है इस पर अधिक विचार करने से यही सिद्ध होता है कि यह शब्द शरीर के भीतर अग्नि के ही जलने का है जैसा कि छान्दोग्य श्रुति में लिखा है बाहर से वायु का प्रवेश करते समय कर्णरन्ध्र में शब्द की उत्पत्ति मानना अधिक विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि हम देखते हैं कि बाहर यदि प्रचण्ड वायु चलता हो अथवा सर्वथा वायु शान्त होकर हमें कुछ भी प्रतीत न होता हो इन दोनों अवस्थाओं में अंगुली से कान बन्द करने पर इकसार अनाहतनाद सुनने में आता है न कभी घटता है न कभी बढ़ता है यदि बाहरी वायु कारण होता तो उसके घटने बढ़ने पर शब्द के घटाव-बढ़ाव में अवश्य ही कुछ परिवर्तन होता इसके अतिरिक्त एक प्रबल प्रमाण यह है कि जहां बाहरी वायु चलता रहता है वह कर्णरन्ध्र या नासिका मुख आदि में अवश्य ही प्रवेश करता रहता है किन्तु उससे हम शब्द का अनुभव कदापि नहीं करते प्रत्युत किसी समय जब हम निर्जन एकान्त स्थान में बैठते हैं जहां वायु का सञ्चालन भी सर्वथा रुका हुआ हो और हमारी इन्द्रियाँ भी रोग के कारण कुछ निर्बल हो गयी हो तो ऐसी स्थिति में बिना अंगुली दबाये भी इस अनाहतनाद का सन्नाटा देर तक सुनते रहते हैं इसका अनुभव योगाभ्यास करने वालों को समय-समय पर अधिक होता है वे अंगुली से कान नहीं दबाते तथापि अनाहतनाद बराबर सुनते रहते हैं इन बातों से सिद्ध होता है कि कान में वायु का मार्ग तंग करने से इस शब्द की उत्पत्ति नहीं है अवश्य ही इसका कोई दूसरा कारण है संभवतः वह दूसरा कारण अग्नि का कारण अग्नि का जलना ही हो सकता है क्योंकि जब कभी बाहर हम अधिक अग्नि को गम्भीरता से जलते हुए पाते हैं तो किसी समय उसके जलने का सनसनाहट शब्द भी सुनते हैं उस शब्दसे यदि इसकी तुलता करते हैं तो उन दोनों में बहुत कुछ समानता प्रतीत होती है, इसलिए विश्वास करना चाहिए कि यह अनाहतनाद शरीर के अग्नि के प्रज्वलन का ही है।

शब्द जहां कहीं उत्पन्न होता है वहाँ कुछ न कुछ आघात अवश्य होता है, आघात के होते ही सबसे प्रथम जो शब्द उत्पन्न होता है उसको एक बिन्दु रूप कल्पना कर सकते हैं, उस बिन्दु से फिर अनन्त शब्द उत्पन्न होकर उस बिन्दु के चारों ओर दूर-दूर तक इस प्रकार वे शब्द फैलते हुए चलते हैं

जैसे किसी अग्नि के कणों से प्रकाश की धारा चारों ओर फैलती हो या जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर प्रकाश फैला हुआ है। इसमें भेद इतना ही है कि अग्नि का प्रकाश ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अग्नि कण से फिर दूसरी-दूसरी प्रकाश की धारा सिलसिलेवार पीछे से आती रहती है इसीलिए बिम्ब से प्रकाश की चरम सीमा तक प्रकाश भरे हुए से प्रतीत होते हैं किन्तु यह शब्द आघात से उत्पन्न होता है वह आघात यदि एक ही बार हुआ तो वह पहला शब्द बिन्दु उत्पन्न होते ही अनन्तानन्त शब्दों को उत्पन्न करके आप् मर जाता है इसीलिए जो शब्द की धारा आगे बढ़ती जा रही है उसके पीछे फिर वह शब्द नहीं रहता। इसकी गति ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार पानी में एक ढेला डालने पर उस जगह से चारों ओर लहर का चक्कर नया-नया बनता हुआ चारों ओर फैलता हुआ जाता है।

इस नाद का जो केन्द्र अथवा सबसे प्रथम जो शब्द उत्पन्न होता है, उस आघात बिन्दु से चारों ओर फैलते हुए शब्दों को नाद कहते हैं। यही नाद मेरे कर्णप्रदेशों में आता है तब हम शब्द सुनते हैं इस बिन्दु और नाद की समष्टि रूप में 'बीज' कहते हैं उसी बीज का नाम ओम् है–वेद जो ऋक्, यजु, साम के भेद से तीन प्रकार का है वह वास्तव में वाक् है अर्थात् शब्द है यह शब्द ईश्वर के शरीर में हृदय वैश्वानर से उत्पन्न होता हुआ अनाहतनाद जो ईश्वर के शरीर में अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है उसका बिन्दु ईश्वर का हृदय है और उसका नाद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। उसी नाद से सब देवता और सभी भूत जो वास्तव में वाक् ही के भेद हैं, उत्पन्न होते रहते हैं। इसीलिए वह बिन्दु या उसका नाद सम्पूर्ण जगत् का बीज रूप होता है उसी ईश्वर के अनाहतनाद से उत्पन्न होता है इसीलिए उसको भी 'ओम्' शब्द से कहते हैं इसको ओम् कहने के दो कारण हैं एक तो यह है कि यदि 'ओम्' शब्द को अविच्छिन्न रूप से बोलते ही रहे तो उसकी ध्वनि अनाहतनाद की ध्वनि से सर्वथा मिलती जुलती है यदि अनाहतनाद को ओम् के ध्वनि में मिलान करें तो भिन्नता नहीं प्रतीत होगी। अनाहतनाद को सुनकर ऐसी कल्पना हो उठती है कि मानों यह जीव तथा ईश्वर भी ओम् शब्द का निरन्तर उच्चारण कर रहा है बस इस सादृश्य को देखकर ही उस अनाहतनाद रूपी जगत् बीज को 'ओम्' यह नाम दिया है।

ओम् नाम रखने का दूसरा कारण यह है कि ओम् शब्द अह-अम् इन दोनों शब्दों के मेल से बना है इन दोनों में दो-दो वर्ण हैं प्रथम स्वर और दूसरा ऊष्मा है दूसरे में प्रथम स्वर और दूसरा स्पर्श है तात्पर्य्य यह है कि शब्दों में सबसे प्रथम शब्द 'अ' है जो कि स्थान और करण इन दोनं के विवृत दशा में कण्ठ से निकलता है इसके उच्चारण में मुख के किसी स्थान का किसी कारण से स्पर्श नहीं होता इसलिए इसका उच्चारण घन या स्थूल न होकर सूक्ष्म, स्वच्छ और अत्यन्त निर्मल है यह केवल प्रयत्न के बल से ही व्यक्त हुआ है यदि प्रयत्न में कमी की जाय तो यह शीघ्र ही अव्यक्त हो जायगा इसलिये शब्द की अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था सब से प्रथम अकार में ही पाई जाती है यही अकार मुख के पांचों स्थानों में गिराकर बोलने से इकार आदि स्वर बन जाते हैं और इसी अकार में ऊष्मा और स्पर्श मिलाने से व्यन्जन अक्षर बन जाते हैं यही बात ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में लिखा है जैसाकि **"अकारो वै सर्वा वाक्। सैषाम्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना, बह्वी, नानारूपा भवति"** वाक् आत्मा से २ प्रकार की सृष्टि होती है १ शब्दमयी और २ भूतमयी इनमें शब्दमयी सृष्टि उपरोक्त अनुसार अ-ह-म से अर्थात्

अकार पर ऊष्मा और स्पर्श के संयोग से ही होती है इसलिये उसका बीज ओम्, माना गया है—व्याकरण के नियम से अकार के पश्चात् म करके पूर्व बीच का ऊष्मा 'ओ' कार में बदल जाता है इसी नियम से अ-ह-म को ओम् बोलते है। तात्पर्य्य यह है कि शब्दमयी सृष्टि का बीज जो ओम् है वही भूतमयी सृष्टि का बीज है। क्योंकि ईश्वर के अनाहतनाद से ही सम्पूर्ण शब्दमयी सृष्टि हुई है और उसी से भूतमयी भी हुई है इसलिये हम कह सकते हैं कि यह भूतमय सम्पूर्ण जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये भूतमय जगत् जो अर्थ है उसका शब्द के साथ घनिष्ट सम्बन्ध कर दिया है—विज्ञान के भीतर शब्द को अर्थ के साथ और अर्थ को शब्द के साथ बाँधा गया है, जिससे गौ का नाम सुनने पर गौ के रूप का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार गौ का रूप देखने पर गौ का नाम बुद्धि में आजाता है इन दोनों शब्द और अर्थ को परस्पर बाँधने वाला हमारा विज्ञान है जो वास्तव में मेरी आत्मा है उसी आत्मा से उत्पन्न हुआ अनाहतनाद इन दोनों मिले हुए शब्द और अर्थ को उत्पन्न करता है इसलिये दोनों हीं 'ओम्' शब्द से उत्पन्न माने जाते हैं। सत्य अर्थों से बन्धे हुए सत्य शब्दों को जो कि यथार्थज्ञान उत्पन्न करते हैं उनको ही शास्त्र या वेद कहते हैं ये सम्पूर्ण वेद अर्थात् अर्थ का ज्ञान कराता हुआ शब्द भण्डार ओम् शब्द से ही उत्पन्न हुआ है। इसीलिये ऋषियों ने वेद के आरम्भ करते समय या समाप्त करते समय उस वेद के कारण ओम् शब्द का स्मरण करना आवश्यक समझकर नियम बद्ध किया है।

इस प्रकार ओम्कार से ही सम्पूर्ण वाङ्मय वेद की उत्पत्ति भागवत के बारहवें स्कन्ध के छठे अध्याय में कही गई है। इस वेद के बीज रूप प्रणव का प्रवर्तक अनाहतनाद का स्थान जीव के शरीर में दहराकाश है और ईश्वर के शरीर में पुराणाकाश अर्थात् ब्रह्माण्ड है। इसी प्रकार परमेश्वर के शरीर में परमाकाश उसकी उत्पत्ति स्थान है। अथवा किसी का मत है कि परमेश्वर में केन्द्र न होने के कारण अथवा तीन लोक न होने के कारण न वैश्वानर अग्नि है और न अनाहतनाद है और न उससे शब्द आदि भौतिकसृष्टि है। सब केवल ईश्वर और जीव से ही संबन्ध रखते हैं जो कही परमेश्वर को ही वेद का मूल कहा गया है अथवा कहीं पर वेद को ही परमेश्वर कहा गया है यह सब परमेश्वर का भक्तिवाद है क्योंकि परमेश्वर इस प्रकार व्यापक है कि ईश्वर में या जीव में जो कुछ है सब परमेश्वर से पृथक् नहीं हो सकता इसीलिये वेद का भी आश्रय परमेश्वर कहा जा सकता है।

## अनाहतनाद का सारांश

आकाश अखण्डरूप से एक है। किन्तु जीव के शरीर के आकाश को शरीराकाश कहते हैं, और ईश्वर के ब्रह्माण्ड के आकाश को ब्रह्माण्डाकाश और परमेश्वर के जगत् के आकाश को परमाकाश कहते हैं। शरीर, परमेश्वर और परमाकाश ये तीनों दहरोत्तर कहलाते हैं। जैसे तीनों आकाश एक रूप से हैं किन्तु मात्रा में छोटे बड़े हैं वैसे ही तीनों में मन, प्राण, वाक् और इनके विकार भी एक रूप से हैं किन्तु मात्रा में भेद है।

यह जीव ईश्वर के ब्रह्माण्ड के तीन लोकों के नमूने पर बना है माया, सूर्य, हृदय, अन्तरिक्ष और पेट पृथ्वी-अन्तरिक्ष के वायु से जीव का हृदयाकाश बना है इसके हृदय में अन्तरिक्ष की वायु एक प्रादेश ( १० ॥ अंगुल ) में बंधा हुआ है। अन्तरिक्ष का यह प्राण वायु जीव के हृदय में व्यानप्राण के नाम

से कहलाता है। वास्तव में जीव के मन, प्राण, वाक् में से प्राण यही व्यानप्राण है। यह व्यानप्राण हृदय में स्थानापन्न होकर समस्त शरीर में व्याप्त है और जीव के शरीर की यही जान है जिस प्रकार अन्तरिक्ष से यह प्राण आया है वैसे ही सूर्य और पृथ्वी से भी इस व्यान पर सूर्यप्राण और पृथ्वीप्राणों की खींचातान है इस व्यान पर सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को दबाता है और फिर सूर्य के प्राण को पृथ्वी का प्राण ऊपर धकेलता है। अथवा यों कहिये कि सूर्य का प्राण पृथ्वी के प्राण को ऊपर खींचता है और सूर्य के प्राण को पृथ्वी नीचे खींचती है इसी खींचातान को 'प्राणापान' कहते हैं इसी खींचातान की क्रियाको आप् कहते हैं। सूर्य सम्बन्धी ऊपर की क्रिया को प्राण और पृथ्वी संबन्धी नीचे की क्रिया को अपान कहते हैं। नासिका होकर वायु के अन्दर जाने को और बाहर आने को ही श्वासोच्छ्वास कहते हैं व्यानवायु पर प्राणापान के संघर्षण से जो अग्नि उत्पन्न होता है उसको वैश्वानरअग्नि कहते हैं यह अग्नि की उत्पति प्राकृतिक नियम से है। इसी प्राकृतिक नियमानुसार उत्पन्न की हुई अग्नि का एक दीर्घ कालतक स्थित रहना भोजन या पान से रहता है। इस अग्नि के प्रज्वलन से एक शब्द उत्पन्न होता रहता है इस शब्द को अनाहतनाद कहते हैं।

जिस प्रकार व्यान पर प्राण अपान के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होता है वैसे ही त्रिलोकी में भी अन्तरिक्ष के वायु पर दिव्यप्राण और पार्थिव प्राण के संघर्षण से अग्नि पैदा होती है जिसे वैश्वानर कहते हैं और इस अग्नि के जलने से जो शब्द पैदा होता है वह अनाहतनाद है जिस को जीव के समान ईश्वर भी सुनता होगा।

## अध्यात्म के तीन तन्त्र

पूर्वोक्त के अनुसार तीन आत्मा के तीन तन्त्र पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु जीव के शरीर में तीनों तन्त्रों का समावेश है—प्रथम तो जीव तन्त्र ही उत्पन्न होता है अर्थात् जीव के आत्मारूप मन, प्राण, वाक् से जो कुछ सृष्टि हुई, हो रही है और होती रहेगी यह सब जीव तन्त्र है किन्तु उस जीवतन्त्र के साथ-साथ ईश्वर तन्त्र भी काम कर रहा है क्योंकि व्यापक है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती हुई उसके महिमा शरीर में प्रवेश न करे यह संभव नहीं है। इसी प्रकार परमेश्वर जो कि ईश्वर से भी अधिक व्यापक है उसकी महिमा से भी यह जीव शरीर वञ्चित नहीं रह सकता इसलिये हम विश्वास करते हैं कि जीव का शरीर त्रितन्त्र है। कुछ अंश में जीव स्वतन्त्र है, किन्तु कुछ अंश में ईश्वर परतन्त्र और कुछ अंश में परमेश्वर परतन्त्र है।

अब यदि ईश्वर को देखें तो उसका शरीर अर्थात् ब्रह्माण्ड द्वितन्त्र है, क्योंकि ईश्वर इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि में कुछ अंश को लेकर स्वतन्त्र है किन्तु उस परमेश्वर की महिमा का भी प्रभाव पड़ता है। इसलिये कुछ अंश में वह ईश्वर भी परमेश्वर परतन्त्र है, किन्तु ईश्वर के शरीर में जीव का प्रभाव विशेषतया नहीं पड़ता क्योंकि जीव को शक्ति जीव के शरीर से बाहर नहीं है किन्तु ईश्वर उससे अधिक विस्तृत प्रदेश में व्याप्त रहता है इसलिये उसमें जीव के तन्त्र की कमी होने से ईश्वर का शरीर द्वितन्त्र ही संभव है।

अब यदि परमेश्वर के शरीर का विचार करें तो वह एक तन्त्र ही प्रतीत होगा क्योंकि वह असीम है उसके सर्वाङ्ग शरीर में जीव वा ईश्वर जो परिमित सीमा रखते हैं अपना प्रभाव सर्वत्र नहीं डाल सकते। इसलिये परमेश्वर अपने शरीर में अर्थात् इस बहिर्जगत् में सर्वत्र स्वतन्त्र है। वह परतन्त्र नहीं हो सकता इसलिये उसमें एक ही तन्त्र का होना संभव है।

इस जीव शरीर में जो कुछ मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है वही जीवतन्त्र है, परन्तु जिस विषय में अत्यन्त प्रबल इच्छा रखने पर भी इच्छा न रहने पर भी कितने ही परिवर्त्तन प्रतिक्षण होते रहते है वह सब ईश्वरतन्त्र है। ईश्वर की ही इच्छा से वे सब परिवर्तन मेरे शरीर में होते रहते हैं। किन्तु जिन पदार्थों पर जीव का व्यापार वा ईश्वर का व्यापार होता रहता है वे उन सब पदार्थों की सत्ता अथवा इस शरीर में ज्ञान का प्रभाव और जो किसी वस्तु में वा किसी काम में कभी आनन्द की झलक होती है अथवा मेरे शरीर में मेरी आत्मा की जीवनपर्यन्त शान्ति रूप से एक प्रकार की स्थिति चल रही है, वह शान्ति रूप आनन्द है। ये तीनों अर्थात् सत्ता या चेतना या आनन्द परमेश्वर से ही मुझ में आये हैं, किन्तु मेरा जन्म, मृत्यु, निश्वास, उच्छवास की गति होना और तीन लोक की संख्या होना, मध्य में मेरुदण्ड का होना, नाड़ी, चर्म, मांस, मज्जा आदि धातु अथवा इन्द्रियाँ ये सब मेरे शरीर में ईश्वर के आधीन हैं किन्तु इन इन्द्रियों से काम लेना जीव के आधीन है। अर्थात् बोलना, चलना, उठना, बैठना, सोना और मन में चिन्तमन करना, विद्या बुद्धि वा अविद्या का संचार, अर्थात् अपने ज्ञान या क्रिया में सात्विक अंश, राजस अंश, तामस अंश इन तीनों का घटाना बढ़ाना जीव ही के अधीन है। कितनों ही का विश्वास है कि जीव किसी भी काम में स्वतन्त्र नहीं है इसीलिये उनका सिद्धान्त है कि वह—"**तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यशक्तः**" है। एक वृक्ष का पत्ता भी बिना ईश्वर की इच्छा के नहीं हिलता, परन्तु यह कथन कुछ अंश तक सत्य हो सकता है तथापि सर्वथा जीव को परतन्त्र ही मानना विचारगत नहीं है। एक घोड़े के हमने चाबुक मारा और वह तेजी से चला कुछ दूर पर वह फिर धीमी चाल चलने लगा यह सब ईश्वर की ही इच्छा से ही मानना सर्वथा व्यर्थ है।

यदि जीव की स्वतन्त्रता सर्वथा ही न होती तो जीवों के लिये शिक्षा, उपदेश, शासन आदि करना वेद शास्त्र का मिथ्या ठहेरगा क्योंकि यह वेद शास्त्र ईश्वर के लिये उपदेश नहीं करते हैं किन्तु मनुष्य के लिये ही आज्ञा देते हैं। परन्तु कुछ कर ही नहीं सकता जो कुछ होना है सो ईश्वराधीन है फिर मनुष्य दोषी कैसे ठहराया जाता है। इससे अपने आप हृदय विश्वास करता है कि हम भी किसी सीमा तक करने न करने में स्वतन्त्र हैं। फिर हम यह भी देखते हैं कि ईश्वर ने ही मुझ में इन्द्रियां देकर उन इन्द्रियों को चलाने के लिये मुझ में मन भी दिया है, जिस मन के कारण हम चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियों को काम में लेने या न लेने में स्वतन्त्र बन गये हैं बस इसी से सिद्ध है कि मुझ में इन्द्रियों का या मन का आना तो ईश्वराधीन है किन्तु इच्छानुसार उनसे काम लेना जीवाधीन है।

'अहम्' कहकर जिस अपने को मैं लक्षित करता हूँ वह मेरे शरीर का सबसे प्रधान भाग प्रकाश है। जिस प्रकाश के भीतर में अपने को, दूसरों को यहां तक कि चराचर जगत् को पाता हूँ जो कुछ

इस प्रकाश में मुझे भासता है उसी को मैं जगत् कहता हूँ किन्तु मेरे ज्ञान के प्रकाश के भीतर जो कुछ जगत् भासता है उसमें गौरव अर्थात् वस्तु भार नहीं है गौ, घोड़ा, हाथी, पहाड़ तक मेरी बुद्धि पर सवार हैं किन्तु उनके भार का अनुभव नहीं करते इससे यह निश्चित है कि जो घोड़ा, हाथी वास्तव में बाहर है वे मेरी बुद्धि पर सवार नहीं होते किन्तु मेरी बुद्धि न ये घोड़े, हाथी उत्पन्न करती है इसका दूसरा कारण यह भी है कि बाहर वाले घोड़े, हाथी मेरी बुद्धि पर आ जाते तो उसी समय वे घोड़े हाथी अन्यान्य सैंकड़ों मनुष्यों की बुद्धियों पर सवार नहीं हो सकते इससे भी निश्चित है कि बाहर की सब वस्तुएें बाहर ही कहीं पर स्थित रहती हैं किन्तु उनके संयोग से हम सब जीवों कों बुद्धियाँ उन्हीं के आकार की बन जाया करती हैं तो सिद्ध हुआ कि हमारी बुद्धि में जो कुछ जगत् भासता है वह बाहर वाले जगत् से भिन्न है, बस इसी जगत् को जो मेरे ज्ञान प्रकाश में भास रहा है वह जीव का जगत् है, जीव की सृष्टि है और जीव के ही भीतर सदा वर्तमान रहता है, इस जीव में ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय है।

इस प्रकार जब कि यह जगत् मेरे ज्ञान के प्रकाश के भीतर है तो हम कह सकते हैं कि यह सम्पूर्ण मेरा जगत् मैं ही हूँ, क्योंकि जो कुछ भासता है वही मेरा प्रकाश है और जो मेरा प्रकाश है वही मैं हूँ इसलिये वेद का यह कहना सर्वथा सत्य है कि **"आत्मै वेदं सर्वम्"** जिस प्रकार मेरा जगत् मैं हूं उसी प्रकार दूसरे जीव का जगत् अन्य जीव है। इन अनन्त जीवों के भिन्न जगत् की उत्पत्ति के कारण एक ही कोई बाहर भिन्न जगत् है। जिसके संबंध से सब जीवों की आत्मा अपने-अपने जगत् को उत्पन्न करती हैं—वह जगत् किसी जीव का जगत् न होने के कारण ईश्वर का ही जगत् माना जा सकता है। सम्भवतः जैसा मेरा ज्ञान मेरे जगत् को उत्पन्न करने में समर्थ है उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान भी उस जगत् के उत्पन्न करने में सामर्थ्य रखता है, ऐसे दो प्रकार के जगत् सिद्ध हुए किन्तु इन दोनों से अतिरिक्त तीसरा भी कोई जगत् अवश्य ही कहीं पर है जो कि दिक्, देश, काल सबसे अनवच्छिन्न निगूढ़ अर्थात् छिपा हुआ है, अतीन्द्रिय है और केवल विचार शक्ति से ही अनुभव किया जा सकता है। जब कोई विद्वान् किसी निगूढ़ तत्त्व का विचार करने बैठता है तो उस समय उसकी बुद्धि एक ऐसे नये मार्ग पर चलती रहती है कि जिस पर आजन्म उसकी आत्मा कभी नहीं गई थी न उसके अतिरिक्त कोई जीव कभी गया था। ऐसे ही जिस स्वप्न को आज किसी मनुष्य ने देखा उस स्वप्न की सारी पड़त को ज्यों का त्यों उसी मनुष्य ने पहले न कभी देखा था, न पीछे कभी देखेगा और न उस पड़त को संसार के भूत, भविष्य, वर्तमान कभी कोई जीव देख सकता है। यद्यपि उस स्वप्न के जगत् को विद्वान लोग मिथ्या कल्पित कहने का साहस करते हैं किन्तु सम्भवतः जब कि वह दीखता है, ज्ञान ने उसको पकड़ा है तो उसे मिथ्या क्यों कहा जाय, क्यों नहीं वह ईश्वर वाले बाहर जगत् से भिन्न ही एक तीसरा जगत् मान लिया जाय कि जिसके संयोग से हमारा ज्ञान स्वप्न में नया एक जगत् उत्पन्न कर सका। इस प्रकार के अनेक उदाहरण शतरंज आदि खेलों के भी दिये जा सकते हैं। नित्य नये खेल के सिलसिले बाहर के ईश्वरी जगत् में कहीं न होने पर भी खेलते समय अपने आप चलता रहता है। वे सिलसिले भी किसी न किसी जगत् की नियुक्ति से संबन्ध रखते हैं। विद्वान् मनुष्य नया विचार करते समय ईश्वर की बाहरी सृष्टि में अपने मन को न भेज कर उसी परमेश्वर के जगत् के किसी मैदान में अपने ज्ञान को जाने देता

है और उसी में से टटोल कर नया ज्ञान लाभ करके जगत् में उसका प्रचार करता है यह सब परमेश्वर के जगत् का कुछ आभासमात्र प्रमाण है किन्तु वास्तव में ईश्वर के जगत् से भी दूर होने के कारण परमेश्वर के जगत् को यथार्थ में नहीं जान सकते तथापि पृथक् पृथक् तीन जगतों का होना और उन तीनों जगत् का पृथक् पृथक् तीन आत्माओं के अधीन होना कुछ कुछ अनुभव किया जा सका है इन तीनों तन्त्रों के तीनों जगतों का हमारे जीव के तन्त्र में मेल अवश्य ही है।

## बाहर के तीन तन्त्र

जीव शरीर के अनुसार बाहर जगत् में भी तीन ही तन्त्र आपस में मिलेजुले प्रतीत होते हैं। यदि इन सब पदार्थों पर दृष्टि डालें तो बहुत से पदार्थ इनमें परमेश्वर से, बहुत से ईश्वर से और बहुत से जीव से भी उत्पन्न प्रतीत होंगे—साधारणतः बाहर के पदार्थों को हम दो भागों में विभक्त करेंगे-१ कृत्रिम और २ प्राकृत। इनमें कृत्रिम तो वे हैं जिनको प्रकृति ने नहीं बनाया है-जैसे मकान कुर्सी इत्यादि इनको जीव ने अपने विचार के द्वारा उत्पन्न करके ईश्वर की सृष्टि में उनको डाल दिया है। रूई प्राकृत, यद्यपि ईश्वर की सृष्टि है तथापि उसका वस्त्र जीव की ही सृष्टि से होगा। औषधियाँ ईश्वर की सृष्टि हैं किन्तु उनसे बने हुए औषध जीव की सृष्टि है। इनसे अतिरिक्त जो कुछ पृथ्वी में वृक्ष, पशु आदि हैं अन्तरिक्ष में विद्युत, इन्द्रधनुष, मेघ आदि द्यौ में जो तारामण्डल, आकाशगङ्गा, धूमकेतु उत्पन्न होते हैं वे सब प्राकृत हैं और ईश्वर की सृष्टि हैं। अब इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी वह वस्तु है जो इन दोनों में सामान्य भाव से पाई जाती है। जैसे प्रत्येक वस्तु की सत्ता, प्रत्येक वस्तु का भासना अर्थात् प्रतीत होना और जगत् का भूमा अर्थात् एक विस्तृत अनन्त रूप में सबका संनिवेश होकर विकास होना, ये तीनों परमेश्वर के तन्त्र से आये हुये धर्म प्रतीत होते हैं। इन तीनों पृथक् तन्त्रों का पृथक् पृथक् तीन आत्माओं से संबन्ध होने पर भी परस्पर सम्मिलित रूप होकर एक जगत् का रूप धारण करते हैं।

## त्रैलोक्य व्यवस्था

जिस प्रकार जल स्थल के भिन्न भिन्न जीवों में शरीर के धातु भिन्न भिन्न प्रकार के पाये जाते हैं इसी तरह ईश्वर के शरीर में भी मनुष्यादि जीवों की अपेक्षा भिन्न प्रकार के ही शरीर धातु प्रतीत होते हैं जैसा कि ऋक्, साम, यजु ये तीनों वेद ही ईश्वर के शरीर में रसरूप हैं। पञ्चभूतों का प्रपञ्च ही भूत निकाय है और पर्वत ही अस्थि रूप है और यज्ञ उनके शरीर में चेष्टा है किन्तु जीव शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर में न लोम है न चर्म है।

जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में, योनि से नाभि तक पहला, नाभि से हृदय तक दूसरा और हृदय से कण्ठ तक तीसरा, इस प्रकार तीन भाग हैं, और तीनों के अधिष्ठाता स्वरूप अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन प्राण हैं, उसी प्रकार ईश्वर के शरीर में भी पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः ये तीन भाग हैं और इन तीनों के अधिष्ठातृ स्वरूप अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन प्राण हैं। भेद इतना ही है कि जीव शरीर में इन तीनों प्राणों को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ कहते हैं और ईश्वर के शरीर में इन तीनों प्राणों को विराट् हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी या सर्वज्ञ कहते हैं। इनके अतिरिक्त जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में उपर्युक्त तीनों भागों का

एक ही अधिष्ठाता पृथक् एक मस्तक है। उसी प्रकार ईश्वर के शरीर में तीनों लोक से परे उन तीनों का अधिष्ठाता एक ही कोई सच्चिदानन्द नाम का ज्योतिर्वन है वही ईश्वर का मस्तक है।

कहीं-कहीं पर ऋषियों ने उदर को पृथ्वी, वक्षस्थल को अन्तरिक्ष और द्यौः को सिर कहा है, वह छोटे ईश्वर के अनुरोध से कहा जा सकता है अथवा द्यौः से बाहर वाले सच्चिदानन्द को भी साधारण शब्दों में दीप्यमान होने के कारण द्यौः शब्द से भी कह सकते हैं। तात्पर्य्य यह है कि ईश्वर के शरीर में अथवा जीव के शरीर में समान रूप से तीन-तीन लोक अपना पृथक्-पृथक् तन्त्र रखते हुए भी तीनो सम्मिलित होकर एक ही जिसी ईश्वर के या जीव के शरीर का संगठन करते है।

मनुष्य के शरीर में तीन लोक होने के कारण तीन आत्माएं हैं। प्रत्येक आत्मा में मन, प्राण, वाक् के तीन-तीन भाग हैं इस प्रकार मनुष्य शरीर में आत्मा के ९ भाग हैं जो परस्पर मिले जुले होने के कारण सूत्ररूप हैं, यही नव सूत्र ब्रह्म का लक्षण है। जीव शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर में भी यही ९ सूत्र है और भी ब्रह्म के लक्षण है। इन्हीं नव सूत्रों को यज्ञ सूचक कहते हैं। जिनको ब्राह्मण लोग उपासना की दृष्टि से शरीर के ऊपर धारण करते हैं।

## जीवस्वरूपनिर्णय

जगत् में सूक्ष्म या स्थूल जो कुछ वस्तु बिना किसी मनुष्य व्यापार के अपने आप जब स्वरूप धारण करता है तो वह अवश्य ही वर्तुलवृत्त होता है जैसा कि शब्द किसी बिन्दु से उत्पन्न होकर नीचे चारों ओर वर्तुलवृत्त रूप से ही फैलता है। अग्नि का प्रकाश भी वर्तुलवृत्त होकर ही फैलता है वायु को किसी वस्त्र या भस्त्रा ( धोंकनी ) में भरें तो वह गोल होकर चारों ओर फूलेगा। मेघ से जब जल गिरता है तो वह आधे मार्ग में आकर अपने आप गोल बिन्दु में परिणत हो जाता है। मृत्तिका परमाणुओं ने मिलकर जो सबसे प्रथम इस पृथ्वी का रूप धारण किया है वह भी गोल है सूर्य, चन्द्रमा आदि प्रकृति सिद्ध सभी पिण्ड गोल ही दीखते हैं। इन सबके गोल होने का कारण यदि सूक्ष्म विचार करें तो साधारण रीति से इन सबमें व्यापक होकर विद्यमान कोई एक आत्मा ही कारण प्रतीत होता है।

इन वर्तुलवृत्तों में नाभि को मुख, इनके अन्तस्थ पृष्ठ को शरीर और बहिरङ्ग पृष्ठ को पद और अन्तस्थ पृष्ठ से बहिरपृष्ठ तक चारों ओर जो संमुखता के सूत्र हैं, उनको अक्षी कहते हैं। सभी गोल वस्तुओं में इस प्रकार ही अङ्ग प्रत्यङ्ग की कल्पना संभवतः मानी जाती है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि सभी पिण्डों में अङ्गों की ऐसी ही व्यवस्था होती है।

इस नियम के अनुसार हमारे शरीर की आत्मा भी अपनी प्रकृति से वर्तुलवृत्त ही सम्पन्न होती है। यह जीव आत्मा ईश्वर से उत्पन्न होती है, ईश्वर का शरीर गोल होने पर भी पृथ्वी के अवरोध से आधे रूप में ही आकर जीव के शरीर में प्रवेश करता है। इसीलिये जैसे नीबू की आधी फांक की जाय उसी तरह हमारे शरीर में जब आत्मा भी वर्तुलवृत्त के आधे भाग के रूप में स्वरूप धारण करता है। हमारा पीठ आत्मा का पीठ है मेरी छाती की ओर आत्मा की गोलाई नहीं है। कारण हमारी आत्मा आगे की ओर

खाली होने के कारण उस अंश को पूरा करने के लिये सर्वदा सन्नद्ध होकर आगे अपने को बढ़ाना चाहता है। इसीलिये हम अपने आंख, मुख की तरफ काम करने को जितना बलपाते हैं उतना पीठ की तरफ नहीं पाते–यह पुरुष की कमी स्त्री के संयोग से किसी तरह पूरी की जाती है जीव के आधे होने के कारण से ही जगत् भर के जीवमात्र दो भागों में बटे हैं १—पुरुष, २—स्त्री।

यह सर्वथा निश्चित विषय है कि यदि जीव आत्मा वर्तुलवृत होता तो जीवों में स्त्री, पुरुष का विभाग कदापि नहीं होता–इसी कारण प्राचीन वैदिक महर्षियों ने और देशान्तर के यवनाचार्यों ने भी एक ही ईश्वर के दो भाग करके स्त्री पुरुष का होना माना है।

इन दोनों भागों में उत्तर दक्षिण दिशा का संबन्ध होने के कारण अग्नि और सोम की अधिकता एक-एक में होने से स्त्रीपुरुष के स्वरूप में परिवर्तन हो गया है। दक्षिण दिशा के संबन्ध से अग्नि की प्रबलता से पुरुष की उत्पत्ति होती है उत्तर दिशा की सोम की प्रधानता से स्त्री की उत्पत्ति होती है। इस विषय में बहुत सी बातें निर्णय करने की हैं, जिनका विस्तार स्वतन्त्र रूप से अन्यत्र किया गया है। यहाँ इतना ही और कहना आवश्यक है कि इस आधी कमी के अतिरिक्त जीव–आत्मा और सब प्रकार से गोल है। मस्तक से पांव तक जितनी इसकी लम्बाई है—भुजा के पसार में भी उतनी ही चौड़ाई है। इस गोलाई के विरोध में अन्य बहुत से कारण उपस्थित हैं। जिनका वर्णन शारीरक विचार में होगा किन्तु किसी शरीर की स्थिति देखते हुए शरीर के आत्मा को वर्तुलवृत के रूप में ही स्वीकार किया जाता है।

## ईश्वरस्वरूपनिर्णय

जिस प्रकार जीव के मुख, अक्षि (दृष्टि), पद आदि अवयव एक नियत दिशा में होते है, इसी कारण जीव नियत रूप से ही इन अवयवों से काम ले सकता है। तात्पर्य्य यह है कि पांव से आंख का काम, मस्तक से पांव का काम नहीं ले सकता, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है ईश्वर के लिये ऋषियों ने कहा है:—

**सर्वतः पाणिपादं तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।**
**सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्यतिष्ठति ॥१॥**

**विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतःस्यात्।**
**संबाहुभ्यां मति संपतत्रै, द्यावाभूमीजनयन् देवएकः ॥२॥**

**एकोहि देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः, पूर्वोहजातः सगर्भे अन्तः।**
**स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥३॥**

**तस्मात् परं ना परमस्ति किञ्चित्, तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्तिकिञ्चित्।**
**वृक्षइवस्तब्धोदिवितिष्ठत्येक, स्तेनेद पूर्णपुरुषेण सर्वम् ॥४॥**

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति, खंवै नाभि चन्द्रसूर्य्यौ च नेत्रै ।
दिशः श्रोत्रे विद्धिपादौ क्षितिं च, सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेता ।।५।।

## परमेश्वरस्वरूप निर्णय

अब यदि परमेश्वर के स्वरूप का हम विचार करते हैं तो हमको विश्वास होता है कि दिक्, देश, काल और द्रव्य इन सबसे अनवच्छिन्न होने के कारण न उसके नाभि हो सकती है और न उसके कही पीठ कल्पना की जा सकती है क्योंकि वह असीम है इसीलिये न परमेश्वर का कोई मुख हो सकता है न उसकी दृष्टि हो सकती है न उसका पांव हो सकता है । तात्पर्य यह है कि ईश्वर में सब ओर मुख, दृष्टि और पाद कहे जा सकते हैं किन्तु परमेश्वर में किसी ओर भी मुख दृष्टि और पाद की कल्पना नहीं हो सकती परन्तु इतना होने पर भी देखना, सुनना, चलना, फिरना इत्यादि जितनी शक्तियाँ जो जहाँ कुछ हैं वे सब इसी सर्वत्र व्यापक परमेश्वर में कहे जा सकते हैं । उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है । इसीलिये ऋषियों ने परमेश्वर का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
सवेत्तिवेद्यं नच तस्यवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ।।१।।
अपाणि पादोइह मचिन्त्यशक्तिः, पश्यामचक्षुः श्रृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो, न चास्ति वेत्ता ममचित्सदाहम् ।।२।।
वेदैरनेकै रहमेववेद्यो, वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम् ।
न पुण्य पापे ममनास्तिनाशो, न जन्म देहेन्द्रिय बुद्धिरस्ति ।।३।।
अणोरणीयानहमेवतद्वन् महानहंविश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोहमीशो, हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ।।४।।

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषियों ने भी शान्त, क्षुब्ध, घोर परमेश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि उसके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र मन ये पांचों प्राण नहीं हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों भूतगण नहीं हैं । आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पांचों महाभूतों से बना हुआ उसका शरीर नहीं है और उसमें भीतर बाहर का स्थूल, सूक्ष्म का, ह्रस्व दीर्घ का, मुख और पैरों का भेद नहीं है, न उसमें भार है, न परिमाण है, न कोई आकार है, न अन्धकार है, न छाया है, न उसमें शोणित है न चर्म है, वह असंग है, अक्षर है, न अन्न है न अन्नाद, उसके शासन में सूर्य और चन्द्र अग्नि, वायु, द्यौ और पृथिवी ये सब नियत व्यवस्था के अनुसार भिन्न भिन्न अपने काम करने में कदापि त्रुटि नहीं करते, सब कुछ उसी से पकड़ा हुआ जहाँ का तहाँ स्थिर होकर इस संसार चक्र को चला रहा है । किन्तु वह परमेश्वर नहीं दीख सकता है न सुनने की वस्तु है न जानने और समझने की वस्तु है । परन्तु जो जहाँ कुछ

दीखता है, सुना जाता है, जाना और समझा जाता है सभी जगह वही एक देखने वाला है, सुनने वाला है, जानने और समझने वाला है, उसके अतिरिक्त न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न मानता है न विज्ञाता है।

## परमेश्वर में कामना का न होना

जीव और ईश्वर में कामना पाई जाती है जिसमें जीव की कामना अनित्य है कभी होती है और कभी नहीं यहाँ तक कि जिस जीव को जिस वस्तु की एक समय कामना होती हैं उसी को उसी वस्तु की दूसरे समय में कामना नहीं रहती, परन्तु ईश्वर की कामना ऐसी नहीं है उसकी कामना प्रत्येक वस्तु में एक रूप से सदा रहती है और जितनी कामनाएँ ईश्वर में उत्पन्न हुई वे सब इच्छा होते ही पूर्ण होती रहती हैं इसीलिये ईश्वर को सर्वकामनामय और आप्त काम कहते हैं परन्तु परमेश्वर अकाम है कदाचित् भी कोई कामना उसमें उत्पन्न नहीं होती क्योंकि अप्राप्त वस्तुओं की कामना हुआ करती है सो जो आत्मा परिच्छिन्न हो उसी में संभव है किन्तु इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो परमेश्वर में न हो वा परमेश्वर से बाहर हो इसीलिये उसको अकाम कहते हैं।

जीव त्रितन्त्र है, वह जितने अंश में स्वतन्त्र है उतने में ही फल की इच्छा से कर्म किया करता है, परन्तु यदि दूसरे दोनों तन्त्र बाधक हो और प्रबल हो तो उसकी कामना सिद्ध नहीं होती, कर्म निष्फल हो जाता है। चिकित्सा करने पर भी रोगी मर जाता है, परन्तु ईश्वर द्वितन्त्र है वह भी किसी अंश में परमेश्वर के परतन्त्र है तथापि उसकी परिमित शक्ति इतनी बढ़ी हुई और प्रबल है जिसके द्वारा उसको कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है, सब कुछ उसको नित्य प्राप्त है इसीलिये उसको किसी फल की कदाचित् भी कामना नहीं होनी चाहिये, किन्तु फल की अपेक्षा न रख करके भी कर्त्तव्य दृष्टि से वह सब कामना करता है और नित्य उसको सब काम प्राप्त होते रहते है उदाहरण के लिये सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, पृथिवी को लीजिये ये सब अपने अपने कामों को नियमानुसार कुछ भी फल की अपेक्षा न रख कर कर्तव्य दृष्टि से करते रहते हैं और क्रिया का फल भी पाते रहते हैं सूर्य के तपने से जल सूख कर सूर्य की ओर जाता है और उसे ग्रहण करता है किन्तु सूर्य को उस जल की किञ्चित् भी आवश्यकता नहीं है तथापि वह जल को ग्रहण करने की सर्वदा कामना रखता है और सर्वदा उसकी किरणों में जल भरा भी रहता है इसी उदाहरण से ईश्वर को भी जानना चाहिये। यद्यपि ईश्वर को कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है, इसीलिये उसको किसी वस्तु की इच्छा भी नहीं होती है तथाहि वह सर्वदा काम करता ही रहता है और सब वस्तु भी उसमें विद्यमान रहती हैं और उन सब वस्तुओं को वह सर्वदा अच्छी तरह जानता भी रहता है। क्योंकि उसमें मन, प्राण, वाक् रहते हैं। मन के कारण मनस्वी, सर्वकाम और सर्वज्ञ है और प्राण के कारण वह सर्व शक्तिमान् है सर्वदा कर्म्म करता ही रहता है और वाक् के कारण सर्वगुण सम्पन्न सर्व-धर्म्मोपपन्न है अर्थात् सर्व प्रकार के अर्थों से सम्पन्न है।

अब यदि परमेश्वर की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसको जीव और ईश्वर दोनों से भिन्न प्रकार का पाते हैं किसी कर्म या किसी कर्म के फल में उसकी कामना नहीं है क्योंकि कोई भी कामना प्रत्येक प्राणी के हृदयवर्ती आत्मा से ही उठती है किन्तु परमेश्वर में कोई नाभि नहीं है इसीलिये न उसका हृदय

है न किसी प्रकार की कामना का उठना संभव है इसी से परमेश्वर को सर्वथा निष्काम कह सकते हैं। किन्तु प्रकारान्तर से यदि देखा जाय तो अनन्तानन्त ईश्वरों में या अनन्तानन्त जीवों में जो जहाँ कुछ क्रियाएँ होती हैं या जीव ईश्वर में जो कुछ कामनाएँ उठती हैं वे सब ही परमेश्वर में मानी जा सकती हैं। परमेश्वर या जीव जो कुछ कामनाएँ करते हैं या कर्म करते हैं वे सब परमेश्वर की ही कामना या कर्म कहे जासकते हैं क्योंकि कामना या कर्म किसी शक्ति पर निर्भर है और उन सब शक्तियों का घन केवल मात्र एक परमेश्वर ही है इसीलिये सब कर्म ही परमेश्वर के ही कहे जा सकते हैं तथापि जीव ईश्वर कर्मों के अतिरिक्त प्रातिस्विक रूप से परमेश्वर का कोई कर्म नहीं है। परमेश्वर की आत्मा में जो कुछ मन, प्राण, वाक् समर्पित हैं उनकी दो अवस्थायें कही जा सकती हैं—उद्बुद्ध और अनुद्बुद्ध। इनमें जितने उद्बुद्धरूप हैं अर्थात् व्यक्त और व्याकृत हैं उनको ही ईश्वर, जीव या जगत् कहते हैं, उनमें जितनी क्रियाएँ हैं या कामनाएँ हैं वे परमेश्वर के ही उद्बुद्धरूप हैं और वे ईश्वर और जीव के साथ ही संबद्ध है उनके अतिरिक्त जो मन, प्राण, वाक् हैं सो अनुद्बुद्ध हैं इसी से परमेश्वर की कामना या क्रिया कुछ भी पृथक् रूप से कही नहीं जासकती। तात्पर्य्य यह है कि जीव अनित्यकाम हैं ईश्वर सर्वकाम और आप्त-काम है किन्तु परमेश्वर सर्वथा निष्काम है।

## परमेश्वर में नभ्य आत्मा का न होना

### जीव अनन्त हैं–

शरीर के भिन्न होने से जीव भी भिन्न होते हैं। प्रत्येक जीव-आत्मा के शरीर में दो-दो आत्मा होते हैं एक नभ्य और दूसरा सर्व। इनमें नभ्य आत्मा वह है कि जो शरीर के केन्द्र में रहकर इस शरीर के धातु, रस आदि को निर्माण करता हुआ शरीर के अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल कर फेंकता रहता है, उसी के कारण शरीर का कोई भी अंश सड़ने नहीं पाता और शरीर को हलका बनाता है परन्तु दूसरा सर्वआत्मा जीव का सम्पूर्ण चेतन शरीर है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनन्त हैं उनका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड के भेद से ही ईश्वर भिन्न-भिन्न माने जाते हैं, प्रत्येक ईश्वर के भी ब्रह्माण्ड में दो दो आत्मा होते हैं। एक ब्रह्माके केन्द्र में रहकर अपने से ही सब पदार्थों को उत्पन्न करता हुआ और उनको चारों ओर फैलाता हुआ ब्रह्माण्ड की रचना करता है उसको नभ्य आत्मा कहते हैं और दूसरा सर्व आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही कहते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों में दो-दो आत्मा पाये जाते हैं। किन्तु परमेश्वर में ऐसी दो आत्मायें नहीं हैं वह एक ही है क्योंकि उसके शरीर को जगत् कहते हैं सो जगत् एक है और असीम है। असीम वस्तु की नाभि और परिधि दोनों ही नहीं कही जासकती, इसीलिये उसमें नभ्य आत्मा का होना असम्भव है। उसका प्रत्येक बिन्दु ही नाभि है और प्रत्येक बिन्दु से अनन्तानन्त शक्तियाँ उत्पन्न होकर अपना अपना विकास करती हैं, जिससे इस जगत् का स्वरूप बनता बिगड़ता रहता है, इसीलिये इस सम्पूर्ण जगत् को ही विश्वात्मा भगवान् परमेश्वर कहते हैं, जो असीम होने से किसी नियत स्थान पर नभ्यात्मा नहीं रखता उसका प्रत्येक बिन्दु ही नभ्य हो सकता है।

## परमेश्वर में दैशिक संस्था न होना

जीव की शक्ति परिमित है इससे उसका शरीर भी परिमित ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर की शक्ति भी परिमित है, इसी से उसका ब्रह्माण्ड भी परिमित ही उत्पन्न होता है। यह ब्रह्माण्ड

दो प्रकार का है, एक छोटा जो उपेश्वर का शरीर है अर्थात् यह सूर्य अपने प्रकाश मण्डल से जितने आकाश प्रदेश में व्याप्त होता है वही छोटा ब्रह्माण्ड है उसमें सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाम से त्रैलोक्य की संस्था नियत रहती है, किन्तु महाण्ड वह है कि जिसमें असंख्य ऐसे सूर्य होने के कारण त्रैलोक्य संस्था भी असंख्य होती हैं। जिस प्रकार हमारी पृथिवी या अन्यान्य ग्रह इस सूर्य के चारों ओर फिरते हैं उसी प्रकार वे सब सूर्य भी जिस महासूर्य के चारों ओर फिरते हैं वही सच्चिदानन्द घन हमारा ईश्वर है। उसकी सत्ता चेतना और आनन्द की किरणें चारों ओर जितने आकाश प्रदेश में परिव्याप्त हैं वही महाब्रह्माण्ड है और वही ईश्वर का शरीर है। यह महा ब्रह्माण्ड बहुत बड़ा होने पर भी परिमित है, सीमाबद्ध है, उसकी सीमा से बाहर भी इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर परमेश्वर इस अनन्त महा आकाश में इधर उधर अवश्य विद्यमान हैं, ऐसी सम्भावना की जासकती है और वे सब परिमित हैं किन्तु उन सबका प्रथम आत्मा परमेश्वर है और वह एक है जितने जीव और जितने ईश्वर इस अनन्त आकाश मण्डल में कहीं हैं उन सबको यदि एक दृष्टि से देखकर खयाल में लाया जाय तो वही परमेश्वर का रूप है। अर्थात् जो जहाँ कुछ है सो सब जगत् ही परमेश्वर का शरीर है। उस जगत् का आदि, अन्त होना असम्भव है इसीलिये वह असीम है। यदि किसी सीमा बद्ध आयतन को ही शरीर कहें तो परमेश्वर में देश की संस्था न होने के कारण उसको अशरीर ही कहना पड़ेगा। क्योंकि उसके शरीर से बाहर कुछ खाली जगह नहीं हैं।

## परमेश्वर में कालिक संस्था का न होना

जीवआत्मा को सभी शक्तियाँ परतन्त्र से मिलती हैं अर्थात् ईश्वर से प्राप्त होती हैं जिससे नैमित्तिक और अनित्य हैं और ईश्वर आत्मा की सभी शक्तियाँ भी परतन्त्र से मिलती हैं, अर्थात् परमेश्वर से प्राप्त होती हैं। इसीलिये वे भी नैमित्तिक और अनित्य हैं किन्तु परमेश्वर की सभी शक्तियाँ दूसरे किसी से प्राप्त नहीं होती हैं। वे स्वतन्त्रता से विद्यमान हैं क्योंकि परमेश्वर सर्वशक्तिघन है, उसकी निज की शक्तियाँ नित्यस्वयंभू हैं किन्तु उस परमेश्वर के जगत् में अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं और फिर उत्पन्न होते रहते हैं, इस प्रकार यह उत्पत्ति विनाश क्रम इस जगत् में यों ही अनादिकाल से होते चले आते हैं और आगे को भी इसी प्रकार अनन्तकाल में होते रहेंगे, जिस प्रकार से सृष्टि विनाशक्रम हम आज देख रहे हैं संभव है कि वह इसी प्रकार आगे को भी सर्वदा बना रहेगा। परमेश्वर की आत्मा में जो मन, प्राण, वाक् ये तीन धातु हैं उनसे यद्यपि पृथक् पृथक् नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उन विकारों से फिर भी उनके अवान्तर अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं, तथापि उन सब विकारों में मन, प्राण, वाक् इन तीनों का संबन्ध नित्य एक रूप से ही रहता है। सभी भाव वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय कहे जासकते हैं और अनादिकाल से अनन्तकाल तक इसी प्रकार रहेंगे क्योंकि इस असीम परमेश्वर में दैशिक सीमा के अनुसार कालिक सीमा भी नहीं है।

## जगत् कारणता का विचार

इसी विश्व का प्रभव और प्रतिष्ठा और परायण अर्थात् जिसके अंश से उत्पन्न होता है और जिसके अन्तर्गत आधार से ठहरा रहता है और नष्ट होकर अन्त को जिसमें लीन हो जाता है वह ईश्वर

है । इसलिये ईश्वर को विश्व का कारण कहते हैं जिस प्रकार वृक्ष पृथिवी के अंश से उत्पन्न होकर पृथ्वी के ही आधार से ही ठहरा रहता है और अन्त में पृथ्वी में ही लीन हो जाता है और जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होकर मिट्टी में ही रहकर अन्त में मिट्टी ही हो जाता है । उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का या ईश्वर प्रभव प्रतिष्ठा और परायण है । ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और सर्वज्ञ है इसी प्रकार अपनी शक्ति और ज्ञान के कारण अपने विश्व को अपनी इच्छानुसार रचना किया करता है । यद्यपि संसार में समवायि अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न होते हैं । घड़े का उपादान मिट्टी है वह घड़े को नहीं बनाता, बनानेवाला कुम्हार है उस कुम्हार का घड़ा नहीं बनता । इसलिये आश्चर्य मान कर ईश्वर में कितने ही लोग शङ्का करेंगे कि वह यदि सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होकर निमित्त कारण है तो वह उपादान नहीं होसकता । अर्थात् प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण नहीं होसकता और यदि वह उपादान है तो निर्माता नहीं होसकता । यह आशङ्का सत्य है, परन्तु यह नियम विश्व का है और ईश्वर विश्व से पृथक् है, इसीलिये विश्व के नियम का आक्षेप ईश्वर में लागू नहीं होसकता । यथार्थ तो यह है कि यह ईश्वर मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्त्वों से बना है इसीलिये जितनी उसमें मन की मात्रा है उसके अनुसार वह सर्वज्ञ और अपनी प्राणमात्रा के अनुसार सर्वशक्तिमान् है । इसी प्रकार अपनी वाङ्मात्रा से विश्व का रूप बनाता है इसी कारण वाक् के अनुरोध से उसको विश्व का उपादान कह सकते हैं, किन्तु प्राण के अनुरोध से वही ईश्वर विश्व का असमवायि अर्थात् प्रयोजक कारण है और मन के अनुरोध से वही ईश्वर विश्वका निर्माता निमित कारण भी है इसी प्रकार एक ही वस्तु के अंश भेद से तीनों कारणों का समावेश इस विश्व में भी देखा जाता है । जैसे मकड़ी अपना जाला बनाने में आप ही उपादान है और निमित्त भी है इसी प्रकार ईश्वर को भी समझना चाहिये ।

परन्तु दूसरी आतमा जो परमेश्वर है वह यद्यपि ज्ञान, सभी बल और सभी अर्थों का निधि है तथापि किसी बात की इच्छा नहीं रखता क्योंकि वह निष्काम है और सृष्टि बिना इच्छा, तप और श्रम के नहीं होती । इसीलिये वह इस विश्व को उत्पन्न नहीं करता अतएव वह कारण भी नहीं कहा जा सकता यद्यपि जीव और ईश्वर जो कुछ करते हैं वह भी परमेश्वर ही करता है इस अनुरोध से ईश्वर का कारण होना ही परमेश्वर का भी कारण होना है किन्तु जीव और ईश्वर को पृथक् रखकर यदि स्वतन्त्र रूप से परमेश्वर को देखें तो कहा जासकता है कि परमेश्वर कारण नहीं हैं । इसी अभिप्राय से वेद कहता है ।

"नतस्यकार्यं करणं च विद्यते ।
नतत्समश्चा भ्यधिकश्चदृश्यते ।।१।।
परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ।।२।।
तमीश्वराणां परमं महेश्वरम् ।
तंदैवतानां परमं दैवतम् ।।३।।

**स कारणं करणाधिपाधिपो ।**
**न चास्य कश्चिज्जनितानचाधिपः" ।।४।।**

ईश्वर या जीव जो कुछ क्रिया करते हुए अपना जीवन धारण करते हैं वे सभी क्रिया परमेश्वर में ही मानी जा सकती हैं, क्योंकि परमेश्वर के अविनाभूत उसके बिना नहीं होने लायक हैं । वाक्, प्राण, मन जो जहाँ कुछ जीव में या ईश्वर में पाये जाते हैं अथवा और किसी जड़ जगत् में हैं अथवा जगत्, जीव, ईश्वर जो जहाँ कुछ है इन सब को ही परमेश्वर कहते हैं । यह परमेश्वर ईश्वर से या जीव से कदापि खाली नहीं रह सकता, यद्यपि कहीं कोई ईश्वर जीव के अनुसार नष्ट भी होजाता है तथापि दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति हो जाने से यह परमेश्वर सदा ही ईश्वरों से परिपूर्ण रहता है । किसी ईश्वर के नष्ट होने को प्रलय कहते हैं, यह प्रलय दो प्रकार का है जब ईश्वर सो जाता है अर्थात् एक ब्रह्माण्ड में सभी तत्वों की वृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं उसको क्षुद्र प्रलय कहते हैं, किन्तु यदि तत्त्वों का ही नाश होजाय तो उसको ईश्वर का ही नाश कहेंगे । वृत्ति नाश तत्वों का नाश नहीं होता जैसे मौन धारण में वाक् इन्द्रिय नष्ट न होकर इन्द्रिय वृत्ति होती है शयन की दशा में सब इन्द्रियों के रहते भी सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ नष्ट होती हैं । किन्तु जीभ काटने पर, आँख फूटने पर अथवा मृत्यु होने पर इन्द्रियाँ ही नष्ट होजाती हैं इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी वृत्तिनाश से ईश्वर का शयन और तत्त्वनाश से ईश्वर की मृत्यु जाननी चाहिये यद्यपि ईश्वर की उत्पत्ति और मृत्यु मानने में विशेष प्रमाण नहीं है तथापि विनाशी पदार्थों के घन होने के कारण प्रकृति नियम के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड की भी उत्पत्ति और नाश होना सम्भवतः प्रतीत होता है ! वेद के अनुसार प्रत्येक जन्म पदार्थ जिस घन में से बाहर निकल कर व्यक्त रूप में आता है और अन्त को जिसमें लय होकर अव्यक्त होजाता हैं उसको ईश्वर कहते हैं, किन्तु ये ईश्वर भी सब जिस घन से निकल कर प्रकट होते हैं और अन्त को जिसमें लीन हो जाते हैं वे ही निधि (ईश्वरों का) परमेश्वर है । इस परमेश्वर के इस जगत् से संबन्ध के कारण द्वादशगुण है जैसा की गीता में लिखा है—

**गति भर्ताप्रभुः साक्षी, निवासः शरणं सुहृत् ।**
**प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१।।**

जो मैं जीव आत्मा हूँ उसको ईश्वर ही जानना चाहिये क्योंकि मैं ईश्वर का ही अंश लेकर उत्पन्न हुआ हूँ इसी प्रकार ईश्वर भी परमेश्वर का अंश लेकर ही उत्पन्न हुआ है इसलिये वह भी परमेश्वर ही है। तात्पर्य यह कि यदि हम व्यापक दृष्टि से देखें तो क्या जगत्, क्या जीव क्या, ईश्वर सब ये एक परमेश्वर ही परमेश्वर हैं—परमेश्वर के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है ।

## सबका आत्मा होना

जिस प्रकार देह की आत्मा जीव है उसी प्रकार इस जीव की भी आत्मा ईश्वर है और उन ईश्वरों की भी आत्मा परमेश्वर है परन्तु परमेश्वर स्वरूपतःअङ्गी होने के कारण आत्मा है, न कि कारण होने से जिस प्रकार कार्य की आत्मा कारण है उसी प्रकार अङ्गों की आत्मा अङ्गी है ये, सब परमेश्वर के अङ्ग हैं । परमेश्वर उनका अङ्गी है इससे वह ईश्वरों की आत्मा है ।

जिस प्रकार मैं स्वयम् एक आत्मा हूँ उसी प्रकार मुझ में विद्यमान ईश्वर मेरी दूसरी आत्मा है और उस आत्मा में भी विद्यमान परमेश्वर मुझ में तीसरी आत्मा है। इसी प्रकार यह ईश्वर भी जो स्वयं एक आत्मा है उसमें विद्यमान परमेश्वर उस ईश्वर की आत्मा है अब तीसरा वह परमेश्वर स्वयं ही एक आत्मा है उसकी कोई दूसरी आत्मा नहीं हो सकता। आत्माओं का इस विभाग के अतिरिक्त प्रकारान्तर से भी विभाग किया जाता है उसके अनुसार हमारे जीव आत्मा में ५ आत्माएँ हैं। इन आत्माओं की स्थिति शरीर में त्रिलोकी संस्था के कारण संपन्न होती है। इसीलिये ईश्वर में भी ये पांचों आत्माएँ विद्यमान रहती हैं क्योंकि उनमें भी त्रिलोक संस्था है। जीव की पाँचों आत्मा और ईश्वर की पाँचों आत्मा परस्पर में अन्न, अन्नाद भाव से रहती हैं। ईश्वर की आत्माएँ जीव की आत्माओं का रस सर्वदा चूसा करती हैं किन्तु जीव की आत्मा भी ईश्वर की उन्हीं आत्माओं से रस लेकर अपनी इस कमी को पूरा करती है। इस प्रकार यद्यपि जीव ईश्वर दोनों में पाँच-पाँच आत्मा संभव होती हैं। किन्तु परमेश्वर में इन पांचों में से एक भी आत्मा नहीं है क्योंकि भूतों से उसका सम्पर्क नहीं। इसलिये एक उसमें भूतात्मा नहीं है। परमेश्वर ने स्वयम् सूत्ररूप होकर सब को अपने में बांध रक्खा है, किन्तु परमेश्वर किसी सूत्र से बँधा हुआ नहीं है। इसलिये उसमें दूसरी सूत्रात्मा नहीं है और जीव, ईश्वर का शरीररूपी क्षेत्र परिच्छिन्न होने के कारण क्षेत्र का अभिमानी क्षेत्रज्ञात्मा हो सकता है किन्तु परमेश्वर का शरीर अपरिच्छिन्न होने के कारण कोई नियत क्षेत्र नहीं हो सकता। इसलिये उसमें तीसरी क्षेत्रज्ञात्मा नहीं। और जीव ईश्वर में भिन्न-भिन्न योनि का विभाग करने वाली महान् आत्मा होती है। परिच्छिन्न होने के कारण जीव ईश्वर में भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों का भेद होना सम्भव है। इसीसे भिन्न-भिन्न योनि स्वरूप, भिन्न-भिन्न महान् आत्मा भी होती हैं किन्तु परमेश्वर अपरिच्छिन्न है। किसी प्रकार की योनि का भेद उसमें सम्भव नहीं इसीलिये परमेश्वर में चौथी महान् आत्मा भी नहीं है। इन चारों आत्माओं के अतिरिक्त पांचवीं चिदात्मा जो ईश्वर या परमेश्वर से ही जीव और ईश्वरों में सम्प्राप्त होता है। किन्तु परमेश्वर स्वयं चिदात्मा है उसमें किसी दूसरे से चिदात्मा का आना सम्भव नहीं। इसीलिये उसमें यह आत्मा भी नहीं हैं।

अथवा प्रकारान्तर से परमेश्वर को यों देखिये कि ईश्वर या जीव में जितनी आत्मायें हैं वे सब परमेश्वर से बाहर नहीं हो सकती क्योंकि परमेश्वर के बाहर कोई प्रदेश ही नहीं है। जहां किसी दूसरे का होना माना जावे इसीलिये ये अनन्त जीव ईश्वर की आत्माएँ परमेश्वर की ही आत्माएँ हो सकती हैं इतना विशेष फिर भी है कि ईश्वर या जीव में पांच-पांच आत्मा होने के कारण परिमित आत्माएँ हैं किन्तु परमेश्वर में आत्माएँ अनन्त हैं इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्व आत्मा दोनों कह सकते हैं। सब आत्माऐं उसकी आत्माऐं हैं इसीलिये वह सर्व आत्मक है किन्तु जगत् जीव, ईश्वर इन सभी का वही एक आत्मा है इसीलिये वह सर्व-आत्मा भी है।

अणु से भी अणु और महान् से भी महान् वह है। कृष्ण, शुक्ल, पीत, हरित सब कुछ वह ही सत् और असत् है। तात्पर्य्य यह है कि इस विश्वभर में जितने विरोध भाव हैं वे सब इस परमेश्वर में आकर अविरुद्ध रूप से विद्यमान हैं।

एक दृष्टि से परमेश्वर को यों भी देख सकते हैं कि इस विश्व में जितने मन, प्राण, वाक् हैं वे सब उसके वास्तविक रूप हैं और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनों ही उसके शरीर हैं और जीव ईश्वर ये सभी उसके वित्त हैं। इन तीनों के अतिरिक्त उस परमेश्वर की आत्मा अलक्ष्य अगोचर निञ्जरन, निराकार है वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय है इस प्रकार आत्मा, रूप, शरीर और वित्त इन चारों से चतुर्व्यूह वाला एक अद्वितीय व्यूहानुव्यूह परमेश्वर है।

इस परमेश्वर की न नाभि है, न संस्था है, न आदि है न अन्त है, न इसका कोई दूसरा आधार है, अनन्त ईश्वर अनन्त जीव, इन सब में यह समान भाव से सर्वत्र व्याप्त है इसकी मुख्यतया दो प्रकार से भावना की जाती है, एक शान्त और दूसरा समृद्ध, इनमें अव्याकृत रूप से यह शान्त है और एकाकार है और एक ही आत्मा है किन्तु समृद्ध भाव से यह अनन्ताकार है और सर्वात्मा है।

## भूमा रस–(रस आनन्द)

शान्त या समृद्ध कोई भी परमेश्वर का स्वरूप यदि मन में लाना चाहे तो वस्तु स्वरूप का सामान्य भाव किसी प्रकार से मन पर आभी जाता है तथापि यदि उसकी सीमा की ओर दृष्टिपात करें तो एकाएक मन रुक जाता है। सीमा को यह मन कहीं भी स्थिर नहीं कर सकता वह इसकी असीमता ४ प्रकार की है-१ दिक् से, २ देश से, ३ काल से, ४ द्रव्य से। यदि किसी बिन्दु पर मन को खड़ा करके परमेश्वर को चारों ओर देखें तो नीचे, ऊपर, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर जहाँ तक मन धावा कर सकता है वह सर्वत्र उसी को पाता है, मन की शक्ति रुक जाती है किन्तु उसके आकार की सीमा नहीं मिलती इसलिये वह दिक् से अनन्त है और समीप से समीप, दूर से दूर और भीतर बाहर सर्वत्र उसको पाते हैं उसका कोई नियत देश नहीं हो सकता। इसलिये वह देश से भी अनन्त है यह सृष्टि जो परमेश्वर की समृद्धि मात्र है। यह कब उत्पन्न हुई और कब तक रहेगी इसका निर्णय कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। सम्भवतः हृदय इसी को स्वीकार करता है कि जगत् अनादि और अनन्त है। इसीलिये परमेश्वर काल से भी अनन्त सिद्ध होता है इसी प्रकार यह द्रव्य से भी अनन्त है। यदि सामान्य दृष्टि से सबसे बड़े पदार्थ को ढूंढे तो नाम मिलेगा। क्योंकि ये सब जो जहाँ कुछ है नाम ही नाम हैं, इसलिये नाम को भूमा कह सकते है किन्तु यह नाम वाक् से उत्पन्न होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के अनन्त नाम केवल एक वाक् ही वाक् है, इसलिये वाक् नाम से भी वड़ी होने के कारण भूमा है किन्तु यह सारी वाक् मन में प्रवेश कर जाती है। मन का प्रदेश वाक् से भी अधिक प्रतीत होता है इसलिये मन भूमा है किन्तु यह मन संकल्प के अधीन अपना रूप बदला करता है, संकल्प का अनुगामी होता है इसलिये ये संकल्प मन से भी वड़ा है और भूमा है किन्तु यह संकल्प मेरे चित्त के कारण उठता है इस–लिये चित्त भूमा है किन्तु यह चित्त ध्यान के वशीभूत होकर ही संकल्प को उत्पन्न करता है इसलिये ध्यान भूमा है यह ध्यान मेरे विज्ञान के कारण से होता है इसीलिये विज्ञानभूमा है।

विज्ञान बल के प्रभाव से न्यूनाधिक होता है इसलिये बल भूमा है किन्तु बल इस शरीर में अन्न के अधीन है अन्न की न्यूनता में बल क्षीण हो जाता है। इसलिये अन्न ही भूमा है किन्तु अन्न, जल से उत्पन्न होता है अन्न के बिना रहकर भी जल के बिना नहीं जी सकता इस वास्ते जल भूमा है किन्तु जल

तेज के अधीन है बिना तेज के जल का प्रवाह न होकर घन हो जाता है इसलिये तेज के ही कारण से जल का प्रवाह है इसलिये तेज भूमा है किन्तु यह सब तेज इस अनन्ताकाश में भरा हुआ है इसलिये वायु भूमा है किन्तु इस वायु से भी स्मरण भूमा है स्मरण से भी आकाश भूमा है आकाश से प्राण भूमा है जितने पूर्व गिनाये गये हैं ये सब के सब प्राण ही प्राण हैं प्राण का ही यह सब विकार है, प्राण से ही उत्पन्न होकर प्राण ही के पकड़ से भिन्न-भिन्न अपना स्वरूप धारण करते हुए प्राण ही के आधार पर सब विद्यमान हैं। नष्ट होने पर अन्त में इन सब की प्राण ही गति है इसलिये प्राण ही सत्य भूमा है हमको उचित है कि सब स्थानों में सत्य को ही ढूढ़े किन्तु यह सत्य विज्ञान के बिना नहीं मिल सकता यह विज्ञान मति के बिना नहीं प्रकट होता यह मति भी बिना श्रद्धा के नहीं होती श्रद्धा भी बिना निष्ठा के नहीं हो सकती, निष्ठा भी बिना क्रिया के नहीं होती और यह क्रिया बिना सुख के नहीं की जाती। किसी भी काम में किसी को भी जब तक सुख नहीं मिलता तब तक उस काम के करने में प्रवृत्त नहीं होता। सुख ही को लक्ष्य करके इस जगत् में सब ही क्रिया की जाती है इसलिये इस विश्व में सुख ही मुख्य है और वही सब को सब काम करा रहा है, इसलिये ये सुख ही भूमा है हम यह भी देखते हैं कि यदि किसी प्राणी को अपनी परिस्थिति से जब कभी कुछ अधिकता प्राप्त होती है तो उसको सुख होता है। अधिकता ही को भूमा कहते हैं, इसलिये भूमा ही सुख और सुख ही भूमा है। जहाँ पर भिन्नता से नाना भाव सुने जायँ नाना भाव देखे जांयँ तो उन भावों को हम परिच्छिन्न कहेंगे और परिच्छिन्न होना अल्पता का लक्षण है। अल्पता अर्थात् कमी होना ही दुःख का मूल है इसके विरुद्ध जहाँ कोई भाव न भिन्न रूप से सुना जाता है और न भिन्न रूप से देखा जाता है वहाँ पर एकता व्याप्त हो जाती है। एकता के कारण प्रत्येक पदार्थ का भेद भाव हट जाता है और सर्वत्र अपरिच्छिन्नता आ जाती है यही अपरिच्छिन्नता भूमा है और भूमा ही सुख है और सुख को आनन्द कहते हैं इसलिये सिद्ध हुआ कि सब विश्व केवल एक आनन्द ही आनन्द है। जहाँ भूमा है वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, अर्थात् ज्ञान में से सब प्रकार के भेद भाव मिटकर एकता आ जाती है सब एक ही विज्ञान हो जाता है यही एक विज्ञान भूमा है इससे सिद्ध हुआ कि यह सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है इस विज्ञान में आनन्द रूप से भागता हुआ जो कुछ है वही सत्ता है और सत्ता ही विज्ञान है और आनन्द है यही सत्ता विज्ञान और आनन्द तीनों खूब विचार करने पर अन्त में भूमा ठहरते हैं इसलिये यही भूमा जिसको सच्चिदानन्द कहते हैं परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप है।

## २१–उपासना–४

जीव इस परमेश्वर की आराधना में सम्यक् प्रकार से समर्थ नहीं हो सकता–केवल ईश्वर की ही आराधना करने से परमेश्वर की भी आराधना सम्पन्न हो जाती है। जो कुछ ऐहिक, आमुष्मिक, काम्य कर्म्म किया जाता है वह सब जीव के लिये और ईश्वर के लिये हो सकता है, किन्तु काम्य कर्मों का कुछ भी प्रभाव परमेश्वर में नहीं पड़ता परन्तु सन्यासी विद्वान् जो कुछ निष्काम होकर कर्म करते है। उनसे मोक्ष होता है। उन कर्म्मों से आत्मा विशुद्ध होकर जीव धर्मों को छोड़कर परमेश्वर में लीन हो जाता है।

**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ।।**

ओम्–इत्येतत्

प्रजापति के प्रधानता से तीन रूप माने गये हैं परमेश्वर, ईश्वर और जीव । इन तीनों के संक्षेप में तीन नाम हैं, ओम्, अहः अहम् । इनमें भी ओम् ही ईश्वर और जीव इन दोनों को प्रतिष्ठा (आधार) है । ये तीनों शब्द दो-दो शब्दों से बने हैं—

अह–अम्=अउ अम्=ओऽम्=परमेश्वरः ।
अह–अन्=अहन् =अहः = ईश्वरः ।
अह–अम्=अह अम्=अहम्= जीवः ।

इनमें 'अ' कार से आत्मा समझी जाती है जो (आत्मा, अ) कि निर्विकार सूक्ष्म रूप है और 'ह' कार से जगत् समझा जाता है क्योंकि जिस प्रकार अ कार ही स्थूलता में आकर ह कार हो जाता है उसी प्रकार आत्मा ही स्थूलता में आकर जगत् बन गया है । इन दोनों अकार हकार के आगे कहीं अम् कहीं अन् लगाया गया है, जिनमें अम् का अर्थ संसृष्टि है अर्थात् दो को मिलाकर एक करना है । तात्पर्य यह है कि आत्मा जगत् से और जगत् आत्मा से मिलकर जो एक रूप बना हुआ है उसी को ओम् या अहम् कहते हैं और अन् का अर्थ जीवन है आत्मा और जगत् इन दोनों से जिसका जीवन है वही कारण रूप ईश्वर अहः कहलाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा में जगत् और जगत् में आत्मा इसी को ओम् या अहम् कहते हैं और दोनों आत्मा या जगत् से जिसका जीवन हो उसका नाम ईश्वर है ।

ईश्वरदर्शन

## २२ उपक्रम (१२) परोरजाः (रजलोक)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः इन्हें त्रैलोक्य कहते हैं । द्यौः से भी परे अर्थात् त्रैलोक्य के पीठ पर इस भौतिक सूर्य से भी एक बहुत बड़ा विलक्षण चिन्मय सूर्य है जिसकी किरणें सत्ता, चेतना और आनन्दमय है, वह कूटस्थ, अचल और ध्रुव है । इसीलिए उसे अक्षर कहते हैं । इसी अक्षर (जो नष्ट न हो) की महिमा स्वरूप कितने ही त्रैलोक्य चारों ओर विद्यमान हैं । इसी अक्षर को हम यहां ईश्वर कहते हैं । इस ईश्वर के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के १३वें खण्ड का तथा नारायण उपनिषद् के कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

**अम्भस्य पारे भुवनस्य मध्ये नाकस्य पृष्ठे महतो महीयान् ।**
**शुक्रेण ज्योतींषि समनुप्रविष्टः प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः ।।**
**यस्मिन्निदं स च, विचैति सर्वं यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः ।**
**तदेव भूतं तद्भव्यमा इदं तदक्षरे परमे व्योमन् ।।**

तेनावृतं खं च दिवं मही च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च ।
यमन्तःसमुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजाः ।।
यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् ।
यदोषधीभिः पुरुषान्पशूंश्च विवेश भूतानि चरा चराणि ।।
अतः परं नान्यदणीय सं हि परात्परं यन्महतो महान्तम् ।
यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।।
तदेवतं तदसत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।
इष्टापूर्तं बहुधा जात जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः ।।
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।
न कर्म्मणा न प्रजया धनेन त्य गेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।।

ईश्वर को "परोरजाः" कहते हैं इसलिए कि 'रज' नाम लोक का है और वह ईश्वर तीन लोक से परे है, बहुत से त्रैलोक्य ईश्वर के चारों ओर विद्यमान हैं ।

परमेश्वर के स्वरूप में व्यापक होने के कारण कोई नाभि अर्थात् केन्द्र नहीं था किन्तु ईश्वर में एक नाभि नियत है और उसी नाभि के चारों ओर अगणित सूर्य या अगणित त्रैलोक्य फिरते हैं। इसी से यह ईश्वर वर्तुलवृत्त, सीमाबद्ध एक परिच्छन्न मूर्ति है उसके मन, प्राण, वाक् इन्हीं तीनों द्रव्यों का बना हुआ रूप है, और वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनों से व्याप्त उसका शरीर है और बहुत से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पिण्ड उसके वित्त हैं इसीलिए उस ईश्वर को प्रजापति कहते हैं ।

## सृष्टिक्रम

यहाँ परोरजाः अपने आकाश में जिस रूप से व्याप्त होता है अर्थात् जिस रूप से अपनी सीमा का आकाश बनाता है वह उस का मुख्यरूप 'मन' है इस मन को चित इसलिये कहते हैं कि उसके चयन अर्थात् चुनाव से 'वाक्' में प्राण विचित्र सृष्टियाँ सिरजा करते है। व्याकरण के नियमानुसार सृज्, धातु का अर्थ संसर्ग अर्थात् एक में दूसरे का मिलना है वास्तव में जगत् की सृष्टि और कुछ नहीं केवल दो तीन या अधिक रूढ़ तत्वों के परस्पर मिलाव से नया रूप दीख आता है उसी को नई सृष्टि कहते हैं उन रूढतत्त्वों का परस्पर से बिछड़ने को प्रत्तिसृष्टि अर्थात् वस्तुओं का नाश होना कहते हैं सबसे प्रथम अनेक रूढ़तत्त्व कुछ न थे केवल ईश्वर आतमा के मन, प्राण, वाक् ही थे। इसीलिए वाक् के ऊपर प्राण के द्वारा मन के ही चुनाव से अनन्तानन्त रूढ़तत्व उत्पन्न हुए हैं इसीलिए उस मन को "चित्त" कहते हैं।

यह चित्त प्राण के बिना कदापि नहीं रहता है। इसी प्राण के द्वारा जो चित का चयन होता है उस चयन की न्यूनाधिकता के कारण वाङ्मय प्राण तीन प्रकार के हो जाते हैं? स्वप्रकाश, २ परप्रकाश ३ रूपप्रकाश। यद्यपि चित्त स्वयं अमृत रूप है किन्तु बल रूप मृत्यु के योग से उसका चयन हो जाता है। चयन होना मृत्यु का काम है उसी मृत्यु के सम्बन्ध के तारतम्य से चयन किये हुए प्राण, के रूप तीन प्रकार के हो जाते हैं इन तीनों को मर्त्य कहते हैं अमृत और मृत्यु इन दोनों के मेल से उत्पन्न हुए रूप को ही मर्त्य कहते हैं। जब कि मन के चयन में बल का अधिक जोर लगता है तो उसमें प्रकाश प्रकट हो जाता है उसी को स्वप्रकाश कहते हैं, यही प्रथम सृष्टि है। किन्तु बल का प्रभाव कम होने से परप्रकाश अर्थात् दूसरे के प्रकाश को ग्रहण करने की सामर्थ्यवाला द्रव्य उत्पन्न होता है यह दूसरी सृष्टि है। इससे भी कम बल का प्रभाव पड़ने पर रूप प्रकाश द्रव्य उत्पन्न होता है यह तीसरी सृष्टि है। ये तीनों द्रव्य आँख से देखे जाते हैं, किन्तु बल की कमी से एक चौथी सृष्टि और होती है जिसको कि आँख से नहीं देखते केवल ज्ञान से ही उसका अनुमान करते हैं। इस प्रकार ये चार सृष्टि हुई, जिनमें अदृश्य रूप जो देखा नहीं जाता उसमें आकर्षण की मात्रा रहने पर भी अत्यन्त कम होने के कारण उसको अमृत ही कहते हैं किन्तु शेष तीनों को मर्त्य कहते हैं।

इनमें स्वप्रकाश को अग्नि, परप्रकाश को सोम और रूपप्रकाश को आप् कहते हैं इन तीनों में फिर से मृत्यु का सम्बन्ध होने के कारण दो-दो भाव से स्थिति होती हैं। अधिक मृत्यु के योग से इन तीनों में घनता आकर तीस प्रकार के पिण्ड उत्पन्न होती हैं। अग्निपिण्ड को सूर्य, सोमपिण्ड को चन्द्र और आपोमयपिण्ड को पृथ्वी कहते हैं। इन तीनों पिण्डों में बिना पिण्ड के दूसरी अवस्था सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहती है उसमें मृत्यु बल कम होने के कारण उसको अमृत कहते है, किन्तु पिण्ड रूप को मर्त्य कहेंगे, इन्हीं दोनों अवस्थाओं को चित्य और चितेनिधेय भी कहते हैं। इनमें अग्नि, फिर २ प्रकार का है—१-सोमसंयोगी और २-सोमविरोधी। सोमविरोधी को यम कहते है। वह जब सोम को अग्नि से पृथक् करता है तो वस्तु का स्वरूप नष्ट हो जाता है इस प्रकार १—अग्नि, २—यम, ३—सोम,—आप् यही चार रूढ़तत्व सबसे प्रथम मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न हुए और इन चारों के चयन अर्थात् परस्पर संयोग के तारतम्य से अनन्त प्रकार के रूढ़, यौगिकरूढ़ और यौगिक पदार्थों ने उत्पन्न हो हो कर इतने बड़े विशाल जगत् का रूप धारण कर लिया है। इनमें तीनों मर्त्य वाक् रूप हैं और चौथा अमृत का अन्न मनकर परस्पर के भोग से इस समस्त जगत् के रूपों का सर्वदा परिवर्तन होता रहता है यही ब्रह्म का विकास है। इसी से कहा जाता है कि यह सम्पूर्ण विशाल जगत् आत्मा से ही उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म ही ब्रह्म है।

## २४ सत्यज्ञानरूप

अग्निमय पिण्ड जिसे सूर्य कहते हैं, सोममय पिण्ड जिसे चन्द्रमा कहते हैं और आपोमय पिण्ड जिसे पृथ्वी कहते हैं इन तीनों में सूर्य और चन्द्र से जो ज्योति उत्पन्न होती है उसमें परमात्मा की ज्योति मिलकर जो रूप उत्पन्न होता है उसे ही ज्ञान कहते हैं। इस जगत् में जो जहां कुछ ज्ञान का रूप दीखता है वह सब सूर्य चन्द्र की ज्योति से प्रत्येक वस्तु का रूप बनकर चक्षु के द्वारा मस्तिष्क में जाकर मन से मिलता है उसके संयोग से ही जीवों का सब ज्ञान उत्पन्न होता है। सूर्य चन्द्र की ज्योति के बिना रूप

के न होने से किसी प्रकार का भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, इसीलिये गाढ़ निद्रा की अवस्था में मन का प्रकाश पूर्ण रहने पर भी किसी वस्तु के रूप का सम्बन्ध न होने से कुछ ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इस विज्ञान में भौतिक प्रकाश का सम्बन्ध है उसी के द्वारा इस विज्ञान में आनन्द का अनुभव होता है इसलिये इस आनन्दमय विज्ञान को ईश्वर का स्वरूप कहते हैं।

इसी प्रकार आपोमय प्राण के साथ संयोग करके जो "परज्योति चित्" का रूप बनता है उसको सत्य कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्वमण्डल आपोमय है आप् के सम्बन्ध बिना कहीं कुछ नहीं बनता किन्तु इस आप् में ही सत्य का भाग है इसीलिये संपूर्ण जगत् के प्रत्येक अर्थ में यह सत्य पाया जाता है। यद्यपि जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के हैं तथापि उन सबमें यह एक ही सत्य भिन्न-भिन्न रूप होकर भिन्न-भिन्न कार्य करता है, यही सत्य प्रत्येक वस्तु को भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न करता है और उनमें भिन्न-भिन्न रूप से बैठकर भिन्न-भिन्न चेष्टा करता है। इस भिन्न रूप में आये हुये सत्य को "वस्तुशक्ति" कहते हैं, इसी को अन्तर्यामी भी कहते हैं उसी के लिये यह गौतम ऋषि का वाक्य है—

**अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम्।**
**सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥१॥**

पृथ्वी, अग्नि, मेघ, जल, बिजली, दिशा, व्योम, वायु, आदित्य, चन्द्र, तारा, भूत, लोक, वेद, यज्ञ, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा, रेत, तम्, तेज और आत्मा इत्यादि जो जहाँ कुछ वस्तु हैं सबके अन्दर इस प्रकार वह सत्य विद्यमान है कि जिसको ये सब वस्तु अपने अन्दर बैठे हुए को भी नहीं पहचानते हैं किन्तु जैसा वह करता है वैसा ही करते और उसको अपना करम समझते हैं। वह अन्दर बैठा हुआ सब का नियमन करता है (अर्थात् मर्यादा में रखता है) इसीलिये उसको अन्तर्यामी भी कहते हैं किन्तु वही सत्य है, वही वस्तु का धर्म है, वही शक्ति है और वही नियति या प्रकृति है। नियति या वस्तुशक्ति का उल्लङ्घन करके न कोई कुछ कार्य करता है और न जीवन ही धारण कर सकता है इस सत्य के ही बल से सूर्य और पृथ्वी आदि पिण्ड अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। आग जलती है सूर्य तपता है, वायु चलती है तात्पर्य यह है कि सब कुछ सत्य के आधीन है। यही सत्य जो प्रत्येक वस्तु में शक्तिरूप से प्रकट होता है वे इसके शक्ति रूप भिन्न-भिन्न अनन्त प्रकार के हैं उनमें से तीन अथवा अधिक यहां तक कि सब शक्तियों के समूह को ही सत्ता कहते हैं। जहां किसी वस्तु की सत्ता कहीं जाय वहां कितने ही प्रकार की शक्तियों का घनपुञ्ज समझना चाहिये। बस इस प्रकार एक सत्ता रूप सिद्ध हुआ और पूर्व में विज्ञान रूप का वर्णन हो चुका है इन दोनों में ही तीसरे आनन्द की मात्रा का भी अनुभव होता है वस्तु की मात्रा का भी अनुभव होता है वस्तु की सत्ता की कमी होने पर ही दुःख का अनुभव होता है, कहना होगा कि यह सत्ता आनन्दमय है। इस प्रकार विचार करने से आनन्द, विज्ञान और सत्ता ये तीनों ही भाव इस जगत् के सर्व व्यवहार के हेतु पाये जाते हैं इसलिये इन तीनों भावों को मिलाकर जो एक रूप उत्पन्न होता है उसे ही "सच्चिदानन्द" कहते है और वही हमारा ईश्वर है।

how different from the concept of energy in Physics

## २४ प्राणसृष्टि

मन, प्राण, वाङ्मय जो परोरजा कहा गया है उसमें मन भाग से ज्ञान, वाक् भाग से सत्य का निरूपण हुआ है इनमें तीसरा जो प्राण है उसकी सृष्टि जानना भी आवश्यक है। प्रथम तो यह प्राण, मन की इच्छा से नाना जाति का असंख्य रूढ़तत्त्व के रूप में उद्‌भूत हुआ। यह प्रत्येक रूढ़तत्व जो कि दूसरे रूढ़तत्व से बिना मिले पृथक् रूप धारण करते हैं इन सब को ऋषि कहते हैं। यद्यपि ऋषि प्राण ही को कहते हैं तथापि प्राण की दो अवस्थायें हैं १–रूढ़, २–यौगिक। इनमें रूढ़ प्राण ही को ऋषि शब्द से व्यवहार होता है, इन्हीं रूढ़ रूपी ऋषियों का यौगिक अवस्था होने पर स्वरूप परिवर्तन होता है, इसलिये उनको ऋषि नहीं कहते हैं, किन्तु ऋषि के पश्चात् ऋषियों के योग से पितर उत्पन्न होते हैं, फिर पितृ-प्राणों के योग से देव और असुर उत्पन्न होते हैं, उनके पश्चात् मनुष्य और गन्धर्व उत्पन्न होते हैं, सब ऋषि, पितर, देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व ये सब प्राण के ही भेद है। इनमें ऋषियों के भेद असंख्य होने पर भी प्राचीन विद्वानों ने जिन-जिन को पहचान कर परीक्षा करके निरूपण किया है उनमें कुछ के नाम ये हैं—

१–भृगु
२–अङ्गिरा
३–अत्रि
४–वशिष्ठ
५–मत्स्य
६–अगस्त्य
७–पुलस्त्य
८–पुलह
९–क्रतु
१०–मरीचि
११–सनकगण
१२–अन्वेतोगण
१३–नारद
१४–पर्वत
१५–अयास्य
१६–गौतम
१७–घोर
१८–प्रगाथ
१९–अथर्वा
२०–भरद्वाज
२१–वामदेव
२२–शुनक
२३–जमदग्नि
२४–विश्वामित्र
२५–कश्यप
२६–कण्व
२७–कौशिक
२८–गृत्समद
२९–शंयु
३०–जरदष्टि
३१–बृहस्पति
३२–सवर्त्त
३३–दक्ष

इत्यादि इन्हीं ऋषियों के परस्पर योग से सोम को ग्रहण करने वाली वस्तु उत्पन्न हो जाती है जब उसमें ऊपर सोम रस भी मिल जाता है तब उसे पितर कहते हैं। इन पितरों की भी दो जातियाँ है १ अमूर्त जो निराकार है। २ मूर्त जो रूपवान् है इनमें अमूर्त के तीन भेद हैं–१ सोम सत् २ बर्हिषत् ३ अग्निष्वात्ता और ये तीनों वास्तव में ३ ऋतुओं के नाम हैं–ऋतुओं में ही सब उत्पन्न होते हैं इसलिये ऋतुओं को पितर कहते हैं। इनके अतिरिक्त ४ पितर मूर्त अर्थात् रूपवान् हैं १–सोमपा २–आज्यपा ३–हविर्भुक्, ४–सुकाल। ये सातों पितर त्रिलोकी में व्याप्त हैं और चन्द्रमा इनका मुख्य स्थान है।

इन्हीं पितरों से देव और असुर उत्पन्न होते हैं जिनमें देवताओं के पांच भेद हैं–अग्नि, २ यम, ३ सोम, ४ आप् ५ उषा। इनमें अग्नि के ८ भेद हैं जिनको 'वसु' कहते हैं और वायु के ११ भेद हैं जिनको 'रुद्र' कहते हैं। इन रुद्रों से फिर दूसरे प्रकार के वायु उत्पन्न होते हैं जिनको मरुत् कहते हैं इन मरुतों के

सात-सात के सात थोक हैं अर्थात् ४९ भेद हैं और वरुण आदि १२ आदित्य के भेद हैं इनमें सब को अर्थात् ८ वसु, ११ रुद्र, ४९ मरुत, १२ आदित्य और २ अश्विनीकुमार ये सब ८२ अग्नि के ही प्रभेद हैं ये सभी देवता सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं उन्हीं के किरणों में रहने के कारण प्रायः ये दिन में ही पाये जाते हैं। किन्तु ये ही देवता जब रात्रि में या अन्धकार में आते हैं तो देवता भाव को छोड़कर काले रूप में हो जाते हैं। उनको ही असुर कहते हैं ये असुर चन्द्रमा या पृथिवी दोनों के काले भाग में अर्थात् सूर्य की विरुद्ध दिशा में सर्वदा विद्यमान रहते हैं। देवताओं से ज्ञान की वृद्धि होती है और असुरों बल की वृद्धि होती है। असुरों की जाति आज तक ९९ पहिचानी गई हैं जिनमें वृत्त, नमुचि, जम्भ, बल, शम्बर आदि प्रधान हैं। इन देवता और असुरों के योग से ही स्थावर जंगम सब सृष्टियाँ उत्पन्न हुई हैं उनमें देवताओं की अधिकता से दैवी सम्पत्ति देखने में आती है और असुरों की अधिकता से आसुरी सम्पत्ति जिनका वर्णन गीता आदि में विस्तार पूर्वक है। इसी प्रकार गन्धर्व की सृष्टि है जो कि चन्द्रमा के उपग्रह होकर चन्द्रमा के चारों ओर फिरते हैं वे अभी तक २७ गिने गये हैं उन सब उपग्रहों के किरणों में जो प्राण है वे भी गन्धर्व ही कहलाते हैं ये सब प्रकार के ऋषि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व, ये पांचों पंचजन कहलाते हैं और ये सब प्राण के भेद है इन सब की सृष्टि उसी जगदीश्वर सच्चिदानन्द परोरजाः से हुई है।

## पञ्चस्कन्द

नाभि से उठा हुआ मन, प्राण, वाक् जिसका रूप है और वेद, यज्ञ, प्रजा इन तीनों से जिसकी शरीर संस्था बनी है और बहुत से अनेक शाखावाले अनन्तग्रह जिसके चारों ओर वित्त के रूप में विद्यमान हैं उसको हम ईश्वर कहते है। ये ऐसे ईश्वर सहस्रों से भी अधिक हैं इनमें ईश्वर जिसके शरीर के अन्तर्गत हमारी सत्ता है उसी का हम निरूपण कर सकते हैं। उसी प्रकार से अथवा कुछ भिन्न भाव से अन्यान्य ईश्वरों को भी जानना चाहिये।

हमारे ईश्वर में नाभि से लेकर भिन्न-भिन्न वित्तों तक भिन्न-भिन्न शाखा पूरी होती है उनमें भी जिन शाखाओं में हमारी सत्ता है उसी का हम वर्णन करेंगे। अन्यान्य शाखाओं का भेद भी उसी प्रकार अथवा कुछ न्यूनाधिक विशेष प्रकार से जानना चाहिये।

सभी शाखायें ईश्वर की नाभि से ही उठती हैं जो वास्तव में ज्ञानमय ज्योति का घन है उसी स्थान से सभी शाखायें प्रतान के अनुसार चारों ओर फैलती है।

इनमें वह शाखा जिसमें हमारी सत्ता है वह पञ्चस्कन्ध का है। पहला स्कन्ध वही है जो ईश्वर की नाभि से ज्ञानमय ज्योति की रश्मि चारों ओर फैलती है। उसी शाखा में कुछ दूर हटकर दूसरा स्कन्ध सूर्य कहलाता है जिसके प्राणमय ज्योति की रश्मि चारों ओर फैलती है उस सूर्य से भी भिन्न ग्रहों के रूप में नाना उपशाखायें चारों ओर फैली हुई हैं जिनमें से एक उपशाखा वह है जिसमें हमारी पृथिवी है यह पृथिवी तीसरा स्कन्ध है। इसके भी चारों ओर प्रशाखा फैलती हैं जिन पर चन्द्रमा है यह चन्द्रमा चौथा स्कन्ध है। इस चन्द्रमा के भी चारों ओर सोममय रश्मियों की उपशाखा फैलती है जिन पर गन्धर्व रहता है यह गन्धर्व पाँचवां स्कन्ध है। इस प्रकार पाँच स्कन्ध बहुतों ने माना है किन्तु विचार

दृष्टि से देखने पर ईश्वर और सूर्य के मध्य में एक और सूर्य जिसको 'अभिजित' कहते हैं एक भिन्न स्कन्ध मानने से ६ स्कन्ध की शाखा हो जाती है। इनमें कितने ही विद्वान् अभिजित् स्कन्ध को मानते हुए गन्धर्व स्कन्ध को नहीं मानते हैं उनके मत से भी पाँच ही स्कन्ध हैं किन्तु जैसे सूर्य्य के चारों ओर के एक पृथ्वी घूमती हैं और उन पृथ्वियों के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है उसी प्रकार चन्द्रमा के भी चारों ओर एक प्रकार के उपग्रह अवश्य घूमते हैं जिनको गन्धर्व कहते हैं ये गन्धर्व अत्यन्त छोटे होने के कारण नहीं दीखते किन्तु बहुतों का विश्वास है कि इन्हीं गन्धर्वों के परस्परा घर्षण में एक दुर्बल गन्धर्व अपने मार्ग से च्युत होकर कभी-कभी पृथिवी तक गिरके आ जाता है और कभी आकाश में ही विलीयमान हो जाता है ऐसे ही गिरते हुए गन्धर्वों को उल्का या धिष्ण्या कहते हैं इन हर छोटे–छोटे जीवों का होना भी सम्भव है, इनके पतन के साथ-साथ उन जीवों का भी नाश हो जाता है इसी कारण से भारतवर्ष में इन उल्का और धिष्ण्या के पतन को अमाङ्गलिक समझते हैं।

इस प्रकार छः स्कन्धों में सूर्य और पृथिवी इन्हीं दो स्कन्धों को लेकर त्रिलोकी कही जाती है जिसमें सूर्य को द्यौ लोक और पृथिवी को पृथिवी लोक कहते हुए इन दोनों के बीच के आकाश को अन्तरिक्ष के नाम से तीसरा लोक कहते हैं। चन्द्रमा गन्धर्व सहित इसी अन्तरिक्ष में माना जाता है इसीलिए वह त्रिलोकी के अन्तर्गत है, किन्तु परोरजाः अभिजित् सहित इस त्रिलोकी से बाहर माना जाता है अभिजित् और परोरजाः ये दोनों ही ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। इनमें अभिजित् को कार्य ब्रह्मलोक या अवर ब्रह्मलोक कहते हैं और परोरजाः को कारण ब्रह्मलोक या परब्रह्म या उत्तम ब्रह्मलोक कहते हैं। कितने ही गन्धर्व पूगों से यह चन्द्रमा घिरा हुआ है, चन्द्र पूगों से पृथिवी घिरी हुई है, और पृथिवी पूगों से सूर्य घिरा हुआ है, इसी प्रकार सूर्य पूगों से अभिजित् और अभिजित् पूगों से परमात्मा या परोरजाः।

गन्धर्वों की श्रेणी जहां तक पूर्ण होती है वहां तक चन्द्रमा की महिमा अर्थात् प्रकाश मण्डल व्याप्त रहता है। इसी प्रकार चन्द्र श्रेणी भी पृथिवी की महिमा में, और पृथ्वियों की श्रेणी सूर्य की महिमा में सूर्य की श्रेणी अभिजित् की महिमा में और अभिजित् की श्रेणी परोरजाः की महिमा में अन्तर्गत हैं।

परोरजाः की महिमा ज्ञानमय है, अभिजित् की महिमा प्राणमय, सूर्य की महिमा देवमय, पृथिवी की महिमा भूतमय, चन्द्र की महिमा सोममय, और गन्धर्वों की महिमा आपोमय है। इस प्रकार ये सब पदार्थ इन्हीं पिण्डों से उत्पन्न होकर या निकलकर इस विशाल जगत् में सर्वत्र व्याप्त हैं एक ही ईश्वर की महिमा में इन सब का समावेश होने के कारण ये सब पदार्थ परस्पर मिल जुलकर नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न करते रहते हैं।

ये सब यद्यपि अपनी अपनी महिमा में स्वतन्त्र होते हुए भी अपने ऊपर वाली महिमा की अपेक्षा परतन्त्र हैं, जैसा गन्धर्व चन्द्रमा में, चन्द्रमा पृथिवी में, पृथ्वी सूर्य में, सूर्य अभिजित् में और अभिजित् परोरजाः के परतन्त्र हैं, अथवा अभिजित् आदि सब परोरजाः के आधीन हैं। इसी प्रकार सूर्य आदि सब अभिजित् के, पृथिवी आदि सब सूर्य के, चन्द्र आदि पृथिवी के और केवल गन्धर्व चन्द्रमा के आधीन है।

जिस प्रकार परोरजा: में नभ्य आत्मा विराजमान है उसी प्रकार वही एक नभ्य आत्मा अभिजित्, सूर्य, पृथिवी, चन्द्र और गन्धर्व में भी विराजमान होकर भिन्न सृष्टि की रचना करता है और अनिरुक्त, आत्मगुण, शरीर और वित्त इस प्रकार चतुर्व्यूह भिन्न-भिन्न रूप से सभी स्थानों में उत्पन्न करता है। इस प्रकार छः स्कन्धों के छः चतुर्व्यूहों से अथवा यों कहिये कि अनन्त स्कन्धों के अनन्त चतुर्व्यूहों से भरी हुई परोरजा: की महिमा अथवा परोरजा: का चतुर्व्यूह ही ईश्वर का स्वरूप सिद्ध है।

यह परोरजा: ईश्वर, ज्ञान, क्रिया, और अर्थ इन तीनों से पूर्ण रहने के कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और विश्वमूर्ति कहकर प्रसिद्ध है। यदि इस ईश्वर की स्तुति करते हुए भक्तिवश परमेश्वर कहें तो मिथ्या न होगा क्योंकि मुख्य एक परमेश्वर की आत्मा ही सब ईश्वर और सब जीवों के रूप में प्रकट हुई है।

## ईश्वर की पाँच आत्मायें

प्रथम हम जीवका वर्णन करते हैं, इस जीव में ५ कोश हैं, कोश वह है कि जिससे किसी वस्तु का (आवरण) ढकना हो, जैसे तलवार का म्यान, इसी प्रकार जीव आत्मा भी जिन म्यानों के भीतर रहता है उन्हीं को जीव के पाँच कोश कहते हैं। इन्हीं पाँच कोशों से चयन होकर आत्मा से शरीर तक जीव का स्वरूप बना हुआ है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी के शरीर को लेकर भीतर आत्मा तक ६ भाग किये गये हैं, जिनमें सब के भीतर वाला एक आत्मा ही मुख्य द्रव्य है उसी के आवरण रूप ५ कोश एक के ऊपर एक चुने हुए हैं जिनमें सबसे बाहरी आवरण को अन्नमय कोश कहते है, जिसका नाम शरीर है। इसके भीतर क्रम से प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश इस प्रकार आत्मा के शरीर सहित ५ कोश हैं।

इस प्रकार जैसे जीव ५ कोशों का बना हुआ है वैसे ही ईश्वर में भी ५ कोशों की सम्भावना की जाती है, किन्तु उसके अन्नमय कोश को 'वसुधान कोश' कहते हैं, इस कोश का स्वरूप डिब्बे के अनुसार है, जिसकी पृथिवी तो पैंदा है और द्यौ उसका ढक्कन है, अन्तरिक्ष उसका मध्य है और दिशायें उसकी कोर हैं। ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ उसमें रक्खी हुई वस्तु हैं। जीव के शरीर में जिस प्रकार तीन लोक और प्राण समूह तथा देवता और भूत मण्डल परिव्याप्त हैं उसी प्रकार ये सब पदार्थ ईश्वर के 'वसुधान कोश' में भी परिव्याप्त हैं। और ये सब पदार्थ ईश्वर के वसुधान कोश में जीवों के अन्नमय कोश में सर्वदा आया करते हैं और साथ ही यहाँ से वहाँ जाया करते हैं, ऐसा ऐतरेय ऋषि ने कहा है।

वह वसुधान कोश ईश्वर का वास्तविक शरीर है जिसमें ईश्वर का प्राण, मन, विज्ञान, आनन्दमय कोश जीव के अनुसार ही विद्यमान है और इसी ईश्वर के शरीर में जीव शरीर के अनुसार आत्मा भी रहती है जिनका वर्णन क्रम से किया जाता है—

(१) परज्योति=चिदात्मा = परोरजा=परात्मा इस ईश्वर के 'परात्मा'—'सूर्य', 'चन्द्र', 'पृथिवी' देवता और भूत' ये सभी इस ईश्वर की आत्मा हैं। इनमें पृथिवी, चन्द्र और सूर्य इन तीनों से तीन लोक समझे जाते हैं किन्तु इस त्रैलोक्य से बाहर जो 'परज्योति' है वह भी इन तीनों लोकों में होता हुआ जीव में पहुँचता है, वह परज्योति इस त्रैलोक्य में और उससे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होने के कारण

सबका साधारण (साधारण आत्मा) प्रातिस्विक (खास आत्मा) माना जाता है वह जिस प्रकार सूर्य की
आत्मा है उसी प्रकार जीव की भी आत्मा है। तात्पर्य्य यह है कि ईश्वर के शरीर रूप ब्रह्माण्ड में एक
रूप से सर्वत्र व्याप्त होती हुई वह चिदात्मा ईश्वर की मुख्य आत्मा होती है इसी 'परज्योति' से सम्बन्ध
के कारण जिस प्रकार मनुष्य के बुद्धि और मन उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार ईश्वर के भी उसी परज्योति
के कारण बुद्धि और मन उत्पन्न होते हैं किन्तु विशेषता यह है कि मनुष्य के अनुसार ईश्वर की बुद्धि
परिमित नहीं है और उसमें भूल नहीं हैं, सदा एक रूप परिपूर्ण तथा विज्ञान बना रहता है। ईश्वर का
मन मनुष्य के अनुसार परिवर्तनशील नहीं है, तात्पर्य यह है कि मनुष्य के शरीर में 'चिदात्मा' की मात्रा
उसके शरीर के आयतन के अनुसार बहुत ही अल्प है इसी कारण भूल या मिथ्या ज्ञान आदि दोष आ
जाते हैं, किन्तु ईश्वर उस चैतन्य से परिपूर्ण है वह ईश्वर में सदा एक रूप बना रहता है इसीलिये उसमें
भूल या मिथ्या ज्ञान होना असम्भव है यही चैतन्य आत्मा ईश्वर की प्रथम आत्मा है।

(२) क्षेत्रज्ञात्मा=विज्ञानात्मा जिस प्रकार जीव आत्मा कई इन्द्रियों से युक्त है उसी प्रकार ईश्वर
के भी भिन्न-भिन्न बहुत सी इन्द्रियाँ हैं किन्तु वे इन्द्रियाँ मनुष्य के अनुसार न होकर भिन्न-भिन्न शक्ति
घन के रूप में संभव होते हैं, जैसा कि सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, शनि आदि जितने पिण्ड भिन्न-भिन्न रूप से
इस ब्रह्माण्ड अन्तर्गत विद्यमान हैं, ये सब भिन्न-भिन्न रूप से एक-एक शक्तिघन हैं इन सब से जो-जो
शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं उन सब का प्रभाव उस सच्चिदानन्द ईश्वर की चेतना में अवश्य ही पड़ता है
क्योंकि ये सब ईश्वर के शरीर के अन्तर्गत हैं इसीलिये इन सब को ईश्वर की एक-एक इन्द्रियाँ कह सकते
हैं। जिस प्रकार मनुष्य के प्रत्येक इन्द्रिय अपने स्वरूप से जड़ है यहाँ तक कि आँख कान को, कान
त्वचा को, परस्पर अनुभव नहीं करते तथापि उन सबके ज्ञान का प्रभाव शरीर विशिष्ट वाले आत्मा पर
पड़ने से सब का समूह रूप मनुष्य चेतन कहलाता है इसी प्रकार ईश्वर के शरीर में भी सूर्य, चन्द्र आदि
एक-एक पिण्ड चेतन नहीं है किन्तु उन सब की शक्तियाँ मिलकर सब के समूह रूप ईश्वर को चेतन
अवश्य बनाते हैं इसी से हमारा विश्वास है कि जिस प्रकार हम एक चेतन हैं उसी प्रकार हमारा ईश्वर
भी जो कि ब्रह्माण्ड रूप से सर्वदा अविचल भाव से स्थिर है वह भी चेतन है। विशेषता यह है कि जीव
के शरीर में इन्द्रियों की शक्ति अत्यन्त अल्प मात्रा में होने के कारण जीव अल्पज्ञ है किन्तु ईश्वर के शरीर
में सभी शक्तियाँ अप्रतिहत रूप से सदा पूर्ण विद्यमान रहती हैं इसीलिये ईश्वर 'पूर्णप्रज्ञ' स्थितप्रज्ञ है।

ये सब शक्तियाँ जिस जिस पिण्ड से उत्पन्न होती है वे सब पिण्ड उन शक्तियों का एक एक क्षेत्र
है और इन सब क्षेत्रों के समूह से बना हुआ यह शरीर भी एक क्षेत्र है इस क्षेत्र के भीतर सभी अवयव
प्रत्यवयवों में परिव्याप्त एक विज्ञान को क्षेत्रज्ञ कह सकते हैं। क्षेत्र के भेद से विज्ञान भिन्न हो जाता है
क्योंकि एक क्षेत्र का अध्यक्ष वही एक विज्ञान है जो विज्ञान उस क्षेत्र को अपना देह कहकर अभिमान
करता है उसको क्षेत्रज्ञ आत्मा कहते हैं। इस विज्ञान को शरीर का अधिष्ठाता होने के कारण इन्द्र कहते
हैं और इसी इन्द्र के अधीन होने के कारण भिन्न शक्तिघनों को इन्द्रियाँ कहते हैं।

जीव के शरीर के अनुसार ईश्वर के शरीर में भी तीनों लोकों को ही क्षेत्र कहते हैं, त्रैलोक्य में
भी एक ही सूर्य अधिष्ठाता होता है इस कारण यह सूर्य ही ईश्वर के शरीर में क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जितनी

प्रकार के आग्नेय देवता है वे सब सूर्य में सन्निविष्ट हैं और वे सब देवता एक केन्द्रवर्ती इन्द्र के अधीन में हैं इसलिये सब देवता ही ईश्वर की इन्द्रियों की वृत्तियाँ हो सकते हैं। इस जगत् में जहाँ जो कुछ देवताओं के व्यापार दीखते है वेही सब ईश्वर के व्यापार हैं अथवा ईश्वर अपने ज्ञान से जैसी इच्छा करता है वैसा ही उनके इन्द्रिय रूप देवताओं की वृत्तियाँ देखने में आती हैं और यही सब ईश्वर के ज्ञानानुसार जगत् की वृत्तियाँ हैं यही ईश्वर का ज्ञान क्षेत्र आत्मा है या ईश्वर के क्षेत्रआत्मा का यही काम है।

(३) महान् आत्मा=षोड़शीआत्मा। जिस प्रकार जीव की या ईश्वर की क्षेत्रज्ञात्मा बुद्धि है उसी प्रकार जीव या ईश्वर का जो मन है उसे ही 'महान् कहते हैं। महानात्मा ईश्वर की चित्त प्रकृति है—चित्त में जितने विचार या विकार उत्पन्न होते रहते हैं उनकी प्रकृति ही 'मन' है—जैसी जिसकी प्रकृति या स्वभाव होता है वैसे ही उसके मन में वृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। जैसे कोई मनुष्य शान्त प्रकृति या कोई उग्र प्रकृति का होता है इसी प्रकृति को महानात्मा कहते हैं। यह प्रकृति दो प्रकार की होती है—१ उद्‌बुद्ध, २ निगूढ़ ( पोशीदा ) उद्‌बुद्ध उसी को कहते हैं कि जिसकी विकार रूप वृत्तियाँ जीवन दशा में सर्वदा परिवर्तन होती हैं किन्तु निगूढ़ प्रकृति के अनुसार प्राणी की शरीर संस्था बनती है, जैसे हाथ से अन्न खाने की प्रकृति रखने वाले मनुष्य का होठ मुलायम होता है किन्तु चाबने के लिये भीतर सख्त दांत होते हैं किन्तु जिसकी प्रकृति मुख से ही तोड़कर खाने की होती है, ऐसे पक्षियों के दांत की मात्रा होठ पर आकर सख्त चोंच उत्पन्न हो जाती है तात्पर्य यह है कि जिस जीव की शरीर गठन जैसी है वह उसकी अवश्य ही अपनी प्रकृति के अनुसार है उसकी आत्मा जिस प्रकार उठना, बैठना, खाना, पीना आदि अपनी प्रकृति के अनुसार चाहती थी वैसे ही उसके शरीर के सब अङ्ग प्रत्यङ्ग बन जाते हैं। बस इस प्रकार शरीर के गठन पर प्रभाव डालने वाली प्रकृति ही निगूढ़ा महान् आत्मा है। इसीलिये गीता में कहा है—

**"सर्व योनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्ति याः।**
**तासां ब्रह्म महद्‌योनि, रहं बीज प्रदः पिताः ॥१॥**
**ममयोनि महद् ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।**
**सम्भवः सर्व भूतानां, ततो भवति भारत" ॥२॥**

जबकि प्रत्येक जीव की आकृति इस महानात्मा के प्रभाव से होती है तो उसी के अनुसार ईश्वर की भी आकृति का उसी महानात्मा के अनुसार सिद्ध होना सम्भव है। ईश्वर की आकृति स्वभाव से ही वर्तुलवृत्त है। इसीलिये कहना होगा कि ईश्वर का महानात्मा वर्तुंवृत्त है। ईश्वर भी अनन्त हैं उनकी भी एक योनि कही जा सकती है उस योनि का मूल भी कोई प्रकृति अवश्य होगी वही ईश्वर की महानात्मा है।

जो सूर्य के अत्यल्प रस का और जो चन्द्रमा के अत्यल्प रस का सूत्रात्मा के द्वारा जीव में आधान होने पर आत्मा उत्पन्न होती है उसकी मात्रा अवश्य ही अल्प हो सकती है किन्तु इस ईश्वर में वह सूर्य या चन्द्रमा पूर्ण रूप से स्वयं विद्यमान है इसलिये ईश्वर की बुद्धि और ईश्वर का मन दोनों ही अधिक मात्रा में परिपूर्ण रूप से माने जाते हैं।

(४) भूतात्मा, ( कर्मात्मा ) क्षेत्रज्ञात्मा और चन्द्रमा से महानात्मा जिस प्रकार उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस पृथ्वी से भूतात्मा की सृष्टि होती है किन्तु यह पृथ्वी जिस प्रकार अपने रस को रखती है उसी प्रकार इसमें सूर्य और चन्द्र के भी रस सम्मिलित हैं, अर्थात् सूर्य, चन्द्र और पृथिवी इन तीनों के रस पृथिवी में हैं इसलिये जिस पृथिवी के रस से हमारा भूतात्मा बनता है उसमें पृथिवी रस के अतिरिक्त चन्द्रमा और सूर्य का रस भी सम्मिलित है। इसी कारण भूतात्मा क्रम से विकास करते हुए तीनों रूपों में परिणत हो जाता है। सबसे प्रथम भूतात्मा का स्वरूप वैश्वानर है किन्तु वैश्वानर का परिपाक होने पर उसी में तैजस आत्मा का विकास होता है। तैजस आत्मा का परिपाक होने पर उसमें से प्राज्ञ आत्मा का विकास होता है इसलिये जीवों के तीन वर्ग हैं किन्तु जीवों में केवल वैश्वानर ही भूतात्मा है जैसा कि हीरा, पन्ना, माणिक, घट, पट इत्यादि और कितने ही जीवों में वैश्वानर तैजस सदा दोनों भूतात्मा हैं, जैसे वृक्ष लतादि में तथा कितने ही जीवों में वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये तीन भूतात्मा हैं। जैसे पशु, पक्षी, मनुष्यादि इन तीनों आत्माओं में वैश्वानर आत्मा का सम्बन्ध पृथिवी रस से है, तैजस का चन्द्रमा तथा वायु से है और प्राज्ञ का संबंध सूर्य से है, ये दोनों सूर्य, चन्द्र आकाश से साक्षात् नहीं आते किन्तु पहले से आकर जो पृथिवी में सम्मिलित हो चुके हैं वे पृथिवी रस के साथ ही पृथिवी से हमें मिलाते हैं। इसीलिये इनका स्वरूप महानात्मा और क्षेत्रज्ञात्मा से भिन्न प्रकार का होता है।

यह भूतात्मा भी जिस प्रकार जीवों में देखा जाता है उसी प्रकार ईश्वर में भी होना सम्भव है—विशेषता केवल इतनी ही है कि जीव में कहीं तीन कहीं दो एक ही भूतात्मा है, किन्तु ईश्वर में यह तीनों ही भूतात्मा नित्य अविकल रूप से विद्यमान रहते हैं क्योंकि उन तीनों रसों से पर्याप्त यह पृथिवी सम्पूर्ण ही ईश्वर में विद्यमान है किन्तु पृथक् व्यवहार के लिये इन तीनों भूतात्माओं का भिन्न नामों से व्यवहार किया जाता है वैश्वानर को वैश्वानर या विराट्, तैजस को हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ को सर्वज्ञ कहते हैं। ये तीनों ही आत्मा वास्तव में अग्नि, वायु और इन्द्र इन्ही तीनों रूपों में जीव और ईश्वर दोनों स्थानों में हैं। अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों के रूप से पृथक्ता होने पर भी ईस्वर के शरीर में अर्थात् ब्रह्माण्ड में अन्यून अनतिरिक्त ( न कम न ज्यादा ) वृत्ति से रहते हैं इसी कारण तीनों मिलकर एक ही रूप ईश्वर का सिद्ध होता है इसीलिये ईश्वर को जैसे वैश्वानर या विराट् कहते हैं। वैसे ही हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ भी कहते हैं। इस वैश्वानर का स्वरूप केकय देश के राजा अश्वपति ने ऋषियों से कहा था और उनसे भी पहले वशिष्ट ऋषि, भारद्वाज ऋषि वत्स और मूर्धन्वान् ने भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और हिरण्यगर्भ का वर्णन प्रजापति ऋषि के पुत्र किसी हिरण्यगर्भ ऋषि ने किया है। यह हिरण्यगर्भ (आत्मा) वायु के प्रभाव से इस त्रिलोकी के सब पदार्थों की रचना करता है।

(५) सूत्रात्मा—सूर्य, चन्द्र, आदि सभी प्रकाशों को प्रका : करनेवाले जो सच्चिदानन्द मूर्ति ने इस त्रैलोक्य के बाहर महाब्रह्माण्ड के मध्य में विराजमान होकर अपनी किरणों को चारों ओर संपूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला रक्खा है वे उनकी रश्मियां सूत्र कही जाती हैं, उन्हीं सूत्रों में असंख्य त्रैलोक्य और त्रैलोक्य के अनन्त पदार्थ बंधे हुऐ हैं। इस जगत् में जो जहां कुछ पदार्थ हैं वे सब सत्य और अमृत इन दोनों के मिलाव से बने हुऐ हैं। उन सब को सदा सर्वदा अपनी रश्मि रूपी सूत्रों में पिरोकर उस सच्चिदानन्द भगवान् ने अपने अधीन में धारण कर रक्खा है।

सहस्रों त्रैलोक्य, सूत्र में बँधे हुए जिस सच्चिदानन्द के चारों ओर फिरते हैं उसी प्रकार प्रत्येक त्रैलोक्य के तीनों लोक भी उसी सूत्र से बन्धे हुए होने के कारण क्रम से किसी सिलसिले में जमे हुए हैं उसी सिलसिले में इधर-उधर नहीं होते ।

ये सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि पिण्ड भी जो एक ईश्वर के अङ्ग हैं ये भिन्न-भिन्न एक-एक उपेश्वर कहलाते हैं । ये सब उपेश्वर भी इसी सूत्र से आपस में बद्ध होकर उस सूत्र के द्वारा ही अपने ईश्वर के साथ बँधे हुए हैं । व्यष्टि (एक) या समष्टि (सब) से जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ इसी एक ईश्वर से पकड़े हुए है ।

हमारा यह शरीर भी बहुत से भिन्न-भिन्न प्रकार के भूतों से तथा भिन्न-भिन्न तन्त्र रखते हुए अनेक देवों से बना हुआ दीखता है । इसमें इन सब भूतों के और देवों के जो अपने भिन्न-भिन्न तन्त्र रखते हैं उन सब तन्त्रों के मेल से जो शरीर के एक तन्त्र कायम होता हुआ दीखता है वह भी उसी सूत्र के प्रभाव से है ।

इस शरीर में प्राण वायु जो सूर्य से आता है तथा अपानवायु जो पृथ्वी से आता है ये दोनों रस एक जगह बँधकर इस शरीर में वैश्वानर अग्नि उत्पन्न करते हैं और दोनों एक के साथ एक बँधकर अलग नहीं होते यह भी सूत्र का ही प्रभाव है ।

इस शरीर में क्षेत्रज्ञआत्मा जो विशेष कर शिर से संबंध रखता है, तथा महान् आत्मा जो शुक्र या रक्तसे संबंध रखता है इन दोनों आत्माओं का हृदय में रहते हुए भूतात्मा के साथ जो घनिष्ट संबंध है यह भी सूत्रात्मा के प्रभाव से हैं ।

इस शरीर में व्यानवायु इस सूत्रात्मा के प्रभाव से सब अंग प्रत्यङ्गों को सिलसिलेवार जमाये हुए रखता है और साथ ही प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा और भूतमात्रा इन तीनों को भी आपस में बाँध रखता है ।

जिस प्रकार इस शरीर में उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में भी ईश्वर इसी सूत्र के प्रभाव से सत्य को अमृत के साथ बाँधकर भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की सृष्टि करता है और सब पदार्थों को उसी सूत्र में पकड़ कर चारों ओर जिधर जैसा चाहता है वैसा फिरता है, इसीसे यह संसार इस प्रकार चल रहा है ।

सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी का परात्माके साथ और परस्पर भी योग दीखता है और तीनों लोकों का परस्पर सम्वन्ध होकर एक त्रैलोक्य का भाव जो दीखता है यही सूत्रात्मा का मुख्य कर्म है । यह सूत्रात्मा एक प्रकार का प्राण वायु है जिसके द्वारा ये तीनों लोक और सभी भूत सिलसिलेवार परस्पर में बन्धे हुए होकर स्तब्ध हैं । इन सब पदार्थों में परस्परका परस्पर के साथ एक बलवान आकर्षण है, इसी आकर्षण को सूत्रात्मा कहते हैं । यह आकर्षण किसी भी वस्तुका निजका धर्म नहीं है क्योंकि धर्म से ही कोई वस्तु कुछ वस्तु बनी है इसलिये एक धर्म की इस जगत् में एक ही वस्तु हो सकती है । यदि एक धर्म दो या अधिक वस्तुओं में पाया जाय तो अवश्य ही विश्वास करना चाहिये कि वह शक्ति या धर्म उन वस्तुओं में किसी एक का भी निज धर्म नहीं है । निज धर्म अव्यभिचारी होता है जो उस वस्तु को छोड़

कर दूसरी किसी वस्तु में पाया नहीं जाता, परन्तु यह आकर्षण शक्ति सभी भिन्न जाति पदार्थों में सामान्य रूप से पाया जाता है, इसलिये कहना होगा कि जैसे किसी वस्तु में गर्मी प्रवेश करती है उसी प्रकार यह आकर्षण भी निज धर्म न होकर बाहर से आकर जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में परिव्याप्त है यदि कोई प्रश्न करे कि यह आकर्षण कहाँ से आया है तो उत्तर में कहना होगा कि इन तीनों लोकों से परे जो सच्चिदानन्द ईश्वर की मुख्य आत्मा परोराज है उसी ये रश्मियाँ संपूर्ण जगत् में व्याप्त हैं। और प्रत्येक पदार्थ को आपस में बाँधने के कारण (इसी रश्मि में इन सब पदार्थों के गुथे रहने के कारण उस परोरजा की रश्मि को सूत्र कहते हैं) यही सूत्र प्रत्येक वस्तु में आकर्षण रूप से हमें दीखते हैं।

संसार के पदार्थों के परस्पर बन्धन को यदि हम देखें तो विदित होता है कि जगत् के दृश्यमान सभी भौतिक पदार्थ आप् अर्थात् पानी से ओत प्रोत हैं और यह 'आप्' वायु में, वायु अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोक में, गन्धर्वलोक आदित्यलोक में, यह लोक फिर चन्द्रलोक में, यह नक्षत्र लोक में, फिर यह देवलोक में, यह फिर इन्द्रलोक में, यह फिर प्रजापतिलोक में और यह ब्रह्मलोक में ओत प्रोत है। जिस में जो व्यापक है वह उसमें ओत प्रोत है। इस प्रकार ओत प्रोत होना इसी सूत्रात्मा का काम है। द्यौलोक से ऊपर और पृथ्वी से नीचे और द्यौ, पृथ्वी के बीच में जो जहाँ कुछ है और जो पहले हो चुका है और आगे को होगा यह सब आकाश में ओत प्रोत है और यह आकाश अक्षरपुरुष में और वह अक्षर परमेश्वर में ओत प्रोत है।

क्षेत्रज्ञात्मा, महानात्मा, परमात्मा और तीन प्रकार के भूतात्मा इन सब को जिस प्रकार इस सूत्रात्मा ने जीव शरीर में बाँध रक्खा है उसी प्रकार ये चारों आत्मा ईश्वर के शरीर में भी इसी सूत्रात्मा के प्रभाव से परस्पर संबद्ध होकर सर्वत्र परिव्याप्त हैं और जीव की अपेक्षा ईश्वर में अधिक मात्रा से हैं।

## ईश्वर की उपासना

आराधना को उपासना कहते हैं, अपनी आत्मा में परमात्मा के धर्म को प्रवेश करने के उपाय का नाम ही उपासना है।

यह उपास्य परमात्मा दो प्रकार का है एक परमेश्वर दूसरा ईश्वर, किन्तु हम ईश्वर के अङ्ग हैं। ईश्वर के द्वारा ही हम जीवों का संबन्ध परमेश्वर से हो सकता है। साक्षात् परमेश्वर से नहीं हो सकता इसीलिये ईश्वर की उपासना न करके साक्षात् परमेश्वर की उपासना हम नहीं कर सकते क्योंकि हम क्षर अर्थात् अवर आत्मा हैं और परमेश्वर परमात्मा है। अवर का पर से संबन्ध करने के लिये मध्य में अक्षरआत्मा से संबन्ध करने की आवश्यकता है। यह अक्षरआत्मा जिसे ईश्वर कहते हैं 'पर' और 'अवर' दोनों से संबन्ध करने के कारण 'परावर' कहा जाता है और इसी अक्षर को अवर और पर दोनों के मध्य में होने के कारण 'सेतु' भी कहते हैं। उसी के द्वारा अवर (इस पार) में रहते हुए जीवों का पार में विद्यमान परमेश्वर से संबन्ध होना सम्भव है और पार में विद्यमान परमेश्वर के धर्म्म भी इस अक्षर रूपी 'सेतु' के द्वारा अवर के जीवों में आते हैं इसी धर्म्म के आने के उपाय को उपासना कहते हैं इस उपासना में जीव को ईश्वर रूपी सेतु के साथ ही संबन्ध करना आवश्यक है क्योंकि उसी ईश्वर के द्वारा

परमेश्वर का धर्म्म जीवों में आता है इसीलिये साक्षात् परमेश्वर की उपासना न करके हम ईश्वर की उपासना करते हैं।

उपासना को प्रचलित भाषा में भक्ति भी कहते हैं इसका कारण यही है कि ईश्वर परमेश्वर की ही भक्ति अर्थात् एक भाग है इसलिये किसी मनुष्य की भक्ति अर्थात् हस्त पाद आदि किसी भी शरीर के भाग को पकड़ने से मनुष्य का पकड़ना सम्भव हो जाता है। उसी प्रकार परमेश्वर की भक्ति रूप ईश्वर के ग्रहण करने से परमेश्वर का पकड़ा जाना संभव है इसीलिये हम ईश्वर की उपासना करके भक्ति के द्वारा परमेश्वर की ही उपासना कर लेते हैं और उसी भक्ति के द्वारा परमेश्वर का अंश हम जीवों में आ जाता है इसी को भक्ति का फल कहते हैं और यही एक प्रकार की प्रतीक उपासना है।

अब इस ईश्वर के भी किसी न किसी प्रतीक की ही उपासना अर्थात् अवलम्बन करते हुए हम ईश्वर के भक्त बनते हैं अर्थात् ईश्वर के अङ्ग में किसी मनोयोग क्रिया के द्वारा अपनी आत्मा को चिपका कर ईश्वर का ही अङ्ग या भाग हम बनते हैं। इस प्रकार भक्ति से उपासना होने के कारण उपासना को भक्ति भी कहते हैं।

जो शब्द किसी समुदाय के लिये आता है उसका उस अङ्ग में भी प्रयोग होता है जैसे पूँछ को स्पर्श करता हुआ गौ के स्पर्श करने का अभिमान करता है, किसी मकान के कौने में प्रवेश करता हुआ सारे नगर में प्रवेश करने का अभिमान करता है इसी कारण वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और सर्वज्ञ इन तीनों में से किसी आत्मा में प्रेम करना अथवा ३३ देवताओं में से किसी देवता में प्रेम करना ईश्वर में प्रेम करने के बराबर है क्योंकि यद्यपि एक एक आत्मा अथवा एक एक देवता साक्षात् ईश्वर नहीं है किन्तु ईश्वर का एक एक अङ्ग है तथापि ईश्वर का अङ्ग होने के कारण ही प्रत्येक उन सब आत्मा या देवताओं में ईश्वर शब्द का प्रयोग किया जा सकता है इसीलिये अपनी इच्छानुसार इनमें से किसी एक अङ्ग की उपासना करना अर्थात् प्रेम करना ईश्वर की उपासना कही जा सकती है इसी कारण दीर्घतमा ऋषि ने अग्नि, वायु, आदित्य आदि कितने ही देवताओं का नाम लेकर उन सब को एक ही ईश्वर का स्वरूप होना कहा है। वह वेद की ऋचा यह है—

> **"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु, रथो दिव्याः ससुपर्णो गरुत्मान्।**
> **एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नियमं मातरिश्वान माहुः॥**
> **तदेवाग्निस्तदादित्य, स्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।**
> **तदेवा शुक्रं तद् ब्रह्म, ता आपः स प्रजापतिः" ॥**

जो जहां कुछ इस जगत् में ज्ञान की मात्राएं हैं तथा बल की या अर्थ मात्राएं हैं ये सब एक ईश्वर में हैं अथवा यों समझिये कि यही सब मिल कर एक ईश्वर का रूप सिद्ध होता है इसलिये वह ईश्वर संपूर्ण जगत् का आधार सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है जब हम किसी की प्रार्थना करते हैं वह किसी न किसी शक्ति की ही प्रार्थना है और वे सब शक्तियाँ ईश्वर के अङ्ग हैं इसलिये किसी रूप में

किसी की प्रार्थना की जाय वह सब ईश्वर की प्रार्थना होती है— ईश्वर की एक कला भी यदि प्रसन्न हो जाय तो उससे हमारी ही आत्मा प्रसन्न होती है प्रसन्नता का अर्थ स्वच्छता है अर्थात् जैसे पानी में से सब प्रकार के मैल दूर कर दिये जायँ अथवा सब तरह की लहर सर्वथा बन्द हो जायँ तो उस समय पानी को प्रसन्न कहते हैं।

इसी प्रकार हमारी आत्मा में से तमोगुण हटा दिया जाय और रजोगुण भी हटा दिया जाय तो जल के अनुसार वह आत्मा निर्मल और प्रशान्त हो जाती है और इसी को आत्मा की प्रसन्नता कहते हैं इस प्रसन्नता में ज्ञान की मात्रा स्वभाव से ही बढ़ जाती है जिससे संसार का क्षोभ हटकर आत्मा के निज का स्वाभाविक आनन्द प्रकट होने का अवसर मिलता है और यही आनन्द प्राप्ति परम पुरुषार्थ है और यही ईश्वर की उपासना का फल है।

यद्यपि यह ईश्वर निरिन्द्रिय है अर्थात् जीव के अनुसार पृथक् पृथक् उसके आंख, कान, मुख आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं तथापि वह अत्यन्त उल्वण चेतन होने के कारण सर्वेन्द्रिय है अर्थात् अपने प्रत्येक अङ्ग से सब इन्द्रियों का काम करता है—

**सर्वतः पाणिपादम् तत् सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।**
**सर्वतः श्रुतिमल्लोके, सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥**

इसी से वह सर्वशक्ति और सर्वज्ञ कहा जाता है सर्वशक्ति के होने के कारण तामस, राजस और सात्विक सभी प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वभावों से उसकी आराधना हो सकती है।

जो कि गण्ड की नदी के तीर पर होने वाली शालग्रामी शिला है वह ईश्वर की साक्षात् प्रतिमा हो सकती है क्योंकि ईश्वर का मुख्य आत्मा परोरजाः है वह मण्डल मूर्ति है और उसमें किसी प्रकार का वर्ग न होने के कारण कृष्ण माना जाता है। यद्यपि कृष्ण भी दो प्रकार का है एक वर्ण दूसरा अवर्ण इनमें परोरजाः अवर्णकृष्ण है किन्तु अवर्णकृष्ण प्रतिरूप ग्रहण करने योग्य जगत् में कोई भी मण्डल मूर्ति नहीं है इसीलिये वर्णकृष्ण के द्वारा ही उस का उपलक्षण किया जाता है परन्तु वर्णकृष्ण वाले शालग्राम से भी उस अवर्णकृष्ण का ही तात्पर्य है और सूर्य का बिम्ब हिरणमय कहा जाता है वह उस परोरजा के गर्भ में है इसलिये ईश्वर की आत्मा हिरण्यगर्भ भी कही जाती है उसी प्रकार शालग्राम भी हिरण्यगर्भ है जिस प्रकार परोरजा के शरीर में अनेक शाखा से सूत्रात्मा काम करता है उसी प्रकार शालग्राम में भी भीतर बहुत सी रेखाओं से सूत्र का चिह्न लक्षित होता है। तात्पर्य्य यह है कि ईश्वर के रूप का सादृश्य बहुत कुछ इस शालग्राम में पाया जाता है इसलिये ईश्वर के रूप को हृदय पर लाने के लिये यह शालग्राम शिला योग्य साधन हो सकता है यदि इसको देखते हुए ईश्वर पर बुद्धि निरवच्छिन्न मनोयोग के द्वारा की जावे तो उसी को ईश्वर की उपासना कहते हैं इस उपासना से मन का ईश्वर के रूप में होने का अभ्यास करने से मन शुद्ध होता है और उससे ज्ञान का विकास होने से मुक्ति होती है।

हमारी भूतात्मा जिसे जीव कहते है वह वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ के भेद से तीन प्रकार का है— इन तीनों के मूलभूत ईश्वर की तीन आत्मा है जिन्हें विराट, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ कहते हैं। यद्यपि ये तीनों मिलकर एक ईश्वर है तथापि इन तीनों को पृथक् ईश्वर कहना भी अनुचित नहीं हैं इनमें उपासक लोग विराट् को विष्णु, हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा और सर्वज्ञ को शिव कहकर पृथक्-पृथक् उपासना करते हैं किन्तु ये तीनों ही ईश्वर के प्रतीक होने के कारण किसी एक की उपासना से भी ईश्वर की पूरी उपासना हो सकती है किन्तु यदि तीनों मूर्तियों को मिलाकर तीनों की अभेद रूप से एक उपासना की जाय अर्थात् एक पर ही बुद्धि लगाई जाय तो वह उत्तम होगा।

ये तीनों पृथक्-पृथक् बुद्धि में लाये जाये अथवा एक रूप से उपासना किये जाये तो दोनों प्रकार से उपासना होने पर भी इन की उपासना अध्यात्म में ही की जाती है न कि अधिदैवत में, तात्पर्य्य यह है कि यह ईश्वर मुख्य रूप से वसुधान कोश में अर्थात् ब्रह्माण्ड शरीर में ही समझे जाते हैं इसी को अधिदैवत कहते हैं किन्तु उनकी उपासना करने से अधिक फल नहीं होता क्योंकि जो ईश्वर का भाग हमारे शरीर से बाहर है हमारे शरीर में न आकर दूसरे किसी के शरीर में प्रविष्ठ होता है, अथवा अन्तरिक्ष में ही रहता है, उस भाग से हमारा सम्पर्क न होने के कारण उनकी उपासना अधिक लाभदायक नहीं है इसलिये जो ईश्वर का भाग व्यापक होने के कारण हमारे शरीर में प्रविष्ट है वह हमारे जीवात्मा का अधिष्ठाता होकर हमारे शरीर का संचालन करता है उसकी उपासना से हमारे शरीर में अधिक मात्रा से ईश्वर के अंश का प्रवेश होता है और उसमें मन के संयोग से मन शुद्ध होता है और मन की ज्ञानशक्ति बढ़ती है जिससे कषाय दूर होने के कारण हृदय ग्रन्थि के बन्धन का ढीला होना सहज हो जाता है जिससे निः श्रेयस की प्राप्ति होती है यही उपासना का फल है।

इस जगत् में जो जहां कुछ है सब ईश्वर ही ईश्वर है। यहां तक कि हम भी ईश्वर के एक अंग हैं किन्तु हमारी शक्ति की मात्रा परिमित और अत्यल्प होने के कारण ईश्वर के संपूर्ण रूप को सहसा ग्रहण नहीं कर सकते इसलिये आवश्यक है कि ईश्वर के किसी प्रतीक का हृदय में ग्रहण करें। ईश्वर की भक्ति के द्वारा सम्पूर्ण ईश्वर का साक्षात् करना ही ईश्वर की उपासना है।

यदि किसी मनुष्य को कोई देखना चाहे तो सम्भव है कि उस के शिर पर या उसके छाती पर या पांव पर उसकी दृष्टि अवलम्बित हो। तात्पर्य्य यह है कि किसी न किसी अङ्ग को ही देखकर सम्पूर्ण उस मनुष्य के देखने का अभिमान करता है न कि उस मनुष्य के बाहर शरीर अस्थि, मांस, नाड़ी वगैहरा सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्ग को देखने का कोई साहस कर सकता है इसी प्रकार ईश्वर में भी उसके किसी एक अङ्ग के द्वारा ही मनुष्य अपनी बुद्धि को प्रवेश करा सकता है इसीलिये विष्णु अर्थात् वैश्वानर आत्मा, ब्रह्मा, अर्थात् हिरण्यगर्भ आत्मा, शिव अर्थात् सर्वज्ञात्मा इन तीनों में से किसी एक को भी ग्रहण करके अथवा इस शरीरवर्ती और किसी भी देवता का ग्रहण करके उपासना करने से ईश्वर की उपासना हो सकती है।

दूसरा मत यह है कि किसी समुदायक की भक्ति में आत्म समपर्ण करके लीन होना अर्थात् उसके आश्रित होना उपासना से तात्पर्य्य है जैसे किसी महासमुद्र में एक छोटी सी नमक की डली डाल दी

जावे तो वह पिघल कर सूक्ष्म होकर भी सम्पूर्ण समुद्र में व्याप्त नहीं हो सकती तथापि समुद्र के जितने थोड़े से प्रदेश में वह व्याप्त हुई है उतने से ही समुद्र में लीन होना कहा जा सकता है इसी प्रकार हमारा जीवात्मा यदि विश्वव्यापी ईश्वर के सर्वाङ्ग में व्याप्त न भी हो तथापि जितनी सी भक्ति में उसने आत्म-समपर्ण किया है उतने से ईश्वर में लय होना कहा जा सकता है।

उपासना का तीसरा प्रकार जो प्रचलित सम्प्रदाय में गन्ध पुष्पादि समपर्ण के द्वारा पूजन करना है इसका तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा का मन संसार व्यवहार में प्रबल होने के कारण अत्यन्त चंचल है उसका मन बहुत विषयों में फैलने के कारण दुर्बल हो रहा हो तो उसको संसार के विषयों से हटकर एक ईश्वर में वृत्ति की स्थिरता के लिये संसार के सब व्यवहार को एक ईश्वर की ओर लगाकर एक ईश्वर के अवलम्बन पर मन को ठहराना है यदि इसके द्वारा मन एक ईश्वर पर विश्रान्त हो जावे तो वह ईश्वर की उपासना हो सकती है।

दूसरी बात यह है कि इस जगत् में जो वस्तु हमें अधिक प्रिय है उनमें मन के द्वारा स्वभावतः ही मेरी आत्मा बसी रहती है इसलिये उन २ प्रिय वस्तुओं को ईश्वर में समपर्ण करने से उन वस्तुओं के साथ फैला हुआ हमारा आत्मा भी समर्पित हो जाता है इस प्रकार यदि हम अपने सर्वस्व को ईश्वर के लिये समपर्ण करदें तो संभव है कि मेरी आत्मा का बहुत सा अंश समर्पित हो जावे इस प्रकार ईश्वर में जीवात्मा का आत्म समर्पण करना ही उपासना कही जाती है।

एक यह भी मत है कि जगत् में जीव के लिये दो मार्ग हैं प्रवृत्ति और निवृत्ति जिनमें प्रवृत्ति कर्मप्रधान है और निवृत्ति ज्ञानप्रधान है। ज्ञान और कर्म दोनों ईश्वर के रूप हैं किन्तु दोनों का आधान एक साथ नहीं हो सकता इसलिये प्रथम वेद ने कर्मकाण्ड का विधान किया है और अन्त में ज्ञानकाण्ड का उपदेश दिया है। ज्ञानकाण्ड में सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा परित्याग करना पड़ता है, किन्तु जीवित दशा में कर्मों का सर्वथा परित्याग कर देना असंभव है इसीलिये प्रवृति मार्ग अर्थात् कर्ममार्ग से निवृतिमार्ग अर्थात् ज्ञानमार्ग पर चढ़ने के लिये मध्य में दोनों से युक्त एक मध्यममार्ग का आलम्बन करना आवश्यक हो जाता है। उसी को उपासनामार्ग कहते हैं इस मार्ग में पूर्ववत् सब प्रवृत्ति करते हुए भी वे सब प्रवृत्तियाँ निवृत्ति के लिये की जाती हैं जिस प्रकार किसी पात्र के मैल छुड़ाने के लिये मिट्टी से मांजते हैं उसी प्रकार एक ईश्वर का अवलम्ब न करके सब प्रकार की प्रवृत्ति करना भी निवृत्ति के लिये हो जाता है-यही उपासना का रहस्य है।

———

# अथ जीवदर्शनम्

## परमेश्वर और ईश्वर से जीव धर्म्मभेद

जिसमें अविद्या के द्वारा क्लेश, कर्म और कर्मों का विपाक (फल) ये तीनों अपना आशय नियत करें उसी को जीव कहते हैं। किन्तु ईश्वर इन तीनों से अस्पृष्ट है–अर्थात् क्लेश, कर्म और विपाक इन तीनों के आशय से और इन तीनों के द्वारभूत अविद्या से जिसका कदापि स्पर्श नहीं होता उसी पुरुष को ईश्वर कहते हैं, वह विद्या का निधि है और छ उर्मियों से रहित है। शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा इन छओं को ऊर्मी कहते हैं। जीव में ये छओं ऊर्मियां देखी जाती हैं किन्तु ईश्वर में इनका सर्वथा अभाव है। इनके अतिरिक्त ईश्वर में काम और सङ्कल्प ये दोनों सत्य हैं अर्थात् जिन भूत या विद्यमान पदार्थों की ईश्वर कामना करता है वे पदार्थ उसी क्षण उपस्थित हो जाते हैं और भविष्यत् के लिये जैसे करने का संकल्प करता है वह वैसा ही तत् क्षणात् हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर अष्टगुणी कहलाता है और इन्हीं आठ गुणों में ईश्वर से जीव में भेद है। इन दोनों के अतिरिक्त जो तीसरा परमेश्वर है उसमें न ईश्वर की तरह विद्या है न जीव की तरह अविद्या है इन के अतिरिक्त उस परमेश्वर में न सम्भूति है न नाश है न उसमें जीव की तरह उर्मि हैं और न ईश्वर की तरह संकल्प और काम है।

परमेश्वर नीचे ऊंचे पूरब पश्चिम उत्तर–दक्षिण चारों ओर सर्वत्र व्याप्त है जो जहां कुछ है सब वही परमेश्वर है, उसी में अनन्त ईश्वर और अनन्तानन्त जीव उत्पन्न हो हो कर नष्ट होते रहते हैं। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर असीम है और उसमें ईश्वर तथा जीव ससीम है। अखिल पदार्थों के कर्म रूप नाम जो जहां कुछ है और वेद, यज्ञ तथा अग्नि, सोम, यम, आप रूपी चारों प्रजायें सब उसी में उत्पन्न विनष्ट हुआ करती हैं, उसी से ईश्वर में अवतीर्ण हो कर ईश्वर से जीव में अवतीर्ण होती है और फिर व्युत्थान दशा में जीव से ईश्वर में और ईश्वर से फिर उसी परमेश्वर में संक्रान्त होती हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरण पानी में अवतीर्ण हो कर प्रतिबिम्ब का रूप धारण करती हैं फिर व्युत्थान दशा में वह प्रतिबिम्ब सूर्य किरणों में लीन हो जाता है। यद्यपि सब कुछ इसी परमेश्वर में है परमेश्वर से अलग कभी कहीं कुछ नहीं है तथापि ये सब पदार्थ परमेश्वर की ही आत्मा में निर्भर नहीं रहते किन्तु परमेश्वर के भीतर अनन्तानन्त नये व्यूह उत्पन्न होते हैं जिनको ईश्वर कहते हैं। जिन की नाभि में अनिरुक्त आत्मा और दूसरा अतिष्ठा वा (अर्थात् सब शरीर में फैला हुआ) आत्मा से संवन्ध रखते हुए भिन्न-भिन्न पदार्थ उत्पन्न विनष्ट होते हैं इसी प्रकार इन ईश्वरों में भी नये-नये व्यूह उत्पन्न होते हैं जिन को जीव कहते हैं। इन जीव आत्माओं से भी कितने ही पदार्थ संवन्ध रखते हुए उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। कितने ही पदार्थ ईश्वर में परमेश्वर से आये हैं किन्तु अन्य कितने ही पदार्थ ईश्वर की दशा में ही नये उत्पन्न होते रहते हैं। इसी प्रकार जीव में भी परमेश्वर और ईश्वर से आये हुये पदार्थों के अतिरिक्त इस जीव दश में ही कितने ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिन की उत्पत्ति ईश्वर की आत्मा से नहीं थी। इतना होने पर भी सब जीव की आत्मायें ईश्वर की आत्मा से और ईश्वर की आत्मायें परमेश्वर से उत्पन्न होने

के कारण सब पदार्थों का संबन्ध परमेश्वर कहा जा सकता है। अर्थात् देवसङ्घ, भूतसङ्घ इन दोनों के लोक और इन सब के सूत्र ये सब ईश्वर की दशा में उत्पन्न होने के कारण ईश्वर की ही भक्ति है। परमेश्वर की भक्ति न होने पर भी परमेश्वर में रहते अवश्य हैं। इसी प्रकार दश इन्द्रियां, सात धातु, तीन धातु और मल, नाड़ी, मस्तिष्क आदि शरीर संस्था, दो प्रकार के कर्म, उन के तीन प्रकार के विपाक अविद्या, पांच प्रकार के क्लेश, छ प्रकार की ऊर्मयां ये सब पदार्थ परमेश्वर तथा ईश्वर में रहते हुए भी इन दोनों की भक्ति नहीं है किन्तु जीव की ही भक्ति कही जाती है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रदीपों का प्रकाश या किरण आकाश में फैले रहने पर भी वे गृहाकाश की भक्ति नहीं हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न किरणें भिन्न २ प्रदीप (दीपक) की भक्ति होने के कारण उसी प्रदीप की उत्पत्ति विनाश के साथ २ उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। उसी प्रकार जीव ईश्वर में भी समझना चाहिये।

## २ जीव का मुख्य स्वरूप लक्षण

आत्मा जोकि मन, प्राण, वाक्, इन तीनों का समुच्चय रूप है। उस में मन को चित् कहते हैं। चित् का अर्थ चुनाव करने वाला है। यह चित् अपनी इच्छावृत्ति से प्राण अर्थात् बल को उठाकर उस के द्वारा वाक् पर चिति करता है। अर्थात् वाक् के ऊपर मन के व्यापार से विकृत हुए प्राण के साथ अन्य वाक् का प्रचय (चुनाव) करता है। वही एक वाक् के, ऊपर दूसरी वाक् की चिति कही जाती है। यह चिति ३ बार होती है। बीजचिति, देवचिति, भूतचिति अर्थात् आत्मा के निज रूप शुद्ध वाक् के ऊपर जो प्रथम बार अन्य वाक् का प्रचय हुआ उस में बल इन दोनों वाकों को बाँध कर विलक्षण एक रूप देकर कृतकृत्य हो गया, वह स्वरूप बीजचिति के नाम से प्रथम चिति आत्मा में सिद्ध होती है। फिर इस आत्मा के मन की दूसरी इच्छा उठने पर दूसरा बल उन दोनों वाकों की ग्रन्थि पर तीसरी वाक् प्रचय करता है वह दूसरी चिति देवचिति के नाम से कही जाती है। इसी प्रकार तीसरी बार अन्य वाक् का प्रचय होने पर तीसरी चिति भूतचिति के नाम से प्रसिद्ध होती है। इस प्रकार इन तीन चितियों की चिति जो वाक् पर होती है उसका करने वाला आत्मा का मन भाग है इसलिये वह चित् कहलाता है। इन तीन चितियों से बनी हुई चिति को ही माया कहते हैं। माया का अर्थ आश्चर्यमय अद्भुत तत्व है। जिसका वास्तव कारण समझ में न आवे किन्तु प्रमाण से सिद्ध हो। ये तीनों चितियाँ माया इसलिये कही जाती हैं कि इन चितियों के लिये अथवा इस प्रकार की चितियों के लिये आत्मा में सर्वप्रथम इच्छा क्यों उठी और तीन ही बार इच्छा क्यों हुई, चौथी बार इच्छा क्यों नहीं हुई इत्यादि प्रश्न हो सकते हैं किन्तु इनका उत्तर कदापि दिया नहीं जा सकता केवल परीक्षा करने से जिस प्रकार जितनी चितियां स्पष्ट भासती हैं वे प्रमाण सिद्ध होने से अवश्य ही मानी जा सकती हैं। इसलिये जबकि ये दीखती हैं किन्तु इनका कारण नहीं जाना जाता इसी से सिद्ध हुआ कि ये तीनों ही एक माया है। (माया नाप करने वाली, अपरिछिन्न करने वाली माया कहलाती है।) इस प्रकार इस माया के इन तीनों भागों को हम तीन नाम से कहेंगे। बीजचिति, देवचिति और भूतचिति ये तीनों ही क्रम से आत्मा का आवरण होते हैं, इसलिये प्रथम आवरण बीजचिति को कारण शरीर, दूसरे आवरण देवचिति को सूक्ष्मशरीर और तीसरे आवरण भूतचिति को स्थूल शरीर कहते हैं।

इनमें प्रथम आवरण बीजचित में तीन भाग हैं। मन और प्राण के मिलने से एक नया रूप विज्ञानमय प्राण है, इसी को विद्या कहते हैं। इसी प्रकार वाक् और प्राण मिलने से दूसरा नया रूप उत्पन्न होता है जिसे ही अविद्या कहते हैं जो कि वास्तव में एक प्रकार का वाङ्मय प्राण है। इन दोनों प्राणों में क्रम से प्रथम में मन की और दूसरे में वाक् की मात्रा बढ़ी हुई है किन्तु यदि प्राण में अन्य दोनों मात्रायें कम हो अर्थात् प्राण की मात्रा अधिक हो अर्थात् तीनों मात्रा सम हों तो उस मिलाव से सिद्ध हुए रूप को कर्म कहते हैं। यही कर्म तीन प्रकार का है—सम मात्रा होने से सत् कर्म्म और अल्प ज्ञान मिले हुए प्राण को विकर्म्म तथा अल्प-वाक् मिले हुए ज्ञान मात्रा रहित प्राण को अकर्म्म कहेंगे। तात्पर्य यह है कि प्रथम बीजचिति के मन, प्राण, वाक् इन तीनों के विकार से विद्या, कर्म्म और अविद्या ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ये तीनों आत्मा के अर्थात् शुद्ध मन, प्राण, वाक् के प्रथम आवरण होते हैं इसलिये इन्हीं को कारण शरीर कहते हैं और इन्हीं तीनों को सांख्य वाले प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अर्थ कारण है। ज्ञानात्मक सब ही विकार विद्या से और क्रियात्मक सब ही विकार कर्म्म से और अर्थात्मक सब ही विकार अविद्या से उत्पन्न होते हैं। इसीलिये ये तीनों ही आत्मा की भोग सामग्री की प्रकृति कहलाते हैं। इनमें विद्या को सत्व गुण और कर्म्म को रजोगुण और अविद्या को तमोगुण नाम देकर सांख्य शास्त्र में व्यवहार किया गया है। किन्तु जिस आत्मा का यह बीजचिति प्रथम आवरण होता है उसी को सांख्य में पुरुष कहा है। इसके प्रथम आवरण विद्याकर्म और अविद्या के सम्बन्ध से ही यह आत्मा जीव कहलाता है। अर्थात् भूतचिति और देवचिति इन दोनों आवरणों के मिट जाने पर भी जब तक यह बीजचिति आत्मा से न हटे तब तक आत्मा आवरण से बद्ध रहता है और परिछिन्न होने से जीव या ईश्वर कहलाता है। परन्तु यदि किसी उपाय से यह बीजचिति का आवरण भी आत्मा से दूर हो जाय तो वह आत्मा आवरण से मुक्त होकर व्यापक हो जाता है परिछिन्न न रहने से जीव या ईश्वर न कहला कर परमेश्वर कहलाता है और संसार के बीजरूप उस बीजचिति के नष्ट होने से देवसृष्टि या भूत सृष्टि भी उस आत्मा में नहीं होने पाती इसलिये उस आत्मा का बन्धन फिर कभी नहीं होने पाता इसी को अपवर्ग मोक्ष कहते हैं। किन्तु इसके विरुद्ध जब तक आत्मा में बीजचिति का बन्धन है तब तक उस आत्मा को जीव कहते हैं यही जीव का मुख्य स्वरूप लक्षण है। भूतचिति के या स्थूलशरीर के नष्ट होने को मौत (मृत्यु) कहते हैं, देवचिति या सूक्ष्म शरीर के नष्ट होने से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य मुक्ति होती हैं किन्तु बीजचिति या कारणशरीर के नष्ट होने से अपवर्ग मुक्ति होती है जो सब से बढ़कर मुक्ति है स्थूलशरीर के नष्ट होने से मृत्यु, सूक्ष्मशरीर के नष्ट होने से ईश्वर और कारण शरीर नष्ट होने से परमेश्वर होता है।

## ३ जीव का लक्षण– अविद्या

जीव की आत्मा के मन, प्राण वाक् में से प्राण की वृति छ प्रकार की हैं। उत्पत्ति, विनाश, अगति, गति, अविद्या और विद्या ये छओं वृत्तियां यद्यपि प्राण की है तथापि इनका निमित्त मन है मन के संयोग के तारतम्य से ही प्राण में उपयुक्त छ भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राण के संयोग के तारतम्य से मन में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के वृत्तिभेद उत्पन्न हो जाते हैं और ये पांच हैं—प्रमाण, निद्रा, स्मृति, विपर्यय, विकल्प। किसी वस्तु के भाव को अर्थात् सत्ता का अवलम्बन करती हुई मन की वृत्ति

को प्रमाण कहते हैं और अभाव को अवलम्बन करती हुई वृत्ति को निद्रा कहते हैं और प्रभा ( ज्ञान ) जन्य संस्कार को अवलम्बन करती हुई वृत्ति स्मृति है और दूसरे भाव पर बैठ कर यदि मन दूसरे भाव की वृत्ति उत्पन्न करे तो वह भ्रम है इसको हीं विपर्यय कहते हैं। और किसी भाव को अवलम्बन न करै तो उसे विकल्प कहते हैं। इन मन की पाँच वृत्तियों में से विपर्यय को भ्रम कहा है। इसी को किसी अवस्था में क्लेश कहते हैं। यह क्लेश पाँच प्रकार के हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, इनमें तम को अविद्या कहते हैं अर्थात् अन्य वस्तु को अन्य वस्तु के रूप में ग्रहण करना ही अविद्या है ।।१।। मोह को अस्मिता कहते हैं अर्थात् जहाँ दृश्य और दृष्टि इनका भेद न हो अर्थात् देखता हुआ भी किसी वस्तु को मैं देखता हूँ इस बात का ज्ञान न हो उसको अस्मिता कहते हैं ।।२।। सुख को लेते हुए किसी अर्थ के साथ बँध जाना ही राग है। राग में सुख की मात्रा ही हमारे मन को किसी वस्तु के साथ इस प्रकार बाँधती है कि जिससे मन परतन्त्र हो जाता है, अपनी स्वतन्त्रता को खो बैठता है और जिस वस्तु के साथ बँधता है उससे कुछ लाभ नहीं उठाता किन्तु बन्धन के कारण अन्य वस्तुओं से संबन्ध करके भी कुछ लाभ नहीं उठा सकता, इसीलिये राग भी एक प्रकार का दोष है ।।३।। इसी प्रकार दुःख को लेते हुए किसी अर्थ का तम से बँधना द्वेष है ।।४।। अनिष्ट की संभावना से भय पाकर अपनी आत्मा के बचाव के लिये छिपाने का प्रयत्न करना अभिनिवेश है ।।५।। राग में काम, लोभ, तृषा प्रायः होते हैं, ये तीनों राग के ही विकार हैं। इसी प्रकार क्रोध, मद, मत्सरता ये तीनों द्वेष के विकार हैं और मोह, अविवेक, अनवधान आदि अस्मिता के रूप हैं। ये सब मिलकर जीव आत्मा के बन्धन के लिये "पाश" (फाँसी) कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा जीव आत्मा सर्वदा फँसा रहता है।

इस प्रकार जो पाँच क्लेश कहे गये हैं उन्हीं से कर्म के आशयों की और कर्म के विपाकों की उत्पत्ति होती है। जिन में कर्म दो प्रकार के हैं और कर्मों के विपाक तीन प्रकार के हैं। इन्हीं कर्म और विपाकों के योग से यह आत्मा बँध कर क्लेश पाता है। इसीलियें इन के मूलभूत अविद्या आदि पाँचों को क्लेश कहते है। इनमें अस्मिता, अभिनिवेश, राग, द्वेष ये चारों ही अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अविद्यामय हैं इसीलिये संक्षेप में इन को अविद्या ही कहते हैं। इन सब क्लेशों की फिर पाँच अवस्थायें हैं—उदार, तनु, प्रसुप्त, छिन्न, विप्लुष्ट और ये सब क्लेश जब पूर्ण ओज में रहते हैं तो बन्धन आदि अपने कार्यों को पूर्ण रूप से दिखाते हैं उसी अवस्था को उदार कहते हैं और ये सब यदि सूक्ष्मता की दशा में दुर्बल हो जावें तो इन से जो कुछ बन्धनादि कार्य उत्पन्न होते हैं वे शिथिल होते हैं और वे दूसरे प्रबल कर्मों के प्रभाव से दब जाते हैं, ऐसी अवस्था को तनु कहते हैं। और जब कि दूसरे किसी कर्मों के दबाव से इनका प्रभाव सर्वथा नष्ट हो जाय किन्तु इनकी जड़ बनी रहे और दबाव हटते ही ये फिर प्रबल हो जायँ तो ऐसी दबी हुई, सो जाने की अवस्था को प्रसुप्त कहते हैं और यदि ज्ञानशक्ति के प्रभाव से इनकी शक्ति ही निर्मूल करदी जाय तो इनकी निज की सत्ता रहने पर भी ज्ञान का दबाव हटाने पर भी इन से कोई वृत्ति उत्पन्न नहीं होती जिस प्रकार जौ, गेहूं, धान, आदि अन्न के बीजों को एक बार अग्नि में तपा देने से उन की उगने की शक्ति जाती रहती है। उन को जमीन में बोने पर भी अंकुर उत्पन्न नहीं होते। उसी प्रकार इन क्लेशों के जीव आत्मा में रहने पर भी ज्ञानाग्नि से तप्त होने के कारण इन में बन्धन की उत्पादक शक्ति जाती रहती है, इसीलिये जीवनमुक्त की आत्मा में सब कर्म करते हुए भी उन कर्मों से

कोई भी अदृष्ट संस्कार उत्पन्न नहीं होता। ऐसी जली हुई दशा को विप्लुष्ट कहते हैं। किन्तु यदि ज्ञान की अधिकता से अथवा कर्म के भोग से कर्म सर्वथा ही निर्मूल नष्ट हो जाय तो उसे छिन्न कहते हैं। इसी दशा में जीव आत्मा को अशेष कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर परमेश्वर वा ब्रह्मता हो जाती है इस प्रकार उपरोक्त पांचों क्लेशों की पाँच अवस्थायें होती रहती हैं।

इन्हीं क्लेशों से सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों का आत्मा में अधिकार उत्पन्न होता है और उन्हीं गुणों के अधिकार से फिर उसमें कारण कार्य का सिलसिला जारी हो जाता है। कर्म से उत्पन्न कुछ अदृष्ट अतिशय, आत्मा में संयुक्त हो जाते हैं। उन अतिशयों के द्वारा फिर कर्म उत्पन्न होता है और कर्मों से फिर दूसरे क्लेशों का सिलसिला जारी हो जाता है, इस प्रकार एक कर्म से दूसरे कर्म का अथवा प्रथम क्लेश से उत्तर क्लेश के उत्पत्ति विनाशक क्रम का चक्र अनादि काल से इस जीव आत्मा में जारी हुआ दीखता है। यह सब से प्रथम चक्र कब प्रारम्भ हुआ यह कहना तो असंभव है। किन्तु जीव आत्मा में क्लेश पर क्लेश के सिलसिले का चक्र अवश्य देखते में आता है। वह चक्र जिस क्रम से बदलता है वह यहां ऊपर दिखलाया गया है।

क्लेश विशेष के द्वारा ही कर्म का आशय उत्पन्न होता है और क्लेश विशेष से ही कर्म का विपाक भी उत्पन्न होता है। कर्म का विपाक तीन प्रकार है—

१ किसी जाति विशेष में जन्म लेना, २ जन्म लेकर नियत समय तक ठहरना जिसे आयु कहते हैं और ३ जब तक आयु रहे तब तक सुख या दुःख का भोगना अर्थात् जन्म, मृत्यु और इन दोनों के बीच का जीवन ये तीनों ही कर्म के विपाक कहलाते हैं। इस प्रकार जाति, आयु, और भोग इन तीनों के अतिरिक्त और कोई भी कर्म का विपाक नहीं हैं। किन्तु जिस प्रकार तुष निकालने पर धान के बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार कर्मों की भी ज्ञान के द्वारा शक्ति नष्ट कर देने पर वह कर्म फिर अपने तीनों विपाकों को उत्पन्न नहीं करता। जिस प्रकार धान के उगने के लिये तुष (भूस) सहकारी होता है उसी प्रकार कर्म से कर्मविपाक कहाने के लिये ये कर्मों के ऊपर क्लेश का आवरण भी आवश्यक है। अज्ञानी लोगों के स्वभाव से ही कर्मों पर क्लेश का आवरण उत्पन्न विनष्ट होता रहता है इसलिये उनकी मुक्ति कदापि नहीं होती। जाति, आयु, भोग, ये तीनों ही सिलसिलेवार एक के पीछे दूसरे उन में उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु आत्मा के ज्ञान होने पर यह क्लेश का आवरण कर्मों पर से निकल जाता है इसलिये ज्ञान के साथ कर्मों के रहने पर भी विपाक उत्पन्न करने की शक्ति जाती रहती है इसलिये आत्मा जाति, आयु, भोग से छुटकारा पाकर बन्धन मुक्त हो जाता है।

ये पाँचों क्लेश कर्माशय और विपाक आशय ये सब अविद्या के द्वारा ही जीव सम्बन्धी मन पर किसी कारण से उत्पन्न हो गये हैं, इन की स्थिति अविद्या के रहने तक अवश्य रहती है किन्तु इस अविद्या का विद्या से नाश होना प्रत्यक्ष दीखता है। इससे संभव है कि यदि विद्या का बल किसी प्रकार बढ़ाया जाय तो उस से अविद्या का पूर्ण नाश होने पर जीव का जीवपना सर्वथा मिट जावे और वह विद्या के प्रभाव से ईश्वर हो जावे।

## क्लेश कर्म्म विपाकाशयै रपरा मृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः ।।

( पातञ्जल–योगसूत्र ) ।

जो कुछ हम देखते हैं उसमें पृथक् पृथक् तीन भाव किये जा सकते हैं। द्रष्टा, दृष्य और दृष्टि, इनमें द्रष्टा सदा एक रूप ही रहता है किन्तु दृश्य नाना प्रकार के बदलते रहते हैं और दृश्यों के भेद से उनकी दृष्टियां भी भिन्न भिन्न कही जाती हैं यहां प्रश्न यह उठता है कि इन दृष्टियों में जो भिन्न–भिन्न दृश्य अन्तर्गत होते हैं वे कहां से आ जाते हैं ? उत्तर इस प्रश्न का यह है कि कोई वस्तु वास्तव में दृश्य नहीं है। किन्तु वस्तु का रूप ही दृष्टि से गृहित होकर होकर हमारी आत्मा में आता है और उन रूपों ही के भेद से भिन्न भिन्न वस्तुओं की हम कल्पना कर लेते हैं। उन वस्तुओं के बाहर रहने पर भी हमारी आत्मा में केवल उनके रूप ही प्रवेश करते हैं किन्तु उन रूपों का अधिष्ठान वस्तु जहां की तहां बाहर ही ज्यों की त्यों ठहरी रहती है परन्तु उन वस्तुओं में ये रूप प्रायः बदलते रहते हैं जो काष्ठ पहले पीला रहता है जलाने पर वही काला कोयला हो जाता है और अधिक जलाने पर सफेद भस्मी हो जाती है। यह काला रूप उसमें कहां से आया और सफेद होने पर कहां चला गया यही प्रश्न है तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह कहीं से नहीं आते और न कहीं जाते हैं केवल यह आत्मा ही नाना विचित्र रूपों में बदलता रहता है। यदि मान लिया जाय कि हमारे ज्ञान के बाहर भिन्न-भिन्न वस्तु एक ही पर विद्यमान हैं। उन पर ही हमारी दृष्टि आक्रमण करती है। जब वे वस्तुएं हमारी दृष्टि की सीमा में आ जाती हैं तो भी कहना होगा कि उन से दृष्टि के द्वारा संबन्ध होने पर द्रष्टा अर्थात् हमारी आत्मा ही उनके रूपों में परिवर्तित होकर भिन्न प्रकार का ज्ञान उत्पन्न करती है। इस प्रकार द्रष्टा का दृश्य बन जाना और इस प्रकार एक द्रष्टा का भिन्न भिन्न अनेक दृश्य हो जाना और दृष्टि में द्रष्टा और दृश्य का विपर्यय होना यही एक प्रकार का आत्मा में बन्ध कहा जा सकता है, क्योंकि यद्यपि विचार करने से हम दृढ़ विश्वास करते हैं कि वहां द्रष्टा ही दृश्य हो गया है, द्रष्टा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु हमारी आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुई है तथापि आश्चर्य से कहना पड़ता है कि हमारी व्यवहार बुद्धि जोर देकर हमें कह रही है कि द्रष्टा से दृश्य भिन्न है। अर्थात् भिन्न भिन्न वस्तुओं को हम देख रहे हैं और इस देखने में द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि ये इन तीनों की त्रिपुटी इस प्रकार प्रतीत होती है कि जिससे इन तीनों की भिन्नता में कुछ भी संशय नहीं रहता। बस इस स्थान में जो इन तीनों की एकता प्रतीत कराने वाली शक्ति है वही मेरी आत्मा में विद्या का भाग है और जिससे कि ये तीनों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं वही मेरी आत्मा में अविद्या का भाग है। विद्या और अविद्या दोनों ही मेरी आत्मा में रहने के कारण हम व्यवहार दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान में तीन भाग देखते हैं और उन्हीं में विचार दृष्टि से एकता को भी देखते हैं। वास्तव रूप में एकता ही के रहने पर भी जो तीन का भेद ज्ञान में आता है यही अविद्या का वास्तविक रूप है और यही अविद्या हमारी आत्मा का बन्धन है जिसके द्वारा एक ही हमारी आत्मा अनेक रूपों से बँधकर भिन्नता को धारण कर लेती है तथापि जगत् से बाहर की वस्तु चीज होकर वह आत्मा जगत् के रूप में आ जाता है। अर्थात् द्रष्टा होकर दृश्य के रूप में आ जाता है और दृश्य को ही जगत् कहते हैं इसलिये द्रष्टा होने के कारण जो जगत् न था सो दृश्य के रूप में होने के कारण जगत् कहलाता है।

अथवा सिद्धान्त रूप से हम यहां दूसरा मत दिखायेंगे। ज्ञान से बाहर किसी वस्तु की भी सत्ता है जिस का ज्ञान होता है इस प्रकार ज्ञान से भिन्न ज्ञेय की सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि कोई भी वस्तु है या नहीं है इसका साक्षी केवल ज्ञान ही कहा जा सकता है। अर्थात् जब कुछ दीख आता है तब हम वस्तु का होना मानते हैं, नहीं दीखता है तो न होना मानते हैं, तब किसी की सत्ता ज्ञान के ही अधीन कहनी पड़ेगी तो ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि कोई वस्तु है यह भी मेरा ज्ञान है और वस्तु नहीं है यह भी मेरा ज्ञान ही है। तात्पर्य यह है कि हम अपने ज्ञान ही से सारे जगत् का होना समझ रहे हैं और जो किसी के ज्ञान में नहीं आया वह वस्तु ही नहीं है, क्योंकि हम किसी वस्तु के होने में प्रमाण लेते हैं तो वह प्रमाण अपने या और किसी के ज्ञान ही को प्रमाण में पेश करके उस वस्तु की सत्ता सिद्ध करते हैं तो इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसका ज्ञान नहीं उसकी सत्ता भी नहीं इस प्रकार जब कि वस्तु की सत्ता ज्ञान के ही अधीन है और ज्ञान में ही आप्त होती है तो पानी के बुलबुले के समान ज्ञान की भीतर वाली सत्ता को भी क्यों न ज्ञान ही माना जाय। इस पर यदि कोई प्रश्न करे कि यदि वस्तु न होती तो ज्ञान में ज्ञान से भिन्न भिन्न दो वस्तुओं को एक ही ज्ञान कैसे दिखा सकता? क्योंकि जब ज्ञान एक रूप है और ज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है तो भिन्न भिन्न प्रकार के दृश्य न दीखकर सर्वदा एक ही प्रकार का ज्ञान बना रहता तो इस प्रश्न के उत्तर में हम स्वप्न का दृष्टान्त देंगे। यह सबको विश्वास है कि स्वप्न में सिवाय मेरी आत्मा के जो कुछ दीखता है वे सब कुछ भी नहीं रहते केवल हमारी ही आत्मा जो ज्ञानरूप है वही सब दृश्यों के रूप में परिवर्तित होकर आप ही अपने को नाना वैचित्र्य में दीखता है तो इस से सिद्ध हुआ कि नाना दृश्य के रूप में आने की शक्ति इस द्रष्टा में है तो इसी शक्ति के बल से जाग्रत् में भी कहा जा सकता है कि जो कुछ द्रष्टा से भिन्न नाना दृश्य दिखाई दे रहे हैं ये सब भी द्रष्टा की ही करामात है। अर्थात् हमसे बाहर अनन्तानन्त पदार्थों का जो हमें ज्ञान हो रहा है ये ज्ञानपुञ्ज ही मेरी आत्मा है वही मैं हूं और मुझ से अतिरिक्त कोई भी वस्तु कहीं भी कुछ नहीं है। यह मेरी विचार दृष्टि है और यही सत्य विद्या है किन्तु इतना होने पर भी जो मैं अपने से भिन्न अपने शरीर से बाहर नाना पदार्थों की सत्ता मान रहा हूँ यही अविद्या है अर्थात् विपर्यय है, भ्रम है, या मिथ्या ज्ञान है और इसी से आत्मा को क्लेश है, इसीलिये अविद्या को क्लेश कहते हैं। द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य इन तीनों में केवल एक दृष्टि ही तत्त्व है इसलिये अद्वैत ही कहा जा सकता है। यही दृष्टि पश्चात् द्रष्टा और दृश्य के भेद से दो खण्ड की हो जाती है। वह भाग जहाँ से दृष्टि आरम्भ होती है द्रष्टा कहलाता है किन्तु जो भाग बाहर के पदार्थ से अनुरक्त होकर बाहर की चीज के रूप में अपना रूप पलटता है वही भाग दृश्य है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य दोनों एक ही दृष्टि के दो खण्ड कहे जा सकते हैं। इन दोनों में भेद हम प्रत्यक्ष देखते हैं किन्तु जब ये दोनों ही एक दृष्टि ही के रूप हैं तो इनमें भेद कहाँ से कैसे आगया अर्थात् इनका भेदक कौन है यह स्पष्ट नहीं जाना जा सकता इसीलिये हमको अविद्या नाम से एक पदार्थ मानना पड़ता है और वही अविद्या ने एक दृष्टि के द्रष्टा और दृश्य का भेद उत्पन्न कर दिया है यह संभवतः कहा जा सकता है। यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनों स्वतः ही भिन्न भिन्न दो वस्तु है इनका वास्तविक द्वैत ही भेदक हो सकता है तो फिर अविद्या क्यों मानी जाती है तो हम उत्तर में कहेंगे कि द्रष्टा और दृश्य ये दोनों भेद वास्तविक नहीं है क्योंकि

आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह मूर्छा, मुक्ति इन छः अवस्थाओं में सर्वत्र ही एक रूप से दृष्टि बनी रहती है किन्तु उनमें केवल जाग्रत् अवस्था में ही दृश्य का भाग दृष्टि में अनुरक्त हो जाता है तब दृष्टि के शेष भाग को द्रष्टा कहने लग जाते हैं। इस प्रकार जाग्रत में ही दो खण्ड संभव होते हैं किन्तु सुषुप्ति आदि चार अवस्थाओं में बाह्य वस्तु के संसर्ग न होने के कारण दृश्य का अनुराग दृष्टि में नहीं होता इसी कारण शेश भाग को द्रष्टा भी नहीं कह सकते। इस दशा में द्रष्टा और दृष्टि का भेद कहा नहीं जा सकता इसलिये उन चार अवस्थाओं में अद्वैत रूप से केवल एक दृष्टि ही रहती है। अब जाग्रत को भी लीजिये जिस समय हम किसी वस्तु का अनुभव करते रहते हैं उसी दशा में द्रष्टा दृश्य का भेद रहता है किन्तु वह दृश्य जबकि हमारी दृष्टि-धरातल से अलग हो जाती हैं तो मानों इस जगत् से ही उसकी सत्ता जाती-रहती है। फिर उसकी सत्ता के कहीं रहने में कोई भी प्रमाण शेष नहीं रह जाता इस प्रकार छः आत्मा की अवस्थाओं में दृष्टि के बने रहने पर भी दृश्य का संबन्ध सर्वदा बना नहीं रहता इसी से कहा जा सकता है कि दृश्य वास्तव में मिथ्या है। स्वप्न के अनुसार जाग्रत में भी दृष्टि ने ही दृश्य की कल्पना कर ली है तो ऐसी स्थिति द्वैत का भेदक मानना यथार्थ नहीं है। अतएव एक ही दृष्टि के रहते द्रष्टा और दृश्य की भेद दिखाने वाली अविद्या अवश्य ही माननी पड़ेगी। जिस प्रकार जवा के पुष्प के सन्निधान से स्फटिक में अनुराग होता है उसी प्रकार हमारी दृष्टि में अविद्या के द्वारा बाह्य वस्तु के रूप का अनुराग हो जाता है। अथवा जिनके मत में बाह्य वस्तु कुछ है ही नहीं उनके मन में इसी अविद्या के द्वारा हमारी दृष्टि का एक भाग दृश्य के मिथ्या रूप में विवर्तित अर्थात् जिस प्रकार रस्सी सर्प के रूप में बदल जाता है किन्तु किसी सर्प का उसमें संबन्ध नहीं है उसी प्रकार हमारी दृष्टि दृश्य के रूप में बदल जाती है किन्तु किसी बाह्य दृश्य से उसका काई संबन्ध नहीं है। इस प्रकार विवर्त-वाद अथवा मतभेद से अनुरक्तवाद दोनों ही अविद्या के ही द्वारा होते हैं। इस प्रकार दृष्टि पर विषय का अनुराग तथा विवर्त इन दोनों ही को ज्ञान के असली स्वरूप का आवरण करने वाला एक भिन्न रूप समझना चाहिये। इसी आवरण को अविद्या कहते हैं। और यह विद्या से विलक्षणरूप की होती है। क्योंकि विद्या सती अर्थात् नित्य एक रूप बनी रहती है। किन्तु अविद्या सती असती दोनों हैं प्राकृतिक नियमानुसार सर्वदा सामान्यरूप से अर्थात् किसी न किसी विशेष रूप से बनी ही रहती है इसलिये सती है। किन्तु यदि कोई आत्मा किसी उपाय से विद्या का बल बढ़ाकर अविद्या का बल घटाना चाहे तो तो संभव है कि अनेक जन्म के प्रयत्न से यह अविद्या विशेष निर्मूल नष्ट हो जावे इस प्रकार नष्ट होने से वह असती भी कही जाती है। ऐसी दशा में वह अविद्या अनादि सान्त है। दृष्टि और दृश्य अनुराग मतानुसार इन दोनों का जो तादात्म्य योग है उसका कारण दृष्टि में ठहरी हुई अविद्या है किन्तु ज्ञान के द्वारा यदि अविद्या का क्षय अर्थात् नाश कर दिया जाय तो ऐसी स्थिति में बाह्य वस्तु का विद्या अर्थात् ज्ञान पर पूर्ण सम्बन्ध होने पर भी ज्ञान के असङ्ग निर्लेप होने के कारण उस वस्तु का संस्कार कुछ नहीं होता प्रत्युत दृष्टि सब वस्तुओं को ग्रहण करती हुई भी न ग्रहण करने के बराबर केवल शुद्ध रूप से बनी रहती है।

---

१—ऐसी दशा को विदेहमुक्ति अर्थात् जीवनमुक्ति कहते हैं।

२–यह अविद्या आठ प्रकार की समझी जा सकती है। प्रथम वाङ्मय बल अर्थात् वाक् और प्राण दोनों के घनिष्ट सम्बन्ध से जो प्राण का स्वरूप सिद्ध होता है वही अविद्या है, किन्तु दूसरी अविद्या वह है जिसने इस वाक् को प्राण के साथ मिलाकर इस प्रकार की अविद्या का स्वरूप संपादन किया अर्थात् बल और वाक् को मिलाने वाला बल भी अविद्या है। इसी प्रकार द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य इस त्रिपुटी में द्रष्टा अर्थात् ज्ञान के ऊपर जो दृश्य का अर्थात् ज्ञेय का रूप प्रतिबिम्ब होता है, अर्थात् ज्ञान से बाहर घटादि पदार्थों का जो ज्ञान के अन्दर छाया पड़ती है और जिस छाया, से ज्ञान का असलीरूप न दीखकर ज्ञेय का रूप ही प्रत्येक्ष होता है वही ज्ञेय रूपी छाया, ज्ञान से भिन्नवस्तु होने के कारण अविद्या कहलाती है, यही तीसरी अविद्या है। किन्तु साथ ही जिस बल ने बाहर के वस्तु की छाया को ज्ञान के भीतर प्रवेश कराया और ज्ञान से बांधकर ज्ञान में ही ठहरा दिया और बाहर की वस्तु से उसका सम्बन्ध तोड़ दिया वह बल भी विद्या अर्थात् ज्ञान से भिन्न वस्तु है इसलिये यह भी चौथी अविद्या है। इसी स्थल में दूसरा मत है कि ज्ञान से रिक्त बाह्य वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं है, इसलिये ज्ञान से बाहर के वस्तु की छाया का ज्ञान पर पड़ना सत्य नहीं माना जा सकता, किन्तु वास्तव में हमारा ज्ञान ही भिन्न-भिन्न ज्ञेय के रूपों में विवर्त (बदल) किया करता है तो इस मत में भी कहना होगा कि ज्ञान जिन-जिन रूपों में बदल कर ज्ञेय बन गया है वह ज्ञेय का भाग अविद्या है। क्योंकि एक प्रकार के ज्ञान में भिन्न-भिन्न लाखों प्रकार का ज्ञेय बदल ने पर भी वे सब रूप न ठहर कर बदलते रहते हैं इसलिये अविद्या कहने योग्य है। सत्य ज्ञान के भाग में इस प्रकार बदलता हुआ वह जितना मिथ्या भाग वही अविद्या है। इसको पांचवी अथवा मत भेद से तीसरी अविद्या कही जा सकती है। इस मत में भी जिस बल के संयोग से (४) यह सत्य ज्ञान मिथ्या रूप अज्ञान में बदल दिया जाता है वह ज्ञान पर लगा हुआ बल भी छठे, मत भेद से चौथी अविद्या कही जा सकती है। इनके अतिरिक्त इस अविद्या को सांख्य वालों ने तम, मोह, महामोह तामिस्र, अन्धता-मिस्र इस प्रकार पञ्चपर्वा माना है अर्थात् इन पाँचों को एक साथ ही अविद्या कहते हैं (५) इसी पञ्च पर्वा अविद्या को योग शास्त्रकार पतञ्जलि ने क्रम से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों को अविद्या नाम दिया है यह सातवीं अविद्या कही जा सकती है अब इस सातवीं अविद्या में ही पाँच क्लेशों में से पहला क्लेश मुख्य करके अविद्या शब्द से ही कहा गया है। यही अविद्या अन्य चार क्लेशों का भी कारण है और यह तमरूप अर्थात् प्रकाश स्वरूप ज्ञान का या विद्या का विरोधी है इसलिये अविद्या कही जाती है, यह अविद्या आठवीं है। इस प्रकार अविद्या का स्वरूप निरूपण आठ प्रकार से होने पर भी यथार्थ में एकही स्वरूप का है क्योंकि मन के प्रकाश को ही विद्या कहते हैं। अब जिन-जिन कारणों से मन के प्रकाश को हानि पहुँचे या कभी-कभी दो आवरण हो वह सब विद्या, विद्या के विरोधी होने के कारण एक शब्द से ही अविद्या कही जा सकती है।

## अविद्या भङ्ग सिद्धिः

सम्पूर्ण विश्वमण्डल का उद्गीथ अर्थात् जहां से उठता है जिसमें ठहरा रहता है और जिसमें लीन होता है वह मूलतत्त्व अव्याकृत को समझना चाहिये। इस अव्याकृत में तीन प्रकार की प्रतिष्ठा उद्भूत होती हैं जिनको अक्षर कहते हैं। इन्हीं तीनों के ठहरने की जगह को पृथक्-पृथक् जीव, ईश्वर, परमेश्वर

कहते हैं । इन्हीं तीनों प्रतिष्ठाओं पर यह सम्पूर्ण विश्वमण्डल प्रतिष्ठित (ठहरा हुआ) है इनमें जीव के अन्तर से ईश्वर को और ईश्वर के अन्तर से परमेश्वर को जानने पर जीव परमेश्वर में लीन होकर मुक्त हो जाता है और फिर उसका जगत् नष्ट हो जाता है अर्थात् जीव का जगत् जीव में और ईश्वर का जगत् ईश्वर में लीन होता है, तथा जीव ईश्वर में और ईश्वर परमेश्वर में लीन होता है । इस प्रकार जगत् स्थिति नहीं रहती । जो जहां कुछ देखते हैं ये सब व्यक्त है, इसमें सब मर्त्य है, इसलिये इसको क्षर कहते हैं । इन सब क्षरों में अव्यक्तरूप से अक्षर निगूढ़ रहता है, इसको अमृत कहते हैं । ये क्षर अक्षर दोनों सर्वदा युक्त ही रहते हैं, इन दोनों के योग से ईश्वर का स्वरूप उत्पन्न होता है । ईश्वर शब्द का अर्थ सर्व-शक्तिघन है जो सब शक्तियों के प्रभाव से स्वतन्त्र होकर यथेच्छ सृष्टि के पदार्थों पर समर्थ होता है किन्तु यह जीव ईश्वर के समान स्वतन्त्र नहीं है । अविद्या के कारण कर्म जन्य संस्कारों से रङ्ग जाया करता है ।

ईश्वर के सदृश प्रकाश स्वरूप होने पर भी इन कर्म जन्य संस्कारों से रङ्ग जाने के कारण वह कलुषित होकर असमर्थ हो जाता है इसलिये ईश्वर नहीं कहला सकता । किन्तु शुभ कर्म अर्थात् विद्या प्रधान होने के कारण निवृत्ति मार्गीय कर्मों के संयोग से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह कतकरज (निर्मली) के अनुसार स्वभाव से ही कर्मजन्य संस्कारों को दूर कर देता है जिससे मैल छँटकर स्वाभाविक निज के प्रकाश से ही वह जीव आत्मा प्रकाशित हो जाता है और इस प्रकार अविद्या के नाश होने से जीव ईश्वर का भेद भी जाता रहता है अर्थात् वह जीव साक्षात् ईश्वर हो जाता है इसी अवस्था को मुक्ति कहते हैं। ईश्वर विद्यामय होने के कारण सर्वज्ञ है, किन्तु जीव अविद्यामय होने के कारण अल्पज्ञ है। जीव को पशु और ईश्वर को पशुपति और ईश्वर से जीव का भेद कराने वाली अविद्या को पाश कहते हैं । जीव और ईश्वर ये दोनों ही यद्यपि अज हैं और दोनों ही एक जाति के तत्त्व से बने हैं किन्तु जिस विद्या और अविद्या से इन दोनों का भेद संभव है वे दोनों ही माया कही जाती है । और यह माया भी एक दूसरी अजा है और यह नित्य जीव ईश्वर के साथ रहती है ।

अथवा दूसरा मत यह है कि विद्या और अविद्या इन दोनों में से विद्या आत्मा से पृथक् कोई वस्तु नहीं है विद्या ही को आत्मा या ईश्वर कहते हैं । उस ईश्वर को विद्यायुक्त न समझ कर विद्या रूप ही से समझना चाहिये । किन्तु यह अविद्या अवश्य ही आत्मा से पृथक् वस्तु है। और वह आत्मा में अपने आप ही उत्पन्न होकर आत्मा के स्वरूप को अर्थात् विद्या को कलुषित करती हैं और वह आत्मा से हटाई जा सकती है। ज्ञान के पेट में ज्ञेय का प्रवेश होना ही भोग कहलाता है । इस से भोग्य की भोक्ता के साथ एकता उत्पन्न हो जाती है । इसमें विद्या ही भोक्त्री है । वह भोग्य अर्थात् अविद्या के साथ युक्त होती है उसके योगदान होने में जो बल लगता है जो कि अविद्या का विद्या के साथ योग करता है वह बल भी अविद्या ही है । ईश्वर के अनुसार जीव भी विद्या रूप ही है । उसके गुणों से जीव पराधीन हो जाता है । जीव में संयुक्त जो अविद्या है उसका जीव के साथ योग कराने वाला बल भी अविद्या ही है । वह जब तक जीव में रहता है तभी तक जीव, जीव कहलाता है । जिस प्रकार रज्जू सर्प के रूप में भासती है उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय से अपना रूप बनाकर भासता है वही अध्यास है और वही अविद्या है उसमें ज्ञान अर्थात् भासना ही सच्ची वस्तु है । किन्तु उस ज्ञानने जिस ज्ञेय से अपना रूप बना लिया है वह ज्ञय रज्जू के सर्प के समान मिथ्या है । ज्ञेय जो ज्ञान में भासता है वह वाक् है और एक

प्रकार का बल है, वह वाक् रूपी बल, सीमा रहित सदा एक रूप रहनेवाले ज्ञान में प्रवेश करके अपने सीमाबद्ध विचित्र रूपों से उसेमें भी परिच्छिन्नता और नानात्व उत्पन्न करदेता है। बल आदि अविद्या अर्थात् ज्ञान से भिन्न पदार्थों से जो यह विद्या अर्थात् ज्ञान एकता को पा जाता है उस एकता को देने वाला बल भी अविद्या ही है उस बल को प्राण विशेष कह सकते हैं। यह प्राण अर्थात् बल जीव में हीं उत्पन्न होता है, ईश्वर में कदापि नहीं होता क्योंकि ईश्वर में माया का भाग विद्या ही है और माया का दूसरा भाग अविद्या जीव का ही लक्षण है। यह ज्ञान ज्ञेय रूपी बल को पाकर इस प्रकार एक रूप हो जाता है कि जिस से वास्तव में अविद्या में सत्ता न रहने पर भी वह सत्तावाली हो जाती है। यही कारण है कि ऋषि लोग इसी अविद्या को सती और असती दोनों दृष्टि से देखते हैं। असती इसलिये कि अविद्या में निज की सत्ता सर्वथा ही नहीं है, किन्तु वह अविद्या ज्ञेय के रूप में होकर ज्ञान के साथ जो अभिन्न हो गई है दोनों भिन्न-भिन्न प्रतीत न होकर अभिन्न प्रतीत होते हैं इसीलिये ज्ञान की सत्ता ही ज्ञेय की सत्ता होजाती है, जिस से ज्ञेय ही सत्य प्रतीत होता हैं। किन्तु वास्तव में ज्ञेय सत्य नहीं है क्योंकि जिस समय घट का ज्ञान था उस समय घट ज्ञान में प्रत्यक्ष भासता हुआ सत्य ही प्रतीत होता है किन्तु जब घट के ज्ञान के उत्तरकाल में पट का ज्ञान हुआ तो उस समय पहला विषय घट, ज्ञान के धरातल से उतरकर सर्वथा नास्ति हो जाता है उसकी सत्ता त्रिलोकी भर में कहीं नहीं रहती। विचार का स्थान है कि यदि वह ज्ञेय वास्तव में सत्य होता तो अपनी सत्यता के लिये ज्ञान के आयतन की अपेक्षा न रखता, ज्ञान का संसर्ग छूटने पर भी उसकी सत्ता अवश्य कहीं रहती। जो दूसरे की सत्ता लेकर सत्ता वाली-वस्तु है वह अवश्य ही अवस्तु अर्थात् असती है। इस ही कारण ज्ञेय मात्र को असत्य कह सकते हैं। और ज्ञेय ही यह जगत् है इसलिये जगत् भी अविद्या हैं असती अर्थात् मिथ्या है यद्यपि अविद्या जीव में ही होती है, ईश्वर में नहीं होती ऐसा कहा गया है तथापि वाक् या बल ये दोनों ही ईश्वर में भी अवश्य पाये जाते हैं। क्योंकि अर्थ और क्रिया इन दोनों से ईश्वर कदापि खाली नहीं रहता और ये वाक् और विद्या से भिन्न होने के कारण अविद्या कहे जा सकते हैं। इसलिये अविद्या ईश्वर में भी अवश्य मानी जा सकती है किन्तु यह अविद्या जिस प्रकार जीव के स्वातन्त्र्य को नष्ट कर देती हैं उसी प्रकार ईश्वर के स्वातन्त्र्य पर कुछ भी बाधा नहीं डालती इसी से अविद्या के रहने पर भी अविद्या के बन्धन न रहने के कारण ईश्वर में अविद्या का न होना ही माना जाता है। अब हम परमेश्वर को यदि देखें तो वह अनन्त आत्मा विश्वरूप है। न वह ज्ञान स्वरूप है न अज्ञान स्वरूप है अर्थात् विद्या और अविद्या दोनों ही उसमें नहीं हैं। न वह जीव के अनुसार भोक्ता है और न ईश्वर के अनुसार कर्ता है। ये तीनों अर्थात् परमेश्वर, ईश्वर और जीव की जो समष्टि है वह तीनों से भिन्न होने के कारण चौथा तुरीय ब्रह्म कहा जा सकता है।

बाहर क्षर और उसके भीतर अक्षर इन दोनों पर व्यास होकर इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा ईश्वर इन दोनों का शासन करता रहता है। यदि जीव अर्थात् क्षर संयुक्त अक्षर ध्यान से, योग बल से, ईश्वर के साथ मिल जावे तो अविद्या के क्षर होने से वह जीव भी ईश्वर ही हो जाता है क्योंकि ध्यान और योग से जीव का ज्ञान ईश्वर के रूप में अधिक काल रहता है और ईश्वर में अविद्या का अङ्ग नहीं इसलिये ध्यान योग में जीव ज्ञान धीरे-धीरे अपनी अविद्या को छोड़ता रहता है। अन्त में सर्वथा अविद्या ही न होकर ईश्वर रूप हो जाता है। अथवा यों समझो कि यदि जीव का मन ईश्वर में लगता है तो

उस समय ज्ञान का ज्ञेय के रूप में बदलने के नियमानुसार जीव का ज्ञान ईश्वर रूपी ज्ञेय में बदल कर कुछ काल के लिये ईश्वरमय बन जाता है। ईश्वर के स्वभाव में कोई भी पाश नहीं रहते इसी कारण ईश्वर का ज्ञान होते समय जीव के मन में भी सब प्रकार के पाश अर्थात् क्लेश, कर्म विकाप आदि अविद्या के लक्षण नहीं रहने पाते। इसी से जीव ईश्वर के रूप में आ जाता है और इसी को सगुणमुक्ति कहते हैं। इसी को निर्विकल्पक, समाधि, योग कहते हैं। अर्थात् इस समाधि में जीव जो ज्ञाता है वह ज्ञेय अर्थात् ईश्वर को अपने से पृथक् नहीं समझता। ज्ञाता, ज्ञेय का द्वैतभाव सर्वथा ही नहीं रहता किन्तु वह सविकल्पक समाधियोग है। जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैतभाव बना रहता है अर्थात् हम किसी वस्तु को देख रहें हैं, इस प्रकार जीव को ज्ञाता, ज्ञेय का भेद ज्ञान भी बना रहता है इसलिये इस योग को सविकल्पक (विकल्प=खण्ड) कहेंगे। इस समाधियोग में भी जीव यदि ईश्वर का ज्ञान करें तो उस से भी क्लेश नष्ट हो जाते हैं। और उस जीव के जन्म मृत्यु नहीं होते किन्तु यह अवर मुक्ति है। अब मान लीजिये कि निर्विकल्पक वा सविकल्पक दोनों प्रकार की समाधि नहीं हुई किन्तु केवल ध्यान मात्र से जीव दिव्य देह की प्राप्ति करके ऐसा ऐश्वर्य पाता है कि मानों ईश्वर की ओर उन्मुख हुआ। जीव की आत्मा का ईश्वर की आत्मा के साथ समाधियोग न होने पर भी दोनों का आभिमुख्य हो जाय तो उस समय भी जीव में ईश्वर की झलक या छाया पड़ने से जीव में वह शक्ति उत्पन्न हो जती है; जिस से संकल्प मात्र के द्वारा जीव सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। ये भी संप्रदायों की मुक्ति है। इस मुक्ति में जीव कदापि ईश्वर नहीं होता किन्तु ईश्वर से पृथक् रह कर ही ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर के समान ऐश्वर्य पाता है और ईश्वर को अपना स्वामी समझता है।

जो जहां कुछ मैं देख रहा हूँ ये सब ज्ञेय हैं। ये समस्त ज्ञेय मेरी आत्मा में ठहरा हुआ है और मेरी आत्मा ज्ञान रूप है अर्थात् जिस ज्ञान में ये समस्त ज्ञेय अन्तर्गत होकर भासता है वही ज्ञान मेरी आत्मा है पूर्वोक्त के अनुसार ज्ञान ही ज्ञेय रूप में परिणित होता है इस कारण ये समस्त ज्ञेय मेरी आत्मा का ही रूपान्तर है। ज्ञेय को ही जगत् कहते हैं। इसलिये अन्तर्जगत् जीव आत्मा से भिन्न नहीं है। वह जीव ईश्वर का ज्ञेय रूप है इसीलिए जीव, ईश्वर का जगत् है उक्त नियमानुसार जीव भी ईश्वर से भिन्न नहीं है इस प्रकार जगत्, जीव और ईश्वर ये तीनों मिलकर त्रिवृत रूप ज्ञान ही एक ब्रह्म है कि जिस प्रकार तिल में तेल और दूध में घी व्याप्त रहता है। उसी प्रकार इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में गुप्त होकर व्याप्त इस जीव आत्मा को जानना चाहिए और उसी प्रकार जीवों में छिपा हुआ व्याप्त उस ईश्वर को समझना चाहिये। यद्यपि जीव को प्रत्येक पदार्थ में हम विद्या के द्वारा जान सकते हैं, किन्तु जीवों में यह ईश्वर, विद्या, सत्य और तप के द्वारा देखा जा सकता है।

चाहे जीव हो या ईश्वर हो अथवा परमेश्वर ही ये तीनों ही ज्ञान के ही नाम हैं। परमेश्वर पर प्रधान है, ईश्वर अक्षर प्रधान है और जीव क्षर प्रधान है। ज्ञान तीन प्रकार का है। इनमें वे तीनों ही प्रत्येक क्षर और अक्षर इस प्रकार दो-दो धर्मों से वने हुए हैं। अर्थात् प्रत्येक स्वरूप में बाह्य भाग क्षर है और उसके अन्तर्गत भाग अक्षर है ये दोनों ही एक के बिना एक नहीं रह सकता इसी प्रकार क्षर, अक्षर से बने हुए जीव और ईश्वर तथा परमेश्वर ये तीनों मिलकर एक ब्रह्म का समृद्धरूप कहा जाता है। किन्तु

ब्रह्म का वह रूप जिसमें जीव, ईश्वर, परमेश्वर का भेद पृथक्-पृथक् उद्‌घट रूप से प्रतीत नहीं होता किन्तु उन्मुग्ध रूप से एक अव्यक्त भाव माना जाता है वह सर्वथा शान्त स्वरूप है। ये सब विषय जो कुछ कहीं हम देखते हैं उसी को हम ज्ञान कहते हैं। यह दीखना दो प्रकार से हो सकता है। १ अप्राप्यकारी इन्द्रियों से, २ प्राप्यकारी इन्द्रियों से। जब कि ये माना जाय कि इन्द्रियां और वस्तुएं आपस में मिलते नहीं केवल उन दोनों के बीच में पर्दा आकर दोनों आमने-सामने रहे तो वस्तु दीख आता है। यह इन्द्रिय और वस्तु का स्वभाव है इसी को अप्राप्यकारी कहते हैं। किन्तु यदि यह माना जाय कि और इन्द्रियों में तो वस्तु के भाग ही इन्द्रियों के पास आते हैं, किन्तु आँख में उलटा है, आँख ही वस्तु के पास जाकर वस्तु को देखता है। यदि ऐसा न होता तो काच में मुँह न दीखता क्योंकि काच में मुँह नहीं है केवल हमारी आँख काच पर जाकर उलट जाती है और उलटकर काच पर रहकर मेरे मुँह को देखता है। वह मुँह यद्यपि आदमी के धड़ पर है, काच पर बिलकुल नहीं है किन्तु आँख काच पर है। इसलिए अपनी जगह मुँह को देखता है यह इन्द्रिय की विषय देशगामिता है। दूसरा मत यह है कि जैसे अन्य २ इन्द्रियाँ विषय देश में नहीं जाते उसी प्रकार आँख भी विषय देश में नहीं जाती विषयों से मिलकर आते हुए सूर्य किरणों के साथ वस्तु का रूप आँख पर पहुंचता है तब ही ज्ञान होता है, यही इन्द्रियों की वास्तविक प्राप्यकारिता है। (अर्थात् व्याप्त करने वाली) यह तीन सूरतें ज्ञान की उत्पत्ति के लिये हो सकती है। इन तीनों सूरतों में ज्ञान उत्पन्न होने के लिए बाहर किसी वस्तु का होना बहुत ही आवश्यक है। यदि बाहर कोई वस्तु वास्तव में न मानी जाय तो न ये तीनों सूरतें हो सकती हैं, न ज्ञान ही हो सकता है, इससे सिद्ध हुआ कि बाहर वस्तु की सत्ता रहने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है वस्तु सत्ता न रहने से ज्ञान भी न होता तो जब ज्ञान-के लिये वस्तु सत्ता का होना मूल कारण है तो यह ज्ञान उस वस्तु सत्ता का प्रमाण अवश्य हो सकता है। अर्थात् उस वस्तु के ज्ञान होने से उस वस्तु की बाहर सत्ता हम अनुमान कर सकते हैं इसलिये सिद्धांत के अनुसार जब हमको जगत् की सब वस्तुओं का ज्ञान होता है तो उसी से उन सब वस्तुओं की सत्ता को भी निश्चित या सिद्धांत रूप से कह सकते हैं।

उपरोक्त नियम के अनुसार समस्त दार्शनिकों का यह सिद्धांत है कि जगत् में जिन-जिन पदार्थों का सब को ज्ञान हो रहा है उन पदार्थों की सत्ता ज्ञान के बाहर भी वास्तविक रूप में कहीं पर है। किन्तु इस पर वेदान्त के अनुसार यह तर्क (अर्थात् विवाद करने के लिए) किया जाता है कि ज्ञान से सत्ता का अनुमान करना असङ्गत है। क्योंकि व्याप्ति रहने से अनुमान होता है। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान हो जाता है। क्योंकि जहां-जहां धूम है तहाँ तहाँ सभी जगह अग्नि है। यह अन्वय व्याप्ति है और जहाँ अग्नि नहीं है तहाँ धूम भी नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति भी है। इस प्रकार दोनों व्याप्ति रहने से ही व्यापक का व्याप्य से अनुमान हो सकता है। इसी नियम के अनुसार यहाँ भी जहाँ-जहाँ ज्ञान है तहाँ-तहाँ सभी जगह वस्तु रहती है और जहाँ वस्तु सत्ता नहीं है तहाँ ज्ञान भी नहीं है। इस प्रकार दोनों व्याप्ति रहने से ही वस्तु ज्ञान से वस्तु सत्ता का अनुमान हो सकता है अन्यथा नहीं तो ऐसी स्थिति में ज्ञान से सत्ता का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्ति में व्यभिचार है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है तहाँ-तहाँ सभी जगह वस्तु सत्ता का अभाव होना नहीं पाया जाता।

भ्रम की जगह और स्वप्न-सृष्टि की जगह ज्ञान रहने पर भी वस्तु सत्ता नहीं है और वस्तु सत्ता न रहने पर भी ज्ञान है तो ऐसी दशा में जबकि बिना सत्ता के भी ज्ञान होता है तो ऐसा ज्ञान वस्तु सत्ता का अनुमान अर्थात् ज्ञान के बाहर किसी वस्तु के होने का अनुमान नहीं कहा सकता। हारकर मुझको केवल अपने ज्ञान पर ही निर्भर करना पड़ेगा। यह सब जगत् के बल मेरे ज्ञान का ही बना हुआ है अथवा यों कहिये यह सब जगत् मेरा ज्ञान है ज्ञान के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। केवल मैं अपने ज्ञान की सत्ता को लेकर ही वस्तुओं की सत्ता बना रहा हूँ यही कारण है कि भ्रम की हालत से उलट कर जब मै सच्चे ज्ञान पर आता हूँ तो मैं अपने पहले ज्ञान के साथ-साथ उस ज्ञान के विषय को भी खारिज कर देता हूं तो ज्ञान के साथही उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट होजाती है। इसलिये ज्ञान की सत्ता ही वस्तु की सत्ता है ज्ञान के बाहर पृथक् वस्तु सत्ता कुछ नहीं है, यह सिद्ध हो गया है। श्वेताश्वेतर ऋषि ने जैसा उपनिषद् में कहा है:—

**उद्‌गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म। तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च॥**
**अत्रान्तरं ब्रह्मविदोविदित्वा। लीना तत्परायोनिमुक्ता॥**

## विद्या और कर्म का सहयोग

प्रत्येक जीव आत्मा की जीवन-यात्रा में मुख्य दो कारण है– १ कर्म और २ विद्या, इन दोनों के तारतम्य से जीव आत्मा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की बदलती रहती है। जिसमें कर्म्म के बल के तारतम्य से आत्मा में जगत् का बन्धन तारतम्य से बढ़ता रहता है। किन्तु कर्म के बल का घटाव होने से अपने आप विद्या उद्‌बुद्ध होकर आत्मा में जगत् के बन्धन की मुक्ति होती रहती है। कर्म के तारतम्य से विद्या की दशा छ प्रकार की हो जाती है।

१ प्रथम तो वह विद्या है जिसमें कर्म का लेश भी नहीं रहता।
२ दूसरी विद्या वह है जो अपने अनुकूल कर्म से युक्त रहती है।
३ तीसरी विद्या कर्म का मिश्रित हिलमिल है और दोनों बराबर दरजे के होकर एक दूसरे का उपकार करते हैं जैसे जीव का जीव।
४ चौथी विद्या कर्म से दबी हुई होती है। वह मिश्रित कर्म है।
५ पांचवी विद्या वह है जिसके पश्चात् पतनीय (पापकर्मों) का भोग होता है।
६ छठी विद्या कर्म के दबाव से ढकी जाकर लुप्तसी हो जाती है।

इस प्रकार विद्या के सर्वत्र एक रूप रहने पर भी केवल कर्म के ही वैचित्र्य से विद्या में वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है जिसके द्वारा जीव आत्मा की भी गति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यदि जीव की विद्या काम (कामना) और कर्म से सर्वथा रहित हो जावे तो उसकी सद्योमुक्ति होती है अर्थात् उसका प्राण किसी लोक–लोकान्तर में न जाकर यहाँ ही व्याप्त हो जाता है क्योंकि गति का कारण कर्म और काम है। इन दोनों के न होने से गति नहीं हो सकती किन्तु आत्मा का परिच्छेद या सीमाबन्धी टूट जाने से जीव आत्मा व्यापक होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है। उसके देवयान, पितृयान दोनों मार्ग नहीं होते।

(२) यदि जीव आत्मा ईश्वर की उपासना से धीरे-धीरे शुद्ध होकर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य पाकर क्रम से ईश्वरता पा जावे तो इसे ही क्रममुक्ति कहते हैं, यद्यपि ईश्वर की उपासना भी एक प्रकार का कर्म है तथापि यह कर्म विद्या के अनुकूल होकर विद्या को बढ़ाता है, जिससे जीव आत्मा स्वच्छ होकर ईश्वर में लीन हो जाती है। उसके लिये गति, (जाने का मार्ग) देवयान है। वह प्रथम अग्नि में, फिर वायु में, फिर आदित्य में, फिर चन्द्रमा में, फिर विद्युत् में जाकर अशोकमहिम लोक में जाता है पश्चात् ब्रह्म लोक में पहुँचता है, जहाँ जाने से फिर पुनरावृत्ति नहीं होती।

(३) इसी प्रकार यज्ञादि कर्म देवलोक प्राप्ति में निमित्त होता है। जिन कर्मों के बल से देवयानमार्ग होकर स्वर्ग पहुँचता है और वहाँ पूर्ण ऐश्वर्य पाकर प्राकाम्य की सिद्धि होती है अर्थात् इच्छानुसार सुख मिलता है किन्तु मुक्ति नहीं होती। स्वर्ग सुख भोगने के पश्चात् फिर पृथ्वी में जन्म होता है।

(४) जब कि विद्या कर्मों से दबी हुई होती है तो वह जीवात्मा पितृयानमार्ग पर सवार होकर प्रथम पितृ-लोक में जाती है, वहां सुख भोग करके कर्म क्षय होने पर पुनः पृथ्वी पर जन्म लेती है।

(५) जब विद्या पतनीय कर्मों से पृथक्-पृथक् युक्त होती है तो वह जीव-आत्मा पितृलोक में जाकर चौरासी नरकलोकों में से कर्मानुसार कितने ही नरकों में दुःख भोग करके फिर पृथ्वी पर जन्म लेती है।

(६) जिनमें कर्म और विद्या दोनों ही पृथक्-पृथक् भाव से कुछ प्रभाव न रखते हो वो उस दशा में भी शुक्रमार्ग यानि देवयान या कृष्णमार्ग अर्थात् पितृयान दोनों ही न होकर जीवात्मा की ऊर्ध्वगति नहीं होती केवल चन्द्रमा के नीचे चिरकाल तक अन्तरिक्ष में गन्धर्व देह से रहती है, अथवा पृथ्वी में डांस, मच्छर आदि छोटे जन्तु होकर यहां ही जीती मरती रहती है।

इस प्रकार पाप या पुण्य कर्मों का जितना बल हो उसके अनुसार विद्या भी अपना प्रभाव करती है। इन दोनों में जितना विद्या का बल होगा उतना ही अमृत भाग सम्पन्न होगा और जितना कर्म का बल होगा उतना ही मृत्यु भाग का प्रभाव जीवात्मा में रहता है। इस प्रकार जीवात्मा की गति विद्या और कर्म इन्हीं दोनों के अधीन है।

## ब्रह्म गायत्री

मन, प्राण, वाक् के भेद से त्रिवृत् जो भूमा रस है वह सर्व जगत् में व्याप्त आनन्द माना जाता है अर्थात् एक आनन्द ही भूमा अर्थात् सर्व जगत् व्यापक रस है उसी के मन, प्राण, वाक् ये तीनों भेद हैं। इन में से वाक् दो प्रकार से जगत् में काम आती है। एक तो वह "गायत्री" अर्थात् पदार्थों का सम्पादन

---

❀ **स तु दीर्घ कालादर नैरन्तर्य सत्कार सेवितो दृढ़ भूमिः** ।।योगदर्शन।। १।१।१४

मन का संयम (दीर्घकाल, आदर, लगातार) व्याकरण के अनुसार गायत् सम्पादन करता हुआ त्राण करने वाला जो हो उसी को गायत्र कहते हैं वही स्त्रीलिङ्ग में गायत्री है।

करती है और फिर "त्रायते" अर्थात् सम्पादन किये को त्राण करती है, अर्थात् बिगड़ने से बचाती है और "गायति" और "त्रायते" इन दोनों शब्दों के योग से वह वाक् गायत्री कहलाती है। जिसका अर्थ है बनाने वाली और बचाने वाली। इस प्रकार पैदा करना और रक्षा करना जो वाक् का धर्म कहा गया है वास्तव में आनन्द का ही धर्म है। इस जगत् में जहां जो कुछ उत्पन्न होता है वह आनन्द से ही होता है और आनन्द ही सदा रक्षा करता है। विश्वास करना चाहिये कि जिन स्त्री पुरुषों से बालक उत्पन्न होता है वह उन दोनों के आनन्द में मग्न होने पर ही होता है। संसार में जो जहां कुछ जीता है वह उसका जीवन आनन्द का ही रूप है। जिस समय आनन्द की मात्रा घटते-घटते सर्वदा नष्ट हो जाती है, उसे ही मृत्यु कहते हैं।

मृत्यु से बढ़कर कोई भी दुःख नहीं है। आनन्द के न होने को ही दुःख कहते हैं। तो इससे सिद्ध हुआ कि सबसे बड़ा दुःख मृत्यु अर्थात् वस्तु का नाश जब तक न होवे तब तक उस वस्तु में अथवा जीव में आनन्द की मात्रा अवश्य है। इससे कहना होगा कि मौत से बचाने वाला आनन्द ही त्राण करने वाला है, तो इससे सिद्ध हुआ कि आनन्द से ही जीव उत्पन्न होता है और आनन्द से ही त्राण होकर उसकी जीवन सत्ता बनी रहती है। इसलिये आनन्द को अर्थात् जगत् व्यापक भूमा रस को ही गायत्री कह सकते हैं वह भूमा रस ब्रह्म है, इसलिये गायत्री भी ब्रह्म है।

जब कोई प्राणी किसी नवीन देश में जाता है तो थोड़े समय तक उसको निवास करना भले ही न रुचे, किन्तु जब चिरकाल तक वह निवास कर लेता है तो फिर वह स्थान उसको रुचने लगता है। जो प्राणी जिस शरीर में रहता है वह शरीर उसको इतना रुचता है कि वह उस शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। जो वस्तु उसके अधीन हो जाती है उसमें स्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है और जो न भी प्राप्त है उसको प्राप्त करने के लिये प्रत्येक प्राणी इच्छा रखता है। इससे सिद्ध हुआ कि यह संपूर्ण जगत् के पदार्थ आनन्दमय हैं, इसी से रुचिकर हैं। क्षण भर भी कोई प्राणी जी नहीं सकता था यदि उसके चारों ओर का आकाश दुःखमय होता। प्रायः सभी प्राणी अपने स्वस्थ, शान्तिमय मन से ही जीवन धारण कर सकते हैं और शान्ति में ही रहना चाहते हैं। इस प्रकार आनन्द सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करता है और रक्षा करता है। इसलिये इस आनन्द रस को भी गायत्री कह सकते हैं। इसी आनन्द से यह पृथ्वी उत्पन्न हुई है जो कि एक प्रकार की वाक् है। इसलिये इन भूतों को उत्पन्न करने वाली और धारण करने वाली पृथ्वी रूपी वाक् को भी गायत्री कह सकते हैं। इस पृथ्वी से प्राणियों का देह उत्पन्न हुआ है जो देह भी एक प्रकार की वाक् होने से गायत्री है क्योंकि इसी देह के कारण हमारी आत्मा उत्पन्न होकर रक्षित रहती है, फिर इस देह के कारण हमारी आत्मा उत्पन्न होकर रक्षित रहती है, फिर इस देह के रसों से हृदय उत्पन्न होता है यह हृदय भी वाक् है इसलिये गायत्री है क्योंकि हृदय में ही शरीर के देवता उत्पन्न होकर रक्षित रहते हैं। इस प्रकार आनन्द, पृथ्वी, देह, हृदय, ये चारों ही सिल-सिले वार परस्पर बँधे हुए एक रूप होकर चार चरण वाली एक ही गायत्री कही जाती है। जिनमें पृथ्वी, देह, हृदय ये तीन पाद जगत् के अन्तर्गत हैं किन्तु इसका तुरीय (चौथा) पाद जो आनन्द है वह इस जगत् से बाहर मुक्तिरूप है। ये चारों पाद जो कि वास्तव में वाक् रूप हैं इनके प्रत्येक पाद में मन और प्राण भी नित्य ही रहते हैं जिनके मन से प्रवृत् हुए प्राण में छ-छ स्तोम नियम रहते हैं।

१—प्रथम त्रिवृत् जो अग्नि देवता से संबन्ध रखता है।
२—दूसरा पञ्चदश जो इन्द्र का संबन्धी है।
३—तीसरा एकविंश जो सूर्य का संबन्धी है।

ये तीनों अग्नि के ही भेद है। इनके आगे चौथा सप्तविंशस्तोम जो चन्द्रमा से संवन्ध रखता है। पांचवा त्रयस्त्रिंशस्तोम जो दिक् से संवन्ध रखता है। ये चौथा और पांचवा दोनों सोम के रूप हैं। इन तेतीस देवताओं का मध्य सप्तदश होता है। इसलिये छठा सप्तदश स्तोम प्रजापति का रूप है। इस प्रकार एक-एक पाद में प्राणों का छ-छ खण्ड बन जाता है, यही गायत्री के प्रत्येक पाद के छ-छ अक्षर हैं। छ-छ अक्षरों के चारपाद से चौबीस २४ अक्षर की गायत्री सिद्ध होती है जो जगत् से बाहर परब्रह्म परमात्मा आनन्द घन से आरम्भ करके पृथ्वी, देह, हृदय के द्वारा हृदय निवासी आनन्दकन्द हमारी आत्मा तक विद्यमान होती है इसी का नाम ब्रह्मगायत्री है। इस ब्रह्मगायत्री का यदि जीव सर्वदा ध्यान करता रहे तो इसके द्वारा जीवआत्मा का परमात्मा के साथ लगाव रहने से मुक्ति का द्वार सहज हो जाता है। इस ब्रह्मगायत्री के चारों चरण प्राण रूप हैं इन प्राणों की स्थिति के लिये चार ही प्रकार के आकाश कहे जाते हैं जो कि आपस में दहरोत्तर रूप से है। अर्थात् पूर्व २ आकाश में पर आकाश अन्तः प्रविष्ट रहता है। जिस प्रकार भौतिक वायु के लिये भौतिक आकाश आवपन होता है उसी प्रकार प्राण रूपी दैविक वायु के लिये यह आवपन रूप मन ही आकाश है। यह मन प्राण के लिये ठीक वैसा ही काम करता है जिस प्रकार वायु के लिये आकाश करता है इसलिये मन को भी आकाश ही कहते हैं। इनमें सबसे प्रथम आकाश वह मन है जिसमें आनन्द रूप भूमा रस परिपूर्ण रहता है। उस आकाश के अन्तर्गत पृथ्वी का आकाश है। इस प्रकार ये दो आकाश शरीर से बाहर रहते हैं। इसके अन्तर्गत शरीर का आकाश है और उसके अन्तर्गत हृदय आकाश है। इन चारों आकाशों में प्राण, वाक् पर्याप्त रहते हैं और जिस प्रकार आकाश के अन्तर्गत आकाश भिन्न रूप से रहता है उसी प्रकार प्रत्येक आकाश के प्राण, वाक् भी भिन्न-भिन्न रूप से रहते हैं। किन्तु जितने धर्म महा आकाश में हैं वे सब छोटे से छोटे हृदयाकाश में भी पाये जाते हैं, केवल मात्रा में उनका भेद है। यह हृदयाकाश अप्रवर्ति है इसलिये हृदयाकाश के अन्तर्गत फिर दूसरा आकाश उत्पन्न नहीं होने पाया। इस प्रकार चारों आकाशों में विद्यमान चार प्रकार के प्राणों का संघात ही चार पाद बनकर गायत्री का स्वरूप सिद्ध होता है, जिसको ब्रह्मगायत्री कहा गया है यह पहली गायत्री हुई।

जिस प्रकार ब्रह्म अर्थात् आनन्द से प्रारम्भ करके हृदय तक चतुष्पाद ब्रह्मगायत्री सिद्ध होती है, उसी प्रकार सूर्य से आरम्भ करके भी वही पृथ्वी, शरीर, हृदय के भेद से चतुष्पाद सूर्य गायत्री जाननी चाहिये। प्रत्येक पाद में छ-छ स्तोम के छ-छ अक्षर पूर्वोक्तरीति के अनुसार यहाँ भी जानों और चारों आकाश भी पूर्ववत् मानो। इसी प्रकार चन्द्रमा से आरम्भ करके पृथ्वी, शरीर, हृदय के द्वारा चन्द्रगायत्री भी सिद्ध होती है इस प्रकार ये तीनों गायत्री भिन्न-भिन्न तीन स्थानों में से भिन्न-भिन्न तीन प्रकार के रसों को हमारे हृदय तक पहुंचाकर हमारी आत्मा के स्वरूप को संपन्न करती हैं। इन तीनों गायत्रियों के अतिरिक्त तीन गायत्रियाँ और भी हैं जिनका हमारी आत्मा से कोई संबन्ध नहीं। जैसा कि उसी ब्रह्म अर्थात् आनन्द मूर्ति से आरम्भ करके चन्द्रमा और वहाँ के भौतिकशरीर और उनके हृदय तक

जो रसों की एक शाखा जाती है वह भी ब्रह्म गायत्री है। किन्तु उससे चन्द्र निवासी जीवों की आत्मा सम्पन्न होती हैं। इसी प्रकार सूर्य से आरम्भ करके भी चन्द्रमा, शरीर, हृदय तक सूर्यगायत्री होती है, ऐन्द्रमण्डल में ये दो ही गायत्री हैं। इनके अतिरिक्त एक और भी ब्रह्मगायत्री है जो आनन्द से सूर्य में जाकर वहाँ के निवासियों के शरीर, और हृदय तक पहुंच कर आत्मा संपन्न करती है इस प्रकार छ गायत्रियाँ हुई जिनमें पृथ्वी पर तीन, चन्द्रमा पर दो, सूर्य में एक है ये छओं गायत्रियाँ इस त्रैलोक्य में कही जाती हैं किन्तु सूर्य असंख्य हैं, प्रत्येक सूर्य में बहुत सी पृथ्वी और बहुत से चन्द्रमा हैं। प्रत्येक में ब्रह्म अर्थात् आनन्द मूर्ति परमात्मा से इन गायत्रियों के ही द्वारा रस आकर भिन्न-भिन्न वहाँ के जीव आत्माओं का स्वरूप उत्पन्न होता रहता है और इन्हीं गायत्रियों के द्वारा सभी जीवआत्मा प्रतिक्षण उस आनन्दघन परमात्मा से सम्बन्ध करते रहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे प्रपाठक के बारहवें खण्ड में गायत्री का स्वरूप वर्णन हुआ है।

इनके अतिरिक्त वाजसनेयश्रुति में महर्षि याज्ञवल्क्य ने एक और ही गायत्री का कथन किया है वह यह है-तीन लोक, तीन वेद, तीन प्राण, इस प्रकार तीन पाद के साथ तुरीयपाद परोरजा का अर्थात् उसी आनन्द मूर्ति परमात्मा के मिलाने से चार पाद की गायत्री सिद्ध होती है। यह गायत्री प्रत्येक जीव के शरीर में स्थित होकर शरीर के (गय) अर्थात् प्राणका त्राण करती है, इसी कारण यह चतुष्पाद ब्रह्मरस गायत्री कहलाती है। यह याज्ञवल्क्य की गायत्री चौथे प्रकार की है।

इसी ब्रह्मगायत्री को यों भी दूसरे प्रकार में समझ सकते हैं कि ईश्वर से लेकर जीव तक जो सूत्र आ रहा है उसके छ भाग हैं। १ परोरजा, २ सूर्य ३ चन्द्र, ४ पृथ्वी, ५ शरीर, ६ हृदय, ये छ भाग ही छ अक्षर कहे जाते हैं। इन छओं भागों में जितने पदार्थ हैं वे ४ भाग में बंटे हैं। १ लोक २ वेद, ३ देव, ४ चौथा भूत लोक अवस्था विशेष का नाम है। प्रत्येक पदार्थ तीन अवस्थाओं में रहता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन्हीं को लोक कहते हैं वेद से तात्पर्य ऋक् यजु साम से है।

छओं स्थानों में जितने पदार्थ हैं उनमें प्रत्येक के साथ ये तीनों वेद लगे रहते हैं। वेदों के बिना किसी वस्तु की मूर्तक या स्वरूप सिद्धि नहीं होती। देवों से तात्पर्य तीन अग्नि और दो सोम से है। छओं स्थानों में कोई भी पदार्थ इन देवताओं के बिना नहीं बना है और इस प्रकार भूत से तात्पर्य तेज; आप्, अन्न से है। छओं स्थानों में जितने विरल, तरल, घन पदार्थ हैं प्रत्येक में दो-दो भाग होते हैं। बाहर में भूत और उनके अन्तर में देव। देव या भूत ये दोनों एक के बिना एक नहीं रहते और इन देव भूतों की बनी हुई प्रत्येक वस्तु की तीन-तीन अवस्था अथात् लोक होते हैं। और प्रत्येक पदार्थ के तीन-तीन वेदस्वरूप बनाते हैं, इस प्रकार छओं स्थानों में एक-एक वस्तु का स्वरूप इन चारों से अर्थात् लोक, वेद, देव, भूत से बने होते हैं। इसलिये ईश्वर से जीव तक इन चारों का सिलसिला बराबर बनता हुआ आता है जो छ स्थान में हैं। इसलिये हर सिलसिले में २४ भाग अर्थात् २४ अक्षर सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये इस सिलसिले को ब्रह्मगायत्री कहते हैं। इस ब्रह्मगायत्री से जीव आत्मा का परमात्मा में मिलाव सिद्ध होता है। तीसरे एक और प्रकार से भी ब्रह्मगायत्री समझी जाती है। वह यह प्रकार है कि इस जगत् में जितने स्थूलपिण्ड हैं वे सब भूत हैं और भूतों की सृष्टि अत्यन्त सूक्ष्मभाव से आरम्भ करके

किसी स्थूल दशा तक पहुंचती है। कल्पना करो कि यह पृथ्वी किसी समय बहुत दूर-दूर तक फैली हुई प्रथम वाक् रूप में थी इसी वाक् को आकाश कहते हैं। इस वाक् का केन्द्र भाग धीरे-धीरे घनतर में आकर वायु रूप में परिणत हो गया, वायु का भी केन्द्र भाग घनता में आकर तेज हो गया, तेजका भी केन्द्र भाग घनता में आकर जल हो गया, उस जलका भी केन्द्र भाग घन होकर पृथ्वी बन गई, जितनी घनता हो सकती थी उतनी होकर पृथ्वी हुई उसके अधिक घनता तात्विक दृष्टि में हो नहीं सकती इसलिये आगे की घनता बन्द होकर भूत की पांच जाति सिद्ध हुई। सब से बाहर १ वाक् है २ उसके भीतर क्रम से वायु, तेज, जल, पृथ्वी है।

सबसे बड़ा आकाश वाक् का है उसके अभ्यन्तर में पृथ्वी का आकाश है। अब इस पृथ्वी का भाग लेकर शरीर बनता है इसलिये पृथ्वी आकाश के भीतर शरीर का आकाश है उसके भीतर हृदय आकाश है। इस प्रकार पृथ्वी के सम्बन्ध से चार आकाश सिद्ध हुए वाक्, पृथ्वी, शरीर, हृदय। जिस प्रकार पृथ्वी एक स्थूलपिण्ड है। उसी प्रकार जितने भूतपिण्ड हों उन सब में भी पृथ्वी के अनुसार ही सृष्टि-क्रम मानना पड़ेगा। इसलिये चन्द्रमा, सूर्य, परोरजा या अभिजित् तथा ईश्वर और परमेश्वर इन छओं में भी वाक् आदि चार चार भाग होंगे उन सब भागों से हमारा शरीर बना है है इसलिये हमारा शरीर षाट्कौशिक है अर्थात् छः छः कोशों से बना हुआ है। और जिस प्रकार मेरा शरीर भिन्न भिन्न छः कोशों से बना है उसी प्रकार छः कोशों का केन्द्ररूप हृदय भी छः होंगे। इस प्रकार से छः व्यूहों के प्रत्येक चार चार भाग लेने से २४ चौबीस खण्ड प्राप्त होते हैं। इस चौबीस खण्डों को अक्षर मानने से भी एक बड़ी ब्रह्मगायत्री सिद्ध होती है। जिस ब्रह्मगायत्री के अन्दर यह परम विशाल संपूर्ण जगत् ओत-प्रोत हुआ दीखता है। इस प्रकार जो छः हृदयों से बना हुआ एक हृदय है जिसमें मुख्य हृदय पर परमेश्वर सम्बन्धी वह हृदय है एक अद्भुत दिव्यज्योति विद्यमान रहकर इस सम्पूर्ण विशाल जगत् का प्रकाश करती हुई उसका आनन्द हमें दिखा रही है। वह सब ज्योतियों की ज्योति है। क्योंकि उसी से हम जीव, सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों को और उनके अभाव में अन्धकार को भी देखते हैं और दूसरी दूर की वस्तुओं को और अत्यन्त परोक्ष वस्तुओं को भी जिसके प्रकाश से हम देखते हैं और उसी के आश्रय से पाँच पञ्चजन विद्यमान रहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार यह पृथ्वी सूक्ष्म वाक् से स्थूलरूप धारण करने के कारण पाँच भूतों वाली बनी है। अर्थात् वाक्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इस प्रकार क्रम से स्थूल हुई है ऐसे ही इसी पृथ्वी के अनुसार चन्द्रमा, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये ४ चारों भी वाक् आदि पाँच पाँच अवयवों के द्वारा स्थूलरूप में आये हैं। इसलिये पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये पांचों ही वाक्, वायु, तेज, जल, पृथ्वी रूप पाँच पाँच अवयवों के कारण पञ्चजन कहलाते हैं। ये पाँचों ही पञ्चजन उस छठे परमेश्वर के आधार से अपनी अपनी सत्ता रखते हुए अपना कार्य करते हैं। अर्थात् इस शरीर के भिन्न-भिन्न चार कार्यों को पूरा करते हैं इन पाँचों के सम्मिलित पाँच हृदय इस जीव के हृदय में पृथक् पृथक् पाँच प्राणों के पाँच पाँच छिद्रों से निकलते हुए इस शरीर के भिन्न भिन्न चार कार्य पूरा करते हैं या संपादन करते हैं। एक एक स्रोत के प्रत्येक प्राण चार रूप में होकर चार चार काम करते हैं। जिनके ये नाम है पांच अन्तश्वर प्राण हैं प्राण, व्यान, अपान समान, उदान ये पांचों ही शरीर के भीतर रहकर शरीर के ७ सात धातुओं को उत्पन्न करते हैं और उनको यथा स्थान सन्निवेश करके शरीर का स्वरूप

संगठन करते हैं और १ वाक् २ प्राण, ३ चक्षु ४ श्रोत्र, ५ मन ये पाँचों बहिश्चर प्राण हैं। ये इन्द्रिय छिद्रों के द्वारा बाहर के भूतों में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और विचारणीय विषयों को ग्रहण करके उस छठे परमेश्वर के प्रकाशमय हृदय में पहुँचाया करते हैं।

२ अग्नि, चन्द्र, सूर्य, पर्जन्य, आकाश ये पांचों देवता स्वर्गचर पांच प्राण हैं ये सब अपने स्थान से अपने अपने रसों को लेकर जीव के हृदय तक पहुँचाते हैं और जीव शरीर के रसों को लेकर उल्टा स्वर्ग में ले जाते हैं। इस प्रकार प्रतिक्षण मनुष्य के हृदय से स्वर्ग के पदार्थों का आगम निगम होता रहता है।

तीसरा और चौथा उपास्य प्राण है अर्थात सूर्य से तेज और चन्द्रमा से श्री और यश और पृथ्वी की अग्नि से ब्रह्मवर्चस तथा पर्जन्य से कीर्ति और व्युष्टि और आकाश से ओज और मह प्राप्त होते हैं। इनको उपास्य प्राण कहते हैं।

४ तात्पर्य यह है कि हृदय के पांच स्रोतों से पांच प्राण निकलकर प्रत्येक प्राण चार चार काम करते हैं एक तो शरीर के भीतर धातुओं को बनाते हैं, दूसरा बाहर भूतों से भूत गणों को भीतर लाता है, तीसरा स्वर्ग से देवों के रसों को भीतर लाता है और चौथा शरीर को उत्तम करने के लिये अर्थात् अच्छे बुरे का भेद दिखाने के लिये शरीर पर कितने ही उत्तम गुणों का आधार करता है। यह चौथा काम सब जीवों के शरीर पर रखते हैं साधारण तौर से नहीं होता, किन्तु कहीं अधिक कहीं कम और कहीं सर्वदा अभाव भी होता है वह सुन्दर न होकर खराब माना जाता है। ये पाँचों प्राण जो चार-चार काम करते हैं उन सब में उस छठे परमेश्वर की भी सत्ता विद्यमान रहती है। इसलिये उस की भी चारों क्रिया मानी जा सकती है। इस प्रकार छः आत्माओं की चार चार क्रिया सिद्ध होने से २४ सिद्ध होती है। इन्हीं को २४ अक्षर मानकर इस जीव आत्मा की जीवन क्रिया को गायत्री कह सकते हैं अर्थात् गायत्री से ही इस जीवन का जीवन है, ऐसा सिद्ध होता है।

## छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरे अध्याय के १३वें खण्ड में निम्नलिखित विवेचन है—

| | | अन्तश्चर | बहिश्चर | स्वर्गचर | उपास्य |
|---|---|---|---|---|---|
| | अथवा | शरीरचर | भूतचर | देवचर | देहचर |
| हृदय के पूर्व | सुषिर | प्राण | चक्षु | आदित्य | तेज |
| ,, दक्षिण | ,, | व्यान | श्रोत्र | चन्द्र | श्रीयश |
| ,, पश्चिम | ,, | अपान | वाक् | अग्नि | ब्रह्मवर्चस |
| ,, उत्तर | ,, | समान | मन | पर्जन्य | कीर्ति. व्युष्टि |
| ,, ऊर्ध्व | ,, | उदान | वायु | आकाश | ओज. महः |

( सुषिर=सुख, क्षत्री का भ्राजस, वैश्य का द्युम्न, देव का सुम्न )

वायु अव्यवथित है अर्थात् न थका हुआ। इस वायु को अनस्तमिता देवता भी कहते हैं। (जो अस्त नहीं होता।)

यद्यपि इस प्रकार छः मूलतत्त्वों के प्रत्येक चारपाद कल्पना करने से २४ अक्षर की गायत्री कही गई है तथापि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हृदय, शरीर, पृथ्वी और वाक् इन चारों का आकाश पृथक्-पृथक् चार न होकर एक है, और उस आकाश में वाक् से लेकर हृदय तक समानभाव से सजातीय पदार्थ परिव्याप्त हैं। जितने पदार्थ जिस प्रकार से वाक् के आकाश में हैं उतने ही पदार्थ उसी प्रकार से हृदय आकाश में भी हैं तो सिद्ध हुआ कि पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य्य आदि छओं देवताओं अपने-अपने भिन्न-भिन्न असाधारण पदार्थ अपने-अपने वाक् के आकाश से आरम्भ करके अपने-अपने हृदय आकाश तक विद्यमान हैं इसलिए जीव के हृदय में जो कि छ हृदयों का एक समूह है उसमें छ देवताओं के भिन्न-भिन्न पदार्थ सम्मिलित हैं। अर्थात् भौमहृदय के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों तत्त्व उस हृदय में रहते हैं। अर्थात् सौम्य हृदय के कारण सङ्कल्प और काम उस हृदय में हैं। सौर हृदय के कारण ३३ देवता और कर्म्म इस हृदय में हैं। अभिजित् अर्थात् ब्रह्मा हृदय के कारण सब वेद और यज्ञ इस हृदय में हैं औह ईश्वर हृदय के कारण यह हृदय इन सबको पकड़े हुये मन, प्राण, वाक् संयुक्त है और सत्ता, चेतना व आनन्द युक्त है और परमेश्वर के हृदय के कारण यह वाङ्मनस के अगोचर है। इस प्रकार ये छः प्रकार के भिन्न-भिन्न धर्म भिन्न–भिन्न स्थानों से आकर पृथक्–पृथक् छः हृदयों में सन्निविष्ट हैं। किन्तु ये छओं हृदय एक ही किसी बिन्दु में आकर इस प्रकार बँध गये हैं कि उनकी एक गांठ सी हो गई है इसी से उसको हृदयग्रन्थि कहते हैं। इसी हृदयग्रन्थि के कारण भिन्न भिन्न छः हृदय मिलकर एक हृदय के अनुसार प्रतीत होते हैं इसीलिये जो हमारी आत्मा परमेश्वर और ईश्वर से आई हुई शुद्ध सच्चिदानन्द रूपा है उसी आत्मा से सब देवता संकल्प, काम या गन्ध, रूप, रस आदि भूत धर्म सब विद्यमान से प्रतीत होते हैं परन्तु यदि यह हृदयग्रन्थि मुक्त हो जाय अर्थात् खुल जाय तो पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा के धर्म सब अलग होकर हम शुद्ध सच्चिदानन्द रूप रह जावें यह ही परम पुरुषार्थ है और इसे ही मुक्ति कहते हैं। अथवा दूसरा प्रकार मुक्ति का क्षीणोदर्क यह है कि जिस प्रकार चार पादों के चार आकाशों को एक एक आकाश समझा जाता है उसी प्रकार इन छः देवताओं को भी वास्तव रूप में एक ही देवता समझें क्योंकि चन्द्रमा पृथ्वी से, पृथ्वी सूर्य से, सूर्य ब्रह्मा से, ब्रह्मा ईश्वर से और वह परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। इसलिये सब भी वास्तव में एक ही परमेश्वर हैं। ऐसा विश्वास होने पर गन्ध, रस, रूप आदि भिन्न पदार्थों के ज्ञान से भिन्नता नष्ट हो जाती है। ये सब ज्ञान ही ज्ञान समझ में आने लगते हैं, जिससे द्वैतभाव मिटकर हृदयग्रन्थि अपने आप मुक्त हो जाती है और एक ही सच्चिदानन्द के रहने से कैवल्यमुक्ति हो जाती है और यही परम पुरुषार्थ है इसको भूमोदर्क मुक्ति कहते हैं।

क्षीणोदर्क या भूमोदर्कमुक्ति की सिद्धि तप से ही हो सकती है तप का अर्थ योगाभ्यास है। योग यद्यपि तीन प्रकार का है, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग जिनमें भक्तियोग भी चार प्रकार का है, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग इनमें प्रथम दो सामान्य कक्षा के हैं, किन्तु अन्तिम दो उच्च कक्षा के हैं, इन दोनों में भी राजयोग मुख्य है। मन्त्रयोग में मूर्तियों का पञ्चोपचार या षोडसोपचार पूजन आदि ही योग का मुख्य बहिरङ्ग साधन है और मन्त्र, पुरश्चरण, जप आदि अन्तरङ्ग-साधन हैं।

इसी प्रकार राजयोग के चार पाद हैं। प्रथम बहिरङ्गसाधन आसन, प्राणायाम, यम, नियम आदि हैं और द्वितीय अन्तरङ्गसाधन है जिनमें धारण, ध्यान, समाधि आदि हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती है सविकल्पक और निर्विकल्पक। इसी कारण से योग के फल भी दो प्रकार के हैं। विभूति और कैवल्य। सविकल्पक समाधि से विभूति सिद्ध होती है जो लौकिक फलप्रद है और निर्विकल्पक समाधि से कैवल्यमुक्ति होती है और यही निर्विकल्पक समाधि ज्ञानयोग के नाम से प्रसिद्ध है निर्विकल्पक समाधि के द्वारा ज्ञान के उदय होने पर ही मुक्ति होती है। ज्ञान के अतिरिक्त किसी भी उपाय से मुक्ति नहीं होती ऐसा वेद का सिद्धान्त है।

**तमेव विदित्वा अति मृत्यु मेति नान्यः पन्था विद्यते अनाय**

यह ब्रह्मगायत्री शाण्डिल्यविद्या है और शाण्डिल्य के उपदेशानुसार यह जीव विद्या है अथवा इसे ही ब्रह्मगायत्री विद्या भी कह सकते हैं।

## (क) जीव परिचय

जहां जो कुछ हैं वह सब दो भाग में बांटा जा सकता है। १–सचेतन जीव, २–अचेतन जीव। जिनमें इन्द्रियाँ पाई जाती हैं उनको सचेतन और निरिन्द्रियों को अचेतन कहते हैं। ये दोनों ही ईश्वर के जगत् हैं, किन्तु इनमें सचेतन को ही सर्व साधारण लोग जीव कहते हैं। जो कुछ ईश्वर में धर्म दीखते हैं ये सब थोड़ी–थोड़ी मात्रा में इन जीवों में भी पाये जाते हैं। जिस प्रकार ईश्वर अपने व्यूहों से अनुव्यूहित है उसी प्रकार यह जीव भी है। विशेषता यह है कि ईश्वर में असंख्यात त्रिलोकियाँ सन्निविष्ट हैं किन्तु इस जीव के शरीर में एक ही त्रिलोकी दीखती है, वह भी कम मात्रा में। इसी कारण से यह जीव ईश्वर की अपेक्षा बहुत ही कम ज्ञान रखता है। उस ईश्वर में भिन्न प्रकार से ही इन्द्रियों का सन्निवेश है और सब प्रकार का ज्ञान भी ईश्वर में सदा सर्वदा एक रूप से विद्यमान रहते हैं किन्तु जीव में इन्द्रियाँ भी परिमित स्थान में परिमित मात्रा में है और उनसे ज्ञान भी परिवर्तनशील अर्थात् निरन्तर नहीं रहता, टूटती हुई दशा में होता रहता है और उसमें संशय, भ्रम आदि ही सर्व साधारण लोग अज्ञानों का भी सन्निवेश रहता है। ईश्वर का ज्ञान जैसा नित्य है उस प्रकार जीव का ज्ञान नित्य न होकर किसी नियत क्रम से उत्पन्न होता है। वह क्रम यह है–

## (ख) ज्ञानोत्पत्ति क्रम

### (वस्तु, सूर्य और चक्षु जन्य ज्ञान सविकल्पक है)

स्वच्छ जल जिस प्रकार लवण, कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय, मिष्ट आदि के योग से वैसे ही स्वाद का हो जाता है। इसी प्रकार स्वच्छ हमारी इन्द्रियाँ भी जिस रङ्ग की जिस वस्तु से योग करती है वैसी ही हो जाती है। बहुतों का खयाल है कि चक्षु इन्द्रिय बाहर विषय के देश तक जाकर विषयों को ग्रहण करती है और दूसरों का विश्वास है कि बाहर के विषय ही चक्षु पर आकर योग करते हैं। परन्तु मेरा

कहना है कि न इन्द्रियाँ विषय देश में जाती हैं और न विषय चक्षु में आता है, किन्तु सूर्य के किरण किसी वस्तु पर टकराकर परिवर्तित होते हैं और वही परिवर्तित किरण चक्षु पर आकर उन वस्तु की मूर्ति बना देता है। ऐसी दशा में बाहर के घटादि पदार्थ जो वास्तव में परमेश्वर में विद्यमान हैं और तीसरी चक्षु जो जीव में विद्यमान है, इन तीनों के संयोग होने पर जो नई बात पैदा होती है उसी को ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आत्मा के स्वरूप निर्विकल्पक ज्ञान निर्विषयता होने से किसी विषय का अवलम्बन नहीं करता किन्तु सविकल्पक ज्ञान सर्वदा विषय की अपेक्षा रखता है बिना विषय के उसका स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। निर्विकल्पक ज्ञान जगत् का आधार है और सबका कारण हैं। किन्तु सविकल्पक ज्ञान घटादि बाह्य पदार्थ और सूर्य किरण तथा इन्द्रिय इनके योग से ही उत्पन्न होता है।

## (पांच गुणों का पांच शरीर वाले इन्हीं पांच देवताओं से संयोग ही ज्ञान है)

इन्द्रियां=नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र।
अर्थ=गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द।
देवता = पृथ्वी, वरुण, आदित्य, वायु, इन्द्र।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों हीं भूत गुण ईश्वर से उत्पन्न हुए अर्थ हैं। यही शरीर के भीतर पञ्च देवता के रूप से विद्यमान रहते हैं। जब ये बाहर के पांचों द्रव्य गुण शरीर वाले इन्हीं पांच देवताओं से संयोग करते जो देवता कि इस शरीर में पहले से प्रज्ञा में मिले हुये हैं तब दोनों के मेल से जो बात पैदा होती है उसे ही ज्ञान कहते हैं।

व्यूह तीन प्रकार के कहे गये हैं—परमेश्वर, ईश्वर, जीव इन तीनों की आत्माओं को क्रम से ओम्, अहः, अहम् कहते हैं। इन तीनों आत्माओं में भिन्न-भिन्न मन, प्राण, वाक् ये तीनों रहते हैं। इनमें से ओम् की वस्तु की वाक् से प्रेरित होकर अहः रूपी सूर्य के किरण की वाक् लौटकर अहम् की चक्षु रूपी वाक् में आती हैं और इन तीनों वाकों के तीन प्राण परस्पर मिल जाते हैं। जिनके मिलने से जो तीनों मन का मेल होता है उसी मेल को ज्ञान कहते हैं।

मन दो प्रकार का है। एक इन्द्रिय, दूसरा अनिन्द्रिय। इसमें इन्द्रिय मन से सुख, दु.ख, मोह का ज्ञान होता है और वह इन्द्रिय मन शोणित में या शोणित का केन्द्र हृदय में रहता है। किन्तु अनिन्द्रिय मन इन्हीं ग्यारह इन्द्रियों में रहता है, इस मन के बिना कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती अथवा इन्द्रियों के काम होने पर भी वे (काम) निष्फल हो जाते हैं। अर्थात् उनसे ज्ञान या क्रिया कुछ नहीं होते इसी अनिन्द्रिय ज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं।

यह मस्तिष्क (भेजा) से निकल कर सब इन्द्रियों में सर्वथा व्याप्त रहता है। जब कभी सूर्य किरण के द्वारा किसी वस्तु का रूप चक्षु इन्द्रिय में आता है तो वह चक्षु इन्द्रिय एक वस्तु की आकृति उत्पन्न करके उसी प्रज्ञा रूपी मन में अर्पण कर देता है। इतना ही करके कृतकृत्य होकर शान्त हो जाता है। अब वह मन उस आकृति को लेकर आत्मा में अर्पण करता है। यदि वह आत्मा आत्मा में स्थिर हो जावे तो

उसी को अवगम ज्ञान कहते हैं। यही अवगमज्ञान मुख्य ज्ञान है। किन्तु इसमें ४ कक्षायें हैं–१ अवग्रह, २ ईहा ३ अवाय, ४ धारणा इन में इन्द्रिय जन्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं, मनोजन्य ज्ञान को ईहा कहते हैं, आत्मजन्य ज्ञान को अवाय कहते हैं, और अवाय की स्थिरता को धारणा कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु में द्रव्य, गुण, क्रिया इन तीनों पदार्थों की सत्ता रहती है जिनमें क्रिया आगन्तुक है वह उत्पन्न, विनिष्ट होता रहता है, किन्तु द्रव्य और गुण ये दोनों स्थिर रहते हैं नैयायिकों का मत है कि चक्षु इन्द्रिय पहले द्रव्य को ग्रहण करती है पीछे द्रव्य के संबन्ध से गुणों को भी ग्रहण कर सकती है। किन्तु यहां इसके विपरीत कहना है। कोई भी इन्द्रिय किसी भी द्रव्य को ग्रहण नहीं करती। विचार कर देखने से समझ में आता है कि पांचों ज्ञानेन्द्रियां पांचों इन्द्रियार्थ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इनमें से अपने-अपने गुण को ही केवल ग्रहण कर सकती है। वे इन्द्रिय अपने गुण के अतिरिक्त द्रव्य को कदापि नहीं जानती। गुणों का ज्ञान ही इन्द्रियों का ज्ञान है और उतने ही से इन्द्रियां कृतकृत्य हो जाती है इसी ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। इस अवग्रह होने पर वह अवग्रह ज्ञान मनमें पहुंचता है, उस समय मन उन गुणों को ग्रहण करके उन गुणों का गुणी द्रव्य का स्वरूप नियत करता है। अर्थात् द्रव्य का ज्ञान करना मन का काम है किन्तु यदि कोई प्रश्न करें कि इन्द्रिय के द्वारा गुण का ज्ञान होने पर पश्चात् मन किसी द्रव्य के जानने के लिये व्यापार ही क्यों करता है तो उसके उत्तर में हम कहेंगे कि जब इन्द्रिय अपने विषय को अर्थात् गुण को ग्रहण करके मनमें समर्पण करती है तब उस मनमें पहले का आये हुए भिन्न-भिन्न द्रव्य वाले भिन्न-भिन्न कितने ही गुणों के संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं। उनके उद्बोधन से मन में एक प्रकार का तरङ्ग उठता हैं। अर्थात् उन गुणों के आश्रय वाले अनेक द्रव्यों का स्मरण कराता है जिससे एक प्रकार का संशय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् चक्षु के द्वारा लाल रङ्ग देखने पर मन इस द्विविधा में आ जाता है कि यह लाल रङ्ग कपड़े पर है या घोड़े पर। इस बात के जानने के लिये मन यत्न करने लगता हैं। इसी प्रकार मरुस्थल में कड़ी धूप पड़ने पर जमीन की बालू से टकराकर सूर्य की किरणें ऊपर को फैंकी जाती हैं। उस समय ऊपर से आते हुये किरणों के साथ धक्का खाते हुए इस प्रकार हिलने लगते हैं जैसे किसी सरोवर में पानी की लहरें होती हों। उस समय चक्षु केवल लहर को ही देखती है किन्तु मन में सब प्रकार की लहरों का संस्कार उद्बुद्ध होने पर घट विचार उत्पन्न होता है कि ये लहरें जल की है या वायु की है या सूर्य की किरण की है।

इस प्रकार सन्देह ज्ञान को लेकर जब मन आत्मा में पहुँचता है तो उसी क्षण आत्मा उस मन को आज्ञा देता है कि इस लहर के द्रव्य का वह यथार्थ निर्णय करें। यह आज्ञा पाते ही मन व्यापार करने लगता है और सहकारी गुणों को देखने के लिये इन्द्रियों को प्रेरणा करता है, कुछ अपने आप भी परामर्श करता है। जिस द्रव्य का उन गुणों के साथ बाधक पाता है उसको तल छोड़ जाता है और जिन गुणों का जिस द्रव्य का साधन पाता है उस द्रव्य को पकड़ कर उस पर स्थिर हो जाता है। उस समय उसका

---

❀ प्रज्ञान में विज्ञान और विज्ञान में चेतना है।
महान् आत्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा, चिदात्मा।

तरङ्ग बन्द हो जाता है और कुछ छोड़कर कुछ लेकर किसी एक वस्तु का स्वरूप बनाकर आत्मा में पहुँचा देता है। प्रत्येक इन्द्रिय जन्य ज्ञान के पश्चात् नियम से यह मन कई विकल्पों को पैदा करके साधक, बाधक के अनुगम से अन्वीक्षण (टुकडे) करके एक वस्तु का ज्ञान करता है। इस सम्पूर्ण व्यापार को दुबारा देखने को ईहा कहते हैं। यह ईहा कहीं कम कहीं ज्यादा कहीं शीघ्रकाल में यत्न कहीं देर तक होता है। उसके समय का या मात्रा का तो नियम नहीं हो सकता किन्तु यह ईहा सर्वत्र होता अवश्य है। यदि कल्पना करो कि जिस मनुष्य में पहले किसी प्रकार का संस्कार उत्पन्न हुआ ही नहीं है तो उस समय इन्द्रिय जन्य ज्ञान को ही ज्यों का त्यों लेकर मन आत्मा में पहुँचा देता हैं। वहाँ पर किसी प्रकार के संस्कारों का उद्‌बोधन, होने के कारण संदेह नहीं होता इसलिये आत्मा भी मन को निर्णय करने के लिये प्रेरणा नहीं करता। इसलिये उस मूर्ख मनुष्य के दृष्टि में किसी प्रकार का विचार न उठकर इन्द्रिय जन्य ज्ञान ही मन का ज्ञान भी हो जाता है। वहाँ ईहा का स्वरूप विशेष प्रकार नहीं होता है जब कि मन निःसंशय रूप से किसी एक ही विषय को लेकर आत्मा में पहुँचाता है तो वह विषय सत्य हो या मिथ्या हो मन के दिये हुए को आत्मा ले लेता है उसी का नाम अवगम है। अवगम में आत्मा उस विषय को श्रद्धा से पकड़ता है। यह श्रद्धा शब्द, श्रत् और धा से बना है। श्रत् का अर्थ है सत्यता, उससे किसी विषय की धारणा करना श्रद्धा होती है। तात्पर्य यह है कि किसी विषय को सत्य समझकर उसके विपरीत आत्मा का भाव न होना अथवा अभिमुख होना ही श्रद्धा है, इस प्रकार श्रद्धा से धारणा करना भी दो रूप से होता है। उपेक्षा बुद्धि से और अपेक्षा बुद्धि से इनमें उपेक्षा से अवगम होने पर आत्मा में उसका संस्कार दृढ़ता से उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार काच पर मुख का प्रतिविम्ब होकर भी बिना कुछ चिह्न किये ही काच पर से निकल जाता है। उसी प्रकार ज्ञान होने पर भी वह विषय आत्मा से निकल जाता है। किन्तु यदि अपेक्षा बुद्धि से अवगम हो तो आत्मा में उसका संस्कार हो जाता है। आत्मा में उसका चिह्न मुद्रित हो जाता है वही संस्कार धारणा या वासना कहलाती है इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति में क्रम से अवग्रह, ईहा, अवगम और धारणा में चार कक्षा उत्पन्न होती हैं। इन चारों के होने पर ज्ञान का स्वरूप वास्तव में सिद्ध होता है।

## जीव ईश्वर का अन्तरान्तर भाव

एक अंगुल का सोवां हिस्साभर भी कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहां कि कोई जीव न हो। स्थूल या अतिस्थूल, सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म जीवों से यह जगत् सर्वत्र व्याप्त है। यह वायु जो सर्वत्र आकाश में व्याप्त है, यह वायव्य (वायु शरीरी) जीवों से पर्याप्त है। इसी प्रकार आग्नेय (अग्नि शरीरी) जीवों से अग्नि भरा है और जलीय (जल शरीर वाले) जीवों से जल तथा पार्थिव शरीरी जीवों से यह पृथ्वी सर्वत्र पर्याप्त है।

यह जीव दो प्रकार के देखे गये हैं। एक तो अनन्त जीवों से पर्याप्त अङ्गों का धारण करता हुआ जीव का प्रभेद है जैसा कि मनुष्य शरीरी जीव के अङ्ग प्रति अङ्ग, शोणित, मांस, अस्थि इत्यादि असंख्यात जीवों से बने हुए होते हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के जीव हैं कि जिनके शरीर सङ्गठन में किसी अन्य जीव का प्रवेश नहीं होता। जो इसी मनुष्य शरीर में सबसे छोटा से छोटा सृमर नाम का जीव है वह बिना

अन्य जीवों के मिलाव के अपना शरीर रखता है। इन सब जीवों में प्रथम प्रकार के जीव व्यूढ़ है किन्तु दूसरे प्रकार के जीव जो सृमर कहे गये हैं अव्यूढ़ हैं क्योंकि इनमें और दो जीवों के मेल से व्यूह नहीं किया गया है। किन्तु मनुष्य आदि जीवों का शरीर व्यूढ़ इसलिये है कि उनमें अनेक जीवों के संग्रह से एक प्रकार का व्यूह किया गया है।

व्यूढ़ आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है। १-जीव, २-ईश्वर, ३-परमेश्वर। इनमें जिस प्रकार अनेक क्षुद्र जीवों से मनुष्यादि व्यूढ़ आत्मा के शरीर में व्यूह है उसी प्रकार इन मनुष्यादि जीवों से ईश्वर के शरीर में व्यूह होता है और इसी प्रकार अनन्तानन्त ईश्वरों से भी परमेश्वर के शरीर में व्यूह होता है, इस परम्परा के एक छोर में अव्यूढ जीव अर्थात् सृमर है और दूसरे छोर में परमेश्वर है। बस चेतन की सृष्टि इतनी ही है, इसी चेतन की सृष्टि के शरीर बनकर भीतर बाहर अचेतन सृष्टि व्याप्त रहती है यह अचेतन भाग गौण है। किन्तु चेतन भाग प्रधान है क्योंकि चेतन के ही शरीर के लिये अचेतन की सृष्टि दीख पड़ती है।

परमेश्वर, ईश्वर और जीव ये तीन व्यूह हैं। इनमें जीव तीन प्रकार के हैं। जीवन जो तीन प्राण वाला है, उद्भिज जो दो प्राण वाला है, खनिज व्यूह वाला जो एक प्राण वाला है। दूसरे प्रकार से यदि हम व्यूढ़ सृष्टि को देखें तो एक छोर में परमेश्वर है और दूसरी छोर में खनिज है। खनिजों से बाहर देवता और भूत है। कोई भी देवता बिना भूतों के नहीं है, भूतों से देवता अपना शरीर बनाते हैं और भूत और देवता दोनों से खनिज का शरीर बनता है, खनिजों से उद्भिज का शरीर बनता है खनिज और उद्भिज दोनों से अव्यूढ़ जीवों का सृमर शरीर बनता है। अव्यूढ़ जीवों से भ्रूण जीव बने हैं, और भ्रूणों से स्थूल जीवों का शरीर बना है, और स्थूल जीवों से ईश्वर शरीर और ईश्वरों से परमेश्वर बना हुआ है।

जिस प्रकार सृमर या भ्रूण आदि अनेक जीवों के शरीर से एक स्थूल जीव का शरीर बना है। उसी प्रकार कई उपेश्वरों के शरीर से एक-एक ईश्वर का शरीर बना है। और कितने ही दूसरे उपश्वरों से एक-एक उपेश्वरों का भी शरीर बना है तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार परमेश्वर के शरीर में असंख्य ईश्वर हैं उसी प्रकार ईश्वर में भी कितने ही क्षुद्र ईश्वर हैं और उनमें भी कितने ही क्षुद्रातिक्षुद्र ईश्वर हैं। और इन सबमें स्थूल या सूक्ष्म जीवों की सत्ता का कर्म वर्तमान है, कितने ही गन्धर्व परिवार शून्य होकर आकाश में विचरते हैं, उन गन्धर्वों से परिवारित चन्द्रमा है, चन्द्रमाओं से परिवृत पृथ्वी है, पृथ्वियों से परिवृत सूर्य है यह सूर्य एक उपेश्वर है। एक-एक सूर्य का एक-एक त्रैलोक्य है। ऐसे असंख्य सूर्य अथवा असंख्य त्रैलोक्य से परिवृत एक ईश्वर है, ऐसे अनेक ईश्वरों से परिवृत एक परमेश्वर है।

इन सब का तात्पर्य यह है कि जो जहां कुछ हम देख रहे हैं ये सब एक ही परमेश्वर का स्वरूप है। उस परमेश्वर की महिमा के साथ जब अणिमा का ध्यान करते हैं तो उस अणिमा की धारा कई शाखाओं में बट जाती है प्रत्येक शाखा में एक व्यूह के अन्तर्गत दूसरे अनेक व्यूहों का पता चलता है। जब कि अनेक व्यूहों का होना संभव न होकर सूक्ष्म कोई एक रूप शेष रह जाता है तो वहाँ अणिमा की

धारा समाप्त होती है । प्रत्येक अणिमा की अन्तिम सूक्ष्मता से आरम्भ करके यदि भूमा की ओर बढ़ें तो सभी धाराओं के अन्त में वही एक परमेश्वर मिलता है कि जिससे परे कहीं कुछ नहीं है । वह परमेश्वर भूमा है यह भूमा देश से असीम या अनन्त है किन्तु संख्या में एक है । इसके विपरीत अणिमा संख्या में असीम या अनन्त है । किन्तु देश में ससीम है परन्तु काल में दोनों असीम या अनन्त हैं, अणिमा प्रवाह धारा से काल में असीम है ।

## आरम्भक तारतम्य उपादान कारण

## परमेश्वर, ईश्वर और जीव के उपादान कारण जो मन, प्राण, वाक् हैं उनमें आपेक्षिक कमी-बेशी

यह परमेश्वर मन, प्राण, वाक् से विभक्त है । मन तीन प्रकार का होता है—१ प्राणों का प्रभाव अर्थात् सभी प्रकार के प्राण इसी मन में से निकलते हैं । २ यही मन सब प्राणों की प्रतिष्ठा है, अर्थात् प्राण रूपी वायु के लिये यह मन आकाश रूपी आधार है । ३ और तीसरा इन सब प्राणों का यही मन प्रलय स्थान है । अर्थात् यह प्राण बल रूप से क्रिया करके अन्त में इसी मन में लीन हो जाता है ।

इनमें आधार रूप आकाश जो मन है वह भूमा है । उस भूमा की कोई भी सीमा नहीं । उसी अनन्त मन रूपी आकाश में यह सब कुछ जो जहां दीखता है विद्यमान है । और जहां तक यह मन है वही परमेश्वर का रूप है। यह मन प्राण के बिना कभी नहीं रहता । प्राण को बल कहते हैं । वह बल मन से ही उठता है । हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मन के गिरजाने पर सर्वाङ्ग शरीर शिथिल हो जाता है । सब अङ्गो में दुर्बलता आ जाती है । बोलने में भी कष्ट होता है परन्तु यह बल अणिमा रूप अनेक खण्डों के मिलने से अपना रूप रखता है । यह बल के अनन्तानन्त खण्ड अखण्ड मन में व्याप्त रहता है । जिस प्रकार अखण्ड मन को परमेश्वर कहा है उसी प्रकार इन अनन्तानन्त बल के खण्डों की समष्टि को भी परमेश्वर समझना चाहिये । ये प्राण भी बिना वाक् के नहीं रहते । मन से प्रेरित होकर प्राण वाक् में ही क्रिया रूप से व्यक्त होता है । वेद, यज्ञ और देवता या भूत रूपी प्रजा इन तीनों को प्राण, वाक् से ही उत्पन्न करता है । जिस प्रकार प्राण खण्डों की समष्टि को भी परमेश्वर समझना चाहिये । जो जहां जितने वेद या यज्ञ हैं या जितने देवता या भूत हैं या जितने इनके विकार हैं ये सब इस परमेश्वर में ही विद्यमान हैं ।

जिस प्रकार जिन-जिन तत्वों से यह परमेश्वर पर्याप्त है उसी प्रकार उन्ही समस्त तत्वों से उसी परमेश्वर में भिन्न-भिन्न कई एक ईश्वर उत्पन्न हो गये हैं । विशेषता यही है कि परमेश्वर के मन, प्राण, वाक् असीम है किन्तु ईश्वर स्वयं ससीम है और उसके मन, प्राण, वाक् भी ससीम है और परमेश्वर एक है किन्तु उसमें ये ईश्वर अनन्त हैं । जिस प्रकार परमेश्वर में ईश्वर उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार एक-एक ईश्वर में अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं और ईश्वर के अनुसार इन जीवों में भी प्रत्येक २ भिन्न-भिन्न मन, प्राण, वाक् अपने विकारों के साथ विद्यमान रहते हैं । किन्तु जैसे ईश्वर में परमेश्वर की अपेक्षा न्यूनमात्रा में ये सब हैं उसी प्रकार इन जीवों में ईश्वर की अपेक्षा भी न्यूनमात्रा में यह सब हैं जो

विकार अधिक मात्रा के सापेक्ष हैं वे ईश्वर में होने पर भी जीवों में न्यूनमात्रा के कारण उत्पन्न नहीं होते अर्थात् अधिक मात्रा होने से हो सकता है इसलिये ईश्वर का ज्ञान या शक्ति या वस्तु सिद्धि पर्याप्त रूप से रहती है। किन्तु जीवों में यह सब अत्यन्त अल्प होती है यही ईश्वर से जीवों में विशेषता है।

## भूमोत्तर या अणिमोत्तरवाद

## (बड़े से छोटे या छोटे से बड़े सृष्टि क्रम का विचार)

### (क) भूमोत्तर या विकासवाद

सृष्टि क्रम में इस बात का संशय विद्वानों में चल रहा है कि यह सृष्टि भूमोत्तर है या अणिमोत्तर है। अर्थात् सब से प्रथम छोटी से छोटी चीजें बनी फिर उनके समुदाय से धीरे-धीरे बड़ी से बड़ी चीजें बन गई हैं यह भूमोत्तरवाद है। इसके विपरीत अणिमोत्तरवाद वह है कि जिसमें सबसे प्रथम बड़ी से बड़ी वस्तु बनी फिर उससे धीरे-धीरे छोटी वस्तुएं बनते-बनते अन्त में सब से छोटी वस्तुओं की उत्पत्ति मानी गई हो। भूमोत्तरवादी कहते हैं कि संभवतः सब से प्रथम परमाणुओं की सृष्टि समझ में आती है। दो परमाणुओं के योग से द्व्यणुक बना और तीन अणु से त्र्यणुक बना और तीन से ज्यादा तीस परमाणु तक मिलने से छोटे बडे कई प्रकार के त्रसरेणु उत्पन्न होते हैं और त्रसरेणुओं से भूत, महाभूत और भौतिक सृष्टियां क्रम से होती हैं। भौतिक में भी सबसे प्रथम खनिज सृष्टि होती है, उसमें भी प्रथम छोटी और धीरे-धीरे बडी सृष्टि होना संभव है। खनिजों के पीछे उद्भिजों की सृष्टि है। जिसमें भी प्रथम २ पत्तेवाले कई सृष्टि के अनन्तर दूर्वा, पौदे, लता, वृक्ष होते हुए अन्त में पीपल, बड़ आदि बड़े वृक्षों की सृष्टि हुई। उद्भिजों के पश्चात् जीवजसृष्टि होती है उसमें भी प्रथम अव्यूढ़क्रिमि, भ्रूणक्रिमि, कीट, दंश, मसक, पतङ्ग, पक्षी, पशु, मनुष्य आदि जीवों की सृष्टि क्रम से हुई सब प्रकार के जीव सृष्टि के उत्तर उन्हीं सब ईश्वर का स्वरूप बना और ईश्वरसृष्टि के बाद उन्हीं सब ईश्वरों से परमेश्वर का स्वरूप बना। परमेश्वर में जाकर सृष्टि समाप्त होती है क्योंकि वह भूमा है। उससे अधिक बढ़ने का अवकाश नहीं है, इसलिये इस प्रकार सृष्टि क्रम को भूमोत्तरसृष्टि कहेंगे।

कितनों ही ने जीवों की गणना १४ भेदों में की है। जिनमें वृक्ष, क्रमि, कीट, पक्षी, पशु ये पाँच तो अधम कक्षा के तमोविशाल जीव हैं और मनुष्य एक ही मध्यम कक्षा का रजोविशाल जीव है। गुह्यक, यक्ष, विद्याधर, गन्धर्व, पितर, देव, इन्द्र और ब्रह्मा ये आठ उत्तम कक्षा के सत्व विशाल जीव हैं, और कितने ही दूसरे प्रकार से १४ भेद जीवसृष्टि के माने हैं। १ स्थिरपाद, २ अपाद, ३ गूढ़पाद, ४ शतपदी, ५ बहुपाद, ६ षोड़शपदी कीट, ७ अष्टापद, ८ षट्पद पक्षी, ९ षट्पद पशु, १० चतुष्पाद पशु, ११ द्विपद पक्षी, १२ द्विपद हस्तवान, १३, उत्थित पद, १४ अपाद इन चौदहों में भूमोत्तरवादी के मत से कहना होगा कि आदि में वृक्ष बने फिर क्रमि, कीट, आदि होते हुए पशु से मनुष्य बना मनुष्यों से देवता बनें। धीरे-धीरे आत्मा छोटी सी अवस्था से विकास पाकर ब्रह्मा तक बढ़ गया है इसीसे इसको विकासवाद भी कहते हैं। प्रायः अधिकतर नास्तिकों का या अनार्यों का यही सिद्धान्त है। वे इसी पर जमे हुये हैं कि छोटे-छोटे जलकण मिलकर महाविशाल मेघ बना है। छोटे-छोटे शिलाकण के ढेर से पहाड़ बना है।

फूलों की छोटी कलियों से बड़ा पुष्प खिलता है और छोटे से बीज से विशाल वटवृक्ष होता है। पेट में बहुत छोटा सा बच्चा होकर धीरे-धीरे बढ़ कर जवान होता है। तात्पर्य यह है कि सर्वत्र प्रकृति-नियम को देखते हुए यह सहज में सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि क्रम में प्रथम छोटा है पीछे बड़ा है, इसलिये सृष्टि भी दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। पृथ्वी भी बढ़ती है, पृथ्वी पर जीवों की संख्या भी बढ़ती जाती है।

## (ख) अणिमोत्तरवाद

### चतुर्वर्ग सृष्टिक्रम

दूसरा मत यह है कि यह परमेश्वर सदा सर्वदा नित्य सनातन मूर्ति है। ऐसा कभी विश्वास नहीं करना चाहिये कि परमेश्वर या यह उसका जगत् किसी दिन सर्वथा न था। पीछे से उत्पन्न हुआ है प्रत्युत यह मानना उचित जचता है कि यह जगत् और जगदाधार परमात्मा परमेश्वर सदा सर्वदा इसी प्रकार विद्यमान रहते हैं। केवल उसके अवयव प्रत्यवयवों में हीं सृष्टि क्रम कभी कहीं प्रवृत होता है और कभी कहीं विलुप्त होता है। जो यह नित्य सनातन परमेश्वर सदा सर्वदा विद्यमान रहता है उसके चार वर्ग हैं १—आत्मा, २—रूप, ३—शरीर, ४—वित्त। इनमें आत्मा जो अव्याकृत है वह वास्तव में भूमा है, निर्विशेष निर्विकल्प है, न वह उत्पन्न होता है न कभी नष्ट होता है। उस आत्मा के ३ रूप हैं। मन, प्राण, वाक् ये तीनों ही एक साथ भूमा होने से असीम हैं। उनमें मन की इच्छा से, प्राण की क्रिया से जो वाक् में वेद, यज्ञ, देवभूत विकार उत्पन्न होते हैं जिनसे इस आत्मा का शरीर बना है वह भी भूमा होने से असीम है। ये त्रिवर्ग (आत्मा, रूप, शरीर) परमेश्वर का कभी लुप्त नहीं होता, किन्तु इसी परमेश्वर का वित्त समय-समय पर नष्ट भी होता है, किन्तु उसकी जगह दूसरा वित्त उत्पन्न हो जाता है। बिना वित्त के परमेश्वर की तन्त्र संस्था खाली नहीं रहती। परमेश्वर का वित्त अनन्तानन्त ईश्वर है ये उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। प्रत्येक ईश्वर के भी पृथक्-पृथक् तन्त्र संस्था होती रहती है और उनमें भी चार-चार वर्ग होते हैं; जिनके त्रिवर्ग की सत्ता ईश्वर की स्थिति के साथ हैं। किन्तु उसका वित्त जो उपेश्वर कहलाता है उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। इन जीवों में भी भ्रूणादि जीव वित्त रूप हैं, जो प्रधान जीव के जीवन काल में ही उत्पन्न विनष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार विचार करने से जाना जाता है कि बड़े के शरीर में छोटा और उसके शरीर में भी और छोटा उत्पन्न होता रहता है यही सृष्टिक्रम है और यह वास्तव में अणिमोत्तर है।

## (ग) जीव और ईश्वर के अपने अङ्गों का जानना न जानना

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि इस चतुर्वर्ग में जो वित्त का भाग है उसमें जिस प्रकार ज्ञान की और बल की प्रवृत्तियां होती है उनको उस वित्त का स्वामी आत्मा जानता है या नहीं और उसके जितने वित्त हैं उनको भी जानता है या नहीं तो इस प्रश्न के उत्तर में हम प्रथम अपनी परीक्षा करेंगे। जिस प्रकार परमेश्वर या ईश्वर के चतुर्वर्ग संस्था में वित्त है उसी प्रकार हम जीवों में भी वित्त हैं। हम जीवों के शरीर के भीतर बहुत से कीटाणु कीट जीव हैं, उनका ज्ञान या बल आदि की प्रवृत्तियां हमारे

ज्ञान बल से भिन्न हैं उनको भूख, प्यास लगती है, परस्पर युद्ध करते हैं, सुखी दुःखी होते हैं, चलते फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे अनुसार वे सब भी बहुत कुछ ज्ञान रखते हैं और कितनी ही चेष्टा करते हैं। किन्तु हम उनके ज्ञानों को या उनकी चेष्टाओं को किंचित् मात्रा भी नहीं जानते उनमें कितने ही मर जाते हैं, कितने ही नये उत्पन्न होते हैं जिनकी मुझको कुछ खबर नहीं और इसी प्रकार हम भी जो कुछ जानते हैं या भिन्न-भिन्न चेष्टाऐं करते हैं इन सब का ज्ञान उन कीटों को भी नहीं हैं तो इसी प्रकार हम अनुमान कर सकते हैं कि हमारे शरीर के कीटों के अनुसार हम सब जीव भी ईश्वर के शरीर में उत्पन्न विनष्ट होते रहते है। उन कीटों के अनुसार हमारे ज्ञान और चेष्टाओं की भी ईश्वर को खबर न हो और उसकी ज्ञान चेष्टा की हसको भी खबर नहीं है।

अथवा दूसरा विचार यह हो सकता है कि अण्ड और पिण्ड में समान ही भाव से सब पदार्थों के रहने पर भी मात्रा का भेद अवश्य है। जिस प्रकार हमारे शरीर के कीटों के मन, प्राण दोनो अति-अल्प मात्रा के होने से उनमें ज्ञान इन्द्रियाँ और कर्म इन्द्रियाँ उनके शरीर के अति अल्प प्रदेश में थोड़ी मात्रा में बने हैं उसी प्रकार हमारे शरीर में भी मन, प्राण की अल्पता के कारण से ही ज्ञान इन्द्रियां और कर्म इन्द्रियां अति अल्पभाग में ही बने हैं। हम आँख से ही देख सकते हैं, दांत, कान से नहीं, यही हम जीवों में ज्ञान-मात्रा की कमी है। हम नियत इन्द्रियों के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञान लाभ नहीं कर सकते, और आँख, कान से चल नहीं सकते। किन्तु अण्ड रूपी ईश्वर के शरीर में यह बात पहले नहीं कहा गया है कि जीव के अनुसार ईश्वर के शरीर में भिन्न भिन्न नियत इन्द्रियां नहीं हैं। वह अपने शरीर के भागों से सब इन्द्रियों का काम लेता है, इसलिये उसके कोई ज्ञान कदापि बन्द नहीं होता। भीतर बाहर प्रत्येक अङ्ग से प्रत्येक ज्ञान सर्वदा होता रहता है। इसलिये जिस प्रकार हम अपने शरीर के भीतर शोणित, अस्थि, मज्जा आदि में या उनके कीटों में अपने चक्षु का बल न पहुँचने से न उनको देख सकते हैं न उनको जान सकते हैं, उस प्रकार ईश्वर की बात नहीं है। क्योंकि उसके प्रत्येक अङ्ग से ज्ञान या क्रिया होती रहती है। इसलिये यह बहुत सम्भव है कि वह ईश्वर हम जीवों के या हमारे शरीर स्थिति की सभी ज्ञानों को सभी चेष्टाओं को सदा सर्वदा बिना रुकावट के देखता और जानता हो यही अंश जीवों से ईश्वर में अधिक है।

## विस्फोटवाद

सबसे प्रथम परमेश्वर का होना ही संभव होता है। वह परमेश्वर स्वभाव से ही नाना रूप में ही परिणत होता रहता है। जिस प्रकार समुद्र में छोटे बड़े सहस्रों तरङ्ग, लहरें और बुदबुदे झाग इत्यादि उत्पन्न विनष्ट-होते रहते हैं। उसी प्रकार महाविशाल परमेश्वर के रूप में जो अनन्तानन्त विकार उत्पन्न होते हैं उनको ही ईश्वर कहते हैं। इन ईश्वरों की सृष्टि के पीछे उन ईश्वरों से जो विकार उत्पन्न हुए उन्हें सूर्य कहते हैं। वैसे ही सूर्य का विकार पृथ्वी है और पृथ्वी का विकार मनुष्य है। मनुष्य शरीर में भी कितने ही कीट और कृमि उत्पन्न हुए और कृमि के पश्चात जो मनुष्य के शरीर में रोमवाली और केश आदि उद्भिज के रूप हैं वे ही पृथ्वी में पहुंचकर दूसरे उद्भिजों के लिये बीज रूप से परिणत होते हैं और उन वृक्षों के वक्कल, फूल, फल, लकड़ी, गुटली आदि पृथ्वी में पड़कर काल-

क्रम से सड़कर किसी दूसरे वृक्ष के लिए बीज बनते हैं। इसी प्रकार बड़े बड़े वृक्षों के अङ्ग प्रत्यङ्ग सड़कर धीरे धीरे सहस्रावधि भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्षों का बीज बनकर नई नई जाति के वृक्ष उत्पन्न कर रहे हैं। इसी प्रकार मनुष्य के अवयव और वृक्ष के अवयव मिल मिलाकर पृथ्वी में नाना प्रकार के खनिजों की उत्पत्ति के कारण होते हैं इस प्रकार परमेश्वर से लेकर छोटी से छोटी वस्तु तक एक जाति के अवयव से पृथ्वी में सरदी गरमी के परिपाक से बदल कर भिन्न-भिन्न प्रकार के दूसरी वस्तुओं के बीज बनते जा रहे हैं यही सृष्टिक्रम है।

जिस प्रकार ये सब पदार्थ अपने सजातियों को उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार विजातीय नई-नई वस्तुओं के लिये भी यही बीज हो जाते हैं। जैसे मिट्टी किसी वस्तु के संयोग से विकार पाकर काच बनता है और वह काच फिर पृथ्वी में गिरकर कितने और खनिज धातुओं के उपादान बनता रहता है। जीव जाति का जीव के शरीर में जो भौतिक विकार था वही स्वाती नक्षत्र के जलबिन्दु में सम्मिलित होकर मोती जैसी खनिज वस्तु को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मिट्टी या लकड़ी काल पाकर पत्थर होता है, पत्थर भी काल पाकर कोयला होता है, कोयला भी काला पाकर हीरा जैसा खनिज वस्तु होती है। इत्यादि सर्वत्र जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि खनिजों की उत्पत्ति का बीज उद्भिज और जीवों के अवयव से मिलता है। और उद्भिजों का बीज जीवों के अवयव से बना है। जीवों का बीज ईश्वर के अवयव से और ईश्वर परमेश्वर से निकला है। इस प्रकार बड़े के अवयव फूट कर छोटी वस्तु की उत्पत्ति का कारण होता है। इस मत को विस्फोटवाद कहते हैं।

## युगपत् सृष्टिवाद

कितने ही विद्वान् एकदम सृष्टि क्रम में भूमोत्तरवाद अर्थात् छोटे से बड़े होने का क्रम मानते हैं। और कितने ही अणिमोत्तरवाद अर्थात् बड़े से छोटे होने का क्रम मानते हैं। परन्तु मेरा विचार है कि सृष्टि में भिन्न-भिन्न स्थलों में ये दोनों ही क्रम दीखते हैं। प्रायः चीन देश में एक काठ की मञ्जूषा में मेवे खूब भरकर हवा बन्द करके कुछ रोज तक धूप में रखते हैं, सब मेवे सड़कर हजारों कीड़े हो जाते हैं। उनमें एक दूसरे को खाने लगता है। इसी तरह पर खाते २ अन्त में एक कीड़ा मंजूषा के आकार का बन जाता है, उसको निकाल के काट २ कर अमीर लोग खाते हैं। वहां पर हजारों छोटे कीडों से एक ही बड़े कीड़े का होना देखा गया है इससे तो भूमोत्तरवाद सिद्ध होता है। किन्तु मनुष्य आदि किसी प्राणी का शरीर यदि पानी के समीप कहीं छोड़ दिया जाय तो सारा शरीर सड़कर हजारों कीड़ों में परिणत हो जाता है। यहाँ पर एक बड़े जीव शरीर से छोटे-छोटे सहस्रों जीवों के शरीर उत्पन्न हुए यह अणिमोत्तर क्रम सिद्ध होता है। इस प्रकार दोनों क्रम दीखने से एक कोई क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता इससे तो यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म रूप भूमा ही पूर्व में था उसी का स्फोट होना यह जगत् है।

अथवा मनुष्यादि प्राणियों की शरीरसृष्टि के अनुसार जगत् की सृष्टि जाननी चाहिये। माता के उदर में शुक्र शोणित मिलकर जो विकार पैदा होता है उसकी प्रकृति कोई एक नहीं है। प्रत्युत उस द्रप्सके अणु भाग में एक साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक विकार होना शुरू हो जाता हैं। एक ही समय में किसी

अंश से माथा बनता रहता है और दूसरे किसी अंश से धड़ या हाथ, पाँव उसी तरल वस्तु से अस्थि, मांस, स्नायु, मज्जा, शोणित आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तु बन जाती हैं। इन सबके बनने में कोई भी क्रम नहीं है। लकड़ी में घुन के शरीर, बेर आदि फल में कीड़ों के शरीर बनते समय बहुत सम्भव है कि माथे से पाँव तक सब अङ्ग प्रत्यङ्ग एक साथ ही बन जाते हों इसी प्रकार यह जगत् भी परमेश्वर का शरीर है। इस शरीर के भी यही सम्भव है कि सब अङ्ग प्रत्यङ्ग छोटे से बड़े तक मनुष्य शरीर के अनुसार एक साथ हों। मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार अनेक भाव कफ, पित्त, दन्त आदि बनते बिगड़ते रहते हैं, वे नष्ट होकर फिर उत्पन्न होते हैं। ठीक उसी प्रकार परमेश्वर के शरीर रूपी इस जगत् में भी सदा सर्वदा कुछ न कुछ अवश्य ही उत्पन्न–विनष्ट होता रहता है। किन्तु समष्टिरूप से शरीर का उत्पन्न होना एक साथ ही सब अङ्गों की उत्पत्ति से होता है, उसमें अग्र पश्चात् का क्रम नहीं है। इस शरीर के जितने अवयव हैं, सब असत्य हैं क्योंकि सब नष्ट हो सकते हैं। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि ये सब सत्य हैं क्योंकि इसका मूल उपादान तत्व सत्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता। इसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वदा बदलते रहते हैं, किन्तु समष्टि रूप से शरीर सदैव कायम रहता है। इसलिये इसके अङ्गों में सृष्टि का भाव सदा एक साथ होता रहता है। उसमें भूमोत्तरवाद अथवा अणिमोत्तरवाद अथवा और कोई क्रमवाद की कल्पना करना मिथ्या है। यह परमेश्वर नित्य सनातन अविनाशी सत्य है।

॥ इति जीव दर्शनम् ॥

---

# आत्म–परिच्छेद

## (आत्म भेद विचार)

### आत्मा के संबन्ध में ५ मत सिद्ध हैं

अब यहां से आत्मा का विचार करते हैं। यह आत्मा क्या वस्तु है? आत्मा किसे कहते हैं? इसी का यहाँ विचार करना है। यद्यपि प्रजापति प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि जो जिसका उक्थ हो अर्थात् उत्थान का प्रभव हो और जो जिसका ब्रह्म हो अर्थात् अपने में धारण करने वाला हो और जो जिसका साम हो अर्थात् अनेक प्रकार के कार्यों में समान भाव से देखा जाता हो, वही उसकी आत्मा है। इस प्रकार जैसे घटका, मृत्तिका, उक्थ है, ब्रह्म है और साम है इसीलिये मृत्तिका घट की आत्मा है। किन्तु स्वरूप लक्षण नहीं। प्रश्न आत्मा का लक्षण यद्यपि सिद्ध हो जाता है तथापि यह तटस्थ लक्षण है किन्तु स्वरूप लक्षण नहीं। प्रश्न यह है कि जिसको उक्थ, ब्रह्म, साम होने से जगत् की आत्मा समझा गया है, वह कौन वस्तु है तो इस प्रश्न के उत्तर में विचार करने पर ६ मत आज तक सिद्ध हुए हैं, १–प्रत्ययात्मवाद, २–प्रत्ययाति रिक्ता-

त्मवाद, ३–कोशात्मवाद, ४–कोशवदात्मवाद, ५–यज्ञमयात्मवाद, ६–चिदात्मवाद । इनका क्रम से निरूपण इस प्रकार है ।

## १–प्रत्ययात्मवाद

बहुतों का विचार है कि सभी प्राणी जन्म काल से आरम्भ करके इन्द्रियों के द्वारा बाहर से कुछ न कुछ विषय प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं और वह संग्रह प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है इस प्रकार इन्द्रियों से या मन से जो बाह्य अर्थों का भीतर ज्ञान उत्पन्न हो-हो कर संग्रहित होता रहता है और बढ़ता रहता है उसे ज्ञान का प्रत्यय कहते हैं और यही प्रत्यय प्राणियों की आत्मा है जो कि जन्म काल से लेकर बाल्य, तारुण्य, वार्धक्य के क्रम से बढ़ता रहता है । प्रत्यक्ष हम देखते हैं कि बहुत छोटे बालक की आत्मा छोटी होती है और वृद्ध की बढ़ी हुई किन्तु यह भी विश्वास करने योग्य बात है कि यदि इन्द्रिय न हो और इन्द्रिय जन्य कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ हो तो उस प्राणी में आत्मा की भी सत्ता नहीं मानी जा सकती । मान लीजिये कि कोई बालक अन्धा, बहरा आदि सब इन्द्रियों से हीन कही उत्पन्न हो जाय तो हम उसमें किसी प्रकार की आत्मा होने का विश्वास नहीं कर सकते । इसीलिये सिद्ध हुआ कि यह प्रत्यय ही आत्मा है ।

## २–प्रत्ययातिरिक्तात्मवाद

यह ऊपर का प्रत्ययात्मवाद तब ठीक हो सकता था जब कि जीवों ही में आत्मा का सत्ता मानी गई होती परन्तु जीवों से अतिरिक्त ईश्वर में भी आत्मा की प्रतिष्ठा है । बहुत सी ऐसी युक्तियां हैं जिनसे जीवों के अतिरिक्त ईश्वरों को भी विद्वानों ने देखा है और उनमें भी जीवों के अनुसार आत्मा का होना पाया गया है किन्तु जिस प्रकार जीवों में चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों का सन्निवेश है उसी प्रकार इन्द्रियां न होकर सर्वाङ्ग शरीर से सब इन्द्रियों का काम होता है और वह भी मनुष्य या जीव के अनुसार कदाचित न होकर एकान्त निरवच्छिन्न होता है तो ऐसी दशा में इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यय होने से बढ़ती हुई आत्मा का होना ईश्वर में नहीं माना जा सकता, ऐसी स्थिति में ईश्वर में आत्मा का मानना विरुद्ध होगा । इसलिये इन्द्रिय जन्य प्रत्ययों के संग्रह को आत्मा मानना ठीक नहीं जचता है ।।१।।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले प्रत्ययों को आत्मा कहना अनुचित है क्योंकि बाहर के पदार्थों का इन्द्रियों पर आने से ही प्रत्यय नहीं होता किन्तु बाहर से आते हुए रूपों को ग्रहण करने वाला इन्द्रियों में कोई तत्व पहले ही से विद्यमान अनुभूत होता है क्योंकि कोई तत्त्व इन्द्रियों में बैठा हुआ पहले ही से देखने, सुनने, समझने के लिये उत्कण्ठा करता है और बाहर से आये हुए पदार्थों को बडे यत्नों से परीक्षा करके ग्रहण करता है यदि वह उत्कण्ठा करने वाला उस बाहरी अर्थ को ग्रहण करने के लिये तैयार न हो तो बाहरी अर्थों के इन्द्रियों पर आने पर भी प्रत्यय उत्पन्न नहीं होता । जिसका मन किसी दूसरी ओर खिंचा हुआ रहता है तो उसकी आंख खुली रहने पर भी सामने जाता हुआ मनुष्य नहीं दीखता, किसी की आवाज भी नहीं सुनता, इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यय होने के लिये बाहरी अर्थों के भीतर जाने से पहले ही किसी तत्त्व का भीतर होना आवश्यक है ।।२।।

कोई कह सकता है कि पहले देखी हुई सुनी हुई बातों का जो प्रत्यय भीतर संग्रहीत है वही तत्व अब फिर ग्रहण करता है, न कि किसी नये तत्व की मानने की आवश्यकता है तो इसके उत्तर में कहना होगा कि यह उत्तरोत्तर जीवन दशा में यद्यपि सम्भव है किन्तु जीवन के आरम्भकाल में जब कि कोई भी प्रत्यय भीतर उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय बाहरी अर्थों को जो इन्द्रियों पर आये थे उनको भीतर प्रवेश करने वाले किसी अन्दरुनी तत्व को म मानने से प्रत्यय का होना असम्भव है और प्रथम वार असंभव होने से एक भी प्रत्यय न होने पर उत्तरोत्तर जीवन दशा में भी प्रत्ययों का होना और उन प्रत्ययों से आत्मा का होना असंभव ही ठहरेगा। इसलिये शरीर के भीतर जन्म से पहले ही किसी तत्व का प्रवेश मानना उचित है जिसकी उत्कण्ठा से इन्द्रियों पर आये हुए बाहरी अर्थों का भीतर प्रवेश होना सामञ्जस्य होता है उसी तत्व को आत्मा कहना चाहिये ॥ ३ ॥

किसी का कहना है कि बाहरी अर्थों को ग्रहण करने के लिये जो भीतर उत्कण्ठा देखी जाती है वह प्रत्येक इन्द्रियों की ही हो सकती है इसलिये एक-एक इन्द्रिय ही एक-एक आत्मा मानना व्यर्थ है तो इसके उत्तर में कहना होगा कि इन्द्रियों का समूह यदि एक आत्मा होवे तो संभव है कि आँख का काम कान से और कान का काम आँख से भी होने लगे परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये सिद्ध है कि सब इन्द्रियां मिलकर एक आत्मा नहीं है और यदि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को भिन्न-भिन्न अनेक आत्मा माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी एक ही तत्व को देखना सुनना आदि अभिमान पाया जाता है। मैने देखा, मैंने सुना, मैंने ही कहा इत्यादि-इत्यादि सभी इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न कर्म्मों का एक ही किसी "मैं" पदार्थ में आश्रित होना पाया जाता है। यदि भिन्न-भिन्न आत्मा होते तो देखने वाला आत्मा सुनने का अभिमान कदापि नहीं करता इससे सिद्ध होता है कि सब इन्द्रियों से अतिरिक्त सब इन्द्रियों का आश्रय सब इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न कर्म्मों का फल भोगता कोई भिन्न ही एक तत्व है वही इस शरीर में आत्मा है ॥ ४ ॥

मन, प्राण, वाक्, श्रोत्र ये पांचों ही इन्द्रियां आपस में कोई किसी से सम्बन्ध नहीं रखते कोई भी इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय को उसके काम के लिये प्रेरणा करते मालूम नहीं होते तो भी इन्द्रियों को उनके कामों के लिये कुछ अन्दरुनी प्रेरणा होना मालूम पड़ता है, सुनने के लिये कान को उत्तेजना कौन करता है और सुनी हुई बातों को देखने के लिये मन में इच्छा होती है और किसकी प्रेरणा से उसको आँख देखना चाहती है और देखी हुई वस्तु को वाक् कहना चाहती है। तात्पर्य यह है कि किसी एक ही विषय के सम्बन्ध से एक इन्द्रिय के पीछे दूसरी, तीसरी इन्द्रिय अपने-अपने काम के लिये तत्पर होती है। इस पर यह प्रश्न उठता हे कि मन किस की प्रेरणा से उस खास विषय की ओर झुकता है और साधारणतः सब विषयों की ओर न जाकर किसी खास विषय पर ही कैसे पहुँच जाता है। यदि मान लिया जाय कि उस विषय को पहले कान से सुना था तथापि यह कान अपना काम करके कृतकृत्य हो जाता है वह मन को या दूसरी इन्द्रियों को अपना विषय नहीं जानता है और न मन को मन के काम के लिये प्रेरणा ही कर सकता है फिर यह मन इस संसार समुद्र में अनन्तानन्त विषयों को छोड़कर उसी खास विषय पर कैसे दौड़ जाता है उसकी कौन प्रेरणा करता है, इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों को भी कौन प्रेरणा करता है,

इन सब प्रश्नों का उत्तर तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इन सब इन्द्रियों के ज्ञानों का कोई एक ही आश्रय नहीं माना जावे और वही आश्रय जो सब ज्ञानों का आधार है और सब इन्द्रियों का प्रेरक है वही आत्मा है।। ५ ।।

वाक् इन्द्रिय से शब्द निकलता है पर शब्द को ग्रहण नहीं करता। इसी प्रकार जो इन्द्रिय सुनती है वह बोलती नहीं, न समझती, न देखती है पर यह जो अभिमान होता है कि मैंने ही सुना, मैंने ही देखा, मैंने ही समझा और मैंने ही कहा यह एक ही का अभिमान सिद्ध करता है कि सुनने, देखने, समझने, बोलने वाला इन इन्द्रियों के अतिरिक्त कोई एक ही है वो ही आत्मा है ।। ६ ।।

किसी वस्तु की देखने की इच्छा से कोई मनुष्य उस वस्तु के पास जाना चाहता है परन्तु प्रश्न यह है कि देखने की इन्द्रिय खुद चलती है न चलने वाले पांव को चलाते हैं इसी प्रकार चलने वाला पांव देखने की इच्छा रखता है और न वह देख सकता है फिर यह देखने की इच्छा से गमन की इच्छा या गमन कैसे हुआ, पांव को किसने उठाया। इसके उत्तर में हम को कहना होगा कि यह देखने की इच्छा आँख में नहीं है और न पांव ही अपने आप चलता है किन्तु ये सब किसी अन्य अध्यक्ष के आज्ञाकारी सब सम्बद्ध किङ्कर हैं जिसकी इच्छा से और जिसकी हां करने वाली प्रेरणा से ये सब इन्द्रियां अपना-अपना काम करने लगती हैं, वही आत्मा है।

हाथ से हम अपने पांव को स्पर्श करते हैं या उसकी खुजली मेटते हैं परन्तु हमारा विश्वास हैं कि न यह हाथ पांव को, न पांव इस हाथ को पहचानता हैं, न पांव की खुजली मेटने से हाथ को कोई गरज है परन्तु ऐसा होने पर भी जो यह मानता है कि पांव से खुजली चल रही है इसको हाथ के नाखून से मिटाना चाहिये यह विचार कर जो हाथ को उसी खुजली पर पहुंचाता है और हाथ से खुजली मिटाकर जिसको संतोष मिलता है वही आत्मा है ।।८।।

यही आत्मा चक्षु का चक्षु श्रोत्र का श्रोत्र हैं, वाक् का वाक् है, मन का मन है, प्राण का प्राण है। ये सब इन्द्रियां यद्यपि भिन्न-भिन्न अनेक हैं तथापि सबको पृथक्-पृथक् शक्ति देने वाला और सब इन्द्रियों में सर्वदा विद्यमान और सब का अभिमान करने वाला वह सर्वथा एक ही है ।।९।।

इन भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता रहता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रतिक्षण असंख्य ऐसे प्रत्ययों के आते रहने पर उन सब प्रत्ययों को संग्रह करने वाला वही आत्मा है वह इन इन्द्रियों से अतिरिक्त है। यदि वह आत्मा सब इन्द्रियों में रहने पर भी सब इन्द्रयों से अतिरिक्त एक भिन्न पदार्थ न माना जावे तो परस्पर विरूद्ध धर्म वाले इन इन्द्रियों का एकाधिकरण्य अर्थात् एक ही में सब का अभिमान होना नहीं बन सकता है। इसलिये प्रत्ययों के साधन इन सब इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न नदियों के लिये समुद्र के अनुसार "एकायन" है अर्थात् सब की गति जिस एक ही स्थान में है वही आत्मा है। जिस प्रकार एक ही समुद्र का जल आकाश में उठकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाकर भिन्न देशों में बरस कर भिन्न-भिन्न प्रकार की नदियों में परिणत होता है। और उन नदियों के जल, नाम रूप, गति, स्वाद, गुरुता आदि गुणों में भिन्न होकर भी चलकर फिर एक उसी एक समुद्र में लीन हो जाते हैं। उनका नाम,

रूप, गति, स्वाद आदि सब गुण सर्वथा नष्ट होकर केवल एक समुद्र ही रह जाता है। ठीक उसी प्रकार ये इन्द्रियां उसी एक आत्मा के रस से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न नाम, रूप, गुण, कर्म धारण करते हैं किन्तु पश्चात् उसी आत्मा में लीन होकर अपने नाम, रूप, गुण, कर्मों को छोड़ देते हैं। इसी कारण हम कह सकते है कि यह मेरी वाक् इन्द्रिय बोलती है यह भी आत्मा बोलती है। क्योंकि बिना काम (इच्छा) स्वतः यह वाक् इन्द्रिय र, आ, म् आदि नियमानुसार अग्रपश्चात् अक्षरों को उच्चारण करने में कभी समर्थ नहीं हो सकती है।

वाक् इन्द्रिय में स्थान और कारण के स्पर्श और विचार रूप संयोग विशेष मे भिन्न प्रकार के वर्ण निकलते हैं किन्तु यह संयोग अभ्यन्तर प्रयत्न से होता है और वह प्रयत्न बाह्य प्रयत्न से होता है वह प्रयत्न वायु का व्यापार है वह वायु शरीर की अग्नि के आघात से उठता हैं। शरीर की अग्नि में फरक मन के कारण होता है और मन बोलने की इच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रयत्न करता है। बोलने की इच्छा भिन्न प्रकार के ज्ञान से उठती है। इस सविकल्पक ज्ञान के उदय का स्थान निर्विकल्पकज्ञान का समुद्र है वही ज्ञान-समुद्र मेरी आत्मा है यही आत्मा इस वाक् इन्द्रिय के अनुसार अन्यान्य इन्द्रियों में भी अपने स्थान से धीरे-धीरे बल पहुंचाकर उन इन्द्रियों से भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करता है इसलिये यह कोई भी इन्द्रियां अपने काम में भी स्वतन्त्र नहीं हैं, बिना आत्म बल के इनमें स्वतन्त्र कुछ बल नहीं है इसलिये इन इन्द्रियों से या इन इन्द्रिय जन्य सब ही प्रत्ययों से अतिरिक्त कोई एक आत्मा का मानना उचित है। उसी आत्मा में ये सब प्रत्यय जन्मकाल से लेकर मृत्यु काल तक जमा होते रहते हैं और अपने बढ़ने से उस आत्मा को भी बढ़ा हुआ दिखाते रहते हैं किन्तु जिस प्रकार तिल का ज्ञान और पर्वत का ज्ञान छोटा बडा होने पर भी केवल तिल, पर्वत ही छोटे बड़े समझे जाते हैं किन्तु ज्ञान छोटा बड़ा नहीं जचता है इसी प्रकार प्रत्ययों के न्यूनाधिक होने पर भी मूर्ख और विद्वान की आत्मा में छोटे बड़ों का आभास होने पर भी वास्तव में केवल प्रत्ययों ही की न्यूनाधिकता समझनों चाहिये किन्तु उसका आश्रय यह आत्मा कदापि छोटा बड़ा नही होता। यह ज्ञान स्वरूप दिक्, देश, काल आदि से अनवच्छिन्न एक विलक्षण तत्व है।

## ३ कोशात्मवाद

कितनों ही का विचार है कि इन्द्रिय से उत्पन्न हुए सभी प्रत्यय भीतर जाकर जिस कोश में सञ्जित होते हैं उस कोश को ही आत्मा कहते हैं। यह कोश उन प्रत्ययों के बढ़ने से न बढ़ता है, न प्रत्ययों के घटने से घटता है उसमें इन्द्रियजन्य प्रत्यय जितने बढ़ते जाते है उन्हीं को धारणा कहते हैं। जिस मनुष्य को किसी बात का विश्वास हो जाता है तो वह अभिमान करता है। कहता है कि मेरी ऐसी ही धारणा है तो इस कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि मेरी आत्मा में किसी प्रकार का प्रत्यय रक्खा हुआ है। प्रत्ययों का रक्खा जाना किसी पात्र में ही हो सकता है और उसी पात्र को हम कोश कहते हैं और वही कोश मेरी आत्मा है। वह कोश यद्यपि एक ही प्रकार का है किन्तु उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न निधेय पदार्थों के भेद से भिन्न-भिन्न पांच प्रकार के कोश कहे जाते हैं। सबसे बाहर का कोश अन्नमय है जिसमें प्राणादि ४ पदार्थ निधेय हैं। अन्नकोश के भीतर प्राणमयकोश है जिसमें मन आदि ३ पदार्थ निधेय हैं। इस प्राणमयकोश के भीतर मनोमयकोश है जिसमें विज्ञान आदि पदार्थ निधेय हैं। इस

मनोमयकोश के भीतर विज्ञानमयकोश है जिसमें आनन्द निधेय हैं इस आनन्दमयकोश के भीतर वही आनन्दनिधेय है। कदलीथम्भ के अनुसार उस आनन्द के भीतर आनन्द के अतिरिक्त और कोई निधेय नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रकार अन्तरन्तरीभाव से सन्निविष्ट ये पांच कोश ही शरीर के आकार का एक कोश कहा जाता है और यही पञ्चकोश का बना हुआ कोश मेरी आत्मा है।

## ४–कोशवदात्मवाद

बहुतों का विचार कि कोश आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि कोश कहने ही से किसी ऐसी वस्तु का खयाल होता है जो इन कोशों में रहता हो जो कि प्रत्ययों के रखने का कोश कहा गया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्ययों के रहने का कोश केवल एक विज्ञानमयकोश ही हो सकता है। ५ कोशों में से विज्ञान के अतिरिक्त एक भी कोश ऐसा नहीं है जिसमें ज्ञान स्वरूप यह प्रत्यय प्रवेश कर सकें और न इन प्रत्ययों के रहने के लिए एक कोश के अतिरिक्त भिन्न–भिन्न पांच कोश मानने की कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है और ये प्रत्यय सब पीछे से पैदा हुए हैं और होते रहते हैं। अन्न, प्राण आदि कोश बहिश्चर हैं इनके प्रत्येक का दूसरा कोश मानना उचित नहीं जचता जबकि ये पांचों ही कोश हैं तो कोश का कोश न मानकर उचित है कि इन पांचों से अतिरिक्त कोई ऐसी वस्तु मानी जाये कि जिसके ये पाचों कहे जावें इसलिए जिस अन्य वस्तु के ये पांचों कोश हैं वही आत्मा हो सकता है ॥ १ ॥

दूसरी बात यह है कि कोश का अर्थ आवरण है किन्तु आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है। वह किसी वस्तु का आवरण नहीं कर सकता है। यह मानी हुई बात है कि अनात्मिक द्रव्य तमः प्रधान है उसी से आवरण हो सकता है न कि प्रकाश स्वरूप वस्तु से इसलिए जिससे आवरण होता है वही कोश कहा जाता है इसी से वह अनात्मिक वस्तु है किन्तु इन कोशों से जिसका आवरण होता है वही आत्मा हो सकता हैं ॥ २ ॥

जब कि कोश नाम आवरण का है तो अन्न से प्राण का, प्राण से मन का, मन से विज्ञान का, विज्ञान से आनन्द का आवरण भी माना जाय तो भी आनन्दमयकोश कहने के कारण उस आनन्द के भी भीतर किसी वस्तु के होने की आवश्यकता प्रतीत होती है। अर्थात् जिस वस्तु का आवरण करने वाला यह आनन्दमयकोश है वह इन पांचों से अतिरिक्त होकर इन सब की आत्मा हो सकती है उसमें इन कोशों की विशेषता यह है कि वह निर्विकल्पक है, निर्विशेष है, निष्कल है, निरञ्जन है और इन पांच कोशों से ढके रहने के कारण स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता ॥ ३ ॥

इस आत्मा के सम्बन्ध से यहां पर छः आत्मा का व्यवहार किया जाता है। मुख्य रूप से तो इन पांच कोशों से अतिरिक्त जो इन सब के भीतर कोई एक निगूढ़ तत्त्व है वास्तव में वही आत्मा है उसी आत्मा को इन पांचों में खोज निकालने के लिए साग उपनिषद् शास्त्र प्रवृत्त हुआ है किन्तु आनन्द-कोश से प्रावृत उस आत्मा को भी आनन्दमय आत्मा कहते हैं यह दूसरा व्यवहार है। इस आत्मा सहित विज्ञानमयकोश को भी विज्ञानमय आत्मा कहते हैं और इसके इसके सम्बन्ध से मन को भी मनोमय आत्मा कहते हैं; उसके सम्बन्ध से प्राणकोश को भी प्राणमय आत्मा कहते हैं, इसी प्रकार उसके सम्बन्ध

से अन्नकोश को भी अन्नमय आत्मा कहते हैं तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बत्ती के ऊपर की लौ ही वास्तव में दीपक है किन्तु उस लौ के सम्बन्ध से रुई की बत्ती को, मोमबत्ती को, लालटेन तक को भी दीपक कह सकते हैं उसी प्रकार एक अव्यक्त निर्विशेष कोई तत्त्व जो आत्मा है उसी के सम्बन्ध से इन पांचों कोशों को भिन्न-भिन्न पांच आत्मा और इनसे अतिरिक्त वह असली मुख्य आत्मा, इस प्रकार ६ आत्मा माने जाते हैं। किन्तु विचार कर देखने से ये पांचों कोश वास्तव में आत्मा नहीं हैं। इन पांचों से अतिरिक्त ही कोई तत्त्व आत्मा है उसी के ये पाँच कोश हैं।

## ५–यज्ञमयात्मवाद

बहुतों का विचार है कि यह आत्मा यज्ञ स्वरूप है। यज्ञ दो प्रकार का है–१–अग्नि का चयन करना या पुनश्चयन करना प्रथम यज्ञ है। २–किन्तु अग्नि में सोम की आहुति होना दूसरा यज्ञ है। इनमें प्रथम यज्ञ से आत्मा का स्वरूप बनता है और दूसरे यज्ञ से उस आत्मा की जीवन यात्रा रूपी स्थिति रहती है ।। १ ।।

सबसे प्रथम कोई एक शान्त आनन्दमय क्षेत्र है उसको चयनविद्या अग्नि की परिभाषा कहते हैं। क्योंकि अग्नि का अन्नादगुण इसमें भी पाया जाता है और चयन विद्या में चयन के लिये जो भूमि या क्षेत्र नियत किया जाता है उसको भी अग्नि शब्द से कहने की परिभाषा है। उस अग्नि पर पांच चितियां होती रहती हैं जिस प्रकार किसी दीवार में एक क्षेत्र पर ईटों की चितियां होती हैं उसी प्रकार एक आत्मा में इस आनन्द पर भी अग्नि मयी ईटों की चितियां होती हैं, वे चितियां पाँच हैं–१–आनन्द २–विज्ञान, ३–मन, ४–प्राण, ५–अन्न इन्हीं पांच चितियों से बना हुआ स्वरूप यज्ञ है और इसी को आत्मा कहते हैं इन पांचों में सबसे पीछे की जो प्राण और अन्न दो चिति हैं उन्हीं पर पुनश्चिति होती है ।। २ ।।

जब कभी स्त्री-पुरुष का संयोग होता है तब उसी समय यह चयन यज्ञ सम्पन्न होता है। स्त्री का जो गर्भाशय है वही पृथ्वी है और वही यज्ञ की वेदी है उस वेदी पर सबसे प्रथम (रुधिर) शोणित और शुक्र में दोनों मिलकर अन्नमय पहली ईंट की चिति होती है इस अन्न के चयन करने के लिये जो बल लगाया जाता है वही प्राण रूपी इष्ट का (ईंट) है। और दोनों ही दोनों को उस समय मन से चाहते हुए काम के साथ संयोग करते हैं यह मन की इष्ट का है और दोनों ही दोनों को जानते हैं कि वह मुझसे अनुराग रखता है या संयोग करना चाहता है तो यह दोनों का विज्ञान मय इष्ट का है। और यह दोनों ही परस्पर हृष्ट रहते हैं उन दोनों का यह आनन्द आनन्दमय इष्टका है इस प्रकार दोनों ओर से अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्न इन पाँचों का एक साथ जो दो गुणा प्रयोग होता है उसी से आगे होनहार एक बालक रूपी आत्मा का बीज जमता है। इन पाँचों में से एक के भी न होने से पांच प्रकार की चिति पूरी नहीं होती इसलिये उस समय निश्चय ही वहां गर्भाधान नहीं होता। स्त्री और पुरुष दोनों साथ मिलकर पांच-पांच 'इष्टका' उपादान (चयन) करते हैं यही इस शरीर के लिये पहली चिति कही जाती है। इनमें पहली अन्नचिति जितने अवकाश में होती है। उतने ही अवकाश में अन्य २ चारों चितियां भी चुनी जाती हैं। इसलिये ये पांचों ही इस शरीर में समान प्रदेश में हैं, न न्यून हैं, न अतिरिक्त है।

# १-चयनयज्ञ आदि पंचचिति

## पुनश्चिति

पूर्वोक्त पांच चितियों में अन्त की २ चितियाँ-प्राण और वाक् हैं। इन दोनों पर फिर से तीन चितियाँ होती हैं। सबसे प्रथम बीज-चिति जो कि वाक् पर स्वभाव के कारण स्वतः ही हो जाती है उसके पश्चात् उसी के ऊपर उसी बीजचिति के कारण देवचिति और भूतचिति के साथ-साथ होती है इनमें विद्या, अविद्या और कर्म ये तीनों बीज कहलाते हैं क्योंकि आत्मा में शुभ (सुख) या अशुभ (दुःख) जितने भोग होते हैं या भोग की निवृत्ति होती हैं तथा आत्मा बद्ध या मुक्त होता है इन सबके ये ही तीन कारण हैं क्योंकि केवल विद्या से आत्मा का मोक्ष होता है और विद्यायुक्त कर्म से स्वर्ग अर्थात् सुख भोग होता है और अविद्या युक्त कर्म से नरक अर्थात् दुःख भोग होता है। दुःख या सुख भोग ये दोनों बन्धन हैं क्योंकि आत्मा में दूसरी वस्तु का मिलाव है किन्तु आत्मा में सुख भोग न होकर आत्मा का सुख रूप ही मोक्ष है इसलिये बीज कहलाता है। इनमें विद्या शब्द से निर्विकल्पज्ञान, सविकल्पज्ञान और वेद अर्थात् वस्तु ज्ञान ये तीनों समझे जाते हैं और अविद्या शब्द से पाँच क्लेश कहे जाते हैं कर्म से पुण्य, पाप और उनके तीन विपाक जाति, आयु, भोग और कर्म जन्य अतिशय जिसे शुक्र कहते हैं और जिसे बार-बार क्लेश की समृद्धि हुआ करती है ये ही तीन विद्या, अविद्या और कर्म प्राणमय वाक् पर रहने से बीजचिति कही जाती है। इसी बीजचिति के सम्बन्ध से जीवात्मक वाक् पर दिव्यलोक से पाँच दिव्य प्राण जो अमृत रूप हैं वे पाँच मर्त्य वाक् के साथ आकर चीयमान हो जाते हैं। ये पाँचों ये हैं—१ आकाश २पर्जन्य, ३ सूर्य, ४ चन्द्र, ५ पृथ्वी। इनमें जितने प्राण हैं उन्हीं से देवचिति होती है और उनमें जितने भूतप्राण हैं उनमें ही भूतचिति होती है। यहाँ जो पर्जन्य कहा गया है वह वास्तव में एक प्रकार का वायु है उसी को कोई ब्रह्मा कहते हैं, कोई उसको अभिजित तारा कहकर वर्णन करते हैं। इसी ब्रह्मा को हमारा सूर्य परिक्रमा करता है उसके परे आकाश है जिसको कहीं इन्द्र शब्द से कहा है और कहीं दिक् शब्द से। ये पाँचों ही देवता प्राण रूप से शरीर में प्रवेश करके ४ प्रकार कर्म करते हैं। अन्तश्चर होकर शरीर के धातुओं का निर्माण करके शरीर का स्वरूप संघटन करते हैं तथा बहिश्चर होकर शरीर के बाहर भौतिक पदार्थों में से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूपी भूतरसों को ग्रहण करके शरीर के भीतर आत्मा में पहुँचते हैं। और स्वर्ग में चार होकर स्वर्गादि स्थान से देवताओं के रसों को लेकर उनको शरीर के भीतर आत्मा में पहुँचाते हैं और उपास्य रूप से इस शरीर की धा आत्मा की पुष्टि करते हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, ये पाँच अन्तश्चर प्राण हैं और मन, वाक्, प्राण, चक्षु,श्रोत्र ये पाँच बहिश्चर प्राण हैं और आकाश, पर्जन्य, सूर्य, सोम, अग्नि ये पाँच स्वर्गचर प्राण हैं और तेज तथा श्री, यश, तथा कीर्ति और व्यष्टि तथा ओज और महः और ब्रह्मवर्चस ये पाँचों उपास्य रूप हैं इस प्रकार ये पाँच देवचितियाँ हुई किन्तु इस प्रकाश से भी परे जो परोरजा कहकर निष्कल, निरञ्जन कोई ध्रुव पदार्थ है जिसके आश्रय से ही ठहर कर ऊपर के पाँचों देवता अपना-अपना कार्य करते हैं।

वह इन ज्योतियों की ज्योति भी मेरे शरीर में प्रवेश करती है और वही इस देवचिति की मुख्य चिति है जो कि विज्ञान आत्मा कहलाता है वही 'मैं' ईश्वर हूँ। इसी पर ज्योति के आश्रय से जो पाँच

देवचिति कही गई हैं उनके प्रत्येक के साथ भूतभाग भी आकर यह भूतचिति भी करते हैं अर्थात् आकाश से आकाश, पर्जन्य से वायु, सूर्य से तेज, चन्द्र से आप और पृथ्वी से पृथ्वी ये पाँचों भूत अपने सूक्ष्म रूप से हमारी इस आत्मा में सन्निविष्ट होते हैं, उनका रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पाँचों ही आत्मा में इनके ज्ञान होने के लिये यह बीजरूप से ग्राहक होकर आत्मा में रहते हैं यदि इनमें से कोई न हो तो सम्भव है कि उसका ज्ञान भी न हो क्योंकि इन्हीं के बल से इच्छा उत्पन्न होकर इन पाँचों को ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। किन्तु उस भूतचिति पर दूसरे प्रकार की और भी पाँच रूप से भूत-चितियाँ होती हैं जो यह—१—भूतात्मचिति, २—पुरुषचिति, ३—वेदचिति, ४—लोकचिति, ५—धातुचिति ये पाँचों भूतचिति भी प्रथम भूतचिति के ऊपर ही होती हैं इसलिये पाँचों चितियाँ भी तीन चितियों में ही अन्तर्गत है जिससे यहाँ तक पुनश्चिति पूरी होती है पहले की पञ्चचिति और उस पर तीन पुनश्चिति करने से जो रूप सिद्ध होता है वही अग्निचयन यज्ञ हैं और यही यज्ञ मय आत्मा है।

## २—अन्तिम पञ्चभूतचिति

### १—भूतात्मचिति

प्रज्ञान, तैजस, वैश्वानर इस प्रकार ३ आत्मा मिलकर एक आत्मा होती है, जिसमें सबसे प्रथम पृथ्वी का रस और सूर्य का रस इन दोनों के परस्पर घर्षण से शरीर में एक प्रकार की अग्नि उत्पन्न होती है, वह हमारे शरीर के सभी भूत भागों में सर्वत्र व्याप्त होती है, यह पहली चिति है। इस वैश्वानर के शरीर में रहने योग्य मात्रा से बढ़ने पर उसी वैश्वानर के भाग से तैजस आत्मा उत्पन्न होती है। जिसका काम इन भूतों को तनाव में डालकर पसारना है, अर्थात् छोटे को फैलाकर बड़ा करना है। इसी तैजस मात्रा के अनुसार शरीर की वृद्धि होती है, वृक्षादि भी उँचे चढ़ते हैं और प्रत्येक के शरीर में बिम्ब, शिशु, पौगण्ड, किशोर, तरुण, युवा, प्रौढ़, जरा, वार्धक्य, स्थविर रूपों से शरीर की अवस्थाएँ बदलती हैं। इस तैजस की भी शरीर में रहने योग्य सीमा से अधिक मात्रा होने पर उन मात्राओं से प्रज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसके द्वारा भी जड़, मूर्ख, प्रौढ़, प्रवीण आदि भेद ज्ञान सम्बन्धी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भूतों में वैश्वानर की और उसमें तैजस की और उसमें प्रज्ञान की चितियाँ होकर एक विशिष्ट भूत आत्मा इन भूतों में सन्निविष्ट होती है यही भूतात्म-चिति है।

### २—पुरुषचिति

शरीर के भूतों में प्राण सर्वत्र व्याप्त है यह प्राण स्वभाव से ही सात अवयवों में विभक्त रहता है उन अवयवों को पुरुष कहते हैं। इस प्रकार सात पुरुषों का एक पुरुष इस सम्पूर्ण शरीर में चीयमान होकर व्याप्त रहता है। इन सातों में से ४ पुरुष आत्मा होती हैं, अर्थात् मनुष्य अंगी बनकर मध्य में रहता है और दो पुरुष दो पक्ष होकर दोनों ओर में, एक पुरुष पुच्छ होकर नीचे की ओर में, उस अङ्गी आत्मा का अङ्ग होकर उस आत्मा की सहायता करता है। जिस प्रकार पक्षी का धड़भाग ४ प्राणों में बनता है। हृदय के ऊपर बाई दहनी दोनों छाती दो प्राणों से और हृदय के नीचे बांया, दहना दोनों बगल दो प्राणों से इस प्रकार चार प्राणों से धड़ बना हुआ है जो इस शरीर का मुख्य भाग है और दो प्राणों

से दो पक्ष बनकर वह धड़ इधर-उधर चलाया जाता है और प्राण के एक भाग से पक्षी का पूँछ भाग बनकर वह सम्पूर्ण शरीर को हिलाने में या स्थिर रखने में मदद देता है। इसी प्रकार मनुष्य के शरीर में भी बीच के धड़ में जितनी प्राण की मात्रा है उसकी आधी मात्रा से दोनों हाथ और दोनों पाँव में प्राण है और उसकी चौथाई मात्रा का प्राण कमर में और कूल्हे में रहता है इसी प्रकार पुरुष, कीट, कृमि या वृक्ष आदि प्राणी मात्र में सात प्राणों के रहने का नियम हैं, यहाँ तक कि वृक्षों के एक-एक पत्ते में भी जो कि वृक्ष की आत्मा से भिन्न अपनी आत्मा रखते हैं उनके भीतर का डाँड जितने प्राण से बना है उसके आधे प्राण से डाँड के दोनों ओर पत्ते का पसार बनता है और उसके चौथाई प्राण से डाँड के अन्त में पत्तों की नोक बनती है। इस प्रकार जिन सात प्राणों से शरीर बनता है उन्हीं सातों के सात रस से सबका शिर भाग भी बना करता है अर्थात् सिर में पृथक् सात प्राण की सत्ता रहती है। परन्तु ये सिर के सात प्राण शरीर के सात प्राणों से मात्रा में बहुत कम होते हैं अर्थात् एक पुरुष के बराबर होते हैं। मनुष्य के शरीर में यद्यपि पुच्छ भाग स्पष्ट नहीं दीखता तथापि मेरुदण्ड के नीचे तीन अस्थियों का बना हुआ एक त्रिकुट पुच्छ भाग अवश्य बना हुआ है। उसकी प्राण मात्रा का पविर्तन होकर कुछ भाग नीचे रहकर शेष अधिक, भाग उसके सिर में चलाया गया है जिसके कारण ज्ञान के नीचे की ओर खिचाव (गिराव) से जो पशु पक्षियों में मन्द बुद्धि रहती है वही पुच्छ न होकर ज्ञान की नाड़ी सिर के ओर बढ़ने से ज्ञान की वृद्धि होकर मनुष्यों में पशु की अपेक्षा विलक्षणता देखी गई है। यद्यपि इस प्रकार मनुष्य के शरीर में सात प्राणों की स्थिति का व्यभिचार अवश्य हुआ है तथापि सात प्राण की मात्रा मनुष्य के शरीर में अवश्य है जो कि स्थानान्तरित होकर दूसरे स्थान में प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणी मात्र के शरीर इस प्रकार सात प्राण या आठ प्राणों की चिति से व्याप्त रहता है।

## ३—वेदचिति

जो आत्मा का स्वरूप ३ भागों में विभक्त हैं अर्थात् मन, प्राण, वाक् इनमें से वाक् ही वेद के रूप में परिणत होती है और वेद से यज्ञ और यज्ञ से ये सब प्रकार की प्रजायें उत्पन्न होती हैं। इसलिये ऐतरेय आदि श्रुतियों में सिद्धान्त रूप से यह कहा गया है कि—

**"अथो वागेवेदं सर्वम्"** अर्थात् वाक् ही यह सब कुछ है ॥१॥

वह वाक् वास्तव में जो व्यापक है वह किसी बिन्दु में बल की ग्रन्थि पाकर अकस्मात उसके बन्धन में आजाती है जिस प्रकार किसी जलाशय में वायु के सम्बन्ध से आवर्त (भंवर) उत्पन्न होकर जल को चक्कर में डाल देता है, उसी प्रकार वाक् को बन्धन में डालने वाला बल जितने परिणाम में होता है अर्थात् जिस सीमा के बाहर वह बल नहीं है उसी सीमा पर प्रधि बनाकर वह बल अपने से पकड़े हुए वाक् को सीमाबद्ध करदेता है। जिससे व्यापक असीम यह वाक् भी ससीम होकर दिक्, देश, काल से परिच्छिन्न होकर एक वस्तु के रूप में आ जाता है इसी प्रकार छोटे बड़े भिन्न बलों के कारण छोटे बड़े अनन्त वस्तुऐं उत्पन्न होती हैं ॥२॥

इन सब वस्तुओं में असंख्य भिन्न-भिन्न प्रकार के बलों को अपने गर्भ में धारण करते हुए तीन बलों पर अधिकार रखने वाला एक बल मुख्यतया रहता है। भिन्न-भिन्न बलों के कारण यद्यपि वस्तुओं

में नाम, रूप, कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं तथापि उन सब भिन्न-भिन्न रूपों में भी तीन बल सर्वत्र समान रूप से रहते हैं और उन तीनों को परस्पर सम्बन्ध कराने वाला एक प्रधान बल भी सभी वस्तुओं में समान रूप से ही रहता है ।।३।।

यह प्रधान बल जितने परिमाण का होता है उतन ही सीमा तक वाक् बन्धन में आकर अपनी एक नाभि अर्थात् केन्द्र नियत करता है और उस नाभि से प्रधि तक उस वाक् की सीमा तक वह बल एक ही रूप से सर्वत्र व्याप्त रहता है। वह बल भीतर वाले तीनों बलों को पकड़कर वस्तुका एक स्वरूप नियत करता है इसलिये प्रत्येक वस्तु में यही बल प्रधान है और इस बल को ब्रह्म प्रजापति कहते है।

इस प्रधान बल के भीतर जो तीन बल हैं उनको ही "वेद" कहते है उन तीनों बलों में से एक बल जलावर्त के अनुसार बाहर से भीतर की ओर जाता हुआ उत्तरोत्तर छोटा-छोटा चक्र बनाता हुआ नाभि में पहुंच कर उन बलों की ग्रन्थि उत्पन्न करता है यही उस प्रथम बल का काम है। यह बल जितना अधिक होगा उतनी ही ग्रन्थि बड़ी होगी उसी ग्रन्थि की सीमा के अनुसार वस्तु के स्वरूप का आयतन सिद्ध होता है इसी प्रथम बल को "ऋग्वेद" कहते हैं (ऋक्, रिच धातु से बना है जिसका अर्थ प्रस्ताव है या शुरूआत करता है)।

जिस प्रकार यह प्रथम बल प्रधि से नाभि तक आता हुआ ग्रन्थि उत्पन्न करके वस्तु की मूर्ति उत्पन्न करता है उसी प्रकार उसी के साथ-साथ एक दूसरा बल उस मूर्ति को नाभि से उठकर प्रधि तक जाता हुआ उस मूर्ति का संगठन करने वाली ग्रन्थि को धीरे-धीरे उधेड़ता हुआ आगे को बढ़ता है जिसके कारण उस मूर्ति का आयतन वा व्यास केन्द्र स्थान की अपेक्षा धीरे-धीरे घटता हुआ प्रधि स्थान में एक वारगी घटजाता है यहां तक उस प्रधि से बाहर वह मूर्ति परमाणु मात्र भी अपना आयतन नहीं रखता तब उस सीमा से वाहर दृष्टि रखने पर वह वस्तु नहीं दीखती यही मूर्ति की ग्रन्थि को उधेड़ने वाला यही बल "साम" कहलाता है। जिस प्रकार इन दोनों बलों को ऋक् और साम कहते हैं उसी प्रकार जिन-जिन वाकों में होकर यह बल संचार करते हैं वे वाक् भी ऋक् और साम कहलाते हैं। इसी कारण ऋक् और साम ये दोनों दो प्रकार के होते हैं। बल के अनुरोध से केन्द्रवाली मूर्ति के दोनों पार्श्व से वाह्य प्रधि तक जो दो रेखा जाकर समाप्त करती हैं उससे जो त्रिकोण क्षेत्र उत्पन्न होता है वही ऋक् और उन रेखाओं से परिच्छिन्न मूर्ति रूप वाक् भी ऋक् है इसी प्रकार केन्द्र वाली मूर्ति के एक-एक अंश उधेड़कर बाहर की प्रधि में पहुंचकर जितने अंश तक पसरते हैं उतने प्रदेश की दोनों सीमाओं से दो रेखायें निकल कर वस्तु मूर्ति केन्द्र में समाप्त करते हैं, वे दोनों रेखाये या उन रेखाओं से परिच्छिन्न प्रदेश कहलाता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरा ऋक् साम के केन्द्र और प्रधि के बीच में वृत्त रूप से भी उत्पन्न होता है वो भी वाह्य प्रधि के समान ही ऋक् साम के स्वरूप कहा जा सकता है। अर्थात् ऋक् और साम ये दोनों ही मूर्ति से सम्बन्ध रखते हैं, एक मूर्ति को बनाता है, दूसरा उधेड़ता है, इसी कारण से केन्द्र के स्थान में साम की समाप्ति है और अधिक स्थान में ऋक् की समाप्ति है। ये दोनों ही बल नाभि से प्रधि तक या प्रधि से नाभि तक इस प्रकार विरुद्ध गति हुए भी दोनों ही बल नाभि से प्रधि तक व्याप्त होकर समान देश में रहकर परस्पर बद्ध रहते हैं। इस मूर्ति की नाभि से आरम्भ करके

बाहर की प्रधि तक जितना आकाश है असंख्य मूर्तियों से संबन्ध करते हुए ऋक् सामों के समुद्रवत् वर्तमान रहता है। ऋक् साम वस्तु की नाभि से इस प्रकार बद्ध हैं कि जब तक यह नाभि न हटाया जाय तब तक ये ऋक्, साम अचल और अटल अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं उनको अपने मार्ग से अणुमात्र भी विचलित करने वाला, हटाने वाला कोई बल आज तक उत्पन्न नहीं हुआ, अलबत्ता किसी दूसरी वस्तु की मूर्ति का नाभि स्थित बल ही कुछ समय के लिये ऋक् साम के बल को मोड़ सकता है।

हमारी दृष्टि के धरातल में प्रत्येक वस्तु की मूर्ति की धारा जिस साम से परिच्छिन्न होकर पहुँची है उतनी ही आयतन की छोटी बड़ी मूर्ति दिखाई देती है।

हमारी दृष्टि का धरातल एक परमाणु रूप है उसी दृष्टि बिन्दु पर चारों ओर से सहस्रावधि छोटी बड़ी मूर्तियों का ऋक् प्रवाह पहुँचर उन प्रवाहों के आरम्भ स्थान में वस्तुओं की ठहरी हुई दिखाती है। यह एक आश्चर्य का विषय है किन्तु इस से यह सिद्ध होता है कि अनन्तानन्त ऋचाएं एक ही किसी बिन्दु पर सामञ्जस्य सुभीते के साथ रह सकती हैं उनमें स्थान विरोध का गुण सर्वथा नहीं हैं।
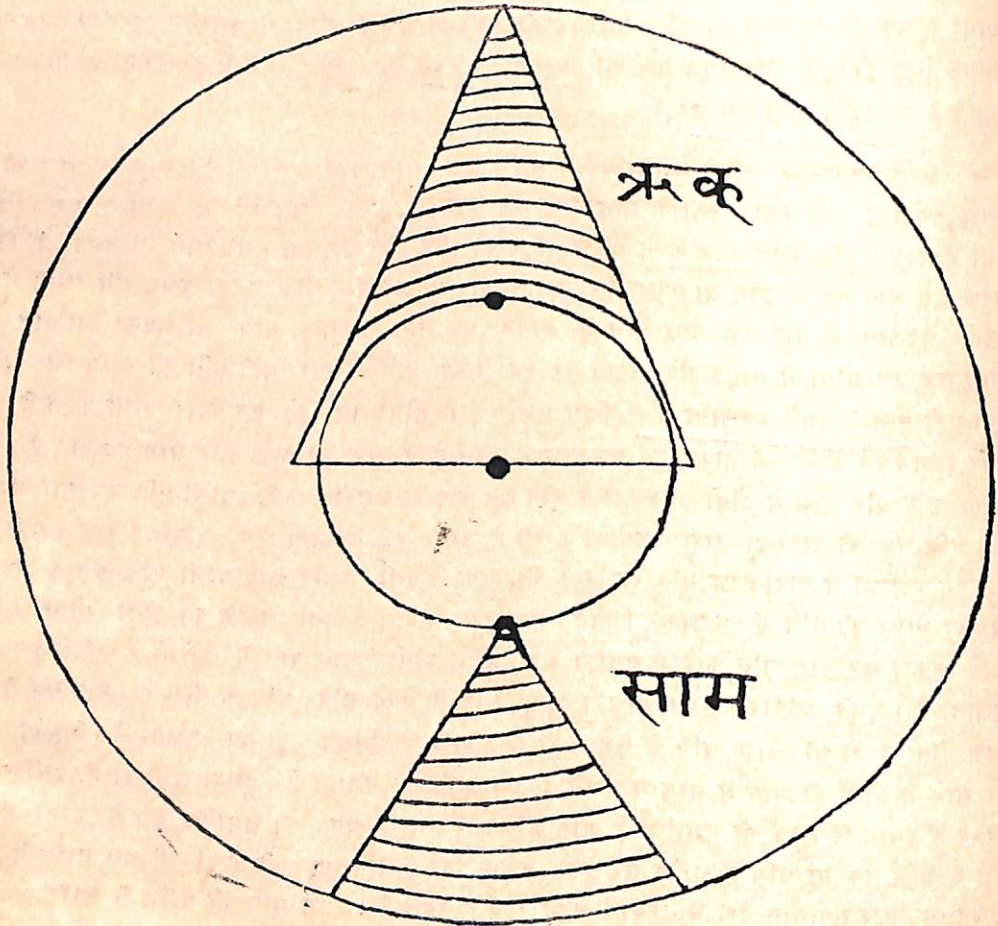
## यजुः

इस प्रकार दो बल कहे गये हैं । इन्हीं दोनों के मध्य में तीसरा बल पृथक् रूप से अपना व्यापार करता है इस तीसरे बल को ही यजुः कहते हैं । यही प्रधान वेद है, इसी में अन्य दोनों वेद सम्मिलित रहते हैं ।।१।।

ऋक् और साम की सीमा के अन्दर नाभि से प्रधि तक और प्रधि से नाभि तक चक्कर लगाती हुई एक प्रकार की वाक् सर्वदा आती जाती रहती है, इस वाक् को यजुः कहते हैं और इसी यजुः से जगत् की सब प्रकार की सृष्टियां हुई हैं ।।२।।

नाभि से प्रधि तक जाने वाली वाक् को सोम कहते हैं । अग्नि और सोम ये दोनों ही यजुः के रूप इन दोनों के परस्पर संयोग विशेष को यज्ञ कहते हैं। इसी यज्ञ से सब प्रकार की प्रजा ( जगत् ) उत्पन्न होती है । यह यजुः शब्द वास्तव में यजु से बना है इस शब्द में दो भाग हैं ।।३।।

यत्-जूः इनमें यत् का अर्थ चलने वाला अर्थात् गति स्वभाव वाला वायु है, और जूः का अर्थ स्थिति स्वभाव वाला आकाश है । इस प्रकार आकाश और उसमें रहने वाला वायु ये दोनों तत्व मिलकर यजुः का स्वरूप होता है । इनमें वायु पहले ही अग्नि और सोम कहकर दो रूप का कहला चुका है इसमें आकाश का सम्बन्ध दोनों वायुओं से होकर चार तत्व सिद्ध हुए । आकाश, अग्नि और सोम, इनमें अग्नि और सोम दो-दो प्रकार का है—अमृत और मृत्यु–जिनमें अमृतअग्नि को अग्नि और मृत्युअग्नि को 'यम' कहते हैं इसी प्रकार सोम भी अमृत, मृत्यु के भेद से दो प्रकार के हैं जिनमें अमृत को सोम और मृत्यु को आप् कहते है इस प्रकार छः पदार्थ सिद्ध हुए-आकाश, अग्नि, यम, आकाश, सोम और आप ।।४।।

इनमें भी अग्नि के आकाश को इन्द्र कहते हैं जो सर्वव्यापक है उनसे शून्य न घन पर्वतादि पदार्थ हैं और वे विरल वायु आदि पदार्थ हैं ( इसी इन्द्र को पाश्चात्य विद्वान् "ईश्वर" कहते हैं ) और सोम वाले आकाश को वाक् या शब्द कहते है यह भी सर्व व्यापक है किन्तु इस आकाश में लहर उत्पन्न होने पर आकाश का स्थिर स्वभाव होते हुए भी वायु के द्वारा चलकर कानों में धक्का मारता है जिससे शब्द रूप में वह कान से गृहित होता है । उपर्युक्त छः पदार्थों में इन्द्र, अग्नि, यम, ये तीनों ही अन्नाद कहे जाते हैं और सदा अन्न के ऊपर आक्रमण करके अन्न को अपने पेट में लेते हैं और शब्द, सोम, आप् ये तीनों ही अन्न हैं ये अग्नि में पड़कर उसकी अवस्था बदलकर नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करते हैं नाभि से अग्नि उठकर प्रधि तक जाता है उसमें प्रधि से नाभि तक आते हुए सोम की आहुति होती रहती है यही आहुति यज्ञ है । इस यज्ञ से सब प्रजा उत्पन्न होती है और इसी यज्ञ से उसकी जीवन दशा स्थिर बनी रहती है ।। ५ ।।

इन्द्र आकाश में रहने वाला जो अग्नि, अन्नाद और प्रसारी है वही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों में रहने के कारण तीन प्रकार का हो जाता है जिसे अग्नि, वायु, सूर्य कहते हैं । ये तीनों देवता के भेद हैं । इसी प्रकार शब्द आकाश में रहने वाला सोम ही घनता के तारतम्य से तीन प्रकार का

हो जाता है, जिसे तेज, अप्, अन्न कहते हैं और ये तीनों भूत के भेद हैं। उपर्युक्त तीनों देवता इन्हीं तीनों भूतों में नित्य रहते हैं, इस प्रकार यजुः के १० भेद सिद्ध होते हैं—इन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य, यम इस प्रकार ये पांच भेद अन्नाद के हैं और शब्दाकाश, तेज, अप्, अन्न और आप् ये पांच भेद अन्न के हैं। यम और सोम के अन्यान्य कितने ही भेद ओर भी हैं जिनका विस्तार रजोवाद आदि अन्य प्रकरणों में दिखाया गया है। तात्पर्य यह है कि देवताओं से और भूतों से होने वाली जितनी सृष्टियां हैं सब यजुः से ही होती हैं और यजुः एक वेद है इसलिये वैदिक ग्रन्थों में बहुधा वेदों से ही सब सृष्टि का होना वर्णन किया गया है उसी आधार पर मनु भगवान् भी कहते हैं—

**"वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे"**

आदि में वेद के शब्दों ही से पृथक्-पृथक् संस्थायें बनाई।

इस प्रकार व्यापक जो वाक् तीन बलों के पेट में धारण करने वाले एक बल से परिच्छिन्न हो-हो कर नाना मूर्तियां पृथक् पृथक् अपना नाम, रूप, कर्म धारण करती हैं यदि मूर्तियां न बनती तो उस व्यापक वाक् का नाम, रूप, कर्म कुछ नहीं कहे जा सकते थे और न उनका पृथक्-पृथक् वस्तु कहकर कुछ विज्ञान ही होता इसलिये मूर्ति बनाने वाले बलों से ही सब वस्तुओं का पृथक्-पृथक् विज्ञान होता है इसी से उस बल को वेद कहते हैं और जिसका विज्ञान होता है वही वस्तु "विद्यते" अर्थात् 'है'। इसलिये जिसके द्वारा 'विद्यते' अर्थात् वस्तु सत्ता की प्रतीति होती है वही बल वेद है। तात्पर्य यह है कि वेद से ही वस्तु की सत्ता है और वेद से ही वस्तु का मान है अथवा यों समझें कि जगत् की प्रत्येक वस्तु जिससे भासती है और सत्ता रखती है वही वेद कहा जा सकता है—वह वास्तव में विचित्र बलों से पूर्ण वाक् का ही नाम है। इस प्रकार बलों से विभिन्न रूप धारण करके जो वाक् आत्मा पर व्याप्त हो जाता है इसे ही वेदचिति कहते हैं।

इस जगत् के सब पदार्थ पांच भागों में बँटे हैं—१ परतत्व, २-औदयिक, ३-योगरूढ़, ४-यौगिक, ५-तात्कालिक। परतत्व वह मूलतत्व है जिससे ये सब कुछ बना है और उसी को ब्रह्म कहते हैं-वह अव्यक्त अव्याकृत, निर्विशेष, निष्कल, निरञ्जन है॥ १॥

इसी परतत्व से बिना दूसरे मिलाव के जो अपने आप कुछ तत्व उदभूत हुए वे सब औदयिक मूल-तत्व हैं ये सब भी परतत्व के अनुसार ही अखण्ड, निरवयव और निर्धर्मिक हैं। किन्तु विशेष यह है कि परतत्व एक था, निर्विशेष था, किन्तु ये सब अनेक हैं और सविशेष हैं॥ २॥

इन्हीं औदयिक में से भिन्न-भिन्न, ३ या अधिक तत्वों के परस्पर योग से जो एक नया तत्व उत्पन्न होता है उसी को योगरूढ़ कहते हैं यद्यपि यह दो के योग से उत्पन्न हुआ है तथापि इसके उत्पन्न होने पर अब दो भाव नहीं रहते हैं, दोनों का स्वरूप मिटकर एक ही कोई अखण्ड रूप उत्पन्न हो जाता है ऐसी अवस्था को योगरूढ़ तत्व कहेंगे॥ ३॥

किन्तु इन्हीं औदयिकों का अथवा योगरूढ़ों का अथवा औदयिक योगरूढ़ों का कोई ऐसा मिलाव हो कि जिसमें दृढ़ योग होने पर भी उन दोनों तत्वों का नाश न होकर अपनी दशा से दोनों ज्यों के त्यों

बने रहें जैसे लवण, जलका, शर्करा (खांड), गन्धवायु का घनिष्ट योग होने पर भी दोनों पृथक्-पृथक् बने रहकर एक नई दशा में आ जाते हैं उसी अवस्था को यौगिक कहते हैं यह तत्व नहीं कहा जाता ॥ ४ ॥

परन्तु जब इन तत्वों का चेतन शरीर में ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से उसी ज्ञानेन्द्रिय के धरातल पर कोई नया भाव उत्पन्न हो तो वह उस संयोगकाल में ही उत्पन्न होकर उतने ही काल स्थिति रखकर नष्ट हो जाता है । इसीलिये उस भाव को तात्कालिक (क्षणिक) कहते हैं ये पांच प्रकार के है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध । इन सबकी उत्पत्ति व स्थिति क्षण मात्र के लिये इन्द्रियों ही पर होती हैं । इसलिये हम कह सकते हैं कि इन पांचों की वास्तविक सत्ता हमारे इन्द्रिय स्थान के अतिरिक्त जगत् भर में और कहीं भी नहीं है । हम अपने ज्ञान के भ्रम से अपनी इन्द्रिय के धर्म्मों को वस्तु धर्म कहकर बाहर जगत् के पदार्थों में मिथ्या आरोप करते हैं । वास्तव में बाहर के पदार्थों के कोई अदृश्य मूलतत्व अवश्य है जो कि हमारे इन्द्रिय तत्वों से मिलकर शब्द, स्पर्श आदि तात्कालिक भावों को उत्पन्न कर देते हैं । ये सब यद्यपि वास्तव में क्षणिक हैं तथापि जगत् में स्थिर रूप से इन्हीं पांचों को देखकर हम जगत् के सभी ही पदार्थों को स्थिर समझ रहे हैं । इस पर यही प्रश्न उठता है कि जब ये सब क्षणिक हैं तो इन सब पदार्थों में स्थिरता जो प्रतीत होती है वह कहां से आई तो उत्तर में कहना होगा कि यह स्थिरता उन भूतगणों की व्यक्तिगत नहीं है किन्तु उनकी सन्तान के कारण स्थिरता का अनुभव होता है और यज्ञ ब्रह्म से अर्थात् वेद से (यजुः) सम्पन्न होता है । तात्पर्य यह है कि वेद के द्वारा ही प्रत्येक वस्तु की स्थिरता कायम होती है जो वस्तु दीखती है या जो वस्तु नहीं दीखती है उन दोनों में यही सत्ता प्रतीत होती है तो अवश्य ही चयन के द्वारा या सोमहवन के द्वारा यज्ञ अवश्य होता है, इसलिये जिस प्रकार चयन यज्ञ से वस्तु की आत्मा बनती है और हवन यज्ञ से उस आत्मा का जीवन निर्वाह होता है, इसी प्रकार इन दोनों यज्ञों के सन्तान से उस आत्मा की आत्मा के शरीर की और उस आत्मा के जीवन की स्थिरता सिद्ध होती है । परन्तु यह यज्ञ वेद बिना सम्पन्न नहीं होता इसलिये कहना होगा कि वेद ही इन सबका कारण है ।

इस यजुः के स्वरूप में जो छ प्रकार के तत्व बताये गये हैं उनमें अग्निपक्ष के आकाश को इन्द्र कहा गया है और सोमपक्ष के आकाश को वाक् कहते हैं यद्यपि इन दोनों में ही स्थिरता समान है किन्तु इस स्थिरता के स्वरूप में अथवा स्थिरता के कारण में भेद है । इसको यों समझना चाहिये कि इस जगत् में जितने पदार्थ हैं उनमें गति और स्थिति दोनों धर्म्म पाये जाते हैं । क्या प्राण के शरीर, क्या वृक्ष क्या पर्वतादि जिन-जिन को हम स्थिर समझ रहे हैं उन सब की कुछ काल के अन्तर देश या स्वरूप बदलते दीखते हैं । इससे मानना होगा कि उन सब स्थिरों में भी धीरे या तेजी से परिवर्तन का प्रवाह अवश्य जारी है अर्थात् उनके प्रत्येक अवयव में गति रहती है इसी प्रकार जितने चलते हुए पदार्थ हम देखते हैं उनमें भी सभी जगह वेग की कमी बेसी अनुभव में आती है । वह वेग क्या वस्तु है इसका विचार करें तो ज्ञान होगा कि गति वाले सभी पदार्थों में स्थिति भी साथ-साथ रहती है । इसी स्थिति की अधिकता को धीरापन कहते हैं और उसकी अपेक्षा दूसरे चलने वालों में जितनी स्थिति कम हो उसी कमी को वेग कहते हैं । वेग का हमें अनुभव होता है वह बिना स्थिति के कायम नहीं होता इसलिए प्रत्येक गति के साथ-साथ स्थिति का होना भी हमें मानना पड़ता है, इसके अतिरिक्त और भी प्रमाण हैं कि

जब हम एक पदार्थ या तीर को कहीं फेंकते हैं तो वह अपने नियत स्थान पर पहुंचने के लिये कुछ समय लेता है उस समय का यदि विभाग किया जाय तो प्रत्येक विभाग में उस भिन्न-भिन्न आकाश के प्रदेशों में स्थित प्रतीत होगी—यदि बीच के आकाश में उसकी स्थिति न होती तो जिस क्षण में वह तीर फेंका गया था उस क्षण में अपने पहुंचने के स्थान में वह दीखता परन्तु ऐसा नहीं होता इसलिये कहना होगा कि वह ठहरता-ठहरता जाता है यह ठहराव गति में है या गति ठहराव में है यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता किन्तु घिलमिल हुए दोनों ही उस वस्तु में अवश्य प्रतीत होते है—सारांश यह है कि प्रत्येक वस्तु में गति और स्थिति दोनों ही तारतम्य से अवश्य ही रहते हैं। कितनी ही वस्तुओं में गति अपेक्षिक स्थिति की बनिस्पत अधिक पाई जाती है और स्थिति बहुत कम होती है इसके विपरीत कितनी ही वस्तुओं में स्थिति की मात्रा अधिक रहती है और गति की मात्रा कम। जब ऐसी वस्तु धर्म है तो हम यहां तक विचार में ला सकते हैं कि यह स्थिति की मात्रा बढ़ते-बढ़ते किसी वस्तु में इतनी बढ़ सकती है जहाँ गति की मात्रा कम होते-होते सर्वथा शून्य हो गई हो इस प्रकार स्थिरता जिस वस्तु में होगी उसे ही हम "वाक् आकाश" कहते हैं। अथवा इस वाक् आकाश की स्थिरता गति का अत्यन्त अभाव रूप है वह यद्यपि स्वभाव से स्थिर है तथापि वायु के द्वारा शब्द में लहर और गति प्रतीत होती है किन्तु यदि न रहे तो शब्द स्वयं नहीं चलता इसलिये वाक् रूपी आकाश सर्वथा गति रहित हम स्थिर समझ सकते हैं। इसी प्रकार इसके विपरीत यह गति बढ़ते-बढ़ते अवश्य ही किसी वस्तु में जाकर इतनी बढ़ सकती है जहाँ स्थिति की मात्रा कम होते-होते सर्वथा ही शून्य हो गई हो उस वस्तु में यद्यपि गति परिपूर्ण हो गई है तथापि उसमें गति कदापि प्रतीत नहीं हो सकती इसके दो कारण हैं—एक चली हुई वस्तु किसी एक रूख नहीं जाती क्योंकि उसमें गति की पूर्णमात्रा होने के कारण किसी भी गति का अभाव नहीं है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर नीचे सब ओर एक साथ गति सर्वथा समान भाव से होती रहती है जिससे गति प्रतीत न होकर उन सब गतियों का समूह रूप स्थिरता प्रतीत होती है। दूसरा कारण यह है कि कल्पना करो कि उस वस्तु की गति किसी एक ही दशा में हुई तो भी उसकी गति में साथ-साथ यदि स्थिति नहीं है तो वह मध्य में न ठहर कर जिस क्षण चली उसी क्षण में दूसरे अन्तः स्थान में प्रतीत हो सकती है अर्थात् एक ही क्षण में वह यहां से वहां तक पाई जा सकती है जिसके कारण गति प्रतीत न होकर स्थिरता ही प्रतीत होती है। इसी स्थिरता के अभिप्राय से वेद मन्त्र में एक स्थान पर यह लिखा है कि—

**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।**
**तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥**

(यजु० उ० अ० ४०।४)

तात्पर्य यह है कि इस जगत् स्थिति और गति में दोनों ही दीखती हैं ये दोनों ही इन्द्र और वाक् इन्हीं दोनों के रूप हैं जहां कहीं इन्द्राकाश का संबन्ध उद्भूट है वहां गति प्रतीत होती है और जहां वाक् आकाश का संबन्ध अधिकता से हो जाता है वहां स्थिति प्रतीत होने लगती है किन्तु जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सब इन दोनों ही आकाशों में रहते हैं इसलिये उन सबको इन दोनों आकाशों की गति स्थिति

से संबन्ध कुछ न कुछ बना ही रहता है किन्तु जब इन दोनों को जब केवल अपने निज के रूप में देखें तो वाक् आकाश स्थिति घन है और इन्द्राकाश गतिघन है ऐसा कहना होना तथापि इन्द्राकाश भी वाक् आकाश के अनुसार अविचारी, कूटस्थ, व्यापक, स्थिर ही प्रतीत होता है।

## ४–लोकचिति

इस प्रकार जो चितियां कही गई है प्रत्येक उन चितियों में उनसे भिन्न एक लोकचिति भी होती है। यह लोक शब्द ब्रह्माण्ड के तीन भागों को बतलाता है, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ– ये तीनों भाग मिलकर एक ब्रह्माण्ड कहलाता है, इस ब्रह्माण्ड में जहाँ जो कुछ जितने पदार्थ हैं सभी की कुछ-कुछ मात्राओं को लेकर प्रत्येक प्राणी के शरीर बनते हैं, इसलिए ब्रह्माण्ड के जितने भाग लिये जा सकते हैं उतने सब भाग इस शरीर के भी होते हैं। प्रथम ब्रह्माण्ड के दो भाग ही मुख्य माने जाते हैं उसे द्यावा-पृथ्वी कहते हैं। इनमें द्यावा भाग देवता से सम्बन्ध रखता है और पृथ्वी भूतों से किन्तु गौण मुख्य भेद से दोनों ही में देवता और भूत दोनों रहते हैं।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के द्यावापृथ्वी ये दो भाग हैं उसी प्रकार इस शरीर में भी शिर और शरीर ये भाग हैं। शिर भाग में भूत मात्रा रहने पर भी द्यौ के अनुसार देव मात्रा ही प्रधान है इसलिए शिर भाग ही चेतन है। उसी के सम्बन्ध से शरीर भी चेतन होता है। ऐसे ही शरीर भाग से देव मात्रा रहने पर भी भूत मात्रा ही प्रधान है। इसीलिए शिर से शरीर नीचे रहता है। इस प्रकार दो लोकों के इसकी शरीर में चिति सिद्ध होती है।

प्रकारान्तर से ब्रह्माण्ड के तीन भाग हैं जिनको तीन लोक कहते हैं। दूसरा उसी प्रकार इस शरीर में तीन भाग दीखते हैं अर्थात् योमि से नाभि तक पृथ्वी भाग है नाभि से हृदय तक अन्तरिक्ष भाग है और हृदय से कण्ठ तक द्यौ भाग है। इन तीनों लोकों का इस प्रकार एक-एक प्रादेश अर्थात् १०॥ साढे दस २ अङ्गुल प्रमाण के प्राण होकर शरीर के एक-एक भाग को परिच्छिन्न करते हैं इस प्रकार त्रिलोकी के रस से शरीर के तीन प्राण तीन भागों को उत्पन्न करते हैं। किन्तु लोकत्रय से अतीत अर्थात् उससे परे जो परोरजा चिदात्मा है उसके रस से शरीर में भी त्रिलोकी के ऊपर शिर का भाग उत्पन्न होता है जिसमें चेतना प्राण ही प्रधानरूप से रहता है और वही शरीर रूपी त्रलोकी का अधिष्ठाता है।

यह शिर भाग भी शरीर के अनुसार तीन लोक के रसों को लेकर उत्पन्न होता है जिसमें भवारों के ऊपर कपाल जिसमें मस्तिष्क अर्थात् भेजे का स्थान वह द्यौ भाग है और हनु अर्थात् ठोड़ी की अस्थि जहां तक ऊपर गई है वह पृथ्वी का भाग है इन दोनों के मध्य में पांचों इन्द्रियों का सन्निवेश है वही अन्तरिक्ष भाग है। तात्पर्य यह है कि शरीर के अनुसार शिर भाग में भी तीन लोक की चिति हैं।

हस्त में– भुजा, प्रकोष्ठ, प्रतल इसी प्रकार पाद में–उरु, जङ्घा, प्रपद इस प्रकार तीन भाग बने हैं यहां तक कि प्रत्येक अङ्गुली में भी प्रत्येक तीन-तीन पर्व दीखते हैं–इन सब का कारण भी त्रिलोकी के भिन्न-भिन्न रस ही हैं। अग्नि सहित पृथ्वी प्रथम लोक है, चन्द्रमा और वायु द्वितीय लोक अर्थात् अन्तरिक्ष है और सूर्य द्यौलोक है। सूर्य से भी परे जो परज्योति है वह लोकातीत तुरीय भाग है। हमारे

शरीर का जो मध्यम भाग है उसके तीन विभाग उस तुरीय परज्योति के रस से बने हुए हैं उस शिर में उस पर ज्योति से चेतना आई है वह इस शरीर में मन रूप से विद्यमान है वही मन अपनी इच्छा से प्राण को प्रेरणा करके जैसी चेष्टा कराता है वैसा ही भूत भाग चेष्टा करते हैं। यही तीन लोक और चौथा परज्योति का इस शरीर में विभक्त होकर चेष्टा कराना ही लोक चिति है।

## ५–धातुचिति

पूर्व में जो पञ्चकोश चिति कही गई है जिसमें सबसे बाहर अन्न कोश है उसके अन्दर प्राण है–यह प्राण अन्नाद है यह बाहर से अन्न को ग्रहण करके अपने ऊपर व्यापक अन्नमयकोश उत्पन्न करता है। वह अन्नमयकोश सात चिति का है। ये सातों ही शरीर के धातु हैं अर्थात् धारण करने वाले हैं इसीलिए इन सातों को धातु चिति कहते हैं। ये सातों बाहर के क्रम से अन्दर को जाते हुये इस प्रकार चीयमान हैं—लोम, त्वचा शोणित, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र। इनमें लोम को त्वचा के ऊपर नियम से रहने पर भी शरीर का अवयव बहुत से विद्वान् नहीं मानते। इसी कारण त्वचा से शुक्र तक क्रम से सात ही विभाग कहे गये हैं इनमें त्वचा अर्थात् चर्म चार प्रकार का है। शोणित का वेष्टन, चर्म वसा का वेष्टन, मांस का वेष्टन, और अस्थि का वेष्टन–वसा, मांस, कोमलास्थि, दारुणास्थि ये चारों एक दृढ़ सूत्र के जाल पर चीयमान है, अर्थात् इन चारों के भीतर भिन्न वस्तुओं के गुथे हुए जाल हैं अस्थि में मज्जा, मज्जा में शुक्र चीययान है इनके अतिरिक्त बड़ा अन्त्र छोटा अन्त्र (आंत) शिरा अर्थात् वाहिनि नाड़ी धमनी अर्थात् वायु वाहिनी नाड़ी और स्नायु ( nerve ) अर्थात् ज्ञानवाहिनी या चेष्टा वाहिनी नाड़ी इस प्रकार के भिन्न–भिन्न सूत्र भी शरीर में चीयमान हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही सूत्र ग्रन्थि भी शरीर में है। शोणित, पित्त वात, कफ ये चार धातु और रस तथा मल ये दो धातु भी शरीर में चीयमान है। हम देखते हैं कि एक फल में त्वचा, गूदा, नाड़ी, कठिन भाग और मज्जा में पांच भाग क्रम से रहते हैं–ठीक इसी प्रकार प्राणी के शरीर में भी त्वचा, मांस, नाड़ी, अस्थि और ये ही पांच चिति मुख्य हैं और शेष सब इसी के मददगार हैं।

इसी प्रकार यह अन्नमय कोश ही भूत आत्मा कहलाता है इस भूत आत्मा में मुख्यतया तीन रस आते हैं। भौम, दिव्य और पर, इनमें भौम रस में ही त्वचा, अस्थि आदि चिति समझनी चाहिए जिस प्रकार अन्न मय कोश में यह धातु चिति कही गई है उसी प्राणमय कोश में पहले कही हुई पुरुष-चिति या लोकचिति जाननी चाहिए। प्राण के आधार से ही अन्नमय कोश में धातुचिति भी हो सकती है अन्यथा नहीं क्योंकि सब प्रकार की क्रियाएं प्राण से ही उत्पन्न होती है, प्राण के बिना अन्न या धातु आदि सब पशु हैं क्रिया नहीं कर सकते इसलिए बिना प्राण के कोई चिति नहीं हो सकती। अन्नचिति में जब प्राणचिति होती है तभी उसमें मन, विज्ञान, आनन्द ये तीनों प्रकार की मनश्चिति भी होती है। इस मनश्चिति के मन या विज्ञान भाग को लेकर वेदचिति जाननी चाहिये। कोई–कोई वेदचिति और यज्ञ-चिति ये दोनों भी प्राणचिति के हो भेद समझते हैं। इस प्रकार सब चिति मिलकर एक प्राणी का शरीर या आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि घातुचिति अन्न से अर्थात् वाक् से सम्बन्ध रखती है और मन से मन, विज्ञान और आनन्द ये तीन अन्तश्चितियां सम्बन्ध रखते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त सब चित्तियां अर्थात् वेद-चिति, पुरुषचिति, लोकचिति, देवचिति और बीजचिति भी केवल प्राण से ही सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार सब चितियों को संग्रह करके मन, प्राण, वाक् ये तीन तत्त्व वाली आत्मा शरीर धारण करता है और शरीर या शारीरक कहलाता है।

## सवनयज्ञ तथा यज्ञमय आत्म जीवन

सबसे प्रथम आनन्दादि पांच कोशों से जो पांच चिति कही गई, उसके ऊपर बीजचिति आदि पुनश्चिति कही गई है इन दोनों चितियों से आत्मा की स्वरूप सिद्धि होती है। वह आत्मा अन्न भोक्त होकर जो चिरकाल तक अपनी जीवन स्थिति बनाये रखता है यह दूसरा यज्ञ है।

आत्मा का वह अन्न जिसके उसका जीवन निर्वाह होता है दो प्रकार का है—१-दैव, २-भौत—इनमें आकाश पर्जन्य, सूर्य, चन्द्र आदि पिण्डों के द्वारा द्यौ स्थान से अनवरत काल जो रस शरीर में आते रहते हैं वही दैव अन्न हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त पृथ्वी में से सात प्रकार के अन्न ग्रहण किये जाते हैं वे भौत अन्न हैं। वे ये हैं—अन्न, जल, गर्मी, वायु, शब्द, प्रकाश बल या क्रिया और ज्ञान। इनमें गरमी और प्रकाश इन दोनों को ही तेज शब्द से कह सकते हैं, इसलिये श्रुति में ७ ही अन्न हैं।

जो अन्न भोजन किया जाता है वह दैविक हो अथवा भौतिक वह आत्मा में पहुंचकर आत्मा ही बन जाता है इस प्रकार आत्मा का बनते रहना ही आत्मा का जीवन है किन्तु इन दोनों प्रकार के अन्नों को शरीर स्थित अग्नि ग्रहण करता है। इनमें द्यौ स्थानी प्राण आकर पृथ्वी स्थानी प्राण से शरीर में घर्षण पाकर के अग्नि की उत्पत्ति होती रहती है, किन्तु भौतिक अन्न पाकर उसको दहन करके जो रस उत्पन्न होता है उससे उस अग्नि की पुष्टि और रक्षा तथा स्थिति बनी रहती है, यद्यपि ये दोनों प्रकार के अन्न अग्नि की स्थिति के लिये अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इन दोनों में भौतिक की अपेक्षा दैविक अन्न प्रधान है, क्योंकि कितने ही योगियों के शरीर में समाधि साधन की अवश्था में अनशन (न खाना) व्रत धारण करके अनेक वर्षों तक जीवन की स्थिति देखी गई है वहां यद्यपि भौतिक कुछ भी नहीं रहता तथापि केवल दैविक अन्न ही प्रचुर ( अधिक ) रूप से आने के कारण शरीर की अग्नि बनी रहती है। अग्नि ही वैश्वानर आत्मा है और उसके कारण तैजस आत्मा और तैजस के कारण प्रज्ञात्मा बना रहता है, किन्तु यह अवश्य है कि बिना योग बल के साधारण मनुष्यों के शरीर में भौतिक अन्न के न आने पर केवल दैविक अन्न मात्र से अग्नि का बल कम हो जाता है जिससे मृत्यु रूप अग्नि अर्थात् यम के प्रबल हो जाने से द्यौलोक से आते हुए रस का आगम विच्छिन्न हो जाता है इस कारण द्यौ प्राण और पार्थिव प्राण के घर्षण बन्द हो जाने से शरीर की अग्नि सर्वथा नष्ट हो जाती है, जिस से आत्मा का जीवन सर्वथा नष्ट हो जाता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों तात्कालिक हैं उसी प्रकार द्यौ प्राण और पार्थिव प्राण इन दोनों के योग से उत्पन्न होती हुई शरीर की अग्नि जिसमें गरमी भासती है वह भी तात्कालिक है जिस समय दोनों का योग यम के कारण नष्ट हो

जाता है उस समय शरीर की गरमी नष्ट हो जाती है और शरीर छूटने से प्राणी मरा हुआ कहा जाता है। इस मृत्यु में अन्न की हानि ही कारण है। इसलिये अन्न भोजन ही आत्मा की जीवन सत्ता का कारण है। जिसमें दैविक अन्न का आते रहना ही आयु शब्द से कहा जाता है—स्थूल मान से १४४ वर्ष या १०८ तक इस दैविक अन्न का शरीर में आना स्वभाविक सिद्ध हुआ है। इसलिये यही मनुष्य की आयु है और इससे कम समय में मनुष्य की मृत्यु वैकारिक है, वह स्वभाव सिद्ध है और यह विकार कृत है।

## ६—चिदात्मवाद

अन्तिम मत यह है कि चित ही एक आत्मा है चित का अर्थ है जो चयन करे अथवा जिस पर चयन हो अथवा जो चीयमान हो उसको चित कहते हैं—तात्पर्य्य यह है कि तीन प्रकार की चिति कही गई है पहली पञ्चचिति, दूसरी त्रिचिति और तीसरी पुनश्चिति इन तीनों में पुनश्चिति मध्यवाली त्रिचिति के ऊपर होती है और यह मध्यम त्रिचिति भी प्रथम पञ्चचिति पर होती है किन्तु यह प्रथम पञ्चचिति भी अवश्य ही किसी न किसी पर होनी चाहिये क्योंकि कोई भी बिना क्षेत्र अर्थात् बिना आधार के नहीं हो सकती। इसलिये मानना पड़ेगा कि कोई न कोई अव्यक्त और अव्याकृत, निर्लक्षण, निर्विशेष, निष्कल, निरञ्जन, अखण्ड, निरयव तत्त्व है जो नित्य सनातन है उसी के आधार पर पे चितियां होती रहती हैं। इन चितियों का करने वाला भी दूसरा नहीं हो सकता क्योंकि उस तत्त्व के अद्वैत होने से दूसरा कोई चयन करना सम्भव नहीं। वही अव्याकृत स्वयम् पांच रूप से उदय होकर उन्हीं औदयिकों को अपने आधार पर चीयमान कर लेता है और जबकि उसी में से उदय होकर उस पर चिति होती है तो कहना होगा कि चीयमान पदार्थ भी तीनों चितियों के जो जहां कुछ है यह भी उस मूलतत्व से भिन्न नहीं हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि जिस पर चिति है, जिन पदार्थों की चिति है जो चिति का कर्ता है इस प्रकार तीनों रूप से वह एक ही तत्त्व समझा जाता है इसीलिये उसको चित् कहते हैं।

इस प्रकार इस चित् तत्व को परात्पर शब्द से समझना चाहिये। यही परात्पर मूलतत्त्व इन तीनों चितियों के कारण तीन अन्य अवस्था करता है जिन अवस्थाओं के भेद से वह पर, अक्षर, क्षर कहलाता है। तात्पर्य्य यह है कि यदि तीनों प्रकार की चितियों से अलग करके यदि विशुद्ध उस मूलतत्त्व का विचार करें तो वह परात्पर कहावेगा, क्योंकि वह आगे के तीनों विशेषों में सबसे प्रधान 'पर' है उससे भी वह निर्गुण, निर्विशेष परे है इसीलिये परात्पर कहलाता है और वह अक्षेय अनिवर्चनीय है। यह 'परात्पर' अपने औदयिक भावों से पाञ्चचिति करके उन पांचों से विशिष्ट अपना रूप बनाता है तो उसे अव्यय कहते हैं, यही अव्यय उन क्षर, अक्षरों से परे है इसीलिये 'पर' कहलाता है और इन तीनों पुरुषों में यह पर उत्तम है इसलिये पुरुषोत्तम कहलाता है। यही पर पुरुष जबकि तीन चिति से भी युक्त होता है तो पञ्चचिति और त्रिचिति इन दोनों चितियों से विशिष्ट होकर भिन्न रूप धारण करता है तो उसको अक्षर कहते हैं, यह सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् है यद्यपि पर पुरुष में भी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् के रहने के कारण सब ज्ञान और सब शक्तियों की निधि होना सम्भव है तथापि बीज उद्बुद्ध न होने के कारण उससे सृष्टि नहीं होती, वह केवल साक्षी चेता है। उसके आधार से ही अक्षर

सृष्टि करता है । इस अक्षर में बीजचिति, देवचिति, भूतचिति का सन्निवेश है इसी से इन बीज, देव,भूत-चिति सामग्नियों के द्वारा वह सब प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ होता है, इसलिये वेद में लिखा है :—

**यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः ।**
**सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ॥**
**तथाऽक्षराद् विविधाः सौम्यभावाः ।**
**प्रजायन्ते तत्र चैवा पियन्ति ॥**

इस प्रकार यह अक्षर अपने शरीर से जिन भावों को उत्पन्न करता है वे सब भाव पानी में झाग के अनुसार उसी अक्षर पर चीयमान हो जाते हैं और वे चिति पांच प्रकार की १—भूतात्मचिति, २—पुरुष-चिति, ३—देवचिति, ४—लोकचिति, ५—धातुचिति इन पांचों चितियों को कुछ समय तक अपने आधार पर रखकर जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो स्वभाव से ही इन से विरक्त होकर इनको छोड़ना चाहता है और इनमें जो व्यापक अपना रस्ता खींच लेता है जिससे जिस प्रकार वृक्ष के पत्ते रस के सूखने के कारण अपने आधार से अलग होकर झड़ जाते हैं उसी प्रकार अक्षर के रस हट जाने से वह भौतिक पिण्ड उड़कर उस अक्षर से अलग हो जाता है, इसीलिये उसे क्षर कहते हैं । पांच चितियां जो वास्तव में क्षर पदार्थ हैं इनकी चिति होने पर इनसे विशिष्ट होकर जो अक्षर अपना रूप धारण करता है उसी को क्षरपुरुष कहते हैं ।

यह जो जहां कुछ दीखता है वह सब क्षर है अर्थात् नाशवान् है किन्तु इनमें अन्तर्गत अक्षरपुरुष विद्यमान है और उस अक्षर के भीतर परपुरुष विद्यमान है और उस पर के भीतर भी परात्पर विद्यमान यह स्थूल रीति से भीतर बाहर का व्यवहार किया जाता है । वास्तव में क्षर के भीतर बाहर सर्वत्र व्यापक होकर अक्षर रहता है और अक्षर के भी बाहर भीतर पर है और इसी प्रकार पर में परात्पर है इसीलिये ईशावास्य श्रुति कहती है—

**तदेजति, तन्नैजति, तद्दूरे, तद्वन्तिके ।**
**तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥**

तात्पर्य्य यह है कि जिन क्षरों को आप सर्वत्र देख रहे हैं वे अक्षर की, पर की और परात्पर की भी साक्षात् मूर्तियां हैं इनमें जो सबका मुख्य आधार परात्पर है वही सबका प्रभव और प्रलय है और वही सबकी मुख्य प्रतिष्ठा है। इसलिये वही चित् सब आत्माओं की आत्मा है।

## त्रिशरीर विवेक
## (कारण, सूक्ष्म, स्थूल)
### १—कारण शरीर

तीन प्रकार के बीज जो पहले कहे गये हैं अर्थात् विद्या, कर्म और अविद्या ये ही तीनों मिलकर **कारण शरीर** कहलाता है और इन पर जितने देवता युक्त होते हैं वे सब मिलकर **सूक्ष्मशरीर** कहलाते हैं,

उसी प्रकार इन पर जितने भूतों का संसर्ग होता है वे सब मिलकर **स्थूलशरीर** कहलाते हैं। ये तीनों भिन्न भिन्न प्रकार के तीन ढेर होते हैं इसलिये देह कहलाते हैं। क्योंकि देह का अर्थ ढेर हैं, ऐसे ही ये तीनों चय अर्थात् समुच्चय या समूह हैं, इसी से इनको काय कहते हैं। क्योंकि चयन से काय बनता है और ये तीनों फिर मुख्य आत्मा से शीर्ण होकर अलग हो जाते हैं इसीलिये शरीर कहाते हैं। इन तीनों को आत्मा विविध प्रकार से अथवा विशेष रूप से ग्रहण करता है इसलिये इनको विग्रह कहते हैं। ये तीनों आत्मा पर वपन किये जाते हैं अर्थात् बोये जाते हैं इसीलिये वायु कहाते हैं। इन तीनों के कारण से आत्मा का विस्तार होता है इसलिये तनाव होने के कारण इनको तनु कहते हैं। ये आत्मा पर मूर्छित रहते हैं इसलिये मूर्ति कहलाते हैं। इस प्रकार ये तीनों समूह रूप होने के कारण पुरी भी कहे जाते हैं। इन्हीं पुरियों में बसने के कारण आत्मा पुरुष कहलाता है (पुर=बस,उष=बसना) इन तीनों शरीरों में (बीज, देव,भूत) जो कारण शरीर हैं वह २ प्रकार से होता है एक तो आत्मा के वाक् भाग से स्वयम् आत्मा में से उत्पन्न होने वाले होकर उस वाक् पर नित्य रूप से विद्यमान रहता है अर्थात् आत्मा के मन, प्राण, वाक् सम्बन्ध से वह वाक्, विद्या, कर्म और अविद्यारूप से स्वयं परिणत हो जाता है यह पहला रूप है और ये सदा नित्य है ।।१।।

किन्तु दूसरा इस जीव आत्मा के कर्म करते रहने से उस कर्म जन्य जो अतिशय उत्पन्न होता है जिसे शुक्र कहते हैं वही बीज रूप से वाक् पर आसक्त हो जाता है अर्थात् विद्या पर विद्या, कर्म पर कर्म, अविद्या पर अविद्या आकर उनको पुष्ट करता है और ये तीनों ही कृत्रिम उत्पन्न होकर भोगने से नष्ट होते रहते हैं और फिर २ से उत्पन्न होते रहते हैं जब तक मुक्ति न हो तब तक इनका विनाश उत्पत्ति क्रम नष्ट नहीं होता इसलिये ये दोनों प्रकार के कारणशरीर नित्य ही विद्यमान रहते हैं किन्तु इनमें विशेष यह है कि पहला औदयिक कारण शरीर अक्षर आत्मा में ही अवश्य रहता है इसीलिये ईश्वर का भी शरीर माना जाता है और उसी शरीर से अक्षर आत्मा अर्थात् ईश्वर सब सृष्टियों को करता है।

किन्तु दूसरा आसङ्गिक (योग से) कारण शरीर क्षर जीव शरीरों में ही जो अक्षर भाग है उसी पर रहता है। क्षर के सम्बन्ध से ही आसङ्गिक कारणशरीर अक्षर पर उत्पन्न होता है और उसी आसङ्गिक कारणशरीर के द्वार इस जीव का जन्म, मरण, मुक्ति, मुक्ति इत्यादि निर्भर है। औदयिक और आसङ्गिक दोनों कारणशरीर जब अक्षर पर उत्पन्न हो जाते हैं तब वही अक्षर ईश्वर न कहा कर जीव कहाने लगता है और वही जीव अपने पर नई पञ्चचिति वाले स्थूलशरीर को ग्रहण करता छोड़ता रहता है परन्तु वही ऐसा करें कि जिससे विद्या की उन्नति हो तो उससे विद्या बढ़कर अविद्या को घटाते हुए किसी समय में उसको सर्वथा नष्ट कर देता है तो जीव लक्षण अविद्या के नष्ट होने से वही अक्षर विशुद्ध ईश्वर रूप हो जाता है यही जीव की सगुण मुक्ति कही जाती है।

## २—सूक्ष्मशरीर

सूक्ष्मशरीर तीन प्रकार से उत्पन्न होता है—१-औदयिक, २-आसङ्गिक, ३-जैव- या हार्द ये तीनों ही जीव में अक्षर आत्मा के आश्रय से रहते हैं ।।१।।

ईश्वर की वाक् से स्वयं उत्पन्न होकर देवता और भूत ये दोनों ही ईश्वर के शरीर को विग्रह कहते हैं । अक्षर में भी नियम से रहते हैं, किन्तु उपेश्वर जो सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि माने जाते हैं उनके अक्षर में औदयिक देव भूत के अतिरिक्त आसङ्गिक देव भूत भी उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनके अपने देव भूत के अतिरिक्त ईश्वर से आये हुए देव, भूत भी आसक्त हो जाते हैं किन्तु पृथ्वी आदि उपेश्वरों में जो जीव उत्पन्न हुए हैं उनके शरीर में स्वयं उत्पन्न हुए देव, भूतों के अतिरिक्त ईश्वर या उपेश्वरों से आये हुए देव, भूत आसङ्गिक रहते हैं । इनके सिवाय जीवों के हृदय में हृदय के कारण जो षट्कोश कह कर गायत्री का वर्णन पहले किया गया है उस रूप में भी देव और भूत हृदय में आकर वहां हृदय में प्रतिष्ठित होकर चार प्रकार के कर्म करते हैं यह तीसरे प्रकार का देव और भूत जीव के शरीर के हृदय के सम्बन्ध से ही उत्पन्न होते हैं इसलिये इनको जैव कहते हैं । इस प्रकार देव और भूतों के जो तीन भेद है उनमें देवता को लेकर सूक्ष्मशरीर कहा जाता है ।

## ३–स्थूलशरीर

किन्तु इन्हीं तीनों भेदों में तीनों भूत भागों को लेकर तीन स्थूलशरीर भी जीवों में कहे जा सकते हैं । इन तीनों स्थूलों के अतिरिक्त एक चौथा और भी स्थूलशरीर उत्पन्न होता है वह माता-पिता के शुक्र शोणित से बनकर उन तीन स्थूल शरीरों में शामिल हो जाता है । इसी चौथे स्थूल शरीर को हम लोग स्पष्ट रूप से देखा करते हैं इसी चौथे के अन्तर्गत जैव, आसङ्गिक और औदयिक भी स्थूलशरीर विद्यमान रहते हैं । परन्तु इन चारों स्थूल शरीरों में माता-पिता से आये हुए चौथे स्थूलशरीर का आत्मा से सम्बन्ध दुर्बल रहता है इसलिए इस चौथे स्थूलशरीर के जीर्ण होने पर जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा को छोड़कर निकल जाता है उसी प्रकार चौथे स्थूलशरीर को छोड़कर जीव आत्मा बाहर निकलता है और अपनी गति को जाता है इसी को मृत्यु कहते हैं । किन्तु इस जीव आत्मा के साथ तीन स्थूलशरीर तीन ही सूक्ष्मशरीर और दो कारण शरीर मरने के पश्चात् भी बने रहते हैं और इन्हीं शेष शरीरों के द्वारा जीव आत्मा की भिन्न–भिन्न लोकों में गति होती है और जन्म लेते समय भी इन शरीरों को साथ लाता हुआ जीव आत्मा चौथे प्रकार के नये स्थूलशरीर में प्रवेश करता है ।

## त्रिविध–शरीर–समन्वय

इस प्रकार विचार करने से जीव आत्मा में १–कारणशरीर, २–सूक्ष्मशरीर, ३–स्थूलशरीर ये भेद से सिद्ध होते हैं । जिनमें स्थूलशरीर ये हैं— १–औदयिक, २–आसङ्गिक, ३–हार्द, ४–माता-पितृज । जिनमें माता–पितृज ही शरीर को प्रायः साधारण बुद्धि से मुख्य स्थूलशरीर समझते हैं क्योंकि यही स्पष्ट रूप से दीखता है और ऊपर कही हुई आत्मा अन्तिम पांच चितियां भी इसी स्थूलशरीर के आश्रय से उत्पन्न होकर आत्मा के तीसरे उपसर्ग होते हैं । तीनों प्रकार के भूतात्मा या तीनों लोक के भेद से शरीर के विन्यास का भेद और ७ धातुओं का विन्यास और ७ प्रकार के प्राण तथा तीनों प्रकार के वेद में सब इस स्थूलशरीर के होने पर ही स्पष्ट रूप से भासते हैं इसलिए यह स्थूलशरीर ही आत्मा का तीसरा उपसर्ग है । इसी उपसर्ग बन्धन से विरक्त होकर आत्मा इस स्थूलशरीर को छोड़कर लोकान्तर में जाता

है और इसी को मृत्यु कहते हैं। इस मृत्यु से यद्यपि यह चौथा स्थूल शरीर सर्वथा छूट जाता है तथापि अवशिष्ट तीनों स्थूल शरीर आत्मा से नहीं छूटते उनका बन्धन मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा स्वप्न अवस्था के अनुसार शरीर धारण किये हुए रहता और उसमें २ कारणशरीर ३ सूक्ष्म या ३ ही स्थूल शरीर भी बने रहते हैं। कितने ही शङ्का करते हैं कि हृदय विन्यास इस चौथे स्थूल शरीर में ही हो सकता है इसलिए उसको छूटने पर मृत्यु के पश्चात् हृदय नहीं रहता इसलिए हार्दस्थूलशरीर या हार्दसूक्ष्मशरीर नहीं होना चाहिये किन्तु विचार से सिद्ध हुआ है कि हृदय का भाग उन तीनों स्थूलशरीरों में भी होना सम्भव है क्योंकि वह शरीर बासनामय है मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा जिस शरीर को छोड़ जाती है उसकी वासना रहने के कारण उसी प्रकार का शरीर उन तीनों भूतचितियों से भी बना लेता है यह बात केवल कल्पना ही नहीं है प्रत्युत स्वप्न अवस्था में इसका बाह्य शरीर के अनुरूप ही बना हुआ नया शरीर प्रत्यक्ष में देखा जाता है और वह शरीर जाग्रत न रहकर स्वप्न में ही दीखता है इसलिए स्वप्न-काल में ही वासना से उसका बनाया जाना पाया जाता है। इसलिये श्रुति भी स्वप्न में उसका बनाना स्वीकार करती है।

इसी स्वप्न के अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी इन्हीं भूत सामग्रियों से उसी वासना द्वारा उसी प्रकार शरीर का बनाया जाना संभव है अब देखना चाहिये कि जब स्वप्न के शरीर में हृदय है और उसी हृदय के द्वारा हर्ष, विषाद, चिन्ता, शोक आदि जगत् के सब व्यवहार किये जाते हैं तो मृत्यु के पश्चात् भी उसी प्रकार के शरीर से आत्मा का चलना, फिरना, हर्ष, शोक आदि सब व्यवहार होना संभव है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन आगे आत्म गति के प्रकरण में किया जायगा, यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि स्वप्न के भौतिक शरीर में हृदय है मृत्यु के पश्चात् भी भौतिक शरीर में है और हृदय होने से हार्द सूक्ष्म या हार्दस्थूल दोनों ही शरीर हो सकते हैं। ये सूक्ष्म या स्थूल दोनों ही शरीर दृढ़ बन्धन होने के कारण आत्मा में चिरकाल तक रहते हैं। अर्थात् आत्मा की मुक्ति न होने तक रहते हैं अथवा यों समझें कि इन्हीं दोनों शरीरों के बन्धन के छूटने को मुक्ति कहते हैं इस मुक्ति के पश्चात् भी औदयिक सूक्ष्मशरीर या स्थूलशरीर बना ही रहता है। उसी शरीर से वह आत्मा सार्वकाम्य परमेश्वर्य का परमानन्द भोग करता है इसलिये इस मुक्ति को सगुणमुक्ति कहते हैं। किन्तु यदि किसी कारण से यह औदयिक तीनों शरीर भी आत्मा से छूट जावे तो वह सच्ची मुक्ति अर्थात् जिसको परम धाम कहते हैं प्राप्त हो जाता है और वह आत्मा आनन्द का भोग न करके स्वयं आनन्द रूप हो जाता है इस अवस्था में आत्मा अशरीर होकर क्षर, अक्षर दोनों से अतीत पर पुरुषोत्तम अव्यय हो जाता है वही सगुणमुक्ति ईश्वर (अक्षर) की उपासना से सिद्ध होती है। उपासना के सब शास्त्र इसी मुक्ति के लिए सब उपाय बताते हैं किन्तु निर्गुण मुक्ति इन उपासना के उपायों से सिद्ध नहीं हो सकती उसके लिए ज्ञानकाण्ड का आश्रय लेना होता है। ज्ञान शास्त्र ही निर्गुण मुक्ति के उपायों को दिखाता है और वह उपाय केवल आत्मज्ञान है और कुछ नहीं इसलिए श्रुति कहती है—

**'तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**

अर्थात्—उसको ही जानकर मुक्ति को प्राप्त होता है और कोई रास्ता जाने को नहीं है।

यह निर्गुणमुक्ति एक ही प्रकार की है जिस प्रकार सगुणमुक्ति को निःश्रेयस कहते हैं उसी प्रकार निर्गुणमुक्ति को अपवर्ग कहते हैं।

## पञ्चात्मसंस्था

भृगुवल्ली कठश्रुति या तैत्तिरीयक श्रुति के अनुसार पांच कोश या पांच चिति कहकर जो आत्मा में पांच विभाग किये गये हैं उनमें आनन्द, विज्ञान, मन इन तीनों को मन शब्द से ही यदि व्यवहार करें तो आत्मा के तीन ही विभाग सिद्ध होते हैं इसीलिए वृहदारण्यक श्रुति में आत्मा को मनोमय, प्राणमय, वाङ्मय ही कहते हैं इनमें मन दिव्यात्मा है। द्यौ में जो कुछ उत्पन्न होते हैं वे प्रायः मन प्रधान ही होते हैं। दूसरा प्राण आन्तरिक्ष आत्मा है, अन्तरिक्ष के सब पदार्थ प्राण प्रधान होते हैं और तीसरा वाक् पार्थिव आत्मा है अर्थात् पृथ्वी पर सब पदार्थ वाक् प्रधान ही उत्पन्न होते हैं इस प्रकार तीन रस कहें या पांच रस कहें ये सब मिलकर एक ही आत्मा सिद्ध होता है। परन्तु वह आत्मा १–वाक् प्रधान, २–प्राण प्रधान, ३–मन प्रधान, ४–विज्ञान प्रधान और ५–आनन्द प्रधान होने के कारण पांच प्रकार से विभक्त किया जा सकता है। इन पांचों के क्रम से नाम ये हैं—१–भूतात्मा, २–सूत्रात्मा, ३–महानात्मा, ४–क्षेत्रज्ञात्मा, ५–परमात्मा ये पांचों ही परस्पर संश्लिष्ट (मिले हुए) रहते हैं।

इस आनन्दमय आत्मा को १–परोरजाः, २–विरजा, ३–सत्यस्यसत्य, ४–भूमा, ५–चिदात्मा भी कहते हैं॥ १॥

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा को १–हार्द आत्मा, २–सत्यात्मा, ३–महाजन ४–सर्वेश्वर, ५–वसुधान् भी कहते हैं॥ २॥

मनोमय महानात्मा को १–षोड़शी भी कहते हैं॥ ३॥

प्राणमय सूत्रात्मा को १–तेजन और २–वामन भी कहते हैं॥ ४॥

पांचवीं अन्नमय भूतात्मा को १–हिरण्मय भी कहते हैं॥ ५॥

इनमें पूर्व २ आत्मा का पर २ आत्मा शरीर बना रहता है इस प्रकार पाँच आत्मा पृथक्-पृथक् इस शरीर में अपना काम करते हैं। इनमें सूत्रात्मा और चिदात्मा ये दोनों ही व्यापक होने के कारण अव्यभिचारी रूप से सर्वत्र ही विद्यमान रहते हैं—यह स्वतः ही सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, इसी कारण बहुत से ऋषियों ने विशेष रूप से इनकी चर्चा न करके मुख्यतया तीन ही आत्माओं का विचार किया है—क्षेत्रज्ञ, महान् और भूतात्मा इन तीनों को मिलाकर किसी ने जीवात्मा माना है और किसी ने क्षेत्रज्ञ और महान् को पृथक् करके केवल भूतात्मा को ही जीवात्मा माना है। यद्यपि तीनों ही आत्मा इस देह का अभिमान रखते हैं अर्थात् देह के भेद से ये भिन्न-भिन्न हो जाते हैं दूसरे देह के आत्मा पर दूसरे देह का कुछ धर्म संक्रान्त नहीं होता इसलिये ये तीन ही आत्मा विशेष रूप से विचार के योग्य हैं, परन्तु इस जीव शरीर में चिदात्मा और सूत्रात्मा भी अवश्य ही नियम से विद्यमान रहते हैं इन पांचों में भूतात्मा पृथ्वी से आता है महानात्मा चन्द्रमा से, क्षेत्रज्ञात्मा सूर्य से, सूत्रात्मा अन्तरिक्ष से और चिदात्मा तीनों लोकों से बाहर जो परोरजाः जा कर दिव्य ज्योतिमय कोई महासूर्य है उससे इस शरीर में आता है।

## परमात्मा

यह कहा गया है कि जो लोकत्रयातीत कोई महासूर्य है उससे जो रस हमारे शरीर में आता है उसको चिदात्मा या परमात्मा कहते हैं उसका क्रम यह है कि हम जिस पृथ्वी पर बसते हैं और उसके चारों ओर जिस प्रकार चन्द्रमा परिक्रमा करता है वैसे ही यह पृथ्वी भी सूर्य की परिक्रमा और इस प्रकार के बहुत से सूर्य एक अभिजित् तारे को जिसको ब्रह्मा कहते हैं, और भी विद्युत, इन्द्र, सोम, वरुण कितने ही उस अभिजित् की परिक्रमा करते हैं। उन सबको साथ लिये हुए यह ब्रह्मा एक दूसरे ज्ञानमय ज्योति वाले महासूर्य की परिक्रमा करता है, वह अभिजित् सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी आकाशों का प्रकाशक है, इसीलिये ज्योतिषांज्योति कहलाता है। उसकी यह दिव्यज्योति जहां तक जाती है वही एक महान जगत् है उस जगत् का प्रभु होने के कारण उसी महासूर्य को ईश्वर कहते हैं। उस ईश्वर की जो किरणें हैं वे आयु और अमृत कहलाती हैं और वे ज्ञानमय हैं आनन्दमय है, सत्तामय है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जो सत्ता दीखती है वह वहीं से आती है और जितने ज्ञान जगत् के स्वरूपों का प्रकाश करते हैं, प्रकाश या अन्धकार का भेद दिखाते हैं वे सब ज्ञान भी वहीं से जगत् में आते हैं। जितना आनन्द प्रत्येक वस्तु में हमको मिलता है वह आनन्द भी वहीं से आकर सर्वत्र व्याप्त हुआ है। जितने भूत या देवता जहां कहीं हैं वे सब उसी मूल कारण से उत्पन्न हुए हैं और उसी से पकड़े हुए उसी के चारों ओर उसी की उपासना करते हुए यत्र तत्र विद्यमान हैं। भूत और देवताओं के आश्रय होने के कारण यद्यपि वह अक्षर आत्मा है तथापि पर आत्मा का सब रस उसमें विद्यमान है अर्थात् आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् इन सब का भी वह घन है। इतना ही परात्पर का रस भी जगत् में हमको जहां कुछ मिलता है उसी के द्वारा उपलब्ध होता है।

तात्पर्य्य यह है कि हमारे लिये वह ईश्वर परात्पर आत्मा, पर आत्मा और अक्षर आत्मा इन तीनों आत्माओं को हमें एक साथ देता है इसलिये हम इस एक परमात्मा को तीन रूप से विभक्त करके देखते हैं। अर्थात् परात्पर आत्मा पर या अव्यय जिसे सत्य या अन्तर्यामी भी कहते हैं और तीसरा अक्षर आत्मा इन तीनों में परात्पर आत्मा का सत्ता, चेतना, आनन्द इन तीनों के अतिरिक्त जो एक शान्त आनन्द है वही उसका मुख्य और समृद्धानन्द,चेतना, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान और सत्ता ये तीनों अव्यय आत्मा का रस है इसी अव्यय आत्मा को सत्य कहते हैं। सत्य उसी को कहते हैं जो प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार की नियति (नियम) पाई जाती है जो पानी को नीचे झुकाती है, आग को ऊंचे चढ़ाती है, हिरण के दोनों सींग मस्तक के मध्य भाग से दोनों छोर समान मिति और समान क्रम से झुकाती है, बदरफल के एक ही स्थान से निकले हुए दो कण्टक एक सीधा जाता है और दूसरा मुड़जाता है इत्यादि इत्यादि इस सत्य के अनन्त उदाहरण हैं। यह सत्य प्रत्येक वस्तु के अन्दर बैठा हुआ उस वस्तु का नियमन करता है अर्थात् उसको उन वस्तु के नियम पर चलाता है, इसलिये उसको अन्तर्यामी कहते हैं, यह अन्तर्यामी उसी अव्यय आत्मा सत्य का नाम है और तीसरा अक्षर आत्मा से नाम, रूप, कर्म जगत् के प्रत्येक वस्तु में आते रहते हैं, इस प्रकार उस चिदात्मा को भिन्न भिन्न तीन आत्मा समझना चाहिये, अपर आत्मा सत्य या अन्तर्यामी आत्मा और शान्त आत्मा ये तीनों जिस ईश्वर से हमारे पास आते हैं उनकी स्तुति में वेद कहता है—

"यस्मादर्वाक् संवत्सरो अहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।।" (बृ० आ० ४।४)

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्म विदोविदुः ।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
ब्रह्मै वेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् दक्षिणत श्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।
न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ।।
दिव्योहमूर्तः पुरुषः स वाह्यभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः श्रुयोह्यक्षरात् परतः परः ।।

शान्तात्मा

ऊपर लिखे अनुसार जो चिदात्मा तीन रूप से कहा गया है उन तीनों का नाम इस प्रकार समझना चाहिये :—शान्तात्मा, सत्यात्मा, शारीरिक आत्मा । इनमें शान्तात्मा आनन्द स्वरूप है । ये दो प्रकार का है पूर्व और पर इनमें पूर्व तो वह है कि जिसका सृष्टि के पूर्व में होना अनुमान किया जाता है अर्थात् जिस शान्ति रूप में अकस्मात क्षोभ उत्पन्न होकर यह सृष्टि का रूप उत्पन्न हुआ है वही पूर्व शान्त है किन्तु यह क्षोभ उत्पन्न होकर जो जगत् का रूप इस समय दीखता है वह फिर शान्ति में आ जाते हैं वही अवस्था पर शान्त है । शान्तात्मा से उत्पन्न जो प्रथम पर आत्मा है उसके तीन अवयव हैं—मन, प्राण और वाक् इनमें मध्यवर्ती प्राण किया करता है मन और वाक् ये दोनों अक्रिय है किन्तु प्राण यदि वाक् के साथ संयुक्त होता है तब प्रवृत्ति रूप किया करता है अर्थात् एक से दो, दो से चार इस प्रकार रूप बदलकर वस्तुओं के नाना भेद उत्पन्न करते हैं जिसमें जगत् की वृद्धि होती है । उन सब भिन्न-भिन्न रूपों में आकाश के अनुसार मन भी व्याप्त हो जाता है यही आत्मा की जाग्रत अवस्था है और इसे ही जगत् कहते हैं और इस प्रवृत्ति समय के आत्मा को समृद्धानन्द कहते हैं ।

किन्तु वह प्राण यदि मन के साथ संयुक्त होता है तो निवृत्ति क्रिया करता है अर्थात् जितने पदार्थ भिन्न भिन्न उत्पन्न हुये थे उनकी स्वरूप बनने वाली क्रिया को निरोध करके ४ से २ और २ से १ इस

प्रकार उनकी सृष्टि स्वरूप को नष्ट करके प्राकृत स्वरूप अर्थात् उनके कारण का स्वरूप देते हुए ये भेद बुद्धि का नष्ट करता है। इस प्रकार धीरे धीरे एक रूप में आकर भिन्न भिन्न अपने नाम रूप कर्मों को छोड़ देते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नाम रूप कर्मवाली सहस्रों नदियां समुद्र में जाकर अपने नाम रूप कर्मों को छोड़ कर समुद्र में लय हो जाते हैं उसी प्रकार इस जगत् के सब भाव जिस महा समुद्र में जाकर अपने नाम रूप कर्मों को खो बैठते हैं वहीं पर शान्तात्मा है वास्तव में यह शान्तात्मा एक ही है वही इस जगत् का प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण है किन्तु प्रतिष्ठा की दशा में वह समृद्धानन्द कहलाता है और प्रभव को पूर्व शान्ति और परायण को परशान्त कह करके बल व्यवहार किया गया है। वास्तव में यह शान्तात्मा तीनों अवस्था में एक है इसी शान्तानन्द की स्तुति में आनन्दवल्ली कठश्रुति कहती है कि—

**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि, भूतानि जायन्ते।**
**आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभि संविशन्ति"॥**

और भी वाजसनेय श्रुति कहती है कि—

**"अस्यैवानन्दस्य अन्धानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"**

## सत्यात्मा

सत्यात्मा जो वास्तव में अव्यय आत्मा का स्वरूप है वह तीन प्रकार से हमारे पास अर्थात् जगत् में व्याप्त होता है। सत्ता, शक्ति और अर्थ इनमें वस्तुतः शक्ति ही एक मुख्य धर्म है ये शक्तियाँ अनन्त होने पर भी उन संपूर्ण अनन्त शक्तियों को घिलमिल करके यदि एक रूप में हम देखें तो उसी का सत्ता यह नाम दिया गया है, अर्थात् सर्व शक्ति धन को ही सत्ता कहते हैं, जो कि सर्व जगत् में सर्वदा व्यापक है। इन्ही सत्ता रूपी अपरिमित शक्तियों के घन में से कितने ही शक्तियों को छोड़कर तथा कितनों ही को लेकर जो भिन्न भिन्न एक एक वस्तु उत्पन्न हुए हैं उनके वे परिमित शक्तियाँ ही शक्ति कहलाती हैं और ये परिमित शक्तियाँ जिस पात्र में पाई जाती है उस आश्रय या आधार को अर्थ कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह सत्यात्मा प्रथम कोई अर्थ का रूप धारण करता है वह अर्थ कितनी ही शक्तियों का आश्रय होता है यद्यपि वह अर्थ भी शक्तियों का ही पुञ्ज रूप है तथापि वे शक्तियाँ उस वस्तु के रूप बनाने में काम आकर मूर्च्छित हो गई हैं, अब वे दूसरे अर्थ पर कुछ प्रभाव नहीं डालते इसलिये अर्थ के नाम से भिन्न कहे जाते हैं। किन्तु कितनी ही परिमित शक्तियाँ उस वस्तु में जाग्रत रहकर कितने ही प्रकार के काम करती हैं उनको ही शक्ति के नाम से कहते हैं किन्तु इन सब वस्तुओं की सब शक्तियाँ जितनी इस जगत् में हैं वे सब एक दृष्टि से देखे जाकर सत्ता के नाम से कहे जाते हैं। इस प्रकार शक्ति ही के ये तीन भेद सिद्ध होते हैं वही शक्ति सत्य कहलाता है। कल्पना करो कि कुछ शक्तियाँ व्यापक सत्ता में से अलग होकर एक जगह मिल गये तो एक वस्तु का स्वरूप सिद्ध हो गया। उस वस्तु में ये तीनों सत्य विद्यमान हो गये। कुछ शक्तियाँ तो उस वस्तु के स्वरूप बनाने में बिना युक्त हुए और कुछ शक्तियाँ उस बने अर्थ में बैठकर अपना काम करने लगी। किन्तु ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ उस व्यापक शक्ति घन से

निकलने के कारण अब भी उससे सम्पर्क रखती हैं। जिस प्रकार सरोवर में पानी से बुलबुला भिन्न बनकर उस महाघन पानी से सम्पर्क रखते हुए रहते हैं। उसी प्रकार इन वस्तुओं ने भी जिस सत्ता की शक्तियों को लेकर स्वरूप धारण किया है उस सत्ता से अवश्य सम्पर्क रखते हैं। इसलिये वह वस्तु अब सत्ता का ग्रहण करने से उत्पन्न हुआ कहा जाता है और सत्ता-वाला होने से वह 'है' ऐसा व्यवहार होता है और यह 'है' अपना ही उस वस्तु की सत्यता है।

## अक्षर आत्मा

पाँच प्रकार की आत्माओं में से सबसे प्रथम और मुख्य जो चिदात्मा कहा गया है उसके तीन भेद कहे गये थे। १ शान्त, २ सत्य और ३ अक्षर जिनमें शान्त और सत्य का विचार हो चुका और तीसरा अक्षर आत्मा वही है जिसके अन्तर्गत परात्पर को लिये हुये पर आत्मा है। और जिसके औदयिक तीन शरीर हैं, और जिसके आधार पर भूतात्मा रहता है, और जिसको आसङ्गिक और जैव तीन तीन शरीर नये उत्पन्न होते हैं। वह अक्षर आत्मा हमारे शरीर में उसी चिदात्मा से प्राप्त होता है इस तरह तीनों प्रकार की चिदात्माओं का निरूपण करके अब हम सूत्रात्मा का विचार करते हैं।

## सूत्रात्मा

उस ज्योतिषां ज्योति परज्योति से रश्मियाँ आकर हमारे शरीर में अथवा संपूर्ण जगत् में जो ओत प्रोत हो रही हैं उसका कारण सूत्रात्मा है। दिव्य ज्योति असङ्ग होने पर भी उनमें व्याप्त सूत्रात्मा के कारण यह संपूर्ण जगत् उस दिव्या ज्योति की रश्मि में गुथा हुआ है। उसी सूत्रात्मा के कारण वह दिव्य ज्योति भी सूत्र बन गया है। जिसके लिये गीता में कहा है।

**मयि सर्व मिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।**

अर्थात् सूत्र में मणियों के अनुसार मुझमें अर्थात् चिदात्मा में यह सब प्रोत अर्थात् गुथा हुआ है ॥१॥

इसी प्रकार सत्य, अर्थात् नाम, रूप, कर्म ये तीनों अमृत को अर्थात् प्राण को आवरण करके वस्तु का स्वरूप बनाते हैं। इसमें सत्य और अमृत को परस्पर बाँधने वाला सूत्रात्मा है ॥२॥

इसी प्रकार ये तीनों लोक परस्पर में इसी सूत्रात्मा से बँधे-होकर त्रैलोक्य रूपी एक संस्था संपन्न हुई है ॥३॥

और ऐसे अनन्तानन्त त्रैलोक्य किसी एक सूत्र में बँधे होकर एक महा ब्रह्माण्ड अथवा महाविश्व का रूप उत्पन्न करते हैं ॥४॥

जीव उपेश्वर में तथा उपेश्वर परात्पर में अथवा सब उपेश्वर एक ईश्वर में व्यष्टि से और समष्टि से बँधे हुए हैं और ईश्वर से ये सब अनुगृहीत हैं ॥५॥

इसी प्रकार यह देह भी भिन्न भिन्न अपने तन्त्र रखते हुए नाना प्रकार के देवताओं से और भूतों से परस्पर में बन्धन पाकर एक निकाय बन गया है। इनमें सब पदार्थों की भिन्न भिन्न जाति (ढेर-थोक) के होते हुए भी जो सबको मिलाकर एक तन्त्र से हो रहा है यह भी इसी सूत्रात्मा का प्रभाव है ॥६॥

सूर्य के प्राण पृथ्वी से अपान दोनों भिन्न भिन्न जाति के दो रस इस शरीर में आकर जो इस तीसरे व्यान पर निबद्ध होता है जिसके कारण इस शरीर में से वायु एक दम निकल न जाकर नियमानुसार श्वास-प्रश्वास की क्रिया करता है यह भी सूत्रात्मा ही का प्रभाव है ॥७॥

इस शरीर में क्षेत्रज्ञात्मा सिर में रहता है और शुक्र और शोणित में महान् आत्मा रहता है। भिन्न भिन्न स्थानों में रहने वाले इन दोनों आत्माओं का हृदय में रहने वाले भूतात्मा के साथ जो घनिष्ट संबन्ध पाया जाता है यह भी सूत्रात्मा ही के कारण से है ॥८॥

यह सूत्रात्मा व्यान रूप से इस शरीर में हृदय स्थान में बैठकर अपने भिन्न भिन्न प्रकार के सूत्रों से संपूर्ण अङ्ग प्रत्यअङ्गों को संपूर्ण भूतमात्रा, प्राणमात्रा, प्राज्ञमात्राओं को यथा स्थान संनिवेश करके स्तब्ध और संदब्ध रखता है। यही सूत्रात्मा इस शरीर से अथवा इस जगत् में प्रधान आत्मा कहना चाहिये क्योंकि इसी के कारण अन्यान्य कोई भी आत्मा अपने अपने स्थान से विचलित न होकर वह एक दूसरे से परस्पर-मिलकर इस देहचक्र को अथवा संसारचक्र को भली प्रकार से चला रहे हैं। यह सूत्रात्मा सर्व-जगत् व्यापक है। यह किसी खास पिण्ड से न आकर अन्तरिक्ष से आता है ॥९॥

इसी सूत्रात्मा के प्रभाव से यह चिदात्मा जो ज्ञान स्वरूप है वह चयन के द्वारा ४ स्थान पर संक्रान्त दीखता है अर्थात् इस चेतना के चार स्वरूप होते हैं। शान्त, बुद्ध, मत भूत इनमें चिदात्मा जो शुद्ध अपने रूप में है वह चिति-होने से प्रथम शान्त कहलाता है। वह ज्ञान रूप होने पर भी निर्विषयक होने से अपरिच्छिन्न और स्वतन्त्र है। किन्तु यही चेतना किसी न किसी किसी विषय का अवलम्बन करके विज्ञान का रूप धारण करता है। किन्तु विषय के ऊपर आरूढ़ होकर भी असङ्ग स्वभाव होने के कारण विषय के धर्मों से उसका कुछ भी सम्पर्क नहीं होता। विषय से बन्धन न होने के कारण वह सहज ही भिन्न भिन्न विषयों को ग्रहण करता और छोड़ता रहता है, इसी विज्ञान को बुद्ध कहते हैं। यह विज्ञान भी एक दूसरे प्रज्ञान पर प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार जल या दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थ सूर्यादि बिम्बों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं, उसी प्रकार चन्द्रमा के रस रूपी प्रज्ञान भी स्वच्छ होने के कारण उस विज्ञान के बिम्ब को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेता है। उसी प्रतिबिम्ब को चिदाभास कहते हैं। जिस प्रकार जल में प्रतिबिम्ब, अक्लेद्य, अशोष्य, अच्छेद्य, अदाह्य, अहस्तनेय है उसी प्रकार यह चिदाभास भी है। यह प्रज्ञान-मन शब्द से प्रसिद्ध है, इसलिये मन पर आये हुए चिदाभास को मतज्ञान कहते हैं और वह विषय मत कहा जाता है। यह प्रज्ञान ही सांख्यशास्त्र के अनुसार सत्व कहा जाता है। यह सत्व दो प्रकार का है। विशुद्ध सत्त्व अर्थात् जिसमें रज, तम का संसर्ग नहीं है वह सत्व अक्षरात्मा में अर्थात् ईश्वर के ज्ञान में पाया जाता है। किन्तु दूसरा कलुषित ( मलिन ) सत्त्व अर्थात् जिसमें रज, तम का मेल है वह जीव के ज्ञान में देखा जाता है और वह विचाली है अर्थात्

अपने ही ज्ञान का अपने पर विश्वास नहीं होता। अथवा अपने निश्चय को पीछे कभी भूल मानता है। यह तीसरा 'तमज्ञान' हुआ। इन दोनों में अर्थात् बुद्ध ज्ञान, मत ज्ञान में यह ज्ञान अपने ज्ञान के स्वरूप में भासता है। किन्तु शान्त दशा में वह ज्ञान होने पर भी उस रूप में नहीं भासता। इसी प्रकार चौथे भूत रूप में भी यह चेतना ज्ञान के रूप नहीं भासता। किन्तु अन्तर यह है कि शान्त ज्ञान निर्विषयक है, इसलिये ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। किन्तु भूत की दशा में इन भूतों से अत्यन्त आक्रान्त होने के कारण ज्ञान स्पष्ट नहीं भासता। जिस प्रकार पानी में अधिक मृत्तिका डालने से पानी का प्रवहण धर्म जाता रहता है, उसी प्रकार इन भूतों में भी भूतमात्रा की अधिकता से प्रज्ञान का ज्ञान धर्म जाता रहता है। तात्पर्य यह है कि भूत दो प्रकार का है। एक बाह्यभूत जैसे लोष्ट (ढेला) पाषाण आदि तथा दूसरा शरीरभूत जो प्राणी के शरीर में अस्थि, मांस, मज्जा, त्वचा आदि रूप में दीखता है। यह बिना चेतना के सम्बन्ध के उत्पन्न नहीं होता। इनमें चेतना का अंश रहने पर भी वह चेतना स्पष्ट नहीं भासती किन्तु प्राणी के देह त्याग होने पर जब इन अवयवों में से धीरे धीरे चेतना निकवने लगती है तो ये अस्थि, मांस, मज्जा आदि भी वाह्यभूत के अनुसार मिट्टी हो जाते हैं किन्तु जब तक प्राणी जीवित रहता है तब तक इन अवयवों में मिट्टी का रूप न दीखकर जो नया रूप दीखता है यह प्रज्ञान के सम्बन्ध के कारण से ही है। यही उस चेतना का चतुर्थरूप है। इस प्रकार वह चेतना अपने शुद्ध शान्त स्वरूप से धीरे धीरे कलुषित होकर बुद्ध, मत्त, भूत तक आकर भिन्न स्वरूप धारण करता है। ये सब इसी सूत्रात्मा के प्रभाव से होता है॥१०॥

## क्षेत्रज्ञ आत्मा

सत्यात्मा का वर्णन हो चुका है, अब यहां से क्षेत्रज्ञ आत्मा कही जाती है। क्षेत्रज्ञात्मा भूतभृत् है अर्थात् भूतों को पकड़ने वाली है, किन्तु भूतों से पकड़ा हुआ नहीं है। यह सब कर्मों से सम्बन्ध रखता है किन्तु किसी से लिप्त नहीं होता। यह हम को सूर्य से मिलता है इसलिये विज्ञानात्मा कहलाता है। जिस प्रकार आकाश में वा द्यौ में जितने देवता हैं सब सूर्य की रश्मि में रहते हैं और सूर्य के आश्रित हैं उसी प्रकार इस शरीर में जितने देवता हैं सब इसी के आश्रित रहते हैं।

इसी क्षेत्रज्ञात्मा को सांख्य में पुरुष कहा है और महान् आत्मा को सांख्यवालों ने इसी क्षेत्रज्ञ पुरुष की प्रकृति स्थिर किया है। प्रकृति का जिस प्रकार जिन धर्मों से सांख्य में वर्णन हुआ है वह सब महान् आत्मा से समझना चाहिये किन्तु पुरुष के लिये जिस प्रकार का वर्णन सांख्य में हुआ है वह सब क्षेत्रज्ञ के लिये समझना चाहिये। उसका वर्णन विस्तार के कारण यहां नहीं किया जाता है। मैत्रायणी श्रुति में इक्ष्वाकुवंशी राजा मरुत् को शाकायन्य महर्षि ने जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ का स्वरूप निरुपण किया है वा कपिलदेव के सांख्य दर्शन में पञ्चशिखादि आचार्यों ने जिस प्रकार उसका विस्तार दिखाया है सो सब उन्हीं के ग्रन्थों से देखना आवश्यक है। उनकी यहां पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं है।

### १—योनि, प्रतिष्ठा, आशय

इस क्षेत्रज्ञात्मा को 'महाजन' वा (हृद्य) कहते हैं। इसकी योनि सिर है, हृदय इसकी प्रतिष्ठा है, और हृदय के भीतर मनोमय दहराकाश और हितानाड़ी का अन्तरा कोई इसका आशय है। यद्यपि

यह भी जीवात्मा का छोटा भाग है तथापि जिन के मत में भूतात्मा ही जीव कहा जाता है उनके विचार से यह प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में विराजमान स्वतन्त्र ईश्वर है। यह अपनी माया से यन्त्रारूढ़ भूतों को परिभ्रमण करता हुआ इस भूतात्मा जीव पर वा उसके शरीर पर पूर्ण आधिपत्य रखता है।❀ जो कुछ मेरा विशाल ज्ञानमण्डल है, जिस ज्ञानमण्डल में मेरे शरीर सहित यह संपूर्ण चराचर जगत् भास रहा है, यही ज्ञान विकास इस क्षेत्रज्ञात्मा का साक्षात स्वरूप है और जितने भिन्न-भिन्न प्रकार की मेरी बुद्धियाँ हैं वे इसी क्षेत्रज्ञ रूपी सूर्य की रश्मियाँ हैं।

## २—आलम्बन

सर्वव्यापक चिदात्मा सूर्य के रस पर आकर उसी रस के परिच्छिन्न होता है। और रस के संयोग से चिदात्मा का स्वरूप भी बदल जाता है। वही उन दोनों का संम्मिलित स्वरूप विज्ञान के नाम से कहा जाता है। उस विज्ञान का परिच्छिन्न बिम्ब ही इस शरीर के भीतर चन्द्रमा के रस से उत्पन्न हुए महान् आत्मा पर प्रतिबिम्बित होता है और उसी को सत्वगुण कहते हैं। यह महान् आत्मा सोम रस होने के कारण जल वा काच के अनुसार स्वच्छ होता है उस महान् आत्मा का सत्व भाग भूतात्मा के प्रज्ञान भाग में मिलकर उस प्रज्ञान आत्मा को इतना स्वच्छ कर देता है कि जिस से उस प्रज्ञान पर वह पहला विज्ञान आत्मा प्रतिबिम्बित हो जाता है। प्रतिम्बि की रश्मि भी बिम्ब के अनुसार फैलने का स्वभाव रखती है तथापि जिस ओर उसका आलम्बन जल दर्पण आदि द्रव्य रहता है उस ओर रश्मियाँ प्रतिरुद्ध रहती है। इसी नियम के अनुसार शरीर में भी प्रज्ञान रूक जाता है प्रतिबिम्बित विज्ञान आत्मा की रश्मियाँ पीठ की ओर जाकर सामने की ओर ऊपर नीचे चारों ओर व्याप्त होती है। जिससे हमारे ज्ञान की प्रवृति जिन इन्द्रियों से होती हैं वे सब ज्ञानेन्द्रियाँ मस्तक के एक ही छोर में देखी जाती हैं। यद्यपि हमारा ज्ञान इन्द्रियों से होता दीखता है तथापि उन इन्द्रियों में प्रज्ञान भासित होता है और उस प्रज्ञान में विज्ञान प्रतिबिम्बित है। वह विज्ञान सूर्य का वह रस है कि जिसमें चिदात्मा का अंश भरा हुआ है। उसी चिदात्मा के बल से विज्ञान आत्मा और प्रज्ञान आत्मा भी ज्ञानमय होकर हमारे हृदय में वा इन्द्रियों में निवास करता है। इसी से हम चेतन कहलाते हैं और प्रज्ञान पर जो विज्ञान का प्रतिबिम्ब है उसी को चिदाभास कहते हैं, और इस चिदाभास को ही बहुत से विद्वानों ने जीव-आत्मा शब्द से कहा है।

## ३—नाड़ी संचार

ऊपर आकाश में सूर्य मण्डल में जो हिरणमय चमकता या टिमटिमाता हुआ पुरुष है, वही आत्मा मेरे इस शरीर की भी आत्मा है। जिस प्रकार सूर्य पुरुष इस ब्रह्माण्ड शरीर की आत्मा है। उसी प्रकार वही सूर्य पुरुष छोटे रूप में मेरे हृदय में हार्द पुरुष होकर मेरे शरीर की आत्मा होता है वही मैं हूँ अर्थात् मैं शब्द से उसी का व्यवहार होता है। जिस प्रकार बड़े सूर्य पुरुष का प्रकाश ब्रह्माण्डमण्डल में सर्वत्र व्यापक है उसी प्रकार हमारे शरीर को हार्दपुरुष का भी प्रकाश संपूर्ण शरीर में व्यापक है इस

❀ भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया। (गीता)

शरीर स्थित प्रकाश का कभी कभी हम साक्षात्कार भी कर लेते हैं। घोर अन्धकार में जब कभी हम अपने एक नेत्र के कोण को दबाकर वा उक्साकर बार बार वक्र (टेढ़ा) करते हैं तो अकस्मात् नेत्र के ऊपरी ढक्कन के नीचे प्रकाश का चक्र बिजली के अनुसार चञ्चल दीख आता है। उसके मध्य में श्याम प्रदेश है, वही ज्ञान का मुख्य स्वरूप भासित होता है। उस श्याम छिद्र को ही ज्ञान का स्वरूप समझना चाहिये। उसके चारों ओर कुण्डल के अनुसार प्रकाश मण्डल दीखता है जिसका वर्ण कुछ नीली और हरी झांइ को लिये हुए श्वेत है।

किसी किसी का मत है कि वह प्रकाश चक्र तो प्राज्ञ आत्मा का स्वरूप है किन्तु उसके मध्य में जो श्यामछिद्र है उसी का ज्ञान विकास जो हमारे शरीर से बाहर न होकर भी बाहर के ढङ्ग पर दीखता है जो हमारे आँख के श्याम तारे पर रहकर भी सम्पूर्ण जगत् के विशाल विशाल प्रदेश को बालाग्र से भी सूक्ष्म नेत्राग्र प्रदेश में दिखा रहा है वह विशाल ज्ञान प्रकाश ही वास्तव में क्षेत्रज्ञात्मा का स्वरूप है यद्यपि वह भी मेरे सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त है तथापि प्राज्ञात्मा के अनुसार उसी नेत्र में उजली झलक के भीतर दीख आता है। अथवा जगत् का रूप दिखाने वाला ज्ञान प्रकाश अन्यान्य इन्द्रियों से बढ़ कर आंख में ही भासता है। इसलिये प्राज्ञ के अनुसार क्षेत्रज्ञात्मा का भी दक्षिण नेत्र में ही लक्षित होना वेद में वर्णन किया गया है। अर्थात् वेद बार बार कहता है कि यह आकाश सूर्यपुरुष और हमारे दक्षिणनेत्र का इन्द्र पुरुष ये दोनों एक ही हैं और बायें आँख की ज्योति उस इन्द्र की पत्नी है और इन दोनों आँखों के प्रकाश का हृदयस्थान में मिलाव है। इसलिये यह भी कहते हैं कि हमारे हृदय की आत्मा और सूर्य ये दोनों एक ही वस्तु है। वेद मन्त्र है—

**"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** अर्थात् स्थावर और जङ्गम दोनों की आत्मा सूर्य है।

जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर सूक्ष्माति सूक्ष्म रश्मिनाड़ी फैली हुई दीखती है उसी प्रकार इस क्षेत्रज्ञात्मा का भी प्रतिष्ठा स्थान इस हृदय में चारों ओर सूक्ष्मातिसूक्ष्म धारण की हुई शरीर के सूर्य की किरणें हिता नाम की नाड़ियां चारों ओर शरीर में फैली हुई है जिस प्रकार बाहर के सूर्य की रश्मियां रक्त, पीत, हरित आदि सात वर्णों की हैं उसी प्रकार इस हार्द सूर्य की भी हिता नाम की नाडियां उन्हीं वर्णों की देखी गई हैं। उन नाड़ियों में १०१ नाड़ी हृदय से सिर की ओर गई हैं, जैसा कि वेद की ऋचा में लिखा है:—

**शतं चैकाच हृदयस्य नाडचस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।**
**तयोर्ध्व मायन्नमृतत्वमेति, विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥**

अर्थात् इन १०१ नाड़ियों में एक नाड़ी ठीक सरल रेखा में ब्राह्मण्ड की ओर गई है, यदि उस नाड़ी के द्वारा आत्मा उत्क्रमण करे अर्थात् मृत्युकाल में उसी नाड़ी होकर जीव शरीर से बाहर निकले तो वह जीव अमृतत्व अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है। किन्तु उससे भिन्न नाडी द्वारा उत्क्रमण होने से विष्वङ् अर्थात् इधर उधर नाना प्रकार के स्वर्गों में जाता है वहां से फिर आना पड़ता है।

जिस प्रकार दो नगरों को मिलाने वाला मध्य में बहुत विस्तृत राज मार्ग फैला हुआ होता है, जिसके द्वारा इस नगर से उस नगर तक जीव आते जाते रहते हैं उसी प्रकार द्यावा पृथ्वी अर्थात् सूर्य पृथ्वी को मिलाने वाला रश्मि नाड़ियों का बना हुआ एक माहमार्ग समझना चाहिये। जिसके द्वारा सूर्य का रस क्षेत्रज्ञात्मा में और क्षेत्रज्ञ का रस सूर्य आत्मा में प्रतिक्षण आते जाते रहते हैं, और सूर्य की आत्मा उसी मार्ग से आकर क्षेत्रज्ञात्मा बना है वा क्षेत्रज्ञात्मा भी मृत्युकाल में उसी मार्ग से जाकर सूर्य आत्मा में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार सूर्य से फैलकर हितानाड़ी में रश्मियाँ आती है, और हृदय से फैलकर सूर्य में चली जाती है। मृत्युकाल में यह क्षेत्रज्ञात्मा उल्टे जाते हुए उन्हीं रश्मियों के साथ मनोवेग के अनुसार एक दक्षिण में सूर्य तक पहुँच जाता है। यदि उसमें विद्या का प्रबल संबन्ध हो किन्तु मलिन विद्या जिसे काम कहते हैं, और काम-जन्य, कर्म और अविद्या का बोझ आत्मा पर अधिक हो तो वह आत्मा इतनी शीघ्रता से सूर्य तक नहीं पहुँचने पाती। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर किरणें है, उसी प्रकार इस हार्द सूर्य के भी चारों ओर किरणें है, उन्हीं किरणों के बल से यह क्षेत्रज्ञात्मा इस शरीर को अत्यन्त हलका बनाकर शरीर को उठाये रहता है।

## ४–क्षेत्रज्ञात्मा से संबन्ध रखने वाले देवता

आकाश के सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले प्राणप्रधान तत्वों को देवता कहते है। उन देवताओं के प्रथम विभाग को ऋषि कहते हैं, जो शुद्ध अमिश्रित प्राण स्वरूप हैं उनके अनेक भेद हैं, इन ऋषियों से उत्पन्न होने वाले दूसरे विभाग में पांच तत्व हैं—पितर, देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व। इनमें यद्यपि पितर तत्व चन्द्रमा के प्रकाश में, देवतत्व पृथ्वी के प्रकाश में, असुर तत्व पृथ्वी और चन्द्रमा के पीछे की ओर अन्धकार भाग में, मनुष्यतत्व पृथ्वी के दोनों सन्ध्या की छाया में और गन्धर्व चन्द्रमा की दोनों सन्ध्या की छाया में रहते हुए प्राणतत्व को कहते हैं तथापि ये सब प्राण सूर्य से संबन्ध रखते हैं। सूर्य से ही आकर इन सब में व्याप्त हुए हैं, इसलिये ये विभाग सूर्य में भी माने जाते हैं। इनमें देवता से उत्पन्न होने वाले तीसरे विभाग में पांच तत्व हैं। ३–अग्नि और २–सोम जिनको क्रमशः अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और दिक् कहते हैं। ये पांचों सूर्य में रहते हैं। इन पांचों में से जो प्रथम तीन देवता है उनसे उत्पन्न होने वाला चौथा विभाग है, जिसमें ३३ तत्व भी सूर्य की किरणों में व्याप्त रहते है। अथवा यों समझना चाहिये कि ऋषि से लेकर अश्विनीकुमार तक ४ कक्षाओं में जितने देवता कहे गये हैं इन्हीं सब के पिण्ड का नाम सूर्य है। इनके अतिरिक्त सूर्य और कुछ नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में जब उस सूर्य का रस आकर प्राणी के हृदय में प्रतिष्ठित होकर यह क्षेत्रज्ञआत्मा बना है तो आवश्यक है कि वे सब चारों कक्षाओं के देवगण ज्यों के त्यों थोड़ी-थोड़ी मात्राओं में इस क्षेत्रज्ञात्मा का अङ्ग होकर प्राणी के शरीर में रहते हैं, इस शरीर में प्राणों की जो जहां चेष्टा हो रही है, जिन-जिन भूतों में गति वा कुछ क्रिया हो रही है वे सब इन्हीं देवताओं का स्फुरण (फड़कना) या जृम्भण (फैलाव) है।

## ५–विधर्तृता

जिस प्रकार पञ्चभूतों में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच गुण नियम से रहते हैं उसी प्रकार प्राण में विधरण का गुण है। यह प्राण अपने से मिले हुए दूसरे पदार्थ को पकड़ कर अपने ऊपर धारण-कर लेता हैं। इसी प्राण का घन और प्रभव वह सूर्य है। वेद में कहा है कि—

## प्राणः प्रजानामुदयतोष सूर्यः

प्राण होने के कारण यह सूर्य विधरण धर्मा है। उसी को विधरण धर्म वाले रश्मियों से पकड़ी हुई यह संपूर्ण पृथ्वी कहीं आकाश में निराधार पकड़ी हुई है, या तीनों लोक यथास्थान संनिविष्ट रहते हैं, अपने नियतस्थान से विचलित नहीं होते। उसी प्रकार इस शरीर में क्षेत्रज्ञात्मा की रश्मियां भी विधरणधर्मा हैं। उसी क्षेत्रज्ञ की रश्मि से विधृत होकर यह शरीर हलका रहता है और सड़ता नहीं और इस शरीर में भी तीनों लोकों के भाग आपस में घिलमिल न होकर यथास्थान संनिविष्ट रहते हैं।

## ६—सेतुता

जहां कहीं पार और अवार का व्यवहार होता है, वहां कोई वस्तु मध्य में अवश्य होती है जिससे इस पार और उस पार का व्यवहार होता है, वहाँ पर पार और अवार इन दोनों को मिलाने वाली तीसरी वस्तु इस पार से उस पार तक दोनों भागों से स्पर्श करें तो उसे सेतु कहते हैं। उस सेतु के द्वारा किसी नदी के उस पार का प्राणी इस पार आता है और इस पार का प्राणी उस पार जाता है, ठीक इसी प्रकार संसार प्रवाह के मध्य में यह क्षेत्रज्ञ सूर्य है। इस क्षेत्रज्ञ से अर्वाक् महान् या भूतात्मा है। जहां कर्म की परतन्त्रता है। किन्तु उसी क्षेत्रज्ञ सूर्य से अन्तर्यामी चिदात्मा है, जहां ज्ञान के प्राधान्य से प्राणी में स्वातन्त्र्य होता है, कर्म का पारतन्त्र्य नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस क्षेत्रज्ञ सूर्य से अर्वाक् भाग में संसार बन्धन की सामग्री है और उसी से दूसरी ओर संसार से छूटने अर्थात् मुक्ति की सामग्री है। मध्य में यह क्षेत्रज्ञात्मा है, इसलिए इसको सेतु कहते हैं। इसी के द्वारा परलीपार की चिदात्मा इस पार के भूतात्मा में यज्ञात्मा बनती है, और प्रज्ञात्मा भूतात्मा भी जो जीव कहा जाता है इसी क्षेत्रज्ञ में पहुँचकर शुद्ध चिदात्मा बन जाता है। संसार से मुक्त होकर उस पार चला जाता है। इसीलिए इस पार से उस पार जाने में इस क्षेत्रज्ञात्मा को सेतु समझना चाहिये। वेद ने इसके लिये कहा है—**अमृतस्यैष सेतुः**। अर्थात् मृत्यु के अमृत भाग में जाकर अमृत बनने के लिये यही विज्ञान आत्मा सेतु है।

## ७—प्रयोजकता

इस शरीर में काम करने वाला प्राज्ञआत्मा है। किन्तु वह चन्द्ररस से उत्पन्न होने के कारण परतः प्रकाश है,। स्वतः ज्योतिष्मान् नहीं है। इसलिए स्वतः उससे ज्ञानरूपी प्रकाश का उद्भव होना असंभव है। यद्यपि उस प्राज्ञ में इसी विज्ञान आत्मा क्षेत्रज्ञ का प्रतिबिम्ब पड़ने से चिदाभास होकर प्राज्ञ भी चेतन हो गया है। तथापि प्राज्ञ की चेतनता इसी विज्ञान आत्मा क्षेत्रज्ञ के आधीन है, क्योंकि जिस प्रकार बिम्ब में कोई क्रिया या परिवर्तन होता है उसी से प्रतिबिम्ब में क्रिया और परिवर्तन होना देखा गया है। इसीलिए यह माना जाता है कि यह प्राज्ञआत्मा जो कुछ क्रिया करता है उसका प्रयोजक अर्थात् प्रवर्तक यही विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा है। जिस प्रकार नेत्र देखने की क्रिया करता है किन्तु उसके इस क्रिया का प्रवर्तक सूर्य ही है। यदि सूर्य का प्रकाश न आवे तो यह चक्षु स्वच्छ होने पर भी नहीं देख सकता। इस प्रकार बिना क्षेत्रज्ञ की सहायता के प्राज्ञ आत्मा कुछ क्रिया नहीं कर सकता।। १।।

यह क्षेत्रज्ञ आत्मा प्राणमय है। प्राण से ही सब क्रिया उत्पन्न होती हैं, वे सब प्राण दो प्रकार के हैं। मध्य वाले मुख्य प्राण को इन्द्र कहते हैं और शेष उसके अनुयायी प्राणों को देवता कहते हैं। ये ही देवता सब उस इन्द्र की इन्द्रियां हैं, जिन इन्द्रियों से प्रेरित होकर प्राज्ञ आत्मा सब काम अरता है ॥२॥

इस क्षेत्रज्ञ आत्मा का स्वरूप मनोमय है, और प्राणशरीर है, इसका जो मन है उसे ही महान् आत्मा कहते हैं। यह महानात्मा उस क्षेत्रज्ञ की प्रकृति है। लोक में जो व्यवहार किया जाता है कि मेरी प्रकृति अच्छी नहीं है, वह प्रकृति यही महान् आत्मा है। वह महानात्मा, सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के स्वरूप हैं। ये आपस में एक दूसरे के आघात से बदलते रहते हैं। जब कभी सत्व अधिक हो जाता है तब सुखदाई अच्छी प्रकृति होती है। रज की अधिकता में दुःखदाई खराब प्रकृति होती है, और तम की अधिकता में मोहदाई स्तम्भित प्रकृति होती है। ये तीनों क्षेत्रज्ञआत्मा के ऊपर उसके आश्रय से रहकर बदलते रहते हैं। वे तीनों गुण जिस अवस्था में रहें उसी अवस्था में उनमें क्षेत्रज्ञआत्मा की विज्ञान किरणें प्रविष्ट होकर उन गुणों को ज्ञानमय बनाते हैं। जिससे सुख दुःख मोह का अनुभव हुआ करता है जब दुःख का होता है तभी प्रकृति अच्छी नहीं है कहा जाता है। क्षेत्रज्ञ का विज्ञान स्वतन्त्ररूप से बिना किसी गुणों के मेल के हमें कभी प्रतीत नहीं होता। क्षेत्रज्ञ पर आवरण रूप इन तीनों गुणों में होकर ही ज्ञान की किरणें निकलती हैं, वे उन्हीं गुणों के रङ्ग से रङ्गा हुआ दीखता है। किन्तु यदि वास्तव में विचार कर देखें तो यह क्षेत्रज्ञ का विज्ञान अपने स्वरूप से असङ्ग और निर्लिप्त है। न यह साधु कर्म से बड़ा होता है और न पाप कर्म से छोटा होता है, वह चारों ओर समानभाव से व्याप्त रहा है। किन्तु उसके मार्ग में आए हुए छोटे कर्मों में उस कर्म के आयतन के अनुसार छोटा दीखता है और बड़े कर्मों में बड़ा दीखता है। किन्तु अवगुणों में छोटे बड़े होने का परिवर्तन या सब प्रकार की क्रिया इसी क्षेत्रज्ञ आत्मा के प्राणरूप देवताओं के संयोग वियोग से हुआ करते हैं वही क्षेत्रज्ञआत्मा मेरे इस शरीर में मुख्य आत्मा हैं, वही इस शरीर का कर्त्ता, हर्त्ता, विधाता ईश्वर है। यदि उसको उसकी गति को सम्यक् प्रकार से जाना जाय तो किसी कर्म से भी लिप्त नहीं होता और न पाप पुण्य का परिणाम होता है और कर्म वन्धन से छूट जाने के कारण यह जीव मुक्त माना जाता है।

इसीलिये श्रुति कहती है कि—

**एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।**
**तस्यैवस्यात् पद विततं विदित्वा, त लिप्यते कर्मणा पापकेन ॥**

## ८—निर्लिप्तता

यह क्षेत्रज्ञ-आत्मा असङ्ग होने के कारण किसी में आसक्त नहीं होता। अग्राह्य होने से किसी से गृहीत नहीं होता। यह अशीर्ण (न टूटने योग्य) होने जैसे तेज की रश्मियाँ शीर्ण नहीं होता। यह अव्यथित है किसी काम में इसको व्यथा या थकान नहीं होती और इसमें किसी प्रकार का सड़ना इत्यादि विकार नहीं होता, यह अभय और पवित्र आत्मा है, इसके असङ्ग होने के कारण कोई भी ज्ञान किसी भी विषय के रङ्ग से रङ्गा नहीं जाता, गुड़ का मिठास, नीम की तिक्तता, जल की शीतता, अग्नि की

ऊष्णता इत्यादि इत्यादि कोई भी धर्म इसमें लागू नहीं होते। जाग्रत से स्वप्न में या स्वप्न से सुषुप्ति में शुद्ध निर्विषय रूप का ज्ञान चला जाता है।

## ६—अवस्थात्रय

यह विज्ञानआत्मा क्षेत्रज्ञ, सर्वदा प्राज्ञ आत्मा से संश्लिष्ट (मिला जुला) ही रहता है इसलिये प्राज्ञ के साथ ही यह अपनी तीन अवस्था धारण करता है। बुद्धयन्त, सन्ध्य, स्वप्नान्त इन तीनों का क्रम से विचार किया जाता है।

## जाग्रत या बुद्धयन्त अवस्था

जब कि प्राज्ञ आत्मा बहिरिन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर के विषयों का भोग करता है तो उस समय विज्ञान आत्मा प्रज्ञानआत्मा और इन्द्रियें ये तीनों एक साथ मिले रहते हैं। उस समय यह विज्ञान आत्मा भी प्रज्ञान के साथ बहिश्चर हो जाता है, उसी अवस्था को जाग्रत कहते हैं। इस जाग्रत अवस्था में यह विज्ञान आत्मा पञ्चज्योति से ज्योतिष्मान् रहता हैं। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि इन तीनों के अतिरिक्त सुना हुआ शब्द और उस विज्ञान की निज की ज्योति, इनमें किसी एक से, दो से, तीन से, चार से या पाँचों से काम लेती है। अपनी ज्योति के अतिरिक्त बाहर की चार ज्योतियां भी सविषयक ज्ञान में इसकी सहायता करती हैं।

## २—स्वप्न या सन्ध्य अवस्था

यह विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा जब कि बाहर की चारों ज्योतियों से संबन्ध तोड़कर केवल अपनी ही ज्योति से काम लेता है उस समय को स्वप्न अवस्था कहते हैं। स्वप्न में सब इन्द्रियों को और प्रज्ञान आत्मा को साथ लेकर यह विज्ञान आत्मा अपनी रश्मियों में प्रज्ञान के बने हुए पदार्थों को जाग्रत् के अनुसार भिन्न भिन्न इन्द्रियों से देखा करता है। यद्यपि स्वप्न के एक भी पदार्थ बाहर के नही हैं, तथापि प्रज्ञान के बनाये हुए उनको अपने प्रकाश से देखता रहता है। स्वप्न के समय यह क्षेत्रज्ञ आत्मा अपनी विज्ञान रश्मियों को शरीर के बाह्य चर्मतक फैलाये नहीं रहता है, किन्तु सब ओर से अपनी रश्मियों को और सब इन्द्रियों को खींचकर केवल, हृदय में ही पर्यवसन्न (संकुचित) होता है। जिस प्रकार सूर्यास्त काल में सब रश्मियों अस्त जाते हुए मण्डल के साथ एक होकर उसके साथ अस्त हो जाते है, उसी प्रकार विज्ञान-आत्मा के हृदय-मात्राकाश में सङ्कुचित होते ही विज्ञान रश्मियाँ भी सब उस हृदयाकाश में संकुचित हो जाती हैं। इन्द्रियां भी सब हृदय में ही संकुचित होती हैं। उसी हृदयाकाश में स्वप्न के सब दृश्य देखे जाते हैं। प्रज्ञान आत्मा भी विज्ञानमय आत्मा में प्रवेश करके इन्द्रिय स्थित अपने किरणों को हृदय में ही खींच लेता है, किन्तु शरीर का त्वचा में से जब कभी पूर्णतया नहीं खींच लेता है तब कभी कभी सोता हुआ-आदमी बर्राता है, पूछने पर जवाब देता है। स्वप्न के दस्त, पेशाब, मैथुन में वास्तव में ही तीनों विकार निर्गत होते हैं। सिंह, हाथी, आदि के आक्रमण में भय से छाती में धड़कन वास्तव में ही हो जाती है परन्तु ये सब विकार स्नायु की दुर्बलता से प्रज्ञानात्मा की रश्मियाँ अच्छी तरह खिंची न जाने से ही होते हैं। किन्तु स्नायु में यदि बल हो तो प्रज्ञान की रश्मियाँ बलात्कार से हृदय में खिंच जाती हैं तो उस मनुष्य के ये कोई भी विकार नहीं होते। इन में से जो जो नाड़ी जिस की दुर्बल होगी उसी के सम्बन्ध वाले दोष दीखेंगे दूसरे नहीं होंगे।

स्वप्न में जितने पदार्थ दीखते हैं उनको विज्ञान आत्मा ही प्रज्ञान से बनाता बिगाड़ता रहता है। इन में भी कफ, बात, पित्त आदि शरीर धातुओं का संबन्ध अवश्य रहता है। हृदय की नाड़ी दुर्बल अवस्था में जिन धातुओं से मिली रहती है। उस धातु का संबन्ध स्वप्न दृश्य में अवश्य हो जाता है अर्थात् पित्त की वृद्धि में अग्नि का, कफ की वृद्धि में जल का, वायु की वृद्धि में उड़ने या भय का अधिक दृश्य देखा जाता है। इन सब की अधिकता भी नाड़ी की दुर्बलता ही से होती है। हिता नाम की नाड़ियां जो हृदय स्थान से सर्वाङ्ग शरीर में फैली हुई हैं जिन की संख्या ७२००० हैं, उन्हीं नाड़ियों में किसी किसी की दुर्बलता के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के अद्भुत अद्भुत स्वप्न दृश्य दिखाई दिया करते हैं। कल्पना करो कि किसी मनुष्य के यह हृदय से फैली हुई हितानाड़ी बहुत कम दुर्बल है, अथवा सर्वथा दुर्बल नहीं है तो ऐसे मनुष्य या तो स्वप्न देखते नहीं, अथवा स्वल्प-काल में स्वल्प-मात्रा में देखते हैं। किन्तु यह सब स्वप्न-दृश्य हृदय के आकाश में ही होते हैं और जाग्रत के अनुसार हृदय में ही बैठा हुआ विज्ञान आत्मा उसे देखा करता हैं। जाग्रत अवस्था में यह विज्ञान आत्मा इन्द्रिय में जगत् के दृश्यों को देखता है और ध्यानस्थ होकर विचार करने में विचारित पदार्थों को स्वप्न के अनुसार प्रज्ञान से ही बनाकर हृदयस्थान में ही देखता हैं। इस जाग्रत में दोनों स्थानों से काम लेता है, किन्तु स्वप्न में इन्द्रियों को छोड़कर केवल हृदय से ही काम लेता है।

## ३—सुषुप्ति या स्वप्नान्त अवस्था

जबकि न जाग्रत के अनुसार न स्वप्न के अनुसार कुछ देखता है, न सोचता है जबकि सभी इन्द्रियाँ मन किसी विषय को ग्रहण नहीं करती तो उस समय यह विज्ञान आत्मा निर्द्वन्द अर्थात् अकेला रहता है, उसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं।

हृदय से प्रथम १०१ नाड़ी मुख्यता से निकलती हैं फिर उनके एक-एक में से सौ-सौ नाड़ियाँ (शाखा) निकली हैं फिर उनके एक-एक में से ७२००० नाड़ियाँ प्रति शाखा हुई हैं। इन सब नाड़ियों को जो सर्वाङ्ग शरीर में फैली हुई हैं इनको हितानाड़ी कहते हैं। इनमें व्यान वायु विचरता हुआ रहता है इस प्रकार नाड़ियों की व्याख्या पिप्पलाद ऋषि ने की है। जिस समय विज्ञानआत्मा जाग्रत् या स्वप्न में न रहकर सुषुप्ति में रहता है उस समय इन्हीं नाड़ियों में व्याप्त हो जाता है वह तेज पित्त से प्रज्वलित होकर इस प्रकार तीव्र हो जाता है कि उसके उस समय कोई भी वस्तु यहाँ तक कि नाड़ियों के चर्म भी स्पर्श नहीं करते। उसके तेज से विकीर्ण होकर (धक्का पाकर) सब पदार्थ दूर हो जाते हैं, और वह अपने स्वरूप में स्वच्छ निर्विकल्पक रहता है, अर्थात् अपने निज स्वरूप में रहता है ये हिता-नाड़ियाँ हृदय से ऊपर नीचे चारों ओर फैली हुई हैं, उन सब में जबकि ज्ञान व्याप्त रहता है तभी जाग्रत होता है। किन्तु जबकि शिर की ओर जाने वाली ऊपर की नाड़ियों में न रहकर हृदय और हृदय के नीचे नाड़ियों में रहता है तब स्वप्न होता है। किन्तु जबकि हृदय को भी छोड़ देता है अर्थात् जो नाड़ियाँ हृदय से नीचे पुरीतत (छोटी बड़ी आँतें) नाड़ियों की ओर जो ७२००० शाखायें गई हैं उनके द्वारा पुरीतत नाड़ी तक पहुँचकर शान्त हो जाता है उसी को सुषुप्ति कहते हैं। इन्द्रियों के स्नायु हृदय में गये हैं इसीलिये हृदय में प्रज्ञात्म इन्द्रियों के रसों को लेकर विज्ञान आत्मा के प्रकाश में नाना

प्रकार के दृश्यों को दिखा सकता था, किन्तु जबकि ज्ञानआत्मा हृदय आकाश को छोड़कर नीचे रहता है तो हृदय में अन्धकार होने से वहाँ इन्द्रियों का कोई भी भाव प्रज्ञान में नहीं आता इसीलिये प्रज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये हृदय आकाश में जो स्वप्न पहले दीखते थे अब नहीं देखते हृदय हृदय के नीचे पुरीतत नाड़ी में ज्ञान का प्रकाश रहने पर भी इन्द्रियों के स्नायु वहां न पहुँचने से किसी भी इन्द्रिय के धर्मों को प्रज्ञान आत्मा ग्रहण नहीं करता, इसलिये विज्ञान के प्रकाश में कोई दूसरी वस्तु ही नहीं आती जो उस विज्ञान से प्रकाशित होती। इसलिये उस समय कोई भी इन्द्रियों की वृत्ति नहीं होती इससे वह विज्ञानआत्मा उस समय देखता हुआ भी नहीं देखता, सुनता हुआ भी नहीं सुनता, अर्थात् उसकी शक्ति प्रकाश करने की जाग्रत् स्वप्न के अनुसार इस समय भी ज्यों की त्यों बनी हुई है, किन्तु सामने दूसरी वस्तु के न होने से किसी विषय का भी ज्ञान नहीं होता।

अजातशत्रु काशीराज ने ही पहले-पहल प्रज्ञान आत्मा से संश्लिष्ट विज्ञान आत्मा का हितानाड़ी द्वारा पुरीतत में जाना निरूपण किया है। विज्ञानआत्मा का हृदय छोड़कर पुरीतत में रहना शङ्कराचार्य ने असम्भव समझकर हृदय का परिवेष्टन कल्पना करके उसका नाम पुरीतत रक्खा है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक परकोटे से घिरे हुए नगर में बड़े भवन में एक छोटी कोठरी में बैठे हुए आदमी के लिये तीनों प्रकार से व्यवहार किया जाता है। वह आदमी एक ही समय में खास कोठरी में है, बड़े भवन में है, और नगर में है, इसी प्रकार पुरीतत नाम के हृदय के अन्दर जो दहराकाश है उसमें रहने वाला विज्ञान आत्मा एक ही समय में तीनों स्थान में कहा जा सकता है। वह दहराकाश में है, हृदय में है, पुरीतत में है। पुरीतत में जाना कहने से हृदय का छोड़ना नहीं माना जा सकता। वह केवल सुषुप्ति-काल में असङ्ग होकर विषयों को स्पर्श नहीं करता इतने ही से सुषुप्ति हो जाती है, इस प्रकार शङ्कर का मत है। परन्तु दहराकाश में रहते हुए विज्ञान आत्मा का सुषुप्ति काल में हृदय के वेष्टन पुरीतत में जाने का वर्णन करना व्यर्थ ही दीखता है। क्योंकि यदि हृदय वेष्टन ही पुरीतत है तो उसके भीतर वह तीनों अवस्थाओं में समान भाव से रहता है, फिर खासकर सुषुप्ति काल में ही पुरीतत कहने का कोई तात्पर्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि हृदय वेष्टन की कल्पना करना निःसार है, क्योंकि हृदय खुद चर्ममय है उसका कोई वेष्टन प्रत्यक्ष में नहीं देखा जाता। तीसरी बात यह है कि अमरकोश आदि कोश ग्रन्थों में आंतों का ही नाम पुरीतत कहा है। हृदय वेष्टन के लिये पुरीतत शब्द कहीं भी नहीं आया इसलिये असली अर्थ पुरीतत का छोड़कर मिथ्या पुरीतत कल्पना करना अनुचित है।

पिप्पलाद आदि ऋषियों ने इस विज्ञानमय आत्मा को अशरीर और अक्षर कहा है। अशरीर वह कहलाता है कि जिसके शरीर का कोई परिमाण नियत न हो जैसे हवा, पानी, बादल ये सब अशरीर और वह विज्ञान हैं। अच्छा ये शुभ्र (चमकदार) है वह जाग्रत् स्वप्न में कितने ही मृत्यु के रूपों को अपने में लेकर भिन्न-भिन्न दृश्यों को विकासित करता है। किन्तु सुषुप्ति काल में मृत्यु के किसी रूप से स्पर्श नहीं करता और न किसी संस्कार को लेकर स्वप्न ज्ञान ही बनता है। मैं भीतर हूं या बाहर यह ज्ञान भी नहीं होता उस समय निष्काम शोकातीत निज के आनन्द में मग्न रहता है। यह उसकी ऐसी दशा होना परा सम्पत्ति है, परागति है। यह उसका परमलोक कैवल्यानन्द है।

## मतान्तर (दूसरा या तीसरा)

किसी किसी का मत है कि इस सूर्य में जो पुरुष दीखता है वह मृत्यु है, उसके भीतर अमृत है। मृत्यु और अमृत दोनों अत्यन्त ओतप्रोत हैं जैसा कि श्रुति कहती है—

**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् ।**
**मृत्युर्विवस्वन्तंवस्ते, मृत्योरात्मा विवस्वति ।।**

इसी अमृत और मृत्यु के सम्मिलितरूप से हमारी विज्ञानआत्मा बनती है। उस आत्मा के मृत्युभाग में आसक्ति हो सकती है, इसलिये उसी भाग में विज्ञानआत्मा के साथ अज्ञानआत्मा सम्मिलित होती है और अज्ञान के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध है, सब इन्द्रियां अपने-अपने विषय को जिस प्रकार प्रज्ञान आत्मा में पहुँचाती है वही विज्ञान आत्मा के मृत्यु भाग में पहुँचकर विज्ञान आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। इसी को जाग्रत् ज्ञान या स्वप्नज्ञान कहते हैं। किन्तु यह विज्ञान का मृत्युभाग अपने स्वभाव से ही जब अन्तर्मुख अथवा बाहर के विषयों का ग्रहण करने से थक जाता है तो कुछ समय तक विश्राम के लिये शान्ति की इच्छा से वह मृत्युभाग अन्तर्मुख हो जाता है। अन्तर्मुख होते ही वह मरकर अमृत में लय हो जाता है। उस अवस्था में बिना मृत्यु केवल अमृतभाग विज्ञानआत्मा का रह जाता है और वह असङ्ग है इसलिए उस भाग में प्रज्ञात्मा का सङ्ग नहीं होता इसीलिए प्रज्ञानआत्मा के सम्बन्धी इन्द्रियों के भी विषयों का सङ्ग नहीं होता ऐसी अवस्था में हृदय के दहराकाश में ही उस विज्ञान आत्मा के रहने पर भी और वहां ही प्रज्ञात्मा के रहने पर भी और उस प्रज्ञान में सब इन्द्रियों के विषय जाने पर भी किसी विषय का ज्ञान नहीं होता, इसी को सुषुप्ति अवस्था कहते हैं।

## १०—उत्क्रमण

यह विज्ञानात्मा यद्यपि असङ्ग है तथापि उसका मृत्युभाग जो आसक्तिमान् है उसमें प्राज्ञ आत्मा परिष्वक्त (पका हुआ) अर्थात् अलिङ्गित रहता है उसी के कारण से यह विज्ञानआत्मा भी शरीर के भीतर प्रवेश करके शरीर बनता है और शरीर में रहने के कारण कितने ही परम्परा (गदला करने वाला) अर्थात् ज्ञान विरोधी जड़ धर्म अर्थात् जिसके संसर्ग से ज्ञान कलुषित होकर मलिन हो जावे ऐसे धर्मों से संसृष्ट हो जाता है। जब तक प्राणी का जीवन रहे तब तक यह (मिला हुआ) विज्ञानआत्मा इसी प्रकार कलुषित होकर अल्पज्ञ रहता है। किन्तु जब यह विज्ञान शरीर को छोड़कर मुक्तिकाल में उत्क्रमण करता है तो उस समय कलुषित करने वाले इन जड़ धर्मों को जो शरीर में संसृष्ट हो गये थे। उनका सर्वथा त्याग करता है और शुद्ध निज रूप से निकल जाता है जिस प्रकार फल अपने बन्धनों से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार यह विज्ञान आत्मा भी जो प्रत्येक अङ्गों से बंधा हुआ था सबसे बन्धन तोड़कर संकुचित होकर प्राज्ञआत्मा सहित सब इन्द्रियों को साथ लिये हुए केवल एक हृदय के अग्रभाग में आ ठहरता है। उस समय शरीर के किसी अङ्ग में यदि स्पर्श करें तो बोध नहीं होता, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है किन्तु केवल उसका हृदय छूने से धड़-धड़ी का कम्प ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय सब प्राणों को साथ लिये हुए विज्ञानमय मुख्य प्राण केवल हृदय में अपना व्यापार करता है।

मुमूर्षु (मरनेवाला) के मरण से कुछ पूर्व तक हृदयमात्र में अन्तर्बोध रहता है। उसी ज्ञान प्रकाश के साथ सब इन्द्रियां प्राणों को लिये हुए मुख्य प्राण ब्रह्मरन्ध्र के छिद्र से निकलती है। यदि उस विज्ञान से मिले हुए प्राज्ञात्मा में पापरूपी दुर्वासनायें भरी हो, तो उसी दुर्वासना की मात्रा के अनुसार भारी होकर वह विज्ञानमय प्राण नीचे की ओर झुक जाता है। इसलिए ब्रह्मरन्ध्र के द्वार से न निकलकर कदाचित् चक्षु से या और किसी शरीर के भाग से निकलता हुआ देखा गया है। मृत्यु के समय जिस अङ्ग से आत्मा निकलता है उस अङ्ग में कुछ न कुछ विकार अवश्य हो जाता है। जो आत्मा निकल जाता है उसमें सब ज्ञानेन्द्रिय, सब कर्मेन्द्रिय, मुख्य प्राण, विज्ञानआत्मा और प्रज्ञानआत्मा और भूतों का अनुशय इतने साथ होकर सम्मिलितरूप में उत्क्रमण करता है। स्वप्नकाल में जिस प्रकार का या जितना बोध प्राणी को रहता है, उसी प्रकार का उतना ही बोध उत्क्रमण के पीछे भी रहता है। यह इतनी आत्मा की मात्रा सूर्य, चन्द्रमा और चिदात्मा के रसों से बनी हुई होती है, वह अत्यन्त मङ्गल और अत्यन्त पवित्र है। जब तक वह आत्मा शरीर में रहता है तब तक शरीर के अपवित्र भागों को भी पवित्र रखता है। नख, केश, मांस, शोणित आदि सब शुद्ध रूप में अनुभूत (ज्ञात) होते हैं। किन्तु ये सब जीवित शरीर से भी अलग करने पर अपवित्र हो जाते हैं और शरीर से आत्मा के उत्क्रमण होने से मृत्यु होने पर इस शरीर के सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग उसी समय सड़ने लगते हैं। थोड़े ही समय में अत्यन्त दुर्गन्धि निकलकर बाहर के वायु तक को गन्दा कर देती है। यह सड़ना या दुर्गन्ध होने की क्रिया जीवितदशा में भी अवश्य ही जारी रहती होगी। किन्तु इसी पवित्र आत्मा के कारण ये सब दोष दूर होकर यह शरीर अत्यन्त सुन्दर निर्मल और पवित्र बना रहता है। इस शरीर की पवित्रता से उस आत्मा की पवित्रता सिद्ध होती है।

## महान् आत्मा

पिप्पलाद ऋषि ने कहा है कि यह आत्मा षोड़शी है, अर्थात् सोलह कला वाली है। वे १६ कलायें ये हैं। १ प्राण, २ श्रद्धा, ३ से ७ तक पञ्चभूत, ८ इन्द्रिय, ९ मन, १० अन्न, ११ अन्न से उत्पन्न वीर्य, १२ तप, १३ मन्त्र, १४ लोक, १५ नाम, १६ कर्म। जिस प्रकार रथ चक्र की नाभि में चारों ओर अरे जुड़ी रहती है, उसी प्रकार इस पुरुष में ये १६ कलायें चारों ओर ठहरी हुई हैं। जिस सूर्य से रश्मियाँ उत्पन्न होकर उसी के चारों ओर फैली हुई उसी मण्डल में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार ये कलाएं भी इस आत्मा में उत्पन्न होकर उसी के चारों ओर फैली हुई उसी आत्मा में लीन हो जाती हैं। जिस प्रकार बहुत सी नदियाँ समुद्र में लीन होकर अपने नाम रूप को खो देती हैं, उसी प्रकार पुरुष में लीन होने पर इन सोलह कलाओं के नाम रूप भी नष्ट हो जाते हैं। केवल यह शुद्ध आत्मा ही रह जाता है। विचार करने से ये सोलहों पदार्थ इस शरीर में पाये जाते हैं। किन्तु इनका विशेष वर्णन पिप्पलाद ऋषि ने स्पष्ट नहीं किया है। और किसी ऋषि ने भी इनका उल्लेख नहीं किया है। अलबत्ता आजकल के नये पश्चिमी विद्वान् शरीर का विचार करते हुए इस शरीर में सोलहों पदार्थ मानते हैं। उनके नाम ये हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १—ऑक्सीजन | ( अम्लजन ) | Oxygen |
| २—हाइजन | (यद्रुजन=बहती हुई) | Hydrogen |
| ३—नाइट्रोजन | (नक्तद्रुजन=स्याही) | Nitrogen |

| | | |
|---|---|---|
| ४—कार्बन | ( अङ्गार=कोयला ) | Carbon |
| ५—सल्फर | ( गन्धक ) | Sulphur |
| ६—फासफोरस | ( पस्पर्श ) | Phosphorus |
| ७—सोडियम | ( ) | Sodium |
| ८—पुटासियम | ( ) | Potassium |
| ९—कैलसियम | ( चूना ) | Calcium |
| १०—मैग्नीशियम | ( ) | Magnesium |
| ११—लीथियम | ( ) | Lithium |
| १२—फ्लोरिन | ( ) | Florin |
| १३—क्लोरिन | ( ) | Chlorine |
| १४—ग्रायोडीन | ( ) | Iodine |
| १५—सिलीकन | ( शिलाकण ) | Silicon |
| १६—ग्रायरन | ( लोह ) | Iron |

इस शरीर के मूलतत्त्व ये ही १६ बताये गये हैं। हड्डी, मांस, त्वचा, वसा (चर्बी) मूत्र, शुक्र, ग्रादि सभी पदार्थ इन्हीं १६ मूल तत्वों के ग्रावाप (कुछ मिलाना) उद्वाप (निकालना) से बने हुये हैं। इस प्रकार आधुनिक परीक्षा से भी शरीर में १६ ही तत्व सिद्ध होते हैं ग्रौर प्राचीन महर्षियों ने भी इस शरीर में १६ तत्व माने हैं, परन्तु इन नामों के परस्पर संबन्ध ठीक नहीं जचते हैं, इसलिए उनका विचार केवल इतना ही किया जाता है, इस षोडशी ग्रात्मा को इन्द्र कहते हैं।

## महान् ग्रात्मा का जन्म प्रकार

१—पाँच कोशों में से तीसरा जो मनोमय कोश है अर्थात् प्राणों से भरा हुआ प्रकाशवान् ग्राकाश के सदृश मनोमय ग्रात्मा है। वह प्राण शरीर प्रकाश रूप और सदृश ग्रात्मा है।

२—चन्द्रमा का रस जो ग्रमृत ग्रौर मृत्यु दोनों का सम्मिलित रूप है, उसी से यह ग्रात्मा बना है।

३—कौषीतकीय ब्राह्मण में कहा है कि जो ग्रात्मा इस पृथ्वी से निकल कर जाता है वह ग्रवश्य ही चन्द्रमा में जाता है। भूतात्मा महान् ग्रात्मा से संमिलित होकर चन्द्रमा से फिर चाहे मुक्ति मार्ग में जाय या स्वर्ग मार्ग में जाय ग्रौर नरक मार्ग में जाय या वापिस पृथ्वी में जन्म लेवे इन में चन्द्रमा से लौटकर जब पृथ्वी में ग्राता है तब श्रद्धामय रहता है। श्रद्धा यह नाम सोम में रहने वाले पानी का है। वह श्रद्धा सूर्य के रश्मिस्थित देवताओं के द्वारा द्यौ में हवन किया जाता है। जब तक वह श्रद्धा (जो ग्रापोमय था) सोम हो जाता है। उस सोम की पर्जन्य (बरसाती हवा) के शरीर में ग्राहुति होने से वर्षा होती है। वर्षा जल की पृथ्वी में ग्राहुति होने से ग्रन्न होता है। अन्न की पुरुष के उदराग्नि में ग्राहुति होने से शुक्र होता है उस शुक्र की स्त्री के गर्भाशय में आहुति होने से गर्भ होता है। इस प्रकार से श्रद्धा, सोम, वृष्टि, ग्रन्न, शुक्र, इन पाँच ग्राहुतियों के द्वारा इसी मार्ग से चन्द्रमा से लौटती हुई ग्रात्मा

गर्भ में प्रवेश करती है जिसका छठे मास में विकास होने से चेतन होकर वह गर्भ सातवें या दसवें मास में जन्म लेता है। यही चान्द्र आत्मा महान् कहलाता है, यही मनोमय है। इस मन की जन्म से सोलहवें वर्ष में सोलहों कलाओं का विकास या परिपाक होकर पूर्णता होती है तभी बालकपना मिटता है। स्त्री के शोणित रूपी अग्नि में पुरुष का शुक्र रूपी सोम आहुत होता है। यह पुरुष का शुक्र चन्द्रमा के सोम से उत्पन्न होता है। उसका क्रम यह है—

चन्द्रमा जिस समय उदय होता है उसी समय से अस्त होने तक अन्न रस से बने हुए शुक्र में अपने किरण लगातार डालता रहता है। अस्त होने पर फिर उदय तक उन किरणों के न आने से उन पहली आई हुई किरणों का एक थोक बनकर बिन्दुरूप हो जाता है। वह चन्द्रमा के अस्तकाल में पककर दृढ़ हो जाता है। जिससे फिर चन्द्रोदय में आए हुए किरणों के कच्चे रस का उस बिन्दु से मेल नहीं होता। इसलिये २८ दिन के चान्द्रमास में २८ नक्षत्रों का भिन्न-भिन्न रस चन्द्रमा के रस से मिलकर पुरुष के शुक्र में २८ प्रकार के बिन्दु उत्पन्न कर देते हैं। २८ दिन के पश्चात् फिर वह चन्द्रमा अपने पहले स्थान में आ जाता है और उसी पहले नक्षत्र से मिलकर जो शुक्र में नया बिन्दु उत्पन्न करता है वह २९ वें दिन वाले पहले बिन्दु के सजातीय ही होता है, नयेरूप का नहीं होता। इसलिए शुक्र में कुल २८ जाति के ही बिन्दु उत्पन्न होते रहते हैं। उन २८ बिन्दुओं का एक एक पिण्ड बनता है यही पिण्ड चन्द्रमा से आये हुए चतुर्थ आहुति वाले शुक्रमय आत्मा का स्वरूप है। यह पिण्ड बिगड़ता और बनता रहता है, यह २८ नक्षत्रों के रस से युक्त होता है, जिस नक्षत्र में पुरुष का जन्म होता है उसी नक्षत्र वाले दिन के सोम बिन्दु से इस पिण्ड का आरम्भ होता है, वही महान् का मुख्य है। यह पिण्ड शुक्र के द्वारा स्त्री के गर्भाशय में जाकर अग्नि से संयोग करके शुक्र शोणित से शरीर का सङ्गठन होने पर चन्द्र छठी आवृति में पूर्ण बल पाकर छठे मास में विकसित होता है, अर्थात् छठे मास में सब अङ्ग विकसित होकर पृथक् चेतना का स्वरूप धारण करता है इसी महान् के विकसित या स्पष्ट होने पर विज्ञानमय आत्मा या प्रज्ञानमयआत्मा भी उद्बुद्ध होते हैं।

इस प्रकार जिस शुक्र में महान् आता है वह शुक्र जिस एक स्थायी महान् आत्मा का है उसी स्थायी महान् आत्मा के एक एक अङ्ग में से रस निकलकर उसी स्थायी महान् के आकार का भ्रूणमय शुक्र बनता है। उस शुक्र का बना हुआ जो स्थायी महान् का आकार है उसमें यह भ्रूणमय चन्द्रमा में से आगन्तुक (आया हुआ) महान् अङ्ग अङ्ग से जड़कर जहां के तहां संनिविष्ट होकर दोनों एक रूप में आकर एक ही महान् आत्मा बन जाता है। यही इस चन्द्रमा से आगन्तुक (आये हुए) महान् आत्मा का पृथ्वी में पहला जन्म है, वह स्त्री में जाकर शोणित से मिलकर दूसरी बार जन्म लेता है। इस जन्म में स्त्री की आत्मा और वह आत्मा एक होती है, फिर स्त्री की आत्मा से निकल कर जब भूमिष्ठ होता है, वह उसका तीसरा जन्म है। मरने के पश्चात् जब अग्निदाह करते हैं तब उस अग्नि के द्वारा फिर उस आत्मा का दिव्ययोनि-में जाने के लिये चौथा जन्म होता है। इस प्रकार ब्राह्मण के शरीर का पृथ्वीलोक में चार बार तक जन्म होता है। पिता के गर्भ में, माता के गर्भ में, पृथ्वी के गर्भ में और और अग्नि के गर्भ में ये चारों जन्म तो इस पृथ्वीलोक में प्राकृतिक हैं। किन्तु उपनयन संस्कार भी वेद के गर्भ में ब्राह्मण का जन्म माना जाता है यह जन्म संस्कृत या कृत्रिम है। जिनका उपनयन नहीं होता

या अन्त में दाह नहीं होता ऐसे प्राणियों के तीन जन्म होना स्वाभाविक है। किन्तु जो अयोनिज शरीर है जैसे लकड़ी में घुन उनका एक ही बार जन्म होता है। इस प्रकार इस महान् आत्मा के रहते हुए भूतात्मा का एक बार, तीन बार, अथवा पांच बार पृथ्वी में जन्म लेना सम्भव है।

## सपिण्डविचार

किसी मनुष्य के शरीर में जो शुक्र में चन्द्रमा से २८ दिन का रस आकर २८ बिन्दु का एक पिण्ड बनता है। वह पिण्ड स्त्री के गर्भ में प्रवेश करते समय सब नहीं जाता, किन्तु उसमें से २१ बिन्दु का एक भाग स्त्री के गर्भ में जाकर उस से पुत्र उत्पन्न होता है और ७ बिन्दु का भाग पिता के शरीर में स्थायी रूप से रहता है इसी प्रकार वह २१ बिन्दु का भाग जो पुत्र में गया है उस से १५ बिन्दु का भाग निकलकर पौत्र बनता है और छः भाग पुत्र के शरीर में स्थायी रूप से रहता है। उस १५ भाग में से १० भाग निकलकर प्रपौत्र का शरीर बनता है और ५ भाग पौत्र के शरीर में स्थायी रूप से रहता है। १० भाग में से ६ भाग निकलकर वृद्ध प्रपौत्र बनता है और ४ भाग स्थायी रूप से प्रपौत्र में रहता है। ६ भाग में से तीन भाग निकलकर अति वृद्ध प्रपौत्र बनता है और ३ भाग वृद्ध प्रपौत्र में रह जाता है। ३ भाग में से १ भाग से वृद्धातिवृद्ध प्रपौत्र बनता है और दो भाग अति वृद्ध प्रपौत्र में रह जाता है। फिर वह १ भाग भी वृद्धातिवृद्ध पौत्र में ही रह जाता है। आठवीं पुश्त में उस २८ बिन्दु का कुछ भी भाग नहीं जाता इसलिये २८ बिन्दु के पिण्ड का ७–६–५–४–३–२–१ इस क्रम से सात पुरुष (पुश्त) में सन्तान अर्थात् फैलाव होता है, इसलिये इन सात को सन्तान कहते हैं, और इन सातों में एक ही पिण्ड के भाग विभक्त होकर रहते हैं। इसलिये इन सातों को सपिण्ड कहते हैं। इस पिण्ड का आठवीं पुश्त में कुछ भी भाग नहीं रहता, इसलिये वह सपिण्ड नहीं कहला सकता। इसके लिये शास्त्र का वचन है—

"**सापिण्डयं साप्तपौरुषम्**– अर्थात् सपिण्डता सात पुरुष तक है।

प्रत्येक मनुष्य किसी के अनुरोध से ७ वीं पीढ़ी का है और किसी के ६ ठी पीढ़ी का और किसी के ५वीं, ४थी, ३री, या दूसरी का है। इसलिये पिण्ड का एक बिन्दु किसी के दो या तीन, चार, पांच, छः सात जिसका यह पुत्र है उसका २१ वां अंश, उसके प्रतिमाह का १५ अंश, और उसके प्रतिमाह का १० अंश, और वृद्ध प्रपितामह का ६ अंश और अतिवृद्ध प्रपितामह का ३ अंश, और वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह का १ अंश इस प्रकार ४६ अंश पितरों को लेकर प्रत्येक मनुष्य उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् उसमें २८ अंश खुद का उत्पन्न होता है। इस प्रकार दो भाग पितरों का और एक भाग निज का कुल मिलाकर सोम के चौरासी अंश प्रत्येक महान् आत्मा में होता है। किन्तु जब वह पुत्र उत्पन्न करता है तो २८ में से ७, २१ में से ६, १५ में से ५, १० में से ४, ६ में से ३ और ३ में से २ और १ पूरा अपने पास रखकर कुल २८ अंशमय पितरों के और निज के मिलाकर स्थायी रूप से रख लेता है बाकी ५६ अंश अपने पुत्र के शरीर के जिए समर्पण कर देता है ये २८ अंश जो उसमें शेष रह जाते हैं उनको जब उसकी मृत्यु होती है तब वह आत्मा चन्द्रमा में जाकर चन्द्रमा में रहते हुए छः पुरुषों को क्रम से १, २, ३, ४, ५, ६ देकर सात अंश अपने पास रख लेता है, इसी को सपिण्डीकरण क्रिया कहते हैं।

अर्थात् जिन पितरों का जितना पिण्डभाग इसने अपने शरीर के लिए रख लिया था उनको वापस पितरों को समर्पण करके पितृऋण से मुक्त हो जाता है। उन पितरों के इस प्रकार अपने २८ बिन्दु वाले पिण्ड के सब भाग जब तक वापस न मिल जायँ तब तक उनके पिण्ड का अंश सन्तान रूप से पृथ्वी पर रहने के कारण पृथ्वी आकर्षण बना रहता है। इसी से वे पितर चन्द्रमा से निकल कर सूर्य में जा नहीं सकते। अर्थात् उनकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार पितर का बन्धन चन्द्रलोक में बना रहता है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में लिखा है—

"अपुत्रस्यगतिर्नास्ति" अर्थात् बिना सन्तान के पितरों का पितृलोक अर्थात् चन्द्रमा से गति नहीं होती। किन्तु मरकर मनुष्य जब चन्द्रलोक में पितरों का उनके पिण्ड का अंश उलटा देता है तो उनमें जिसको अर्थात् वृद्धातिवृद्ध प्रपितामह को जो सातवीं पीढ़ी में थे उनको एक अंश देता है। जिससे उनके २८ अंश के सब भाग पूरे आ जाते हैं। अब उनका कुछ भी अंश पृथ्वी पर नहीं रहता जिससे पृथ्वी पर उनके सूत्र का बन्धन टूट जाता है और वह एक पितर उसी समय चन्द्रलोक से निकल कर सूर्य में चले जाते हैं और उनकी मुक्ति हो जाती है। इस प्रकार पितरों को मुक्ति पहुँचाना—यही पुत्र का मुख्य-पुत्र धर्म है।

२८ बिन्दु के पिण्ड का जो महान् आत्मा उत्पन्न हुआ था वह आत्मा कुछ थोड़े अंश से पिता में रहकर बाकी २१ अंश लेकर पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न हुए पुत्र में पाँच और पित्तरों का भाग शामिल रहता है। इस प्रकार कह सकते हैं कि छ पितरों को छ महान् आत्मा कमी वेशी अंशों से एकत्र होकर एक पुरुष (मनुष्य) उत्पन्न होता है। उन छओं अवयवों के अवयवी छ पितर जो चन्द्रमा में रहते है ये श्रद्धा सूत्र से संवन्ध करते हैं। इस प्रकार पैतृक षट्कोश से षाट् कौशिक शरीर उत्पन्न करके सातवाँ कोश स्वयं उत्पन्न करता हैं। इस प्रकार सात कोश का बना हुआ महान्, प्रकृति कहलाती है। इसी प्रकृति की अधीन क्षेत्रज्ञ आत्मा की परिस्थिति रहती है। प्रायः सातों प्रकार का महान् वाला शुक्र विशेष कर तिर्यक् स्रोता होता है। उसके सातों कोशों के शुक्र ओज के स्वरूप में परिणत होते हुए नित्य क्षीण होते है। और फिर नित्य ही उत्पन्न होते रहते हैं। यदि कोई पुरुष ऊर्ध्वरेता या स्रोत हुआ तो उसके सब शुक्र ओज में परिणत होते ही तत्काल मन में परिणत हो जाता है। उस सब से वह जो विचार या चिन्ता करता है उस में वह मन खर्च होता रहता हैं। किन्तु जो अधो रेता (अधःस्रोत) पुरुष हैं उनके वे सातों कोशवाला शुक्र स्त्री के गर्भ में आहुत होकर अपत्य (औलाद) बनते हैं। उसी स्थिति में उन सातों कोशों के पूर्वोक्त नियमानुसार दो दो भाग होकर ८४ भाग में से २८ भाग पिता में रह जाते है। और ५६ भाग से पुत्र का शरीर बनता है। जो २८ भाग पिता में रह गये थे उनमें फिर चन्द्र किरणों के रस आकर फिर ८४ अंश पूर्ण हो जाते हैं। फिर पुत्र उत्पन्न होने पर २८ अंश पिता में रह जाते हैं जिन के फिर ८४ अंश हो जाते हैं। इसी प्रकार आजीवन होता रहता है।

## पितृस्वधा

पितृगण जो अट्ठाईस २ अंशों का पिण्ड बनाकर अपना स्वरूप धारण करते हैं, उस पिण्ड में से कुछ कुछ अंश अपने सात पीढ़ी के सन्तानों में सन्तनन (फैलाते हैं) करते हैं। वे सातों पीढ़ी में उनके

अंश "स्वधा" कहलाते हैं। क्योंकि वे अंश पितरों के "स्व" है, अर्थात् निज का अंश है। वे "स्व" अंश सन्तानों में धारण कराये गये हैं। इसलिये स्वधा कहलाते हैं। और उन पितरों को स्वधायी कहते हैं। अथवा "स्व" नाम आत्मा का है। क्षेत्रज्ञ आत्मा महान् आत्मा में रहकर इस "स्व" को धारण करता है, इसलिये पितर गण भी स्वधायी कहलाते हैं। और उनका अंश स्वधा कहलाता है। इसी प्रकार "स्व" का अर्थ आत्मा है। क्षेत्रज्ञआत्मा में सम्पूर्ण देवतागण व्याप्त रहते हैं, उन्हीं देवताओं के अंशों को स्वाह कहते हैं। + ("स्व"=क्षेत्रज्ञ, आहा=व्याप्त) अथवा स्व का अर्थ क्षेत्रज्ञ आत्मा उसको अहान अर्थात् न छोड़ने वाला अर्थात् क्षेत्रज्ञ से पहुँचने वाला जो अन्न है उसको स्वाहा कहते हैं।

## महान् का ४ प्रकार से शरीर में रहना

यह महान् आत्मा श्रद्धामय है। यह श्रद्धा चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का (तरल वस्तु) आप है। यही मनुष्य के शरीर की योनि (सांचा) है। यह महान् इस शरीर में ४ प्रकार से रहकर अपना काम करता है। आकृति, प्रकृति, आत्म वृति और अहंकृति, इन्हीं चारों महान् का आगे विचार करते हैं।

## १–आकृतिमहान्

सभी योनियों में जो भिन्न भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ दीखती हैं उन्हीं को आकृति कहते हैं। अर्थात् मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बैल, भैंस, इत्यादि योनियों के आकार अनादि काल से नियत हैं। मनुष्य की विक्तियाँ १०० वर्ष से अधिक नहीं रहती, परन्तु मनुष्य की आकृति अजर, अमर है। लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य की यह आकृति मौजूद थी और लाखों वर्ष पश्चात् भी ऐसे ही रहेगी, और उन मनुष्य का स्वभाव आदि शरीर गत सभी धर्म पूर्व काल में जैसे थे उत्तर काल में भी वैसे सी रहेंगें। पक्षी जैसे उड़ते थे सदा उड़ते रहेगें। तात्पर्य यह है कि जिस आकृति के साथ जैसा शरीर धर्म नियत हो चुका है वह उस आकृति के साथ अवश्य ही लागू रहता है। (नित्य सम्बन्ध) ये आकृतियाँ अवश्य ही प्रकृति का लिहाज करती हैं, अर्थात् जैसी प्रकृति होती है वैसी ही आकृति बनती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि शृङ्गार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, वीभत्स, रौद्र, शान्त इत्यादि मनोवृति के बदलने पर तत्काल ही आकृति में अन्तर पड़ जाता है। इसी नियम के अनुसार सर्व प्रथम योनि की आकृति बनते समय जैसी उस आत्मा की प्रकृति थी उसी के अनुसार काम करने योग्य उसकी आकृति बन गई अर्थात् मनुष्य हाथ से अन्न उठा कर मुख में रखने की प्रकृति रखता है और मुख में उस अन्न को चबाना चाहता है, इसलिये मनुष्य की आकृति में होठ मुलायम होकर होठों के भीतर दाँत उत्पन्न हुए किन्तु पक्षी के महान् आत्मा की प्रकृति ऐसी न थी वह अपने अन्न को मुख में ही उठाकर तोड़ना चाहती है इसलिये उसके होठ कड़े हो गये। और दाँतों के लिये जो रस आये थे उनका होठों पर खिचाव होकर दाँत बनकर वैसे ही कड़े अन्न के काटने योग्य हो गये अर्थात् चोंच बन गई। इसी प्रकार सब योनियों में

+ नमस्कार (मनुष्य) हन्तकार (प्रेत) स्वधाकार (पितर) स्वाहाकार (देवता) वषट्कार (इन्द्र)

जैसी जिसकी आकृति बनी है वह अवश्य ही उसकी वैसी प्रकृति से संबन्ध रखती है। शेर दाँत से हिंसा करना चाहता है इसलिये उसका दाँत नोकीले हुये। किन्तु बैल, हिरण, माथे से ठोकर मारने की प्रकृति रखते हैं इसलिये ऊपर दाँत बनाने वाले सब रस माथे की ओर खिंच आये। ऊपर के दाँत न बनकर उन रसों से नोकीले सींग बन गये। इसी प्रकार सभी आकृतियों में उन का भेद प्रकृति के अनुसार ही होने की परीक्षा हुई है।

मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवों का जो भिन्न भिन्न नियत आकार हैं यही भिन्न भिन्न महान् आत्मा है। जितने भूत, भविष्यत्, वर्तमान मनुष्य हैं सब में जो समानता पाई जाती है वही मनुष्य महान् का स्वरूप है। इसी प्रकार अश्व महान् के धर्म सब समान होंगे। गो महान् के धर्म भी सब समान होंगे। किन्तु मनुष्य आदि एक एक जातियों में जो जहाँ कुछ थोड़ा बहुत व्यक्तिगत भेद लक्षित होता है वह विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा के संसर्ग से महान के श्रद्धाभाग में परिवर्तन होने से होता है। विज्ञान का संसर्ग मिटने पर फिर श्रद्धा ज्यों की त्यों हो जाती है। जाति स्वभाव नहीं मिटता। किन्तु यदि किसी बल या उपचार से सर्वथा श्रद्धा बदलने का अभ्यास कराया जाय तो श्रद्धा के बदलने से महान् की आकृति भी बदल जायगी और वह दूसरी योनि का महान् दूसरी योनि का हो सकता है। संभव है कि मनुष्य श्रद्धा परिवर्तन के कारण किसी दूसरी योनि का महान् किसी आकृति की भावना करता हुआ दूसरे जन्म में उसी योनि में जन्म लेवे और उसका मनुष्य महान् बदलकर उस दूसरी योनि का महान् हो जावे यह परिवर्तन इसी जन्म में नहीं होने पाता इसका कारण भूत आत्मा का भौतिक शरीर सङ्गठन है। महान् के अत्यन्त कोमल श्रद्धामय शरीर की अपेक्षा भूतात्मा का भौतिक शरीर बलवान और कठिन होता है। इसलिये श्रद्धा के परिवर्तन से भौतिक सन्निवेश का परिवर्तन नहीं होने पाता। किन्तु कहीं कहीं ऐसा भी अनुभव हुआ है कि भृङ्गकीट की प्रबल भावना से मकड़ी का भौतिक शरीर भी भृङ्ग की आकृति में बदल जाता है। इसी प्रकार यह भी संभव है कि मनुष्यों में भी प्रबल प्रभाव योगियों के योग बल से श्रद्धामय भावना के द्वारा मनुष्य का शरीर भी पशु पक्षी आदि के शरीर में परिवर्तन कर दिया जावे तो यह आन्तरिक श्रद्धामय महान् शरीर के परिवर्तन से जो दुर्बल भौतिक शरीर पर परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है उसी से होना सम्भव है कितने ही भूत प्रेत के शरीरों में इस प्रकार भिन्न-भिन्न शरीर बदलने की बात देखी सुनी गई है वे भी नितान्त निर्मल निमूल नहीं हो सकते।

इस प्रकार के महान् जो कि नाना जातियों में बंटे हैं उन की सब जातियां प्राचीन समय में गिनकर विद्वानों ने ८४००००० स्थिर की हैं। जगत् में कुल योनियां इतनी ही हैं। अर्थात् इतने ही प्रकार की जीवों की आकृतियां है। उनके व्यक्तिगत आकृति भेद प्रज्ञान के संसर्ग से हुए है। इसलिये वे गौण हैं और एक-एक आकृति में जो अनन्तानन्त व्यक्तियां हैं उनकी भी संख्या नहीं हो सकती। अण्डज, पिण्डज (जरायुज) ऊष्मज (स्वेदज), उद्भिज्ज ये चार प्रकार के जीव हैं, जो चौरासी लाख हैं।

जितने महान् हैं इनकी आकृतियां योनिभेद के अनुरोध से जिस प्रकार नियत हैं, उसी प्रकार इन आकृतियों की ऊँचाई भी नियत है। पीपल, गूलर आदि बहुत से ऊँचे वृक्ष हैं वे अपनी जवानी में उस ऊँचाई पर अवश्य पहुँच जाते हैं। परन्तु एक तुलसी के वृक्ष को जल या दूध से सींचने पर भी पीपल की

ऊँचाई तक नहीं ले जा सकते। मनुष्य का शरीर भी आठ प्रादेश का होता है। अर्थात् १०॥ अंगुल के प्रादेश के हिसाब से ८४ अंगुल का मनुष्य शरीर होता है। यह इसकी नियत सीमा १२ अङ्गुल से न्यूनाधिक होती है। अर्थात् कम से कम ७२ अङ्गुल का और अधिक से अधिक ९६ अङ्गुल का होता है। यह शास्त्रीयमान है किन्तु अपने अंगुल से मनुष्य का शरीर ९६ अङ्गुल का होता है। यह मध्यम मान भी बड़े-बड़े अङ्गुल से न्यूनाधिक होता है। कम से कम ८४ अङ्गुल का और अधिक से अधिक १०८ अंगुल का। इससे ऊँचाई में मनुष्य का शरीर कदापि ऊंचा नहीं जा सकता। मनुष्य की पूरी ऊँचाई अर्थात् प्रपद से खड़े होकर हाथ ऊंचा करके किसी का स्पर्श करें तो यह उसकी ऊँचाई १२० अंगुल की होगी। यह पुरुषमान मनुष्य के शरीर की परमसीमा है। इस प्रकार ३॥ हाथ ४ हाथ या ५ हाथ ये तीन मनुष्य के नियत नाप हैं। इसकी न्यूनाधिक भी एक नियत मान से ही कही गई है। इसी प्रकार हाथी, घोड़ा, सिंह, शशक, मूषक आदि सभी महान् की भिन्न-भिन्न ऊँचाई देखी गई है। एक हाथ का मनुष्य अज्ञानी बालक होता है। उसका ज्ञान, बल इन्द्रिय शक्ति सब अल्प होती हैं। किन्तु उतनी ही ऊँचाई का बानर पूर्ण तरुण माना जाता है उसका ज्ञान, बल, इन्द्रियों की शक्ति सब पूर्णता को पाजाती हैं यह ज्ञान और बल का परिपाक उतने ही बड़े मनुष्य बालक में क्यों नहीं होते अथवा वानर के तरुण शरीर मनुष्य के अनुसार ३॥ हाथ की ऊँचाई पर क्यों नहीं जाते। इन सब प्रश्नों का उत्तर क्या है केवल "नियति" है किन्तु यह शरीर उत्पन्न विनिष्ट होते रहते हैं। इनकी स्थिरता न रहने से इनके साथ कोई नियम पूर्व-काल से सदा के लिये नियत नहीं हो सकते। इसलिये अवश्य कोई स्थायी शरीर है जिसके साथ ये ऊँचाई के नियम सब लागू हुए हैं। वही शरार महान् आत्मा कहलाता है जो कि ८४००००० योनियों में विभक्त हैं। शरीर की आकृति की यही नियति महान् आत्मा का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

## प्रकृति

मनुष्य मात्र की प्रकृति भिन्न-भिन्न देखी जाती है, परन्तु यह भिन्नता शरीर के भेद से होती ही है, किन्तु एक शरीर में भी एक ही आत्मा की प्रकृति भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न हो जाती है, यह प्रकृति स्वभाव कहलाती है। स्वभाव का अर्थ है आत्मा का भाव या वृत्ति। इसका तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञ आत्मा जो "स्व" कहलाता है उसको जो कुछ सुख दूःख मोह का भोग अर्थात् अनुभव होता है उसका कारण यही महान् है। कारण को प्रकृति कहते हैं। इसलिये यह महान् क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहा जाता है। क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहने से क्षेत्रज्ञ आत्मा के सब भोगों की प्रकृति जाननी चाहिये।

क्षेत्रज्ञ आत्मा की जितनी वृत्तियां होती हैं, जितने भोग होते हैं या जो कुछ वह करता है ये सब बातें प्रकृति अर्थात् महान् में ही संभव होते हैं। क्षेत्रज्ञ आत्मा कुछ नहीं करता। वह केवल साक्षी रूप से निर्विकार एक रस प्रकाश मान बना रहता है। किन्तु महान् के क्षेत्रज्ञ की प्रकृति होने के कारण महान् के सब धर्मों को क्षेत्रज्ञ पर अभिमान हो जाता है। इसलिये क्षेत्रज्ञ आत्मा न कुछ करता हुआ भी अपने को सब काम का करता मानता है। इसलिये गीता में लिखा है:—

**प्रकृतेः क्रियमाणनि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहंकार विमूढ़ात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते ।।**

अर्थात् प्रकृति के गुणों से सभी काम किये हुए होते हैं (क्षेत्रज्ञ आत्मा कुछ नहीं करता) किन्तु क्षेत्रज्ञ की प्रकृति के तमोमय अहंकार के योग से मोह पाकर वह क्षेत्रज्ञ आत्मा 'मैं करता हूँ' ऐसा मान लेता है ।

चलता हुआ मनुष्य जल्दी–जल्दी ओसरे से दोनों पाँवों को आगे पीछे करता रहता है। वह हर एक पैर के आगे पीछे करने के लिए उस समय खयाल नहीं करता, केवल चलने की इच्छा करते ही दोनों पाँव आगे पीछे होने लगते हैं ।। १ ।।

बालक जन्मते ही हाथ पाँव हिलाने लगता है या रोता है। किन्तु इसके लिए वह इच्छा करके यत्न नहीं करता, बिना चाहे भी ये सब काम अपने आप होते हैं । इससे सिद्ध हुआ कि काम करने वाले प्रज्ञात्मा पर प्रकृति का प्रभाव पड़ता है। उसके कारण विज्ञान आत्मा की अपेक्षा न रखता हुआ भी प्रज्ञान आत्मा प्रकृति से अर्थात् स्वभाव से वैसा करने लगता है ।। २ ।।

किसी शिक्षा या उपदेश आदि के द्वारा विज्ञानमय आत्मा बढ़ाया जा सकता है। किन्तु उसके कारण प्रकृति नहीं बदलती । जिस प्रकार महा मूर्ख साधु स्वभाव या क्रूर स्वभाव का होता है उसी प्रकार महाविद्वान् भी हो सकता है । विज्ञान बढ़ाने की शिक्षा का प्रभाव प्रकृति पर नहीं पड़ता है । यदि प्रकृति को बदलना चाहे तो उसके लिए भिन्न ही उपस्कार करना पड़ेगा । उसके कारण ये हैं—

मित्रों की शिक्षा, राजशासन, विशेष प्रकार का सात्विक या तामसिक भोजन, भय, अभ्यास और अवस्था या कालभेद इत्यादि इत्यादि, इनके द्वारा प्रकृति क्रम से बदल कर और हो जाती है । किन्तु इससे विज्ञान का कुछ संबन्ध नहीं है, किन्तु प्रज्ञान का अवश्य संबन्ध है। प्रत्येक कर्म के करने में कुछ ज्ञान का भाग उसमें अनुस्यूत (शामिल) रहता है। वह ज्ञान का भाग विज्ञान का नहीं है, किन्तु प्रज्ञान का है । प्रकृति के बदलने से प्रकृति के अनुसार काम करने वाला प्रज्ञान आत्मा बिना सोचे विचारे ही अपनी आदत के अनुसार काम करने लगता है । हम देखते हैं कि किसी मनुष्य को किसी काम करने में हस्त-क्रिया का कौशल होता है । जैसे अर्जुन में एक क्षण में ही १०० बाण ओसरे से लेकर चलाने का कौशल था, जो साधारण मनुष्य नहीं कर सकता । राजा ऋतुपर्ण को घोड़े हाँकने का कौशल था । इसी प्रकार कितने ही मनुष्य किसी काम करने में अन्य मनुष्यों की अपेक्षा स्फूर्ति रखते हैं । कितने ही मनुष्यों को सभा-चातुरी वाक्चातुरी देखी जाती है । इस प्रकार के जो गुण कहीं पाये जाते हैं ये सब प्रज्ञात्मा के धर्म हैं । इनका क्षेत्रज्ञ आत्मा से या महान् से भी कोई संबन्ध नहीं है ।

स्वतः प्रकाश न रखता हुआ स्वच्छ रस का चन्द्रमा जिस प्रकार सूर्य रश्मि के संयोग से तीन भाव उत्पन्न करता है । सूर्य के संमुख भाग उसका ज्योतिष्मान् होता है । विपरीत भाग में तमोमय कृष्ण-वर्ण है, और इन दोनों की सन्धि में छायामय रहता है ठीक इसी प्रकार यह महान् भी स्वयं प्रकाश

मान न होकर क्षेत्रज्ञ आत्मा की रश्मि से तीन भाव का हो जाता है। क्षेत्रज्ञ का संमुख भाग ज्योतिष्मान् होता है, उसे सत्वगुण कहते हैं। उसके विपरीत तमोमय रहता है उसे तमोगुण कहते हैं, और दोनों का सन्धिभाग जो छायामय है उसे रजोगुण कहते हैं। ये ही तीन गुण महान् आत्मा का निज स्वरूप है। ये तीनों गुण तेल (तम), वत्ती (रज) लौह (सत्त्व) के अनुसार परस्पर के आश्रित हैं। परस्पर का अभिभव (दवाव) करते हैं। और परस्पर को उत्पन्न करते हैं। इस प्राणी के शरीर में अथवा इस जगत् में सभी भाव इन्हीं तीनों गुणों से व्याप्त हैं। इन तीनों गुणों का विस्तार से वर्णन सांख्यशास्त्र में, पुराण-शास्त्र में और मनुस्मृति में किया गया है। जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के संनिहित रहकर उसी का अनुगामी होकर सूर्य का भी अनुगामी है उसी प्रकार यह महान् आत्मा भी भूतात्मा अर्थात् प्रज्ञात्मा के संनिहित रहकर उसी का अनुगामी होकर क्षेत्रज्ञ आत्मा का भी अनुगामी होता है।

स्वयं यह महान् आत्मा वायु, मेघ, जल आदि के अनुसार अशरीर है। किन्तु भूतात्मा का संसर्ग पाकर उसी के शरीर से बद्ध होकर शरीरी हो जाता है, और शरीर के कितने ही दोषों से संसृष्ट (मिल-जाना) होकर भूतात्मा के साथ कर्मों का फल भोक्ता होता है। इनमें महान् आत्मा जो शरीर के दोषों के संयोग से सत्व, रज, तम गुणों में विषमता या क्षोभ पाजाता है उसी के कारण उस महान् आत्मा से संसृष्ट भूतात्मा उन गुणों के अनुसार सुख दुःख या अच्छे बुरे भोगों को पाया करता है। यदि उस भूतात्मा में महान् आत्मा का मिलान होता तो निर्गुण होने से प्रवृत्ति निवृत्ति रहित होकर पुण्य, पाप से रहित हो यह भूतात्मा शुद्ध और मुक्त ही रहता। किन्तु महान् के कारण से ही गुणों के अनुसार सब कर्म करता हुआ यह भूतात्मा सब कर्मों का फल भोक्ता होता है। यह श्रुति में लिखा हैः—

**गुणन्वयौयः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव, सचोपभोक्ता।**
**सविश्वरूपस्त्रिगुण स्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥**

## आत्मवृत्ति

इस क्षेत्रज्ञआत्मा की प्रकृति जब जिस प्रकार की होती है उस आत्मा में उसी प्रकृति के अनुसार वैसे ही विकार परवश उत्पन्न होते रहते हैं उन विकारों को रोकने का कोई भी कारण नहीं है, न वे विकार कदापि रुक सकते हैं, इन्हीं विकारों को आत्मा की वृत्ति कहते हैं। दिन रात प्रतिक्षण यह क्षेत्रआत्मा अपनी वृत्ति के अनुसार काम करता रहता है। कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोचता है, कभी सोता है, कभी जागता है, और कभी जानता है और कभी चलता है, इत्यादि २ इन सब वृत्तियों में श्रद्धा ही मुख्य कारण है। जिस भाव की ओर श्रद्धा झुक जाती है ठीक उसी भाव के अनुसार महान् आत्मा अपनी आकृति बदल लेता है। यद्यपि महान् की आकृति मनुष्याकार है, यह आकृति इसकी जीवनभर स्थिर रहती तथापि श्रद्धा के कारण जैसे-जैसे भावों का इस पर प्रतिबिम्ब पड़ता है तत्काल उस आकृति को अवश्य धारण कर लेता है। किन्तु ग्रहण की हुई ये आकृतियां स्थिर नहीं रहती एक के पश्चात दूसरी बदलती रहती है किन्तु यदि विशेष प्रयत्न से उस भाव का रूप स्थिर किया जाय तो वह रूप इस मनुष्य की आकृति से पृथक् होकर थोड़ी देर के लिये प्रत्यक्ष दीख आती है।

योगाभ्यास आदि सिद्धि क्रियाओं में इसी हमारे आत्मा की बनी हुई ईश्वर या देवताओं की मूर्तियाँ थोड़ी देर के लिये साक्षात्कार हो जाती हैं और मनोनुकूल वरदान भी दे जाती हैं। परन्तु यह मूर्तियाँ श्रद्धा की ही बनी होती है।

**सत्व रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्।**
**महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि ॥**

इसलिये अधिक काल न बैठकर वे हमारी ही महान् आत्मा में लीन हो जाती हैं यह साक्षात्कार मनोयोग के दीर्घकाल आदर अर्थात् प्रेम और निरन्तर से दृढ़ भूमि होने के कारण बाहर हो जाता है। किन्तु विचार के भीतर विचार के अनुसार हमारी आत्मा की ही ये भिन्न-भिन्न मूर्तियां प्रतिक्षण बनती बिगड़ती रहती हैं। इनमें हमारी आत्मा की श्रद्धा ही कारण है। इसलिये गीता में लिखा है-

**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**

अर्थात् यह महान् पुरुष श्रद्धामय है, जिस भाव की उत्कण्ठा श्रद्धा होती है यह महान् भी वही बन जाता है अर्थात् उसी की आकृति का हो जाता है।

श्रद्धा से भिन्न-भिन्न आकृति बनने में विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा की भी आवश्यकता है। जब तक किसी विषय को न जाने तब तक उस विषय की श्रद्धा नहीं होती। विज्ञान के बदलने के कारण श्रद्धा बदलती रहती है, किन्तु मरती समय जिस आकृति में आकर महान् आत्मा भूतात्मा के साथ बाहर देह छोड़कर निकल जाता है वह आकृति फिर नहीं बदलने पाती। इसलिये पुनर्जन्म होने तक वही आकृति बनी रहती है. और सम्भवतः उसी योनि में उस भूतात्मा को जन्म लेना पड़ता है इसलिये पुराणों में कहा है—**अन्तेमतिः सागतिः।**

## अहंकृति महान्

"अहं" अर्थात् "मैं" यह बुद्धि जिसके लिये होती है वह शरीर है। अहं इस बुद्धि से चेतन शरीर का ही इशारा किया जाता है। यह शरीर जड़ होने पर भी जिस धातु के द्वारा चेतन पाया जाता है उस धातु को श्रद्धा जानना चाहिये, वही धातु अहंकार है। किन्तु अहंकार जिस धातु से उत्पन्न होता है उसे महान् कहते हैं। महान् ही अहंकार के रूप में परिणत होता है। इस अहंकार को सांख्य में ५ प्रकार का माना है, वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानुमान, निरनुमान। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन ये अध्यात्म कही जाती हैं। इनके ५ शब्दादि विषय आदिभूत हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, दिक् और चन्द्र ये पांचों अधिदैवत हैं। इन देवताओं की क्रिया ही ५ प्राण हैं❀। उनमें विषय के संसर्ग से बुद्धि उत्पन्न होती है। जिस इन्द्रिय में भूत का जो गुण रहता है वह इन्द्रिय उसी गुण का ग्रहण करती है। भूतादि

❀ वैदिक भाषा में इन्द्रियों को प्राण कहते हैं।

अहंकार से भौतिक ५ गुण उत्पन्न होते हैं। वैकारिक अहंकार से इनके पांचों देवता उत्पन्न होते हैं। ये देवता भूत शरीर में आकर जो इन्द्रियरूप में परिणत होते हैं इस अहंकार रूप महान् का काम है। अध्यात्म में इन्द्रियों का सञ्चालन करने वाला अहंकार यदि शरीर में न रहे तो भूत गुण या देवता इनके संयोग होने पर भी इन्द्रियों से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार वैकारिक अहंकार से इन्द्रियों के देवताओं की सिद्धि होती है। तैजस अहंकार से इस शरीर में तेजोमय प्राण उत्पन्न होता है। अर्थात् सूर्य, चन्द्र, विद्युत ये तीनों तेजोमय देवता हैं। इन तीनों के तीन तीन परिवार देवता हैं। द्यौः, प्राण, आकाश ये तीनों विद्युत से सम्बन्ध रखते हैं। नक्षत्र, दिक् और आप् इनका चन्द्रमा से सम्बन्ध है। इन परिवार देवताओं के साथ तीनों तेजो देवता शरीर में आकर एक १२ का संघ उत्पन्न करते हैं उसे ही तैजस प्राण कहते हैं। जिस प्रकार इन्द्रियों का संचालन करने वाला प्रज्ञात्मा एक भूतात्मा है, उसी प्रकार यह तैजस आत्मा भी दूसरा भूतात्मा है। ये दोनों ही भूतात्मायें जिस महान् से उत्पन्न होते हैं या जिस महान् से मिले जुले रहते हैं वही महान् अहंकार है। वैकारिक तैजस के अतिरिक्त तीसरा अहङ्कार भूतादि है, वह पाँच प्रकार के हैं अनपर, संश्लेषण, शुक्लपीत सूत्र, द्रव द्रव्य, और इन्द्रिय, ये पांचों ही जिस अहङ्कार से उत्पन्न होते हैं, उसे भूतादि कहते हैं।

इस शरीर में मांस, अस्थि, मज्जा, अन्त्र, (आंत) वसा, शोणित,मेद, शुक्र इत्यादि कितने ही धातु जो भिन्न-भिन्न प्रकार के दीखते हैं ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के कीटों से ही बने हुए हैं। उन्हीं कीट जीवों को अनपर कहते हैं। ये भिन्न-भिन्न आकृति के अत्यन्त सूक्ष्म जीव हैं। उनके शरीर जिन भूतों से बने हैं, वही भूतादि अहङ्कार हैं। ये असंख्य होने पर भी एक से एक सब आपस में चिपके हुए रहते हैं। जिस रस से ये चिपके हैं उसी को संश्लेषण रस कहते हैं। ये भी भूतादि अहङ्कार से उत्पन्न होता है। इस संश्लेषण से ही अस्थि, मज्जादि धातुओं के भिन्न रूप हो जाते हैं। इन धातुओं में इन कीटों के रहने योग्य एक प्रकार का जाल रहता है। यह जाल सफेद और पीले सूत्रों से बना हुआ होता है। ये सूत्र (सूत) वायु, मृत्तिका और मन इन तीनों के योग से बनते हैं। इनमें संश्लेषण द्रव्य भरे रहने से सब सूक्ष्मकीट अन्न पाते हुए चिपके रहते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त इस शरीर में बहुत से बहते हुए द्रव्य हैं उनकी उत्पत्ति भी सोम से हैं और, प्राणमय इन्द्रियों के रहने योग्य जो शरीर में स्थूल भौतिक इन्द्रियां आँख, कान, नासिका आदि हैं इनकी उत्पत्ति भी भूतादि अहङ्कार से होती है। पांचों ही भूतादि अहङ्कार के कार्य हैं, ये सब स्थूल भूतमय जड़ है।

भूतादि अहङ्कार के उपरोक्त ५ कार्यों में जो अनपर जीव कहे हैं वे दो प्रकार के हैं। भ्रूण व सृमर। इनमें भ्रूण कीट शुक्र में रहता है और सृमर कीट अन्यान्य धातुओं में रहते हैं। इनका भेद इसलिये है कि भ्रूण स्त्री के गर्भ में जाकर विकसित होता है, और उससे एक विस्तृत शरीर उत्पन्न होता है, किन्तु सृमर से दूसरा उत्पन्न नहीं होता, वह अपने धातुओं में रहकर भी एक से अनेक होते रहते हैं और वहीं (धातुओं में) उनका जीवन मरण होता है। इन दोनों को अव्यूढ़ जीव कहते हैं। अर्थात् इनके शरीर में दूसरे जीवों से सङ्गठन (बनावट) नहीं होता वे स्वयं एक जीव रूप हैं। उनके शरीरों की वैसी बनावट आकृति देने वाला उस शरीर के भीतर रहने वाला जीव आत्मा है वह जिस प्रकार की आकृति करता है उसी प्रकार के भूत रस उस पर सञ्चित होकर उनके वैसे शरीर बन जाते हैं। इस प्रकार अव्यूढ़ शरीरों

के वे जीव आत्मा सब निरनुमान ग्रहङ्कार से उत्पन्न होते हैं। वे भी सोमरस के बने हुए भिन्न-भिन्न महान् आत्मा हैं। अब इन असंख्य अव्यूढ़ जीवों के व्यूह से एक मनुष्य आदि प्राणी का शरीर बनता है उस शरीर की वैसी आकृति देने वाला एक बहुत बड़ा भिन्न ही महान् आत्मा है, जो मनुष्य आदि के आकृति का है उसके वैसी ही आकृति होने के कारण से ही उस पर भूत रस चढ़कर मनुष्यादि प्राणियों की ऐसी आकृतियां बनी हैं। यह व्यूढ़ जीव का बड़ा महान् आत्मा जिस सोमरस से बना है, वह सानुमान ग्रहङ्कार है। इस प्रकार इन पांचों अहंकारों से भिन्न-भिन्न महान् की आकृतियां उत्पन्न होती है, इसे ही **"अहंकृत महान्"** कहते हैं।

यह अहङ्कार या महान् सोम से बनता है। यह सोम दो प्रकार का है, दिक् और चन्द्र। इनमें दिक् सोम अद्रव हैं, अग्नि, वायु के समान रूखा और कुछ कड़ा है इसी कारण उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। किन्तु चन्द्र सोम श्रद्धारूप हैं श्रद्धा एक प्रकार का आप् है अर्थात् द्रव रूप है। उसका शरीर स्निग्ध (मुलायम) और अत्यन्त स्वच्छ है इसी से वह प्रतिबिम्बता ही है। उपरोक्त ५ अहङ्कारों में से तैजस और भूतादि ये दोनों दिक् सोम से उत्पन्न हैं, इसलिये इनसे उत्पन्न हुआ महान् आत्मा है जो अत्यन्त स्वच्छ है। जो चिदात्मा का या विज्ञान आत्मा का प्रतिबिम्ब लेकर भास्वर हो जाता है। किन्तु तीसरा वैकारिक जिससे इन्द्रिय और प्रज्ञात्मा का सम्बन्ध है वह दिक् और श्रद्धा दोनों सोम का मिश्रण रूप है, इसीलिये उससे उत्पन्न हुए इन्द्रिय या प्रजा स्थूल भूतमय होने पर भी ज्ञानमय भी है। इन्द्रियों से या प्रज्ञात्मा से ही विशेषकर हमारे सब प्रत्यय ज्ञान उत्पन्न होते हैं।

पृथ्वी के चारों ओर कुछ दूर पर चन्द्रकक्षा अर्थात् चन्द्रगति मार्ग है वह मार्ग पृथ्वी से जितना पूर्व और पश्चिम है उन दोनों सीमाओं को स्पर्श करते हुए सूर्य के किरण जो पृथ्वी के दक्षिण ओर चले जाते हैं, उसको सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं। उसका व्यास पृथ्वी के पास चन्द्रमा के पूर्व और पश्चिम स्पर्श करता हुआ है, उसके मध्य में पृथ्वी पड़ती है पृथ्वी पर जो सूर्य का प्रकाश आता है वह सुषुम्णानाड़ी का प्रकाश है और चन्द्रमा पर जो सूर्य का प्रकाश है वह भी सुषुम्णा का ही है इसलिये वेद में लिखा है कि—**"सौषुम्णश्चन्द्ररश्मिः"** अर्थात् चन्द्रमा में प्रकाश सुषुम्णा का है। एक ही सुषुम्णा नाड़ी से चन्द्रमा और पृथ्वी के जीवों का सम्बन्ध होने से जीव आत्मा के शरीर में पृथ्वी रस के अनुसार चन्द्रमा का रस भी अपना मुख्य भाग लेता है। दोनों रसों का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि प्राणान्त होने पर चन्द्ररस के साथ पृथ्वीरस भी मिला जुला हुआ चन्द्रमा तक जाता है। पृथ्वी छोड़कर आत्मा के बाहर जाने पर पहला स्थान चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा को छोड़कर बाहर नहीं जा सकता। पृथ्वीरस में जो चन्द्रमा का रस आता है वही महान् आत्मा है। वह महान् ८४ सहस्र का बनता है अर्थात् महान् में भिन्न-भिन्न ८४ खण्ड हैं। जिनमें ५६ खण्ड पितरों के नाम से प्रसिद्ध हैं और २८ खण्ड प्राणियों के निज के होते हैं। ये ८४ सहस्र अथवा बिन्दु मिलकर जो एक चन्द्ररस उत्पन्न होता है वह प्राणी के शिर से पांव तक प्रत्येक अङ्ग में प्रथम व्याप्त होता है, पश्चात् प्रत्येक अङ्ग से रस अनुस्रुत (टपकता) होकर उसी मनुष्य के शरीर के अनुसार एक छोटा शरीर बनता है उसे ही भ्रूण कहते हैं। वह भ्रूण यद्यपि सोमरस से ही बनता है तथापि प्रत्येक अङ्ग से अनुस्रुत होने के कारण उसमें भूत का अनुशय भी मिश्रित रहता है उसी भूत भाग से भ्रूण का शरीर भौतिक होता है।

ऐसे भ्रूण लक्षावधि (लाखों की संख्या में) एकत्र होता है तो उसे ही द्रवरूप में शुक्र कहते हैं। स्त्री गर्भ में शुक्र के जाने पर कोई एक ही भ्रूण पूर्ण बल पाकर औरों को खाता है, जिससे उसका शरीर क्रमशः बढ़कर जन्म लेने लायक हो जाता है। जन्म के उत्तर अन्न भोजन करने पर भौतिक शरीर बहुत विस्तृत हो जाता है उसमें वह महान् आत्मा भी उसी के अनुसार विस्तृत होकर शरीर में व्याप्त हो जाता है। शरीर छूटने पर वह महान् आत्मा चन्द्र मार्ग में जाता है। किन्तु जाती समय वह केवल २८ अंश को लेकर चन्द्रमा में जाता है, और ५६ अंश उसके ७ सन्तानों में सन्तानित होकर पृथ्वी पर रह जाता है चन्द्रमा पर गये हुए या पृथ्वी पर रहे हुये दोनों अंशों में नित्य निरन्तर दृढ़ सम्बन्ध बना रहता है। वह सम्बन्ध श्रद्धा सूत्र कहा जाता है। इसी श्रद्धा सूत्र के द्वारा सन्तानों के किये हुए पिण्ड-दानों का चन्द्रमा में गये हुए पितर आत्माओं में प्राप्ति होती है इसलिये उन पिण्डदानों को श्राद्ध कहते हैं। अष्टम वंशधर में उत्पन्न होने पर यह श्रद्धा सूत्र टूट जाता है और वह ५६ अंश जो पृथ्वी पर शेष रह गये थे वे सातों सन्तानों के चन्द्रलोक में जाने से चन्द्रमा के द्वारा पितरों को मिल जाते हैं। इसलिये ८४ अंश पूर्ण होने पर पृथ्वी की लाग मिट जाने से चन्द्रमा का महान् आत्मा उसी सुषुम्णानाड़ी के द्वारा अपने मूल कारण सूर्य ज्योति में सम्मिलित होकर लीन हो जाता है यहां महान् आत्मा की उत्पत्ति और समाप्ति है।
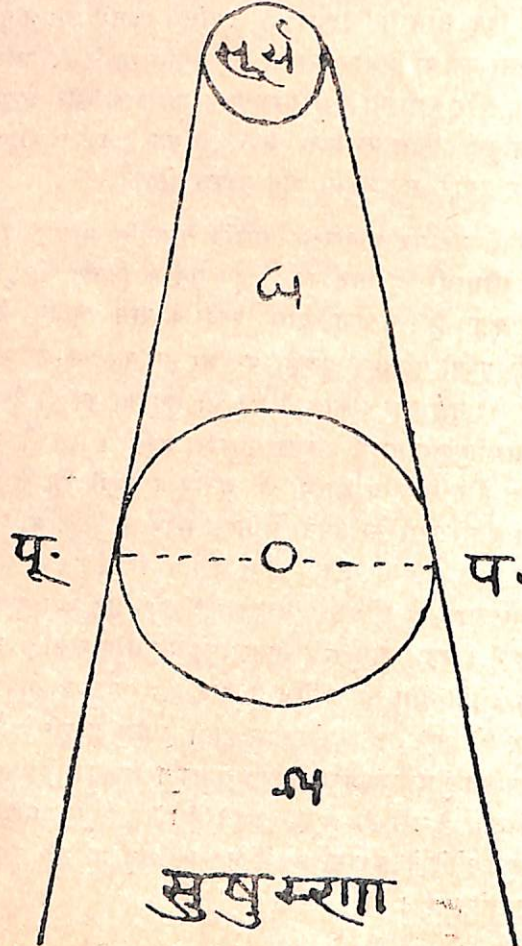
अव्यूढ़ सत्वों में प्राणी जिसे सृमर कहते हैं वे भी दो प्रकार के हैं। एक कोश या अनेक कोश व्यूढ़ सत्वों के अनुसार जिनका शरीर दूसरे जीवों को शरीर में रखकर शरीर बनाते हैं वे अनेक कोश के हैं। किन्तु जिनमें एक ही कोश है उनके शरीर शुद्ध एक ही कोश से बने हुए होने के कारण वे ही सब जीवों में आदि जीव हैं, अथवा जीव संस्था के मूल जीव स्वरूप है। उनके शरीर का निर्माण अन्यान्य जीवों के शरीर की अपेक्षा विलक्षण है। उनका शरीर द्रवप्राय कुछ धातुओं से बनते हैं जिससे वे शरीर को प्रसारण आकुञ्चन कर सकते हैं। शरीर के मध्य में एक घन और कठिन बिन्दु है वही इसका शिर है। वह बहुत सूक्ष्म है, उसके चारों ओर जो चिपटाकार शरीर है उसमें एक चक्र कहीं पर होता है वही उसका चक्षु है बहुतों के शरीर में एक छोटा सा सूक्ष्म छिद्र होता है सम्पूर्ण शरीर में से पसेव के अनुसार कभी-कभी रस निकलकर उस छिद्र में जमा होता है, पीछे उसको त्याग कर देता है जब वह चलना चाहता है तो उसके चिपटवृत शरीर ही कुछ लम्बे होकर एक ओर बढ़ जाता है, फिर उस स्थान में मस्तक बिन्दु सरक कर शरीर को गोल बना लेता है। इसी प्रकार बिना पाँव के भी वह इधर उधर चला करता है। जब उसकी तरुण अवस्था होती है तो सूक्ष्म मस्तक बिन्दु भी धीरे-धीरे अधिक स्थूल होकर बीच में से टूटकर दो हो जाते हैं। कुछ दिन दोनों शिर शरीर में रहते हैं फिर एक से दूसरा क्रमशः हटकर उन दोनों शिर के बिन्दु को केन्द्रमान कर शरीर के दो भाग हो जाते हैं। उन दोनों के दोनों शिर फिर बढ़ते २ दो दो भाग होकर फिर अन्य जीवों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अयोनिज शरीर वाले ये जीव केवल शिर के दो दो भाग होने से एक से अनेक सैंकड़ों उत्पन्न होते रहते हैं, यही इन का उत्पत्ति क्रम है। जिस समय इनको भोजन की इच्छा होती है तो किसी रस को या दूसरे जीव को स्पर्श करते ही अपने शरीर को मोड़कर इस प्रकार उसको लपेट लेते हैं, कि जिससे उसके शरीर के दो चर्म भागों से पकड़ा जाकर थोड़ी देर में लग जाता है। और वह रस उसके शरीर में लीन हो जाता है। तत्पश्चात् फिर अपने मुड़े हुए शरीर को गोल बना लेता है। इस प्रकार के सृमर प्रत्येक धातु में भिन्न २ प्रकार के देखे गये हैं। इन सबका मस्तक भाग जो चिपटे शरीर के केन्द्र में रहता है जो एक ठोस बिन्दु रूप है वह श्रद्धा के आप् से ही उत्पन्न होता है। इसी से उसमें मन का सन्निवेश है। उसी से इच्छा उत्पन्न करके इच्छानुसार प्राणों द्वारा उसके शरीर में भिन्न २ चेष्टायें होती रहती है। उनका यह महान् आत्मा और मनुष्य का महान् आत्मा एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं। इसीलिये उनके शरीर में मेरा अहंकार नहीं है। और मेरे शरीर में उनका अहंकार नहीं है।

## उपसंहार

इस प्रकार अहंकार, आत्मा की वृत्ति, प्रकृति और आकृति ये चारों ही भाव महान् से ही उत्पन्न होते हैं। इस महान् से आकृति, प्रकृति, अहंकार आदि बनने में विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ-आत्मा के योग की भी आवश्यकता होती है बिना विज्ञान के कोई भी महान् इन चारों भावों में परिणत नहीं हो सकता। इसी लिये गीता में कहा है—

**मम योनिर्महत्ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं।**
**सम्भवः सर्व भूतानाम्, ततोभवति भारत ।।**

**सर्वयोनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्तियाः ।**
**तासां ब्रह्म महद्योनि, रहंवीजप्रदः पिता ।। इत्यादि—**

इस प्रकार यद्यपि महान् आत्मा से मूर्तियां उत्पन्न होने में विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा के विज्ञान रस का मिलाव अवश्य ही माना गया है। तथापि महान् आत्मा विकारी है और क्षेत्रज्ञआत्मा निर्विकार है। जिस प्रकार मृत्तिका से ईंट, या पात्र बनाने में पानी का मिलाना आवश्यक है। बिना जल के मिट्टी में लोच और मुलायम भी आदि गुण नहीं आते उन गुणों को मिट्टी में उत्पन्न करके ईंट, या पात्र बनजाने पर वह जल मृत्तिका से अलग हो जाता है, केवल मृत्तिका ही का वह पात्र बना रहता है। जल मिलकर भी महान् में मिलकर नाना प्रकार के भावों को उत्पन्न करता है किन्तु वह विज्ञान विशुद्ध निर्विकार ही महान् विकारों से अलग रहता है।

## भूतात्मा

जिस प्रकार सूर्य के रस से क्षेत्रज्ञआत्मा उत्पन्न होता है, जिस प्रकार चन्द्रमा के रस से महान् आत्मा उत्पन्न होता है, उसी प्रकार पृथ्वी के रस से भूत-आत्मा उत्पन्न होता है। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा दोनों इस पृथ्वी पर अपना रस बरसाते हुए इस पृथ्वी से नित्य संवन्ध रखते हैं, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ और महान् दोनों अपना रस अर्थात् प्रकाश देते हुए भूतात्मा से नित्य संवन्ध रखते हैं। जिस प्रकार चिदात्मा क्षेत्रज्ञआत्मा में प्रकट होता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ आत्मा में भी महान् में और महान् आत्मा भूतात्मा में प्रकट होता है। इन चारों आत्मा-चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान् और भूतात्मा का परस्पर संबन्ध सूत्रात्मा से होता है और भूतात्मा में भी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये जो तीन अवान्तर भेद हैं उनका परस्पर संबन्ध भी इसी सूत्रात्मा के द्वारा बना हुआ है। भिन्न-भिन्न अपने तन्त्र रखते हुए भी पाँचों आत्माओं का एक तन्त्र बनकर प्राणी का शरीर चेतन बनकर चेष्टा करता है। इस एक तन्त्र में चिदात्मा और सूत्रात्मा ये ही दो अङ्गी या प्रधान हैं इधर तीन अंग हैं अर्थात् गौण आत्मा हैं। प्रज्ञापराध से मिथ्या आहार विहार होता है, अर्थात् आहार और विहार का सुयोग न होकर, हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग होते हैं। जिनसे कफ, वात, पित्त और शोणित इनकी विषमता हो जाती है इसी को रोग (व्याधि) कहते हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छः सूक्ष्म शरीर के धातु हैं। इन की विषमता से आधिरोग उत्पन्न होते हैं ये मानस रोग है जो उपदेशादि से शान्त हो सकते हैं।

## भूतात्मा परिचय

पञ्च महाभूत का पिण्ड जो मृत्युधर्मा है, उसमें अधिष्ठात्री होकर जो उसका अभिमानी देवता-गण हैं और जो अमृत हैं, उन देवताओं के समूह को भूतात्मा कहते हैं ।।१।।

द्यौ और पृथ्वी इन दोनों के तेजोमय अमृतरस जिनमें लोकत्रयातीत दिव्यज्योति का तीसरा अमृतरस (अर्थात् चिदात्मा का रस) ये तीनों सम्मिलित होकर अन्नकोश के आपोमय मृत्युपद में सम-

न्वित (युक्त) होते हैं। इस समन्वय (मिलाप) से उन अमृतरसों का स्थान जो मृत्युरस में रूप सिद्ध होता है उसी को भूतात्मा कहते हैं ॥२॥

कृमि, कीट, पतङ्ग, पक्षी, पशु मनुष्य इन सब में क्षेत्रज्ञआत्मा के तारतम्य से विज्ञान शक्ति का बहुत अन्तर है। तथापि कितने ही अंशों में इन सबका साम्य अर्थात् बराबरी है। जैसे आहार, निद्रा, भय, मैथुन, उत्सर्ग आत्म रक्षा कितने ही धर्म, विद्वान्, महामूर्ख, या पशु, पक्षी, कीट कृमि तक में साधारण रूप से पाये जाते हैं। यदि इन वृत्तियों का सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ आत्मा से होता तो विज्ञान शक्ति की वृद्धि के साथ साथ इन अणुक में भी वृद्धि पाई जाती, परन्तु ऐसा नहीं देखते इसलिये चिदात्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा, महान् आत्मा इन तीनों ही के अतिरिक्त कोई इन वृत्तियों का आश्रय पाया जाता है वही भूतआत्मा है ॥३॥

गरमी, धातुप्रचय, स्नायुमण्डल ये तीनों भूतविकार जिसमें हैं और अग्नि, वायु, इन्द्र, इन तीनों देवताओं की संस्था जिसमें है, ज्ञान, बल, अर्थ ये तीनों कर्म जिसमें हैं वही कर्ता रूपी जीव–आत्मा भूतआत्मा कहलाता है ॥४॥

अन्न भोजन करने से अन्न के द्वारा शरीर में प्रवेश किये हुए पृथ्वी आदि पांचों भूतों का लोम, त्वचा, शोणित, अस्थि, मज्जा आदि भूतों के विलक्षण रूप जिसके कारण उत्पन्न होता है, और भिन्न-भिन्न चेष्टायें या चेष्टा के लिये कामनायें जिसके द्वारा उत्थित होते हैं, वही भूतात्मा है ॥५॥

क्षेत्रज्ञआत्मा, महान्आत्मा के साथ सम्मिलित होकर नाना प्रकार की विशेषतायें जिस आत्मा में उत्पन्न करते हैं अर्थात् शिक्षाजन्य सभ्यता इत्यादि वही भूतात्मा है ॥६॥

भूतात्मा के तीन भेद हैं। वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। इनमें वैश्वानर तीन रस से उत्पन्न होकर भी मुख्यतया दो रस से उत्पन्न होता है। वेद में लिखा है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ ये तीन विश्व हैं। इन तीनों के सञ्चालन करने वाले इन तीनों में पृथक् पृथक् तीन नर है, जिनको अग्नि, वायु, सूर्य कहते हैं। ये तीनों ही एक शब्द में विश्वानर❀ कहे जाते हैं। इन तीनों विश्वानरों के परस्पर योग या संघर्षण से जो अग्नि उत्पन्न होता है उसे ही वैश्वानर कहते हैं। यद्यपि वह तीनों भी अग्निरूप हैं। किन्तु वे मौलिक+अग्नि होने से रूप या ताप आदि अग्नि के रूप कुछ भी नहीं रखते। किन्तु उन तीनों के घर्षण से जो चौथा यौगिक अग्नि उत्पन्न होता है, वही वैश्वानर है। मौलिक तीनों अग्नि अमृतरूप और अक्षररूप हैं किन्तु उनसे उत्पन्न हुआ यह यौगिक अग्नि प्रतिक्षण नष्ट होते रहने के कारण मर्त्य है और क्षर है। यह प्रतिक्षण अन्न खाते रहने से जीता रहता है। अन्न न मिलने पर मर जाता है इसका मरना वही है, जो इसके मौलिक तीनों अग्नियों का संयोग नष्ट होकर पृथक् पृथक् तीनों लोक में चले जाना है। इस वैश्वानर की उत्पत्ति इस प्रकार होती कि माता के उदर में शुक्र-शोणित के संयोग होने पर उन

❀नर=सञ्चालन करने वाला, चलने वाला।
+मौलिक=तात्विक, मूलरूप, तत्वरूप।

दोनों का समन्वय करा कर शरीर का सङ्गटन करने के लिये माता के हृदय से एक प्रकार का वायु उत्पन्न होता है। इस वायु के दो रूप हैं–एक विश्वकर्मा, दूसरा सूत्रात्मा। इनमें विश्वकर्मा वायु शिर से पाद तक प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग का निर्माण करता है किन्तु निर्माण किये हुए अङ्गों को नियमानुसार जहाँ का तहाँ रखकर उनको अपने स्थान से हटने न देकर सबको पकड़े हुए केन्द्र में, अर्थात् हृदय में स्थिर हो जाता है। दीपक के अनुसार उसके दो स्वरूप होते हैं। एक मध्य में पिण्डरूप और दूसरा रश्मिरूप। इनमें रश्मिरूप से यह वायु सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है, किन्तु मध्य का पिण्डरूप केवल हृदय में ही रहता है, उसी सूत्रात्मा वायु को शारीरिक परिभाषा में व्यान वायु कहते हैं। इसका आयतन एक प्रादेश ( १०॥ अङ्गुल ) है। यह व्यान मुख्य प्राण है, और यही जीवन का आधार है। इसी के उत्क्रमण ( निकल जाना ) से प्राण और अपान भी उत्पन्न ( जगह छोड़ना ) हो जाते हैं। इसीलिये श्रुति कहती है—

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।**
**इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेता वुपाश्रिता॥**

अर्थात् प्राण से या अपान से कोई भी प्राणी नहीं जीता है, इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा कोई देवता है, जिसके ये दोनों आश्रित हैं, वही सब प्राणियों का जीवन आधार है। हृदय में विद्यमान यह व्यानवायु अन्तरिक्ष से प्राप्त होता है। इसी व्यान पर पृथ्वी से अपानवायु और सूर्य से प्राणवायु आकर सम्मिलित होते हैं। यह व्यानवायु सूर्य से आते हुए प्राणवायु का प्रतिष्टम्भन (रोकना) करके उलटा प्रतिक्षेपण (धक्का देना) करता है। जिससे प्राणवायु उलटा ऊपर जाता हुआ उदान वायु कहलाता है। इसी प्रकार वह व्यानवायु नीचे पृथ्वी से आते हुए वायु को प्रतिष्टम्भन करके उलटा प्रतिक्षेपण करता है, जिससे उलटा नीचे को जाता हुआ वह अपानवायु कहलाता है। किन्तु जो उसका भाग शरीर में रहकर अन्नादि का पाचन आदि का काम करता है वह समानवायु कहलाता है। इस प्रकार तीन लोक के तीन रस मिलकर पाँच प्राण उत्पन्न करते हैं। इन्हीं पाँचों प्राणों के आधार पर प्राणियों की जीवन सत्ता निर्भर है।

जिस प्रकार एक शिलापर लोढ़ी से पेषण (पिसान) करते हुए हाथ से लोढ़ी को आगे पीछे करते हैं, उसी प्रकार व्यान रूपी शिला पर प्राण और अपान दोनों वायु एक दिन रात में २१६०० बार आना जाना करते हैं। यज्ञ की परिभाषा में सोमलता के कूटने या पीसने की शिला को उपांशु सवन कहते हैं और उस पर पीसने के समय लोढ़ी का बाहर जाना उपांशु है, और अपनी ओर आजाना अन्तर्याम है। इसी उपांशु अन्तर्याम क्रिया से प्राण, अपानवायु की उपमा दी गई है। व्यानरूपी उपांशुसवन पर प्राण और अपानवायु के उपांशु अन्तर्याम क्रिया से जो २१६०० बार घर्षण होता है, उससे एक यौगिक अग्नि उत्पन्न होती है, उसी को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। यह वैश्वानर अग्नि प्राण, अपान और व्यान इन तीनों मौलिक अग्नियों के मेल से या घर्षण से उत्पन्न होती है, इसलिये यौगिक है। जब तक व्यानवायु हृदय में दृढ बद्ध होकर स्थिर रहता है, तब तक प्राण और अपान का उपांशु अन्तर्याम क्रिया के बन्धन होने से वैश्वानर भी जाग्रत रहता है। व्यानवायु के उत्क्रमण होने पर उपांशु अन्तर्याम क्रिया भी बन्द हो जाती

है, इसी से वैश्वानर अग्नि भी शरीर में नहीं रहता। शरीर की गरमी नष्ट हो जाती है, शोणित पानी हो जाता है, इसी को मरना कहते हैं।

मनुष्य के शरीर में जिस प्रकार वैश्वानर प्राण उत्पन्न होता है उसी प्रकार इस विशाल ब्रह्माण्ड में भी सूर्य, पृथ्वी और अन्तरिक्ष के तीनों प्राणों का परस्पर संघर्षण होते रहने के कारण अन्तरिक्ष में यह वैश्वानरप्राण उत्पन्न होकर ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी में शरीर के अनुसार सर्वत्र व्याप्त रहता हैं, उसे ही विराट् भगवान कहते हैं। यद्यपि शरीर के अनुसार उच्छ्वास, निःश्वास रूपी प्राण अपान क्रिया नहीं दीखती, तथापि शरीर के अनुसार वह अवश्य होगी। केवल बहुत विशाल होने के कारण हम ब्रह्माण्ड की सीमा को पार करके उसकी अवस्था को देख नहीं सकते। इसलिये न देखने से उसका न होना सिद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार चेतन प्राणियों से न्यून कक्षा के वृक्षादि स्थावरों में भी हम उच्छ्वास निःश्वास नहीं देखते, किन्तु उनमें भी ये दोनों होते अवश्य हैं। अल्प मात्रा में होने के कारण उद्भट नहीं दीखते, किन्तु वैज्ञानिक परीक्षा से स्थावरों की श्वास क्रिया देखी जा सकती है। स्थावरों की अपेक्षा भी अत्यन्त अल्पमात्रा में होने के कारण धातु पदार्थों में भी बहुत कठिनता से ये क्रिया प्रत्यक्ष की जा सकती है। तीनों लोकों के मौलिक प्राणों का जीव, मूल, धातु इन तीनों तारतम्य से समन्वय होने के कारण यह सर्वत्र एक रूप से क्रिया नहीं भासती, किन्तु यदि उन सब में गरमी पाई जाती है तो गरमी का कारण उन तीनों प्राणों का संघर्षण अवश्य ही मानना पड़ेगा और संघर्षण की सत्ता में श्वास-निःश्वास का होना भी अनिवार्य है। इससे सिद्ध हुआ कि जगत् के प्रत्येक भूतग्राम में उन भूतों की सत्ता रखने के लिये वैश्वानर आत्मा अवश्य ही व्याप्त रहता है। इसलिये यह प्रत्येक भूतों की आत्मा होकर भूतात्मा कहलाता है।

यह वैश्वानर उत्पन्न होकर अपना सन्निवेश (टिकाव) दो प्रकार से करता है, एक आन्तर रूप से दूसरा बाह्यरूप से। जिस प्रकार सूर्य में एक वैश्वानर सूर्यपिण्ड के भीतर व्याप्त होकर सूर्य का स्वरूप नियत करता है किन्तु दूसरा वैश्वानर सूर्यपिण्ड से बाहर निकलकर दूर तक रश्मियों का मण्डल बनाता है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक पिण्ड की व्यवस्था है। अर्थात् एक भाग वैश्वानर का वस्तु के अङ्ग प्रत्यङ्ग को पकड़कर वस्तु का स्वरूप नियत करता है और दूसरा वैश्वानर प्रत्येक वस्तु में बाहरी रश्मिमण्डल बनाता है इसी रश्मिमण्डल से एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ संसर्ग होकर धर्मों का संक्रमण ( परस्पर जाना ) हो जाता है। यद्यपि वह बहिर्मण्डल सूर्य के अनुसार और वस्तुओं में नहीं दीखता है, तथापि शरीर पर रक्खे हुए आर्द्र ( गीले ) वस्त्र के शीघ्र सूख जाने से शरीर की गरमी का बाहर सञ्चार होना पाया जाता है। इन दोनों को पृथक् समझने के लिये शरीर प्रविष्ट अग्नि को वैश्वानर और बहिगत रश्मिमण्डल को सम्वत्सर के नाम से बोलते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के शरीर में दो वैश्वानर सिद्ध होते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त दो वैश्वानर और भी इस शरीर में प्रविष्ट होते हैं। उपर्युक्त नियम के अनुसार सूर्य का बहिगत रश्मिमण्डल और पृथ्वी का बहिगत रश्मिमण्डल प्राणी के शरीर में प्रवेश करता है और वे शरीर के वैश्वानर से भिन्न रहकर इस शरीर को अपनी अपनी ओर खींचते रहते हैं जिससे पृथ्वी के आकर्षण से शरीर आकाश में नहीं उठ सकता और सूर्य के आकर्षण प्राणी के पांव वृक्षों के

अनुसार पृथ्वी में घुस नहीं जाता। इस प्रकार ये चार वैश्वानर चार शब्दों से कहे जाते हैं ❀ १–शरीर के अन्तर्गत निज का वैश्वानर भुवनपति है। २–निज का संवत्सर भूतपति है। ३–पृथ्वी का संवत्सर शरीर में आकर भूपति कहलाता है। ४–सूर्य का सम्वत्सर शरीर में आया हुआ नारायण कहा जाता है। सामवेदियों के लिए कौथुमी शाखा के गोभिलसूत्र में इन्हीं चारों अग्नियों के लिये भोजन करते समय आरम्भ में चार नैवेद्य देना विहित किया गया है। यद्यपि ये चारों अग्नि वैश्वानर ही है, तथापि इनका योनि और कर्म पृथक् होने से पृथक् पृथक् व्यवहृत होते हैं शरीर के निज के वैश्वानर से शरीर में सब प्रकार के धातु बनते रहते हैं और निज के सम्वत्सर भूतपति से दर्पण में मुख दीखता है, या दूसरा मनुष्य दूसरे मनुष्य को दूर से दीखता है, जल में प्रतिबिम्ब पड़ता है, फोटो खींचा जाता है, पृथ्वी से आये हुए भूपति से यह शरीर पृथ्वी से पकड़ा हुआ रहता है और सूर्य से आये हुए नारायण अग्नि से शरीर में यज्ञ क्रिया होती है, जिससे यह प्राणी नित्यप्रति बार बार अन्न खाया करता है, अङ्ग प्रत्यङ्ग बढ़ते रहते हैं, और कृमि, कीट से लेकर मनुष्य तक क्रमिकधारा में शिर ऊँचा होता रहता है। और शिर की अग्नि निकलते रहने पर भी यह शरीर अग्नि से खाली नहीं होता, यह सब नारायण अग्नि का प्रभाव है किन्तु इतना होने पर भी शरीर में मुख्य अग्नि भुवनपति है। उसकी सत्ता से भूतपति, भूपति और नारायण शरीर में काम करते हैं। यह वैश्वानर शरीर में एक प्रादेश ( १०॥ अंगुल ) के प्रमाण से विभक्त होकर शरीर में व्याप्त होता है, मनुष्य का शरीर नियम से ८ प्रादेश का है, ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक, हृदय से कण्ठ तक, हृदय से नाभि तक और नाभि से योनि तक क्रम से चार प्रादेश से मुख्य शरीर बनता है, और कटि से जानु तक दो प्रादेश और जानु से एड़ी तक दो प्रादेश। इस प्रकार ८ प्रादेश की अर्थात् ८४अंगुल की ऊंचाई सिद्ध होती है एक एक प्रादेश को एक २ अक्षर मानने से ८ अक्षर की गायत्री सिद्ध होती है यह गायत्री ही अग्नि का निज छन्द है इसलिए अग्नि ८ भाग में विभक्त होकर शरीर में व्याप्त होता है। दोनों भुजायें भी एक अंगुली से दूसरी अंगुली तक ८ प्रादेश की सिद्ध होती है। कण्ठ से दोनों हथेली तक चार प्रादेश होता है इस प्रकार एक पाद हाथों में और एक पाद दोनों पावों में और एक पाद शिर से योनि तक वामपार्श्व और दक्षिणपार्श्व इन दोनों पार्श्वों में सिद्ध होकर त्रिपदी गायत्रीछन्द से यह वैश्वानर अग्नि सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त है।

## २—तैजस आत्मा

भूतात्मा जो वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ के भेद से तीन प्रकार का है, उनमें वैश्वानर का वर्णन हो चुका, अब दूसरा तैजस का निरूपण किया जाता है।

जिस प्रकार वैश्वानर आत्मा तीनों लोक के तीन रसों का विलक्षण संबन्ध पाकर उत्पन्न होता है उसी प्रकार तैजसआत्मा भी सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनों तेजों का इस शरीर में चयन होकर एक भाव होने से उत्पन्न होने के कारण ही यह प्राण तैजस कहलाता है। इस प्राण के द्वारा इस शरीर के प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रतिक्षण बढ़ते-फैलते रहते हैं।

---

❀ १–ॐ भुवनपतये नमः, २–ॐ भूतानां पतये नमः, ३–ॐ भूपतये नमः, ४–ॐ नमो नारायणाय।

इन तीनों तेजों के साथ तीन-तीन परिवार देवता भी संयुक्त रहते हैं। जैसे—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १–सूर्य, | अग्नि, | पृथ्वी, | अन्न, |
| २–चन्द्र, | नक्षत्र, | आप्, | दिक्, |
| ३–विद्युत्, | प्राण, | द्यौ, | आकाश, |

इस प्रकार भिन्न-भिन्न परिवारों से मिश्रित होकर ही तीनों तेज परस्पर समन्वित होते हैं। इस कारण यह तैजसप्राण बारह तत्वों का बना हुआ होता है, इसे अग्निविद्या या आत्मविद्या भी कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के चौथे प्रपाठक में कहा गया है कि जाबाल ऋषि के शिष्य उपकोशल को अग्निदेवता ने स्वयं इस अग्निविद्या का उपदेश किया था।

१–जो अन्न भोजन किया जाता है, उसको यह तैजसप्राण ही अग्नि ग्रहण करता है, अर्थात् भीतर खींचता है। जिस अग्नि से शरीर के धातु उत्पन्न होते रहते हैं, और उन धातुओं से शरीर धारण किया जाता है, यही धातु तैजस का पृथ्वी भाग है। इस प्रकार अग्नि, पृथ्वी और अन्न के कार्य तैजस के द्वारा शरीर में होते रहते हैं। किन्तु इन तीनों का टिकाव सूर्य से होता है।

२—नक्षत्र से आर्तव शुक्र, लोम, कूप आदि उत्पन्न होते हैं। दिक् के संबन्ध से शरीर का चारों ओर पसार होता है और आप् से शरीर का बढ़ना मुलायमी (नरमी) और द्रव भाग शरीर में उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु इन तीनों का टिकाव चन्द्रमा से होता है।

३—प्राण से क्रिया, चेष्टा होते हैं, और आकाश से शरीर में शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा, वस्तिगुहा आदि भिन्न-भिन्न आकाश उत्पन्न होते हैं। और शरीर आकाश में हृदय आकाश उसमें फिर दहराकाश इस प्रकार आकाश उत्पन्न होते हैं और द्यौ के संबन्ध से दिव्यरस नाना प्रकार के द्यौ लोक से आते रहते हैं। जैसे सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि कितने ही रस द्यौ के अनुसार इस शरीर में भी विद्यमान् हैं। इन सबका टिकाव शरीर में बीजली के द्वारा होता है।

सूर्य और चन्द्रमा के रस यद्यपि क्षेत्रज्ञआत्मा और महान् आत्मा में भी आते हैं, किन्तु क्षेत्रज्ञ और महान् इन दोनों में सूर्य और चन्द्र के रस मूलानुगत रूप से संस्रवित होते हैं। अर्थात् सूर्य की रश्मि सूर्य को न छोड़कर इस शरीर में भी आकार विज्ञानमय रूप से काम करता है, उसे ही क्षेत्रज्ञ आत्मा कहते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा से भी अपना नित्य संबन्ध रखता हुआ ही चान्द्ररस इस शरीर में महान् आत्मा बनता है। किन्तु तैजस में ऐसा नहीं है, यहां पर सूर्य और चन्द्रमा का रस वृक्णमूल (मूल से टूटा हुआ) अर्थात् अपने मूल को छोड़कर शरीर में आता है। इसको यों समझना चाहिये कि सूर्य में प्रकाश और ताप दोनों पाये जाते हैं। किन्तु प्रकाश रश्मि अच्छिन्नमूल होकर सूर्य बिम्ब के साथ सदा रहता है, इसी से सांयकाल को सूर्य के छिपते ही सम्पूर्ण प्रकाश मण्डल भी छिप जाता है किन्तु ताप जो दिन में किसी पत्थर, बालू, पानी आदि द्रव्यों में प्रविष्ट हो जाता है। वह सूर्य से संबन्ध नहीं रखता, छिन्नमूल होकर रात्रि में भी अधिक समय तक उन द्रव्यों में बना रहता है, यही छिन्नमूल का उदाहरण है। तैजस

में आया हुआ सूर्य और चन्द्र का रस छिन्नमूल होकर रहता है इसलिये क्षेत्रज्ञ और महान् के अनुसार इनमें तीव्रता नहीं रहती। इन दोनों के साथ तीसरा विद्युत् भी आकर तीनों शरीर के मन में प्रविष्ट होता हैं, इसलिये तीनों का मिला हुआ रूप, मानव आत्मा बनता है। तात्पर्य यह है कि हृदय में जो विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा है, वही मन कहलाता है, उसकी हिरण्यवत् कान्ति है और सूक्ष्म है। विज्ञानमय होने के कारण अपने विवेक और विचार शक्ति से प्रज्ञात्मा रूपी जीव आत्मा को प्रतिक्षण शासन करता है उसे ही मनु कहते हैं। उस मनु में आत्म समर्पण करने के कारण ये तीनों (सूर्य, चन्द्र, विद्युत्) मिलकर मानवआत्मा हो जाता है। किन्तु इनमें विशेषता यह है कि सूर्य चन्द्ररस खनिजों में नहीं जाते इसलिये वहाँ तैजस का पूर्ण रूप उत्पन्न नहीं होता। किन्तु विद्युत् रस उनमें भी नहीं रुकता, यह सब पदार्थों में नित्य रूप से विद्यमान रहता है। यही कारण है कि जब प्राणी मर जाता है तब उसी की भूतआत्मा में से वैश्वानर, प्राज्ञ, ये दोनों बने रहकर लोकोन्तर में जाते हैं। किन्तु उनमें तैजस के सूर्य, चन्द्ररस दोनों ही तत्क्षणात् अपने-अपने प्रभव में चले जाते हैं, जिससे तैजस का वास्तव रूप नष्ट हो जाता है। इसलिये मरने के पश्चात् जब तक वह पुनर्जन्म न ग्रहण करें तब तक उसका शरीर बढ़ने नहीं पाता। बच्चा, जवान, बूढ़ा जिस अवस्था में गया था उसी अवस्था में कर्म फल भोगता हुआ बना रहता है। यद्यपि उसके भी भोग शरीर है, किन्तु उनमें तैजस न होने के कारण घटने बढ़ने की क्रिया बन्द हो जाती है इतना होने पर भी तैजस का विद्युत भाग नष्ट नहीं होता, किन्तु वह केवल अपनी अवस्था में इन्द्र कहलाता है। प्रज्ञात्मा के साथ-साथ बराबर लोकान्तर में भी बना रहता है। वह सूर्य लोक से पार जाने पर वह विद्युत् पुरुष इन्द्र वरुण आदि लोकों में जाने में जिस प्रकार सहायता करता है वह आगे आत्मगति विद्या में विशेष रूप से कहा जायगा।

### ३—प्रज्ञात्मा

## (१ योनि और २ आशय)

लोकत्रयातीत चेतना (चिदात्मा) सूर्य रश्मियों में व्याप्त होता है, और उसी सूर्य-रश्मि से हमारा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा बनता है और सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनों के छिन्नमूल रसों से जो रूप बनकर हमारे शरीर में आत्मा बनता है, उस आत्मा में क्षेत्रज्ञ के संयोग होने पर उसके द्वारा चिदात्मा उस पर व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र विद्युत् के साथ क्षेत्रज्ञ और चिदात्मा के संयोग से जो रूप सिद्ध होता है उसे ही प्रज्ञा कहते हैं। वास्तव में यह प्रज्ञा चिदाभास कहलाता है। आभास प्रतिबिम्ब को कहते हैं। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् के रसों के समन्वय से जो जल के समान एक स्वच्छ द्रव्य उत्पन्न होता है, उस पर क्षेत्रज्ञ के द्वारा जो चिदात्मा का प्रतिबिम्ब होता है वह चिदाभास है, और उसे ही प्रज्ञा कहते हैं और जिस रस पर चिदाभास हुआ है उस विशिष्ट का नाम प्राज्ञ आत्मा है।

शारीरकभाष्य में शंकराचार्य ने प्रज्ञान आत्मा को विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा से भी ऊँची कक्षा का माना है। उनकी दृष्टि में विज्ञानमय आत्मा सगुण, सविकार और नाना धर्मों करके युक्त हैं। किन्तु प्रज्ञान आत्मा निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष, अव्याकृत विशुद्ध चेतना रूप हैं, वह धर्म, अधर्म, कार्य कारण सबसे परे हैं। तात्पर्य यह है कि विज्ञानमय आत्मा ही जीव आत्मा है और वह जगत् के भीतर है, किन्तु

प्रज्ञान आत्मा विशुद्ध चिदात्मा वह जगत् से बाहरी तत्त्व है, परन्तु कौषितक उपनिषद् में समस्त इन्द्रियों के मूल इन्द्र रूपी प्राण को प्रज्ञा कहा है और देह में बसता हुआ देह और इन्द्रियों के धारण करने वाला और मृत्यु के समय में देह से उत्क्रमण होने वाला कहा गया है। यह कथन विशुद्ध चिदात्मा में बन नहीं सकता, उसके व्यापक होने से देह में पश्चात् प्रवेश करना, और केवल जीवन पर्यन्त ही शरीर को धारण करना, और किसी समय शरीर को छोड़कर बाहर निकल जाना, ये सब असंभव है। इससे सिद्ध है कि उपनिषद् के मत में प्रज्ञान आत्मा ही वह जीव आत्मा है जिसका आवागमन होता है, वह प्रज्ञात्मा कई रसों का बना हुआ एक ऐसा स्वच्छ पदार्थ है, कि जिस पर चिदाभास होता है। चिदाभास विशिष्ट उस प्रज्ञा प्राण को ही हम प्राज्ञ आत्मा कह सकते हैं, वही जीव आत्मा है, और उसी का आवागमन होता है। जो दक्षिण नेत्र में ज्योतिः स्वरूप लक्षित होता है, वही प्रज्ञात्मा है, वह सूर्य नहीं है, किन्तु सूर्य रूपी क्षेत्रज्ञ आत्मा उस ज्योतिः स्वरूप से मिला हुआ अवश्य रहता है। इसी कारण उपनिषदों में विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ का भी दक्षिण नेत्र में होना कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि चक्षु में दोनों ही आत्मा भासित होती हैं जाग्रत् अवस्था में चक्षु से जो प्रकाश निकल कर इस विशाल जगत् जगत् का भान करता है वह ज्योति विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा है। किन्तु जब कभी घोर अन्धकार में आँख की कोण को दबने पर भीतर की ओर प्रकाश का चक्र अकस्मात् भासित हो जाता है, वह ज्योति प्राज्ञ आत्मा का है। चक्षु के इसी प्राज्ञ प्रकाश को "संयद्वाम" कहते हैं, वाम्भ और भामनी भी कहते हैं। यह प्राज्ञ वास्तव में विद्युत् रूपी इन्द्र है, जिसमें चिदात्मा का प्रवेश होकर चिदाभास हो रहा है। इस चिदाभास के चिदात्मा और विद्युत् ये दोनों इस प्रकार मिलकर एक हो रहे हैं जैसे पानी में प्रतिबिम्ब के भीतर पानी पृथक् नहीं दीखता, किन्तु पानी का विकार उसमें होता रहता है। उसी प्रकार इस चिदाभास में विद्युत् का भान पृथक् नहीं होता, किन्तु विद्युत् की चञ्चलता से उस चेतना में क्षोभ का विकार अवश्य होता रहता है। यह विकार चेतना का नहीं हैं, किन्तु विद्युत् या इन्द्र आवागमन वाली हमारी आत्मा है। उस विद्युत् का यहाँ बना रहना ही आयु कहलाता है। इस विद्युत् रूपी प्रज्ञात्मामय चिदाभास ने हमारे शरीर में लोम और नख को छोड़कर शेष सम्पूर्ण प्रदेशों में व्याप्त होकर इस शरीर को धारण कर रक्खा है और इस शरीर की सम्पूर्ण इन्द्रियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। इस प्राज्ञ आत्मा की योनि चिदाभास है, और आशय इस विद्युत् या इन्द्र है।

## २—प्रज्ञात्मा की प्रतिष्ठा

## (प्रज्ञात्मा के टिकाव का जरिया)

इस प्रज्ञात्मा की प्रतिष्ठा ज्योति है, जो कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि या ताराओं से मिलती है। यही ज्योति इस प्रज्ञात्मा का अन्न है, जिसको पाकर यह प्रज्ञात्मा इस शरीर में निज स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यदि इन ज्योतियों में से एक भी ज्योति इसको न मिले तो यह प्रज्ञात्मा कुछ समय बाद क्षीण होते होते सर्वथा नष्ट हो जा सकता है।

## चित् का प्रतिबिम्ब

इसी ज्योति में ही लोकत्रयातीत चिदात्मा संक्रान्त (प्रविष्ट) होकर प्रतिबिम्बित होता है और वही चिदाभास प्राज्ञ कहलाता है। इन ज्योतियों के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु पर चिदात्मा प्रतिबिम्बित नहीं होता। यही कारण है कि उस चिदात्मा के सर्वत्र व्यापक होने पर भी सभी वस्तु चेतना नहीं दीखते।

इन पांच ज्योतियों द्वारा बाहर के पदार्थों का हमारी आत्मा के साथ-संयोग होता है। अर्थात् इन ज्योतियों के किरण बाहर के पदार्थों पर पड़कर प्रत्येक परमाणु के रूप में आकर उस वस्तु के रूप में आ जाते हैं। फिर उस वस्तु से पलट कर उसी वस्तु के रूप में आँख तक पहुंचते हैं। आँख से मस्तिष्क के केन्द्र तक व्यापक प्रज्ञात्मा में वह रूप अङ्कित हो जाता है, यही उस वस्तु का ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार प्रज्ञात्मा में जो ज्ञान की मात्रा इन पाँचों ज्योतियों के द्वारा आकर बढ़ती रहती है, वही उन बाहर की ज्योतियों के भीतर विद्यमान चिदात्मा के भाग का अनुग्रह है। अर्थात् हमारी प्रज्ञात्मा रूपी ज्योति बाहर से उन वस्तुओं के रूप में आई हुई ज्योतियों को ग्रहण कर लेती है और वह वस्तु रूप वाली ज्योति हमारी प्रज्ञात्मा की ज्योति में मिलकर हमारी क्षेत्रज्ञात्मा बन जाती है। यह इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रत्यय कहलाता है।

इस प्रत्यय के तीन भेद स्थूल रीति से हो सकते हैं। १ रूप प्रत्यय जो सूर्य, चन्द्र और अग्नि इन तीन ज्योतियों से उत्पन्न होता है, इसका द्वार चक्षु इन्द्रिय हैं और २ शब्द प्रत्यय जो वाक् से उत्पन्न होता है, उसका द्वार श्रोत इन्द्रिय है। और ३ मानस प्रत्यय है जो कि क्षेत्रज्ञात्मा की ज्योति से शरीर के भीतर ही उत्पन्न होता है, और जिसका द्वार संपूर्ण शरीर में व्याप्त शोणित में घुला हुआ मनु इन्द्रिय है। इन तीनों इन्द्रियों में प्रज्ञात्मा ही इन्द्रिय कहलाता है, जिसका स्थान भेद से नाम भेद हो गया है। जो कुछ स्पर्श करता है, सूंघता है इस का स्वाद लेता है, या सोचता है, या ध्यान करता है, ये सब ज्ञान मन इन्द्रिय के द्वारा ही प्रज्ञात्मा में पहुंचकर क्षेत्रज्ञात्मा बनती है। जब कि ये पाँचों ज्योति भीतर प्रवेश न करें तो क्षेत्रज्ञात्मा नष्ट होकर प्रज्ञात्मा भी नष्ट हो जायेंगे। और कोई भी इन्द्रिय का ज्ञान अर्थात् प्रत्यय नहीं हो सकेगा। इन पाँचों ज्योतियों का प्रज्ञात्मा के साथ जो संबन्ध है, वह महाराजा जनक को महर्षि याज्ञवल्क्य ने ऊपर के अनुसार विशद रूप से वर्णन किया है।

## ३—प्राज्ञ का आयतन

इस शरीर में प्रधानता से ५ देवताओं का अधिकार है-अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और दिक्। ये पाँचो ही देवता अधिदैवत में जिस प्रकार सूर्य के आश्रित हैं, उसी प्रकार अध्यात्म में क्षेत्रज्ञात्मा के आश्रित रहते हैं। इन पांचों देवताओं के द्वारा प्रज्ञात्मा विभक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रज्ञा के पाँचों-विभागों को पञ्च प्राण या पञ्च इन्द्रिय कहते हैं। जिनमें अग्नि देवता वाक् होकर मुख में रहता है और वायु प्राण अर्थात् श्वास रूप से नासिका में, सूर्य चक्षु रूप से नेत्र में और दिग् देवता श्रोत रूप से कर्ण में और चन्द्रमा मन रूप से स्नायु और शोणित में व्याप्त रहता है। इनमें मन इन्द्रिय अन्य चार इन्द्रियों का आकाश के अनुसार स्थान होता है, अर्थात् वाक् प्राण, चक्षु, श्रोत्र ये चारों ही मन रूपी प्रज्ञा के

आधार पर काम करते हैं । इन चारों में मन भी साथ रहता है । किन्तु मन इससे अलग रहकर स्वतन्त्र
रूप से भी मनन आदि संकल्प विकल्प किया करता है । तात्पर्य यह है कि हृदय से लेकर मस्तिष्क तक
मन इन्द्रिय का रूप है जिसके मध्य में मुख, नाक, आँख, काम ये चारों इन्द्रियाँ सिलसिलेवार जमे हुए हैं ।
इस प्रकार अध्यात्म में परिणत पांचों देवताओं से सूर्य संबन्धि अधिदैवत के पांचों देवता प्रतिक्षण संबंध
रखते हुए एक एक चक्र बनाते हैं । अर्थात् इन पाँचों इन्द्रिय प्राणों के रस प्रतिक्षण अधिदैवत के अपने-
अपने देवताओं में जाते रहते हैं, और अधिदैवत से देवताओं के रस प्रतिक्षण आकर अध्यात्म की कमी
पूरी होती रहती हैं । जब तक बाहर वाले प्राणों से भीतर वाले प्राणों का संबन्ध न हो तब तक ये
इन्द्रियाँ कोई भी अपना काम नहीं कर सकती । बाहर के देवता बाहर के अर्थों को इन पाँचों इन्द्रियों में
पहुँचाते हैं । तब इन अर्थों को भीतर वाली प्रज्ञा ग्रहण करके उनका ज्ञान उत्पन्न करती है, और उसी से
वह जीवित रहता है । बाहर के देवताओं से संबन्ध टूट जाने पर बाहर के अर्थों का भीतर जाना असंभव
हो जाता है, और इसीसे अर्थों का ज्ञान उत्पन्न न होकर प्रज्ञात्मा के पाँचों विभाग एक ही मुख्य प्राण
में अर्थात् ❀क्षेत्रज्ञ आत्मा में लीन हो जाते हैं । चिरकाल तक इस प्रकार होने से प्रज्ञात्मा का नष्ट होना
संभव हो जाता है । इस प्रकार इस प्रज्ञात्मा की ये पाँचों इन्द्रियाँ पाँच आयतन मानी जाती हैं । अर्थात्
इन पाँच स्थानों में बैठकर बाहर वाले देवताओं से संबन्ध करता हुआ अपना अन्न ग्रहण करता है, उन्हीं
स्थानों को आयतन कहते हैं ।

## ४—इन्द्रियों का देवतापन

इस शरीर में जितनी इन्द्रियाँ हैं, वे सब एक ही प्राज्ञ के स्वरूप हैं, जिनके पाँच देवताओं के
कारण पाँच भेद हो गये हैं । ये पाँचों देवता सूर्य से आकर इस शरीराभिमानी क्षेत्रज्ञात्मा में आश्रित
होते हैं और फिर इस क्षेत्रज्ञ से निकल कर सूर्य से मिलते रहते हैं । जिस प्रकार पानी के अन्दर प्रति-
बिम्बित सूर्य में आकाश के सूर्य की किरणें प्रतिक्षण नयी-नयी आती रहती हैं और निकलती रहती हैं,
किन्तु उनका सिलसिला न टूटने के कारण जिस प्रकार आकाश के सूर्य में चारों ओर किरणें जमी हुई
स्थिर दीखती हैं, उसी प्रकार पानी के सूर्य में भी वे स्थिर ही दीखती हैं, परन्तु वास्तव में वे बदलती
रहती हैं । उसी प्रकार हमारे शरीर के अन्दर क्षेत्रज्ञ आत्मा भी आकाश के सूर्य के अनुसार सर्वदा
किरणों से चारों ओर चमकती रहती है, परन्तु उसकी वे किरणें वास्तव में बदलती रहती हैं ।

जिस प्रकार बाहर के सूर्य में ( आकाश ) अन्दर एक प्राण इन्द्र नाम का रहता है, उसी प्रकार
इस क्षेत्रज्ञआत्मा में एक मुख्य प्राण इन्द्र नाम का है वह प्रज्ञामय है और पांच देवता उसके आश्रित रहते
हैं । उन देवताओं से पांच रूप में परिणत हुई प्रज्ञा ही उस मुख्य प्राण इन्द्र की इन्द्रिय कहलाती है । वह
अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, दिक् इन पांच देवताओं के भेद से वाक्, प्राण, चक्षु मन और श्रोत्र इन पांचों
नामों से कहा जाता है ।

❀ क्षेत्रज्ञ—कारयिता (काम कराने वाला) दीपक के समान ।
महान्—न कर्ता न कारयिता
प्राज्ञ—कर्ता, चक्षु के समान ।

सूर्य आदि प्रत्येक पिण्ड से जहाँ तक रश्मियाँ जाती है, वहाँ तक उन रश्मियों के पांच विभाग होकर इन पांच देवताओं का स्वरूप बनता है। उनके ५ विभाग इस प्रकार हैं कि यदि उन रश्मियों को ३३ भांगों में बांट दें तो आदि के ३ भागों को आत्मा या ब्रह्म कहा जायगा। उन तीनों के सोम पर ६ मिलाने से त्रिवृत्स्तोम होता है। (त्रिवृत् ९ को कहते हैं) और उसे ही अग्नि कहते हैं। १-त्रिवृत् पर ६ भाग मिलाने पंचदशस्तोम होता है, इसे ही वायु या इन्द्र देवता कहते हैं। २-पञ्चदश पर ६ भाग मिलाने से एकविंशस्तोम होता है, इसे ही आदित्य या सूर्य कहते हैं। ३-एकविंश पर ६ भाग मिलाने से त्रिणवस्तोम अर्थात् सप्तविंशस्तोम होता है, और उसे ही चन्द्र कहते हैं। ४-त्रिणवस्तोम पर ६ भाग मिलाने से त्रयस्त्रिंस्तोम कहते हैं उसे ही दिक्सोम कहते हैं। ५-ये ही पांच देवता हैं। ३३ का केन्द्र सप्तदशस्तोम है, वही प्रजापति देवता है। जो कि दोनों ओर सोलह २ भागों को ग्रहण किये हुए ३३ भागों पर आक्रांत रहता है। इसी कारण पांचों देवता जिस प्रकार मूलआत्मा के अधीन रहते हैं उसी प्रकार इस मध्यप्रजापति के भी आश्रित हैं। इस प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी अर्थात् स्वयंज्योति, परज्योति या अज्योति, या रूपज्योति कोई भी पिण्ड क्यों न हो सभी में ३३ भागवाले प्राण तत्व सर्वदा निकलकर एक मण्डलरूप बनाते हैं। जिनके पांच विभागों को ही पांच देवता कहते हैं। जबकि सूर्य का ही रस हमारे शरीर में आकर क्षेत्रज्ञआत्मा बनता है, तो संभव है कि उससे भी ३३ भाग वाले प्राण विकसित होकर एक मण्डल बनावें और उपर्युक्त के अनुसार उसमें भी ५ देवता हों इन्हीं ५ देवताओं का थोक एक रूप में आकर प्रजापति कहलाता है। जो कि इस सर्वांग शरीर में नख और केश को छोड़कर सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रजापति ५ देवताओं की ५ शक्तिवाला होने के कारण ५ इन्द्रियों का काम कर सकता है, और वह जाग्रत अवस्था में नियत ५ स्थानों से अपना अन्न अर्थात् बाहर के भूतों का संस्कार ग्रहण किया करता है और स्वप्न अवस्था में भीतर आये हुए संस्कारों को ही उलट पुलट किया करता है। किन्तु सुषुप्ति अवस्था में बाहर से अन्न ग्रहण करना बन्द हो जाता है, क्योंकि इनकी सब शक्तियां अर्थात् पांचों देवता मूलआत्मा में उस समय लीन हो जाते हैं। तथापि अग्नि, वायु, सूर्य, इन तीनों का जिस प्रकार लय होता है उसी प्रकार सोम या दिक् का लय होने पर भी कुछ २ अंश शरीर के प्रत्येक भागों में भी बना ही रहता है। जिस प्रकार रात्रि के घोर अन्धकार में सूर्य, चन्द्र, अग्नि के प्रकाशों का अत्यन्त लोप होने पर भी आकाश में टिमटिमाते हुए ताराओं की कुछ झलक उस अन्धकार में भी सर्वत्र व्याप्त रहती है। उसी प्रकार इस शरीर के सर्वाङ्ग में ज्ञान प्रकाश का अधिकांश लोप होने पर भी बहुत थोड़ा अंश सर्वत्र व्याप्त रहती है। यही कारण है कि घोर निद्रा में सोते रहने पर भी दो चार मनुष्यों में से जिस मनुष्य का नाम लेकर आवाज देते हैं तो उसी नाम वाला मनुष्य उठ बैठता है, और मनुष्य सोते रहते हैं। किसी समय यह भी देखा गया है, कि गहरी नींद में सोता हुआ मनुष्य जब बर्राने लगता है तो उस समय पूछने पर कभी २ वह मनुष्य उत्तर भी देता है और सूई चुभाने से, पानी डालने से, आग तपाने से वह बेखबर मनुष्य भी जाग सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि शरीर के चर्म भाग में भी कुछ ज्ञान का भाग उस गाढ़ निद्रा में भी बना ही रहता है, जिसके कम्पन से मुख्य आत्मा में गये हुए पांचों देवता भी आघात पाकर एकाएक अपने आयतन इन्द्रियों में दौड़ आते हैं, जिससे वह मनुष्य तुरन्त जाग उठता है। इस प्रकार सूई इत्यादि से

आघात पहुँचाना पाँव से सिर तक प्रत्येक अङ्ग में किया जा सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि वह पांच देवता वाला प्रजापति एक रूप से पांव से सिर तक संपूर्ण शरीर में व्याप्त है, और वही प्रजापति प्राज्ञ नाम की मेरी आत्मा है।

## ५—प्राज्ञ का भिन्नरूप धारण करना

ज्ञान को उत्पन्न करने में किसी इन्द्रिय को भी स्वातन्त्र्य नहीं है। ये इन्द्रियां ज्ञान को उत्पन्न करने का पद अर्थात् स्थान मात्र हैं, भिन्न २ काम करता है, उन्हीं कामों को भिन्न २ ज्ञान कहते हैं। कितने ही विद्वान् प्राण को ही मुख्य कहकर शेष सब इन्द्रियों को उसी का भेद मानते हैं। इसी प्रकार कोई वाक् ही को या चक्षु ही को मुख्य इन्द्रिय कहकर मानते हैं। परन्तु वास्तव में यह सब अधूरी वस्तु की उपासना करते हैं। क्योंकि इन्द्रियों से जो भिन्न २ प्रकार के ज्ञान होते हैं उसको न प्राण ही कह सकते है न चक्षु ही कह सकते हैं। क्योंकि जिस समय वह प्राण है उस समय न चक्षु है न वाक् है, और जब चक्षु है तब वह न प्राण है न वाक् है। तात्पर्य यह है कि ये सब दूसरे काम से संबन्ध न रखते हुए केवल एक ही एक काम के भाव हैं, इसीलिये अधूरे हैं। किन्तु ये पांचों ही काम जिस किसी एक तत्त्व के हैं जो कि वाक् प्राण, चक्षु आदि पांचों नामों से कहा जा सकता है उस एक तत्त्व को वाक्, या प्राण या चक्षु आदि का नाम न देकर आत्मा इस पद से व्यवहार किया जाता है। वह आत्मा ही एक ऐसा तत्त्व है कि श्वास लेते समय प्राण, बोलते समय वाक्, देखते समय चक्षु, सुनते समय श्रोत्र, मनन करते समय मन, कहा जाता है। अर्थात् ये पांचों ही एक ही आत्मा तत्व के पांच काम हैं। भिन्न २ काम के करते समय भिन्न २ नाम से कहा जाता है, परन्तु वास्तव में वह आत्मा एक है। वाक्, प्राण, चक्षु आदि यद्यपि परस्पर एक से एक भिन्न है, किन्तु आत्मा से ये पांचों ही भिन्न नहीं है। अर्थात् आत्मा ही वाक् है, आत्मा ही प्राण है, आत्मा ही चक्षु है, आत्मा ही श्रोत्र है और आत्मा ही मन है।

## ६—इन्द्रिय प्राणों का एक ही प्रज्ञा की ओर झुकाव

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन ये पाँचों भिन्न-भिन्न देवता होने पर भी पाँचों ही अग्नि रूप से प्रज्ञा में ठहरे हुए रहते हैं। प्रज्ञा और ये पाँचों देवता इनके मेल से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यद्यपि ज्ञान की उत्पत्ति में एक प्रज्ञा और दूसरा पाँचों देवताओं में से एक देवता ये दोनों ही सहकारी हैं। तथापि इन्द्रियों के भिन्न-भिन्न ज्ञान को प्रज्ञा ही कहना चाहिये, क्योंकि देवता पांचों ही जड़ स्वरूप हैं। किन्तु प्रज्ञा चिदाभास के कारण चेतन है, किन्तु यह अवश्य कहना होगा कि प्रज्ञा अपने स्वरूप से निर्विशेष है, प्रज्ञा के एक रूप होने पर भी जो भिन्न-भिन्न पाँच रूप के पाँच ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होते हैं यह प्रज्ञा में विशेषता उसमें पाँच देवताओं के मिलाव के कारण से ही है फिर भी उनमें प्रज्ञा ही की मुख्यता है इसीलिये कौषीतक ने इन्द्रिय प्राणों को "एकभूयता" कहा हैं। अर्थात् ये इन्द्रिय प्राण एक साथ पाँचों काम नहीं करते हैं, एक क्षण में एक ही इन्द्रिय का काम होता है। सुनते समय देखना और देखते समय बोलना कोई भी दो इन्द्रियों का काम साथ नहीं होता। अर्थात् देखते समय और चारों इन्द्रियों काम बन्द हो जाता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि सब देवता मिलकर देखने के समय देखने ही के लिये प्रज्ञा की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार सुनने के समय सुनने ही के लिये शेष चारों

देवता प्रज्ञा की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार सब इन्द्रिय प्राण एक समय में एक ही कर्म करते हुये पूर्ण रूप से प्रज्ञा में मिल जाते हैं। इसीलिये प्रज्ञा पाँच ज्ञानों में वंटकर प्रत्येक ज्ञान में अधूरी नहीं रहने पाती। किन्तु प्रज्ञा की जितनी मात्रा क्षेत्रज्ञ विज्ञान में रहती है, उस पूर्ण प्रज्ञा मात्रा से एक एक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसलिये ऐतरेय आदि ऋषियों ने यह कहा है कि प्राणी श्वास लेते समय बोल नहीं सकता, और बोलने की दशा में श्वास नहीं ले सकता। क्योंकि श्वास लेने में सब प्राणों का उपयोग होने के कारण बोलने के लिये प्राण की मात्रा नही बचती इसी अभिप्रायः को लेकर वेद में एक मन्त्र कहा है कि—

**एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश, स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।**
**तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितम्त माता रेढि स उ रेढि मातरम्** ॥ऋ. सं. ८।६।१६

इसी अभिप्राय से कौषितक आदि ऋषियों ने प्राणाग्निहोत्र कहा है। अर्थात् प्रत्येक जीव इस प्राण के द्वारा प्रतिक्षण अग्निहोत्र करता रहता है। अर्थात् जब बोलता है तब वाक् में प्राण (श्वास) को होमता है और जब श्वास लेता है तब प्राण में वाक् को होमता है। तात्पर्य यह है कि देवताओं के पाँच होने पर भी प्रधान प्रज्ञा एक होने से एक समय एक ही काम होता है वही प्रज्ञा वाक् की वाक् है, प्राण का प्राण है, चक्षु का चक्षु है, श्रोत्र का श्रोत्र है और मन का मन है।

## ७—इन्द्रियों में प्राण की मुख्यता

इन्द्रियों में प्राण इन्द्रिय चारों से श्रेष्ठ है। मन इन्द्रिय शेष चार इन्द्रियों का आयतन है। चक्षु इन्द्रिय शेष चार इन्द्रियों की प्रतिष्ठा है। वाक् इन्द्रिय शेष चार इन्द्रियों में वरिष्ठ है, और श्रोत्र इन्द्रिय शेष चार की सम्पत्ति है तात्पर्य यह है कि पाँच इन्द्रियों में प्रत्येक इन्द्रिय शेष चार इन्द्रियों से उपयोग रखता है और सहकारी होता है। क्योंकि ये पाँचों ही इन्द्रियाँ कुछ न कुछ किया करती हैं। कुछ व्यापार करके ही ज्ञान का उत्पादन करने में समर्थ होती है। यह क्रिया करना प्राण के सम्बन्ध से है, ज्ञान अक्रिय है। यदि इन पाँचों में प्राण का सम्बन्ध हटा दिया जाय तो किसी भी इन्द्रिय से कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता, इससे पाँचों ही इन्द्रिय प्राण के आश्रित हैं। इसलिये प्राण को सब इन्द्रियों से श्रेष्ठ कहते हैं ॥१॥

इसी प्रकार मन सबका आयतन है। क्योंकि मन के सम्बन्ध बिना किसी इन्द्रिय से भी कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। मन का स्थान हृदय से आरम्भ करके मस्तिष्क तक है, उसके अन्तर्गत मध्य में वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र इन चारों का सन्निवेश है अर्थात् मन के आधार पर शेष चारों इन्द्रियाँ ठहरकर और मन को साथ लेकर इन्द्रियाँ काम करती हैं इसलिये मन चारों का आयतन कहा गया है ॥२॥

इसी प्रकार चक्षु से जगत् के सब पदार्थ देख कर ही ज्ञान के तीन पाद उत्पन्न होते हैं। उसी से अधिक भाग में ज्ञान उत्पन्न होकर उसी ज्ञान के विषय पर विचार करने के लिये मन उसी को कहने के लिये वाक् प्रवृत्त होती है। यदि चक्षु किसी वस्तु को न दिखाती तो मन को विचार के लिये वाक् को

कहने के लिये अवसर ही न मिलता। और श्रोत्र जो शब्दों को सुनता है उससे दो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, एक शब्द का और दूसरा उसके अर्थ का। इनमें निरर्थक शब्द ज्ञान निःसार है किन्तु उससे अर्थ ज्ञान होता है, वह देखी हुई वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है। इसलिये श्रोत्र ज्ञान में भी चक्षु की सहायता है, और प्राण की क्रिया है वह भी इस रूप द्रव्य शरीर से सम्बन्ध रखती है। इसलिये चक्षु सबकी प्रतिष्ठा है ।।३।।

इसी प्रकार वाक् सब इन्द्रियों के काम को कहकर ज्ञान का स्वरूप बाँधती है। अर्थात् मन में जो समझते हैं, उस समझ को मन नहीं कह सकता, चक्षु को देखने को चक्षु नहीं कह सकता, श्रोत्र के सुनने को श्रोत्र नहीं कह सकता, केवल वाक् ही कहती हैं, कि मैंने समझा, देखा, सुना इत्यादि इससे उन चारों का ज्ञान इस वाक् को अपने पेट में लेकर स्वरूप धारण करता है। इसलिये वाक् सब इन्द्रियों का विशिष्ट है (जोरदार है) और गूंगा भी ※परा या पश्यन्ती वाक् के द्वारा ही ज्ञान का स्वरूप बनता है। इसलिये उसके भी ज्ञान में वाक् का प्रवेश है ।। ४।।

इसी प्रकार श्रोत्र अन्तिम सीमा है। जिस प्रकार आत्मा की आत्मा, शरीर, प्रजा और वित्त जो चार भाग हैं, उसमें वित्त ही अन्तिम सीमा है। उसी प्रकार इन्द्रिय जन्य ज्ञान में श्रोत्र ही अन्त में आता है, इसलिये वह वित्त है, उसीसे उसको धन सम्पत्ति कहा है ।। ५ ।।

इन प्राणों में मुख्यता के अनुरोध से यों क्रम है कि श्रोत, चक्षु, वाक्, मन, प्राण तात्पर्य यह है कि श्रोत की अपेक्षा चक्षु की मुख्यता है क्योंकि श्रोत केवल शब्द मात्र को ग्रहण करता है; किन्तु चक्षु शब्द, स्पर्श, रूप इन गुणों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती है। वास्तव में यद्यपि रूप ही इनका मुख्य विषय है, तथापि रूप द्रव्यों में अन्यान्य कितने ही गुणों को भी यह ग्रहण करता है। जैसे कि मौन भाव से पुस्तक बाँचने पर लिखित अक्षरों को देखता हुआ यह चक्षु शब्द को भी ग्रहण करता है और भास्वर शुक्र वाली वस्तु को नेत्र के समीप देखने से नेत्र पर आघात पहुँचता है। इस प्रकार नेत्र उस भास्वर शुक्र के तीव्र स्पर्श अनुभव करता है। और किसी वस्तु में चिकनापना या खुरदरापना हाथ से स्पर्श न करके केवल चक्षु से ही ग्रहण किया जाता है। किसी खम्भे की गोलाई दूर से जानली जाती है इनके अतिरिक्त संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व आदि कितने ही गुण चक्षु से जाने जाते हैं। इसलिये चक्षु, श्रोत्र की अपेक्षा प्रधान है। अब चक्षु की अपेक्षा वाक् प्रधान है। क्योंकि चक्षु से चक्षु-वाली आत्मा में ही ज्ञान उत्पन्न होता है किन्तु वाक् से उस आत्मा को या दूसरी अनेक आत्माओं को भी ज्ञान कराया जा सकता है। वाक् की अपेक्षा मन प्रधान है। क्योंकि प्रथम मन में कोई भाव उत्पन्न होता

※वाक् ४ प्रकार की है—
१—परा (मन में),
२—पश्यन्ती (प्राण में),
३—मध्यमा } हवा में
४—वैखरी }

है जिसको यह वाक् प्रकाश करती है जो विषय मन पर नहीं आता है, उसका अभिनय यह वाक् नहीं कर सकती। इसलिये यह वाक् मन की कृतानुकरा (मन की कृति को अनुकरण करने वाली) है। अर्थात् मन के ग्रहण किये हुए को ग्रहण करने वाली, इसलिये मन प्रधान है। मन की अपेक्षा प्राण प्रधान है। क्योंकि प्राण यदि क्रिया न करें तो मन आदि सभी इन्द्रियों का काम बन्द हो जावें। यह देखा गया है कि बिना कान का बधिर, और बिना चक्षु का अन्धा, बिना वाक् का मूक और बिना मन का बच्चा या पागल जगत में जीवित रह सकता है, किन्तु प्राण के जाने से सब इन्द्रियाँ चली जाती हैं। इससे सिद्ध है कि सब इन्द्रियाँ प्राण बन्धन से बद्ध हैं इसीलिये वैदिक ऋषि गण पांचों इन्द्रियों को पञ्च प्राण कहते हैं।

## ८–प्रज्ञान का विज्ञान से सम्बन्ध

प्राणियों का शरीर पञ्च भूतों का बना हुआ है। उन भूतों के बने हुए शरीर के धातुओं में शोणित ही प्रधान है। उस शोणित में ❀ अङ्गिरा व्याप्त रहता है उसके आधार से वैश्वानर आत्मा रहती है, उसके आधार से तैजस आत्मा और उसके आधार से प्रज्ञान आत्मा रहती है। प्रज्ञान आत्मा से भूतमात्रा, प्रज्ञामात्रा और प्राण-मात्रा ये तीनों मात्रा संबन्ध रखती हैं। कोई भी ज्ञान इन तीनों मात्राओं के बिना स्वरूप नहीं रखता। प्रत्येक ज्ञान में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, और प्रत्येक वस्तुओं का आकार जो भासता है वह भूतमात्रा है। किन्तु उनके स्वरूप को दिखाने वाला भिन्न-भिन्न इन्द्रियों का भाग जिन से चक्षु का ज्ञान, श्रोत का ज्ञान इत्यादि भिन्न प्रकार के ज्ञानों का भेद प्रतीत होता है वही ज्ञानमात्रा है। और जो इन ज्ञानों में ज्ञान होने की भिन्न-भिन्न क्रियायें प्रतीत होती हैं वह प्राणमात्रा है। कोषीतक ऋषि का मत है कि जिस प्रकार रथ के चक्र में अधि (भूत) अरे (ज्ञान) और अरा धुरी से (प्राण) बद्ध है, उसी प्रकार भूतमात्रा प्रज्ञामात्रा से और प्रज्ञामात्रा प्राणमात्रा से बद्ध है। प्राणमात्रा ही इन तीनों में प्रधान है यह प्रज्ञा की प्राणमात्रायें क्षेत्रज्ञ के भीतर मुख्य प्राण से संबन्ध रखते हैं, और इस मुख्य प्राण में चिदात्मा की चेतना व्याप्त है। इसलिये वह विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा है, और ये सब महान् आत्मा के आधार से है। स्त्री पुरुष के अनुसार क्षेत्रज्ञ का महान् के साथ घनिष्ठ संयोग संबन्ध है, जिससे ये सब आत्मा मिलकर एक आत्मा इस शरीर का धारण और सञ्चालन करता है।

## ९–प्राज्ञ की देह-भेद से भिन्नता

वैश्वानर और तैजस इन दोनों आत्माओं के साथ मिलकर रहता हुआ प्राज्ञात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न होता है। वही शरीर का अभिमानी है, इसलिये शरीर कहलाता है। जो प्राज्ञात्मा जिस शरीर का अभिमानी है उस शरीर की इन्द्रियों से ज्ञानवन् है, सुखी दुःखी है, और उस शरीर से किये हुए कर्मों के द्वारा पापी पुण्यात्मा है। वास्तव में शरीरावच्छिन्न यही प्राज्ञात्मा शरीर के भेद से भिन्न-भिन्न अनन्त हैं क्षेत्रज्ञात्मा एक है, वह अनन्त नहीं है, किन्तु उसका इस प्राज्ञात्मा से सम्बन्ध रहता है और प्राज्ञआत्मायें अनन्त हैं। इसलिये प्राज्ञ के सम्बन्ध से क्षेत्रज्ञ आत्मा भी शरीर में बद्ध प्राय (प्रतिबिम्ब बद्धप्राय जलका)

---

❀ अग्नि, यम, आदित्य इन तीनों मिले हुए रूपों को अङ्गिरा कहते हैं, और वायु, आप्, सोम इन तीनों के मिले हुए रूप को भृगु कहते हैं।

होकर भिन्न भिन्न सा प्रतीत होता है। किन्तु यदि प्राज्ञ का सम्बन्ध छूट जाय तो उस क्षेत्रज्ञ का शरीर-अभिमान भी छूट जाता है। इसीलिये इस शरीर के किये हुए पाप, पुण्य की या सुख, दुःख की वासना इसमें नहीं होती। यह क्षेत्रज्ञ शुद्ध में प्राज्ञ से अलग होकर सूर्य में लीन हो जाता है। किन्तु प्राज्ञ आत्मा कर्म्म जन्य संस्कारों के वशीभूत होकर छोटे बड़े अनन्त योनियों में भ्रमण किया करता है। महान् योनि में उसका महान् शरीर क्षुद्र योनि में क्षुद्र शरीर पाता है। क्षुद्रयोनि में इन्द्रियाँ अल्प होती हैं, इसलिये ज्ञान भी अल्प होता है, और इन्द्रियों की शक्तियाँ भी अल्प होती हैं। इसी प्रकार महान् योनि में ज्ञान या शक्ति में अपेक्षाकृत अधिकता होती है। कीमी-कीटों की अपेक्षा मनुष्यों में जिस प्रकार इन्द्रियाँ या इन्द्रियशक्ति अधिक है, उसी प्रकार मनुष्य की अपेक्षा भी देवयोनि में अधिक हैं। अर्थात् मनुष्य में १३ या १४ इन्द्रियाँ हैं। किन्तु देव योनि में १७ अधिक इन्द्रियाँ हैं। अर्थात् ८ तुष्टि (अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व) और ९ निधियाँ हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों की न्यूनाधिकता प्राज्ञ में योनि के भेद से होती है। अर्थात् बड़ी योनि की प्राज्ञ आत्मा जब छोटी योनि में जाती है तो उसकी इन्द्रियाँ और इन्द्रियों की शक्ति पाप कर्मों के प्रभाव से कम हो जाती है और छोटी योनि की प्राज्ञ आत्मा यदि बड़ी योनि में जाती है तो पुण्य कर्म के प्रभाव से इन्द्रियाँ या इन्द्रिय शक्ति बढ़ जाती है। प्रत्येक प्राज्ञ में ज्ञान और कर्म के प्रभाव से उसकी प्रकृति पर परिवर्तन होता रहता है। उस प्रकृति में जैसा संस्कार वासना स्थिर हो जावे वह संस्कार या वासना उस प्राज्ञात्मा को उस छोटी-बड़ी योनि में जाने के लिये विवश कर देते हैं। यदि मनुष्य श्वान से अधिक प्रेम या अधिक सहवास करे तो सम्भव है कि मनुष्य की प्रकृति में श्वान की वासना अधिकतर आवेश करे और उसके कारण उस मनुष्य को श्वान योनि में जाना पडे। जबकि इस प्रकार प्रकृति में संस्कार का अभाव पड़ता है तो उस आत्मा की प्रकृति में अधम संस्कार लाना ही पाप है और उत्तम संस्कार का प्रवेश करना ही पुण्य है।

## १०—प्रत्यय की वृद्धि से विज्ञान की वृद्धि

इन्द्रिय जन्य ज्ञान को 'प्रत्यय' कहते हैं। इन प्रत्ययों का सम्बन्ध प्राज्ञ से है। ज्यों ज्यों प्रत्यय अधिक होता जाता है, त्यों त्यों प्राज्ञ आत्मा की वृद्धि प्रतीत प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में प्रज्ञान में बैठा हुआ विज्ञान आत्मा बढ़ता रहता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत् इन तीनों से बना हुआ तैजस, बढ़ता हुआ वैश्वानर को बढ़ाकर साथ ही एक एक अंग को बढ़ाता रहता है, जिससे शरीर बढ़ जाता है। शरीर के बढ़ने से प्राज्ञात्मा भी बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा में मुख्य प्राण और प्राज्ञात्मा दोनों ही रहते हैं। मुख्य प्राण से कर्म इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध है, किन्तु प्राज्ञात्मा का सहकारिता सम्बन्ध है। क्योंकि बिना ज्ञान की सहायता के कोई भी कर्म इन्द्रिय अपनी क्रिया नहीं करती। इसी प्रकार प्राज्ञात्मा से ज्ञान इन्द्रियों का साक्षात् सम्बन्ध है, किन्तु मुख्य प्राण का सहकारिता सम्बन्ध है। क्योंकि बिना क्रिया किये कोई भी ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकता। ज्ञान इन्द्रिय से जो बाहर का अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसमें अर्थ पर आये हुए सूर्य रश्मि जब अर्थ के परमाणु से संयोग करके उस परमाणु के परिमाण से दृष्टि पर आता है, तो तैजस प्राण का सोमरस उसी परिमाण का वैसा ही

मिलकर अर्थ के आकार में आजाता है। वही चन्द्र रस धीरे धीरे तैजस आत्मा के चन्द्र भाग में संचित होता रहता है वही संचित भाग विद्युत् के द्वारा विज्ञान के सम्मुख जब जब आता है तो उसकी 'प्रत्यभिज्ञा' या स्मरण रूप ज्ञान हुआ करता है। अर्थ रूप में आया हुआ चन्द्र रस विज्ञान से जब तक भासता रहता है, तब तक उसको प्राज्ञात्मा कहते हैं। यद्यपि यह प्राज्ञात्मा स्वयं कुछ नहीं बढ़ता, तथापि उसके भासने का स्थान जो अर्थ के आकार में आया हुआ चन्द्र रस है वह अवश्य बढ़ता है। उसके बढ़ने से प्राज्ञात्मा का भी बढ़ना प्रतीत होता है। यही प्राज्ञात्मा का बन्धन के लिये शुक्राधान संस्कार है। यह संस्कार दृढ़ मूल हो जाता है, जबकि उसकी कामना की जाती है। कामना ही बन्धन के लिये रस्सी या गूंद का काम देती है। किन्तु यदि निष्काम ज्ञान होता है तो प्राज्ञात्मा में आया हुआ शुक्र दृढ़मूल नहीं होता। इसलिये दृढ़ संस्कार न होने से प्राज्ञात्मा बद्ध नहीं होता। बद्ध होने पर प्राज्ञात्मा उस शुक्र के अनुसार भिन्न भिन्न गति में जाता है। किन्तु यदि अबद्ध होकर प्राज्ञात्मा बढ़ता रहे तो प्रज्ञान अन्त में विज्ञान रूप होता हुआ पृथक् स्वरूप बनकर विज्ञान आत्मा में लीन होता रहता है। इससे विज्ञान आत्मा के साथ सूर्य में लीन होकर मुक्त हो जाता है।

## ११—स्वर्ग में नित्य जाना

यह प्राज्ञात्मा, आनन्द, विज्ञान, मन, और अन्न इन पांचों से कदापि शून्य नहीं होता, और सभी कामनायें इसकी सत्य ही होती हैं। यह सत्य संकल्प ही यहां से जाता है। तात्पर्य यह है कि लोक त्रयातीत चिदात्मा से आनन्द की मात्रा, सूर्य से विज्ञान की मात्रा, चन्द्रमा से मन की मात्रा अन्तरिक्ष से प्राण की मात्रा, और पृथ्वी से अन्न की मात्रा—आकर यह प्राज्ञ आत्मा पञ्च कोश का बनता है। सब से बाहर अन्नमयकोश, उसके भीतर प्राणमयकोश, उसके भीतर मनोमयकोश, फिर भीतर विज्ञानमयकोश, उसके भीतर आनन्दमयकोश और उसके भी भीतर हमारी प्राज्ञआत्मा है। इन पांचों कोशों के भीतर प्राज्ञआत्मा पर भिन्न २ स्थान से ये पांचों धर्म आकर संचित हुए है। परन्तु ये पांचों ही इस प्राज्ञ आत्मा में स्थिर नहीं रहते। प्रतिक्षण ये पांचों अपनी २ योनि पर जागा करते हैं, यह जाना इनका सत्यसंकल्प है। अर्थात् प्राज्ञ से एक ही स्थान में रहकर भी नियम से परिवर्तित (उलटकर) होकर भिन्न २ स्थानों में भिन्न २ मार्ग से गति करने में ये कदापि चूकते नहीं, अवश्य ही अपने प्रभव स्थान पर पहुँचते हैं, यही इनके संकल्प की सत्यता है। इस प्रकार पृथ्वी, अन्तरिक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और परोरजा इन पांचों स्थानों में जाना ही स्वर्ग में नित्य जाना है। परन्तु इस जाने से यह कल्पना नहीं करना चाहिये कि प्राज्ञआत्मा इन पांचों से कभी शून्य हो जाता है। जिस प्रकार एक जलपूर्ण पात्र जिसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है, यदि उसको एक कोस ले जायें तो भी उस जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दीखता ही रहेगा। परन्तु विश्वास करो कि चन्द्रमा की वह रश्मि जिससे पहले प्रतिबिम्ब बना था प्रत्येक पद में बदलता जा रहा है। तथापि अविच्छिन्नगति से संयोग, वियोग होते रहने के कारण जल में प्रतिबिम्ब स्थिर सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहां प्राज्ञ में भी ये पांचों धर्म अविच्छिन्नगति से प्रतिक्षण आते जाते रहते हैं। इसी कारण नित्य स्वर्ग जाने पर भी प्राज्ञआत्मा नित्य, पञ्चकोशमय बना रहता है। जिस कारण सत्य के मध्य या उदर में अनृत से प्राज्ञ में इन पञ्च कोशों का व्यभिचार नहीं और प्रज्ञा के अर्थों का भोग इन पांचों रूपों से प्रतिक्षण होता रहता है। इसी से इन पांचों का स्वर्ग में नित्य जाना हमारे विज्ञान में नहीं

आता। जैसे किसी हौद में समान दो मार्गों से पानी आता जाता रहे और वे दोनों मार्ग ढक दिये जायें तो हौद का जल स्थिर प्रतीत होगा। उसी प्रकार ये पांचों धर्म स्वर्ग में जाते हुये भी स्थिर प्रतीत होते हैं ये पांचों ही जब अपने २ प्रभव से मौलिक रूप आते हैं, तब वे सत्य हैं और जब परिवर्तित होकर फिर अपने प्रभव में जाते हैं तो उस समय भी मौलिक रूप होने के कारण वे पांचों सत्य हैं। किन्तु वे पांचों प्राज्ञात्मा में आकर एकत्रित होकर मिश्रित रूप में होते हैं। तब उनका रूप यौगिक होने के कारण अनृत या मिथ्या है। इसी बात की सूचना के लिये 'सतियं' शब्द का सत्यं शब्द बोला जाता है। अर्थात् इस शब्द में 'स' पूर्ण रूप है और 'य' पूर्ण रूप है। किन्तु 'त' बिना स्वर के होने के कारण खण्डित रूप में है, इसीलिये उसको 'ति' रूप में कहना अनृत या मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि यह 'सत्य' शब्द सूचित करता है, कि इस जगत् की प्रत्येक वस्तु आदि में पूर्णरूप या मौलिक सत्य थी और पश्चात् भी पूर्णरूप मौलिक सत्य ही रहेगी। मध्य में जो कुछ यह जगत् रूप दीखता है सब मिथ्या है।

## १२—प्राज्ञ आत्मा का मुख्य स्वरूप

(क) इस शरीर में अन्तरिक्ष से वायु आकर इस शरीर का निर्माण करता है। सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त होकर केन्द्र की शक्ति से अधिक मात्रा में वह वायु सर्वाङ्ग शरीर को पकड़े हुए केन्द्रस्थ होता है। किन्तु केन्द्र इस शरीर में पांच हैं—ब्रह्मरन्ध्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, योनि या ब्रह्मग्रन्थि। इन पांचों केन्द्रों का भी केन्द्र 'हृदय' है। इस हेतु सब केन्द्रों की अपेक्षा हृदय में अधिक मात्रा से वायु आकर एक प्रकार बद्ध और स्थिर हो जाता है। इसी वायु को जो कि सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त होता हुआ हृदय में अधिक मात्रा से है उसको व्यान कहते हैं। इस व्यान में स्वभावतः विक्षेपक शक्ति है, इसी हेतु सूर्य से आये हुए प्राणवायु को अपने आघात से उलटा द्यौलोक में फेंकता है। इसी प्रकार पृथ्वी से आये हुए वायु को अपने आघात से पृथ्वी की ओर फेंक देता है। इस प्रकार तीन लोकों के तीन वायु से पांच वायु सिद्ध होते हैं। प्राण आता हुआ और उदान उल्टा जाता हुआ ये दोनों दिव्य वायु हैं, पृथ्वी से आता हुआ समान और पृथ्वी में उलटा जाता हुआ अपान ये दोनों पृथ्वी की वायु हैं और दोनों का योग कराने वाला अन्तरिक्ष का मध्यवर्ती वायु व्यान है। इन पांचों वायुओं में व्यानवायु ऊपर प्राण और अपान का जो घर्षण होता है उसी से एक नयी यौगिक अग्नि उत्पन्न होती है उसे 'वैश्वानर' कहते हैं। तीन लोकों को तीन विश्व कहते हैं। इन तीनों लोकों के भिन्न २ तीनों प्राण वायुओं को 'नर' कहते हैं। नर का अर्थ सञ्चालन करनेवाला है। तीनों प्राणवायु तीनों विश्वों का सञ्चालन करते हैं, इसलिये उन तीनों को विश्व का नर अर्थात् विश्व के चलाने वाले को विश्वानर कहते हैं। इन तीनों विश्वानरों के परस्पर मेल से यह शरीराग्नि उत्पन्न होती है इसी से इसको वैश्वानर कहते हैं। प्रत्येक पिण्ड में जो एक प्रकार की गरमी मालूम होती है, वह उस पिण्ड का वैश्वानर अग्नि है वही प्रत्येक पिण्ड की आत्मा पहली भूतआत्मा है।

(ख) यह वैश्वानरअग्नि हिरण्यरेता है अर्थात् इसके परमाणु ही सुवर्ण का मूलकारण है इसी से यह वैश्वानर अग्नि अपने परिमाण के अनुसार जहाँ तक व्याप्ति करता है वहां तक हिरण्मय अण्ड कहलाता है। अर्थात् अण्डे के आकार में सुवर्ण का गोला अर्थात् अग्नि के परमाणुओं का गोला उत्पन्न होता

है। इस हिरण्मय अण्ड के केन्द्र में अग्नि की प्रबलशक्ति के कारण जो एक प्रकार का प्राण वायु स्थिर रहता है, उसे ही ब्रह्मा कहते हैं। वैश्वानर के हिरण्यमय पिण्ड में सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत ये तीनों ही तीन २ परिवारों के साथ व्याप्त होकर जो अण्ड के केन्द्र में अपनी शक्ति का आधान करते हैं वही शक्ति तीन तेजों से उत्पन्न होने के कारण तैजस कहलाता है। ब्रह्माण्ड रूपी अण्ड में जो हिरण्यगर्भ कहा जाता है, वही प्राणियों के शरीर में तैजस कहलाता है और इसी को पौराणिक भाषा में ब्रह्मा कहते हैं। यही ब्रह्मा हिरण्यगर्भ या तैजस रूप में प्रत्येक प्राणियों का दूसरा भूतआत्मा है।

(ग) इस हिरण्यगर्भ या तैजस रूपी ब्रह्मा में विद्युत् के कारण सूर्यरस और चन्द्ररस विभक्त होकर दो स्वरूप धारण करते हैं। एक सूर्य प्रधान जिसमें चन्द्ररस गौण है, वह स्वरूप पुरुष की शक्ति रखता है और दूसरा चन्द्र या सोम प्रधान जिसमें सूर्यरस गौण (सहकारी) रहता है, वह स्त्री का स्वभाव रखता है। इस प्रकार एक ही ब्रह्मा स्त्री और पुरुष के स्वरूप में दो हो जाता है। ये दोनों ही नित्य संयुक्त रहते हैं, यहां तक कि प्रत्येक पुरुष या प्रत्येक स्त्री के शरीर में ये दोनों स्वरूप मिलकर रहते हैं। दाहिना भाग पुरुष का है और वाम भाग स्त्री का है पुरुष भाग को इन्द्र कहते हैं और स्त्री भाग को 'विराट्' किन्तु पुरुष के शरीर में इन्द्र अर्थात् पुरुष भाग प्रधान रहता है। इसी प्रकार स्त्री के शरीर में विराट् अर्थात् स्त्री आत्मा ही प्रधान रहती है। इसी प्रधानता के कारण जगत् में स्त्री पुरुष कहकर दो स्वरूप के जीव दिखाई पड़ते हैं। स्त्री या पुरुष इन दोनों में से प्रत्येक के शरीर में स्त्री आत्मा या पुरुष आत्मा मिलकर एक तीसरा स्वरूप उत्पन्न करते हैं जिस को भी 'विराट्' ही कहते हैं। 'विराट्' यह शब्द एक छन्द का नाम है, जिसमें १० अक्षर अर्थात् १० अवयव मिलकर कोई स्वरूप बनता हो वह विराट्छन्द का होता है इसीलिये विराट् कहलाता है। स्त्री आत्मा या पुरुष आत्मा दोनों मिलकर जो नया स्वरूप उत्पन्न होता है वह स्वभाव से ही १० धर्मों का ग्रहण करने वाला होता है, इसी से इसे विराट् कहते हैं वे १० धर्म ये हैं–१–प्राण, २–देवता, ३–ऋतु, ४–दिक्, ५–छन्द, ६–स्तोम, ७–पृष्ठ, ८–साम, ९–ग्रह १०–ऋषि।

जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो इन दसों को धारण किये हुए न हों अथवा यों कहिये कि इन दसों के व्यूह को ही वस्तु कहते हैं। सभी वस्तुएं इन्हीं दसों धर्मों से बनी हुई हैं।

## १–प्राण

इनमें भी प्राण १० प्रकार का चेतन शरीर में देखा जाता है, कान, आंख, प्राण ये तीनों दो-दो होने से छः हो गये, वाक्, नाभि, शिश्न और गुदा इन चारों के योग से १० प्राण होते हैं। इन से आत्मा भिन्न २ प्रकार के अन्नों को ग्रहण करता है। किन्तु अचेतन धातु इत्यादि इन १० प्राणों को न रखते हुए भी ये प्राण अवश्य रखते हैं। जिससे वे भी अग्नि, सोम आदि पदार्थों को खाया करते हैं। जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो बाहर से अन्न को ग्रहण न करता हो या अपने शरीर के धर्मों को बाहर न निकलता हो, इनमें अन्न ग्रहण करना प्राण का काम है, और निकलना अपान का काम है। इससे प्रत्येक वस्तु में प्राण, अपान का होना सिद्ध है। ( दो प्राणों के सिद्ध होने से पांच प्राण सिद्ध होते हैं )

## २–देवता

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में पांच जाति के देवता रहते हैं–अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और दिक्। अग्नि ८, वायु ११, आदित्य १२, चन्द्र ३, दिक् ३ इनके अतिरिक्त पशु पांच प्रकार के प्रत्येक वस्तु में रहते है प्रत्येक वस्तु में जो एक प्रकार का बल अथवा वस्तु भार दीखता है वह अग्नि का अंश है। और प्रत्येक वस्तु के जो अङ्ग प्रत्यङ्ग नियतरूप से जमाव है या जो उसमें परिवर्तन है ये सब वायु का अंश है और इन वस्तुओं में जो ( अन्न का ग्रहण ) आदान करना और मन का निकालना विसर्ग है। यज्ञ की क्रिया होती है उसका कारण इन में सूर्य है।

अन्न, ऊर्क, प्राण इनके परस्पर परिग्रह से जो चक्कर बनता है उसे ही यज्ञ कहते हैं। अर्थात् जो हम अन्न खाते हैं उसको प्राण ही भीतर ले जाता है, अर्थात् प्राण से अन्न खाया जाता है। अन्न खाया जाता है। अन्न के रस से एक प्रकार का बल होता है, जिसे ऊर्क कहते हैं। उसी ऊर्क बल से प्राण बनता है, और प्राण से फिर अन्न खाया जाता है। यह चक्र की क्रिया जड़, चेतन सभी वस्तुओं में पाई जाती है। यही सूर्य का अंश है। ये तीनों ही देवता गरम हैं, किन्तु शेष दो देवता शीतल हैं। जिनके कारण वस्तु में घनता उत्पन्न होती है और जिनसे सूक्ष्म आत्मा के ऊपर स्थूल पञ्चभूतों का आवरण होकर भिन्न भिन्न वस्तुओं का स्वरूप बन जाता है। जो कुछ इन वस्तुओं में वस्तुओं के परमाणु हैं वे सब इन्हीं पांचों देवताओं के बल से उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् दोनों प्रकार के सोम से स्थूल भूत भाग और तीन प्रकार की अग्नि से इनके भीतर सूक्ष्म भाग बने हुए हैं। इसीलिये यह सिद्धांतरूप से कहा गया है कि–

**'अग्निषोमात्मकं जगत्'** अर्थात् सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोम से बना हुआ है।

## ३–ऋतु

प्रत्येक वस्तु में ऋतु का संयोग है। यानि ऋतुधर्म जड़, चेतन दोनों में समान होते रहते हैं। वृक्ष और चेतन जीवों में ऋतु के समय सन्तान उत्पन्न होता है यह ऋतुधर्म उनमें प्रत्येक ऋतु में बदलते रहते हैं जैसा कि गरमी के दिनों में आम का फल होता है, शीतकाल में नहीं होता। भिन्न २ अन्न भी भिन्न २ ऋतुओं में होते हैं। अर्थात् जब ऋतुधर्म उनमें आता है तब उत्पत्ति करने की शक्ति होती हैं। ऋतु के अभाव में ऋतुधर्म के अभाव से उत्पत्ति नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्येक वस्तु में ऋतुधर्मों का प्रवेश निर्गम (निकलता) होता रहता है। ऋतु यद्यपि प्रत्येक वस्तु की अपेक्षा असंख्य प्रकार की होती है, वे सब भिन्न २ हैं। किन्तु सर्व साधारण ऋतु ६ ही प्रकार की हैं। १–वसन्त, २–ग्रीष्म, ३–वर्षा ये तीन ऋतु हैं जिनमें अग्नि की मात्रा बढती जाती है तत्पश्चात् ४–शरद, ५–हेमन्त, ६–शिशिर ये तीनों ऋतु वे हैं, जिनमें अग्नि की मात्रा गिरती जाती है इस प्रकार यद्यपि छः ऋतु होती हैं जो कि ६०-६० दिन की मानी जाती है, किन्तु पदार्थों में इनका असर ५ प्रकार के देखने से मुख्यतया पांच ही मानी जाती है, जो कि एक-एक ७२ दिन की होती है। इन पांचों ऋतुओं के चढ़ाव उतार के अनुरोध से ३६ छत्तीस २ दिन के १० ऋतु सिद्ध होते हैं, इनका सम्बन्ध प्रत्येक वस्तु में साधारण है।

## ४–दिक्

प्रत्येक वस्तु चारों ओर से दबा या घिरा हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु में मुटाई होती है जो कि सीमा से बाहर जिन धर्मों से उसकी मुटाई जुदा होती है उन्हीं धर्मों को दिक् कहते हैं। यद्यपि मुटाई वाले वस्तु में अन्तिम पृष्ठ के परमाणु के अनुरोध से ये दिक् अनन्त हो सकती है, तथापि समझने में सौकर्य ( आसानी ) के लिये १० दिशा मानी जाती है। ४–प्रदिशा। ४–उपदिशा और २–अधः ऊर्ध्व। इन दस दिशाओं से प्रत्येक वस्तु जिनमें मुटाई है अवश्य ही घिरे हुए होते हैं। जिनमें ये १० दिशा नहीं हैं उनमें मुटाई भी नहीं होती और वे पृथक् कोई वस्तु कहकर समझे नहीं जाते, इसलिये वस्तु की दिशा भी साधारण धर्म है।

## ५–छन्द

प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई परिमाण होता है यह परिमाण दो प्रकार का है—१–वय और २–वयोनाध। जिन द्रव्यों से वस्तु बनी हुई होती है उसे 'वय' कहते हैं। वय की न्यूनाधिकता या उसकी जाति से वस्तु के स्वरूप में भेद होता है। इसी प्रकार उस वस्तु के आयतन को 'वयोनाध' कहते हैं उस भेद से भी वस्तु में भेद होता है जैसे कोई वस्तु गोल है या त्रिकोण या चौकोर है। इन्हीं दोनों परिमाणों को छन्द कहते हैं। किन्तु इसमें 'वय' को वर्णछन्द और 'वयोनाध' को मात्रा छन्द कहते हैं। वेद में अधिकतर वर्णछन्द का ही निदर्शन है। कोई वस्तु आग्नेय धर्मों से बना होता है उसे गायत्री छन्द कहते हैं और ऐन्द्र ११ धर्म वाले को त्रिष्टुप्छन्द और आदित्य धर्म वाले को जगती १२ छन्द इत्यादि इत्यादि कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु इन दोनों छन्दों से रहित नहीं है इसलिये छन्द भी सब वस्तुओं का साधारण धर्म है।

## ६–स्तोम (प्राणराशि)

प्रत्येक वस्तु में प्राणमय देवों की राशि जिन संख्याओं में प्रायः सन्निविष्ट (जमी हुई) हुआ करती है उन्हीं प्राण राशियों को स्तोम कहते हैं। यह स्तोम ४ प्रकार का होता है—१–अभिप्लव स्तोम, २–पृष्ठ्यस्तोम❀, ३–छन्दोमस्तोम, ४–अविवाक्यस्तोम। अभिप्लवस्तोम ३ प्रकार का है। १–ज्योतिष्टोम [देवता], २–गोष्टोम [भूत], ३–आयुष्टोम [आत्मा]। पृष्ठ्यस्तोम ६ प्रकार का है–१–त्रिवृत्त (६), २–पञ्चदश (१५), ३–सप्तदश (१७), ४–एकविंश ( २१ ), ५–त्रिणव ( २७ ) ६–त्रयस्त्रिंश ( ३३ )। छन्दोमस्तोम तीन प्रकार का है। १–चतुर्विंश (२४) २–चतुश्चत्वारिंश (४४) ३–अष्टचत्वारिंश (४८), अविवाक्यस्तोम एक ही प्रकार का हैं। पञ्चविंश (२५) इनमें अभिप्लवस्तोम से तात्पर्य प्राण की जातियों से है। तीन ही प्रकार के प्राणों से जगत् के सब पदार्थ बने हैं। इन्हीं तीनों प्राणों की समष्टि यह सूर्य है। इनमें ज्योतियों से देवताओं की सब जाति और गौ से भूतों की सब जाति और आयु से आत्मा के सब भेद इन तीनों पदार्थों के अतिरिक्त इस त्रैलोक्य भर में कहीं कुछ नही है, इन्हीं तीनों के जमाव को

❀पृष्ठ्यस्तोम का सम्बन्ध वषट्कार (जो वास्तव में वौषट्कार) से है।

अभिप्लोवस्तोम कहते हैं। इबके सन्निवेश (जमने) में प्राणों की संख्या प्रायः १० प्रकार की देखी गई है। जिनमें ६ को पृष्ठ्य कहते हैं, क्योंकि उनसे तीन अग्नि और दो सोम और प्रजापति के सन्निवेश की सीमा नियत होती है। आगे की तीन छन्दोमा इसलिये कहे जाते हैं कि उनकी संख्या छन्दों की संख्या से मिलती हुई है जैसे चतुर्विंश गायत्रीछन्द से, चतुश्चत्वारिंश त्रिष्टुपछन्द से और अष्टचत्वारिंश जगतीछन्द से तुल्य होता है। शेष पञ्चविंश किसी वस्तु या छन्द की संख्या से तुल्य नहीं होता। इसलिये अविवाक्य है। इस प्रकार १० स्तोम प्रत्येक वस्तु में नियत होते हैं इसलिये स्तोम भी प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म्म है।

## ७—पृष्ठ

प्रत्येक वस्तु मन, प्राण, वाक् का बना हुआ होता है। उसके मन, प्राण, वाक् निकल कर दो पृष्ठ कायम करते हैं। १-अन्तःपृष्ठ जो स्थूल, दृश्य और स्थानावरोधक होता है और २-सूक्ष्म अदृश्य स्थानानभिमानी होता है। इस दूसरे पृष्ठ में वस्तु के केन्द्र से लेकर अन्तिम बहिः पृष्ठ तक छः पृष्ठ नियत रहते हैं, जिनको त्रिवृत्, पञ्चदश, आदि स्तोम कहते हैं। ये छओं पृष्ठस्तोम मिलकर एक 'वषट्-कार' कहलाता है। यह 'वषट्कार' 'वौषट्' को कहते हैं। वौषट् से तात्पर्य वौक् का षट् (छः) भागों से है। यहां पर❀'अ' और 'उ' मिलकर 'ओ' बनता है। वाक् के उदर में ओ के रखने से वौक् होता है। जिसका तात्पर्य उस वाक् से है जिसके उदर में मन और प्राण प्रविष्ट हों। ऐसे मन, प्राण को उदर में लिये हुए वाक् के छः विभाग को वौषट् या वषट्कार कहते हैं। यद्यपि सभी वस्तुओं के वषट्कारों में छः पृष्ठ हुआ करते हैं। तथापि उन छः पृष्ठों में अन्तिम बहिःपृष्ठ सब वस्तुओं में बराबर सीमा में नहीं जाता। किसी किसी वस्तु में वह पृष्ठ छोटा होता है, और किसी में बड़ा और किसी में अन्य प्रकार का इसलिये उन सबका नाम भिन्न-भिन्न प्रकार का है। जैसा कि पृथ्वी के बहिःपृष्ठ को रथन्तर पृष्ठ कहते हैं। सूर्य के बहिःपृष्ठ को वृहत् पृष्ठ कहते हैं। चन्द्रमा के बहिःपृष्ठ को राजिन कहते हैं। इसी प्रकार वस्तु भेद से ये बहिःपृष्ठ नाना प्रकार के हैं और उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

रथन्तर भी ३ प्रकार का होता है—१-रथन्तर, २-वैरूप, ३-शाक्वर। क्योंकि यह पृथ्वी ३ प्रकार के वाक् प्राणों को अपने शरीर से निकालती है-१-वाक्, २-गौः, ३-द्यौः इन्ही तीनों प्राणों की सीमाओं को रथन्तरादि कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य से भी ज्योति, गौ, आयु ये तीन प्राण निकलते हैं, जिनकी भिन्न भिन्न सीमाओं को क्रम से वृहत्पृष्ठ, वैराजपृष्ठ, रैवतपृष्ठ कहते हैं ये तीनों ही वृहत्पृष्ठ के ही भेद हैं।

यद्यपि पृष्ठ शब्द साम का नाम है और एक साम एक प्रकार का वर्तुलवृत्त है जो कि प्रत्येक वस्तु में एक के ऊपर दूसरा इस प्रकार सहस्र होते हैं, किन्तु उस सहस्र में अग्नि, इन्द्र, आदित्य आदि देवताओं की सीमा के अनुरोध से जो खास खास सीमावृत्त नियत कर लिये गये हैं उन पृष्ठों को स्तोम कहते हैं। किन्तु जो चरम (आखिरी) सीमा नियत होती है उन्ही बहिपृष्ठों के लिये रथन्तर, वृहत्, राजिन आदि

---

❀यहाँ पर 'अ' से मन का और 'उ' से प्राण का संकेत है।

संज्ञा शब्द व्यवहार में आते हैं। यद्यपि यह पृष्ठ अनन्त हैं तथापि उनमें से कोई न कोई प्रत्येक वस्तु में अवश्य रहता है, इसलिये बहि:पृष्ठ भी प्रत्येक वस्तु का साधारण धर्म है।

## ८–साम

प्रत्येक वस्तु का जीवन, देश और काल से परिच्छिन्न होता है। अर्थात् किसी प्रदेश में रहकर चारों ओर जिस प्रकार अपनी सीमा बहि:पृष्ठ तक नियत करता है उसी प्रकार कालिक परिच्छेद में जन्म लेकर कुछ समय के पीछे उसका अभाव हो जाता है। इसी कारण से उसके जीव के अवसान को साम कहते हैं। जीवन काल से लेकर अवसान काल तक यदि उसकी अवस्था देखी जाय तो असंख्य होगी, किन्तु स्थूल रूपसे ७ अवस्था उस साम की भक्ति कही जाती है—

१–हिंकार, २–प्रस्ताव, ३–आदि, ४–उद्गीथ, ५–प्रतिहार, ६–उपद्रव, ७–निधन। किसी वस्तु के जन्म में जो वस्तु का सम्भार (सामान) एकत्र होने लगता है वह हिंकार है। जब उस सम्भार से वस्तु बनने का उद्योग किया जाता है वह प्रस्ताव है उसके अनन्तर जब वस्तु का स्वरूप बन जाता है तो वह आदि है, उस वस्तु के जीवन काल की प्रौढ़ अवस्था उद्गीथ है, उसकी गिराव की दशा प्रतिहार है, उसके स्वरूप में विकृत होना उपद्रव है' और उसके स्वरूप का नाश होना निधन है। इस प्रकार ७ अवस्था प्रायः होती हैं इन्ही सातों से सिक्त उस वस्तु का साम होता है।

यदि इस साम को संक्षेप से देखें तो ५ अवयव भी कह सकते हैं—१–हिंकार, २–प्रस्ताव, ३–उद्गीथ, ४–प्रतिहार, ५–निधन, और भी संक्षेप से देखें तो तीन अवयव हो सकते हैं—१ प्रस्ताव २–उद्गीथ, ३–प्रतिहार। इसमें उद्गीथ को मुख्य साम का अवयव कह सकते हैं, क्योंकि वस्तु का स्वरूप सत्ता वहीं पूर्णता को प्राप्त होती है यह उस वस्तु की पूर्णमासी है, और हिङ्कार निधन ये दोनों अमावास्या हैं। इसी उद्गीथ को ओंकार अर्थात् ओमकार को ऋग्वेद आदि वेदों में जिस प्रकार प्रणव कहते हैं उसी प्रकार सामवेद में उसे उद्गीथ करते हैं। उद्गीथ में ही उस वस्तु की प्रतिष्ठा है उसी प्रकार ओंकार ही इस जगत् की प्रतिष्ठा है। इस सामके उद्गीथ आदि अवयवों के बहुत से उदाहरण छन्दोग्य उपनिषद आदि में दिये हुए हैं वे सब कालिक उदाहरण हैं। किन्तु प्रत्येक वस्तु के दैशिक परिच्छेद में भी उसी प्रकार तीन वा पांच या सात या असंख्य साम की भक्तियां हो सकती हैं। इसलिये यह साम भी पैदा होने वाली प्रत्येक परिच्छिन्न वस्तु का साधारण धर्म है।

## ९—ग्रह

प्रत्येक वस्तु में अग्नि प्रज्वलित रहती है, उन्ही पात्रों को ग्रह कहते हैं। वह अग्नि तीन प्रकार की होती हैं। १–गार्हपत्याग्नि जो पृथ्वी की अग्नि है, २–आहवनीयाग्नि जो सूर्य की अग्नि है, और ३–दक्षिणाग्नि जो अन्तरिक्ष की अग्नि है। इन तीनों में गार्हपत्य के संबन्ध से आहवनीय उत्पन्न होता है, और उसी आहवनीय में सोम की आहुति रूप यज्ञ होता रहता है, और वही यज्ञ हमारा जीवन है।

इस आहवनीय में जो सोम यज्ञ होता है उसके लिये सोम भिन्न:भिन्न पाँचों में ग्रहण किया जाकर क्रमसे अग्नि में हवन किया जाता है। वे सोम के रखने के पात्र शास्त्र में ४० गिने गये हैं। किन्तु इन पात्रों से सोम का हवन भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न संख्याओं में होता है। जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने को हवन करते हैं, उसी प्रकार अग्नि में सोम डालने को 'सवन' कहते हैं। यह सवन समय के भेद से ३-प्रकार का होता है। १-प्रात:सवन, २-मध्याह्न (माध्यन्दिन) सवन, ३-सायंसवन। जिन में प्रात:सवन में १७ ग्रह होते हैं, और मध्यान्ह में ६ ग्रह और सायंसवन में ६ ग्रह होते हैं। इन का क्रम इस प्रकार है—

## ४० ग्रह सोमरस के रखने के, सवन करने के पात्र

| प्रात:सवन | | | मध्याह्नसवन | | सायंसवन | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १-उपांशु सवन | =ग्रह | व्यान | १-शुक्र | ग्रह | १-आदित्य | ग्रह |
| २-उपांशु | ,, | प्राण | २-मंथी | ,, | २-दधि | ,, |
| ३-अन्तर्याम | ,, | उदान | ३-आग्रयण | ,, | ३-सावित्र | ,, |
| ४-ऐन्द्रवायव | ,, | वाक् | ४-मरुत्वतीय | ,, | ४-वैश्वदेव | ,, |
| ५-मैत्रावरुण | ,, | ऋतु, दक्ष | ५-उक्थ्य | ,, | ५-पालीवत | ,, |
| ६-आश्विन | ,, | श्रोत्र | ६-माहेन्द्र | ,, | ६-हारियोजन | ,, |
| ७-शुक्र | ,, | चक्षु | | | | |
| ८-मंथी | ,, | चक्षु | | | | |
| ९-आग्रायण | ,, | आत्मा | | | | |
| १०-उक्थ्य | ,, | आय | | | | |
| ११-वैश्वानर | ,, | पूर्वप्राण | | | | |
| १२-ध्रुव | ,, | पश्चात् प्राण | | | | |
| १३-ऐन्द्राग्न | ,, | | | | | |
| १४-ऋतु१२+१३ =२५ | ,, | १२ मास | | | | |
| १५-वैश्वदेव २६ | ,, | | | | | |
| १६-पूतभृत् २७ | ,, | | | | | |
| १७-आहवनीय २८ | ,, | | | | | |
| २८ + | | | ६ + | | ६ | =४० |

इस प्रकार ये ४० ग्रह जिनमें १७ आदि के अथवा ऋतुग्रहों को १२ गिनने से आदि के १८ ग्रह तो प्रातः सवन के हैं और पीछे ६ ग्रह मध्याह्नसवन के हैं और शेष ६ ग्रह सायसवन के हैं। तात्पर्य यह है कि विशेषकर मनुष्य के शरीर में ४० पदार्थ ऐसे हैं जिनमें चन्द्रमा आदि से सोमरस संचित होता है। अर्थात् स्वभाव से ही आकाश से सोमरस को ग्रहण करके अपने भीतर भर लेते हैं, और फिर आहव-नीय कुण्ड में अर्थात् हमारे विज्ञानमय और आत्मा में सवन अर्थात् डालते रहते हैं। जिससे सोम रूपी अन्न पाकर वह विज्ञानमय हमारी आत्मा प्रज्वलित रहती है। यदि इस प्रकार सोम की आहुति इसमें न होती तो यह विज्ञानमय-आत्मा निरन्तर १०० वर्ष तक शरीर में विद्यमान नहीं रह सकती।

यद्यपि मनुष्य के शरीर में ही इस प्रकार ४० ग्रह देखे जाते हैं। किन्तु अचेतन वस्तुओं में भी इन ४० ग्रहों में से न्यूनाधिक कितने ही ग्रह अवश्य पाये जाते हैं इसलिये ये ग्रह भी सब वस्तुओं के साधारण धर्म हैं।

## १०—ऋषि

प्रत्येक वस्तु में जितने कार्य होते हैं, उनका कारण उस वस्तु में सन्निविष्ट देवता और असुर हैं ये देवता और असुर भी यद्यपि प्राण है, तथा ये यौगिक रूप होने से कार्य हैं। अर्थात् ये सब भिन्न-भिन्न प्राणों से मिलकर इनका मौलिक रूप नष्ट होकर नये रूप धारण करने से देव और असुर ये नाम पड़ते हैं। इनके मौलिक प्राणों को 'पितर' कहते हैं, किन्तु ये पितर भी यौगिक प्राण हैं। इनके भी कोई मौलिक भिन्न-भिन्न प्राण हैं, जिनको ऋषि कहते हैं इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं।

**ऋषिभ्यः पितरो जाताः, पितृभ्यो देवदानवाः।**
**देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरंस्थापवनु पूर्वशः ॥**

ये ऋषिगण अयौगिक होने से ये सर्वदा असंपृक्त (बेमिले हुये) शुद्ध रूप में रहने वाले भिन्न-भिन्न प्राण है, जगत् के मूलरूप हैं। यद्यपि ये ऋषि अनन्त हैं तथापि उनमें से १० ऋषि विशेष उपयोगी माने जाते हैं। १ भृगु, २ अङ्गिरा, ३ अत्रि, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ३ क्रतु, मरिचि, ८ वशिष्ठ, ९ दक्ष, १० कौशिक (विश्वामित्र) इन्हीं १० ऋषि प्राणों से जगत् के संपूर्ण कार्य प्रातः उत्पन्न होते हैं। इसीलिये ये ऋषिगण भी प्रत्येक वस्तु के साधारण धर्म हैं।

इस प्रकार ये १० पदार्थ प्राण, देवता, ऋतु, छन्द, दिक्, सोम, पृष्ठ, साम, ग्रह, ऋषि, सभी वस्तुओं में व्याप्त रहते हैं। अर्थात् इन्हीं १० धर्मों के समुदाय को वस्तु कहते हैं। जिस वाक् में १० अक्षर हो उसको विराट् छन्द कहते हैं। जगत् के प्रत्येक पदार्थ वाक् से बने हुए वाक् रूप हैं, और उनके प्रत्येक रूप में उपरोक्त १० अवयव होते हैं। इसलिये उनको भी विराट् कहते हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु एक एक विराट् है। और उन सब की समष्टि रूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी एक वस्तु है और उसमें भी ये ही १० धर्म व्याप्त हैं इसलिये वह भी एक विराट् है।

ब्रह्मा जो स्वभाव से ही दो शरीर धारण करता है उसमें एक प्राण रखने वाला धातुपुरुष और दूसरी मूर्ति भूतधात्री स्त्री रूपा है। पुरुष स्वरूप सूर्य में या द्यौ में मुख्यतया रहकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहता है। इसी प्रकार स्त्री मूर्ति वह भूतधात्री मुख्यतया पृथ्वी में रहकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसी प्रकार शरीर में भी पुरुष आत्मा नाभि से ऊपर और स्त्री आत्मा नाभि से नीचे मुख्यतया रहकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। एक प्राण प्रधान है, दूसरा भूत प्रधान है। इन दोनों को पौराणिक-परिभाषा में पुरुष को स्वयम्भू मनु और स्त्री को शतरूपा कहते हैं। इन्हीं दोनों तात्विक स्त्री पुरुषों के योग से मैथुनीसृष्टी अर्थात् यौगिक सृष्टी प्रारम्भ होती है। इन दोनों के योग से जो द्वितीय पुरुष उत्पन्न हुआ उसे ही विराट् कहते हैं। विराट् का अर्थ १० अवयव वाला है। उन दशों अवयवों के वर्णन ऊपर हो चुके हैं। इस विराट् पुरुष को भी मनु कहते हैं। इस विराट् मनु का भी उसी भूतधात्री शतरूपा के संयोग से वैराजमनु उत्पन्न होता है। उस वैराज मनु से १० ऋषिगण उत्पन्न होते हैं जोकि अयौगिक अर्थात् मौलिक रूप में प्राण है। इन्हीं ऋषियों के परस्पर संयोग से ३ पृथक् और ४ पृथक् पितर उत्पन्न होते हैं, उनमें ३ के नाम ये हैं—१ सोमसत, २ वर्हिषत, ३ अग्निष्वात्ता और ४ पितरों के के नाम ये हैं—१ अविर्भुक्, २ आज्यपा, ३ सोमपा, ४ सुकाला—

इन्हीं सात पितरों के परस्पर संयोग से देवता और असुर उत्पन्न होते हैं, और उन देवता असुरों के संयोग से जगत् के सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं ये सब प्राण पुरुष रूप हैं। प्रत्येक पुरुष के साथ भूतधात्री के संयोग से पञ्च महाभूतों का संयोग होता रहता है, जिसके प्राणों का आधार यह शरीर बना करता है, यही सर्वत्र सृष्टि का क्रम है।

१ मरीचीः, २ भृगु, ३ अङ्गिरा, ४अत्रिः, ५ पुलस्त्य, ६ पुलहः, ७ क्रतुः, ८ दक्ष, ९ वसिष्ठः, १० कौशिक
२ अमूर्त-सोमसत, वर्हिषत् . अग्निष्वात्ताः, मूर्तिमान्, हविर्भुक्, आज्यपाः, सोमपाः, सुकाला (नारद)
३ देवाः—असुराः
४ भूतग्राम विग्रहाः
५ गन्धर्वाः

इनमें ब्रह्मा से जो वैराज आत्मा उत्पन्न हुआ उसे ही प्राज्ञ कहते हैं। इसमें १० ऋषि या अन्यान्य असंख्य ऋषियों का संग्रह रहता है। इसलिये जिन ऋषियों का उसमें समावेश हो गया है उनकी वृत्तियां प्राज्ञआत्मा में उत्पन्न होती है। किन्तु जिन ऋषियों का समावेश नहीं हुआ उनकी वृत्तियां भी न्यूनाधिक उत्पन्न होती है। ये वृत्तियां यद्यपि ऋषि के भेद से अनन्त हैं, तथापि निदर्शन ( बानगी ) के लिये १० ऋषियों की १० वृत्तियां इस प्रकार कही गई हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १ मरीचि | — | संभूति=उत्पादन शक्ति। |
| २ भृगु | — | ख्याति=यश। |
| ३ अङ्गिरा | — | स्मृति। |
| ४ अत्रि | — | अनुसूया=गुणों को अवगुण करके कहना। |
| ५ पुलस्त्य | — | प्रीति। |
| ६ पुलह | — | क्षमा। |
| ७ क्रतु | — | सतति=उत्साह शक्ति। |
| ८ दक्ष | — | अनुरक्ति=तत्परता। |
| ९ वसिष्ठ | — | ऊर्जा=काम कैसा ही कठिन हो उस से पीछे न हटना। |
| १० नारद | — | कलह=पिशुनता, चुगली। |
| ( कौशिक ) | | ( वृहती ) = बोलने का माद्दा। |

## प्राज्ञआत्मा की ७ अवस्था

इस प्राज्ञआत्मा की ७ अवस्था होती है। १ जाग्रत्, २ स्वप्न, ३ सुषुप्ति, ४ मोह, ५ मूर्छा, ६ मृत्यु, ७ मुक्ति। ये सातों अवस्था इस प्राज्ञआत्मा की उपाधि संयोग के वश होती है। यह प्राज्ञआत्मा इन्हीं सातों में से किसी न किसी अवस्था में रहता है। इनसे अतिरिक्त यह प्राज्ञआत्मा कभी नहीं रहता। इनका विचार इस प्रकार है—

### १—जाग्रत्

जाग्रत् अवस्था, जबकि यह प्राज्ञआत्मा इन्द्रियों के द्वारा अथवा सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वाक् और आत्मा इन पांच ज्योतियों के द्वारा बाहर से अन्न ग्रहण करता है और उसी से उसका स्वरूप बनता है तो उस अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। यद्यपि यह प्राज्ञआत्मा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा से एक क्षण भी पृथक् नहीं रहता, तथापि जाग्रत् अवस्था में विज्ञान को साथ लिये हुए यह इन्द्रियों के द्वार पर विद्यमान रहता है और वहां पर पञ्चज्योति के द्वारा आये हुए अन्नों को लेकर उनके संस्कारों को विज्ञान में पहुंचाता रहता है। इस क्रिया की दशा को ही जाग्रत् अवस्था कहते है।

### २—स्वप्न

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा प्राणी के ही हृदय में सन्निविष्ट रहता है। किन्तु उसका प्रकाश, प्रदीप प्रकाश के अनुसार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है उसी विज्ञान के साथ यह प्रज्ञानआत्मा भी विज्ञान

कीलों के साथ हृदय में बद्ध रहकर अपनी रश्मियों को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रखता है। प्रज्ञान की रश्मियाँ विशेषकर शोणित में और इन्द्रियों में व्याप्त रहती है। जब कि सूर्य अस्त होता है। तब सूर्य रस से उत्पन्न हुए विज्ञानआत्मा से भी अन्न ग्रहण की कमी के कारण दुर्बलता आकर कुछ थकान होती है, जिससे उसकी किरणें संकुचित होने लगती हैं। विज्ञान रश्मि के संकोच के कारण उस से बंधी हुई प्रज्ञानरश्मियां भी संकुचित होकर इन्द्रियों से और शोणित से हटकर बुझते हुए दीपक के अनुसार केवल हृदयमात्र में रह जाती है। उस समय विज्ञान और प्रज्ञान दोनों एक होकर विज्ञान का लय हो जाता है। किन्तु प्रज्ञान ने जाग्रत् अवस्था में बाहर से अन्न ग्रहण करके जो कुछ संस्कार उत्पन्न किया था उस से अपना सम्बन्ध न छोड़कर विज्ञान में लीन होता है। उस समय चक्षु आदि इन्द्रियां भी इन्द्र नाम के मुख्य प्राण जो क्षेत्रज्ञआत्मा का स्वरूप है उसी के प्राणों से बने हुए होने के कारण इस समय विज्ञान की संकोच अवस्था में बाहर नष्ट हो जाते हैं। उस समय इस शरीर में कही भी प्रकाश न रहकर केवल हृदयमान में प्रकाश रहता है। उस प्रकाश में यह प्राज्ञआत्मा अपने उपार्जित संस्कारों में से वायु प्राणों के आघात से जिन २ को ऊपर उठाकर प्रकाश के क्षेत्र में लाया करता है, वही स्वरूप विज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर देखा करते हैं, उसी देखने को स्वप्नज्ञान कहते हैं। उस समय सब पांचों इन्द्रियों के प्राण संकुचित होकर हृदय में विद्यमान रहते हैं। इसलिये प्रज्ञान के लाये हुये संस्कारों में से शब्दों का सुनना, रूपों को देखना, सूंघना, चखना, सोचना, विचारना आदि सभी इन्द्रियों का काम उसी हृदय स्थान में होते रहते हैं। इन्द्रियों के अनुसार जाग्रत् अवस्था में जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियों की अपेक्षा होती थी वे बाहर की ज्योति या अब इन्द्रियों के द्वारबन्द होने से भीतर नहीं आते। किन्तु पांचवीं विज्ञानमय आत्मा की ज्योति जो भीतर ही रहती है वह इस समय इन्द्रियों की सहायक होती है, और उसी ज्योति में स्वप्न के सब पदार्थ दीखते रहते हैं।

विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा को 'स्व' कहते हैं उसमें प्रज्ञान आत्मा का 'आप्यय' अर्थात् लय होने को 'स्वाप्यय' कहते हैं। इसी स्वाप्यय शब्द से स्वाप और स्वप्न शब्द की उत्पत्ति हुई है। तात्पर्य यह है कि यह प्राज्ञआत्मा जाग्रत् अवस्था की सारी मात्राओं को साथ लेकर 'स्व' में अर्थात् विज्ञानआत्मा में 'अतीत' अर्थात् लीन हो गया है। इसी अभिप्राय से 'स्वपिति' अर्थात् सोता है ऐसा व्यवहार किया जाता है।

स्वप्न दृष्टि में जो कुछ हम देखते हैं, वे सब वास्तव में कुछ भी नहीं हैं न रथ हैं, न गाड़ी हैं न घोड़े है, न सड़क है किन्तु केवल प्राज्ञात्मा ही उन सबका निर्माणकर्ता है वह अपने अंश को प्रवेश करके और भूतमात्राओं को लेकर उन सब स्वप्न के पदार्थों को बनाता है यहां तक कि जिस तत्त्व से जिस प्रकार अन्यान्य पदार्थों की सृष्टि करता है उसी प्रकार स्वयं अपने स्वरूप की भी सृष्टि करता है स्वप्न के सभी पदार्थ वैज्ञानिक है भौतिक नहीं। इसी से आग में जलने पर जलने के कष्ट का अनुभव होता है, किन्तु शरीर जलता नहीं। यदि प्रज्ञान आत्मा देखें सुने संस्कारों में अपने आप को प्रवेश न करता तो वे सब पदार्थ विज्ञान के प्रकाश में आ नहीं सकते। किन्तु प्रज्ञान विज्ञान से मिला हुआ है। इसलिये यह प्रज्ञान जिन जिन रूपों में बदलता रहता है वे सब रूप विज्ञान के प्रकाश में आते रहते हैं, यही स्वप्न दृष्टि का रहस्य है।

इस स्वप्न दृष्टि में जिन जिन पदार्थों की सृष्टि होती है उनका रचने वाला जीव है या ईश्वर। इस प्रश्न के विचार में रामानुजस्वामी का मत है कि स्वप्न अवस्था में जीव सर्वथा अयोग्य और असमर्थ रहता है। उसकी इन्द्रियाँ और अन्यान्य शक्तियाँ भी कम हो जाती हैं, इसलिये यह स्वप्न सृष्टि केवल ईश्वर की ही हो सकती है। यदि यह सृष्टि जीव की होती तो कोई भी स्वप्न देखने वाला जीव शत्रु के हाथ से न मारा जाता या हाथी से न डरता। स्वप्न में बहुत से अनिष्ट ऐसे भी दीखते हैं कि जिनका अनिष्ट परिणाम जाग्रत् में भी बना रहता है इस से स्पष्ट सिद्ध है कि जीव परवश है। ईश्वर की इच्छा से जैसी कुछ सृष्टि स्वप्न में उसके सामने आती है, उसको उसे भोगना पड़ता है, इत्यादि।

इस मत को यदि स्थूलदृष्टि से देखें तो इसमें बहुत कुछ सत्यता प्रतीत होती है। किन्तु सूक्ष्म विचार करने से यह जीव की ही सृष्टि प्रतीत होती है, क्योंकि इस स्वप्न सृष्टि में तीन दोष हैं। १ विशृङ्खलता, २ प्रत्ययभेद, ३ बाध।

हम देखते हैं कि स्वप्न में कभी कभी पानी में ज्वाला उठती है, बिना पक्ष का मनुष्य आकाश में उड़ता है, और पुत्र कभी पिता का अभिमान करने लगता है इत्यादि बातें बेजोड़ तोड़ की कभी हो जाती हैं कोई भी बात शृङ्खलाबद्ध अर्थात् सिलसिलेवार बहुत समय तक स्वप्न में नहीं दीखती इसलिये स्वप्न-सृष्टि में विशृङ्खलता है।

दूसरा प्रत्ययभेद है। जब कभी घोड़े पर चढ़ता है तो थोड़े ही समय पश्चात् वह घोड़ा हाथी प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार एक वस्तु क्षण क्षण में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतीत होती रहती है।

तीसरा दोष बाध है (अस्ति को नास्ति कहना) अर्थात् जानने पर वे सब स्वप्न के पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और वे ये ही नहीं ऐसा दृढ़ विश्वास होने लगता है, यही उन सब पदार्थों का बाध है

ये तीनों ही दोष ईश्वरी सृष्टि के नियम के विरुद्ध हैं। परमेश्वर का कोई भी काम ऐसा नहीं हो सकता कि जिसमें विशृङ्खलता हो सब कार्य नियमानुसार ही होते हैं। जिस पर्वत को आज हम जहां देखते हैं सैकड़ों वर्ष पीछे भी वह वहीं दीखता है। तात्पर्य यह है कि परमेश्वर की सृष्टि व्यवस्थानुकूल नियमबद्ध चिरस्थायी होती है। किन्तु स्वप्नसृष्टि ऐसी नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि यह स्वप्नसृष्टि अल्प शक्ति, अल्पज्ञ, असम्पन्न इस जीव की ही निर्मित है न कि ईश्वर की।

जो यह कहा जाता है कि यदि जीव ही सृष्टि करता है तो दुःखमय आदि अपनी अनिष्ट-सामग्री वह क्यों बनाता है, तो इसके उत्तर में हम कहेंगे कि जाग्रत अवस्था में बहुत से कामों में जीव स्वतन्त्र है। इच्छा से भोजन करता है, इच्छा से विहार करता है, भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवहार करता है, किन्तु उन सब से सभी दशा में इष्ट ही चाहता है, अनिष्टपाने की न उसकी वासना है न प्रयत्न है। तथापि उसके मिथ्या आहार विहार के कारण ही वह बहुधा दुःख, भय पाया करता है। यह क्यों ? इच्छाधीन भोजन होने पर भी जिस प्रकार भोजन दोष से रोग आदि नाना अनिष्ट पाता रहता है। उसी प्रकार स्वप्न में भी स्वतन्त्र होने पर भी अज्ञानता के कारण ऐसी सामग्रियां वह अपने आप बना लेता है जिससे पश्चात् उसको भय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि चाहे जाग्रत् हो या स्वप्न अवस्था हो

इस जीव के साथ एक अविद्या अवश्य लगी रहती है जिस प्रकार विद्या से ईश्वर की सृष्टि है, उसी प्रकार अविद्या से जीव की सृष्टि है। इसलिये बिना अविद्या के जीव का स्वरूप कदापि नहीं रह सकता। अविद्या के नाश होने पर जीव, जीवपने से निर्मुक्त होकर ईश्वर हो जाता है। इसलिये जीव की सहकारी यह अविद्या कितना ही प्रज्ञा दोष इस जीव से कराया करती है जिसके कारण यह जीव स्वयं अपने अनिष्ट के लिये सामग्री बनाया करता है। इसी कारण स्वप्न में भी उस प्राज्ञआत्मा के साथ जो कर्मवश कितने ही संस्कार पहले से आकर सञ्चित रहते हैं उनके इष्ट या अनिष्ट होने के कारण शुभ या अशुभ अवस्था इस प्राज्ञ जीव की स्वप्नकाल में परवश हुआ करती है इसमें प्राज्ञ जीव स्वयं दोषी है। अथवा उसके संस्कार के कारण से है, किन्तु यह कहना बड़ी भूल है कि ये शुभ अशुभ स्वप्न की सृष्टि प्राज्ञ जीव के सामने ईश्वर उपस्थित करता है क्योंकि इसमें ईश्वर को दोषी करना पड़ता है। ईश्वर दयालु है, वह किसी जीव को भयङ्कर स्वप्न दिखाकर भय देवें या कोई अनिष्ट करे, यह सम्भव नहीं है। इस से सिद्ध है कि यह स्वप्न सृष्टि प्राज्ञ जीव की अपनी, अपनी ही अविद्या से निर्मित है, ईश्वर निर्मित नहीं इसलिये वेद में भी कहा है कि—

**स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो, रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।**
**उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो, जक्षदुते वापि भयानि पश्यन्॥**

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

प्रश्न यह है कि स्वप्नसृष्टि में जो प्राणी दीखते हैं उनमें इन्द्रियां हैं या नहीं क्योंकि इन्द्रियों का सम्बन्ध ५ देवताओं से है, अर्थात् १–अग्नि, २–वायु, ३–सूर्य, ४–चन्द्र और ५–दिक्। ये ही पांचों क्रम से वाक् प्राण, चक्षु, मन और श्रोत्र बनकर शरीर में स्थित हैं।

इन देवताओं का इस स्थूल शरीर के साथ जैसा संबन्ध सम्भव है वैसा सम्बन्ध उन प्राणियों के शरीर से उत्पन्न नहीं है क्योंकि वे शरीर कल्पित हैं। उनका किसी द्वारा से सम्भव भी बाहर के देवताओं से लगाव सम्भव नहीं ठहरता। इसलिये कह सकते हैं कि उनमें इन्द्रियां नहीं हैं। किन्तु हम देखते हैं कि वे सब प्राणी भी हँसते, रोते, कहने, सुनते, खाते, पीते हैं, बिना इन्द्रियां ये सब नहीं हो सकते और मेरे अनुसार उनकी इन्द्रियां सब ज्यों की त्यों दीखती भी हैं, इसलिये कह सकते हैं कि उनमें भी सब इन्द्रियां हैं। ऐसी स्थिति में निश्चय नहीं होता कि वे सब अनिन्द्रिय हैं या इन्द्रिययुक्त हैं। उत्तर में कहा जाता है कि वास्तव में जाग्रत् पुरुषों के अनुसार उनमें स्पष्ट इन्द्रियां नहीं है। किन्तु जिस प्रकार वैज्ञानिक उनके शरीर हैं वे भौतिक नहीं हैं उसी प्रकार उनकी इन्द्रियां भी जाग्रत् जीवों के अनुसार दैविक न होकर वैज्ञानिक हैं उन्हीं से उनके इन्द्रिय जन्य सब व्यवहार उत्पन्न हो गये हैं। इसमें एक प्रश्न यह भी है कि यह स्वप्न जगत् सत्य हैं या मिथ्या, इसमें बहुत विद्वानों का विचार है कि स्वप्नसृष्टि केवल आभास मात्र है अर्थात् केवल मेरी बुद्धि का दोष है परमार्थ में कोई वस्तु नहीं है। इसके कारण ४ हैं–देशाधिकत्व, बहुभिन्नकालत्व, अनिन्द्रियत्व, प्रतिबाध।

अर्थात् स्वप्नसृष्टि में जितने मनुष्य या अन्यान्य जीव जितने बड़े क्षेत्र में फैले हुए दीखते हैं, जिन सड़कों से कोसों जाते हैं उतने क्षेत्र या उतने लम्बे मार्ग इस हृदय के दहराकाश में कदापि रह नहीं सकते। इसलिये देशाधिकत्व में स्वप्न को मिथ्या कहते हैं।

दूसरा कितने ही वृद्ध मनुष्य अपने को या दूससे वृद्धको अकस्मात् स्वप्न में तरुण या बालक की अवस्था में देखलेते हैं जो कि असम्भव है। घोर अन्धकार की अर्धरात्रि में कदाचित् स्वप्न देखता हुआ मध्याह्न दिन का अनुभव करता है, जोकि उस समय नहीं है ऐसे भिन्नकालत्व में भी स्वप्न मिथ्या ठहरता है।

३—इसी प्रकार स्वप्नावस्था में सोनेवाले की सब इन्द्रियां शिथिल और मुद्रित (बन्द) हो जाती हैं। वे अपना काम नहीं करती तथापि अनिन्द्रियत्व बिना इन्द्रिय के सब काम देखना सुनना इत्यादि होते रहते हैं इसलिये स्वप्न मिथ्या है।

कितने ही पदार्थ स्वप्न में दीखकर पुनः स्वप्नकाल में ही दीखते हैं। अर्थात् दीखता हुआ हाथी कहीं देशान्तर में न जाकर दीखते दीखते ही नहीं दीखता है यह उसका प्रतिबाध है। और स्वप्न के उत्तर जागृति होने पर एक साथ सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि का सर्वथा अभाव हो जाता है यह दूसरा प्रतिबाध हैं। वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है—

**नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।**
**उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्वर्दाशभिः ।।**

अर्थात् सत् कभी असत् नहीं होता और असत् कभी सत् नहीं होता इस नियम के अनुसार यदि स्वप्न के पदार्थ सत् होते तो जागृतिकाल में भी वे कदापि असत् नहीं हो सकते। जब कि हम उनको जागृति में असत् देखते हैं तो उसी से यह निश्चित है कि स्वप्नकाल में भी वे असत् थे और मिथ्या थे।

दूसरा मत इसके विपरीत है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी विचार है, कि स्वप्न सृष्टि भूल भूलैय्याँ नहीं, मिथ्या नहीं, वह जैसा दीखता है वैसा ही पारमार्थिक सत्य है। जब वह सृष्टि दीखती है तो उसको असत् कहना ही भूल है, क्योंकि मिथ्या किसको कहते हैं इसी का विचार करना प्रथम आवश्यक है। यदि यह कहें कि वस्तु दो प्रकार की हैं—सत्तासिद्ध और भातिसिद्ध हो। वह भाति सिद्ध हो या न हो तो भी सत्य कहा जाता है, किन्तु जो सत्तासिद्ध न होकर केवल भातिसिद्ध हैं वही मिथ्या है। यदि कोई मिथ्या का यही लक्षण मानता हो तो हम कहेंगे कि यह भूल है क्योंकि संख्या, परत्व ( दूरी ) अपरत्व अपरत्व (नजदीकी) ऊँचा, नीचा इत्यादि कितने ही भाव केवल भातिसिद्ध होने पर भी मिथ्या नहीं माने जाते। इसलिये मिथ्या का लक्षण यदि वादी के कथनानुसार वे ही चार बातें मानी जावे जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है तो वे भी मेरे विचार से मिथ्या के लक्षण नहीं हो सकते। ये चारों ये हैं— देशाधिकत्व, बहुकालभिन्नत्व, अनिन्द्रियत्व और प्रतिबाध, इन चारों में देशाधिकत्व मिथ्या का लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि जागृत् अवस्था में भी अत्यन्त सूक्ष्म कनीनिका प्रदेश या कृष्णतारा अर्थात् नेत्र के अग्र बिन्दु पर मनुष्य हाथी पर्वत और नगर, मैदान आदि अधिक प्रदेश वाले पदार्थ बिना संकोच के शुद्ध अवस्था से प्रवेश करते हुए भासते हैं। यह एक प्रकृति कि माया संभव है कि इसी प्रकार हमारे हृदय के सूक्ष्माति सूक्ष्म दहराकाश में भी अधिक प्रदेश वाले पर्वत नगर आदि पदार्थ असंकोच से सुव्यवस्था से संनिविष्ट होते हों यह विचार अधिक वैज्ञानिक नहीं है कि हमारे समझ में न आने के कारण हम किसी

वस्तु को मिथ्या कह दें। इसलिये देशाकित्व होने पर भी दृष्टि के अनुसार हृदयक्षेत्र की स्वप्नसृष्टि भी संभव है इसलिये मिथ्या नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'बहुकालभिन्नत्व' भी मिथ्या का लक्षण नहीं है। इसके लिये हम एक आख्यायिका कहेंगे।

एक समय नारद ने भगवान् से कहा कि मुझको आप अपनी माया दिखलाइये। भगवान् ने कहा कि तुम मेरे भक्त हो हम हमारे भक्तों को माया में फँसाना नहीं चाहते। नारद ने अभिमान से कहा कि आपकी माया कैसी भी हो मेरे ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। भगवान् ने कहा कि ऐसा ही होना चाहिये। कुछ आमोद-प्रमोद के पश्चात् नारद जी अपनी कुटी से कई शिष्य वर्गों के साथ गंगा स्नान करने को गये। तटपर वस्त्रों को रखकर शिष्यों को तटपर खड़ाकर के आपने गंगा में उतर कर डुबकी लगाई। फिर बाहर सिर निकालते ही १६ वर्ष की स्त्री प्रतीत हुए और देखा कि उस देश का राजा अपने परिकर वर्गों के साथ गंगा स्नान के लिये तट पर उपस्थित है। राजाने कन्या को देखते ही आदमी भेज के वस्त्र पहराकर अपने महलों में दाखिल कराया उस से ५ पुत्र और कन्यायें उत्तपन्न हुई। ठीक ४० वर्ष खूब आनन्द से राज्य भवन का सुख किया पश्चात् समय के फेर से स्वामी पुत्र और कन्यायें आदि अचानक किसी संक्रामक रोग से रोगी होकर एक साथ मरगये जिस से अत्यन्त दुःखिनी होकर अनेक परिचारिका स्त्रियों के साथ रोती हुई वह रानी शुद्धिस्नान के लिये उसी गङ्गा तटपर पहुँची जहां राजाने उसे ग्रहण किया था। गङ्गा में डुबकी लगाकर सिर ऊँचा करते ही पूर्ववत वही नारदजी हो गये और वस्त्र लिये उसी प्रकार शिष्य लोग खड़े थे। अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि ठीक-ठीक समय भी वही था जिस समय नारदजी ने पहले डुबकी लगाई थी। नारदजी को अत्यन्त विस्मय हुआ, भगवान् की माया का प्रभाव समझकर अत्यन्त लज्जित होकर चुपचाप कुटी चले गये और भगवान् के ध्यान में लवलीन होकर क्षमा मांगी।

तात्पर्य यह है कि एक ही क्षण में ४० वर्ष से भी अधिक समय अन्तर्हित हो गया वह कोई स्वप्न न था। नारदजी जाग्रत् अवस्था में थे जिस प्रकार माया से उस एक क्षण में इतना अधिक काल समतुलित हो गया उसी प्रकार स्वप्न में भी बहुभिन्नकाल होना सम्भव है कदाचित् कोई कहे कि वह माया थी, मायामिथ्या होती है, इसलिये स्वप्न के अनुसार वह ४० वर्ष भी मिथ्या है तो इस पर हम कहेंगे कि माया जब काम कर रही है और उस काम का माया का साथ कार्य कारण भाव का निरूपण कहते हैं तो उसको मिथ्या कहना साहस मात्र है। असम्भव समझकर ही मिथ्या नहीं कह सकते क्योंकि यही विशेषकर माया लक्षण है कि असम्भव को सम्भव कर दिखादे। जब उसकी यही शक्ति या प्रभाव है और ऐसा ही अपना काम कर रही है तो उसे हम सर्वदा मिथ्या नहीं कह सकते इसी से पुराने आचार्यों ने माया के विषय में यह कहा है कि—

**न सतीसा, ना सतीसा, नोभयात्मा, विरोधतः।**
**एतद्विलक्षणा, काचिद्वस्तु, भूतास्ति, सर्वदा॥**

इसी प्रकार अइन्द्रियत्व भी मिथ्या लक्षण नहीं है। क्योंकि जाग्रत् अवस्था के अनुसार स्वप्न सृष्टि के प्राणी भी प्रत्येक इन्द्रियों से काम करते हुए पाये जाते हैं तो ऐसी दशा में उनको अनिन्द्रिय कहना ही

अनुचित है। यदि उनका शरीर भौतिक है तो उनमें इन्द्रियां भी दैविक ही होनी चाहिये। यदि उनका शरीर वैज्ञानिक माना जावे तो उनकी इन्द्रियां भी वैज्ञानिक होगी, दोनों प्रकार से उनमें इन्द्रियां सिद्ध होती है। यदि उनके प्रत्यक्ष होने से वे सत्य माने जा सकते हैं, तो उनकी इन्द्रियां भी सत्य हो सकती हैं तो ऐसी दशा में उन प्राणियों को अनिन्द्रिय कहकर अथवा स्वप्न देखनेवाले को अनिन्द्रिय कहकर स्वप्न-सृष्टि को मिथ्या कहना ही मिथ्या है और जो उनको प्रतिबाध (न होना) के कारण मिथ्या माना जाता है, तो वह भी मिथ्या है। प्रत्येक जायमान वस्तु में तीन अवस्था होती है उत्पत्ति स्थिति, और नाश। उत्पत्ति के पहले या नाश के पश्चात् उस वस्तु का अभाव है केवल मध्य दशा में उसकी स्थिति को देखकर हम उसको सत्य कहते हैं। तो उसी प्रकार स्वप्न सृष्टि के प्राणी भी स्वप्न से पूर्व अथवा स्वप्न के पश्चात् न होने पर भी केवल स्वप्न काल में उसकी स्थिति को देख कर उसे हम सत्य कह सकते हैं। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका उत्तर काल में अवश्य ही नाश होता है वह नाश ही उसकी सत्ता का प्रतिबाध है। ऐसे प्रतिबाध के रहने पर भी कोई भी जगत् की वस्तु मिथ्या नहीं मानी जाती तो स्वप्न सृष्टि ही जागृति होने पर प्रतिबाध के कारण मिथ्या कैसे मानी जाती है। वास्तव में यदि विचार कर देखा जाय तो यह जागृत् अवस्था की बाह्य सृष्टि जिस प्रकार सूर्य की ज्योति में भासती है, उसी प्रकार स्वप्न की अन्तर सृष्टि भी मनोमय चन्द्रमा की ज्योति में भासती है। यह एक जो किसी का मत है वही सत्य प्रतीत होता है। सर्वथा यह स्वप्न सृष्टि मिथ्या न होकर भातिसिद्ध और सत्तासिद्ध दोनों हैं, और इसलिये स्वप्न सृष्टि पारमार्थिक सत्य है।

अब एक प्रश्न यह भी होता है कि यह स्वप्न सृष्टि शरीर के भीतर है या शरीर के बाहर। यद्यपि यह कहा जा चुका है कि शरीर के भीतर हृदय के सूक्ष्म दहराकाश में यह स्वप्न सृष्टि होती है, तथापि इसमें संदेह है कि जब स्वप्न में दीखते हुए पदार्थों के प्रदेश बहुत विस्तीर्ण दीखते हैं तो उनको सूक्ष्म हृदय प्रदेश में न मानकर शरीर के बाहर ही क्यों न माना जाय।

इस पर बहुतों का विचार है कि यदि यह स्वप्न शरीर के बाहर माना जाय तो इस स्वप्न को देखने वाली मेरी आत्मा को भी अवश्यमेव बाहर जाना पड़गा। किन्तु यह निश्चित है कि यदि आत्मा शरीर को छोड़कर क्षणभर भी बाहर चला जाय तो यह शरीर तत् क्षण अपवित्र होकर मृतक के अनुसार सड़ने लगेगा और दुर्गन्धयुक्त होगा किन्तु ऐसा नहीं होता इससे सिद्ध है कि हमारी आत्मा स्वप्न अवस्था में भी शरीर के भीतर ही रहता है, और उसके कारण यह शरीर भी पवित्र रहता है। जिस प्रकार सीप में मिथ्या चांदी भ्रम से प्रतीत होती है, उसी प्रकार इस प्रज्ञात्मा में मिथ्या ही स्वप्न जगत् भ्रम से प्रतीत होता है। यही याज्ञवल्क्य आदि बड़े-बड़े महर्षियों का सिद्धान्त है।

किन्तु कितने ही पुराने विद्वानों का यह भी विचार है कि यह स्वप्नसृष्टि शरीर के भीतर न होकर शरीर के बाहर ही होती है। यह आत्मा के बाहर जाने पर जो शरीर की अपवित्रता का प्रश्न उठाया जाता में यह असङ्गत है (गलत है) कारण कि इस शरीर के भीतर भूतात्मा दो प्रकार का है—१–प्राज्ञआत्मा, २–हंसआत्मा। इनमें प्राज्ञआत्मा ऊपर चन्द्रमा से आये हुये देवलोक, पितृलोक, स्वर्ग, नर्क आदि नाना लोकों में भ्रमण करने वाला और चन्द्रमा पर महान्आत्मा से सम्मिलित होता हुआ पृथ्वीपर

स्त्री पुरुष के शुक्र, शोणित के बने हुए डिम्भ ( लोथड़ा ) में प्रवेश करके जन्म लेता है। इसलिये यह प्राज्ञआत्मा लोकान्तर चारी इस शरीर में आगन्तुक है।

किन्तु इस प्राज्ञआत्मा के आने के पश्चात् सूर्यरस, वायुरस और विद्युत इन तीनों के संयोग से इस भौतिक शरीर के सम्पूर्ण भूतानुशयों को ग्रहण करके उन्हीं अनुशयों से अपना शरीर बनाकर एक नवीन आत्मा उत्पन्न होता है जिसे हंस आत्मा कहते हैं। यह हंस इस शरीर के रस से बनने के कारण इस शरीर का अभिमानि होकर भी इस शरीर को छोड़कर बाहर हजारों कोस चला जाता हैं और भिन्न-भिन्न स्थानों में रमता रहता है। किन्तु जिस प्रकार एक बड़े लम्बे सूत्र के एक छोर को हाथ से पकड़कर दूसरे छोर में बंधी हुई चिड़िया को आकाश में उड़ा दिया जाय वह पक्षी आकाश में इधर-उधर भ्रमता हुआ भी उस हाथ के सूत्र की पकड़ से पकड़े हुए के कारण पुनः हाथ पर आता रहता है। इसी प्रकार यह हंस आत्मा भी शरीर से बाहर दूर-दूर तक भ्रमता हुआ भी प्रतिक्षण इस शरीर का अनुसन्धान रखता है न कभी इस शरीर को भूलता है और न जीवन पर्य्यन्त इस शरीर से अलग होता है। इसी के सम्बन्ध में किसी ऋषि ने कहा है—

**स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्या सुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।**
**शुक्रमादाम पुनरेतिस्थानं, हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ।।१।।**
**प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं, बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।**
**स ईयतेऽमृतो यत्र कामं, हिरण्मयः पुरुष एकहंसः ।।२।।**

( बृ. उ. अ. ४ श्लो. ११।१२ )

१—अर्थात् इस शरीर का एक हंस पुरुष जो वास्तव में हिरणमय है वह स्वप्न की दशा में शरीर अर्थात् शरीर में ही रखने वाला प्राज्ञाआत्मा से सम्बन्ध तोड़कर उस से अलग हटकर सर्वदा असुप्त याने जागता हुआ, सोते हुए अर्थात् विज्ञानआत्मा में लवलीन होते हुए प्राज्ञआत्मा और पञ्चदेवता इन सब की चौकसी करता है। बाहर से जो कुछ शुक्र अर्थात् बल या रस उसको मिलता है उसको लेकर जागृत् अवस्था में फिर अपने स्थान पर अर्थात् शरीर के भीतर प्राज्ञआत्मा में चला आता है।

२—यह हिरण्यमय हंस पुरुष इस अवर कुलाय की अर्थात् हीन दशा में आये हुए (बिस्तर पर पड़े हुए) शरीर की प्राण से रक्षा करता हुआ स्वयं अमृतरूप अर्थात् निद्रारूपी मृत्यु दोष को न पाता हुआ कुलाय अर्थात् अपने शरीर रूपी घोसले से बाहर इधर उधर विचरता हुआ, वह जहां चाहता है वहां जाता है।

तात्पर्य यह है कि यह प्राज्ञआत्मा शरीर के भीतर ही रहने वाला है किन्तु यह हंस आत्मा इस शरीर को पकड़े हुए शरीर से बाहर दूर दूर भ्रमण करता है। वहां जो कुछ देखता सुनता है उसका रस लेकर फिर अपने स्थान शरीर के प्राज्ञआत्मा में चला आता है इसी को स्वप्न कहते हैं। किन्तु सुषुप्ति दशा में दूर देशान्तर में न जाकर भी इस शरीर के बाहर रहकर इस सोते हुए प्राज्ञआत्मा की और उसके इस शरीर की चौकसी करता रहता है।

आत्मा तीन प्रकार का है—सहजात्मा, मानुषात्मा और देवात्मा । इनमें सहजात्मा तीन प्रकार की है । चिदात्मा, सूत्रात्मा, विज्ञानमय क्षेत्रज्ञआत्मा । ये तीनों प्रत्येक शरीर में और प्रत्येक अवस्था में सहज स्वभाव से प्राप्त हो जाते हैं इसीलिये इनको सहजात्मा कहते हैं । अव्यभिचरितरूप से शरीर में रहने पर भी ये तीनों शरीर के अभिमानी नहीं हैं । शरीर का कोई भी संस्कार इनमें संक्रान्त नहीं होता इसीलिये गीता में कहा है—

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि, न करोति न लिप्यते ।।**

अर्थात् शरीर में सब काम करता हुआ भी कुछ नहीं करता और न क्रियाजन्य संस्कारों से लिप्त होता है ।

इन से अतिरिक्त जो दूसरा मानुषआत्मा है वह दो प्रकार का है—महान्आत्मा और भूतात्मा इन दोनों में भूतात्मा फिर तीन प्रकार का है—वैश्वानरआत्मा, तैजसआत्मा और प्राज्ञात्मा । ये तीनों प्रत्येक प्रत्येक भी भूतात्मा है और तीनों मिलकर के भी भूतात्मा हैं । ये तीनों भूतात्मा भी महान्आत्मा के साथ संमिलित ही होकर रहती हैं । यही सम्मिलित आत्मा शरीर में प्रवेश करने से जन्म होता है और इनके निकलने से मृत्यु होती है, यही नाना लोकों में जाता है, कर्म का भोग करता है, इसी आत्मा को मनुष्य कहते हैं, इसलिये इसे मानुषआत्मा कहते हैं । यही आत्मा मुख्य है । इसी आत्मा के लिये शास्त्र के सब विधि निषेध है । ये दो आत्मा—प्राज्ञ और महान् तथा ऊपर के तीन-चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा यही पांचों आत्मा मुख्य हैं और प्रत्येक जीव में पाये जाते हैं । इन पांचों के अतिरिक्त दो आत्मा कृत्रिम हैं—इन दोनों को दैव कहते हैं । इनमें दैव दो प्रकार का है याज्ञिक और हंस—इनमें याज्ञिक को सुपर्ण भी कहते हैं, और हंस को गन्धर्व आत्मा भी कहते हैं । इनमें यज्ञ आत्मा यज्ञ करने से उत्पन्न किया जाता है, वह आत्मा मानुष आत्मा पर ही उत्पन्न होता है, और उसी पर अधिकार रखता है । जिस प्रकार घोड़े का सवार अपनी इच्छा को घोड़े की इच्छा से मिलाकर चलने से जिधर जैसा सवार चाहता है उधर वैसे ही घोड़ा जाता है । उसी प्रकार मानुष आत्मा पर याज्ञिक आत्मा सवार होकर एक जीव हो जाता है । और यज्ञ आत्मा स्वभाव से सूर्य के ओर जाता हुआ बलात्कार से प्राज्ञआत्मा को साथ ले जाता है । जिस से प्राज्ञ आत्मा अन्यान्य लोकों में न जाकर सूर्य के सप्तलोकों में से 'सातवें नाकलोक में ही जाता है । इसी प्रकार इस मानुषआत्मा में से वायु के द्वारा यह वायव्य आत्मा उत्पन्न होता है, जिस को हंस या गन्धर्व आत्मा कहते हैं ।

जिस प्रकार विज्ञान आत्मा पर मानुष आत्मा अर्थात् महान् सहित प्रज्ञानआत्मा मिला हुआ रहता है, उस प्रकार उस प्रज्ञान आत्मा के ऊपर यह हंस आत्मा भी सवार रहता है । प्रज्ञानआत्मा में प्रधानतया चन्द्रमा और पृथ्वी का रस है । उसी प्रकार इस हंस आत्मा में मध्यलोक अर्थात् अन्तरिक्ष से आया हुआ व्यानवायु का रस है । इन तीनों रसों से मिले हुये होने के कारण सम्पूर्ण शरीर के भूतों में मन का संचार और वायु का संचार मिला हुआ होता रहता है । जिस समय हंस आत्मा शरीर से बाहर निकलता है, तो उस समय पृथ्वी रस और सोम रस से वायु रस के विच्छेद होने के कारण हमारे शरीर में अङ्गों का अनुसंधान नहीं रहता । किन्तु इसी कारण शिरोभाग में रक्त की गति शिथिल हो जाती है

और संज्ञा वह स्नायु में मूर्छना होने से इन्द्रियों में ज्ञान का सम्बन्ध नहीं होता इसी को निद्रा कहते है। इन्द्रियों के अवरोध ( रुकान ) से आत्मा के सहायक बाहर वाले ४ ज्योति प्राज्ञआत्मा से सम्बन्ध नहीं रखते, इसी से निद्रा अवस्था में ज्ञान नहीं होता। किन्तु यह हंसआत्मा जो प्राज्ञ से मिला हुआ था प्राज्ञ का अनुशय लेकर बाहर आता हुआ जाग्रत् के अनुसार ज्ञान रखता है। वह वायव्य जीव वायुमय होने पर भी भूतानुशय से भौतिक शरीर बनाता है, और प्राज्ञ के अनुशय से ज्ञान रखता है। इस हंस के बाहर जाने पर भीतर वाला प्राज्ञ अन्धकार में भौतिक प्रकाश न होने के कारण भौतिक पदार्थ नहीं देखता। इसीलिये हृदयआकाश में विज्ञानमय आत्मा के प्रकाश में रहकर भी आनन्द का ज्ञान रखता हुआ भी बाह्यज्ञान कुछ नहीं रखता, इस कारण उसकी अज्ञानता नहीं है, किन्तु जानने के विषय के अभाव के कारण से है। जिस प्रकार संमुख घट न होने से घट का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार निद्रा के समय भौतिक ज्योतियों के न होने के कारण भौतिक ज्ञान नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जो कुछ हम स्वप्न देखते हैं वह उस समय हंस आत्मा देखता है। और जिन वस्तुओं को वह देखता है वे गन्धर्व जगत् के सच्चे पदार्थ हैं। जो जगत् पृथ्वी से ऊपर चन्द्रमा से नीचे इस अन्तरिक्ष में वायव्य जीवों से बना है उन प्राणियों की भी जन्म मृत्यु होती है। किन्तु उनका शरीर अपञ्चीकृत से बना हुआ है, इसलिए सूर्य के प्रकाश में वे बहुधा नहीं देखे जाते। किन्तु अष्टसिद्धि नवतुष्टि इस प्रकार १७ शक्तियां अधिक होने के कारण वे कभी मनुष्य शरीर धारण करके सूर्य के प्रकाश में भी दीख आते हैं अथवा बहुधा दुर्बल प्राणियों के शरीर में प्रवेश करके जाग्रत अवस्था में भी जीवों के साथ व्यवहार करते हैं किन्तु यह व्यवहार उनका विजातीय जगत् होने के कारण विषम होता है। किन्तु स्वप्न में हंसआत्मा का गन्धर्व होने के कारण उसके साथ उन गन्धर्व जीवों का व्यवहार सजातीय होने के कारण अनुकूल पड़ता है।

जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में ये जाग्रत् के सब पदार्थ भासते है, उसी प्रकार स्वप्न जगत् के सब पदार्थ सूर्य के प्रकाश को स्पर्श न करते हुए चन्द्रमा के प्रकाश में ही भासते हैं। पहले के मरे हुए सभी जीवों के हंसआत्मा पितृलोक या देवलोक या अन्य किसी स्वर्ग नरक में कहीं न जाकर केवल पृथ्वी चन्द्रमा के बीच अन्तरिक्ष में वायु धारा तक पर विचरते हुए गन्धर्व जीवों का जगत् बनाते हैं उनका शरीर वायव्य होने के कारण परिवर्तनशील होता है। अर्थात् मोटा, पतला, छोटा, बड़ा, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्वरूपों में अपने स्वरूप को बड़ी शीघ्रता से बदल सकते हैं और वायु के कारण ही दूसरे के शरीर में भी प्रवेश कर सकता है बहुरुपिये के समान गन्धर्व के आवेश में प्राणी का स्वभाव स्वरूप आदि बदल जाते हैं। उसमें प्रथम स्वभाव का आवरण हो जाता है। उस प्राणी की प्रत्येक इन्द्रिय उस शरीर के प्रथम हंस को छोड़कर इस आगन्तुक गन्धर्व की आज्ञाकारी हो जाती है।

किन्तु स्वप्न में पृथक् रहकर ये गन्धर्व बातचीत करते हैं। इन गन्धर्व जीवों में भी कितने सज्जन महानुभाव या कितने दुर्जन धूर्त होते हैं। जाग्रत् के आवेशकाल में अथवा स्वप्नकाल में कितने ही सज्जन गन्धर्वों की कही हुई सब बाते ज्यों की त्यों सत्य होती हैं। किन्तु दोनों ही समय में धूर्तों की कही हुई मिथ्या होती हैं। इन गन्धर्वों के कुल १८ भेद चरक, सुश्रुत आदि वैद्यक आचार्यों ने लिखा है उनमें सज्जन भूतों का या दुष्ट भूतों का लक्षण भी पृथक् पृथक् दिखलाया है और सब बातें गन्धर्व जीवों में

जाग्रत् के अनुसार ही होती है। किन्तु १७ इन्द्रियां अधिक होने के कारण बहुत सी बातों में विशेषता होती है। जैसा कि एक क्षणभर में स्वप्न के जीव बहुत दूर देश जा सकते हैं, और एक घड़ी के स्वप्न काल में कितने ही दिन रात बीत जाने का अनुभव होता है। यह सब बातें यद्यपि मिथ्या प्रतीत होती हैं, तथापि स्वप्न जगत् की विलक्षणता यदि मानी जावे तो जाग्रत् के विरुद्ध होने पर भी उनको हम सत्य मान सकते हैं। इसलिये ये स्वप्न के जगत् सत्य हैं। इस प्रकार पूर्ववत और इस मत में दो बातों का बहुत विशेष वैधर्म्य (अनमोल) है प्रथम मत में स्वप्न के पदार्थों को देखने का प्रकाश क्षेत्रज्ञात्मा का विज्ञानमय प्रकाश है, और उस प्रकाश में दीखते हुए सब पदार्थ प्राज्ञआत्मा के कल्पित हैं और मिथ्या हैं। किन्तु इस द्वितीय मत के स्वप्न के पदार्थों को देखने के लिये विज्ञान का न होकर चन्द्रमा का प्रकाश है और उस प्रकाश में दीखते हुए सब पदार्थ नित्य सिद्ध सर्वदा विद्यमान रहते हैं और ज्यों के त्यों सत्य हैं।

यद्यपि यह हंसआत्मा माता पिता के शुक्र शोणित के भ्रूण की चेतना से नया ही उत्पन्न होता है। तथापि वह हंस इतना प्रधान हो जाता है कि प्राज्ञ आदि सभी आत्मा और यह शरीर भी सूत्र के द्वारा उसी हंस में गुथा हुआ रहता है। हंस के वायुमय होने के कारण वायुमय सूत्र से इस शरीर को पकड़े रहकर इस शरीर से बाहर बहुत दूर धावा करता है उस समय प्राज्ञआत्मा अपनी सञ्चालक वायु के न रहने के कारण निर्व्यापार (वेकार) होकर वैश्वानर में गिरकर रह जाता है वह बाहर नहीं जा सकता किन्तु हंस के आने पर उसी हंस वायु के कारण उस प्राज्ञ आत्मा में हल-चल होने की चेष्टा हो जाती है। किन्तु किसी कारण से जब वह हंसआत्मा वायुरूपी सूत्र को तोड़कर इस शरीर से बाहर निकलता है तो फिर उसको इस शरीर में प्रवेश करने का द्वार बन्द हो जाता है और वह इस शरीर से पृथक् रहने लगता है। वह उस समय+प्रेत की दशा में होता है। इस प्रकार हंस के चले जाने पर शरीर के वैश्वानर प्राज्ञ आदि सभी आत्मायें उत्क्रान्त (उछट जाना) हो जाते हैं। उन सबका बन्धन जिस सूत्र से था, उसके टूटने से प्राज्ञ आदि आत्मा भी शरीर में नहीं रह सकते उसी को मृत्यु कहते हैं। यही हंसआत्मा जिसके आधार से शरीर में वैश्वानर, प्राज्ञ आदि सभी आत्मा बड़े सौकर्य ( सुभीते ) से रहते थे उसी हंसआत्मा के दूसरे किसी प्राणी के शरीर में प्रवेश होने पर उस प्राणी के प्राज्ञ आदि सभी आत्माओं को दबाकर आवरण कर देता है, और उन पर अपना प्रभाव जमा लेता है।

## ३—सुषुप्ति

पांच प्रकार की प्रज्ञा जिनको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण कहते हैं, इन पांचों के साथ पांच प्रकार के प्राण और इनसे अतिरिक्त पांच प्रकार के कर्मेन्द्रिय रूपी पांच प्राण और पांचों प्रज्ञाओं के विषयरूप पांच अर्थ जिनको शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध कहते हैं। इन पांचों अर्थों के सम्बन्ध से पांच प्रकार के भूत जिनको आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी कहते हैं। इस प्रकार इन २५ पदार्थों की समष्टि को प्राज्ञ कहते हैं, तथा जन्म समय से आरम्भ करके मरण पर्यन्त जो कुछ यथार्थ ज्ञान, अज्ञान और अन्यथा ज्ञान (यह ज्ञान व्यवहारिक है) होता है उसका संस्कार सञ्चित होता रहता है उसी को काम

———————

+प्र=बिल्कुल, इत=गया हुआ। प्रेत = बिलकुल गया हुआ।

कहते हैं। उन संस्कारों के उत्पन्न होने में अपेक्षा बुद्धि अर्थात् इच्छा ही कारण होती है, इसलिये उन संस्कारों को काम कहते हैं इसी प्रकार जन्म से मृत्यु तक जो सुकर्म विकर्म और अकर्मों को प्राणी करते हैं उनका भी संस्कार उत्पन्न होकर संचित होता रहता है, जिनको शुक्र कहते हैं। काम और शुक्र ये दोनों जन्म जन्मान्तर में और मृत्यु के पश्चात् लोकान्तर में भी आत्मा के साथ-साथ रहते हैं इसलिये इन दोनों की समष्टि को भी मिलाने से प्राज्ञआत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। अर्थात् विज्ञानआत्मा पर महान् आत्मा अर्थात् योनिका आकार जो सोम रस का बना हुआ है मिला रहता है उस आकार के महान् आत्मा पर जो पञ्चप्रज्ञा आदि २५ मात्रा समष्टि मिली रहती है उसे ही प्राज्ञआत्मा कहते हैं। किन्तु वह प्राज्ञआत्मा काम और शुक्र से कदापि शून्य नहीं रहता। इसीलिये ऋषियों का सिद्धान्त है कि—

"काममय एवायं पुरुष" इति—अर्थात् सम्पूर्ण प्राणमय और भूतमय होने पर भी वास्तव में इस प्राज्ञआत्मा को काममय ही कहना चाहिये। क्योंकि—

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामायेऽस्य हृदिस्थिताः।**
**अथमर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥**

अर्थात् जबकि कभी कामनायें जो कि इसके हृदय में ठहरे थे सर्वथा मिट जाते हैं, तो उस समय यह मरणधर्मा प्राज्ञआत्मा अमृत हो जाता है और उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, अर्थात् शुद्ध ब्रह्मरूप होकर मुक्त हो जाता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि काम और शुक्र के हट जाने से अन्यान्य उपरोक्त २५ मात्राओं की समष्टि भी नहीं रहने पाती जिसके कारण प्राज्ञ का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है और उस प्राज्ञ का काम और शुक्र के नष्ट होने से ही प्राज्ञ आत्मा का जन्म लेने के लिए योनि का संबन्ध भी टूट जाता है इसीलिये महान्आत्मा का सम्बन्ध भी नहीं रहता तो ऐसी दशा में केवल शुद्ध विज्ञानमय आत्मा ही बचा रहता है इसी को कैवल्य ( अकेलापन ) मुक्ति कहते हैं। वह विज्ञानमय आत्मा सूर्य के रस से उत्पन्न होता है, इसलिये सभी प्रकार के 'कषाय (मैल) दूर होने पर वह विज्ञानमय आत्मा अपने प्रभव सूर्य में ही लीन हो जाता है इसी को सूर्यभेदी (मिलने वाली) मुक्ति कहते हैं।

इस प्राज्ञ आत्मा में से काम और शुक्र ये दोनों प्राज्ञ में रहकर भी प्रकृति के द्वारा सब काम करने के कारण प्रकृति में ही अपना आशय बनाते हैं इसी से काम और शुक्र ये दोनों प्राज्ञ और महान् इन दोनों आत्माओं से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें से यह प्रज्ञानआत्मा विज्ञान की ओर अधिक अनुशक्त रहता है क्योंकि प्राज्ञआत्मा इन्द्रियों से सम्बन्ध रखता है, और इन्द्रियां देवताओं से बना हैं और देवता विज्ञानमय आत्मा से निकलते हैं, इसलिए प्रज्ञान और विज्ञान का अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। महान्आत्मा का विज्ञान से सम्बन्ध रहने पर भी इन दोनों का संयोग मात्र है, समन्वय सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार पानी से प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध है, उसी प्रकार विज्ञान का महान् से सम्बन्ध है। किन्तु जिस प्रकार पानी में लवण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार विज्ञान में प्रज्ञान का सम्बन्ध है। यह विज्ञानमय आत्मा सूर्य से उत्पन्न है। इसी कारण से सूर्य के अस्त होने पर या सूर्य रस के प्रतिबन्धक तमोमय किसी दोष के आने पर

शरीर के शोणित में से सूर्य का रस न्यून हो जाता है, तो उस दशा में इस विज्ञानमय ग्रात्मा की रश्मियाँ चारों ग्रोर से संकुचित होकर केवल हृदय मात्र में ग्रा ठहरती हैं। उस समय हृदय ग्राकाश में केवल प्रकाश रहता है। प्रज्ञानग्रात्मा उससे समन्वित होने के कारण वह भी हृदय मात्र में ग्रा ठहरता है इन्द्रियगोलकों में उसकी रश्मियां नहीं रहती, किन्तु हृदय में प्राज्ञ के साथ सब इन्द्रियां विद्यमान रहती हैं, काम ग्रौर शुक्र भी रहते हैं, उसी अवस्था को स्वप्न कहते हैं।

किन्तु संकुचित होते होते जबकि विज्ञानमय आत्मा हृदय ग्राकाश को भी छोड़ देता है, तो उस समय उसकी स्थिति पुरीतत नाड़ी में आ ठहरती है। यह पुरीतत नाड़ी हृदय से नीचे के भाग में होती है। हृदय से चारों १०० नाड़ियां निकलती हैं, ग्रागे चलकर एक-एक में सौ-सौ नाड़ी होती हैं। फिर उनके प्रत्येक में से बहत्तर–बहत्तर हजार नाड़ियां निकलती हैं। ये इतनी सूक्ष्म हैं कि सूक्ष्म दर्शक यंत्रों से भी कठिनता से दीखती हैं। उन्हीं सूक्ष्म नाड़ियों के अग्रभाग से रोमावली निकलती हैं। इन नाड़ियों से सर्वाङ्ग शरीर जाल के ग्रनुसार गुथे हुए हैं। इन नाड़ियों में कितनी ही लाल, पीले, नीले आदि रङ्ग की हैं, इन नाड़ियों को हितानाड़ी कहते हैं। इन हितानाड़ियों में जो नाड़ी हृदय के नीचे पेट की ग्रोर गई हैं उनमें होकर यह विज्ञानमयग्रात्मा प्रज्ञानमय ग्रात्माग्रों को साथ लेकर पुरीतत नाड़ी में चला जाता है, किन्तु महान्ग्रात्मा जो सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है, जो इस शरीर का एक प्रकार का सांचा है, वह संकुचित न होकर ज्यों का त्यों बना रहता है। इसलिए महान् के ग्राशय में जमे हुए काम ग्रौर शुक्र भी ज्यों के त्यों हृदयस्थान में ही रह जाते हैं। काम शुक्र के बिना ही प्राज्ञग्रात्मा को साथ लेकर विज्ञानग्रात्मा पुरीतत नाड़ी के भीतरी चर्म को भी स्पर्श न करता हुग्रा उस नाड़ी के ग्राकाश में बेलाग स्थित रहता है, इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस ग्रवस्था में काम, शुक्र न रहने के कारण यह विज्ञानग्रात्मा प्रज्ञान के साथ रहकर भी मुक्तिदशा के ग्रनुसार सब संसार के मृत्युरूप जञ्जाल से रहित हो जाता है। उस समय वह आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, न बाप है न बेटा है, न गृहस्थ है न सन्यासी है. न दीन है न धनाढच है केवल स्वरूप में रहकर ग्रानन्दमय है। उसी ग्रानन्द को हमारी प्राज्ञग्रात्मा ग्रनुभव किया करती है, उस समय यह प्राज्ञग्रात्मा देखता सुनता हुग्रा भी देखता सुनता नहीं है। ग्रर्थात् देखने सुनने ग्रादि इन्द्रियों की शक्ति जाग्रत के ग्रनुसार उसमें ज्यों की त्यों बनी हुई है किन्तु केवल विषय के समीप न होने के कारण किसी विषय का ज्ञान नहीं होता, यह उस ग्रात्मा की परमाशान्ति कही जाती है।

दूसरा मत है कि यह विज्ञानग्रात्मा हृदय में ही रहकर सर्वाङ्ग शरीर में ग्रपनी रश्मि फैलाती है। किन्तु सर्वाङ्ग शरीर से इसकी रश्मियां संकुचित भले ही हो जाय, किन्तु यह हृदय को कभी नहीं छोड़ती। हृदय के छोड़ने को ही मृत्यु कहते हैं।

यह विज्ञानमय ग्रात्मा सूर्य से उत्पन्न होती है, इसलिए हृदय को छोड़ने पर भी यह हृदय से ऊपर ही नाड़ियों में जा सकती है नीचे की ओर इसका जाना ठीक नहीं जचता। इसलिए मानना होगा कि मृत्यु के समय हृदय से उत्क्रान्त होकर (छोड़कर) ऊपर की नाड़ियों के द्वारा यह सूर्य में चली जाती है। किन्तु जीवन के सुषुप्तिकाल में ऊपर नीचे कहीं न जाकर केवल हृदय में ही संकुचित होकर रहती है।

स्वप्न से इसकी विशेषता यह है कि स्वप्नकाल में संपूर्ण हृदय के बाहरी परिवेष्ठन (झिल्ली) तक व्याप्त होकर प्रकाश करती है। किन्तु सुषुप्तिकाल में हृदयाकाश के भीतर और भी सूक्ष्म एक दहर पुण्डरीक नाम की ब्रह्मपुरी कहकर एक आकाश है उसमें चारों ओर के चर्मों का स्पर्श न करता हुआ निरालम्ब विश्राम करता है, उसको सुषुप्ति कहते हैं। जो कि श्रुति सुषुप्तिकाल में विज्ञानमय आत्मा का पुरीतत-नाड़ी में जाना कहती है उसके मतानुसार यह पुरीतत नाड़ी उदर में न होकर इसी हृदय के वेष्टन को कहते हैं। जो हृदय के भीतर बाहरी परदे में जाली के समान एक प्रकार की झिल्ली है उस झिल्ली के चारदिवारी के अन्दर उस दहराकाश में रहने में ही उस श्रुति का तात्पर्य है इसलिए इस श्रुति का विरोध नहीं आता। शङ्कराचार्य ने भी शारीरक भाष्य में इस पुरीतत शब्द का यही अर्थ माना है।

इस विज्ञानआत्मा के साथ प्रज्ञानआत्मा का जो सम्बन्ध है उसमें भी दो मत हैं। पहले जो ऊपर कहा गया है कि सुषुप्तिकाल में काम, शुक्र को छोड़कर केवल इन्द्रियों को ही लेकर यह प्रज्ञानआत्मा उस विज्ञानआत्मा में अनुषक्त (चिपका हुआ) रहता है। उसकी कुछ भी रश्मि शरीर के मांस, त्वचा आदि में नहीं रहती। सोते हुए पुरुष का नाम लेकर पुकारने से जो वही पुरुष जाग उठता है वह इस आत्मा का काम है। यह हंसआत्मा सुनता है, सुनकर शरीर में प्रवेश करता है, और विज्ञान में बैठे हुए प्रज्ञान को खींचकर इन्द्रियों की ओर त्वचा तक ले आता है यही पहला मत है। किन्तु दूसरा मत यह है कि सुषुप्तिकाल में भी जाग्रत् के अनुसार ही प्रज्ञानआत्मा की स्थिति रहती हैं। जाग्रत् में जिस प्रकार विज्ञानआत्मा के साथ बंधा हुआ प्रज्ञानआत्मा सर्वाङ्ग शरीर में अपनी रश्मि व्याप्त रखता है, उसी प्रकार सुषुप्ति में भी रखता है। केवल विशेषता यही है कि विज्ञानआत्मा संकुचित होकर हृदय मात्र में विश्रांत (बैठ जाता है) हो जाता है। उसकी रश्मि बाहर त्वचा तक न रहने से प्रज्ञानआत्मा का व्यापार निष्फल हो जाता है। जिस प्रकार दीपक न रहने से घोर अन्धकार में देखती हुई आंख का व्यापार निष्फल हो जाता है उसी प्रकार विज्ञान का प्रकाश न रहने से देखता हुआ प्रज्ञान भी नहीं देखता। इस-लिए घोर निद्रा में कांटे चुभाये जायं, ठण्डा पानी डाला जाय, शरीर पर आग की चिनगारियां डाली जाय तो अवश्यमेव वह प्राणी जाग उठता है। उसका उठानेवाला त्वचा तक विद्यमान प्रज्ञानआत्मा ही है। यदि हंसात्मा पृथक् न भी मानी जाय तो भी कांटे, जल, अग्नि से त्वचा में व्याप्त प्रज्ञान में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसका प्रवाह हृदय तक पहुंचकर निरालम्ब आकाश में विद्यमान विज्ञानआत्मा को भी हृदय के चर्म से स्पर्श कराकर बाहर त्वचा तक फैला देता है जिससे वह प्राणी जाग उठता है। इस मत में हंसआत्मा को न मान करके भी काम चल सकता है इस मत में हंसआत्मा के न होने से स्वप्न जगत् की सृष्टि या उसका दर्शन भी शरीर से बाहर न होकर शरीर के भीतर हृदय में ही होता है।

## ४—५—मोह और मूर्छा

शारीरकसूत्र में वेदव्यासजी ने मोह और मूर्छा अवस्था में अर्ध सम्पति कही है। जिसका तात्पर्य यह है कि आधा जाग्रत् और आधी निद्रा क्योंकि मोह और मूर्छा की दशा में भूत और इन्द्रियों के रहते भी स्तम्भन (रुकावट) के कारण निद्रा के अनुसार ही बोध नहीं होता। निद्रा नही है इसलिए उसे जाग्रत् के सदृश कहते हैं। किन्तु जाग्रत् के अनुसार उसमें किसी प्रकार का ज्ञान देखा नहीं जाता इस-

लिए निद्रा के सदृश कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान का अभाव दो प्रकार से होता है, मोह से और मूर्छा से इन दोनों में विशेषता इस प्रकार है, कि जैसे कोई तीरन्दाज तीर की बारीकी बनाने में इतना एकाग्रचित्त हो जाय कि उसके सामने आते जाते जीवों का ज्ञान न हो। इसी प्रकार अत्यन्त शोक या अत्यन्त आनन्द की मात्रा आकस्मिक, अविचारित, सहसा आ पड़ने से हृदय पर इस प्रकार आघात पड़े कि उसकी चित्त वृत्ति एकदम ही रुक जाय तो उसे मोह कहते हैं। मोह में प्रज्ञा के जाग्रत् रहने पर भी प्रज्ञा की गति का स्तम्भन है। न बुद्धि की वृत्ति होती है न किसी विषय का ज्ञान होता है, यहां तक कि अपनी आत्मा का भी बोध नहीं होता। किन्तु प्रज्ञा नष्ट नहीं होती केवल प्रज्ञा की वृत्ति नष्ट होती है। किन्तु मूर्छा वह है कि जिसमें आत्मा के सामने अंधेरा छा जाता है मृत्यु के समान आत्मा के सामने घोर अन्धकार है। यहां केवल बुद्धि या प्रज्ञा की केवल वृत्ति ही नष्ट नहीं होती प्रत्युत प्रज्ञा का भी पूर्ण आवरण हो जाता है, प्रज्ञा रहते भी न रहने के बराबर है। मोह में प्रज्ञा के रहने से प्रकृति के नियम के अनुसार प्रथम से ही प्राण पर प्रज्ञा का जो अधिकार प्रेरणा करने की जन्मकाल में प्रवृत्ति हो चुकी थी उसका निरोध न होने के कारण शरीर का प्राण इस शरीर करने में जाग्रत् के अनुसार ही समर्थ रहता है। इसी से मोह की दशा में बैठा, खड़ा जैसा भी हो वैसा ही निश्चल रहकर भी शरीर को सम्हाले रहता है। किन्तु मूर्छा की दशा में उस प्राण पर आज्ञा करने वाले प्रज्ञात्मा पर ऐसा आवरण आता है कि जिससे प्राण की क्रिया भी केवल मूलस्थान अर्थात् हृदय में ही रह जाती है, शोणित चलता रहता है किन्तु और सब प्राण की क्रिया रुक जाती है जिससे श्वास भी अच्छे प्रकार नहीं आता। इस प्रकार प्राण के हरने पर भी शोणित के अतिरिक्त शरीर पर उसका अधिकार न रहने से शरीर गिर पड़ता है, इसी दशा को मूर्छा कहते हैं। यद्यपि इस मूर्छा की दशा और सुषुप्ति की दशा में अज्ञानता बराबर है, अन्धकार बराबर है तथापि यह मूर्छा सुषुप्ति नहीं है। क्योंकि सुषुप्तिकाल में यह विज्ञानआत्मा और प्रज्ञानआत्मा निज प्रकाश में रहती है, आनन्द में मग्न रहती है। जगत् के जितने प्रकार के दुःख हैं सब से उस समय छुटकारा पा जाता है, यहां तक कि थकान भी मिट जाती है किन्तु मूर्छा में इसके विपरीत स्थिति है, यहां निज प्रकाश भी नहीं रहता। घोर अन्धकार है और आनन्द की मात्रा बिल्कुल नहीं प्रत्युत सभी दुःखों की मात्रा में रहता है, ( डूब जाता ) है। उसमें थकान मिटने के बदले थकान की मात्रा अधिक होती है। सुषुप्ति में नासिका से श्वासोच्छ्वास इस प्रकार शान्ति से निकलता है, कि जिससे सोनेवाले का सुख दूसरे मनुष्यों को भी जान पड़ता है। सुषुप्ति में शान्ति में प्रसन्नता है। किन्तु मूर्छा में श्वासोच्छ्वास इस प्रकार बन्द रहता है कि उसकी दशा देखकर उसके दुःख का अनुभव दूसरों को भी होता है, उसके मरजाने का भय रहता है उसके मुख और नेत्र की चेष्टा भयङ्कर हो जाती है।

दूसरा मत है कि मूर्छा ये दोनों ही नई अवस्था नहीं है अर्थात् प्रज्ञा की ७ अवस्था न होकर ५ अवस्था ही हैं। क्योंकि मोह और मूर्छा इन दोनों का स्वप्न और सुषुप्ति में अन्तर्भाव हो सकता है। यह प्राज्ञआत्मा बाहर की इन्द्रियों पर बैठकर पांचों प्रकार की ज्योतियों से संसर्ग करके जब कि बाहर के विषयों का भोग करता है, अर्थात् उनके आकाश में आकर संस्कार ग्रहण करता है, वही जाग्रत् अवस्था है। किन्तु जब इन्द्रियों का संसर्ग छोड़कर केवल स्वरूप मात्र में स्थिर होकर केवल आत्मा की ज्योतिमात्र के संसर्ग से केवल आनन्द का ही अनुभव करता है और किसी विषय का अनुभव नहीं करता.

उसे सुषुप्ति कहते हैं। इन दोनों के बीच की अवस्था को स्वप्न कहते हैं। आत्मा की यही तीन मुख्य अवस्थायें हैं। इन तीनों में से जाग्रत् की अवस्था में वे तीनों अवस्थायें सम्मिलित हैं, अर्थात् पञ्चज्योति के रहने से जाग्रत् है। जाग्रत् में भी जब प्राणी दूसरे से बात न कर अपने आप ही कुछ सोचता विचारता रहता है उस समय उसकी सारी वृत्तियां स्वप्न की दशा है। किन्तु जब किसी आनन्द का अनुभव करता है तो क्षणभर दूसरे किसी भी विषय का अनुसंधान नहीं करता, यह जाग्रत् में सुषुप्ति की दशा है। किन्तु स्वप्न की दशा में केवल जाग्रत् का लक्षण नष्ट हो जाता है। स्वप्न और सुषुप्ति दोनों का समावेश हो जाता है, क्योंकि स्वप्न में भी प्रज्ञानाआत्मा की सुषुप्ति के अनुसार संयोग रहता है। उस से जो कुछ आत्मा का आनन्द प्रज्ञान में हुआ करता है वह स्वप्न में सुषुप्ति है।

इस प्रकार जाग्रत में ३ अवस्थाओं का और स्वप्न में २ अवस्थाओं का समन्वय होता है। किन्तु सुषुप्ति में अवस्था का द्वन्द्वभाव नष्ट होकर अद्वैतभाव हो जाता है। इन तीन अवस्थाओं में स्वप्न के अनुसार मोह में भी प्रज्ञा अपने हृदय-स्थान में स्तब्ध रहती है। बाहर उसकी वृत्ति रुक जाती है, इसलिये मोह को भी यदि जाग्रत् अवस्था का स्वप्न कहें तो अनुचित होगा। इसी प्रकार मूर्छा का भी जाग्रत् अवस्था की सुषुप्ति में अन्तर्भाव कर सकते हैं। क्योंकि पित्त क्षोभ के कारण अथवा स्नायु दोष के कारण अथवा मस्तिष्क के दोष से जो हृदय पर अन्धकार का धक्का लगता है वह सुषुप्ति और मूर्छा दोनों में बराबर है। इसलिये ३ अवस्था जीवनकाल में और मृत्यु, मुक्ति २ अवस्था उत्तर काल में इस प्रकार ५ ही अवस्था हैं। इन दोनों का वर्णन आगे किया जायगा।

## ६—७—मृत्यु, मुक्ति

आत्मा की १० अवस्था पुराने आचार्यों ने कही हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्छा, जन्म, मृत्यु, सगुणमुक्ति, निर्गुणमुक्ति, लय। इन १० अवस्थाओं में प्रथम ५ का वर्णन यहां किया है, अवशिष्ट पांचों में से मृत्यु, मुक्ति आदि के विषय अधिक होने के कारण पृथक् प्रकरण में दिखाये जायेंगे। यहां पर केवल थोड़ा सा आत्मा के सम्बन्ध में परिशिष्ट विषय निरूपण करके इस आत्मापरिच्छेद को समाप्त करेंगे।

## आत्मा का परिशिष्ट भाग

## प्रज्ञान [ आत्मा का समन्वय प्रकरण है ]

यद्यपि आत्मा अनेक हैं, तथापि उनमें प्रज्ञात्मा ही सबसे अधिक उल्वण ( उभरा हुआ ) है श्रुति भी कहती है—

"नून जनाः सूर्येणप्रसूताः" जिनका जन्म है वे अवश्य सूर्य से ही उत्पन्न हैं। और शौनक ऋषि ने वृहद्देवता ग्रंथ में कहा है—

**भवद् भूतं भविष्यच्च जङ्गम स्थावरं च यत्**
**अस्यैके सूर्य्यमेवेकं, प्रभवं प्रययं विदुः ॥**

अर्थात् जो कुछ मौजूद है, जो हो चुका है, और जो होने वाला है स्थावर या जङ्गम जो जहां कुछ है इन सबका एक सूर्य ही प्रभव और प्रलय है।

इसलिये यह पृथ्वी भी सूर्य से ही उत्पन्न हुई है और इस पृथ्वी में जो धारणा शक्तिवाला अग्नि देवता है वह भी सूर्य का ही रूपान्तर है सौनिक ऋषि ने भी ऐसा ही कहा है—

**"सूर्य प्रसूता वग्नी तु दृष्टौ पार्थिवमध्यमौ"**

अर्थात् पृथ्वी का अग्नि और अन्तरिक्ष का अग्नि ये दोनों भी सूर्य से ही उत्पन्न हुए हैं।

तो ऐसी स्थिति में जिस प्रकार सूर्य की अग्नि के साथ अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्र ये पांच देवता हैं उसी प्रकार पृथ्वी का अग्नि में भी इन पांचों का मेल है। किन्तु ये पांचों जिसके आधार से मिले हैं वह शुद्ध सूर्य का रस है। किन्तु इन देवों के मिलने के कारण उसके रूप में परिवर्तन होकर मृत्यु और अमृत के भेद से दो रूप हो गये हैं। मृत्यु रूप को पृथ्वी और अमृत रूप को अग्नि कहते हैं। यह अग्नि पृथ्वी के केन्द्र से निकलकर पृथ्वी के पृष्ठ पर नाना औषधि या सभी प्रणियों के शरीरों को पृथ्वी से उठाकर बनाता है, और उनमें प्रवेश करता है इसी नियम के अनुसार यह अग्नि पृथ्वी से निकलकर मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता हुआ प्रपद (पांव) के द्वारा धीरे-धीरे हृदय तक जाकर सूर्य से साक्षात् आये हुये पांचों देवताओं से मिलता है। जिससे यह पृथ्वी की अग्नि में निगूढ़ पांचों देवताओं मात्रायें विकसित हो जाती हैं और सूर्य के खिंचाव के कारण हृदय से सिर तक उठकर शिरोभाग में ही उद्भूत होती हैं। जिनको वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन के नाम से पांच इन्द्रियां कही जाती हैं। ये पांचों ही इन्द्रियां जिसके आधार से मिलती हैं और जिसमें वृद्ध हैं वह पृथ्वी का प्राण इन पांचों के भीतर निगूढ़ है और वास्तव में वह सूर्य का ही रस है। इसलिये हृदय में आकर सूर्य से साक्षात् आये हुए सूर्य का रस या उसके पांचों देवता इनसे मिलकर घिलमिल हो जाते हैं। इसी पृथ्वी से आये हुए पञ्चदेवता युक्त प्राण को प्रज्ञात्मा कहते हैं। जो कि सूर्य के रस रूप विज्ञानआत्मा के साथ बद्ध रहती है। यह प्राज्ञआत्मा जो वास्तव में पृथ्वी का प्राण है, वही इस शरीर की आत्मा है। अर्थात् इस शरीर रूपी रथ का वही रथी है और रथ के वाहन के लिये जिस प्रकार अश्व की आवश्यकता है वही काम यहां पर पांचों इन्द्रियां या विशेषकर मन, प्राण, करते हैं। वाक् बोलने के लिये घ्राण गन्ध, श्वास के लिये, चक्षु दृष्टि या सत्यता के लिये, श्रोत्र श्रवण के लिये और मन संकल्प या विचार के लिये द्वार मात्र हैं। किन्तु इन पाचों के अतिरिक्त जो एक ही पांचों का अभिमान करता है, अर्थात् मैंने कहा, सूँघा, देखा, सुना और उन पर विचार किया, इस प्रकार पांचों का अपने में एक ही स्थान में अभिनय करती है, वही इन पांचों से भिन्न और पांचों की प्रेरक प्राज्ञआत्मा है और वही अहमस्मि ( मैं हूँ , ऐसा अभिमान करती है।

इस प्राज्ञआत्मा रूपी मुख्य प्राण के ऊपर सात प्राणों का आवरण है। मन, वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, कर्म और अग्नि। इनमें श्रोत्र तक ५ प्राण चेतन शरीर में ही उद्भूत होते हैं। वृक्षादि स्थावर जीवों के प्राज्ञ पर कर्म, अग्नि ये दो ही आवरण हैं, किन्तु प्रस्तरादि जड़ जीवों की आत्मा पर केवल

अग्नि ही आवरण है। इस प्रकार निःसंग जीवों में एक आवरण और अन्तः संग जीवों में दो आवरण और संसग जीवों में ७ आवरण हैं।

इन सातों आवरण रूपी प्राणों की मात्रा छत्तीस हजार हैं। इन सब को ग्रहण करने वाली मुख्य प्राण की मात्रा भी ३६००० ही हैं। उनमें से एक-एक मात्रा सूर्योदय से सूर्यास्त तक जितना प्राण सूर्य से आता है उसे अहः कहते हैं। प्रत्येक मात्रा इस प्रत्येक अहः प्राण का भोजन करती है। एक बार खाने के उपरान्त पक्व होने के कारण पुनः भोजन नहीं करती इसलिये प्राज्ञ प्राण के ३६००० मात्रायें बारी-बारी से सूर्य के अहः का सम्बन्ध करके १०० वर्ष में निःशेष हो जाती हैं, इसी में मनुष्य की आयु १०० वर्ष की नियत है। इसी प्रकार यह प्राज्ञ प्राण अपनी जीवन सत्ता को रखता हुआ उक्थ कहलाता है, प्रत्येक उक्थ से चारों ओर अर्क प्राण निकलकर अन्न का ग्रहण और संचय करता हैं। उन अन्नों को अशिति कहते हैं। उक्थ, अर्क, अशिति इन तीनों का समन्वय आत्मा का स्वभाव है। जिस प्रकार आकाश में सूर्य का बिम्ब एक उक्थ है, क्योंकि उससे चारों ओर रश्मियां उठती हैं ये रश्मियां चारों ओर फैली हैं, अर्क कहलाती हैं। यह अर्क चारों ओर से सोम और आप् को खींचकर अपने में लेलेते हैं यही उनकी अशिति या अन्न हैं। ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर में प्राज्ञ प्राण एक उक्थ है। उससे उठे हुए मन, प्राण, वाक् इत्यादि ७ अर्क हैं, ये ही जगत् के नाना विषयों को ग्रहण करके उस प्राज्ञात्मा में पहुँचाते हैं यही उनकी अशिति है। इसका उक्थ, अर्क, अशिति का सम्बन्ध होकर शरीर में रहना ही आयु है। इन्हीं सातों अर्कों को ऐतरेय ऋषि ने अपने आरण्यक में ब्रह्मगिरि कहा है। इन सातों ब्रह्म (प्राणों) की रक्षा करना अर्थात् व्यर्थ व्यय करके नष्ट न करना ही ब्रह्मचर्य है। इस प्राज्ञ प्राण पर जो ७ प्राण हैं उनमें सातवां अग्नि प्राण दो प्रकार का है। अमृत और मृत्यु-इनमें मृत्यु अग्नि चित्य है, जिसका शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेदा, मांस, शोणित, चर्म और लोम इस प्रकार चयन होकर शरीर का रूप बनता है, किन्तु अमृत अग्नि चितेनिधेय होकर लोम भिन्न सातों चयनों पर व्याप्त होकर पृथ्वी के प्राज्ञात्मा रस को या अन्यान्य आत्माओं को भी धारण करता है। इस प्रकार इस अग्नि प्राण के द्वारा यह प्राज्ञ आत्मा रूपी मुख्य प्राण सशरीर हो जाता है, परन्तु अपने स्वरूप से वह अशरीर है। इस प्रकार प्राज्ञात्मा की दो अवस्था होती है। सशरीर, अशरीर इनमें सशरीर की दशा में यह प्राज्ञात्मा द्वन्द्वों के नियम से संयुक्त होता है। प्रिय और अप्रिय काम और शुक्र, विद्या और कर्म। किन्तु अशरीर दशा में केवल विद्या को रखकर वह आत्मा निर्द्वन्द्व हो जाता है, क्योंकि उसके प्रिय और अप्रिय कुछ भी नहीं रहते। किन्तु सशरीर दशा में आत्मा इन दोनों से विनिर्मुक्त नहीं होता। इसी प्रकार काम रहने से नाना प्रकार की क्रिया करता है, जिससे नाना प्रकार के शुक्र उत्पन्न होते हैं और उन शुक्रों से फिर नाना प्रकार के काम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के धारा प्रवाह में पड़कर आत्मा परतन्त्र हो जाता है। जब तक सब कामों या कामनाओं को न छोड़े तब तक शुक्र के अधीन होकर नाना लोकों में आत्मा को परिभ्रमण करना पड़ता है। ये ही काम और शुक्र दोनों कर्म के बीज रूप हैं। काम से कर्म और कर्म से शुक्र और शुक्र से फिर काम होते रहते हैं। इस प्रकार कर्म की धारा आत्मा में काम से उत्पन्न होती है। किन्तु विद्या की धारा आत्मा की स्वाभाविक धारा है। इसलिये जब कोई कर्म नहीं रहता तब भी विद्या विद्यमान रहती है। विद्या और कर्म ये दोनों आत्मगति के लिये रथ चक्रवत् हैं, क्योंकि कर्म के द्वारा आत्मा की संसार गति होती रहती

है। वह संसार की ओर बढता जाता हैं—जन्मता है, मरता है, सन्तान उत्पन्न करता है और अपनी सांसारिक उन्नति करता है। परन्तु कर्म से आत्मा में कषाय पड़ता है और आत्मा कलुषित हो जाती है, किन्तु इसके विपरीत विद्या से आत्मा की ब्रह्म गति होती है। वह ब्रह्म की ओर बढ़ जाता हैं और परम शान्ति में आता है आत्मा में कषाय दूर होकर आत्मा शुद्ध स्वरूप में आती है। यही आत्मा की दो गतियां हैं जिनको संसार या मोक्ष कहते हैं।

जबकि आत्मा तीनों द्वन्द्वों से निर्मुक्त होकर विद्या के प्रभाव से शुद्ध स्वरूप में आता है, उसी समय आत्मा में अष्ट गुणों का उदय होता है। इसलिये वह जीव अष्ट गुणी ईश्वर के समान हो जाता है, और यही सगुण मुक्ति है। इसी को रामानुज मानते हैं वे गुण ८ ये विपाप्मा, विमृत्यु, विजर, विशोक अविजिघित्सा (न खाने की इच्छा) अपिपासा, सत्यसंल्प, सत्यकाम। रामानुज के मत में इन ८ गुणों के आने से जीव भी ईश्वर तुल्य हो जाता है। किन्तु फिर भी वह जीव जगत् की रचना, रक्षा, संहार करने की सामर्थ्य नहीं रखता इसलिये वह वास्तव में ईश्वर नहीं बनता केवल मुक्त आत्मा कहलाता है। ऐसे मुक्तात्मा असंख्य हो सकते हैं। किन्तु ईश्वर सदा एक है।

इस मत के विरूद्ध दूसरा मत यह है कि जीव जब विद्या के अतिशय होने से सर्वथा विशुद्ध हो जाता है तो वह अपने प्रभाव ज्योति में जा मिलने से एक रूप हो जाता है जिस प्रकार पानी में बना हुआ प्रतिबिम्ब पानी की सत्ता से पृथक् अपना स्वरूप धारण करता है। वह अल्प आयतन अल्प वीर्य (शक्ति) रखता है किन्तु पानी की सत्ता नष्ट होने पर वह केवल सूर्य के सदृश ही बनता है। प्रत्युत ज्योति में ज्योति मिल जाने से लय होकर सूर्य ही बन जाता है। ठीक उसी प्रकार काम, कर्म, शुक्र ये तीनों अविद्या के संयोग से यह जीव ईश्वर से पृथक् बन कर अपना स्वरूप धारण करता है। किन्तु वह अविद्या की सत्ता नष्ट होने पर ज्योति में ज्योति मिल जाने से लय होकर यह जीव भी साक्षात् ईश्वर हो जाता है। जैसे पृथ्वी से वृक्ष, पृथक् स्वरूप धारण करके भी अन्त में वृक्ष के स्वरूप से मुक्त होकर पृथ्वी हो जाता है। उसी प्रकार ईश्वर से ये सब जीव पृथक स्वरूप धारण करके भी अन्त में जीव स्वरूप से निर्मुक्त होकर ईश्वर ही बन जाते हैं। क्योंकि यदि ईश्वर से पृथक् जीव की सत्ता मानी जाये और ईश्वर की शक्ति से उसकी शक्ति न्यून मानी जाय तो उसको अपनी आत्मा की अल्प शक्ति पर अवश्य ही ग्लानि होगी इससे वह अशोक नहीं रह सकता, और उसने संसार की दशा में ईश्वर में मुक्त होने का संकल्प किया था। वह संकल्प उसका पूर्ण न होने से उस सायुज्य मुक्ति दशा में भी वैसा संकल्प होना निश्चित है, तो यदि वैसा संकल्प रहते भी वह साक्षात् ईश्वर नहीं हुआ तो उसका सत्य संकल्प होना मिथ्या ठहरेगा। इसलिये मुक्ति की दशा में भी संसार दशा के अनुसार जीव की ईश्वर से पृथक् दशा मान कर द्वैत मानना सर्वथा भूल है। सभी जीव ईश्वर से ही उत्पन्न होकर अन्त में ईश्वर में ही लीन हो जाते हैं, और वह एक ही ईश्वर सदा विद्यमान रहता है, यही सिद्धान्त है।

## महान्

यह प्राज्ञात्मा क्रमि से लेकर ब्रह्मा तक प्रत्येक जीव में एक ही रूप है। यद्यपि यह प्राज्ञात्मा प्रत्येक शरीर में शरीर भेद से भिन्न है। शरीरावच्छिन्न है, और शरीरों के अनन्त होने से संख्या में भी अनन्त

हैं। तथापि यह आत्मा निज के स्वरूप में सर्वत्र एक ही प्रकार का है। ६ ऊर्मियां और आदान ( लेन ) विसर्ग (निकालना) जाग्रत् स्वप्नादि १० अवस्थायें जैसे मनुष्य में हैं। उसी प्रकार कृमि आदि नीचे के जीवों में और देवता आदि उत्कृष्ट जीवों में भी समान हैं। किन्तु फिर इन जीवों की प्रत्येक विक्तियों में जो बहुत सी बातों में विशेषता प्रतीत होती है, उसका कारण क्या है ?

उत्तर यह है कि इन जीवों में परस्पर जो भेद प्रतीत होता हैं वह दो ही प्रकार का है। एक आकृति का दूसरा प्रकृति का। आकृति का भेद दो प्रकार का है। एक सजाति भेद और दूसरा विजाति भेद। मनुष्य, मनुष्य में, वृक्ष, वृक्ष में परस्पर विजातीय भेद हैं। इनमें सजातीय भेदों का कारण देश, काल आदि पांचों का वैषम्य है, किन्तु विजातीय भेद और प्रकृति भेद होना अवश्य ही एक प्रधान कारण से है। वह कारण महान् आत्मा हैं। यह महान् ही भिन्न-भिन्न जाति का है जिसे योनि कहते हैं। और इस योनि संख्या की प्राचीन काल में ऋषियों ने ८४ लाख की गणना की है। यह ८४ लाख महान् भिन्न-भिन्न आकार में होने पर भी कर्मों के द्वारा परस्पर परिवर्तनशील हैं। अर्थात् हाथी घोड़ा हो सकता है और घोड़ा मनुष्य। इस प्रकार महान् की आकृति भिन्न होने से ही जीवों में विजाति आकार दीखते हैं। किन्तु प्रकृति भेद का कारण केवल महान् ही नहीं है, किन्तु महान् और क्षेत्रज्ञ का सम्बन्ध भी कारण है। यह महान् आत्मा चन्द्रमा के रस से बना हुआ काच और जल के सदृश स्वच्छ होने पर भी स्वयं प्रकाश नहीं है। जिस प्रकार काच का गोला दीपक के सम्मुख रखने से उसका सामने का अर्ध भाग प्रकाशमान हो जाता है। किन्तु उसके विरूद्ध दिशा में अर्ध भाग तमोमय रहता है। किन्तु प्रकाश और तम दोनों के सन्धिस्थान में मन्द प्रकाश रहता है। इस प्रकार वह एक ही गोलक तीन रूप में परिणत हो जाता है। प्रकाश, छाया और तम। इसी प्रकार यह स्वच्छ महान् आत्मा भी स्वयं प्रकाशमान विज्ञान आत्मा के समीप रहकर तीन स्वरूप धारण करता है। विज्ञान विशिष्ट उसका भाग प्रकाशित होकर सत्त्वगुण कहलाता है और छाया भाग रजोगुण और शेष अन्धकारमय भाग तमोगुण है। इस प्रकार सत्व, रज, तम इन्हीं तीनों गुणों को महान् कहते हैं। किन्तु इनकी दो अवस्था होती हैं। एक तीनों गुणों की समता जो इस महान् का वास्तव रूप है उसको पुराने आचार्यों ने प्रकृति, प्रधान और अव्यक्त शब्दों से कहा है। किन्तु यह समता रूप जगत् के आदि में या प्रलयकाल में कदाचित् सम्भव होता है। किन्तु जगत् की अवस्था में कभी क्षुब्ध होकर विषय अर्थात् न्यूनाधिक हो जाता है, और अन्योन्य, ( परस्पर ) अभिभव (दबाना) आश्रय, जनन (पैदा करना) मिथुन वृति का होता है, यही विषमता जगत् का रूप हैं। इस विषम अवस्था को ही महान् कहते हैं। क्योंकि इस अवस्था में वे तीनों गुण व्यक्त अवस्था में आकर सूक्ष्म की अपेक्षा महान् हो जाते है। यही महान् किसी समय अव्यक्त था वही प्राज्ञात्मा के सुख, दुःख, मोह नाम से त्रिविध भोगों की जो जहां कुछ सामग्री उत्पन्न होती है उन सबकी प्रकृति अर्थात् मूल कारण ये ही महान् के ३ गुण हैं। इसलिये वे गुण प्रकृति कहलाते हैं। जिस आत्मा में यह प्रकृति जिस मात्रा में जैसी होती है वैसा ही भोग उस आत्मा को मिलता है, इसलिये लक्षण से वह प्रकृति शब्द स्वभाव का वाचक हो गया है। ये ही तीन गुण आत्मा के स्वभाव हैं। "स्व" करके विज्ञान आत्मा से मिली हुई प्रज्ञान आत्मा समझी जाती है। उसका "भाव" अर्थात् अवस्था विशेष का होना ही "स्वभाव" है।

स्वभाव या प्रकृति के अनुसार जो भाव प्रज्ञान में उद्‌बुद्ध होता है वैसा ही भोग प्रज्ञान आत्मा में हो जाता है। उस भोग को प्रज्ञान आत्मा कदापि रोक नहीं सकता, उसके परतन्त्र है इसलिये गीता में लिखा है कि—

**प्रकृत्या क्रियमाणनि, गुणैः कर्माणि सर्वशः।**
**अहंकार विमूढ़ात्मा, कर्ताऽहमिति मन्यते** ।।अ. ३, श्लोक २७।।

यद्यपि इस प्रकार प्राज्ञात्मा परतन्त्र है, किन्तु उसको प्रेरणा करने वाली दूसरी आत्मा विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ स्वतन्त्र है। वह प्रकृति को अवश्य दबा सकती है किन्तु मात्रा की आवश्यकता अवश्य है। प्रज्ञान की प्रकृति महान् आत्मा की मात्रा यदि विज्ञान आत्मा से अधिक है तो विज्ञान आत्मा के कहने पर भी प्रकृति दुर्निवार होगी, विचार शक्ति व्यर्थ होगी। किन्तु विज्ञान की मात्रा यदि महान् से अधिक है तो वह प्रकृति को दबा कर क्रम-क्रम से अपने स्वभाव का परिवर्तन कर लेगा। प्रायः ऐसा भी देखने में आया है कि अपनी विज्ञान आत्मा की विशेषता (लियाकत) विशेष बल न रहने पर भी दूसरे किसी महापुरुष की प्रबल विज्ञान आत्मा एकाएक क्षणभर में किसी दुर्बल मनुष्य की प्रकृति का परिवर्तन कर देती है। इसी विज्ञान आत्मा के प्रभाव से प्रकृति परिवर्तन होते-होते दुराचार करते हुए आत्मा उन्नति पथ पर अग्रसर होता है। और कई जन्म के अनन्तर सर्वथा विशुद्ध होकर मुक्ति पा जाता है। जैसा कि गीता में लिखा है—

**अनेक जन्म संसिद्ध, स्ततोयाति परांगतिम्।**
**बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान् मां प्रपद्यते** ।।१।।

महान् आत्मा के सत्व, रज, तम ये तीनों गुण जगत् के सभी भावों के मुख्य कारण हैं। सभी आत्माओं की सभी वृत्तियां इन्हीं तीनों गुणों के कारण प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। गुण यद्यपि तीन ही हैं, तथापि उनसे उत्पन्न होते हुए भाव अनन्त प्रकार के हैं। उन सबमें सत्वगुण से उत्पन्न होते हुए जितने भाव या वृत्तियां हैं वे सब विज्ञान आत्मा के अनुकूल है, पोषक हैं; किन्तु रजो गुण से उत्पन्न होते हुए भाव और वृत्तियां विज्ञान के प्रतिकूल हैं, विक्षेपक हैं। किन्तु तीसरे तमोगुण से उत्पन्न हुए भाव और वृत्तियां विज्ञान के आवरण (ढकनेवाले) होते हैं। विज्ञान में सत्वगुण से शान्ति, रजोगुण से क्षोभ, तमोगुण से स्थम्भन हुआ करते हैं। जिनके कारण विज्ञान में न्यूनातिरेक ( कमोवेश ) विशेषता होती रहती है। अर्थात् सत्वगुण की अधिकता से विज्ञान बढ़ता है, रजोगुण की अधिकता से विज्ञान में हल चल उत्पन्न होकर विज्ञान की कमी न होने पर भी विज्ञान की शक्ति कम हो जाती है, तमोगुण की अधिकता से विज्ञान के बहुत अंश आवृत होकर कम हो जाते हैं। इसलिये विज्ञान की वृद्धि के लिये तम और रज की वृत्तियों को घटाकर के सत्व की वृत्ति बढ़ानी चाहिये। इस प्रकार महान् के द्वारा विज्ञान की विशेषता जैसे होती है, उसी प्रकार विज्ञान के द्वारा महान् में भी विशेषता होती रहती है। केवल इन दोनों में मात्रा और बल की अधिकता में ही निर्भर है। इस प्रकार जैसे प्रकृति के द्वारा विज्ञान में विशेषता उत्पन्न होती है, वैसे ही आकृति के द्वारा भी विज्ञान में विशेषता पाई जाती है। इसलिये कृमि, कीट

आदि जीवों के शरीरायतान कम होने से विज्ञान की मात्रा कम होती है, किन्तु मनुष्य में अपेक्षाकृत बहुत होती है। हाथी का शरीर आयतन अधिक होने पर भी बुद्धिनाशक मेद (चर्बी) और श्लेष्मा आदि दोषों की अधिकता के कारण विज्ञान की मात्रा कम है। इसलिये उसका सिर मनुष्य के समान ऊँचा न होकर पशु के समान तिरछा है, दो पाँव पर खड़ा न होकर चार पाँव पर खड़ा है। यही प्रमाण है कि पशु योनि के महान् की अपेक्षा मनुष्य योनि की महान् स्वभाव से ही अधिक विज्ञान रखते हैं।

इनके अतिरिक्त विज्ञान की मात्रा अधिक होने पर भी महान् के रजोगुण से उत्पन्न काम और शुक्र की धारा यदि बढ़ जावे तो जिस प्रकार 'उल्व' (झिल्ली) से गर्भ और मल से दर्पण और धूम से दीपज्योति आवृत होकर अपनी शक्ति का अपकर्ष कर लेते हैं, उसी प्रकार उस काम से विज्ञान भी अपकर्ष पा जाता है। काम, क्रोध. लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि किसी भी वृत्ति की अधिकता होने पर उसके आक्रमण से बड़े-बड़े महानुभाव विद्वानों की प्रबल विज्ञान की विचार शक्ति पर परदा पड़ जाता है। जिससे विचार न कर वे भी कितने ही अनाचार कर बैठते हैं।

इनके अतिरिक्त सत्संगति, कुसंगति, सुशिक्षा, कुशिक्षा का भी प्रबल प्रभाव विज्ञान पर पड़ता है इसलिये जो प्राज्ञात्मा जीव अपनी आत्मिक उन्नति के लिये अपने विज्ञान की उन्नति चाहे तो उसको चाहिये कि अपनी प्रकृति में सत्त्वगुणों के भावों की वृद्धि करने का अभ्यास करे, और सुशिक्षा लाभ करे, सत्संगति करे, इन सबसे प्राकृतिक नियमानुसार अपने आप ही विज्ञान शक्ति धीरे धीरे बढ़कर प्रकृति के रजोगुण, तमोगुण, के प्रभाव को दबाकर अत्यन्त कल्याण गुण प्राप्ति का कारण होगा और सत्वगुण की वृद्धि से धीरे धीरे प्रज्ञान आत्मा विशुद्ध होता हुआ अन्त में विज्ञानमय हो जायगा। यही प्रज्ञान जीव-आत्मा की मुक्ति है, यही उसको परम लाभ है, यही परम पद और पराशान्ति है और परमानन्द है।

## आत्मशास्त्र समन्वय

आत्मा के निरूपण में जितने शास्त्र प्रचलित हैं वे आचार्य पृथक् होने के कारण भिन्न-भिन्न भले ही प्रतीत होते हो परन्तु वास्तव में वे सब शास्त्र किसी एक ही आत्म स्त्र के भिन्न-भिन्न प्रकरण हैं। सब प्रकरणों के समन्वय से किसी एक ही आत्मा का अथवा उस एक आत्मा के भिन्न भिन्न स्वरूपों का निरूपण समझना चाहिये।

दर्शनों में प्रायः तीन शास्त्र मुख्य हैं। वैशेषिक, प्राधानिक और शारीरक। इनमें वैशेषिक शास्त्र केवल भूतात्मा का निरूपण करता है और प्राधानिक अर्थात् सांख्य शास्त्र क्षेत्रज्ञआत्मा का निरूपण करके महान् आत्मा को उस क्षेत्रज्ञ की प्रकृति कहकर निरूपण करता है। तात्पर्य यह है कि सांख्यशास्त्र में प्रकृति पुरुष नाम से जिन दो तत्वों का निरूपण है, उनमें पुरुष तो क्षेत्रज्ञ है और प्रकृति महान् है। और और तीसरा शारीरक जिस आत्मा का निरूपण करता है, वह ऊपर की तीनों आत्माओं से पृथक् परोरजा चिदात्मा है। इस प्रकार तीनों शास्त्र सत्य हैं, किन्तु आत्मा का एक स्वरूप उनका विषय है।

किन्तु नवीन नैयायिक जीव ईश्वर दो भिन्न मानकर दो आत्मा कहते हैं। किन्तु उनका ईश्वर आत्मा एक क्षेत्रज्ञ है, अथवा ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता शरीर से बाहर की आत्मा है, जो विचारणीय है

यद्यपि ऊपर के तीनों शास्त्र जिन-जिन आत्माओं का जिस प्रकार निरूपण करते है, वह उन्हीं २ आत्माओं के सम्बन्ध में सत्य ही प्रतीत होते हैं। किन्तु एक आत्मा को मान कर दूसरे का खंडन करना साहस है। अर्थात् क्षेत्रज्ञ और महान् को मानता हुआ सांख्य यदि भूतात्मा चिदात्मा को व्यर्थ कहता हो तो यह अनुचित है, और भूतात्मा को मानता हुआ वैशेषिक यदि क्षेत्रज्ञ, चिदात्मा, महान् इन तीनों को व्यर्थ कहे, तो अनुचित है। इसी प्रकार शारीरक अर्थात् वेदान्त शास्त्र भी केवल चिदात्मा ही को मानता हुआ यदि क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन तीनों की उपेक्षा करें तो वह भी अनुचित है। तात्पर्य यह है कि चिदात्मा सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा ये पाँचों ही आत्मा हमारे शरीर में भिन्न-भिन्न तन्त्रों की प्रकृति करके शरीर की स्थिति नियत करते हैं। उनमें किसी एक ही आत्मा पर निर्भर करके अन्यान्य आत्माओं का तिरस्कार करना विचार सम्मत नहीं है।

## समन्वय

जगत् में प्रत्येक पदार्थ को देखने से यह सिद्ध हो चुका है कि जो जहाँ कुछ पदार्थ दीखता है वह सब पाञ्च भौतिक है। अर्थात् पाँच भूतों से बना है। वाक् अर्थात् आकाश से पैदा होने के कारण इन पाँचों भूतों को वाक् भी कहते हैं। प्रत्येक वाक् के भीतर प्राण रहता है, और प्राण के भीतर मन रहता है। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् इन तीनों की जो समष्टि है वह मन के भीतर विद्यमान एक अन्तर्यामी चिदात्मा के आश्रय से है। इसलिये कोई चित्त को अथवा कोई मन, प्राण, को प्रधान आत्मा भले ही मानता हो किन्तु जबकि ये सब आत्मा वाक् अर्थात् भूत में ही मिलते हैं। भूत में उनकी सबकी समष्टि है तो इस एक भूत को ग्रहण करने से इसके अन्तर्गत वे सभी आत्मायें ग्रहीत हो जाते हैं। कोई भी आत्मा पृथक् अवशिष्ट नहीं रहता इसलिये एक भूतात्मा ही को मानना उचित है। इस प्रकार के विचार से कणाद भगवान् यदि केवल भूतात्मा ही को मुख्य आत्मा मानकर सन्तुष्ट हो गये हो और किसी आत्मा को इस भूतात्मा से पृथक् न देखकर उनका निरूपण न किया हो तो यह उनका विचार सर्वथा उचित और सत्य ही प्रतीत होता है।

इसी प्रकार सांख्यशास्त्रों में भी विचार करने से विरोधाभाव प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ के प्रकाश से महान् की तीन अवस्था होकर तीन गुण कहे जाते हैं, और वही महान् क्षेत्रज्ञ पुरुष की प्रकृति माना जाता है। उसी प्रकार मन, प्राण, वाक् इन तीनों की समष्टि को यदि सांख्य का महान् मान लिया जाय तो वह समष्टि मन अंश में प्रकाशमय होने के कारण सत्व है। प्राण अंश में क्रिया प्रधान होने के कारण रज है। वाक् अंश में ज्ञान क्रिया भिन्न अर्थ स्वरूप होने के कारण तम है। इस गुणसूत्र समष्टि को यदि चिदात्मा पुरुष की प्रकृति मानी जावें तो भगवान् कपिल के माने हुए प्रकृति पुरुष इन्हीं दो तत्वों में चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन चारों आत्माओं का संग्रह हो जाता है। यदि इसी अभिप्राय से भगवान् कपिल ने दो ही तत्व मानकर सन्तोष किया हो और इन दोनों से पृथक् कोई आत्मा न मानते हो तो यह उनका विचार सर्वथा उचित है और सत्य है।

अब तीसरे शारीरक अर्थात् वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्म और माया ये दो तत्व मानकर ब्रह्म को नित्य सद्रूप और माया को अनिर्वचनीय या असद्रूप मानकर अद्वैत माना है। उसमें चिदात्मा ही एक मुख्य

ब्रह्म है, और उसी की माया द्वारा मन, प्राण, वाक् ऐसे ३ भेद अथवा क्षेत्रज्ञ, महान् भूतात्मा ऐसे ३ भेद उत्पन्न होने से इन तीनों को माया मय माना जावे, और इन भेदों को अनिर्वचनीय मिथ्या समझकर शुद्ध एक चिदात्मा को ही माना हो तो यह भगवान् बादरायण का विचार सर्वथा उचित और सत्य है। इस प्रकार विचार दृष्टि से देखने पर वैशेषिक, प्राधानिक, शारीरक इन तीनों दर्शनों में विरोधाभाव होने से समन्वय प्रतीत होता है, और तीनों मतों के अनुसार एक ही अव्याकृत आत्मा सिद्ध होता है, जिसके चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ आत्मा, महान् आत्मा, भूतात्मा इस प्रकार ४ व्याकरण हैं।

इन तीन दर्शनों के अतिरिक्त आजकल के नवीन विद्वन्मण्डली में और भी तीन दर्शनों की प्रसिद्धि पाई जाती है। न्याय, योग, मीमांसा। किन्तु इन तीनों को दर्शनशास्त्र मानना उनका केवल साहस है। क्योंकि दर्शन उस शास्त्र को कहते हैं जो कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण जगत् का एक क्रम से निरूपण करे। जिसके नियम त्रैलोक्य के पदार्थों पर और उसके बाहर भी सर्वत्र ही एक रूप से लागू हो। किन्तु यदि जगत् के किसी विशेष स्कन्ध पर विशेष रूप से निरूपण किया जाय, जैसा वनस्पति विज्ञान, शरीर-विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, दकार्गल विज्ञान तो वह एकदेशी विज्ञान होने के कारण सार्वदेशिक विज्ञान रूप-दर्शन होने के योग्य नहीं है। यह न्यायशास्त्र जिसको तर्क का न्याय कहते हैं, वह तर्क अर्थात् अनजान विषय में कई कारणों से उसका यथार्थता निश्चय करने के लिये जो ऊहा ( बुद्धि का ले जाना ) उसके न्याय को अर्थात् मार्ग को तर्कन्याय कहते हैं। इस कारण वह तर्कन्याय केवल कथाशास्त्र (वाद, गल्प,-वितण्डा) है। यह न्याय जगत् का निरूपण न होकर जगत् का एक देशी कथा का निरूपण है, इसलिये उसको दर्शन कहना अनुचित है। इसी प्रकार पूर्व मीमांसा भी वाक्यार्थ निरूपण है, अर्थात् एक वाक्य का दूसरे वाक्य के साथ क्या सम्बन्ध है और वाक्यों का किस प्रकार के अर्थ होने में सामर्थ्य है, इसके न्याय को ही मीमांसा कहते हैं, और यह भी एकदेशी होने के कारण दर्शन नहीं है।

प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति में तीन कक्षायें होती है। दर्शन, विज्ञान, चरित्र प्रत्येक मनुष्य किसी विषय की ओर प्रथम अपनी दृष्टि डालता है, उस दृष्टि का कोई ढंग होता है उसी ढंग या दृष्टि के प्रकार को दर्शन कहते हैं। किन्तु देखते-देखते परीक्षा के द्वारा जो विषय निर्धारित होकर ज्ञान में स्थिर हो जाता है, अर्थात् देखने के विषय का एक स्वरूप स्थिर हो जाता है वह उस विषय का विज्ञान है। दर्शनकाल में ज्ञान के लिये प्रयत्न था, विज्ञान होने पर वह यत्न रुक जाता है। किन्तु उस ज्ञान से जो मनुष्य अपना कुछ उपयोग सिद्ध करता है, अर्थात् उस ज्ञान के द्वारा जो जैसा बर्ताव करता है वही उसका चरित्र है। परमेश्वर न दीखने पर भी है कि नहीं इसका निश्चय करने के लिये जो गुरुवाक्य सुना जाय, शास्त्रों के वचन देखे जांय या स्वयं कुछ अनुमान किया जाय, विद्वानों से वादानुवाद किया जाय, इत्यादि-इत्यादि विचार करना दर्शन का विषय है।

किन्तु ईश्वर है ऐसा विश्वास हो जाना विज्ञान और ईश्वर के होने के विश्वास पर उससे प्रार्थना करना, जप करना और उसके प्राप्ति करने का काम करना ही चारित्र्य है। इस नियम के अनुसार दर्शन विज्ञान का पूर्वाङ्ग है और उपाय है किन्तु चारित्र्य उस विज्ञान का उतराङ्ग है और फल है। तात्पर्य यह

है कि यह चारित्र्य भाग दर्शन न होकर दर्शन के फल विज्ञान का भी फल है, इसी कारण इन तीनों को यदि एक ही शास्त्र के ३ विभाग माने जायं तो अनुचित नहीं। इसी कारण से सांख्य और योग इन दोनों शास्त्रों को एक ही शास्त्र समझकर दोनों का एक ही नाम सांख्य प्रवचन कहा है। गीता में भी कहा है :—

**सांख्य योगौ पृथग्बालाः, प्रवदन्ति न पण्डिताः। (५,४)**
**एक सांख्यं च योगं च, यः पश्यति स पश्यति ।। (५,५)**

तात्पर्य यह है कि इसी सांख्य दर्शन का अथवा उसके विज्ञान का चारित्र्य भाग ही योग है। यह न तो दर्शन भाग है और न यह सांख्यशास्त्र से भिन्न शास्त्र है।

वास्तव में दर्शन का विषय यह है कि इस विशाल जगत् को देखकर प्रत्येक मनुष्य के विचार में प्रायः स्वभाव से ही यह शंका उठा करती है। यह जगत् कब से हुआ, कैसे हुआ, किसी ने बनाया या अपने आप ही हो गया। यदि आप ही हुआ तो नियमानुकूल विज्ञान सिद्ध सब काम कैसे हुए हैं, अस्त-व्यस्त (उलट-पुलट) क्यों नहीं होता। और यदि इसका कोई नियन्ता पूर्ण ज्ञानवान् इसका अध्यक्ष माना जाय तो वह कहाँ है, जगत् के भीतर या बाहर। जगत् के भीतर रहने पर जगत् पहले ही सिद्ध होता है ईश्वर से जगत् की रचना असम्भव होगी। यदि वह जगत् से बाहर है तो भी असम्भव है, क्योंकि जगत् देश और काल दोनों से अनादि अनन्त दीखता है। इसलिये जगत् से बाहर कोई स्थान ही सम्भव नहीं है, और वहाँ ईश्वर का रहना भी संभव नहीं है; इत्यादि इत्यादि इस जगत् के विषय में शतशः प्रश्न उपस्थित होते हैं। इन्हीं प्रश्नों पर विचार करके इनका समुचित समाधान करना ही दर्शनशास्त्र का विषय है। इस प्रकार के दर्शन यद्यपि अनन्त हैं तथापि उनमें से छः बहुत प्रसिद्ध हैं :—लौकायतिक १, वैनाशिक २, स्याद्वादिक ३, वैशेषिक ४, प्राधानिक ५, शारीरक ६।

इनमें प्रथम तीन जगत् कर्त्ता ईश्वर को "नास्ति" कहते हैं, इसलिये तीनों नास्तिक दर्शन हैं। शेष तीनों इस जगत् के बनाने वाले एक ईश्वर को अस्ति कहते हैं, इसलिये ये तीनों आस्तिक कहे जाते हैं। इस प्रकार दर्शन के दो भाग है। यह विभाग जगत् के कर्त्ता के अनुरोध से है। किन्तु जगत् के उपादान द्रव्य के अनुरोध से इन दर्शनों के तीन विभाग है। १ कर्मदर्शन, २ ब्रह्मदर्शन और ३ उभयदर्शन तात्पर्य यह है कि इस जगत् की रचना में दो भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं, एक प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन और दूसरा अनादिकाल से जगत् का एक ही प्रकार से स्थिर रहना इन्हीं दोनों बातों से दो तत्व सिद्ध होते है। एक परिवर्तनशील क्षणिक, विनश्वर और दूसरा सर्वदा, एक रस, शाश्वतिक अविनाशी। इन दोनों तत्वों में प्रथम को कर्म और द्वितीय को ब्रह्म कहते है। इन दोनों में ब्रह्म को न मानकर विनश्वर तत्व से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति देखना "कर्म दर्शन" है उसे ही वैनाशिक कहते हैं। माध्यमिक, सौत्रान्तिक, वैज्ञानिक, वैभाषिक आदि कितने ही अवान्तर भेद नास्तिक दर्शनों के है, वे सब वैनाशिक की शाखा हैं। इन सबके विरुद्ध जो दर्शन इन परिवर्तनशील क्षणिक विनश्वर पदार्थों के भीतर निगूढ़ रूप से एक अविनाशी ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानता है, वही आस्तिकदर्शन है। वैशेषिक

आदि सर्व इसी विभाग में हैं। वे दोनों ब्रह्म और कर्म-दर्शन अद्वैत पक्ष में हैं। किन्तु कितने ही अन्य दर्शन ब्रह्म और कर्म अर्थात् अविनाशी और विनश्वर दोनों तत्वों के मेल से जगत् की सृष्टि मानते हैं। वे भक्ति दर्शन वा उपासना दर्शन कहे जाते हैं वे सब द्वैत पक्ष के हैं। इनके मत में परिवर्तनशील विनश्वर पदार्थों में नित्य विद्यमान एक सच्चिदानन्द सदा एक रस अविनाशी आत्मा भी है, वही मेरी आत्मा है। इसीलिये हम उन नास्तिकों के अनुसार असद्रूप न होकर सदा सद्रूप नित्य परमानन्द हैं। इसी अभिप्राय को लेकर एक महर्षि कहते हैं।

**असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेदचेत्।**
**अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद सन्तमेन ततोविदुः ॥**

अर्थात् वह स्वयं असत् अपने को बनाता है, जो कि ब्रह्म को असत् मानता हुआ आत्मा को असत् मानता है। किन्तु जो ब्रह्म को अस्ति कहता हुआ आत्मा की सत्ता मानता है उसकी आत्मा सदा के लिये नित्य अविनाशी और स्थिर है। इसीलिये ब्रह्म मानने वाले पुरुष को सन्त अर्थात् सदा रहने वाला कहते है।

## आत्मसार समुच्चय

इस प्रकार इस आत्म प्रकरण में कुल ७ आत्मायें दिखाई गई हैं। १— चिदात्मा, २—सूत्रात्मा ३—क्षेत्रज्ञआत्मा, ४—महानात्मा, ५—भूतात्मा, ६—हंसआत्मा, ७—दैवआत्मा। इन सातों में दैवात्मा कृत्रिम है जो कि यज्ञ करने से क्षेत्रज्ञात्मा में ही विशेष रूप से उत्पन्न होता है, और यह भी क्षेत्रज्ञात्मा का ही रूपान्तर है। किन्तु यह दैवात्मा सभी प्राणियों में नहीं पाया जाता केवल याज्ञिक मनुष्यों में ही उत्पन्न होता है। और इस आत्मा के उत्पन्न होने पर वह पुरुष मनुष्य न कहा जाकर दैव कहलाता है। प्राचीन समय में भूमि स्वर्ग के नाम से जो उत्तराखण्ड में स्वर्ग स्थान नियत था वहाँ के बसने वाले सभी पुरुष प्रायः इस दैवआत्मा के प्रबल होने से 'भूमिदेव' कहे जाते थे। ऐसे देवों की आत्मा देहावसान के उत्तर नियम से सूर्यमण्डल के देव लोक में ही जाती थी। वह आत्मा पितृलोक में अन्य मनुष्य के अनुसार नहीं जाती थी। यह आत्मा तीन प्रकार की है परब्रह्मपथ, अपरब्रह्मपथ, देवपथ। परब्रह्मपथ की आत्मा निराकार ब्रह्म में लीन होकर अपने परिच्छिन्न स्वरूप से निर्मुक्त हो जाती है। और भूमा होकर आनन्दघन बन जाती है, और दूसरे अपरब्रह्मपथ की दैवात्मा अपने परिच्छिन्न स्वरूप से निर्मुक्त न होकर भी संसार यात्रा से निर्मुक्त हो जाती है, और साकारब्रह्म में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य के भेद से प्रपन्न हो जाता है। इन दोनों गतियों को अपवर्ग मोक्ष कहते हैं। इस गति में जाने वाली आत्मा का पृथ्वी में आवागमन नहीं होता, किन्तु तीसरी दैवात्मा देवपथी होने से देवलोक में जाती है और वहाँ स्वर्ग का आनन्द भोग करके किञ्चित् अवशिष्ट कर्म को लेकर फिर पृथ्वी में जन्म लेती है। इस प्रकार दैवआत्मा के तीन भेद सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार हंस आत्मा भी भूतात्मा का ही रूपांतर है। और वह इस जन्म में ही नयी उत्पन्न होकर देहावसान के पश्चात् इस स्थूलशरीर से सम्बन्ध छोड़कर गन्धर्वयोनि में प्रविष्ट होकर पृथ्वी और

चन्द्र के मध्याकाश में गन्धर्वलोक में मनुष्यों के अनुसार ही सुख दुःख भोगती हुई अपना जीवन निर्वाह करती है। इस आत्मा में मनुष्यों के ११ इन्द्रियों के अतिरिक्त १७ इन्द्रियां अधिक होती है, जिनके द्वारा योगियों के सब धर्म उसमें स्वभाव से ही विद्यमान रहते हैं। यह आत्मा सात्विक, राजस, तामस के भेद से तीन प्रकार के हैं। सात्विकों को देवता, राजसों को गन्धर्व और तामसों को भूत कहते हैं। किन्तु साधारण बोलचाल की भाषा में इन तीनों को तीनों शब्दों से प्रायः व्यवहार करते हैं। इसीलिये इन तीनों भेदों के अवान्तर भेदों को लेकर १८ भेद आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट ग्रंथों के भूतोपशमनीयाध्याय में विशेष रूप से निरूपण किया है। इस प्रकार ये दोनों आत्मायें क्षेत्रज्ञ और भूतात्मा के ही रूपान्तर होने से गौणआत्मा है।

इन दोनों के अतिरिक्त पाँच आत्मा सभी प्राणियों के शरीर में सामान्य रूप से पाई जाती हैं। जिनमें भी चिदात्मा और सूत्रात्मा ये दोनों शरीर का अभिमान न रखने से देही, शरीरी, शारीरक नहीं कहलाते और शेष तीनों शरीर भेद से भिन्न होने के कारण शरीराभिमानी या शरीरी कहलाते हैं। ( सांख्य क्षेत्रज्ञ को अनेक और वेदान्त इसको एक ही समझता है ) इन पाँचों में प्रथम चिदात्मा उस बड़े महासूर्य उत्पन्न होता है। जिस महासूर्य के चारों ओर यह हमारा सूर्य परिक्रमा करता है और जिसे ब्रह्मा या अभिजित् का तारा कहते हैं, उस चिदात्मा के तीन भेद हैं। आभु, अभ्व और सहस्र–इनमें आभु उस आधार को कहते हैं जो अखण्ड रूप से सम्पूर्ण जगत् में व्यापक है और प्रशान्त है। और जिस धरातल पर इस सम्पूर्ण जगत् की चिति अर्थात् चुनाव हो रहा है इसलिये उसको चिदात्मा कहते हैं, और वह सर्वत्र विभु अर्थात् व्यापक है इसलिये आभु ( चारों ओर ) कहते हैं और यह ज्ञान स्वरूप है। इस चित्र या ज्ञान में सर्वत्र एक प्रकार का बल व्याप्त है, जो जल, अग्नि, वायु के अनुसार खण्ड २ वाला है: उन्हीं बल खण्डों के न्यूनाधिक परिमाण से चयन होने पर प्रथम गुणों की उत्पत्ति और फिर गुणों के चयन से भिन्न-भिन्न द्रव्यों की उत्पत्ति हुआ करती है। जो जहां हम कुछ देखते हैं वह सब कुछ भिन्न-भिन्न बलों का ढेर है। जिन बलों के मेल से वस्तु बनती है उससे अधिक बल आधीन करने पर उस वस्तु की हृदयग्रन्थि उधड़ जाती है और वह वस्तु नष्ट हो सकती है, इन्ही बलों को अभ्व कहते हैं। जो असत् होकर भी बाँधनेवला, आत्मा को परतन्त्र करनेवाला एक महा-भयानक तत्व है। इन्हीं अभ्वों के भिन्न-भिन्न मात्रा में चिति अर्थात् चुनाव होने से भिन्न-भिन्न वस्तु के स्वरूप बनते हैं, इसलिये अभ्व को भी चिदात्मा कहते हैं। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा सहस्र है जो कि प्रत्येक वस्तु में पिण्ड और किरण का भेद उत्पन्न करता है। जैसा कि सूर्य का बिम्ब या दीपक की लौ एक पिण्ड है उसके चारों ओर एक किरण मण्डल जो दीखता है उसे ही सहस्र कहते हैं। यह सहस्र प्रकाशवान पदार्थ में ही नहीं होते बल्कि अप्रकाश आदि सभी पदार्थों में समान रूप से अपना किरण मण्डल बनाते हैं, वे सब सहस्र हैं। उसमें उस पिण्ड से किरण मण्डल की परिधि तक पिण्ड रस का चुनाव होता है, इसलिये सहस्र को भी चिदात्मा कहते हैं। हमारे शरीर के हृदय में जो तिल की बराबर ज्योति रखता हुआ हमारी क्षेत्रज्ञात्मा का पिण्ड है उस पिण्ड से शरीर के धर्म तक या बाहर के पदार्थों तक जो आत्मरश्मि निकलकर अपना मण्डल बनाता है उसे ही विद्वानों ने विज्ञान कहा हैं। हमारे विज्ञान या बुद्धि हमारी आत्मा का रश्मि मण्डल है, जो घट-पट आदि बाहर के विषयों पर जाकर उनका प्रकाश करता है। इसलिये उस आत्मा के सहस्र

को विज्ञान कहने से विज्ञान, चेतना, चैतन्यचित्, संवित् आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं। इस प्रकार ये ही तीन चिदात्मा के स्वरूप हैं इन तीन रूपों में चिदात्मा सम्पूर्ण जगत् में व्यापक है।

दूसरा सूत्रात्मा है जो कि एक को दूसरे से जोड़ता है यह तत्व सर्वत्र व्यापक होकर भी चिदात्मा से भिन्न है, और चिदात्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा आदि सभी आत्मा जो कि अपना भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र-संस्था रखते हैं, उन सब आत्माओं पर अपना प्रभाव रखता है। इस सूत्रात्मा के द्वारा एक आत्मा दूसरी आत्मा से बद्ध हो जाती है। जिस प्रकार चिदात्मा ईश्वर रूपी सूर्य से या जिस प्रकार क्षेत्रज्ञआत्मा आकाश के सूर्य से और महान् चन्द्र से आते हैं, उस प्रकार यह सूत्रात्मा किसी घन पिण्ड से नहीं आता किन्तु यह इस महान् विशाल आकाश में सर्वत्र व्यापक होकर एक ब्रह्माण्ड को दूसरे ब्रह्माण्ड से भी जोड़ता रहता है, अथवा यों कहिये कि यह अन्तरिक्ष से आता है, और वायु स्वरूप है। यह सूत्रात्मा अनन्त प्रकार का होने पर भी मुख्यतया ३ प्रकार का है सत्य, योजक, श्रद्धा इनमें सत्य वह सूत्रात्मा है जो मृत्यु को अमृत से और अमृत को मृत्यु से जोड़ता है। तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी पदार्थ अमृत और मृत्यु इन दो तत्वों के समुच्चय रूप हैं। जिन भूतों को हम देखते हैं वे सब मृत्यु रूप हैं। किन्तु इन सब में पृथक्-पृथक् अभिमानी रूप से अमृत देवता रहता है जिसके कारण उस वस्तु की सत्ता रहती हैं और वह अमृत अग्नि, वायु, इन्द्र रूप हैं। इन तीनों अमृतों का मृत्यु से जो बन्धन ग्रन्थि बनी है वह सूत्रात्मा के कारण है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में कुछ न कुछ शक्ति पाई जाती है उन शक्तियों और शक्तिमानों का परस्पर सम्बन्ध भी इसी सूत्रात्मा के कारण है। इस प्रकार अमृत, मृत्यु और शक्ति से शक्तिमान् का सम्बन्ध कराने वाले दोनों सूत्रात्माओं को 'सत्य' कहते हैं। इसी प्रकार अमृत को अमृत से जोड़ने वाला और मृत्यु को मृत्यु से जोड़ने वाला योजक सूत्रात्मा है। जैसा चिदात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा इन सब अमृतों का परस्पर एक सूत्र में बाँधकर जो प्राणी का शरीर रूपी एक संस्था बनी है वह अमृतों को अमृतों से योजक (जोड़नेवाला) सूत्रात्मा है, और सूर्य का पृथ्वी से, पृथ्वी का चन्द्रमा से जो परस्पर बन्धन है अथवा प्रत्येक वस्तु में प्रत्येक परमाणुओं का जो परस्पर सम्बन्ध है ये सब मृत्यु से मृत्यु का योजक सूत्रात्मा है।

तीसरा सूत्रात्मा अवयवों को अवयवी से नित्य सम्बन्ध कराता है, जैसा सूर्य की किरणों का सूर्य से बन्धन है। मिट्टी के ढेले पर पृथ्वी का आकर्षण है इत्यादि-इत्यादि सभी ऐसे बन्धन जिस सूत्रात्मा से होते हैं उसे श्रद्धान कहते हैं। इस ही श्रद्धान के द्वारा चन्द्र मण्डल में रहते हुए पितरों की आत्माओं का भूमण्डल पर रहते हुए पुत्रों की आत्माओं के साथ सात पीढ़ी तक सम्बन्ध बना रहता है। और उसी श्रद्धान के द्वारा पुत्रों के दिये हुए अन्न पिण्डों का रस चन्द्रकिरण मार्ग से ऊपर चढ़कर पितरों के आत्मा में पहुँच जाता है। इस प्रकार सूत्रात्मा के तीन भेद सिद्ध होते हैं। इन दोनों आत्माओं के अतिरिक्त जो तीन आत्मा शरीरी माने जाते हैं, अर्थात् शरीर के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं, वे भी प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के हैं। जैसा कि विज्ञान, इन्द्र अर्थात् मुख्य प्राण और विराट् ये तीनों मिलकर एक क्षेत्रज्ञात्मा है। जब क्षेत्रज्ञ सूर्य से आता है उस सूर्य में तीन तत्व हैं। ज्योति, गौ, आयु इनमें ज्योति से विज्ञान, आयु से इन्द्र और गौ से विराट् की उत्पत्ति है।

आकाश के सूर्य में ज्योति आदि तीन तत्वों के अनुसार शरीर के सूर्य में विज्ञान, इन्द्र और विराट् ये तीन तत्व होते हैं। इनमें भी ज्योति मनोमय है। आयु प्राणमय है और गौ वाङ्मय है। इसी प्रकार महान् आत्मा जो चन्द्रमा से आता है वह भी तीन प्रकार के हैं। आकृति, प्रकृति और अहंकृति। तात्पर्य यह है कि आत्मा के आवरण स्वरूप यह शरीर तीन प्रकार के हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इनमें स्थूलशरीर को ही आकृत कहते हैं, यह सबके बाहर है और स्पष्ट दीखता है, इसी स्थूल साँचे को योनि स्वरूप महान् कहते हैं। किन्तु इसके भीतर जो सूक्ष्म शरीर है उसे ही प्रकृति कहते हैं वह गुण स्वरूप महान् है और उसके भी अन्तर्गत कारणशरीर है, उसे ही अहंकृत कहते हैं, वह अविद्या स्वरूप है, महान् हैं। ये तीनों ही महान् तीनों शरीरों के तीन साँचे हैं जो कि कर्म सूत्र द्वारा भूतात्मा मिले रहते हैं। अब तीसरी भूतात्मा जोकि पृथ्वी के रस से उत्पन्न होता है, वह भी तीन प्रकार के हैं—वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ इनमें कहीं केवल वैश्वानर ही रहता है जिन्हें असंज्ञ जीव कहते हैं जैसा प्रस्तर-पत्थर आदि और कहीं पर वैश्वानर, तैजस ये दो आत्मा होती हैं, उनको अन्तःसंज्ञक कहते हैं। जैसे वृक्षादि और कहीं वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ ये तीनों आत्मा होते हैं उनको ससंज्ञ जीव कहते हैं—जैसे मनुष्य आदि। इनमें वैश्वानर सबसे अधिक व्यापक है, उससे कम तैजस और उससे भी कम प्राज्ञ का उद्बोध है।

इस प्रकार चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा, दैवआत्मा, हंसआत्मा इन सातों आत्माओं के तीन तीन भेद होने से कुल २१ आत्मा सिद्ध होते हैं। इन सबका अधिष्ठान स्वरूप यह शरीर बाईसवीं आत्मा है। इन्हीं बाईस आत्माओं की गतिविद्या आगे के प्रकरण में दिखाई जावेंगी।

—❀—

# आत्मागति परिच्छेद

**इस आत्मागति परिच्छेद में ८ प्रकरण हैं—१—गतिस्वरूप, २—गतिप्रभेद, ३—गतिनिमित्त, ❀४—प्रेत्यस्थिति, ५—गतिमार्ग, ६—गन्तव्यलोक या स्थान, ७—भोग और ८—अर्थवाद।**

## १—गतिस्वरूप

आत्मा दो प्रकार का है, १ अखण्ड और २ यौगिक।

———

❀बिलकुल चले जाने पर आत्मा की दशा अर्थात् शरीर से बाहर निकलने पर आत्मा की दशा।

इनमें अखण्ड आत्मा दिक्, देश, काल से❀ अनवच्छिन्न होने के कारण गति नहीं रखता। गति परिच्छिन्न की ही होती है। एक देश को छोड़कर दूसरे देश का ग्रहण करना ही गति है। इसलिये जो तत्व सर्वदेश में एक रस व्याप्त है उसकी गति कहना असंभव है। इससे जो आत्मा सब आत्माओं में मुख्य है उसके लिये यह गतिविद्या सम्बन्ध नहीं रखती। किन्तु दूसरी जो यौगिक आत्मा है जिनके अनेक भेद गत प्रकरण में कहे जा चुके हैं उन्हीं के सम्बन्ध से यहाँ पर गतिविद्या दिखाई जाती है।

यहाँ यह जानना चाहिये कि इन यौगिक आत्माओं में मौलिक या यौगिक जिन तत्वों के योग से यौगिक आत्मसृष्टि हुई है वे सब तत्व जो कि यौगिक आत्मा के अंशरूप हैं, भिन्न-भिन्न स्थानों से आकर एकत्र सम्मिलित होकर यौगिक आत्माओं का रूप बनाते हैं। वे नव अंश जिन जिन स्थानों से आते हैं उन स्थानों को उन अंशों का प्रभव या योनि कहते हैं। इन यौगिक आत्माओं में से जब ये भिन्न-भिन्न अंश किसी कारण से पृथक् होते हैं तो वे अंश तत्क्षण प्रकृति नियमानुसार अपनी योनि में जा मिलते हैं। इस प्रकार किसी यौगिक आत्मा के भिन्न-भिन्न अंशों का भिन्न-भिन्न अपनी योनि में जाना ही आत्म-गति है, और यही गति इस आत्मगति परिच्छेद में दिखाई जायगी।

## २—गतिप्रभेद

आत्माओं की गति सब मिलाकर यद्यपि अनेक प्रकार की होती है। किन्तु उनमें से केवल सब से प्रथम, सबसे प्रधान भूतात्मा की ही गति यहाँ दिखाई जाती है। भूतात्मा की गति सब मिलाकर १० प्रकार की हैं। १—संसारगति, २—अतिमुक्ति, ३—अतिमृत्यु, ४—पञ्चत्व, ५—ब्राह्मी, ६—दैवी, ७—पैत्री, ८—नारकी, ९—अगति, १०—समवलय। इन दशों में से कोई न कोई गति भूतात्मा की अवश्य होती है। यद्यपि क्षेत्रज्ञआत्मा, महान्आत्मा, दैवआत्मा, हंसआत्मा इन चारों के लिये ये १० गति नहीं कही गई हैं। किन्तु हंसआत्मा भी भूतात्मा का रूपान्तर होने के कारण गतिमान् अवश्य है। किन्तु उसका एक ही लोक (गन्धर्वलोक) नियत होने के कारण एक ही गति नियत है। इसी प्रकार दैवात्मा की भी एक ही गति नियत है। क्षेत्रज्ञ और महान्आत्मा इन दोनों की निज स्वरूप से यद्यपि एक ही गति है, किन्तु भूतात्मा के साथ रहने से उन दोनों की अन्यान्यगति भी कितनी ही हो सकती हैं जिनका विशेष वर्णन आगे होगा और चिदात्मा सूत्रात्मा की गति नहीं है।

## १—संसारगति

भूतात्मा की सब गति मिलकर दो प्रकार की हैं। १—संसारगति और २ संपरायगति। इस भूतात्मा के यात्रा संचार के लिये तीन ही लोक नियत हैं। १ मनुष्य लोक, २ देवलोक, ३ पितृलोक। इनसे अतिरिक्त ब्रह्मलोक आदि लोकों में गई हुई आत्मा स्थिर हो जाती है, फिर वहां से चलकर लोका-न्तर में नहीं जाती, और उसका इस पृथ्वी में पुनरावर्तन होता है। इसलिए वे सब इस आत्मा के संचार योग्य लोक नहीं है। जब तक आत्मा की मुक्ति न हो तब तक यह आत्मा मनुष्य लोक-आदि तीनों लोकों

———————

❀अन=निर+अवच्छिन्न।

में कहीं न कहीं अवश्य रहती है। उन तीनों में से देवलोक, पितृलोक के जिस प्रकार बहुत से भेद हैं, उसी प्रकार इस मनुष्यलोक में भी ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब-पर्यन्त बहुतसी योनियां हैं समास और व्यास, १४ भूतसर्ग अथवा ८४ लाख योनि जिनमें यह जीवात्मा जनमकर, मरकर एक योनि में भ्रमण करता रहता है यही योनि "परिवर्तन" मनुष्यलोक में इस जीवात्मा की संसारगति हैं। संसार का अर्थ संसरण अर्थात् जन्म मृत्यु के द्वारा एक योनि से दूसरी योनि में नियति (नियम) के साथ सरकना ही संसार है।

जिन-जिन कर्मों के द्वारा जिन-जिन योनियों में जिस-जिस प्रकार यह आत्मा संसार गति पाता है, वह संसार गति की कर्मगति मनुस्मृति १२ अध्याय में विशद्‌रूप से दिखाई गई है। इस संसार गति के अतिरिक्त भूतात्मा की जितनी गतियां हैं उन सब को * सम्परायगति कहते हैं।

## ( नित्यगति )

सम्परायगति सब मिलकर दो प्रकार की है। नित्यगति और कालगति। नित्यगति को संसृति और कालगति को देहान्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस प्राणी का शरीर भिन्न-भिन्न नाना पदार्थों के एकत्र मिलने से या उनके परस्पर बन्धन से उत्पन्न होता है। इस बन्धन को हृद्‌ग्रन्थि बन्धन कहते हैं। इसी हृद्‌ग्रन्थि के उघड़ने से या इस बन्धन के खुलने से आत्मा की मुक्ति कही जाती है। परन्तु स्मरण रहे कि इस हृद्‌ग्रन्थि की गांठ में जो तत्त्व गठे हुए हैं, और जिनका बन्धन है वे सब तत्त्व प्रतिक्षण ग्रन्थि से उधड़कर बन्धन से मुक्त होकर अपनी अपनी योनि में जाते रहते हैं और उनकी जगह दूसरे तत्व आ-आ कर उनके बन्धन या ग्रन्थि स्थान को पूर्ण करते हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ में अङ्गिरा की धारा तेल से आकर सूर्य से आते हुए आदित्य प्राण के साथ ग्रन्थि में बद्ध होता है उसी ग्रन्थिबन्धन से प्रकाश का स्वरूप 'लौ' के रूप में उत्पन्न होता है। परन्तु जिन का बन्धन होता है वे प्रतिक्षण निकलते रहते हैं, किन्तु उनका स्थान दूसरे अङ्गिरा और आदित्यप्राण पूरा करते रहते हैं। काच या पानी में सूर्य का बिम्ब जिन-जिन रश्मियों से उत्पन्न होता है, वे रश्मियां प्रतिक्षण बदलती रहती हैं किन्तु उनका स्थान दूसरी रश्मियों से पूर्ण होते रहने के कारण प्रतिबिम्ब स्थिर दीखता है। किसी नदी के किसी तीर्थ पर या उसके पाट पर जिन जलों को इस समय देखते हैं वे जल दूसरे ही क्षण में नहीं रहते। किन्तु उनका स्थान जलों से पूरा रहने के कारण सहस्रों वर्षों से उस तीर्थ में उस धारा की स्थिति मानी जाती है। तात्पर्य यह जिस प्रकार राजा बदलता है, पहरायती बदलता है, किन्तु गद्दी या पहरे का नियम नहीं बदलता उसी प्रकार इस शरीर में भी शरीर के बनाने वाले भूत और देवता अपने-अपने ग्रंथिबन्धन से निर्मुक्त होकर प्रतिक्षण गति करते रहते हैं। किन्तु दूसरे भूत और देवताओं से स्थान की पूर्ति होने के कारण शरीर की स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई दीखती है। तात्पर्य यह है कि बंधे हुए पदार्थ प्रतिक्षण छूटते रहते हैं। किन्तु ग्रन्थि या बन्धन नहीं छूटता, बस इसी कारण दो गति सिद्ध होती हैं। यदि ग्रन्थि या बन्धन छूट जाय तो उसे कालगति या देहान्त कहेंगे। किन्तु ग्रन्थि या बन्धन न छूटकर बंधे हुए तत्व ग्रन्थि से छूटते हैं तो उसी गति को नित्यगति या संसृप्ति कहते हैं।

---

* मनुष्यलोक से अन्य लोकों में जाना।

## २–अतिमुक्ति = भूतगति

यह नित्यगति दो प्रकार की है। भूतगति और देवगति। क्योंकि प्रत्येक प्राणी आत्मा और शरीर इन दोनों के संयोग से बना हुआ है। इनमें आत्मा पांच देवताओं से और शरीर पांच भूतों से बना हुआ है। इस आत्मा और शरीर का जब तक परस्पर घनिष्ठ संबन्ध बना रहता है, तभी तक प्राणी का जीवन है। इन दोनों में प्रतिक्षण नित्यगति हुआ करती है, जिसके कारण शरीर से पञ्चभूत, आत्मा के देवताओं से पृथक् होकर निकलते रहते हैं। और वे वायु में जाकर क्रम से पांचों भूत पृथ्वी के पांचों भूतों में मिलते रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा के पांचों देवता भी शरीर के पांचों भूतों से पृथक् होकर आकाश के पांचों देवताओं में सम्मिलित होते रहते हैं। किन्तु इस नित्यगति में विशेषता यह होती है कि शरीर के धातु पञ्चभूतमय होने पर भी शरीर में उनके स्वरूप आध्यात्मिक हो जाते हैं, जो कि लोम, त्वचा, रक्त, मांस, वसा, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सब देवता से सम्बन्ध छोड़ने पर अपने आध्यात्मिक स्वरूपों से च्युत होकर पृथ्वी के पञ्चभूतों के स्वरूप में आ जाते हैं। इस प्रकार शारीरक धातुओं का देवताओं से सम्बन्ध छूटकर पृथ्वी वाले भूतों के स्वरूप में आ जाने को अतिमुक्ति कहते हैं।

## ( ३–अतिमृत्यु=देवगति)

देवता और भूत इन दोनों के संयोग से जैसे भूतों का आध्यात्मिक रूप भिन्न होता है, उसी प्रकार पञ्चदेवताओं का भी यह आध्यात्मिक रूप भिन्न हो जाता है। वह अग्नि, वायु, सूर्य, दिक्, चन्द्र इन पाँचों देवताओं का आध्यात्मिक रूप क्रम से इस प्रकार है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत और मन जब ये पाँचों इन्द्रियां नित्य गति के कारण शरीर के भूतों से पृथक् होते हैं, तो उनका उस समय यह आध्यात्मिक रूप का भी सङ्गठन निवृत्त हो जाता है और वाक् अग्नि के रूप में आ जाता है। इसी प्रकार प्राण आदि भी वायु आदि देवताओं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रकार इन्द्रियों के देवता रूप में परिवर्तन होने को ही ❀ "अतिमृत्युगति" कहते हैं। मृत्युरूपी भूत के बन्धन से अमृत रूपी देवताओं का अतिक्रान्त (छुटकारा) होना ही अतिमृत्यु कहलाता है।

## (४–पंचत्व = भूतगति)

पूर्व में संपरायगति के नित्यगति और कालगति इस प्रकार दो भेद कहे गये थे। जिनमें नित्यगति के दो भेद जिस प्रकार ऊपर दिखायें गये हैं उसी प्रकार कालगति के भी दो भेद हैं, भूतगति और प्राणगति। पञ्चभूतों का बना हुआ शरीर और पञ्चप्राणों से बनी हुई आत्मा इन दोनों का परस्पर जो सूत्रात्मा के द्वारा संबन्ध है वह सूत्रात्मा के शिथिल होने से टूटकर जब पृथक्-पृथक् दोनों हो जाते हैं तो इस शरीर के पांचों भूत इस पृथ्वी के पांचों भूतों में जुदे २ मिलकर लीन हो जाते हैं। अर्थात् एक शरीर पांच जगह बट जाता है। इसी एक के पांच होने को 'पञ्चत्व' कहते हैं। पञ्चत्व होने की पुरानी बुद्धि अब नहीं रहती, इसलिये इस पञ्चत्व को देहान्त भी कहते है।

———

❀अति=परेजाना

## (प्राणगति–उत्क्रान्ति के ४ भेद हैं)

अब दूसरी प्राणगति को उत्क्रान्ति कहते हैं। जिस प्रकार पञ्चत्व में पांचों भूतों का शरीर आत्मा से पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार पाँचों देवों की आत्मा भी शरीर से पृथक् हो जाती है। किन्तु यह विशेष है कि शरीर के पाँचों भूत अलग होकर पाँच जगह बट जाते हैं। परन्तु आत्मा के पाँचों देवता अलग होकर भी अपने प्रभव के रूप में पाँच जगह नहीं बटते ! हमारी इस भूतात्मा में काम कर्म, शुक्र आदि अविद्या के द्वारा जो पाँचों देवताओं की हृदग्रन्थि बन्धन हो रहा है वह मुक्ति के पहले अविद्या का निवृत्ति न होने से टूटने नहीं पाता, इसलिये वह पाँचों देवताओं की बनी हुई आत्मा शरीर से पृथक् होकर भी पूर्ववत् परस्पर जुडे हुए रूप में कर्मगति से कही की कही परिभ्रमण करती रहती है। वह पृथ्वी को छोडकर ऊपर को देवलोक या पितृलोक में जाती है, इसलिये उस जाने को प्राण की उत्क्रान्ति गति कहते हैं।

यह उत्क्रान्तिगति दो मार्गों में होती है। देवयाण, पितृयाण। किन्तु देवगण के दो शाखाऐं हैं। १–ब्रह्मपथ, २–देवपथ। ब्रह्मपथ में जाने से मुक्ति होती है और देवपथ में जाने से दैवत स्वर्ग होता है। इसी प्रकार पितृयाण की भी २ शाखाऐं हैं ३–पितृपथ और ४–नरकपथ। इनमें पितृपथ से पितृस्वर्ग को जाता है और नरकपथ से नरक को। इसी भेद के कारण उत्क्रान्ति ४ प्रकार की होती हैं।

## (५–ब्रह्मगति, ६–दैवीगति, ७–पैत्रीगति, ८–नारकीगति, ९–अगति)

अब यहाँ यह विषय जानना आवश्यक है कि आत्मा में विद्या और कर्म इन दोनों धर्मों का इस गति से अधिक संबन्ध है। विशेषतः इस आत्मा में जितना कर्म का कषाय बढ़ता जाता है, उतनी ही आत्माकषाय के परतन्त्र होकर उसी के अनुसार न्यूनाधिक ऊपर नीचे गति पाता है। किन्तु विद्या या ज्ञान की वृद्धि से वह कषाय निवृत होकर आत्मा को विशुद्ध बनाता है, तो उस समय आत्मा का निज स्वरूप जो विद्या है वह प्रबल होकर आत्मा व्यापक बन जाती है, जिससे आत्मा का गति क्रम भी जाता रहता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में विद्या और कर्म इन दोनों का न्यूनाधिक से समुच्चय रहता है, तब तक आत्मा की गति होती है। जिसमें विद्या की अधिकता से ऊर्ध्वगति या स्वर्गगति और कर्म की अधिकता से अधोगति या नरकगति होती है। किन्तु दोनों दशा में आत्मा विद्या और कर्म से युक्त रहता है। किन्तु यदि इस प्राणी के इन्द्रिय युक्त चेतन संसार में जन्म होने की क्षुद्रतम (बहुत छोटी) निकृष्ट कर्मों की इतनी प्रबलता हो जावें कि जिसे आत्मा की विद्या का अत्यन्त न्यून आभास होता हो अथवा नष्ट हो गया हो तो इन दोनों दशाओं में आत्मा अत्यन्त दुर्बल और कर्म के कषाय का भार अत्यन्त प्रबल हो जाने से भी आत्मा की ऊर्ध्वगति या अधोगति दोनों बन्ध हो जाती हैं। इन दोनों में विद्या का आभास रहने की दशा में नीचे के वे क्षुद्र जीव उत्पन्न होते हैं, जिनमें अस्थि नहीं होती जैसे दंश (डाँस) मशक (मच्छर) यूका (जू) लिक्षा (लीख) मत्कुण (उटकण) आदि और दूसरे जिनमें विद्या का कुछ भी आभास नहीं है। कर्म के दबाव से सर्वथा विद्या का आवरण रहता है वह सोती हुई आत्मा औषधि फल देने पर मर जाता है वनस्पति आदि इन दोनों प्रकार के जीवों की अगति होती है। अर्थात् ये जीव

इसी पृथ्वी में जन्मते, मरते, योनि बदलते रहते हैं। किन्तु पृथ्वी को छोड़कर ऊपर को सबसे समीप चन्द्रमा में भी नहीं जाते और न कहीं नीचे के लोकों में जाते हैं। यदि ये अगति वाले जीव भी दैवयोग से ऐसा सुयोग प्राप्त करें कि धीरे-धीरे ऊँचे वृक्ष गुलर इत्यादि उत्पन्न होकर कुछ-कुछ अंशों से कृमि, कीट बन जाय और फिर उसी सुयोग कर्म से अस्थि वाले जीव की दशा आ जाय तो फिर गति के मार्ग में ऊपर या नीचे जाने योग्य हो जाता है। किन्तु जब तक वृक्ष की या अनस्थि की दशा रहती है तब तक उनकी गति को अगति ही कहते हैं।

## (१०–समवलय)

पहले कहा जा चुका है कि विद्या और कर्म ये दोनों आत्म धर्म आत्म गति के कारण है। विद्या और कर्म ये दोनों परस्पर के तारतम्य से आत्मा में रहते हैं। कभी विद्या बढ़ जाती और कभी कर्म बढ़ जाता है। दोनों ही दोनों के परम विरोधी प्रबल शत्रु हैं, तथापि ये दोनों प्रायः अव्यभिचार से सहचरित ही आत्मा में रहते हैं, इतना विशेष है कि विद्या आत्मा का स्वरूप है, किन्तु कर्म उसमें आगन्तुक है। विद्या की विरोधी अविद्या जो कि अनिर्वचनीय रूप से आत्मा में अकस्मात् उत्पन्न होती है और जो आत्मा से भिन्नाभिन्न हैं उसी के द्वारा आत्मा में क्लेश, कर्म, विपाक, आशय उत्पन्न हो जाते हैं। यही सब उस अविद्या का मुख्य स्वरूप हैं। इसलिये विद्या इन का विरोध करती है। जितनी ही विद्या बढ़ती है उतना ही कर्म का बल घटता रहता है। यदि विद्या का प्रभाव आत्यन्तिक पराकष्ठा को पहुंच जाय तो सब कर्म निः शेष विलुप्त हो जाते हैं, और आत्म विशुद्ध हो जाता है। किन्तु इसके विपरीत कर्म कितना भी बढ़जाय विद्या का नाश नहीं होता। केवल कर्म जन्य, कषाय से उसका आवरण होता है। आवरण की मात्रा बढ़ते-बढ़ते संभव हो जाता है कि विद्या पूर्ण आवृत्त होकर विलुप्त प्रायः हो जाय ऐसी अवस्था में यद्यपि उसमें किसी प्रकार का ज्ञान अणुमात्र भी नहीं होता तथापि वह दूसरे के ज्ञान का प्रमेय अवश्य रहता है। ज्ञान का विषय होकर विद्या से विषय संबन्ध अवश्य रहता है, किन्तु उसमें स्वयं बुद्धि न होने से विद्या काल लोप कह सकते हैं। इस प्रकार इस आत्मा की तीन अवस्था सिद्ध होती हैं। एक वह जिस में कर्म हीं कर्म है, कर्म के आवरण से विद्या लुप्तवत् हो गई है दूसरी अवस्था वह है, जिसमें विद्या और कर्म दोनों तारतम्य से विद्यमान दीखते हैं। और तीसरी अवस्था वह है, जिसमें कर्म सर्वथा लुप्त होकर विशुद्ध विद्या रूप आत्मा रहता जाता है। इन तीनों में दूसरी जो मध्यम अवस्था है, जिसमें विद्या और कर्म इन दोनों का समुच्चय है केवल उसी अवस्था में आत्मा की गति होती है। जिसमें भी विद्या की अधिकता से उर्ध्वगति या स्वर्गगति होती है और कर्म की अधिकता से अधोगति या नरकगति होती है। इस मध्यम अवस्था को छोड़कर शेष दोनों प्रान्त ( छोर ) में आत्म गति शून्य हो जाती है। कर्म की अधिकता में कषाय के भार से आत्मा इतनी भारी हो जाती है कि उसमें स्तम्भन (ठहराव जैसे पत्थर) होने से गति रहित हो जाती है, उसको भी उपरोक्त अनुसार अगति ही कहते हैं। किन्तु दूसरी छोर में जब कर्म का सर्वथा लोप होकर आत्मा विशुद्ध हो जाता है तो उस व्यापक आत्मा को सीमा बद्ध परिच्छिन्न बनाने वाला कर्म नष्ट हो जाता है। इसलिये घड़ा फूटने से घटाकाश के अनुसार कर्म आवरण के क्षय होने से जीवात्मा भी अपने स्वरूप में लय होकर व्यापक हो जाता है। व्यापक की गति होना असंभव है, इसलिये उसकी गति नहीं होती। इसी अभिप्राय से उस निष्कर्म आत्मा के लिये वेद कहता है—

## न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते

अर्थात् उस आत्मा का उत्क्रमण नहीं होता, यहाँ ही वह आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इस प्रकार स्वर्ग या नर्क किसी भी लोक में ऊपर या नीचे कहीं न जाकर जो परिच्छिन्न क्षुद्र यह जीवात्मा अपने ही स्थान में सर्वजगत् व्यापकता को पा जाता है, उसी को समवलय गति कहते हैं। (सम=अच्छी तरह) अव=वहाँ का वहाँ, लय=(लीन होना)।

अभी यह कहा गया है कि कर्म से विद्या नष्ट नहीं होती, किन्तु विद्या से कर्म आत्यन्तिक नष्ट हो जाता है, किन्तु यह एक मत है। इसके विरुद्ध दूसरा मत यह है, कि जिस प्रकार कर्म से विद्या नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार विद्या से कर्म भी नष्ट नहीं होता। विद्या और कर्म ये दोनों आत्मा के नित्य धर्म हैं, इन दोनों से आत्मा कदापि शून्य नहीं होता। इन दोनों का परस्पर सहचार भी नित्य है। एक के बिना दूसरा कदापि नहीं रह सकता, तो ऐसी स्थिति में आत्मा की मुक्ति कैसे होती है? यह प्रश्न है। इसके उत्तर के लिये दूसरे मत का स्वरूप विशद रूप से दिखाया जाता है इस मत में आत्मा दो भाग से बना है, जिसका एक भाग अमृत और दूसरा मृत्यु है। अमृत को विद्या और मृत्यु को अविद्या कहते हैं। विद्या और अविद्या दोनों मिलकर एक आत्मा का स्वरूप सिद्ध होता है। इन में विद्या जिस प्रकार ज्ञान स्वरूप है, उसी प्रकार अविद्या भी ज्ञान स्वरूप है। विशेषता यह है कि विद्या अविनाशी, अखण्ड व्यापक, अनवच्छिन्न एक तत्व है। किन्तु अविद्या विनश्वर, सखण्ड, दैशिक, परिच्छिन्न तत्व है संसार में एकत्व अनेकत्व ये दोनों भाव प्रत्येक वस्तु में देखे जाते हैं, क्योंकि १०० वर्ष की आयु में, बाल्य, युवा, जरा आदि अवस्थाओं के द्वारा अनेक भेद रहने पर भी वह एक ही मनुष्य माना जाता है।

### ३–गतिनिमित्त

### (४–ज्ञानरूपी विद्या–अविद्या)

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु में एक विद्या के संबन्ध से एकत्व और अविद्या की अनेकता से अनेकत्व सर्वत्र देखे जाते हैं इन दोनों में परिच्छिन्न अविद्या के संयोग से अपरिच्छिन्न विद्या में भी परिच्छेद हो जाता है। अखण्ड विद्या भी खण्ड-खण्ड हो जाती है उन प्रत्येक खण्डों को मन कहते हैं। विद्या पर यह अविद्या का पहला प्रभाव है, जिस से अपरिच्छिन्न भी परिच्छिन्न हो जाता है। फिर इस मन पर अविद्या का आघात होता है, जिसके द्वारा प्रकाशवान् मन अप्रकाश हो जाता है। प्रकाश की अवस्था में जो मन शान्त था वह अब अप्रकाश की दशा में अशान्त अर्थात् क्षुब्ध हो जाता है। इसी प्रकार भिन्न स्वभाव होने के कारण वह मन न कहला कर प्राण कहलाता है। इस प्राण पर तीसरी बार अविद्या का आघात पड़ने पर दो प्राण अथवा अनेक प्राण परस्पर मिलकर एक दूसरे को मार कर एक नया मृतक तत्व बन जाता है। अर्थात् जिस प्रकार प्राण कुर्वद्रूप था (करती हुई हालत) प्रतिक्षण चेष्टा करता था वैसा अब न कर सर्वथा अकर्मण्य, निश्चेष्ट हो गया इस दशा को वाक् कहते हैं। अर्थात् जो व्यापक आत्मा थी वह खण्ड-खण्ड होकर प्रथम मन, फिर प्राण और अन्त में वाक् हो गयी। अविद्या के प्रभाव से एक ही विद्या के मन, प्राण, वाक् के तीन रूप हो गये। अब इन तीनों के प्रभाव से अविद्या के भी तीन रूप हो

जाते हैं। जिस अविद्या पर मन का संसर्ग हुआ वह काम कहलाता है और प्राण के संसर्ग से वही अविद्या कर्म कहा जाता है। और वाक् के संसर्ग से वही अविद्या शुक्र या क्लेश कहलाता है। जब कि विद्या और अविद्या ये दोनों एक ही आत्मा के दो भाग हैं तब विद्या के तीनों भेद मन, प्राण, वाक् और अविद्या के तीनों भेद काम, कर्म, शुक्र ये छओं धर्म आत्मा के स्वरूप से पृथक् नहीं हो सकते। इसलिये मुक्ति की दशा में यह कहना कि विद्या के प्रभाव से काम, कर्म, क्लेश तीनों आत्मा में से सर्वथा छूट जाते हैं यह भूल है, मिथ्या है। तो ऐसी दशा में जिस प्रकार संसार में जीव आत्मा छः धर्म वाला है तो मुक्ति दशा में भी वैसा ही रहेगा तो फिर मुक्ति किसे कहना चाहिये, इसका उत्तर इस प्रकार है।

## २—कर्मरूपी विद्या, अविद्या

विद्या और अविद्या जो आत्मा के दो भाग कहे गये हैं उनमें व्यापक होने से अविद्या छोटी बड़ी कम ज्यादा हो सकती है। उसी के प्रभाव से विद्या भी छोटी बड़ी कम ज्यादा हो जाया करती है। कम अविद्या होने से आवरण थोड़ा होता है, इसलिये विद्या भाग अधिक और अविद्या कम ऐसी दशा में आत्मा को ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। किन्तु यदि अविद्या का प्रभाव अधिक हो तो आवरण अधिक होने से विद्या के छोटे २ खण्ड हो जाते हैं उनमें विद्या की अपेक्षा अविद्या अधिक होने से उस दशा में आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जीवआत्मा में सृष्टि की इच्छा की अपेक्षा भोग की इच्छा अधिक होती है क्योंकि अपूर्ण होने से वह आत्मा पूर्णता के लिये जो अपने में बाहर से सामग्री लेने की इच्छा करता है वही भोग का इच्छा है। किन्तु ईश्वर या परमात्मा में जीव की अपेक्षा पूर्णता अधिक है, इसलिये भोग की इच्छा कम होकर उदारता से अपनी शक्ति का फैलाव करके नई २ वस्तु की सृष्टि की ईच्छा अधिक होती है। जीव में अविद्या और ईश्वर में विद्या अधिक होती है, इसलिये अविद्या के सम्बन्ध से जो काम, कर्म, शुक्र या क्लेश बताये गये थे वे जीव में ही समझने चाहिये किन्तु रचने वाले ईश्वर में विद्या अधिक होने से सृष्टि के अनुकूल तीन भाव उत्पन्न होते हैं। इच्छा, तप और श्रम ये तीनों भी मन, प्राण और वाक् इन्हीं तीनों से सम्बन्ध रखते हैं। आत्मा के वाक् भाग में मन के प्रभाव से इच्छा और उसी वाक् में प्राण के प्रभाव को तप, और इच्छा और तप के सम्बन्ध से वाक् की शान्ति भङ्ग होकर नये रूप धारण के लिये जो क्षोभ है उसे ही श्रम कहते हैं। इच्छा, तप, श्रम इन तीनों के बिना कोई भी सृष्टि नहीं होती। वाक् खण्ड रूप होने से अनन्त मात्रा में होती है। प्रत्येक मात्रा में आत्मा के मन के संयोग से इच्छा उत्पन्न होती है, उसको अशनाया कहते हैं। अर्थात् एक एक वाक् का परमाणु अन्यान्य सब परमाणु को अपने उदर में लेने के लिये अपनी और आकर्षण करता है। यही आकर्षण शक्ति वाक् के प्रत्येक परमाणु में अशनाया कहा जाता है इस की इच्छा के कारण प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणुओं पर आक्रमण करके जो परस्पर का संघर्षण पैदा करता है, उस से सब परमाणु गर्म हो जाते हैं इसी अवस्था को तप कहते है। इसी तप से जो उन में परिपाक होने लगती है, वह जब तक प्रथम रूप को छोड़कर वैकारिक नये रूप की पूर्ण रूप से धारण करले तब तक बीच की अवस्था के क्षोभ को ही श्रम कहते हैं। इसी परिपाटी ( तरीके ) से ईश्वर अपने वाक् से अनन्तानन्त प्रकार की सृष्टियां करता रहता है, जिनमें वाक् समवायि कारण है, प्राण असमवायि कारण है और मन निमित्त कारण है। इन सृष्टियों में अभूतपूर्व

(पहले) नहीं था नया कोई अर्थ नहीं उत्पन्न होता केवल वाक् के खण्डों का जो परस्पर संसर्ग ( एक होना ) होता है वही नया रूप धारण कर लेता है। इसीलिये नई वस्तु की रचना को संसर्ग या संसृष्टि कहने के अभिप्राय से सर्ग या सृष्टि कहा करते हैं।

यह संसर्ग दो प्रकार का है। एक संयोगरूप जिसमें कोई नई चीज नहीं बनती और यह संयोग वाक् के प्रत्येक परमाणु का नित्य ही बना रहता है। क्योंकि वाक् के सब परमाणु एक ही आत्मा में एकत्र मिलकर ही सदा रहते हैं। किन्तु दूसरा संसर्ग दो तत्त्वों का एक विलक्षण संयोग है जिसमें दोनों तत्त्वों के प्राचीन रूप नष्ट एक नया रूप आ जाता है। इस संसर्ग को हम चिति या चयन शब्द से व्यवहार करते हैं। जब वाक् के एक परमाणु के स्थान में ही दूसरा परमाणु रख दिया जाय तो वह परमाणु पर परमाणु की चिति कही जायगी। एक ही स्थान पर दो परमाणु का रहना असंभव होता है, किन्तु बल दोनों परमाणुओं को एक परमाणु के स्थान में रखना चाहता है। इसीलिये पुराने दोनों रूप नष्ट हो कर नया एक ही ऐसा परमाणु बन जाता है जो उस संकुचित परमाणु स्थान में बैठ सकें यही चिति या चयन संपूर्ण नई वस्तुओं की उत्पत्तियों का अर्थात् तात्विक सृष्टियों का मूल कारण है। शब्द, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पांचों तत्वों की सृष्टियां ऐसी प्रकार की चितियों से हुई है और इस प्रकार के तत्वों से जब कि वर्धमान् अर्थात् बढ़ने वाली चिति की जाती है, तो उससे यौगिक सृष्टियां होती हैं जैसे वृक्ष, वस्त्र आदि। हम सृष्टि के पदार्थों को अनन्तरूप में देखते हैं इसलिये अवश्य ही ये चितियां भी अनन्त प्रकार की कही जा सकती हैं किन्तु उनमें से यहां केवल तीन ही ऐसी चितियां कही जायँगी जिनसे जीव की सृष्टि हुई है और जिनसे जीव आत्मा की गतियों का सम्बन्ध है वे तीन चिति ये हैं। जीव चिति, देव चिति, भूत चिति।

पहले ज्ञान के रूप में विद्या और अविद्या कही गई है, जिनमें विद्या विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है, निर्विकल्पक है वह किसी भी विषयों को ग्रहण नहीं करता इसलिये निर्विषयक है और वास्तव में वही ब्रह्मस्वरूप है। उसके साथ की अविद्या भी ज्ञान स्वरूप है, किन्तु विशेष यह है कि विद्या अखण्ड है और यह अविद्या सखण्ड है। विद्या शुद्ध है, अविद्या मलिन है—विद्या निःसंग, निर्लेप और एक रस एक रूप है। किन्तु अविद्या संगवाला, भिन्नरस नाना रूप हैं। किन्तु अब हम यह उस विद्या अविद्या का वर्णन करेंगे जो कर्म रूप हैं। आत्मा के मन, प्राण, वाक् में मन और वाक् दोनों निष्क्रिय हैं, प्राण के ही द्वारा उनमें क्रिया होती है। यदि प्राण मन के पेट में जाता है तो कुर्वद्रूप वाक् ही अविद्या कहलाती है।

इन दोनों विद्या और अविद्या में अविद्या तीन प्रकार की होती है, काम, कर्म और शुक्र या क्लेश इन तीनों अविद्या धर्मों का आरम्भण, (उत्पादन) बन्धन और स्थिति इसी कर्म रूपी अविद्या के द्वारा जीव आत्मा में ये तीनों धर्म आरब्ध (पैदा होना) होते रहते हैं। और उनका आत्मा का साथ सम्बन्ध होता रहता है और जब तक मोक्ष न हो तब तक जीव आत्मा में उन काम, कर्म शुक्रों की स्थिति का सिलसिला बना रहता है। किन्तु साथ हो दूसरी विद्या इन तीनों का निरोध ( रोकना ) उद्बन्धन (उघड़ना) और क्षय करती रहती है जिनके कारण जीव आत्मा में काम, कर्म, क्लेशों की प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों साथ ही निरन्तर होते रहते हैं। अविद्या की अधिकता से जीव आत्मा अधिकतर फंसता रहता हैं। किन्तु विद्या की अधिकता से धीरे-धीरे उन तीनों से मुक्त भी हो जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और

निवृत्ति इस प्रकार जटिल (फँदे हुये) हैं, कि उन दोनों में कब, कौन, कितनी होगी यह नियम पूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु ये दोनों जीव आत्मा में तारतम्य से रहते अवश्य हैं। इन्हीं काम, कर्म, शुक्रों के द्वारा जीव आत्मा में षट् उर्मियां (जन्म मृत्यु, आदान, विसर्ग, सुख, दुःख) पैदा होते हैं। इस प्रकार ६ उर्मियां को पैदा करने वाले काम, कर्म, क्लेश ये तीनों जीव आत्मा में जिन विद्या अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो-हो कर विनष्ट होते रहते हैं, वही दोनों इस आत्मा में बीज चिति हैं। इसके अतिरिक्त इस आत्मा में गायत्री रूप से देव चिति होती है। अर्थात् चित् ईश्वर, ब्रह्म, सूर्य, चन्द्र पृथ्वी इन ६ अक्षरों का वाक्, पिण्ड, शरीर, हृदय इन चार पादों से गायत्री का रूप सिद्ध होता है। जैसे पृथ्वी का रथन्तर साम है, चन्द्रमा का राजन साम है, सूर्य का बृहत् साम है, इन साम मण्डलों को ही वाक् कहते हैं। किन्तु पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि गोलों को पिण्ड कहते हैं और हमारा शरीर उन छओं वाक् या पिण्डों, से पृथक्-पृथक् साक्षात् सम्वन्ध रखते हैं। शरीर के द्वारा फिर हृदय में उन छओं का सम्बन्ध होता रहता है। ये सब साम मण्डल अपने-अपने बिम्ब मण्डलों के अर्थात् पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि पिण्डों के छाया मण्डल हैं। इस प्रकार हृदय में ६ देवताओं का सर्वदा संचय होना ही देव चिति कहलाती है। इसके उपरान्त शुक्र, मज्जा, अस्थि, मेदा, मांस, रक्त, रस, त्वचा और लोम इस प्रकार भूत चिति होकर आत्मा ने शरीर धारण करलिया है। यह शरीर स्थूल है, इसके भीतर देव चिति सूक्ष्म शरीर है, उसके भीतर बीज चिति कारण शरीर है इन तीनों आवरणों से परिवेष्टित (घिरा हुआ) भीतर ही भीतर को जीव की आत्मा है इनमें बीज चिति के कारण ही जीव आत्मा की सृष्टि होती है। अर्थात् स्वरूप बनता है और उसमें देव चिति से उन छओं देवताओं के पास इस आत्मा का चला जाना ही गति है यदि आत्मा में देव चिति न होती तो इस आत्मा की किसी भी देवता के लोक में गति नहीं हो सकती। इसलिये देव चिति ही जीव आत्मा की गति का निमित्त है।

ज्ञानस्वरूप विद्या और अविद्या ये दोनों ही इस मत में नित्य माने जाते हैं। अर्थात् विद्या के अनुसार अविद्या का भी नाश कदापि नहीं होता, ये दोनों ही सदा मिले रहते हैं और इन दोनों के मिले रूप को ही ब्रह्म कहते हैं। किन्तु विशेषता यह है कि विद्या और अविद्या इन दोनों भागों का संसर्ग सदा बने रहने पर भी उस संसर्ग की स्थिति दो प्रकार की होती रहती है। सहचर संसर्ग और चिति संसर्ग, सहचर संसर्ग में अविद्या के स्वरूप काम, कर्म, शुक्र, क्लेश, आदि (ऊर्मि) ये सब एक साथ मिले रहने से विद्या भाग में भी कहे जा सकते हैं। किन्तु उनका प्रभाव किंचित् भी विद्या पर नहीं पड़ता। तात्पर्य यह है कि विद्या और अविद्या इन दोनों के संसर्ग में जो न्यूनाधिकता होती रहती है, उसमें कोई एक सीमा ऐसी नियत है कि उस सीमा से न्यून अविद्या रहने पर उसका प्रभाव विद्या पर नहीं पड़ता, किन्तु उस नियत सीमा से अधिक अविद्या की मात्रा होने से उस अविद्या के स्वरूप काम, कर्म, शुक्र या क्लेश में एक प्रकार का बीज भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण उन तीनों की विद्या रूपी आत्मा के साथ बन्धन और स्थिति का सिलसिला उत्पन्न हो जाता है। उस अवस्था में अविद्या के विद्या के साथ संसर्ग को चिति संसर्ग कहते हैं, जिससे जीव आत्मा की सृष्टि होकर उसमें क्लेश भोग का सिलसिला अधिक समय के लिये जारी हो जाता है, और इसी को बीज चिति कहते हैं। इसी बीज से देव और भूत का चिति संसर्ग भी उत्पन्न हो जाता है और इस त्रिचित्या चिति से विद्या रूपी आत्मा अपना स्वरूप, अपनी स्वतन्त्रता नष्ट

करके अल्पज्ञ और परतन्त्र हो जाता है। इस अवस्था में यदि विद्या और विज्ञान का अभ्यास करके उसकी वृद्धि की जाय तो वह विद्या आत्मा के स्वरूप को बढ़ाती हुई उपर्युक्त नियत सीमा को पार करके उस अविद्या में उत्पन्न हुए बीजाभाव को नष्ट कर देता है। जिससे विद्या में अविद्या का संसर्ग ज्यों का त्यों बने रहने पर भी उसका बीज भाव नष्ट होने से काम, कर्म, क्लेशों की चिति नहीं होती, और न देव चिति, भूत चिति होती है, जिससे विद्या रूपी आत्मा अविद्या के साथ रहते हुए भी नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव या निरञ्जन बना रहता है इसी को मुक्ति अवस्था कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस मुक्ति की अवस्था में भी अविद्या का नाश नहीं होता, केवल अविद्या का बीज भाव नष्ट हो जाता है जिससे षट् ऊर्मियां और संसार आत्मा में नहीं होने पाता। यही बात स्मृतिकारों ने पुराणों में स्पष्ट लिखी है--

**बीजान्यग्न्युप दग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।**
**ज्ञानदग्धैस्तथाक्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः ।।१।।**

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात कुरुतेऽर्जुन ।**
**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।।२।।**
**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः ।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ।।३।।**

## काम

आत्मा की गति के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि आत्मा की गति क्यों होती है। अर्थात् आत्मा अपनी इच्छा से फिरना डोलना चाहती है अथवा परवश, गति क्रिया उत्पन्न होती है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि आत्मा अपनी इच्छा से गति करती तो उसकी अधोगति या नरक गति न होती। जैसे परवश वह नरक के लिये यात्रा करती है तो संभव है कि उर्ध्वगति या स्वर्गगति आदि गतियाँ भी उसमें परतन्त्रता से ही उत्पन्न होती हैं, तो ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि उस आत्मा में किस का पारतन्त्र्य है। आत्मा के स्वाभाविक धर्म के कारण गति होती है, अथवा आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ की नोदना (प्रेरणा) से होती है तो इसके उत्तर में नोदना से ही गति माननी पड़ेगी, क्योंकि आत्मा के स्वाभाविक धर्म से गति होना विचार सिद्ध नहीं होता क्योंकि आत्मा पांच हैं जिनमें चिदात्मा, सूत्रात्मा इन दोनों में व्यापक होने के कारण गति नहीं। शेष तीन आत्माओं में क्षेत्रज्ञ आत्मा सूर्य में और महान् आत्मा चन्द्रमा में इस प्रकार अपने प्रभव में गति करते हैं। ऐसा ही वैदिक ऋषियों का सिद्धान्त है। तो ऐसी दशा में उन दोनों आत्माओं की लोकगति नहीं हो सकती। अर्थात् अपने किये कर्म भोगने के लिये नीचे भिन्न-भिन्न लोकों में अनियम से यातायात (आना जाना) करना संभव नहीं होता, शेष एक भूतात्मा की ही लोकगति मानी जाती है उसके लिये भी क्षेत्रज्ञ महान् के अनुसार उसके प्रभव में ही नियम से गति हो सकती है। क्योंकि जिस प्रकार क्षेत्रज्ञ सूर्य से, महान् चन्द्रमा से उत्पन्न

होता है उसी प्रकार भूतआत्मा पृथ्वी से उत्पन्न होती है। तो संभव है कि पूर्वोक्त नियमानुसार वह
भूतात्मा जीवित दशा में जिस प्रकार पृथ्वी से बद्ध होकर पृथ्वी में रहती है उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात्
भी पृथ्वी का रस होने से पृथ्वी में ही रहेगी। वह पृथ्वी को छोड़कर भिन्न-भिन्न लोकों में जाने का स्व-
भाव कैसे रख सकती है। यदि उसमें स्वाभाविक धर्म के अनुसार गति मानी जावे तो पृथ्वी में लय होना
ही गति मानी जा सकती है किन्तु यदि आप इस भूतात्मा की मृत्यु के पश्चात् पृथ्वी को छोड़कर भिन्न–
भिन्न लोकों में गति होना स्वीकार करते है तो अवश्य नोदना से ही परवश गति माननी पड़ेगी। तो
ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि वह नोदना इस आत्मा में किसकी है कि जिसके कारण इस भूत–
आत्मा को अपना प्रभव पृथ्वी लोक को छोड़कर भिन्न–भिन्न लोकों में परवश जाना पड़ता है। इसका
उत्तर यही कहा जाता है, कि विद्या और अविद्या ये दोनों जो आत्मा के अंश उनमें अविद्या के कारण
विद्या भाग में प्रथम मन, प्राण, वाक् इन तीनों रूपों की सृष्टि कही गई हैं और विद्या रूपी आत्मा के
इन्ही तीनों रूपों को लेकर अविद्या में भी तीन रूप उत्पन्न हो जाते हैं। मन से काम, प्राण से कर्म और
वाक् से क्लेश, अविद्या के इन्ही तीनों रूपों की आत्मा परिच्छिन्न बनकर गतियुक्त हो जाती है। इन
तीनों में भी काम ही मुख्य कारण है, क्योंकि काम अर्थात् इच्छा के द्वारा ही प्राणी कुछ कर्म करता है
और उस कर्म से आत्मा में जो अतिशय या संस्कार उत्पन्न होता है वही बन्धन रूप होकर आत्मा के
लिये क्लेश बन जाता है। जिस क्लेश को हिरण्यगर्भ, पतञ्जलि आदि योगाचार्यों ने अविद्या, अस्मिता,
राग, द्वेष, अभिनिवेश नाम से ५ प्रकार का कहा है। इन सब का कारण कर्म है और कर्म का कारण
काम है। जब तक प्राणी के हृदय में काम रहता है तब तक वह आत्मा कामवश होकर काम की ही
नोदना से नानालोकों में भ्रमण करता है। इसलिये आत्मगति का कारण काम की ही नोदना (प्रेरणा=
प्रत्याघात) है, यह सिद्ध हुआ।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि यह काम जो अविद्या का अंश है विद्या और अविद्या सहचर
संसर्ग से तो सदा रहते ही हैं, किन्तु इन दोनों की जब चिति (संसर्ग) होती है तब सृष्टि होती है और
अखण्ड आत्मा सखण्ड हो जाती है। विद्या रूपी आत्माओं में कही गई है, किन्तु वह विद्या रूपी आत्मा
पाँच आत्माओं में से पहली आत्मा है। अर्थात् चिदात्मा, सूत्रात्मा, क्षेत्रआत्मा, महान् आत्मा और भूता–
त्मा इन पाँचों में चिदात्मा ही विद्या रूपी है। किन्तु उस चिदात्मा की गति न होना कहा गया है और
जिस भूतात्मा की गति कही गई है वह विद्या रूप नहीं है जिस विद्या के कारण काम कर्म इत्यादि पैदा
होते हैं। तो फिर काम, कर्म, क्लेश के द्वारा गति किस आत्मा में मानी जाय। इसका उत्तर यह है कि
जिस विद्या को चिदात्मा कहते हैं, उसमें जब तक विद्या का ससंर्ग नहीं है तब तक वह शुद्ध विद्या होने
से गतिहीन मानी गई है। किन्तु जब वही विद्या रूपी चिदात्मा चितिसंसर्ग से विद्या, और अविद्या सह-
चर संसर्ग से तो सदा रहती हैं किन्तु इन दोनों की जब चिति (संसर्ग) होती है तब सृष्टि होती है, और
अखण्डआत्मा सखण्ड हो जाती है, अविद्या शवलित (मैली) हो जाती है तब उसे अविद्या के तारतम्य के
कारण वही क्षेत्रज्ञ महान् या भूतात्मा के रूप में आ जाती है इन रूपों के होने में भी वह काम ही कारण
है जब काम, कर्म क्लेशों की अधिकता हो जाती है तब अधिक आवरण वाला भूतआत्मा बनती है, उसमें
क्लेश की मात्रा अधिक होती है और उसी कारण यह भूतात्मा नाना भोग भोगती है। इसलिये वही

चिदात्मा रूपी विद्या ही अविद्या की अधिकता से भूतात्मा नाम धारण करके गति योग्य बन जाती है। अब यहां यह प्रश्न होता है कि अविद्या के तारतम्य से क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा आदि नाना रूप उत्पन्न होते हैं उन सबों में काम, कर्म, क्लेश बराबर हैं या न्यूनाधिक ? यदि बराबर होते तो सब एक रूप समान धर्मा बन जाते। किन्तु यदि हम उनमें भेद देखते हैं तो अवश्य ही उन तीनों में अविद्या के चिति संसर्ग की न्यूनाधिकता माननी होगी तो ऐसी अवस्था में काम, कर्म, शुक्र कितनी मात्रा की अविद्या से किस आत्मा में कितने उत्पन्न होते हैं इस प्रश्न पर विचार या परीक्षा करने से यह सिद्धान्त हुआ है कि काम और कर्म दो प्रकार के हैं। एक सृष्टि का काम और सृष्टि का कर्म और दूसरा भोग का कर्म। इन दोनों में सृष्टि सम्बन्धी काम और कर्म तो चिदात्मा से लेकर भौतिक सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में उसके आयतनानुसार बराबर है। प्रत्येक वस्तु सृष्टि की इच्छा रखती है और सृष्टि के लिये कुछ न कुछ कर्म करती रहती है। किन्तु इन कर्मों से जो अतिशय संस्कार उत्पन्न होता है वह बन्धन, बन्धन रूप न होने के कारण शुक्र होने पर भी क्लेश नहीं है। इसी कारण सृष्टि करता हुआ ईश्वर जैसे जन्म, मृत्यु के बन्धन में नहीं आता, उसी प्रकार संसार के अन्यान्य आत्मा या पदार्थ कुछ न कुछ सृष्टि करते हुए रहने पर भी उसके द्वारा बन्धन में नहीं आते। किन्तु दूसरे काम और कर्म जो भोग सम्बन्धी हैं, उससे जो संस्कार उत्पन्न होता है वह बन्धन होने के कारण क्लेश कहलाता है और वह बीजरूप होकर आत्मा की भोग सामग्री उत्पन्न करता रहता है। इन दोनों प्रकार के काम और कर्मों में से भोग सम्बन्धी काम, कर्म, चिदात्मा, सूत्रात्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा इन तीनों में न होकर केवल महान् आत्मा में देखा गया है। भूतात्मा में प्रज्ञा होने पर भी तीनों गुणों के न होने से भोगने का काम नहीं हो सकता क्योंकि भोग सामग्री में प्रीति अप्रीति और विषाद होना आवश्यक है। इन तीनों के न होने से कोई भी वस्तु भोग के योग्य नहीं हो सकती। सुख दुःख मोह साक्षात्कार को ही भोग कहते हैं। सो प्रीति अप्रीति विषाद के बिना हो नहीं सकते। किन्तु ये तीनों (प्रीति, अप्रीति, विषाद) सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से ही उत्पन्न होते हैं और ये तीनों गुण महान्आत्मा के लक्षण हैं जिसे प्रकृति कहते हैं। इसलिये भूतात्मा में भी काम, कर्म, जो भोग की सामग्री है नहीं हो सकते। ऐसी दशा में फिर यह प्रश्न उठता है कि काम, कर्म महान् आत्मा में है, किन्तु गति भूतात्मा की कही जाती है जब कि इस भूतात्मा में भोगने का काम नहीं है तो काम की नोदना से भोग के लिये भूतात्मा की नानालोक में गति कैसे संभव हुई, इसका उत्तर इस प्रकार है।

यह महान्आत्मा चन्द्रमा के रस से उत्पन्न होता है। इस चन्द्रमा का सूर्य और पृथ्वी दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध है चन्द्रमा में जो प्रकाश है वह सूर्य से ही आता है। सूर्य के प्रकाश का ही रूपान्तर है, इसलिये सूर्य से उसका सम्बन्ध अधिक है। किन्तु यह चन्द्रमा सूर्य से बहुत दूर रहकर इस पृथ्वी के बहुत सन्निहित (निकट) है और सूर्य से जो सुषुम्णा नाड़ी इस पृथ्वी पर आती है उसी के अन्तर्गत यह चन्द्रमा सदा रहता है। इसलिये उस सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा इस चन्द्रमा और पृथ्वी का बहुत सन्निकट सम्बन्ध है। इन्हीं दोनों सम्बन्धों के कारण सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इन तीनों के रस परस्पर में इतना मिलकर इस शरीर में आते हैं, कि उन तीनों के रस से भिन्न-भिन्न तीन आत्मा बनने पर भी तीनों के रस से भिन्न-भिन्न तीन आत्मा बनने पर भी तीनों एक ही हृदयाकाश में सम्मिलित रूप में एक ही आत्मा बने

हुए हैं। यही कारण है कि हम इन तीनों आत्माओं का भिन्न-भिन्न होना अनुभव नहीं करते। प्रत्युत तीनों आत्माओं के भिन्न-भिन्न धर्मों को एक ही अपनी आत्मा में होना अनुभव करते हैं। साँख्य के आचार्य भगवान् कपिलदेव ने भूतात्मा को न मानकर सब धर्मों को दो ही आत्मा में निर्भर करके क्षेत्रज्ञ को पुरुष और महान् को उसकी प्रकृति माना है। अर्थात् तीनों गुणों के द्वारा महान् रूपी प्रकृति में जितने विकार उत्पन्न होते हैं वे सब अत्यन्त स्वच्छ ज्ञान स्वरूप क्षेत्रज्ञ पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं इसी इसी को साक्षात्कार कहते हैं, और यही क्षेत्रज्ञ आत्मा का भोग कहलाता है। इसी महान् प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुए लिङ्ग शरीर में बद्ध होकर क्षेत्रज्ञात्मा की नाना लोकों में गति होती है और वहां भी उसी महान् प्रकृति के द्वारा सुख दुःख साक्षात्कार रूपी भोग क्षेत्रज्ञ आत्मा में हुआ करता है। इस प्रकार सांख्य के मत से प्रकृति पुरुषभाव भी महान् और क्षेत्रज्ञ के सम्मिलित रूप के कारण से ही होता है। किन्तु जो वैशेषिक आदि आचार्यों ने जीव आत्मा का स्वरूप वर्णन किया है उसमें क्षेत्रज्ञ, महान्, भूत-आत्मा के भेद न करके एक ही आत्मा मानी है और उसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छ, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म ये आठ वैशेषिक गुण माने हैं। इसके अनुसार महान् या क्षेत्रज्ञ के सब धर्म इस भूतात्मा में मान लिये गये हैं, और उसी भूतात्मारूपी जीवात्मा की धर्म अधर्म के अनुसार नाना लोकों में गति कही गई है। तात्पर्य यह है कि ऐसे ऐसे मत भेद होने का मुख्य कारण यही है, कि ये तीनों आत्मा ( क्षेत्रज्ञ, महान्, भूतात्मा ) सर्वथा सम्मिलित होकर एक ही रूप में सदा रहते हैं। यही कारण है कि काम, कर्म और क्लेश ये तीनों महान् में होकर भी उनका प्रभाव भूतात्मा में पड़ता है।

महान् आत्मा का प्रभाव भूतात्मा में दो प्रकार से होता है। प्रथम तो यह भूतात्मा पृथ्वी के उस रस से बना है जिसमें चिदात्मा, सूर्य और चन्द्र आदि अनेक रस सम्मिलित हैं। सूर्य, चन्द्र से जो रस पृथ्वी के केन्द्र में जाते हैं, उनके साथ पृथ्वी का रस घुलकर बाहर आता है और उससे मेरी आत्मा बनती है। उसमें जो चन्द्रमा का रस है वह भी एक प्रकार महान् का भाग है उसमें भी सत्व, रज तम इन तीन गुणों के अंश हैं, जिनके कारण राग, द्वेष, मोह भूतात्मा में भी प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहते हैं। इन तीनों से भूतात्मा का वियोग नहीं होता किन्तु ये उस भूतात्मा में बीजरूप से ही विद्यमान् रहते हैं। इनका उद्बोध या विशेष प्रभाव दूसरे महान् के संसर्ग से ही होता है। यह दूसरा महान् वह चन्द्रमा का रस है, कि जो माता-पिता के शुक्र शोणित के मिलने पर उसमें सीधा चन्द्रमा से आता है। इस महान् के सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से जितने प्रभाव उत्पन्न होते हैं उनसे महान् में सम्मिलित यह भूतात्मा पूर्ण आवृत हो जाता (घिर जाता) है। जिससे यह भूतात्मा ही गुणत्रय विशिष्ट हो जाता है इसी अभिप्राय से भगवान् ने गीता में कहा है—

**धूमेना व्रियते वह्निर्यथा दर्शो मलेन च।**
**यथोल्वेनावृतोगर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥**

अर्थात् जैसे धूम से अग्नि व्याप्त रहती है, जैसे दर्पण नाक की भाप से मलिन हो जाता है, और जैसे उल्व (ओनाल=जर) से बच्चा पेट में घिरा रहता है उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ ज्ञान मलिन हो जाता है।

**आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनोनित्य वैरिणा ।**
**कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणा नलेन च ।।**

यह काम, कर्म, और शुक्र अविद्या से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ये सब अविद्या स्वरूप हैं । विद्या का विरोध करना अविद्या का स्वभाव है, इसलिये काम से आक्रांत ( घिरा हुआ ) आत्मा अविद्यामय हो जाता है और खण्डवत् होने से जो अपूर्णता उसमें आती है उसी से चारों ओर शून्यता समझकर आत्मा उस अपूर्णता या शून्यता को भरकर पूर्ण या व्याप्त होने के लिये आत्मा उसी प्रकार उद्विग्न ( उचाट ) हो जाता है । जैसे केवल सहस्र मुद्रावाले दरिद्री के पास सब चोरी हो जाने से उसको चारों ओर शून्यता दीखती है और उद्विग्न हो जाता है । यही उद्विग्नता अविद्या के कारण जगत् के प्रत्येक जीव आत्मा में पाई जाती है । क्योंकि प्रत्येक आत्मा जन्मकाल से लेकर यावत् जीवन अपनी उन्नति के लिए भरपूर यत्न करता रहता है और सदा अपनी सम्पत्ति को कम समझता है इसी आत्मोन्नति की इच्छा को काम कहते हैं । जो कि विद्या रूपी आत्मा पर अविद्या का प्रबल आक्रमण ( आवरण ) स्वरूप है । इस काम का विरोधी तृप्ति है, और तृप्ति ज्ञान का मात्रा विशेष है । ज्ञान तृप्त पुरुष होने पर काम का प्रभाव न्यून होता है, इसी तृप्ति के लिये विद्याभ्यास करके आत्मा में ज्ञान की वृद्धि करना प्रत्येक जीव का आवश्यक कर्त्तव्य है । इस तृप्ति बढ़ाने के दो उपाय हैं । एक तो निष्काम होकर सगुण विद्या की उपासना करना और दूसरा निष्काम होकर निर्गुण विद्या का उपार्जन करना । पहले को भक्तिमार्ग और दूसरे को ज्ञानमार्ग कहते हैं । भक्तिमार्ग से अर्थात् सगुण आत्मज्ञान से आत्मा स्वर्गलोक अथवा साकार या सगुण ब्रह्मलोक जाकर प्राकाम्य ( इच्छा सिद्धि ) पाकर अनन्त सुख भोग भोगता है और जन्म मृत्यु के बन्धन में न आने से मुक्त समझा जाता है । किन्तु दूसरे ज्ञानमार्ग से निराकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है और वह आत्मा स्वयं ब्रह्म होकर मुक्त हो जाता है इसी को परागति कहते हैं, और ये दोनों ही मार्ग उत्तम है । किन्तु निष्काम होने से इन मार्गों से उत्तमगति प्राप्त होती है अन्यथा नहीं, यही बात श्रुति भी कहती है—

**कामान् यः कामयते मन्यमानः, सकामभिर्जायते यत्र तत्र ।**
**पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु, इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।**

**ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्म मृत्युप्रहाणिः ।**
**तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे, विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ।।**

**यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्चकामान् ।**
**तं तं लोकं जायते तांश्चकामान्, तस्मादात्मज्ञंह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।**

**सर्वदैतत्परमं ब्रह्मधाम, यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।**
**उपासते पुरुषं येह्यकामा, स्ते शुक्रमे तदति वर्तन्ति धीराः ।।**

**विद्यया तदा रोहन्ति यत्र कामाः परागताः ।**
**न तत्र दक्षिणायन्ति ना विद्वांसस्तपस्विनः ।।**

## (कर्म)

विद्यारूपी आत्मा में अनिर्वचनीय अविद्या का अनिर्वचनीय सम्बन्ध है जिसके कारण आत्मा की दो अवस्थायें होती हैं। एक शुद्ध विद्यारूप और दूसरी अविद्या शबलित ( घिलमिल ) विद्यारूप। इनमें शुद्ध विद्या होना आत्मा की मुक्तावस्था है और वह जगत् से पार है। किन्तु दूसरी अवस्था जगत्रूप से भोग्य या जगत् की अधिष्ठाता ( मालिक ) कर्त्ता, भोक्ता होता है। वह अविद्या शबलित आत्मा नित्य नियम से काम, कर्म शुक्र से युक्त रहता है। इन तीनों में काम का स्वरूप ऊपर दिखा चुके हैं, अब कर्म के सम्बन्ध में कहा जाता है। यह कर्म आत्मा में चार प्रकार का होता है। १–विद्या सापेक्ष ( आत्मज्ञान की जरूरत रखता है ) २–विद्या निरपेक्ष, ३–विद्या विरोधी, ४–अप्रयोजक। इनमें पहले दोनों को शत-कर्म या कर्म कहते हैं, तीसरे को विकर्म और चौथे को अकर्म कहते है। इन्हीं तीनों भेदों को लेकर श्री-भगवान् ने गीता में कहा है—

**कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः ।**
**अकर्मणोपि बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः ।।**

इस प्रकार इन तीन भेदों में पहला कर्म दो प्रकार का है। जिससे कर्म के चार भेद सिद्ध होते हैं। उन चारों में विद्या सापेक्ष वह कर्म है जो भूतात्मा के प्रज्ञान द्वारा ही केवल न होकर विज्ञान आत्मा की भी सहायता ली जाती है और उस कर्म से विज्ञान ही अन्त में फल उत्पन्न होता है। अर्थात् विज्ञान के द्वारा उत्पन्न होकर जो कर्म विज्ञान को ही उत्पन्न करे वह कर्म विद्या सापेक्ष है, ऐसे कर्म से आत्मा का अभ्युदय होता है। अर्थात् आत्मा अपनी विद्यमान कक्षा से उन्नति की ओर चढ़ता है और दूसरा विद्या निरपेक्ष वह कर्म है जो विज्ञान के द्वारा उत्पन्न होकर भी उससे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञ आत्मा का कुछ भी संस्कार न होकर केवल प्रज्ञानमय भूतात्मा का ही संस्कार करता है। ऐसे कर्मों से आत्मा का न अभ्युदय होता है न प्रत्यवाय ( अवनति-उल्टा नीचे की ओर झुकना ) अर्थात् अपनी विद्यमान कक्षा में ज्यों का त्यों बना रहता है। किन्तु इससे आत्मा की अवनति नहीं होती, इसलिये यह भी अच्छा ही गिना जाता है और तीसरा विद्या विरोधी कर्म है जो विज्ञान से उत्पन्न होने पर भी रजोगुण, तमोगुण से मलिन विज्ञान होने के कारण उससे जो कर्म उत्पन्न होता है, उस कर्म का संस्कार विद्या का विरोधी होकर विद्या का आवरण करता है। अपने बल के तारतम्य से कहीं मलिन और कहीं लुप्त प्रायः कर डालता है और इस कर्म के संस्कार को प्रत्यवाय ( पाप ) कहते हैं। अर्थात् उस संस्कार से आत्मा उलटा नीचे की ओर गिरता है और चौथा अकर्म है, जो बिना विज्ञान के ही केवल भूतात्मा के प्रज्ञान से उत्पन्न होता है और वह निरर्थक है। वह प्रज्ञान का विनोद करने ( दिल बहलाव ) पर भी विज्ञान का बाधक है वह भी नेष्ट है।

## (१–विद्या सापेक्ष कर्म)

इन चार कर्मों में विद्या सापेक्ष कर्म दो प्रकार का है। ज्ञान विशेषक और देवलौकिक। जिन कर्मों से विद्या ज्ञान रूप में परिणत होकर नाना भेद वाला हो जाता है उन कर्मों को ज्ञान विशेषक (भेद करने वाला) कहते हैं। नारद पाञ्चरात्र में नारदने पांच प्रकार का भेद करने वाला ज्ञान बताया है—

१–नित्य विशुद्ध ब्रह्मज्ञान, २–निर्गुण ब्रह्मज्ञान, ३–सगुण ब्रह्मज्ञान, ४–दिव्यज्ञान, ५–इन्द्रिय ज्ञान। विद्या को ही ब्रह्म कहते हैं उसमें कर्म का कुछ भी प्रभाव न हो, न कर्म का स्पर्श हो तो वह प्रथम दोनों प्रकार का ज्ञान होगा। दोनों में विशेषता यह है कि जो स्वतन्त्ररूप से कर्मों को स्पर्श न करता हुआ जो सर्व जगत् व्यापक भूमा रूप पर ब्रह्म है वह परमतत्व पहला नित्य विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। किन्तु यदि जीव आत्मा ऐसा कर्म करे कि जिस कर्म से कनक, रज के अनुसार सब कर्मों की निवृति होती हो तो वह कर्मजन्य आत्मा की विशुद्धि होने से दूसरे प्रकार का ज्ञान अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होता है, जिस से जीव आत्मा की परामुक्ति होती है और तीसरा कर्म वह है कि जिस से ब्रह्म के गुण निवृत्त नहीं होते किन्तु अविद्या के दोष बहुत से निवृत्त हो जाते हैं तो उन कर्मों को उपासना कहते है। इन उपासना कर्मों से अवरमुक्ति होती है। अर्थात् दास-स्वामी की बुद्धि रहने से ऊँचे नीचे का भाव अपनी आत्मा का तिरस्कार स्वामी के प्रसन्नता का अनुरोध (लिहाज) आदि कितने ही भाव मुक्ति दशा में भी जीव आत्मा में बने रहते हैं। जिससे कितने ही दुःख के भावों का उस जीव आत्मा में रहना अनिवार्य माना जा सकता है। इसलिये जन्म मृत्यु बन्धन छूटने से मुक्ति होने पर भी उसको अवर मुक्ति कहते हैं।

अब चौथा कर्म यह है जिससे इस जीव आत्मा में इन्द्रियजन्य ज्ञान सामर्थ्य के अतिरिक्त १७ प्रकार के अपूर्वज्ञान विशेष रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हीं ज्ञानों को दिव्य ज्ञान ( अष्टसिद्धि ) कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ अणिमा—छोटा शरीर धारण करने की शक्ति।
२ महिमा—महाविशाल शरीर धारण करने की शक्ति।
३ लघिमा—परमलघु अर्थात् हलके होने की शक्ति।
४ गरिमा—परमगुरु अर्थात् भारी होने की शक्ति।
५ व्याप्ति—बहुत देश में पसरने की शक्ति।
६ प्राकाम्य—इच्छा सिद्धि अर्थात् चाहते ही तत्काल प्राप्ति होना।
७ ईशित्व—सहस्रों प्राणियों पर प्रभुत्व जमाना।
८ वशित्व—सर्प, व्याघ्र, राक्षस आदि वशीभूत होना।

## (९–तुष्टि या निधन)

९ भूत भविष्यत् ज्ञान—अवधान (खयाल) करते ही भूत, भविष्यत् को जान लेना।

१० दूर परोदृष्टि —दूर-दूर सैंकड़ों हजारों कोसों तक देखना।
११ दूर श्रवण —दूर देशस्थ बातों का सुनना।
१२ परकाय प्रवेश —दूसरे के शरीर में प्रवेश करना।
१३ कायव्यूह —एक ही समय अनेक रूप धारण करना।
१४ जीवदान —मरे को जिलाना।
१५ परजीव हरण —जीन्दों को मार देना।
१६ सर्ग कारण —नई सृष्टि रचना।
१७ सर्ग हरण —सृष्टि का संहार करना।

इसके अतिरिक्त पांचवां ज्ञान वह है जो प्रत्येक प्राणी के पांचों इन्द्रियों के द्वारा हुआ करती है,
इसे विषय ज्ञान कहते हैं। इन पांचों ज्ञानों में विषय ज्ञान के लिये किसी विशेष कर्म की आवश्यकता नहीं
है। प्राकृतिक कर्मों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में नियम से यह होता है और सबसे प्रथम जो नित्य विशुद्ध
ज्ञान हैं उसमें किसी प्रकार के कर्म का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं है इन दोनों से अतिरिक्त मध्य के तीनों
ज्ञानों में व्यवसायात्मक बुद्धि के द्वारा ज्ञान के साथ कर्म समुच्चय रहता है, और इन तीनों कर्मों से एक
प्रकार का संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है। जिसकी वासना का आत्मा में जन्म मृत्यु क्रम और गति के
उत्पत्ति में विशेष सम्बन्ध है। इन तीनों कर्मों को निवृत्ति कर्म, उपासना कर्म, योग कर्म, क्रम से कहते
हैं। इस प्रकार ज्ञानों में विशेषता उत्पन्न करने वाले विद्या सापेक्ष कर्म कहे गये हैं।

अब देवलौकिक कर्म कहे जाते हैं। जिन कर्मों के करने से देव-स्वर्ग नाम के देवलोकों में जाने की
शक्ति पैदा करने वाला संस्कार आत्मा में उत्पन्न होता है वे ही देवलौकिक कर्म हैं और वे तीन प्रकार के
हैं। यज्ञ, तप, दान-मनुष्य की आत्मा दो प्रकार की होती हैं। १-मानुष्य आत्मा, २-दैव आत्मा यद्यपि
मनुष्य की आत्मा एक ही होती है और उसमें विशेष कर चार आत्मा मिली होती है। सबसे प्रथम
भूतात्मा उसके अन्दर महान् आत्मा उसके भीतर क्षेत्रज्ञ आत्मा और उसके भी भीतर चिदात्मा ये चारों
ही अपना-अपना तन्त्र या संस्था रखते हुए भी सूत्रात्मा के द्वारा परस्पर बद्ध होकर एक ही तन्त्र या संस्था
बना लेते हैं तथापि इस जन्म और जीवन की प्रक्रिया से दो विशेषतायें उत्पन्न होती हैं। अर्थात् इन चारों
के मेल से उत्पन्न हुई जो एक आत्मा है सो दो हो जाती हैं। एक सूर्य रस प्रधान और दूसरा पृथ्वी रस
प्रधान। माता के गर्भ में बालक दो भाव को ग्रहण करता है, अर्थात् माता के रस प्रधान होने से कन्या
का जन्म होता है और पिता के रस प्रधान होने से पुत्र का होता है। उसी प्रकार आत्मा भी दो प्रकार
की हो जाया करती है। चिदात्मा और महान् आत्मा पृथक् अपनी संस्था न बनाकर उन्हीं दोनों भेदों में
मिल जाया करते हैं। इसी से पृथ्वी माता के रस से बनी हुई आत्मा भी चार आत्मा की बनी होती है
और सूर्य रूपी द्यौ पिता के रस वाली आत्मा भी चारः आत्माओं की बनी हुई होती है। इस प्रकार
आत्मा के दो भेद जन्म के समय से ही बनते शुरू हो जाते हैं। किन्तु ये दोनों भी सूत्रात्मा से बद्ध होने के
कारण जीवन काल में भिन्न नहीं होने पाते, किन्तु जुड़े रहने पर भी उन दोनों में से एक आत्मा सदा
पृथ्वी से और दूसरी सदा सूर्य से खिची हुई रहती है। इन दोनों में सूर्य वाली को दैव आत्मा और

पृथ्वी वाली को मानुष्य आत्मा कहते हैं। इन दोनों को जोड़ने वाली सूत्र के टूटते ही प्राणी की मृत्यु होती है, उस समय ये दोनों आत्मा भिन्न-भिन्न रुख के दो मार्गों का अवलम्बन करते है। दैव आत्मा एकदम ऊपर की ओर अपना रूख करके चन्द्रमा में होता हुआ सूर्य में जाने प्रयत्न करता है। किन्तु कर्मों के बोझ के दबाव से चन्द्रमा और सूर्य के भीतर कहीं-कहीं फिरता रहता है, किन्तु उस आत्मा की स्वाभाविक गति सर्वदा सूर्य की ही ओर दूसरा मानुष्य आत्मा ऊपर की ओर न जाकर चन्द्रमा के नीचे ही इस पृथ्वी पर कहीं न कहीं विचरता रहता है, उस अवस्था में उस मानुष्य आत्मा को गन्धर्व आत्मा या हंसआत्मा कहते हैं। यह गन्धर्व आत्मा वायु प्रधान और दैव आत्मा अग्नि प्रधान होता है। इस प्रकार इन दोनों आत्माओं का शरीर में होना और मृत्यु काल में इन दोनों का बिछुड़ना प्रकृति नियमानुसार सभी प्राणियों में अवश्य होता है।

इन दोनों में हंसआत्मा के लिये हमें कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु देवआत्मा के सम्बन्ध में वहुत कुछ वक्तव्य है। वह दैवआत्मा अपने स्वभाव से सीधा सूर्य में जाना चाहता है, किन्तु कर्मों के संस्कार का भिन्न-भिन्न बल पाकर मार्गच्युत हो जाता है। सूर्य के मुख्यज्योति में न मिलकर भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करता हुआ फिर पृथ्वी में उलटकर आ जाता है। जब कि आत्मा का स्वाभाविक रुख सूर्य की ओर है किन्तु कर्मवश उसकी गति में बाधा पड़ती है, इस से आत्मा को दुःख होना अवश्य संभव है, इसी दुःख को मिटाने के लिए सूर्य विरोधी कर्मों के बल को घटाकर सूर्य में जाने की शक्ति बढ़ाने के लिए कितने ही कर्म चुने गये हैं। वही कर्म ये तीन प्रकार के हैं जिनको यज्ञ, तप, दान, कहते हैं।

## ( १–यज्ञ )

यज्ञ दो प्रकार का है। १–अग्नि में अग्नि की पांच चिति करके हमारे शरीर की अग्नि का आयतन जो शरीर परिच्छिन्न था, उसका आयतन सूर्य तक वढ़ा दिया जाय इस अग्निचित्या यज्ञ से यह जीवआत्मा सूर्य तक वढ़कर दैवआत्मा बन जाता हैं, जिससे उसकी गति सूर्य में अवश्य ही हो जाती है। यह यज्ञ विद्वान् ब्राह्मण ही अपने लिये ही कर सकता है।

२–दूसरा यज्ञ अग्नि में सोम की आहुति देना है। सोम की आहुति देने के लिये शरीर की मामूली अग्नि को याज्ञिक अग्नि बनानी पड़ती है। उसके लिये अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध ये पांच पूर्व प्राक्सौमिक यज्ञ करने पड़ते हैं। ये पांचों क्रम से अग्नि संस्कार और दैनिक, मासिक, आर्तव, अयन, संस्कार रूप हैं। इनके अनन्तर 'साम्वत्सरिक संस्कार' रूप सोमयज्ञ करना होता है वह सात प्रकार का है। अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम, आप्तोर्यामस्तोम इन सब को ज्योतिष्टोम कहते हैं। इस सोमयाग से भी शरीर की वैश्वानर अग्नि पुष्ट होकर इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मा की गति उन्हीं पांचों मार्गों से अर्थात् दिन, मांस, ऋतु, अयन, सम्वत्सर के द्वारा सूर्य में पहुंच जाती है। इस यज्ञ के द्वारा हमारा जन्मसिद्ध दैवआत्मा में संस्कार करके आत्मा का आयतन बढ़ाकर एक नया ( यज्ञ प्रभाव ग्रहण करने योग्य ) ऐसा बल डाला जाता है जिससे

आत्मा कर्मों के वेग में न आकर अपने मार्ग में निष्प्रतिवन्ध ( बिना रुकावट ) चला जाता है। इस
प्रकार जन्मसिद्ध है। वह आत्मा में संस्कार करके नया दैवआत्मा बनाना ही यज्ञकर्म का मुख्य दृश्य है।

## (२–तप)

इससे भिन्न कक्षा का कर्म तप है। तप उसको कहते हैं कि अपनी शरीर की शान्त वैश्वानर में
दिव्य वा अन्तरिक्ष की अग्नि प्रवेश कर के क्षुब्ध करना और उन तीनों अग्नियों के परस्पर संघर्षण से एक
नया अग्नि ऐसा उत्पन्न किया जाय जो इस आत्मा के ऊपर आये हुए कर्म के संस्कारों को दग्ध कर दे
और आत्मा के धरातल को इस प्रकार पका दे कि जिससे उस पर फिर कर्मों के नये संस्कार जमने न
पावें, इस प्रकार के कर्मों को ही तप कहते हैं। यज्ञ के अनुसार ये भी बहुत प्रकार के हैं, किन्तु उनमें
ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण और अनशन (अन्न अशन) ये तीन मुख्य हैं।

## (३–दान)

तीसरी कक्षा का दान है—तप और दान में इतना ही अन्तर है कि तप में आत्मा का अन्तरङ्ग
भाग व्यय होकर दूसरे की आत्मा में सम्मिलित होता है और उस गये हुए अंश की कमी की पूर्ति के लिए
एक महा बलवान् सत्यधर्म उस स्थान पर आ बैठता है। जैसे कच्चा ईंटा सुखाया जाने पर दुर्बल जल के
स्थान पर बलवान् अग्नि ( अन्तर्यामी ) आ बैठता है, जिससे ईंटा पककर बलवान् हो जाता है। जैसे
व्यायाम करने वाला पुरुष अपने बल को इसलिए व्यय करता है कि जिससे उस अङ्ग में उत्तम और
अधिक बल उत्पन्न हो ठीक यही उद्देश्य तप का है। किन्तु जो ऐसा नहीं कर सकता उसके लिए दानकर्म
है, इसमें आत्मा के बहिरङ्ग भागों का त्याग है। अर्थात् जो आत्मीय वस्तु हो उनमें भी जिनसे हमारी
आत्मा का अधिक उपकार होता हो और जो आत्मा के अधिक प्रिय हो उन वस्तुओं पर आत्मा का
अधिक अंश रहने के कारण उनका दान करना भी आत्मत्याग सदृश ही एक प्रकार का छोटा तप है। जो
अपनी आत्मा के भाग को समर्पण नहीं कर सकते उनको अपनी आत्मीय वस्तु का समर्पण करना उचित
है। सर्वथा आत्मदान करने से आत्मा में अधिक बल उत्पन्न होता है यही तप और दान का रहस्य है।

## २—विद्या निरपेक्ष कर्म

जिस प्रकार देवलौकिक कर्म के करने से देवलोक रूपी स्वर्ग में जाने की शक्ति उत्पन्न होती है,
उसी प्रकार पितृलोक रूपी स्वर्ग में जाने की शक्ति जिनसे उत्पन्न होती है उन कर्मों को पितृलौकिक या
विद्या निरपेक्ष कर्म कहते हैं। देवलौकिक के अनुसार पितृलौकिक भी तीन प्रकार का है इष्ट, आपूर्त,
दत्त। इनमें इष्ट उन छोटे यज्ञों का नाम है, जिनमें एक अग्नि या स्मार्त्त अग्नि में होम करना पड़ता है।
यज्ञ में खड़े होकर वषट्कार से आहुति देनी पड़ती है। किन्तु इष्ट के होम में बैठकर स्वाहा से आहुति
देनी पड़ती है और आपूर्त एक प्रकार का द्रव्य ही व्यय करना पड़ता है जैसे बाग, सड़क, कूप, धर्मशाला
आदि निःस्वार्थ स्थान बनाकर उत्सर्ग करना औषधालय, पाठालय, सदावर्त (अन्न सत्र त्याग करना और
कन्या विवाह इत्यादि इत्यादि आपूर्त कर्म हैं और तीसरा दत्त वह दान है, जो बिना मन्त्र के केवल

संकल्पमात्र से किया जाता है। यज्ञ, तप और दान में जो दान है वह शास्त्रीयदान है, जो भारतवर्ष के अतिरिक्त और देशों या समाजों में नहीं है और इष्ट, आपूर्त, दत्त का जो दत्तदान है वह लौकिक दान है। इस प्रकार प्रायः सभी देश और समाजों में है। देवलौकिक दान अर्थात् भूमिदान, अन्नदान, विद्या-दान, अभयदान, जीवदान, गौदान, हिरण्यदान आदि दानों में वेदमन्त्र से संकल्प पूर्वक जल के द्वारा दान करना पड़ता है। इनमें देश, काल, पात्र और श्रद्धा आदि की विशेष अपेक्षा है। मूर्ख, दरिद्री, अङ्गहीन आदि को देने से वह दान निष्फल होता है। किन्तु इसके विपरीत पितृलौकिक दत्त वह दान है, जिसमें भूमिदान, अन्नदान आदि ऊपर लिखे सब दान बिना वेदमन्त्र के बिना जल के दिया जाता है और उसमें देश, काल, पात्र की विशेष अपेक्षा नहीं होती बल्कि ऊपर लिखे हुए के विरुद्ध मूर्ख, दरिद्री, अङ्ग-हीन, असमर्थ, अनाथ को देने से अधिक पुण्य होता है। इस प्रकार इन तीनों इष्ट, आपूर्त, दत्त, कर्मों के करने से देवस्वर्ग में न जाकर भी पितृस्वर्ग में जाता है, इस कारण से ये कर्म भी अच्छे गिने जाते हैं। इन तीनों कर्मों के अतिरिक्त जितने कर्म हैं वे सब पाप गिने जाते हैं और वे ९ प्रकार के हैं।

## (विकर्म अर्थात् विद्या विरोधी)

१–अतिपातक, २–महापातक, ३–अनुपातक, ४–पातक, ५–उपपातक, ६–जातिभ्रंशकर, ७–संकरीकरण, ८–मलिनीकरण, ९–अपात्रीकरण। इनमें पांच वे विद्याविरोधी संस्कार हैं, जिनका सम्बन्ध आत्मा की गति से है। आत्मा विद्यारूप है और वह विद्या अर्थात् विज्ञान या बुद्धि सूर्य रस से उत्पन्न होता है। इसलिये आत्मा में विद्या की अधिकता से अथवा विद्या विरोधी संस्कारों के आत्मा में न रहने से वह आत्मा स्वभावतः सूर्य की ओर गति करता है। अर्थात् उसकी गति पृथ्वी सूर्य के बीच में होकर सूर्य में खतम होती है, इससे ही अभ्युदय कहते हैं। किन्तु इसके विपरीत यदि आत्मा में कर्म्मजन्य ऐसे संस्कार हो गये हों जिनसे विद्या के प्रकाश का आवरण होता हो तो वह आत्मा में भार रूप होकर आत्मा को सूर्य की ओर न जाने देकर पृथ्वी और लोकालोक के बीच में होती है और लोकालोक में वह गति खतम होती है। ऐसे ही संस्कारों को पातक कहते हैं उससे आत्मा का पतन होता है, और उसे ही प्रत्यवाय कहते हैं।

इस प्रकार आत्मा का पतन जिन कर्मों से होता है, उन सब कर्मों को यद्यपि पातक ही कह सकते हैं किन्तु उनके बल के तारतम्य से पांच भेद किये गये हैं। सबसे अधिक गिराने वाले को अति-पातक, उससे कम गिराने वाले को महापातक इसी प्रकार क्रम से अनुपातक, पातक, उपपातक हैं। जैसे आत्मघात करना अतिपातक है, सुवर्ण चुराना महापातक, गुरुद्रोह करना अनुपातक, प्राणीमात्र का अनिष्ट करना पातक, ऐसा मिथ्याभाषण करना जिससे किसी को हानि न पहुँचे वह 'उपपातक' है। शेष ४ संस्कार आत्मा के पृथ्वीलोक में जन्म की विशेषता से सम्बन्ध रखते हैं। जिनसे आत्मा अपनी विद्य-मान योनि से गिरकर छोटी योनि में जन्म पावे। अर्थात् मनुष्य से पशु और पशु से कीट, क्रीमि आदि योनि परिवर्तन के कारण "जातिभ्रंशकर" कहते हैं। किन्तु यदि मनुष्य विद्यमान वर्ण मनुष्य में ही छोटे वर्णों में जन्म लेवे तो उसका कारण "संकरीकरण" है। ब्राह्मण का ब्राह्मण ही में जन्म लेकर भी यदि उसका प्राचीन उदाराशय नष्ट होकर नीचता आ जाय तो उच्च दशा से नीच दशा में हो जाय, दरिद्री,

दुःखी, हो जाय तो वह 'मलिनी कारण' है किन्तु ब्राह्मण या राजा अपनी ही जाति या कक्षा पर रहकर भी यदि प्रकृति का नीच दुष्ट हो जावे, समाज में उसकी दुर्वृत्ति कुपात्रता की निन्दा हो तो वह "अपात्री करण" है। इस प्रकार आत्मा के किसी न किसी प्रकार का पतन जिनसे होता हो वे सब पातक या पाप हैं।

इन सब पापों के अधीन मन, वचन और काय हैं। मन से किये हुए पाप का 'काम' ही पर विश्राम होता है इसलिये उसका भोग मन की आधि के द्वारा अर्थात् काम, क्रोध आदि के द्वारा ही उत्पन्न होकर आत्मा को भोगना पड़ता है। इसी प्रकार वचन का संस्कार वचन में ही रखकर गाली आदि वचनों द्वारा ही आत्मा भोगता है और काय का संस्कार शरीर में नाना प्रकार के रोग, व्रण, घात आदि के द्वारा आत्मा भोगती है। तात्पर्य यह है कि जिनके द्वारा आत्मा किसी प्रकार की अवनति पावे वह सब विकर्म हैं।

## (अकर्म)

अकर्म वह है कि जिससे आत्मा के उन्नति करने का समय या साधन आत्मा में न आ सकते हों ऐसे साधनों का आत्मा के साथ संयोग होने में जो कर्म विघ्न डाले वह सब अकर्म हैं। इनके द्वारा आत्मा की अवनति है, इसलिये ऐसे कर्मों को अकर्म कहते हैं। काम जन्य कर्म से आत्मा में जो संस्कार उत्पन्न होता है उसे शुक्र कहते हैं। यह शुक्र दो प्रकार का है एक सृष्टि की इच्छा से उत्पन्न और दूसरा भोग की इच्छा से उत्पन्न होने वाला। पहले शुक्र को माया कहते हैं, जो ईश्वर में पाया जाता है। किन्तु भोग की इच्छा से उत्पन्न शुक्र को अविद्या कहते हैं, यह ईश्वर में नहीं है। इसीलिये ईश्वर का भोगने के लिये परवश जन्म मृत्यु नहीं होते, किन्तु जीव में माया और अविद्या दोनों ही पाये जाते हैं। माया के कारण स्वतन्त्र जीव आत्मा, शोणित, मांस, अस्थि आदि को उत्पन्न करता है, किन्तु अविद्या के कारण परतन्त्र होकर नाना योनि धारण करके या नाना लोकों में जाकर के सुख दुःख भोगता है। इस प्रकार जीव में सृष्टि काम के शुक्र, भोग काम के शुक्र ( शुक्र काम से जो कर्म उत्पन्न हो ) दो प्रकार के शुक्र सिद्ध होते हैं, किन्तु इनमें दूसरा शुक्र फिर दो प्रकार का है। एक बन्धनरूप, दूसरा भोग-नाश्य। इनमें पहला क्लेश बीज कहलाता है और वह भोग पञ्चपर्वा अविद्या है। उसके अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पांच पर्व हैं। इसके कारण ही यह जीव आत्मा जीवात्मा है अर्थात् यह बन्धन-रूप क्लेश अनेक जन्म तक ज्यों का त्यों बना रहता है और इसी के कारण जीवआत्मा को सहस्रों बार जन्म मृत्यु के सिलसिले में परिभ्रमण करना पड़ता है। इस बन्धन या हृदग्रन्थि के छूटते ही जीवआत्मा जीवपने से मुक्त होकर तत्काल परमात्मा हो जाता है। किन्तु दूसरा शुक्र भोगनाश्य है। एक एक जन्म जीवन में अथवा सम्पराय में भोगने के कारण वे संस्कार नष्ट होते हैं। इस प्रकार इस जीव आत्मा में तीन प्रकार के शुक्र सिद्ध हुए। एक मायाशुक्र, दूसरा पञ्चपर्वा अविद्या, क्लेश, तीसरा भोगनाश्य शुक्र। इनमें अन्त के दोनों शुक्रों को भी कर्म कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है। एक कर्म जो कि शुक्र के पहले हो गया है वह प्रारब्ध कर्म है किन्तु ये दोनों शुक्र ( पञ्चपर्वा और भोगनाश्य ) संचित-कर्म है यह तत्काल भोग देने के लिए प्रारब्ध नहीं है अर्थात् प्रारम्भ नहीं किया है इसलिये संचित कह-

लाता है। तात्पर्य यह है कि कर्मों का प्रक्रम ( एक सिलसिला ) भेद से भेद है। जैसे ढेले में हाथ से दिया हुआ बल अनेक बार में न्यूनाधिक तारतम्य से या दिशाओं के भेद से भिन्न २ हो सकते हैं। उनमें एक बल अपना भिन्न २ समय लेता है, यही दृष्टांत आत्मा में जानना चाहिए। अर्थात् आत्मा एक बार की इच्छा से जितना बल प्रयोग करता है अर्थात् एक इच्छा ले जितना कर्म होता है उसका संस्कार रूपी शुक्र दूसरी इच्छा के कर्म से भिन्न रहता है और प्रत्येक शुक्र भिन्न २ प्रक्रम में भोग कराकर नष्ट होता है। ऐसी स्थिति में जो बल था शुक्र भोगने के लिए अपने प्रक्रम का आरम्भ कर देता है उस शुक्र को शुक्र न कहकर प्रारब्धकर्म कहते हैं। जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है। शेष जितने शुक्र हैं अर्थात् जिनका प्रक्रम भोगने के लिए प्रारम्भ नहीं हुआ है वे सञ्चितकर्म होने के कारण शुक्र के ही नाम से कहे जाते हैं। इन दो कर्मों के अतिरिक्त एक तीसरा कर्म आगामी कहलाता है, वह नया उत्पन्न होता है। अर्थात् प्रारब्ध कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगने से जैसा प्रारब्ध कर्म नष्ट होता रहता है उसी प्रकार उसी समय में पुण्य-पाप अर्थात् अच्छे बुरे कर्मों के करते रहने से नये २ संस्कार भी उत्पन्न होते रहते हैं। उन संस्कार रूपी शुक्रों को आगामी कर्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा में प्रारब्ध कर्म को छोड़कर शेष जितने संस्कार हैं, उन सबको शुक्र कहते हैं।

## ( मूलाविद्या )

इन शुक्रों के प्रथम जो तीन भेद कहे गये हैं अर्थात् एक सिसृक्षा याने सृष्टि की इच्छा और बुभुक्षा याने भोगने की इच्छा। यह बुभुक्षा बीजरूप और भोग्यरूप इस प्रकार दो भेद होने से शुक्र के तीन भेद सिद्ध होते हैं। इनमें सिसृक्षा के लिए कुछ वक्तव्य नहीं है, किन्तु बुभुक्षारूपी शुक्र जो अविद्या का स्वरूप है उसके दो प्रकार होने से वह अविद्या दो प्रकार की मानी जाती है। मूलाविद्या और दूसरी तूलाविद्या। इन दोनों में मूलाविद्या बीजरूप है जिसके कारण यह जीवात्मा, जीवात्मा बनकर परतन्त्र होकर संसार समुद्र के भ्रमर में पड़कर जन्म मृत्यु के चक्र में भ्रमण करता है। यह मूलाविद्या हृद्ग्रन्थि बन्धन है, यह हृद्ग्रन्थि अनेक होने पर भी मुख्यतया जीवआत्मा में तीन है। क्षेत्रज्ञआत्मा, महानुआत्मा, भूतआत्मा। ये तीनों, कार्य में आत्मा भिन्न २ स्वरूप भिन्न २ तन्त्र संस्था रखने पर भी किसी एक मूलाविद्या सूत्र के द्वारा तीनों के परस्पर तीन ग्रन्थि ऐसी बंधी हैं कि जिनके द्वारा ये तीनों एक होकर परस्पर के तीनों लोकों में अर्थात् पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य में यातायात ( आना जाना ) करते रहते हैं। ये तीन ग्रन्थियाँ एक प्रकार के बन्धन का कारण ( हेतु ) है। अब इन तीनों के प्रत्येक में दो दो भाग है, अमृत और मृत्यु। बाह्य पुद्गलरूप शरीर मृत्यु भाग है, किन्तु उसमें परिव्याप्त प्राणरूप अमृतभाग है। इस अमृत भाग से ही मृत्यु भाग धीरे २ उत्पन्न होता रहता है। जिस प्रकार कोषकार कीट अपने नाना तन्तुओं से अपने ऊपर अपनी रक्षा के वास्ते कोष रूपी घर बनाता है और उससे अपने को सुरक्षित करना चाहता है किंतु उसकी अज्ञानता से किसी समय वह कोष इस प्रकार जटिल ( जालदार ) और घन बन जाता है कि जिसमें फसकर वह कीट अपना प्राण दे देता है, इसी प्रकार यह अमृतआत्मा अपनी ही मन की इच्छा से अपना ही प्राण लगाकर अपने ही वाक् भाग को परिवर्धित ( बढ़ाकर ) और परिवर्तित करके अपना आवरण मृत्युमय शरीर बनाकर उस अधिष्ठान ( घर, जगह ) में रहकर भोगने की लालसा करता है। किन्तु कभी २ अविद्या के प्रबलता के कारण वह आवरण शरीर ऐसा जटिल और घन बन जाता है कि

जिसके कारण वह चेतनआत्मा अपनी चेतनता को नष्ट कर पाषाण आदि जड़रूप में दिखाई देता है।
किन्तु कभी २ यदि उसमें विद्या की हानि नहीं होती तो उस अपने ये बना हुये मृत्यु रूपी आवरण से
उकताकर उसको छोड़ दिया करता है। कांचली ( कञ्चुक=केचुआ ) को छोड़कर सर्प के अनुसार शरीर
को छोड़कर यह आत्मा शुद्ध रूप में अलग हो जाता है। किन्तु फिर अपने स्वभाव से अपना आवरण
रूप वैसा ही शरीर बनाने लगता है इस प्रकार बनाये हुए अपने शरीर रूपी मृत्युभाग से उस अमृतभाग
का एक हृदग्रन्थि बन्धन अविद्या सूत्र से ही उत्पन्न होता रहता है और टूटता रहता है। इस अमृतमृत्यु
भाग के परस्पर बन्धन टूटने को मृत्यु या देहान्त कहते हैं।

## ( शरीर आत्मा के तीनों लोकों में भ्रमण के तीन कारण )

ये तीनों मर्त्य भाग ही तीनों लोकों में यात्रा या स्थिति के कारण हैं। अर्थात् भूत आत्मा के मर्त्य
भाग के कारण उसका अमृत भाग मर्त्य भाग से बद्ध होकर पृथ्वी लोक में रहता है क्योंकि इस मर्त्य भाग
की ग्रन्थि इस पृथ्वी से है। पृथ्वी से अलग पाञ्चभौतिक शरीर कहीं भी चन्द्रमा, सूर्य आदि लोकों में न
जा सकता है, और न रह सकता है, उस पाञ्चभौतिक शरीर से हृदग्रन्थि बन्धन के कारण भूतआत्मा
का अमृतभाग भी पृथ्वी लोक में बना रहता है। किन्तु भूतात्मा के अमृत, मृत्यु की ग्रन्थि टूटने पर मृत्यु
शरीर को पृथ्वी में छोड़कर अमृतआत्मा चन्द्रमा में जाता है। क्योंकि भौतिक मृत्यु के आवरण नष्ट होने
पर उस आत्मा में सौमिक मृत्यु भाग ही शरीर से आवरण शेष रहता है और उस सौमिक मृत्यु भाग की
सोम के कारण चन्द्रमा से हृदग्रन्थि है और उस सौमिक मृत्युभाग का सौमिक अमृतभाग से हृदग्रंथि बंधन
है, वह जब तक न टूटे उस आत्मा को चन्द्रलोक में रहना पड़ता है। सौमिक अमृत, मृत्यु की ग्रंथि टूटने
पर सौमिक मृत्यु को चन्द्रमा में छोड़कर वह अमृत आत्मा सूर्य में चला जाता है। सूर्य में जाने के लिए
उस आत्मा में सौर मृत्युभाग का शरीररूपी आवरण ही कारण है। उस ओर मृत्युभाग की सूर्यमण्डल के
साथ हृदग्रन्थि रहती है, और उस मृत्यु भाग के साथ अमृतआत्मा की ग्रन्थि है इसके कारण जब तक उस
सौर आत्मा के अमृत मृत्यु की ग्रन्थि न टूटे तब तक सूर्यलोक में आत्मा रहती है। संभवतः उस अमृत
मृत्यु की भी ग्रन्थि यदि टूट जाय तो फिर कोई मृत्यु उस आत्मा में शेष नहीं रह जाती। इसलिए आत्मा
केवल शुद्ध अमृतभाग ही शेष रह जाता है यही आत्मा का "कैवल्य" है और इस प्रकार "भौतिक स्थूल
शरीर" "सौमिक सूक्ष्मशरीर" और " सौर कारणशरीर" इन तीनों मृत्यु के आवरणों से मुक्ति को ही
मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार अमृत मृत्यु की तीनों हृदग्रन्थि या भूतात्मा का महान् क्षेत्रज्ञ से हृदग्रन्थि के
टूटने पर शुद्धआत्मा सच्चिदानन्द रूपी ईश्वर में लय हो जाता है। जब तक इन सब हृदग्रन्थियों के जाल
से बंधा हुआ आत्मा पृथ्वीलोक में था तब भूतात्मा कहलाता था। भूत भाग से मुक्ति होने पर शेष आत्मा
चन्द्रमा में रहकर महान्आत्मा कहलाता था। सोम से भी मुक्त होने पर शेष आत्मा सूर्य में जाकर क्षेत्रज्ञ-
आत्मा ही कहलाने लगा। किन्तु वहां पर भी सूर्यरस से मुक्त होने हर शेषआत्मा न भूतात्मा रहा, न
महान्आत्मा, न क्षेत्रज्ञआत्मा। सब आवरण, सब बन्धन, सब क्लेशों से मुक्त होकर वह शुद्ध अमृतब्रह्म
हो जाता है। पृथ्वी, चन्द्र या सूर्य इन तीनों लोकों में गति के या स्थिति के निमित्त स्थूल, सूक्ष्म और

कारण यही तीन शरीर थे। इन तीनों मर्त्य शरीरों के न रहने पर आत्मा पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य इन तीनों लोकों में यातायात नहीं कर सकता यही मुक्ति का कारण है।

## ४–प्रेत्यस्थिति

### (प्रेत्य = मरने के उत्तर याने पीछे। अनुशय के नाश का अभाव)

यहां पर यह प्रश्न हो सकता है कि हमारी आत्मा चार आत्माओं की बनी हुई है। सबसे बाहर भूतआत्मा उसके भीतर क्षेत्रज्ञआत्मा और उसके भीतर चिदात्मा है। इस चिदात्मा को छोड़कर पीछे की तीन आत्माओं के अमृत और मृत्यु ये दो दो भाग हैं। भूतात्मा के भौतिकशरीर टूटने पर उसका अमृत-भाग कहां गया यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता क्योंकि चन्द्रमा में गए हुए आत्मा को महान्आत्मा कहा है जो कि भूतआत्मा के दोनों भागों से पृथक् है। इसी प्रकार महान् का भी सौमिकशरीर छूटने पर क्षेत्रज्ञआत्मा सूर्य में गया, किन्तु महान् का अमृतआत्मा कहां गया यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता तो इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि इन पहले की तीनों आत्माओं में मर्त्यभाग दो प्रकार के हैं। एक शरीररूप और दूसरा अनुशयरूप। इनमें केवल शरीर का ही त्याग होता है, किन्तु अनुशय का त्याग नहीं होता। कारण यह है है कि इन तीनों आत्माओं में भूतात्मा ही कर्म आत्मा है अर्थात् कर्मजन्य संस्कार इस भूतात्मा में ही होते हैं और यही आत्मा सुख दुःख भोगता है। इसलिए जब तक मोक्ष की अवस्था न हो अर्थात् कर्म संस्कार के बने हुए सब मृत्यभागों से मुक्त होकर शुद्ध विद्यारूप न हो तब तक उस भूतात्मा में कर्म सर्वथा निवृत्त नहीं होते इस से वह कर्म भोग उत्पन्न करने के लिये बीजरूप से अवश्य ही भूतात्मा में रहता है, उसी बीज को अनुशय कहते हैं, तो ऐसी दशा में पृथ्वी में स्थूलशरीर छूटने पर भी उस शरीर का अनुशय रूप मर्त्यभाग आत्मा से नहीं छूटता। इसलिए अमृत, मृत्यु दोनों भागों का बना हुआ भूतात्मा ही रहता है इसी प्रकार चन्द्रमा का बना हुआ सौम्यशरीर चन्द्रमा से छूटने पर भी उसका अनुशय आत्मा से नहीं छूटता। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ का शरीर छूटने पर भी उसका अनुशय आत्मा से नहीं छूटता। तात्पर्य यह है कि जैसे यहां पृथ्वी में भूतआत्मा में महान् और उसमें क्षेत्रज्ञ, इस प्रकार तीनों मिले हुए रूप में हैं उस प्रकार चन्द्रमा में और सूर्य में भी उन तीनों आत्माओं का मिलाव है। यही कारण है कि जो आत्मा पृथ्वी पर था वही चन्द्रमा या सूर्य पर गया ऐसा कहा जा सकता है। यही भूतात्मा चन्द्रमा में नहीं जाता और महान् भी सूर्य में नहीं जाता तो एक ही आत्मा का तीनों लोकों में परिभ्रमण कहना अनुचित होगा। अलबत्ता एक ही आत्मा रहने पर भी उसका इन तीनों स्थानों में तीनों आत्मा की बनी हुई शरीर की विशेषता अवश्य रहती है। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् भी तीनों आत्माओं के अमृत और मृत्युभाग पृथ्वी में जीवन के अनुसार ही बने रहते हैं और उसी मर्त्यभाग के स्त्री के उदर में शुक्र, शोणितरूपी मर्त्य-भाग के साथ यह भूतआत्मा चन्द्रमा से आकर मिल जाता है।

किन्तु यह ऊपर की अनुशय की कथा उसी दशा में जाननी चाहिए जब तक कर्मों की वासना नष्ट न होने से आत्मा भोग चक्र या जन्म मृत्यु के चक्र में परिभ्रमण करता हो। कर्मों के संस्कार नष्ट हो हो कर आत्मा शुद्ध विद्यारूप हो जावे तो उस समय की यात्रा में भूतात्मा का स्थूलशरीर छूटने पर

उसका अनुशय भी जाता रहता है। तो उसका अमृत भाग उपाधि निर्मुक्त होकर महान् के अमृत भाग में लीन हो जाता है और बिना भूतात्मा के महान्आत्मा चन्द्रमा में जाता है। इसी प्रकार वहां भी सौमिक-शरीर छूटने पर उसका अनुशय भी छूट जाता है, और महान् का अमृतभाग क्षेत्रज्ञ के अमृत भाग में लीन हो जाता है। महान् के बिना ही एक क्षेत्रज्ञ रह जाता है, इसका भी शरीर और अनुशय दोनों नष्ट होने पर उसका अमृतआत्मा शुद्ध चिदात्मा रूप रह जाता है, यही मुक्ति है।

## (भिन्न लोकों में भिन्न शरीर)

जब तक अनुशय निवृत्त नहीं होता तब तक पृथ्वी में आने पर भौतिक अनुशय ही पृथ्वी से पञ्च-भूतों को ग्रहण करके नया शरीर बनाता है और इस प्रकार शरीर संयुक्त होने को ही पृथ्वी में जन्म कहते हैं। किन्तु पृथ्वी से दूसरे लोकों में जाने के समय पृथ्वी का भौतिक शरीर पृथ्वी पर ही रह जाता है। केवल अनुशय लेकर चन्द्रमा में जाता है वहां भी सोम के अनुशय भाग से चन्द्रमा का रस संमिलित होकर एक सौमिक शरीर बनाता है। उसी शरीर से चन्द्रमा में कुछ समय तक जीवन निर्वाह करता है, वह शरीर भी चन्द्रमा से अन्यत्र नहीं जा सकता। इसी कारण चन्द्रमा दूसरे लोक जाते समय उस शरीर को छोड़कर केवल अनुशय को लेकर सूर्य या पृथ्वी में आता है। सूर्य में भी वहां के अनुशय के कारण सूर्य का मिश्रित होकर सौर शरीर बनाता है और उसी शरीर से कुछ समय तक सूर्य में स्थिति रखता है किन्तु सूर्य से दूसरे लोक में जाते समय उस और शरीर को वही छोड़कर केवल वहां के अनुशय को लेकर जाता है। यही कर्म बन्धन चक्र में परिभ्रमण का क्रम है, और ये ही भिन्न-भिन्न तीन शरीर इन तीनों लोकों में जीवन के लिये स्थिति के कारण हैं।

## (लोकों में बीच की स्थिति)

अब यहां प्रश्न यह होता है कि पृथ्वी से शरीर छूटने पर और चन्द्रमा में नया शरीर धारण करने के पहले इस बीच की दशा में इस आत्मा का कोई शरीर रहता है या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार होगा कि प्रथम भूतआत्मा में ३ भाग हैं वैश्वानर, तेजस, प्राज्ञ इनमें वैश्वानर प्राण और प्राज्ञ ये दोनों ही साथ ही शरीर में प्रवेश करते हैं, साथ ही रहते हैं और साथ ही शरीर से बाहर जाते हैं ऐसा ही कौषितक ऋषि ने सिद्धान्त किया है। उसमें प्रज्ञा से चेतना बनी रहती है, और वैश्वानर–अग्नि के सम्बन्ध से पांचों भूतों का अनुशय साथ रहता है। इसी अनुशय के कारण से आकाश में जाते समय वायु के द्वारा पांचों भूतों के कुछ-कुछ अंश अपने आप उस अनुशय में आ लगते हैं। जिस प्रकार वायु द्वारा वस्त्र पर या घर में गर्द जम जाता है उसी प्रकार पञ्च भूतों का एक स्तर जम जाने से वही उस वैश्वानर या प्रज्ञात्मा का शरीर बन जाता है। इस शरीर को यातना (तकलीफ) शरीर या भोग शरीर कहते हैं। जब तक दूसरे लोक में वहां के तत्त्वों को लेकर आत्मा नया शरीर ग्रहण न करें तब तक यह भोग शरीर नहीं मिटता किन्तु नरक लोक में जाने पर यह नया शरीर नहीं छूटता इसी भोग शरीर से नरक का भोग पाता है, इसलिये इस शरीर को विशेष रूप से यातना शरीर कहते हैं। सूर्य आदि लोकों से प्रत्यावर्तन के समय चन्द्रमा में होकर जब यह आत्मा पृथ्वी की ओर आता है तो फिर वायु द्वारा

पूर्ववत् नया भोग शरीर उत्पन्न हो जाता है। कितनों ही का मत है कि यह वायु पृथ्वी से ऊपर बहुत ही थोड़ी दूर हैं, चन्द्रमा में वायु सर्वथा नहीं है, परन्तु यह मत विशेष आदरणीय नहीं है प्रत्युत भ्रमपूर्ण है। यह विश्वास रखना चाहिये कि आकाश का तिलमात्र प्रदेश भी कहीं वायु से शून्य नहीं है अलबत्ता पृथ्वी चन्द्र सूर्य आदि घन पिण्डों के चारों ओर यह वायुस्तर कुछ स्थूल हो जाता है। किन्तु शेष स्थानों में अति सूक्ष्मरूप से स्तब्ध (डटा हुआ) रहता है यही सूक्ष्म वायु होने का कारण है, कि आधुनिक यन्त्रों में वायु का सञ्चार स्पष्ट रूप से न मालूम होता हो पर्वतों के उच्च शिखर पर जाने से श्वास में बाधा पड़ती है वह आक्सीजन की कमी के कारण है न कि सर्वथा वायु के अभाव से चन्द्रमा में भी वायु है और यहां भी जीव हैं, विष्णु पुराण में लिखा है—

**अङ्गुलस्याष्ट भागोपि, न सोऽस्ति मुनि सत्तम ।**
**न सन्ति प्राणिनो यत्र, कर्मबन्ध निबन्धना ॥१॥**
**स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मैः सूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैरपि ।**
**स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्वं प्राणिभिरावृतम् ॥२॥**

इस सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी से चन्द्रमा तक जाने में अथवा चन्द्रमा से पृथ्वी तक आने में पञ्च-भूत के संयोग से एक कल्पित शरीर हो जाता है। किन्तु उस शरीर में विशेषता यह है कि पृथ्वी पर जन्म लेने के पश्चात् यह भौतिक शरीर जिस प्रकार जीवन काल में बढ़ता घटता रहता है, उस प्रकार वह भौतिक शरीर नहीं बढ़ता है। पाषाण खण्ड के अनुसार १३ नक्षत्र मास तक समान भाव से रहता है, अर्थात् बाल्य, युवा आदि अवस्था का परिवर्तन नहीं होता। जिस अवस्था की आत्मा प्रेत होती है उसी अवस्था में रहती हैं इसका कारण यह है कि इस भूतात्मा में जिस प्रकार वैश्वानर और प्राज्ञ आत्मा बने रहते हैं, उस प्रकार तैजस आत्मा नहीं रहता। तैजस आत्मा सूर्य, चन्द्र और विद्युत् से बनी हुई है। तैजस आत्मा में सूर्य चन्द्र का भाग अलग होकर केवल विद्युत् का भाग ही साथ रहता है। किन्तु बढ़ने घटने की शक्ति वृक्ष या प्राणियों का ऊपर की ओर उठाना या शरीर का फैलाव इस विद्युत् में सूर्य चन्द्र के रस के याज्ञिक संयोग से होती है। प्रेतात्मा में सूर्य, चन्द्र के रस नष्ट होने से वह ऊपर जाने की शक्ति जाती रहती है। इस वास्ते यह यातना शरीर ज्यों का त्यों समान भाव से बना रहता है। इस सम्बन्ध में यातना शरीर की उत्पत्ति या परिवर्तन का क्रम मनुस्मृति के १२ अध्याय में १६ से २२ श्लोक तक विशद्रूप से निरूपण किया है। इस प्रकार भूतात्मा की प्रेत अवस्था में उसके साथ महान् आत्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा भी अवश्य ही रहती है। किन्तु यदि वह आत्मा चन्द्रमा या पितृ स्वर्ग में भोग को भोगकर यदि सूर्य में जाती है, तो उसके साथ महान्आत्मा रहती है या नहीं यह विषय विचाराधीन है। किन्तु अधिक सम्भव यही है कि जब तक ब्रह्मपथ अर्थात् मुक्तिमार्ग में यह भूतात्मा न जावे, तब तक इस भूतात्मा का महान् और क्षेत्रज्ञ इन दोनों आत्माओं से सम्पर्क (मेल) नहीं छूटता ऐसा ही मनु ने कहा है—

**तौ धर्मं पश्यतस्तस्य, या पञ्चातन्द्रितौ सह ।**
**याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखाऽसुखम् ॥**

तात्पर्य यह है कि महान् और क्षेत्रज्ञ ये दोनों आत्मा इस भूतात्मा के पाप और पुण्य को बड़ी सावधानी से साथ रहकर देखते रहते हैं। जिन दोनों के साथ मिलकर यह भूतात्मा मृत्यु के पश्चात् या पहले इस मनुष्य जीवन में भी सुख दुःख भोगता है यह मनुका सिद्धान्त उचित भी प्रतीत होता है क्योंकि क्षेत्रज्ञ आत्मा सम्बन्धी विज्ञान के विचार से ही समझ बूझ कर यह भूत आत्मा पाप पुण्य करता है, इस-लिये पाप पुण्य का संस्कार उत्पन्न होने में भी उस विज्ञान का सहयोग आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह पाप पुण्य संस्कार विशेषकर महान् आत्मा में उत्पन्न होता है, क्योंकि महान् आत्मा में ही अहङ्कार ही इन संस्कारों को उत्पन्न करता है। 'मैंने किया' ऐसा अहङ्कार यदि विज्ञान आत्मा में न हो तो संस्कार उत्पन्न ही नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि विज्ञान, महान् और भूतात्मा इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध से जो एक आत्मा का स्वरूप बनता है उसी में परस्पर के कार्य कारण भाव से कर्मों के संस्कार उत्पन्न होते हैं यदि ये तीनों आत्मा पृथक्-पृथक् हो जायँ तो किसी कर्म का संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता इसलिये मानना होगा कि मनुष्य जीवन के अनुसार मृत्यु के पश्चात् भी चन्द्रलोक या सूर्य लोक में भी ये तीनों आत्मा साथ रहते हैं, इसलिये उसे अपनी योनि का ज्ञान और अपने किये हुए पाप पुण्य का अभिमान भी बना रहता है।

## ५--गतिमार्ग

### (१--शरीर के भीतर आत्मा का गतिमार्ग)

इस भूतात्मा में प्रधान प्रज्ञात्मा विज्ञान आत्मा से संयुक्त होकर ही इस शरीर में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्था धारण करके विहार करता है किन्तु जिस प्रकार कोई रथी किसी रथ पर सवार होकर विहार करता हुआ अन्त में कभी उस रथ को छोड़ देता है। उसी प्रकार यह विज्ञान सहित प्रज्ञान इस शरीर रूपी रथ को छोड़कर दूसरे रथ का अन्वेषण ( तलाश ) करता है। इस रथ के छोड़ने का कारण यह है कि इस शरीर में अनुमान ३ ॥ करोड रोमकूप हैं इनके अतिरिक्त और भी शरीर में बड़े-बड़े छिद्र हैं। इन्द्रियादि इन सूक्ष्म, स्थूल छिद्रों के द्वारा शरीर की अग्नि या शरीर के मैल पसीने रूप में प्रतिक्षण बाहर निकलते रहते हैं। जिसके घर्षण से ये छिद्र धीरे-धीरे चौड़े होते जाते हैं जिसके कारण पूर्व अपेक्षा पश्चात् अधिक अग्नि का क्षय होता रहता है। तात्पर्य यह है कि २५ वर्ष तक अन्नादि के भोजन से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह इन छिद्रों के द्वारा अग्नि क्षय की अपेक्षा अधिक होने के कारण बच रहती है, वह शरीर के अङ्गों की वृद्धि में या पुष्टि में काम आती है। २५ से ४० तक वृद्धि बन्द होकर पुष्टि होती रहती है। ४० से ७० तक आगम निगम ( आमद खर्च ) बराबर होने से शरीर की वृद्धि और पुष्टि बन्द हो जाती है। ७० के पश्चात् आगम की अपेक्षा निर्गम अधिक होता है जिससे शरीर में मांस की कमी के साथ-साथ अग्नि भी कम होती जाती है। अग्नि के कम होने से अन्न के ग्रहण करने की शक्ति भी कम होती जाती है। इस प्रकार अन्न की कमी और फिर उसकी भी पाचन की कमी से अग्नि में अन्न की आहुति की न्यूनता के कारण आध्यात्मिक यज्ञ धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है। यह यज्ञ ही प्रज्ञान की स्थिति का मुख्य कारण है। यज्ञ का वास्तव स्वरूप नष्ट होने पर इस शरीर के कितने ही अंश सड़कर अनात्मिक हो जाते हैं। जिनके दबाव से व्याकुल होकर उन से घृणा करके प्रज्ञान-आत्मा

इस शरीर रूपी रथ को छोड़ देता है और दूसरे नवीन दृढ़ रथ का अन्वेषण करता है। उस समय यह प्रज्ञान आत्मा शरीर के प्रत्येक अङ्ग को इस प्रकार छोड़ता है जैसे कोई फल पकने पर अपनी टहनी को छोड़कर नीचे पृथ्वी की ओर गिरता है। उसी प्रकार यह प्रज्ञान आत्मा शरीर को छोड़कर ऊपर आकाश की ओर उड़ता है। किन्तु प्रथम यह पांव की ओर हटता हुआ सर्वाङ्ग शरीर से धीरे-धीरे हृदय के अग्रभाग में एक तिल मात्र ज्योति को लेकर प्रकाशित होता है, उस समय सर्वाङ्ग शरीर को स्पर्श करने पर कहीं भी ज्ञान उद्‌बोध न होते हुए भी केवल हृदय में कुछ होश रहता है और नाड़ी की फड़कन बन्द होने पर भी हृदय की धड़कन बनी रहती है। अन्त में हृदय को छोड़कर जाते समय ये सब इन्द्रियां और मुख्य प्राण और पञ्चभूतों का अनुशय, वैश्वानर और विद्युत् इन सब को साथ लिये हुए प्रज्ञान आत्मा हृदय को लात मार कर ऊपर जाता है। नित्य उसके साथ रहने वाला महान् और विज्ञान-आत्मा भी प्रज्ञान के साथ चला जाता है। प्रज्ञान आत्मा यदि पापी है तो पाप के बोझसे दबकर हृदय के नीचे किसी न किसी अङ्ग से निकलता है। पाप पुण्य समान होने पर हस्त आदि के द्वारा निकलता है, और उत्तम जीवों की आत्मा मुख, चक्षु, श्रोत्र या मस्तक के मार्ग से निकल जाता है। उसके निकलने के लिये हृदय से चारों ओर नीचे ऊपर फैले हुए जो हितानाम की नाड़ियां जो पहले कही जा चुकी हैं, उन्हीं नाड़ियों के नीचे या ऊपर किसी ओर प्रज्ञात्मा निकलता है। यही हितानाड़ी शरीर से बाहर निकलने के लिये इस भूतात्मा का शरीर के भीतर सबसे प्रथम गति का मार्ग है।

## (२–स्थूल शरीर छोड़ते समय आत्मा के सूक्ष्म शरीर का परमाणु)

इस भूतात्मा की सब मिलकर ७ अवस्थायें होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मोह, मूर्छा, मृत्यु और मुक्ति इनमें मूर्छा, सुषुप्ति और मुक्ति इन तीनों दशा में आत्मा–धूम, ज्योति, जल, वायु, मेघ आदि के अनुसार अशरीर होता है। क्योंकि आत्मा के निजरूप में कोई शरीर नहीं है। किन्तु जाग्रत् या मोह अवस्था में बाह्य स्थूलशरीर का अभिमान रखता हुआ आत्मा स्थूलशरीर परिच्छिन्न होता है, केवल नखाग्र और केशाग्र को छोड़कर सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त रहता है। इसलिये शरीर का परिमाण ही उस आत्मा का परिमाण है। अवशिष्ट दो अवस्था स्वप्न और मृत्यु-इन दोनों में यह आत्मा अङ्गुष्ठ परिमित शरीर रखता है। यह आत्मा यद्यपि अङ्गुष्ठ परिमित ही इस शरीर में सर्वदा रहता है, किन्तु वही इस विशाल शरीर में सूक्ष्मरूप से पसर ( फैल ) कर अधिक देश व्यापी हो जाता है। किन्तु इस स्थूलशरीर का सम्बन्ध छूटने पर फिर वह अपने परिमाण में आकर अङ्गुष्ठ परिमित हो जाता है। स्वप्न अवस्था में भी यह आत्मा इसी अङ्गुष्टमात्र शरीर से विचरता है और मृत्युकल में भी अङ्गुष्ठ-मात्र शरीर से ही इस स्थूलशरीर से बाहर होता है इसीलिये सावित्री सत्यवान् के उपाख्यान में पुराणों में लिखा है—

**अथ सत्यवतः कायात्, पाशबद्धं वशङ्गतम्।**
**अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं, निश्चकर्म यमोवलात् ॥१॥**

यद्यपि प्राज्ञात्मा अपने स्वरूप से अशरीर होने के कारण कुछ भी आयतन नहीं रखता तथापि भूतों का अनुशय, पञ्चदेवता, छन्द, स्ताम आदि दश अवयव का विराट् महान्‌आत्मा, क्षेत्रज्ञआत्मा आदि

कितने ही कर्म वासना संस्कार के सम्बन्ध से वह यज्ञात्मा अशरीर भी सशरीर बना हुआ निकलता है। इन्हीं शरीर के अवयवों के कारण इस भूतात्मा में गुरुता, लघुता भी देखी गई है। लघुता से ऊपर की ओर गुरुता से नीचे की ओर गति होती है। इसी शरीर का आयतन अङ्गुष्ठ मात्र कहा गया है।

## प्रत्ययज्ञान

## ( मृत्यु के पश्चात् इन्द्रियजन्य ज्ञान )

भूत आत्मा शरीर से बाहर निकलते समय पांचों इन्द्रिय प्राणों को साथ ले जाता है। उस समय इन इन्द्रियों का अग्नि, वायु, सूर्य, दिक् चन्द्र–इन पांचों देवताओं के साथ जो चक्कर इन्द्रियों से देवताओं तक और देवताओं से इन्द्रियों तक*प्रतिसन्धान सम्बन्ध जीवनकाल में बना हुआ था वह टूट जाता है इसी कारण जिस प्रकार आंख बन्द करने से सूर्य रश्मि का प्रतिसन्धान सम्बन्ध नष्ट होने के कारण दृष्टि नहीं होती, उसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् पांचों देवताओं का सम्बन्ध टूटने के कारण किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न नहीं होना चाहिये था, तथापि पांचों इन्द्रिय प्राणों के साथ छठा मुख्य प्राण जिसे इन्द्र कहते हैं, जिससे पांचों इन्द्रियों का सम्बन्ध है वही उस समय पूर्वोक्त पञ्चभूतानुशय की मात्राओं को लेकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का उद्‌बुद्ध करता है। जिससे स्मरणकालीन ज्ञान के अनुसार उस समय अर्थात् पृथ्वी को छोडने के पश्चात् चन्द्रमा में पहुंचने तक किञ्चित्-किञ्चित् इन्द्रिय जन्य-ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। वैश्वानर के बने रहने से प्राज्ञात्मा का मुख्य प्राण के साथ सहयोग बना रहता है। किन्तु तैजस प्राण का सूर्य रस चन्द्र रस नष्ट होने के कारण केवल विद्युत् ही मन का सञ्चालन किया करता है। तात्पर्य यह है कि जिस समय इन्द्रियजन्य ज्ञान होते हैं, मन का भी व्यापार होता है जिससे मन पर उन पांचों विषयों का संस्कार उत्पन्न हो जाता है। मृत्यु के पश्चात् बाह्यजगत् में शब्द, स्पर्श आदि विषयों का संयोग यथार्थ स्पष्ट न होने से केवल मन के उन संस्कारों को ही लेकर स्मरण मात्र ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नहीं होता इसलिये यथार्थ ज्ञान न होकर मलिन ज्ञान होता है।

## शुक्ल, कृष्णमार्ग

आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनों से त्रिधातु है। इनमें मन ज्योति स्वरूप है. किन्तु शेष अज्योति हैं। यह सम्पूर्ण जगत् ज्ञान, क्रिया अर्थात् इन तीन स्वरूपों में बटा हुआ है, और ये तीनों ही मन, प्राण, वाक् से उत्पन्न होते हैं इनमें ज्ञान का भाग प्रकाश स्वरूप होने से शुक्ल कहा जाता है और अर्थ अज्योति होने से कृष्ण कहलाता है। किन्तु प्राण दो प्रकार का है जो मन के भावों को पुष्ट करता है वह 'अच्छ' है वाक् की पुष्टि करने वाला 'अनच्छ' है इसी कारण प्राणजन्य कर्म भी दो प्रकार के हुये। ज्ञान को उत्पन्न करने वाला अथवा ज्ञान का सहकारी हो ऐसे कर्मों को पुण्य कहते हैं, और आत्मविरोधी धर्मों को उत्पन्न करने वाले अथवा ज्ञान का नाश करने वाले हों ऐसे कर्मों को पाप कहते हैं। पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण है। काम और शुक्र और भूतों के पांच गुण ये तीनों ही वाक् के विकार हैं,

———

❀ चक्कर इन्द्रियों से देवताओं तक और देवताओं से इन्द्रियों तक।

इसलिये पाप होने पर भी ज्ञान के सम्बन्ध होने न होने से इसमें भी तारतम्य है । अर्थात् काम 'अच्छ' हैं, भूतगण 'अनच्छ' है, किन्तु पुण्य कर्मों का शुक्र 'अच्छ' और पाप कर्मों का शुक्र 'अनच्छ है और इसी प्रकार अर्थ भी जो वाक् के विकार हैं वे तीन प्रकार के हैं । स्वतःप्रकाश, परप्रकाश, रूपप्रकाश या अ-प्रकाश । इनमें आदि के दो जो अच्छ हैं वे शुक्ल कहे जाते हैं और तीसरा अनच्छ होने से कृष्ण कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा से लेकर जगत् का प्रत्येक पदार्थ दो भागों में बटा हुआ है । जो स्वयं प्रकाशवान् है, या प्रकाशवान् से सम्बन्ध रखता है वे सब शुक्ल हैं और शेष जो प्रकाश विरोधी हैं वे सब कृष्ण हैं।

इस व्यवस्था के अनुसार गति के मार्ग भी दो प्रकार के होते हैं । देवयान, पितृयान—शुक्लमार्ग को देवयान, और कृष्णमार्ग को पितृयान कहते हैं । इन दोनों मार्गों का शरीर में ही आत्मा के उत्क्रमणकाल से प्रारम्भ होता है ।

इस आत्मा को उत्क्रमणकाल में इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग पर सवार होने के लिये कई कारण होते हैं, जिनमें दो मुख्य हैं, एक अवस्था, दूसरा कर्म । अवस्था जैसे स्वप्न की दशा में अथवा सुषुप्ति की दशा में जब कि प्रज्ञान आत्मा को साथ लेकर विज्ञानआत्मा पुरीतत नाड़ी में चला जाता है तो यदि उसी समय प्राण का उत्क्रमण हो जाय तो कृष्णमार्ग होता है । क्योंकि सोते से जागते समय जिस प्रकार प्रज्ञान, विज्ञान दोनों आत्मा एक बारगी भूतों में दौड़ आते हैं उसी प्रकार उत्क्रमण या मृत्यु में भी उन्हीं भूतों में अङ्ग २ में पृथक् २ समा जाते हैं और भूतों में ही ज्ञान या चेतना से भ्रष्ट होकर लीन हो जाते हैं । भूत के तम में प्रवेश होने के कारण वह आत्मा कृष्ण मार्ग पर सवार हो जाता है, किन्तु उसकी गति नहीं होती । कृष्ण मार्ग पर आरूढ़ होकर भी इस भूतमय पृथ्वी के इर्द गिर्द भूवायु में परिभ्रमण करता रहता है । यदि उस आत्मा में जीवनकाल के पुण्य कर्मों का बल हो तो वे पुण्यकर्म धीरे २ उस आत्मा को अन्धकार से प्रकाश में लाने की चेष्टा करते हैं, और अन्त में किसी समय प्रकाश में आकर गति वाली वह आत्मा हो जाती है । कर्मानुसार लोक लोकांतरों में कर्म भोग करके कदाचित् जन्म लेती है यह एक कृष्णमार्ग का उदाहरण है । इसी प्रकार कितनी और भी अवस्थायें हैं जिनमें भी ऊपर लिखे अनुसार आत्मा विह्वल होकर कृष्ण मार्ग पर सवार होता है, और उसकी भी गति नहीं होती । वे अव-स्थायें ये हैं—विषप्रयोग, भृगुपतन, अर्थात् ऊपर से गिर पड़े, तरुनिपातन, जलमज्जन ( डूबना) अग्निदहन भयविह्वलता, पृष्ठेहत ( अर्थात् लड़ाई में खेत छोड़कर भागता हुआ मारा जाय ) इस प्रकार की और २ हालतों में भी आत्मा की गति नहीं होती किन्तु इनमें आत्मघात की इच्छा न रहने से अगति कही गई है । किन्तु यदि आत्महत्या की इच्छा से मरे तो उसकी घोर नरक में गति होती है, जैसा कि वेद में लिखा है—

**असूर्या नाम ये लोकाः, अन्धेन तमसा वृताः ।**
**तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, येके चात्महतो जनाः ।।**

आकाश के अनुसार व्यापक चिदात्मा प्राणों के सम्बन्ध से इस योग्य हो जाता है, कि जिससे परिच्छिन्न होकर शरीर के साथ बद्ध रहता है । यह प्राण प्रधानरूप से २ प्रकार के हैं–देव और असुर ।

इनमें देव दो प्रकार के हैं—अग्नि और सोम। इन दोनों को पृथक् २ समझने के लिए सोमवाले प्राण को पितर कहते हैं और अग्निवाले को देवता। तात्पर्य यह है कि प्राण ३ प्रकार के हैं—देव, पितर, असुर। जो प्राण सूर्य से निकलता है जो अनन्तरूपों में आकर प्रकाशवान् हो जाता है उसे ही देवता कहते हैं। किन्तु जो प्राण देवता न होने पर भी अग्नि के साथ मिलकर अग्नि बन जाता है, और पहले जो अप्रकाशवान् था कृष्ण था पश्चात् जलकर शुक्ल अर्थात् प्रकाशवान् हो जाता है, जो प्रायः चन्द्रमा से आया करता है उसे पितृप्राण कहते हैं इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा असुरप्राण है जो कृष्ण रहता है और जलने पर भी कभी प्रकाशवान् नहीं होता, जैसा कि पृथ्वी का रात्रि के समय कृष्ण अन्धकार पृथ्वी का अपना रस है जो पृथ्वी के पृष्ठ से निकल कर रथन्तर साम तक चारों ओर व्याप्त है, वही असुर है। इसी प्रकार चन्द्रमा की भी कृष्ण छाया जो चन्द्रमा से निकल कर चारों ओर व्याप्त है, और जो अमावस्या की रात्रि जो कि हमारे सामने है वह भी असुरप्राण है। चन्द्रमा या पृथ्वी दोनों कृष्ण हैं और इनका प्राण असुर है। यद्यपि ये दोनों सूर्य के सन्मुख होकर प्रकाशमान् हो जाते हैं किन्तु विश्वास रखना चाहिये कि पृथ्वी या चन्द्रमा के काले किरण जलकर भी प्रकाशवान् नहीं होते। किन्तु वे दोनों किरणें निज के रूप में ज्यों के त्यों सदा बने रहते हैं। किन्तु सूर्य के किरण उनके ऊपर फैलकर उनको ढकेलते हैं। इसीलिए वेद में सोम की प्रशंसा में लिखा है कि—

**"त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ"** अर्थात् तुम प्रकाश से अन्धकार को ढकेलते हो। यह सोम के वास्ते है।

तात्पर्य यह है कि सूर्य का प्रकाश हट जाने पर वहां पहले से विद्यमान ही, अन्धकार दीखने लगता है। वह अन्धकार प्रकाश से कदापि नही मिलता, इसलिये उस कृष्ण अन्धकार मय प्राणों को असुर कहते हैं। किन्तु उसके विरुद्ध सूर्य का प्रकाशमय प्राण दिव्यमान होने के कारण देवता कहा जाता है। यह देव प्राण अन्धकार में कदापि नहीं रहता। इन दोनों प्राणों के अतिरिक्त तीसरा वह प्राण है जो कि असुर प्राण वाले पिण्डों के ऊपर प्रतिमूर्छित होकर देवता का प्राण उन असुर प्राणों को ढके रहता है जैसे चन्द्रमा की चाँदनी। खुलासा यह है कि गरम तावत्राला प्रकाशवान् प्राण सब अग्नि है और देवता प्राण है, शीतल प्रकाशवान् सब सोम है, और पितर है और बिना प्रकाश के कृष्ण किरण जहां कहीं जगत् में दीखे सब असुर प्राण है। इन तीनों में पितृप्राण, देवता और असुर इन दोनों के मिलाव से बना हुआ है। इसलिये उसका सम्बन्ध देवता और असुर इन दोनों के साथ है, इसीलिये मनु भगवान् ने कहा है कि—
**"पितृभ्यो देव दानवाः"**

अर्थात् पितरों से देवता और असुर उत्पन्न होते हैं क्योंकि पितरों में ये दोनों प्राण शामिल हैं। इसलिए पितृप्राण को पृथक् न मानकर प्रधानरूप से दो ही प्राण माने जा सकते हैं देवता और असुर—इनमें देवता सदा शुक्ल है और असुर सदा कृष्ण है। जीवआत्मा में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति दोनों नियम से रहती है, किन्तु इनमें कर्मों के अनुसार मात्रायें घटती बढ़ती है। यदि आत्मा में दैवी प्राण मात्रा बढ़ जावे तो वह आत्मा शुक्ल है और मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा शुक्लमार्ग से ही गमन करता है। किन्तु यदि उस आत्मा में आसुरी प्राण मात्रा अधिक हो गई है तो उसके प्रभाव से वह आत्मा कृष्ण है इसीलिये मृत्यु के पश्चात् वह आत्मा कृष्णमार्ग से ही गमन करता है।

## शुक्ल या कृष्ण मार्ग के ५ पर्व

शुक्लमार्ग या कृष्णमार्ग इन दोनों में कई मंजिल या पर्व हैं। १–कर्म, २–नाड़ी, ३–दिक् ४–आकाश और ५–काल।

### १–कर्म

प्रत्येक जीव आत्मा अपने इन्द्रिय और शरीर के कारण कुछ न कुछ कर्म सदा करता ही रहता ही रहता है। प्रत्येक कर्म करने के पश्चात् उस कर्म से उस आत्मा पर कुछ-कुछ असर पहुंचता है और उसी असर को संस्कार कहते हैं। यह संस्कार यदि दैव प्राणों का संग्रह करने वाला है तो उस कर्म को पुण्य कर्म कहेंगे। किन्तु यदि वह संस्कार आसुर प्राण से बना हुआ है तो उसे आत्मा कृष्ण हो जाता है जसलिये उस कर्म को पाप कर्म कहते हैं। पुण्य के बल से आत्मा हलका होता है और वह देवता की ओर ऊपर को जाना चाहता है। किन्तु पाप कर्म से आत्मा भारी होता है और वह उपर न जाकर पृथ्वी की ओर नीचे ही गिरना चाहता है, इसलिये पाप को पातक अर्थात् गिराने वाला कहते हैं। यदि आत्मा में पुण्य कर्मों का संस्कार है तो वह शुल्क मार्ग से जायगा, और पाप कर्मों के संस्कार वाला कृष्ण मार्ग से जायगा।

इन कर्मों में यज्ञ, तप, दान-यही तीन कर्म ऐसे हैं जिनसे आत्मा शुक्र मार्ग से चलकर देवलोक में जाता है। किन्तु इष्ट, आपूर्त, दत्त-ये तीनों कर्म भी उत्तम कर्म माने जाते हैं, किन्तु इनके कृष्ण मार्ग में जाकर भी आत्मा नरक न जाकर पितृलोक में जाता है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म हैं जिनको पाप कहते हैं वे पातक, अनुपातक, उपपातक, महापातक, अतिपातक, मलिनीकरण, संकरीकरण, अपात्रीकरण, जातिभ्रंशकर इस प्रकार पाप नौ जाति के हैं। इनके अपात्रीकरण करने से आत्मा में आतुर प्राण का संस्कार होकर भारीपन आ जाता है, वह ऊपर सूर्य की ओर न जाकर पृथ्वी से नीचे गिरता है और ये ही अधोगति कहलाती है, यह मुख्य कृष्णमार्ग है। इस प्रकार कर्म से शुक्ल-मार्ग, कृष्ण मार्ग का भेद जानना चाहिये।

### २–नाड़ी

ऊपर कहा जा चुका है कि आत्मा का निवास स्थान हृदय से चारों ओर हितानाड़ी नाम की शरीर में व्याप्त हैं। उन नाड़ियों में हृदय से ऊपर मस्तक तक नाड़ी की सब शाखायें शुक्ल मार्ग हैं और हृदय से नीचे मूलाधार तक सब शाखायें कृष्ण मार्ग हैं। हृदय से उत्क्रमण करती हुई आत्मा यदि ऊपर की नाड़ियों से गमन करे तो वह शुक्ल मार्ग से जाता है, और नीचे की नाड़ी से उत्क्रमण करती हुई आत्मा कृष्ण मार्ग से जाती है।

### ३–दिक्

जो जीव आत्मा पृथ्वी पर बसते हैं–पृथ्वी से उत्क्रमण होने पर किसी ओर गति करते हैं। इस प्रश्न का विचार करने पर दो ही मार्ग स्थिर होते हैं, उत्तर और दक्षिण। तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के

पूर्वापर वृत्त के द्वारा पांच भाग किये जाते हैं। १-विषुवत् वृत्त के दोनों ओर चौबीस-चौबीस अंशपर जो कर्क (Cancer) और मकर(Capricorn) वृत्त (Tropic) हैं उन दोनों के बीच में ऊष्णकटिबन्ध (Torridzone) है उसमें ग्रहों के सञ्चार होने के कारण सूर्य की किरणों का दबाव अधिक रहता है, इसलिये उसमार्ग में होकर आत्मा को जाने में बाधा होती है इसी प्रकार दोनों ध्रुवों (Poles) से चौबीस २ अंश तक शीतकटिबन्ध (Frigidzone) है, वहां तक बक्रमार्ग होने के कारण आत्मा नहीं पहुँच सकता अगत्या (लाचार) ऊष्णकटिबन्ध और शीत कटिबन्धके बीच में अर्थात् मध्यकटिबन्ध (Temperatezone) में होकर ही आत्मा जा सकता है वे मध्य कटिबन्ध दो हैं-उत्तर और दक्षिण जिनमें उत्तर को देवयान और दक्षिण को पितृयान कहते हैं शुक्ल मार्ग का आत्मा उत्तर मार्ग से अर्थात् देवयान से जाता है, और कृष्णमार्ग का आत्मा दक्षिणमार्ग अर्थात् पितृयान से जाता है यही दिक् का नियम है। इन दोनों मार्गों का निर्देश (बताना) पुराणों में इस प्रकार हैं—

**नाग वीथ्युत्तरं यच्च, सप्तर्षिभ्यश्च दक्षिणम् ।**
**उत्तरः सवितुः पन्था देवयान इति स्मृतः ॥१॥**

**उत्तरं यदगस्त्यस्य. अजवीथ्याश्च दक्षिणम् ।**
**पितृयानः सवैपन्था, वैश्वानर पथाद् वहिः ॥२॥**

अर्थात् नागवीथी से उत्तर और सप्तर्षि से दक्षिण सूर्य का जो उत्तर की तरफ मार्ग है उसे देवयान कहते हैं ॥१॥ अगस्त्य के तारे से जो उत्तर और 'अजवीथी' दक्षिण है वो वैश्वानर मार्ग से बाहरपितृयान का मार्ग है ॥२॥

## (नागवीथी और अजवीथी)

विषुवत्वृत्त (Equatar) के दोनों तरफ चौबीस-चौबीस अंशतक जितना प्रकाश मण्डल है उन्हीं में सब नक्षत्र मण्डल या ग्रहमण्डल विद्यमान हैं। नक्षत्र २७ हैं-उनमें नौ-नौ नक्षत्र के हिसाब से ४८ अंश का पूर्वोक्त आकाश मण्डल तीन भाग में बंट जाता है। उत्तर वाले तृतीयांश को "ऐरावतमार्ग" और मध्यवाले तृतीयांश को "जरद्गवमार्ग" और दक्षिण तृतीयांशको "वैश्वानरमार्ग" कहते हैं। इस प्रकार तीन मार्ग और नौ वीथीयां हैं, जिनमें ऐरावत मार्ग में उत्तर से दक्षिण ओर क्रम से "नागवीथी", "गजवीथी" "ऐरावतवीथी" हैं। और मध्य के अरद्गव मार्ग में "ऋषभवीथी" "गोवीथी" जरद्गवीथी" हैं, और वैश्वानर मार्ग में—अजवीथी है। मार्गों मे से हरएक तीन-तीन भाग में बंटा हुआ है, उन भागों को "वीथी" (गली) कहते हैं।

इस प्रकार सब से उत्तर नागवीथी है, जिससे उत्तर देवयान है, और मध्याकाश में सब से दक्षिण वैशानरमार्ग अजवीथी है, उससे भी दक्षिण पितृयान है।
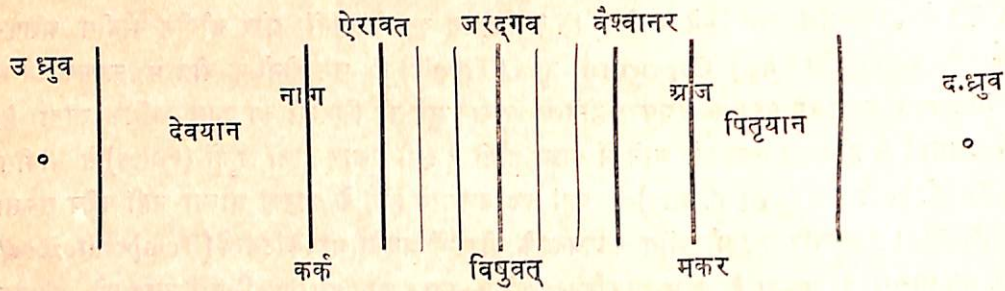
## ४—आकाश

आकाश में सूर्य जहां स्थिर है वहां से वह चारों ओर किरणों को फेंकता हुआ प्रकाश का एक महाविशाल मण्डल बनता है, पुराणों में उसी को ब्रह्माण्ड कहते हैं। इस ब्रह्माण्ड का सिर सूर्य हैं, किन्तु यह प्रकाशमण्डल चारों ओर जहां समाप्त होता है उस सीमा को लोकालोक (प्रकाश अप्रकाश) कहते हैं—यही लोकालोक ब्रह्माण्ड का 'पाँव' है। सूर्य से लेकर लोकालोक तक जो आकाश है उसी के भीतर कहीं यह हमारी पृथ्वी है। इस पृथ्वी के कारण उस आकाश के दो भाग होते हैं। एक पृथ्वी से सूर्य तक जो कि सिर की ओर होने के कारण ऊँचा कहलाता है, और दूसरा पृथ्वी से लोकालोक तक जिसे पाँव की ओर होने के कारण नीचा कहते हैं। ऊँचा आकाश उत्तर मार्ग है वही देवयान है और नीचा आकाश दक्षिण मार्ग है वही पितृयान है। इस पृथ्वी से जब कोई आत्मा उत्क्रमण करेगा तो उसके लिये आकाश के दो ही मार्ग हो सकते हैं—उत्तर अर्थात् सूर्य की ओर अथवा दक्षिण अर्थात् लोकालोक की ओर। सूर्य की ओर जाने को उत्तम मार्ग और ऊर्ध्वगति कहते हैं, किन्तु उस के विरुद्ध जाने को अधम मार्ग या अधोगति कहते हैं इसीलिए वेद में लिखा है—

**द्वे सती अशृणवं, पितृणामहंदेवानामुत मर्त्यानाम् ।।**
**ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति, यदन्तरा पितरं मातरं च ।।१।।**

अर्थात् जो सूर्य पिता और पृथ्वी माता के बीच में जहां जो कुछ है वह सारा विश्व पृथ्वी को छोड़कर यदि जावे तो उसके लिये मैंने दो ही मार्ग सुने हैं। एक पितरों का और दूसरा देवों का अर्थात् पितृयान और देवयान ये दो ही मार्ग मरणधर्मा जीवों के लिये निश्चित हैं।

## ५—काल

काल के सम्बन्ध से शुक्लमार्ग और कृष्णमार्ग पांच-पांच पर्व के नियत हैं। इन पर्वों में जितने काल-वाचक शब्द हैं वे वास्तव में कालवाचक न होकर उन-उन कालों में रहते हुए अग्नि और सोम की स्थिति को करते हैं। शुक्लमार्ग के पांच पर्व ये हैं—अर्ची, अह, मासका शुक्लपक्ष, वर्ष का उत्तरायण, और देवलोक संवत्सर ये सब पर्व काल के अवयव हैं। काल के देवता सूर्य और चन्द्रमा हैं। काल के स्वरूप का निर्णय इन्हीं दोनों की चालों से होता है। इनमें सूर्य की गति मुख्य है। तात्पर्य यह है कि सूर्य

का जो प्रकाशमण्डल चारों ओर व्याप्त है उसके चारों ओर फिर आने को देवलोक संवत्सर कहते हैं। उस संवत्सर में ६ मास तक सूर्य से पृथ्वी ऊँची जाती है और ६ मास नीची, इसलिये विषुवत् वृत्त से कटने के कारण संवत्सर के दो भाग हो जाते हैं। उन दोनों में सोम की अधिकता और न्यूनता के कारण अग्नि की अवस्था भिन्न-भिन्न प्रकार की हो जाती है। पृथ्वी के नीचें जाने पर जो सूर्य का प्रकाश ६ मास तक पृथ्वी पर आता है, उसमें अग्नि की मात्रा अधिक रहती है और सोम की कम। इसी प्रकार जब पृथ्वी सूर्य से ऊंची चढ़ती है, तो उस पर जो सूर्य का प्रकाश आता है उसमें अग्नि की मात्रा कम और ऊपर से सोम की मात्रा अधिक आ जाती है इसलिए ये छ मास की दो अग्नि भिन्न प्रकार की होती है— अब इनमें भी ६ मास की प्रतिमास में भी अधिमास में चन्द्रमा का प्रकाश बढ़कर चन्द्रमा के द्वारा सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर बढ़ता रहता है, किन्तु दूसरे पक्ष में चन्द्रमा की कला क्षीण होने के कारण दिन दिन सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा के द्वारा कम आता है। इसके कारण एक मास में चन्द्रमा के द्वारा सूर्य प्रकाश की बढ़ती घटती दो अवस्था होती हैं, इस मास में भी ३० अहोरात्र के प्रत्येक अहोरात्र में दो दो भाग होते हैं—दिन और रात्रि दिन में, सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर संमुख आता है, किन्तु रात्रि में नहीं आता। इस अहोरात्र के दोनों भागों में अर्थात् दिन और रात्रि में भी दो दो अवस्थायें हैं। अर्ची और धूम। सूर्य का या अग्नि का या चन्द्रमा का या तारों का या बिजली का जो जहाँ कुछ प्रकाश का भाग पृथ्वी से ऊपर जाता हुआ हो वह सब अर्ची है किन्तु प्रकाश का सम्बन्ध छोड़कर जो निराकार वायु का रस (बिना रोशनी का) धूम है, ( gas ) कहलाता है। तात्पर्य यह है कि एक वर्ष से लेकर एक क्षण तक यदि काल को बांटा जाय तो बड़े भाग में छोटा भाग प्रविष्ट होते होते काल के पांच पर्व हो जाते हैं—

शुक्ल—१-अर्ची, २-दिन, ३-शुक्लपक्ष, ४-उत्तरायण, ५-सूर्य सम्वत्सर।

कृष्ण— १-धूम, २-रात्रि, ३-कृष्णपक्ष, ४-दक्षिणायन, ५-चन्द्र सम्वत्सर।

तात्पर्य यह है कि यह जीव आत्मा तीनों ही लोकों में सदा भ्रमण करता रहता है। मनुष्यलोक पितृलोक, देवलोक। पृथ्वीलोक को मनुष्यलोक कहते हैं। किन्तु पृथ्वीलोक से निकलकर पितृलोक में अथवा देवलोक में आत्मा जाया करता है, क्योंकि इस आत्मा में गति, निमित दो ही हैं जो पहले कहे जा चुके हैं कर्म और विद्या। जब कि आत्मा कर्म प्रधान होता है तो उसको पितृलोक में ही जाना पड़ता है, किन्तु यदि आत्मा विद्याप्रधान हो तो वह देवलोक में जाता है। परन्तु देखने में आता है कि प्रायः आत्मा में कर्म और विद्या ये दोनों ही ओतप्रोत रहते हैं इसलिए आत्मा को प्रायः देवलोक और पितृलोक दोनों में ही परिभ्रमण करना पड़ता है। किन्तु पितृलोक या देवलोक ये दोनों ही लोकों में जाने वाली आत्मा पृथ्वी छोड़ने के पश्चात् सबसे प्रथम चन्द्रमा में ही जाती है। यदि कर्मप्रधान आत्मा है तो अधो-हिता नाड़ी द्वारा शरीर से निकलकर दक्षिणमार्ग से धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन होती हुई चन्द्रलोक के काले भाग में पहुंचती है। किन्तु यदि आत्मा विद्याप्रधान है तो उर्ध्वहिता नाड़ी द्वारा शरीर से निकल-कर उत्तरमार्ग से अर्ची, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण होती हुई चन्द्रमा के उस भाग में पहुंचती है जो कि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित है। चन्द्रमा के प्रकाश भाग में हुई आत्मा की रुख सूर्य की ओर रहती है इसलिए वहां से देवलोक में जाती है किन्तु चन्द्रमा के तमोमय भाग में गई हुई आत्मा की रुख लोकालोक

की ओर रहती है, इसलिए चन्द्रमा से वह आत्मा भी नीचे दक्षिण की ओर जाती हुई नीचे दक्षिण में लोकालोक तक जा सकती है। तात्पर्य यह है कि दोनों आत्माओं को चन्द्रमा तक अवश्य जाना पड़ता है, किन्तु चन्द्रमा से आगे पितृलोक या देवलोक के लिए आत्मा के मार्ग भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि शास्त्र में चन्द्रमा को स्वर्गद्वार कहा है, तथापि यह प्रशंसामात्र है। चन्द्रमा से जिस प्रकार स्वर्ग में जाते हैं, उसी प्रकार चन्द्रमा से नरक में भी जाते हैं।

गति का स्वरूप अच्छी तरह जानने के लिये ब्रह्माण्ड की स्वरूप संस्था जानना आवश्यक है और वह इस प्रकार है। ब्रह्माण्ड के मध्य में सूर्य है उसका प्रकाश मण्डल जहां तक जाता है उसे ही लोका-लोक कहते हैं। लोकालोक उस अचल सीमा का नाम है, जिसके भीतर की ओर लोक अर्थात् आलोक प्रकाश है और बाहर की ओर अलोक अर्थात् अन्धकार है। इस सूर्य प्रकाश के भीतर सूर्य से लेकर लोकालोक तक करीब २ समानान्तर धरातल में कितने ही ग्रहों की संस्था उत्तरोत्तर वृहत्मण्डल बनाती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। उनमें यह हमारी पृथ्वी भी एक है, पृथ्वी और सूर्य के बीच में बुध, शुक्र आदि शतशः ग्रह हैं, उन सबको पुण्य लोक कहते है। ये सब लोक पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य का प्रकाश अधिक रखते हैं और हमारी आत्मा भी सूर्य के प्रकाश से ही बनी हुई है। इसलिये उन लोकों में सूर्य का प्रकाश अधिक पाकर आनन्दित होता है, यही उनके पुण्यलोक होने का कारण है। उन सबसे अधिक आनन्द सूर्य में है इसलिये सूर्य ही प्रधान स्वर्ग है।

ऐसी दशा में पृथ्वी से लेकर सूर्य तक प्रकाशमय समधरातल को सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं, इसी सुषुम्णा नाड़ी से बद्ध होकर हमारा जीव आत्मा पृथ्वी से सूर्य तक जा सकता है और इसको "देवपथ" कहते हैं। अथर्वणवेदसंहिता में "स्कम्भ" के नाम से एक देवता का वर्णन है। वह ठीक इस सुषुम्णा नाड़ी से तिर्यक् मार्ग में जाता है। यह हमारी पृथ्वी प्रतिदिन ६० घड़ी में परिक्रमण करती हुई अपने परिक्रमण का पृष्ठीय केन्द्र आकाश में जिस बिन्दु को बनाती है उसे 'ध्रुवबिन्दु' कहते हैं। इस ध्रुव से २४ अंश के अन्तर पर एक दूसरा बिन्दु है जिसे 'कदम्ब' कहते हैं वह इस पृथ्वी की वार्षिक गति के मार्ग अर्थात् क्रान्तिवृत्त (Eeliptie) का पृष्ठीय केन्द्र है। इस कदम्ब बिन्दु से ध्रुवबिन्दु तक रखा को त्रिज्या (Radius) मानकर यदि वृत्त बनाया जाय तो वह ४८ अंश के विष्कम्भ या व्यास (Diameter) की व्याप्ति का रहेगा। इसी प्रकार दक्षिण ध्रुव और दक्षिण कदम्ब में भी ४८ अंश का विष्कम्भवृत होगा। यह विष्कम्भ दक्षिण कदम्ब से उत्तर कदम्ब तक सर्वथा खड़ा माना जाता है इसको ही अथर्वण संहिता में स्कम्भ कहा है।

पृथ्वी से सूर्य तक जिस प्रकार सुषुम्णा मार्ग है और जिसे देवपथ कहा है वैसे ही सूर्य से ऊपर की ओर कदम्ब का ऊपर वाला आधा भाग है वह देवयान मार्ग की दूसरी शाखा है और इसे ही 'ब्रह्म-पथ' कहते है। जिस प्रकार देवपथ में जाने वाली आत्मा सूर्य में पहुंचकर स्वर्ग के मार्ग को पूरा करती है, उसी प्रकार सूर्य से चलकर ब्रह्मपथ में जाती हुई जीवआत्मा कार्य ब्रह्म तक पहुंच कर सगुण मुक्ति पाती है किन्तु उससे भी आगे चलकर कारणब्रह्म तक पहुंचे तो निगुर्ण मुक्ति पाता है। तात्पर्य यह है कि सूर्य से ब्रह्म तक मुक्ति का मार्ग है इसलिये ब्रह्मपथ कहलाता है। देवपथ में गया हुआ फिर उलटा

पृथ्वी में आता है किन्तु ब्रह्मपथ में गया हुआ आत्मा प्रबल प्रकाश के आकर्षण के कारण इस छोटी सी पृथ्वी की ओर का अवसर नहीं पाता, इसीलिये इस मार्ग को "अपुनरावर्तन" भी कहते हैं। इस प्रकार देवयान मार्ग की दो शाखायें सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार पितृयान मार्ग की भी दो शाखायें हैं। एक पितृ-वर्गपथ दूसरा नारकीपथ। चन्द्रमा के अप्रकाश भाग से आरम्भ करके यम (शनि) के प्रकाश भाग तक पितृ स्वर्ग पथ है और यम (शनि) अप्रकाश भाग से आरम्भ करके लोकालोक तक नारकीय पथ है वहां सूर्य का प्रकाश अत्यन्त मन्द होने से सूर्य प्राण से बनी हुई आत्मा को अत्यन्त क्लेश होता है क्योंकि उसको अपनी जीवनसत्ता के लिये पर्याप्त प्रकाश नहीं मिलता यही उसके दुःख का कारण है। इस प्रकार ४ मार्ग सिद्ध होते हैं–जिनमें नरकमार्ग सबसे अधिक निकृष्ट है, उससे उत्कृष्ट पितृस्वर्ग है, उससे भी उत्कृष्ट देवस्वर्ग है, और इन सबसे उत्कृष्ट मुक्तिमार्ग है।
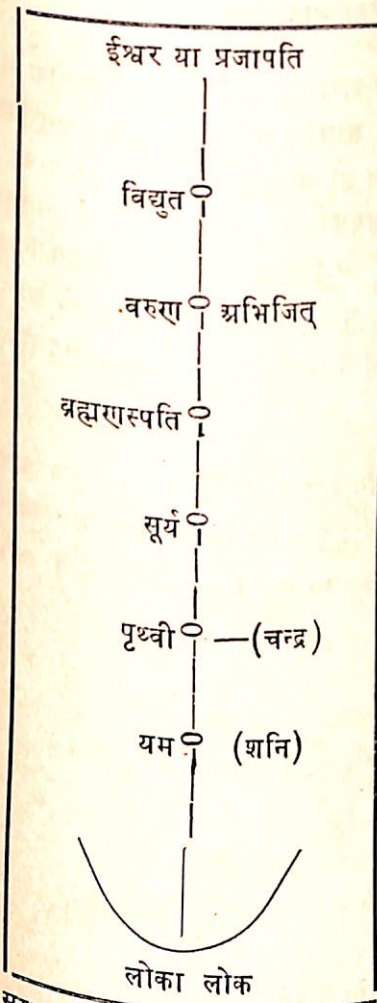
जिस प्रकार पृथ्वी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है, उसी प्रकार यह पृथ्वी भी चन्द्रमा को साथ लिये सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य भी चन्द्रमा पृथ्वी सबको साथ लिये वरुण रूपी सूर्य के चारों ओर घूमता है। सूर्य और वरुण के बीच में एक और ग्रह वरुण के चारों ओर फिरता है जिसको 'ब्रह्मणस्पति' कहते हैं और यह ब्रह्मणस्पति 'पवमान' सोम का बना हुआ है उसके आगे अभि-जित् वरुण है। जिस प्रकार सूर्य की किरण अग्नि प्रधान है, उसी प्रकार वरुण की किरण जल प्रधान है यह वरुण भी एक सच्चिदा-नन्द नाम का 'कार्यब्रह्म' जिसको प्रजापति ईश्वर कहते हैं और जिसके किरण सत्ता, चेतना आनन्दमय है उसके चारों ओर फिरता है। वरुण के उस ईश्वर और वरुण के बीच में एक विद्युत् और ग्रह है। वरुण के पश्चात् विद्युत् और उसके पश्चात् ईश्वर रूपी कार्यब्रह्म मिलता है, इस ईश्वर को वेद में प्रजापति कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी से लेकर ब्रह्म तक यदि मार्ग का लक्षण देखें तो इस प्रकार उसके पर्व मंजिल होगे। १–अग्नि, वायु, आदित्य, २–सोम (ब्रह्मणस्पति) ३–वरुण, ४–विद्युत् (इन्द्र) और ५–ब्रह्म। इन पांचों पर्वों में (इन्द्र) मार्ग के पर्व इस प्रकार हैं पृथ्वी से चन्द्रमा तक गन्धर्व मार्ग है और चन्द्रमा से आगे सूर्य सम्वत्सर में जीवात्मा का प्रवेश हो जाता है। सम्वत्सर जो कि लोकालोक से सूर्य तक सन्निविष्ट (बने हुए) हैं उसके चार पर्व हैं। लोकालोक से यम तक नारकीय लोगों के यातायात के लिये याम्यमार्ग, और यम से चन्द्र तक उत्तम कर्म वाले जीवों की यातायात के लिये सौम्यमार्ग है। चन्द्रमा से सूर्य तक विद्या प्रधान कर्म वालों के यातायात के लिये आग्य-मार्ग है और सूर्य से लेकर ब्रह्मणस्पति, वरुण, विद्युत् होता हुआ कार्य ब्रह्म तक मुक्त आत्मा के यातायात

के विद्युत् मार्ग है। इन चारों पर्वों से अतिरिक्त वह पांचवा पर्व है जो कि पृथ्वी से चन्द्रमा तक पहले कहा गया है। इन पांचों मार्गों के द्वारा जीव आत्मा जिन-जिन स्थानों में जाकर अपने कर्म भोगों के लिये कुछ दिन विश्राम करता है, उनको लोक कहते हैं। ये लोक मुख्यतया यद्यपि तीन ही हैं। मनुष्य-लोक, पितृलोक, देवलोक-अर्थात् कई आत्माओं को साथ लेकर प्राज्ञात्मारूपी जीव इस पृथ्वी पर जन्म लेकर ३६००० प्राण मात्राओं को धारण करता हुआ पृथ्वी से बद्ध रहता है। प्रतिक्षण इसका विज्ञान आत्मा सूर्य की ओर जाने की चेष्टा करता हुआ भी पार्थिव शरीर से मनुष्यलोक में रहने वाला कहा जाता है, किन्तु जब यह जीवआत्मा पृथ्वी से बन्धन के कारण इस पार्थिव शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़-कर चन्द्रमा में पहुंच जाता है तब पितृलोक में रहने वाला कहा जाता है।

जिस प्रकार मनुष्य लोक में रहने का कारण पार्थिव शरीर है, उसी प्रकार पितृलोक में रहने का कारण प्राणी का श्रद्धामय सूक्ष्म शरीर है और मन प्रधान सोमरस से बना हुआ है। जब कि यह जीव आत्मा उस सूक्ष्म शरीर से भी अपना सम्बन्ध तोड़कर अलग हो जाता है तब सूक्ष्म शरीर को चन्द्रमा में ही छोड़कर विज्ञानआत्मा के साथ लिये हुये सूर्य की ओर अग्रसर होता है। जब तक विज्ञानरूपी कारण शरीर इस प्राज्ञआत्मा में बना रहता है, तब तक देवलोक में निवास करता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये ही तीन शरीर अथवा वैश्वानर, महान् और विज्ञान ये तीनों आत्मा जो उन तीनों शरीरों के अभिमानी हैं, उनका प्राज्ञात्मा के साथ सम्बन्ध होना ही मनुष्यलोक, पितृलोक और देव-लोक में जीवात्मा की स्थिति का मुख्य निमित्त है।

चन्द्रमा से यदि जीवआत्मा अपने श्रद्धामय शरीर को चन्द्रमा में छोड़कर वैज्ञानिक अर्थात् देवमय (आग्नेय) शरीर को लेकर सूर्य की ओर अग्रसर होता है तो वह सूर्य के सम्वत्सर में पहुंचता है। उस सम्वत्सर में भिन्न-भिन्न देवताओं के रस रहने के कारण उस सम्वत्सर के ७ विभाग किये जाते हैं जिनके नाम ये हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १–अपोदक | — | अग्निलोक |
| २–ऋतधाम | — | वायुलोक |
| ३–अपराजित् | — | इन्द्रलोक |
| ४–अधि द्यौः | — | वरुणलोक |
| ५–प्रद्यौः | — | मृत्युलोक |
| ६–रोचन | — | ब्रह्मलोक |
| ७–नाक | — | नाकलोक—अर्थात् स्वर्ग |

जिस प्रकार देव स्वर्ग के ये ७ भेद हैं—उसी प्रकार यह प्राज्ञात्मा यदि चन्द्रमा से पितृलोक की ओर अग्रसर होता है, तो चन्द्रमा की रश्मि मण्डल रूपी सम्वत्सर में जाता है। उस सम्वत्सर रूपी पितृ-स्वर्ग के तीन भाग हैं और उनके ये नाम हैं—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १–उदन्वती | — | जलीय प्रदेश | — | आदिका |
| २–पीलुमति | — | आरण्य प्रदेश | — | अन्त का |
| ३–प्रद्यौः | — | सुन्दर भूमि | — | बीच का |

पहले कहा जा चुका है कि गति में विद्या और कर्म ये दो निमित हैं। परन्तु इनमें विद्या आत्मा का स्वरूप है और कर्म अनात्मिक होकर आत्मा में उत्पन्न विनष्ट होता रहता है। इसलिये कर्म के सम्बन्ध से विद्या की ८ अवस्थाऐं होती हैं—१–व्यापन्ना, २–ग्रस्ता या निगृहीता, ३–संवलिता ४–कर्म पूर्वान्तरिता, ५–विद्या पूर्वान्तरिता, ६–अनुकूल कर्मा, ७–मलिना, ८–विशुद्धा।

१–व्यापन्ना—वह अवस्था है जिसमें विद्या विरोधी कर्मों के प्रबल आघात से विद्या सर्वथा प्रच्छन्न या विलीन (गायब) हो जाती है। जिससे विद्या के स्वरूप ज्ञान की कुछ भी मात्रा नहीं दीखती जैसा प्रस्थरादि में।

२–ग्रस्ता या निगृहीता—वह अवस्था है जिसमें कर्म की मात्रा अधिक होने से विद्या दबी हुई हो और उसका बहुत ही स्वप्न के अनुसार अन्तर्गत होता है। जैसा कि स्थावर वृक्षादिकों की जीवित दशा में आत्मा के सोते हुए रहने पर भी हर्ष विस्मय, निद्रां, क्षुधा, पिपासा, रोक, शोक, रोदन, मृत्यु आदि बहुत से प्राणियों के धर्म उनमें पाये जाते हैं। जिनसे वृक्षों में विद्या या ज्ञान का कुछ आभास स्वप्नवत् माना जाता है।

३–संवलित—वह अवस्था है जिसमें विद्या और कर्म दोनों समान भाव से मिश्रित होकर परस्पर के बलों के दबने पर भी दोनों के बल समान भाव से बने रहते हैं। जैसे कि न बोलने वाले कृमि कीट आदि क्षुद्रजीवों में रहने पर भी वह ज्ञान इतना मलिन है कि जिससे प्रज्ञान के अतिरिक्त विज्ञान का उनमें न होना ही माना जाता है।

४–कर्म और ५–विद्या पूर्वान्तरिता–वे अवस्थाये हैं जिनमें कर्म और विद्या के परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों के प्रबलवेग के कारण परस्पर एक से एक दबते नहीं, भिन्न-भिन्न संस्था में पृथक-पृथक बने रहते हैं मिलते नहीं उन दोनों में अन्तर रहता है इसलिये उनको अन्तरिता कहते हैं। किन्तु उनमें यदि कर्म का बल पहले और विद्या का बल पीछे भोग में आवे तो उसे कर्म पूर्वान्तरिता कहेंगे, किन्तु इसके विपरीत यदि विद्या का बल पहले और कर्मकाल बल पीछे आवे तो विद्या पूर्वान्तरिता कहेंगे। जैसे कोई मनुष्य की योनि पाकर पश्चात् पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि क्षुद्र योनि में जन्म लेवे अथवा मनुष्य में भी जीवन की पूर्व अवस्था में सुखी रहकर पश्चात् आजीवन दुःख भोग करे तो उन सब में विद्या पूर्वान्तरिता कहेंगे और इसके विपरीत जो प्रथम कृमि, कीट आदि क्षुद्र जीवों में जन्म लेकर पश्चात् मनुष्य योनि में आवे अथवा मनुष्यों में भी पहले दुःख पाकर पश्चात् सुख पावै तो उसे कर्म पूर्वान्तरिता कहेंगे।

६–अनुकूल कर्म्मा—वह अवस्था है जिसमें विद्याके साथ कर्म रहने पर भी विद्याका प्रभाव कम नहीं होता, क्योंकि वह कर्म विद्या के अनुकूल होने से मलिन कर्मों को ही नाश करता है न कि विद्या का

आवरण करता है। वह अनुकूल कर्म दो प्रकार का है—१—स्वच्छ, २—कर्मनाशक। इनमें स्वच्छ कर्म काच के अनुसार आवरण होने पर भी विद्या के ज्ञान प्रकाश का निरोध नहीं करता जैसे कि प्राणी के विषय ज्ञान में विषय रूपी कर्म का प्रवेश रूपी कर्म होते हुए भी ज्ञान का प्रकाश ज्यों का त्यों बना रहता है, विषय से ज्ञान का आवरण नहीं होता। किन्तु दूसरा कर्म अन्याग्य कर्मों की निवृत्ति करके उसके उसके साथ हीं 'कतक रज' (निर्मली) के अनुसार स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। जैसा कि वानप्रस्थ हो जाते हैं जिससे मुक्ति प्राप्त होती है।

७—मलिना—वह विद्या है जिसमें कर्मों का प्रभाव अत्यन्त स्वल्प होने के कारण उससे विद्या का सामर्थ्य नष्ट नहीं हो पाता। जैसे कि विदेहमुक्तों के संचित और आगामी इन दोनों प्रकार के कर्मों के सर्वथा नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता। आत्मा के मुक्त हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीवन पर्य्यन्त सुख दुःख भोग होते रहते हैं। परन्तु उन भोगों से आत्मा व्याकुल नहीं होता इसलिये उस आत्मा की विद्या को मलिना कहते हैं।

८—विशुद्ध—वह विद्या है जो कि मुक्त आत्माओं की अवस्था है। इस प्रकार विद्या की ७ अवस्थाओं में ५ अवस्था तक कर्म इस विद्या का विरोध करते हैं, किन्तु आगे उनका प्रभाव विद्यापर अधिक नहीं होता। इसलिये उन पांचों अवस्थाओं में आत्मा का जाति भ्रंश होता है अर्थात् मनुष्य योनि से गिरकर पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि अधम योनियों में कर्म के प्रभाव से परवश आत्मा को जाना पड़ता है। किन्तु ६ ठी, ७ वीं, ८ वीं अवस्था में जाति भ्रंश न होकर एक ही योनि में अपात्रीकरण या पात्रीकरण आदि प्रकृति का वैषम्य ही कर्म के प्रभाव से होता रहता है। इसी प्रकार इन ८ अवस्थाओं में ७ अवस्था कर्म वाली हैं, किन्तु आठवीं अवस्था नैष्कर्म्यवाली है।

इन आठों अवस्थाओं में से आरम्भ की पांच अवस्थाओं में कर्म दो प्रकार के होते हैं। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य या पाप या अशुभ उन कर्मों को कहते हैं, जो किसी न किसीआत्मा से द्रोह रखता हो। उसमें दुःख पहुंचाने की चेष्टा करता हो या पञ्चक्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश की वृत्तियों को बढ़ाता हो अथवा उसका वध करके उसे घोर अन्धकार में डालता हो बस इतना ही पाप का लक्षण है। इसके अतिरिक्त सब कर्म शुभ या पुण्य हैं। इन दोनों के के भेद ये पांच अवस्था दस अवस्था में परिणत होती हैं शेष जो दो अवस्था हैं उनमें विद्या का योग होने के कारण कोई कर्म अशुभ नही होता। किन्तु आत्मा की वास्तविक स्वरूप सिद्धि जिस प्रकार अशुभ कर्मों से नहीं होती, उसी प्रकार शुभ कर्मों से भी नहीं हो सकती। इसलिये मुक्तावस्था अर्थात् केवल्य के लिये पारमार्थिक दशा में पुण्य और पाप दोनों ही कर्म अशुभ माने जाते है। किन्तु व्यावहारिक दशा के अनुसार कर्म के सम्बन्ध से विद्या की २३ अवस्थायें सिद्ध होती है। इस प्रकार गति के निमित्त विद्या और कर्म इन दोनों के संयोग से आत्मा की तेरह अवस्था होती हैं। जिनमें कर्म के कारण आत्मा में अविद्या अर्थात् कर्म, काम और शुक्र ये तीनों तारतम्य से रहकर आत्मा की गति में वैचित्र्य (भिन्न-भिन्नपना) उत्पन्न करते रहते हैं। जिनके कारण स्थूल रीति से गति का भेद इस प्रकार होता है।

यहां प्रश्न होता है कि कर्म, काम और शुक्र ये तीनों ही आत्मा स्वरूप विद्या से भिन्न होने के कारण अविद्या कहे जा सकते हैं। अथवा यों कहिये कि काम और शुक्र ये दोनों ही अविद्या रूप कर्म से भिन्न नही हो सकते। यदि भिन्न माने जावें तो विद्या और कर्म ये दो ही तत्व मानने का सिद्धान्त विरुद्ध होगा अथवा विचार करने से यह सिद्ध भी होता है कि शुक्र और काम ये दोनों ही कर्म्म हैं। क्योंकि जैसे कागज के दबाने से उसमें मोड़ उत्पन्न हो जाता है, मृतिका में मुट्ठी दबाने से चिन्ह हो जाता है, इसी प्रकार सर्वत्र ही क्रिया द्वारा कुछ न कुछ विशेषता अवश्य हो जाती है, उसी कर्म जन्य अतिशय को शुक्र कहते हैं। काम भी एक प्रकार का शुक्र है। कर्म के द्वारा न होने के कारण काम और शुक्र ये दोनों भी कर्म ही कहे जा सकते हैं। इसलिये अविद्या से या कर्म से पृथक् रूप में काम शुक्र को गति का निमित्त कहना अनुचित है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि अवश्य ही अविद्यारूप कर्म से अतिरिक्त काम और शुक्र नहीं हैं, तथापि किसी विशेष वैचित्र्य के कारण पृथक् पृथक् तीनों को गति का निमित्त कहना अनुचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि मन, प्राण, वाक् ये तीन हमारी आत्मा के स्वरूप हैं। इनमें मन असङ्ग और निर्विकार है, और प्राण भी लगभग उसी के सदृश है इसलिये सृष्टि के सारे विकार केवल वाक् में ही होते हैं। यह वाक् दो प्रकार का है--मन प्रधान और प्राण प्रधान। जबकि मनोमय वाक् में कर्म के द्वारा कुछ अतिशय उत्पन्न होता है तो उसे काम कहते हैं, और वह काम किसी विषय के रूप में जमी हुई इच्छा है, वही इच्छा आत्मा को उसी विषय की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त जबकि प्राणमय वाक् में कर्म के द्वारा कोई अतिशय उत्पन्न होता है तो उसे शुक्र कहते हैं। जिस प्रकार काम में प्रकाश है वैसा शुक्र में प्रकाश नहीं है। अर्थात् जैसे काम को हम देखते पहचानते हैं, वैसे प्राण के विकार शुक्र को हम स्पष्ट नहीं समझते, इसलिये उन दोनों का भेद कहना अनुचित नहीं है। किन्तु ये दोनों इच्छा-पूर्वक क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इन्द्रियरूप मन के योग से और बुद्धि के विचार से जो कर्म किया जाय उससे ही काम या शुक्र उत्पन्न होते हैं। किन्तु बिना बुद्धि के बिना मन के जो जहाँ जितनी क्रिया चेतन प्राणी में या जड़ पदार्थों में होती रहती हैं उनसे उत्पन्न सब अतिशयों को काम और शुक्र न कहकर केवल कर्म शब्द से ही निर्देश किया जाता है ( बताया जाता है ) इसलिये क्लेशों में अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांचों में राग, द्वेष, आदि से पृथक् अविद्या कही गई है। यद्यपि सभी क्लेश अविद्या ही हैं तथापि इनके अवान्तर भेदों का पृथक् दिखाने के तात्पर्य से भिन्न-भिन्न पाँच क्लेश कहना अथवा कर्म, काम, शुक्र इन तीनों को पृथक् पृथक् गति का निमित्त कहना अनुचित नहीं। अब इन तीनों निमित्तों से गति में जैसे जैसे भेद उत्पन्न होते हैं, वे सब भिन्न भिन्न करके यहाँ दिखाये जाते हैं।

यहां इतना और भी जानना आवश्यक है कि कर्म, शुक्र, काम इन तीनों को कर्म कहते हुए भी जो काम, शुक्र से पृथक् कर्म कहा गया है, वह बिना इच्छा और बिना यत्न के प्रकृति नियमानुसार अपने आप होने वाले कर्मों से तात्पर्य है। इसलिये ऐसे कर्म जड़ या चेतन दोनों में सामान्यरूप से सर्वत्र पाये जाते हैं। किन्तु दूसरा शुक्र प्राण में होने के कारण दूसरे की इच्छा से स्थावर वृक्षों में पाये जाते हैं। और अब तीसरा काम मनोधर्म होने के कारण चेतन प्राणी में ही पाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि

असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञ इन तीनों में कर्म है, किन्तु अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञ इन दोनों में शुक्र है, और केवल संसज्ञ में काम है । अथवा यों कहिये कि ससंज्ञ जीवों में कर्म, शुक्र, काम तीनों हैं, और अन्तःसंज्ञों में कर्म शुक्र दो हैं, और काम नहीं है ऐसे ही असंज्ञ पदार्थों में केवल कर्म है शुक्र या काम दोनों ही नहीं यद्यपि असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञ ये तीनों हीं जीव के भेद हैं, इसलिये तीनों ही का गति से सम्बन्ध है, तथापि यहां पर केवल चेतन के ही विषय में गति का विचार होने के कारण जड़ या वृक्षादि अर्धजड़ों को छोड़कर केवल चेतन के सम्बन्ध में कर्म, शुक्र, और काम इन तीनों से गति के भेद दिखाये जाते हैं ।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में ७ आत्मा हैं तथापि उनमें प्रधान तीन हैं । १–क्षेत्रज्ञ जिसका सम्बन्ध सूर्य से है, २–महान् जिसका सम्बन्ध चन्द्रमा से है, ३–भूतात्मा जिसका सम्बन्ध पृथ्वी से है । ये तीनों ही आपस में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध से मिले रहने के कारण सहसा ही पृथक् नहीं होते–जिस प्रकार पृथ्वी पर जीवन दशा मिले जुले रूप से रहते हैं, उसी प्रकार प्राणोत्क्रमण काल में भी साथ ही मिले हुये रूपों में तीनों जाते हैं । पृथ्वी छोड़ने के उपरान्त पीछे महान्आत्मा और क्षेत्रज्ञआत्मा का प्रभाव भूतात्मा पर अधिक पड़ता है । उन दोनों में भी महान् की अपेक्षा विज्ञान आत्मा का प्रभाव अधिक रहता है । इसीलिये यह भूतात्मा सबसे समीप चन्द्रमा में जाकर भी सूर्य की ओर जाने का प्रबल वेग से उत्क्रान्त होता है । यदि विज्ञान का विरोधी कोई पातक विशेष भूतात्मा पर आ जाने से सूर्य रस रूपी विज्ञान का प्रभाव कम हो जाने से वह आत्मा सूर्य के विरुद्ध मार्ग में नरक की ओर चला जावे तब तो परवश भूतात्मा की गति सूर्य के विरुद्ध दिशा में हो जाती है । परन्तु जब कोई ऐसा पातक भूतात्मा में न हो तो वह भूतात्मा अवश्य ही विज्ञानआत्मा का सहयोग के कारण चन्द्र के परे सूर्य के ओर जाने को अग्रसर होता है और सूर्य के सम्वत्सर में अपने विज्ञान का सम्वत्सर मिलाकर एक हो जाता है, इसी को देव स्वर्ग प्राप्ति कहते हैं । इस देव स्वर्ग प्राप्ति में अपने किये हुये कर्मों के द्वारा जो उस सम्वत्सर में भिन्न-भिन्न सात स्थानों की प्राप्ति होती है, वही सात देवलोक कहे जाते हैं । जिनका वर्णन पृथक् हो चुका है । किन्तु इस भूतात्मा का पृथ्वी पर १०० वर्ष का जो जीवन काल है उस १०० वर्ष में न्यूनाधिकता से उस सम्वत्सर के सम्बन्ध में जो विशेषता आ जाती है वह काम, शुक्र से सम्बन्ध रखता हुआ केवल आकृतिक कर्मों से ही सम्बन्ध रखता है । इसलिये प्रथम गति भेद यहाँ पर दिखाया जाता है ।

## कर्म

गति भेद दिखाने से प्रथम कुछ सूर्य सम्वत्सर के भेदों का दिखाना यहां पर आवश्यक है और वह इस प्रकार है जो सूर्य के प्रकाश का विशाल मण्डल है उसी चक्र को सम्वत्सर कहते हैं । उस सम्वत्सर में किसी नियतस्थान पर हमारी यह पृथ्वी चन्द्र सहित घूमती है । ये दोनों ही स्वयं अप्रकाश रहते हुये भी सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं । किन्तु इन दोनों के स्वतः अप्रकाश होने के कारण इनका वह तमो भाग उस सम्वत्सर में नियतरूप से भ्रमण करता है जिसके कारण सम्वत्सर के ५ भेद होते हैं । १–अर्चि और धूम, २–अहः और रात्रि, ३–शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, ४–उत्तरायण और दक्षिणायन, ५–पूर्ण सम्वत्सर । तात्पर्य यह है कि इस पृथ्वी पर कितने ही भौतिक पदार्थ या कितने ही प्रकार के वायु दिन में या रात्रि में चमकते हुए प्रकाश से प्रकाशित होने का स्वभाव रखते हैं जैसे अग्नि, विद्युत्

सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त आदि। इन सबके प्रकाश को ही अर्चि कहते हैं और ये सब अत्यन्त क्षुद्र होते हैं, पृथ्वी के अत्यन्त स्वल्प प्रदेश में कहीं कहीं प्रकाशित होते हैं किन्तु उनकी सीमा से बाहर अथवा उनके दग्ध हो जाने पर अन्धकार व्याप्त हो जाता है। उस समय पृथ्वी से उठकर जो रस वाक् के रूप में ऊपर जाता है उसे प्रकाशमय न होने के कारण धूम कहते हैं। अथवा यों समझिये कि प्रत्येक वस्तु जो रूपवान् दीखती है उस पर सूर्य के किरण पड़ते ही प्रत्याघात से उल्टे प्रतिफलित होकर सूर्य की ओर कुछ दूर तक प्रकाश मण्डल बनाते हैं। किन्तु उसके विपरीत दशा में अर्थात् सूर्य के विरुद्ध दिशा में उस वस्तु की छाया मण्डल कुछ दूर तक रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में सूर्य की ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार देखने में आता है, इसी प्रकाश को अर्चि और अन्धकार को धूम कहते हैं। प्रत्येक वस्तु के लगाव से सूर्य प्रकाश रूपी सम्वत्सर में इस प्रकार अर्चि और धूम ये दोनों शुक्ल और कृष्ण भाग विद्यमान रहते हैं। सम्भवतः मेरे शरीर के भी दोनों ओर ये दोनों भाग दिन में या दीपक के प्रकाश में अवश्य होंगे। अब यदि आत्मा शरीर से उत्क्रमण करें तो वह किस ओर जायगा। इस प्रश्न का यही उत्तर है कि यदि आत्मा विज्ञान प्रधान है तो शुक्ल भाग में से निकलेगा और यदि कर्म प्रधान है तो मेरे शरीर के कृष्णभाग में से निकलेगा। आत्मा का यही प्रथम उपक्रम है।

यह शुक्ल या कृष्ण भाग पृथ्वी पर के प्रत्येक वस्तु में होने के कारण बहुत छोटे छोटे हैं, किन्तु इनसे बड़ा भाग पृथ्वी का है क्योंकि जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु में एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है। उसी प्रकार इस पृथ्वी के भी एक ओर प्रकाश और दूसरी ओर अन्धकार रहता है, इन्हीं दोनों को अहः या रात्रि कहते हैं। ये दोनों भाग अर्ची, धूम की अपेक्षा बड़े होते हैं। उत्क्रमण करता हुआ आत्मा चलते चलते अर्चि या धूम से सम्बन्ध तोड़कर अहः या रात्रि सम्बन्ध कर लेता है। अर्थात् छोटे भाग से बड़े भाग में आ जाता है। आत्मा की यात्रा में यह दूसरा प्रक्रम है।

अब इसके अनन्तर आगे बढ़ती हुई आत्मा अहः वा रात्रि के भाग से भी बड़े भागों में जा पहुंचती है वे भाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से पृथ्वी पर उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार पृथ्वी एक दिन में संपूर्ण भूमण्डल भोगती है, उसी प्रकार चन्द्रमा एक मास में भोगता है। इसलिए चन्द्रमा में एक मास का दिनरात होता है। उसमें शुक्लपक्ष को दिन और कृष्णपक्ष को रात्रि कहते हैं। कृष्णपक्ष में चन्द्रमा का काला भाग पृथ्वी की ओर रहता है, और शुक्लपक्ष में प्रकाश भाग पृथ्वी की ओर आता है। धूम मार्ग से जाता हुआ आत्मा रात्रि भाग में आकर कृष्णपक्ष के अन्धकार भाग में चला जाता है और अर्चि मार्ग से जाता हुआ अहः प्रकाश में आकर शुक्लपक्ष के प्रकाश में चला जाता है। आत्मा की यात्रा में यह तीसरा प्रक्रम है।

इसी प्रकार और उसी क्रम से जाता हुआ आत्मा कृष्णमार्ग में कृष्णपक्ष से सम्बन्ध तोड़कर दक्षिणायन से सम्बन्ध करता है, क्योंकि कृष्णमार्ग सबसे सबसे बड़ा वही भाग है और अर्चि मार्ग से जाता हुआ आत्मा शुक्लपक्ष से सम्बन्ध तोड़कर उत्तरायण भाग के बड़ भाग में चला जाता है। यह आत्मा की यात्रा में चतुर्थ प्रक्रम है।

इसके अनन्तर यात्रा के अन्तिमस्थान पृथ्वी के दोनों छोर पर दो होते हैं। अर्थात् सूर्य की ओर शुक्लमार्ग से जाती हुई आत्मा के लिए सूर्य ही अन्तिम स्थान है, अथवा सूर्य के सम्वत्सर का वह पूर्ण प्रकाशभाग है। जिसमें किसी पर प्रकाशपिण्ड न होने से कुछ भी कृष्णभाग का संसर्ग नहीं। इसी प्रकार कृष्णमार्ग से जाती हुई आत्मा के लिए अन्तिम स्थान घोर अन्धकारमय है, जहां पर सूर्य सूक्ष्मतारा के तुल्य दीखने के कारण अपना प्रकाश भली प्रकार नहीं देता यही आत्मा के लिये पञ्चम या अन्तिम प्रक्रम है।

पृथ्वी को छोड़ने के अनन्तर आत्मा के लिये अन्त से अन्तिम विश्राम स्थान यही पञ्चम प्रक्रम है क्योंकि आत्मा दो ही ओर जा सकती है। शुक्लमार्ग से या कृष्णमार्ग से—इन दो को छोड़ तीसरा कोई मार्ग ही नहीं हो सकता। इनमें शुक्लमार्ग से जाती हुई यदि कर्मानुसार बीच के लोकों में रुक न जावे तो अन्त को सूर्य में ही जाकर विश्राम करेगा और सूर्य के रस से बनी हुई आत्मा अपने कारण ज्योतिर्घन में लवलीन हो जाती है, और इसी को ज्योति से ज्योति का मिलना अथवा मुक्तिपाना कहते हैं इसके विरुद्ध यदि आत्मा कृष्णमार्ग से जावे तो यह यदि कर्मानुसार बीच के किसी प्रक्रम में न रुक जावे तो जाते-जाते अन्त में किसी घोर अन्धकार में प्रवेश करती है और उसी अन्धकार को नरक कहते हैं। वह नरक इस आत्मा के लिए घोर भयङ्कर दुःखस्थान है, क्योंकि यह आत्मा सूर्य के रस से बनी हुई है, उसको उस अन्धकार नरक में ज्योति का रस नहीं मिलता, इसलिए उसकी विकलता होना सम्भव है उसी को दुःख कहते हैं। इसलिए कृष्णमार्ग अन्त में दुःख और शुक्लमार्ग से अन्त में परमानन्द मोक्ष मिलता है, वह यही आत्मगति में दोनों मार्गों का रहस्य है।

इस प्रक्रिया से जो सूर्य सम्वत्सर के ५ विभाग सिद्ध हुए हैं उनमें पूर्व भाग की अपेक्षा उत्तर भाग बड़ा है, और उनमें क्रम से जाती हुई अन्त को सूर्य में प्राप्त हो जाती है यही बात यहां कही गई है। अब इनमें हम वह विशेषता दिखाते है जो कि प्राणी के शरीर धारण करने पर जीवन की अवस्था से सम्बन्ध रखती है और वह इस प्रकार है।

चेतन प्राणी की आत्मा, मन, प्राण, वाक् से बनी हुई है ये तीनों ही किसी न किसी परिमित मात्रा में ही आकर शरीर धारण करते है। यह सम्भव नहीं है कि कृमि, कीट, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी की आत्मा समान मात्रा की हो, ऐसी स्थिति में मनुष्य की आत्मा के लिये परीक्षा से सिद्ध हुआ है कि मन, प्राण, वाक् ये तीनों ही उसमें छत्तीस-छत्तीस हजार मात्रा की होती है और वह ३६००० हजार दिन तक ही शरीर धारण कर सकता है। किसी नियम के अनुसार आहार विहार में फरक पड़ने से उसी ३६००० हजार मात्रा को कुछ कम या अधिक दिन में खर्च करने से कम आयु या अधिक आयु भी हो सकती है। परन्तु उनका प्रधान परिमाण ३६००० दिन का ही है। इसीलिए वेद में सिद्धान्त किया है कि—"**शतायुर्वैपुरुषः**" अर्थात् मनुष्य की आयु १०० वर्ष की या ३६००० दिन की होती है। अब इस १०० वर्ष के यदि ५ भाग किये जावें तो प्रत्येक भाग २० वर्ष का होगा। इस प्रकार एक एक बीसी ही में आत्मा में सूर्य संवत्सर के उन पांच भागों में जाने के लिए बल उत्पन्न होता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बाल्यावस्था के बल की अपेक्षा उत्तरोत्तर बल की वृद्धि होती है। यद्यपि वृद्धावस्था में शरीर का

बल फिर घट जाता है, परन्तु इसका कारण आत्मा के शरीर से बन्धन की स्थिरता है अर्थात् बाल्यावस्था में आत्मा दुर्बल होने के कारण शरीर के भौतिक भाग को अधिक प्रयत्न से पकड़ती है, इसीलिए आत्मा की मधुरता से (प्रिय होने से) बालक का शरीर सुन्दर प्रतीत होता है। किन्तु ज्यों-ज्यों आत्मा बल पाकर स्वतन्त्र होती जाती है त्यों-त्यों शरीर का सहारा लेने से विमुख [ बे परवाह ] होती जाती है, यहां तक कि जब आत्मा में पूर्ण बल आ जाता है तो वह इस भौतिक शरीर को छोड़कर ज्योतिर्मय जगत् में जाने के लिए उत्सुक हो जाती है और इसी को मृत्यु कहते हैं। इसी बल से निश्चित-रूप से जानना चाहिए कि प्रत्येक बीसी से आत्मा का बल बढ़ता हुआ भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है और उन्हीं बलों के अनुसार आत्मा का ऊंचा बढ़ना संभव होता है।

प्राचीन महर्षियों ने परीक्षा करके निश्चय किया है कि २० वर्ष के पहले मरने में दुर्बल आत्मा अर्चि धूम में ही पहुंचकर रह सकती है। किन्तु उससे ऊपर अहोरात्र भाग में उत्क्रमण नहीं कर सकती, बीस से ऊपर चालीस के भीतर अहोरात्र तक चढ सकती है उससे ऊपर नहीं। किन्तु चालीस और साठ के भीतर शुक्ल, कृष्णपक्ष तक ही जा सकती है और साठ-अस्सी के भीतर उत्तरायण या दक्षिणायन तक ही जा सकती है। अस्सी से १०० वर्ष तक पूर्ण सम्वत्सर में जाने का बल पाती है। किन्तु सौ (१००) वर्ष से अधिक जीने पर सम्वत्सर के सप्तम् "नाकलोक" से भी ऊपर "काम प्रलोक" में जाने की शक्ति पाती है। यह विषय भगवान् याज्ञवल्क्य महर्षि ने अग्नि रहस्य काण्ड में निर्णय किया है, किन्तु यह प्रकृति नियम के अनुसार साधारण परिस्थिति मात्र है। जब कि विद्या का या कर्म का पूर्ण बल उपर्युक्त नियम के विरुद्ध आ जाता है, तो उसके अनुसार व्यभिचार होता है। अर्थात् शुकदेव जैसे ज्ञानी पुरुष की आत्मा प्रबल होने के कारण बाल्यावस्था में ही पूर्ण संवत्सर में की जा सकती है, और १०० वर्ष से अधिक जीने पर भी घोर पापी देवस्वर्गलोक में नहीं जा सकता। किन्तु ये दोनों कर्म बल काम और शुक्र इन दोनों से सम्बन्ध रखते हैं। इन दोनों के अलावा केवल स्वभाविक कर्म के अनुसार आत्मा की गति का नियम उपरोक्त ५ अवस्थाओं के नियमानुसार ही निश्चित है।

## काम

स्वाभाविक कर्म के अतिरिक्त अब हम उन प्रधान कर्मों की चर्चा करेंगे, जिन्हें काम या शुक्र कहते हैं। काम उन कर्मों को कहते हैं जिनका करना प्राणी की इच्छा पर निर्भर है, और जिन कर्मों के लिये करने वाला ही उत्तरदायी समझा जाता है। प्रायः जगत् भर के प्राणी ऐसे ही कर्मों को करते हुए नेकनाम या बदनाम होते हैं, यश प्रतिष्ठा या राजदण्ड पाते हैं।

ऐसे कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सुकर्म, विकर्म और अकर्म। इनमें अकर्म वह है जिसके करने न करने में हानि लाभ कुछ नहीं। किन्तु समय का व्यर्थ जाना और शरीर के बल का व्यर्थ व्यय होना अवश्य संभव है। इसलिये ऐसे कर्मों से भी प्राणी का अनिष्ट ही होता है इसी से यह भी पाप में गिना जाता है। इसके अतिरिक्त जिन कर्मों से अपनी या दूसरे की हानि होती है वही विकर्म अथवा पाप कर्म हैं ऐसे कर्मों के लिए शास्त्र में निषेध और समाज के विरुद्ध है। यह विकर्म भी दो प्रकार का है। एक

वह है कि जिससे इसी जन्म में या इसी समाज में अपना या दूसरे का अनिष्ट होता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता हो जैसे कूप में पड़कर मरना या दूसरे की चोरी या हत्या करना इत्यादि २। दूसरा वह विकर्म है जिसका परिणाम इस जन्म या इस समाज में भलि-भांति न दीखता हो किन्तु काल पाकर इसी जन्म में या दूसरे जन्म में अनिष्ट होता हो जैसे मिथ्या भाषण करना, दूसरे का अपमान करना, बहुत से वर्जित पदार्थों को खाना इत्यादि २। इनके अतिरिक्त सुकर्म वे हैं जिनके करने से अपनी या समाज की सुख-शांति होती हो, अपनी आत्मा को या दूसरे की आत्मा को सन्तोष या प्रसन्नता होती हो। बस ये ही तीन कर्म हैं। इनमें देश, काल, पात्र के विचार से ये तीनों ही परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् जो अत्यन्त सुकर्म है वही कभी विकर्म और विकर्म भी कभी सुकर्म हो सकता है। जैसा कि सत्य बोलना, दान करना सुकर्म है, किन्तु यदि सत्य भाषण से किसी उत्तम या श्रेष्ठ प्राणी की प्राण हानि होती हो तो उस सत्य से पाप होता है। शूद्र को वेद प्रदान, चोर को अभय दान, ब्रह्मचारी को पान [ ताम्बूल ] देना पाप है। इसी प्रकार किसी प्राणी का वध करना महापाप है। किन्तु वही किसी हत्यारे पापी की हत्या करना पुण्य है इत्यादि २। ऐसी स्थिति सुकर्म और विकर्म आदि का निश्चय करके सेवन करना या वर्जन करना प्राणी के अपने विचार पर निर्भर है। उसके विचार के लिये विद्या या विज्ञान की आवश्यकता है। बिना विद्या के ज्ञान या अन्यथा ज्ञान के संयोग से प्राणी पुण्य करता हुआ कभी पाप कर बैठता है। इसे ही शास्त्र में 'प्रज्ञापराध' कहते है। बस इससे यह सिद्धांत निकला कि सम्यक्ज्ञान, अन्यथा ज्ञान और अज्ञान इसी प्रकार सत् कर्म, विकर्म और अकर्म ये ६ ही व्यवहार के निमित्त ( कारण ) हैं। इनमें सम्यग्ज्ञान से सत्कर्म होकर उससे आत्मा को सुख शांति मिलती है किन्तु अज्ञान या अन्यथा ज्ञान से विकर्म और अकर्म होते हैं और उनमें आत्मा को दुःख मिलता है। सुख का कारण केवल एक ही है और दुःख के कारण दो हैं, इसी से आजन्म सुख की इच्छा या सुख के लिये प्रयत्न भरपूर करते रहने पर भी जगत् के सभी प्राणी अधिकतर दुःखी दीखते हैं, जिन कर्मों से दुःख मिलता है, वही पाप हैं।

इस प्रकार सम्यक्ज्ञान से उत्पन्न हुए सत्कर्म से जो अतिशय उत्पन्न होता है उससे आत्मा की गति उत्तम होती है। ऐसे सत्कर्म प्राणी की व्यक्तिगत कामना या देश, काल पात्र के अनुरोध से अनन्त प्रकार के होने पर भी उनकी जाति मुख्यतः तीन ही होती हैं। इष्ट, आपूर्त और दत्त–इष्ट एक प्रकार का लघु [ पाक ] यज्ञ है जैसे किसी अनाथ कन्या, बालक का विवाह और यज्ञोपवीत आदि संस्कार करना। आपूर्त वह कर्म है जो सकल साधारण जनता के सुख के लिये कोई शाश्वतिक कर्म किया जाय जैसे कूप, वापी [ बावड़ी ] सरोवर, उपवन, पन्था [राजमार्ग] वृक्ष लगाना, देवालय बनवाना, सदावर्त, धर्मशाला, चिकित्सालय [ औषधालय ] पाठशाला, पुस्तकालय इत्यादि। दत्त वह दान है जिस में अङ्ग हीन, रोगी दुःखी या कोई जाति को दिया जावे। इस प्रकार तीन जाति के कर्म प्रायः जगत् भर शास्त्र विरुद्ध सम्पूर्ण जगत् के प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ न कुछ पाप कर्म भी किया ही करते हैं। पाप उसी कर्म को कहते हैं जो पराई आत्मा को या पराये प्राण, शरीर, धन सम्पदा का हरण करके दुःख पहुंचाता हो और अकर्म भी यद्यपि दूसरी आत्मा को दुःख न देकर होता है, तथापि समय नष्ट होने से अपनी आत्मा का बल व्यर्थ नष्ट होता है, इसीलिये पाप ही है। इसीलिये सत्कर्म, विकर्म, अकर्म के भेद से तीन प्रकार के कर्म होने पर भी विचार से दो ही कर्म सिद्ध होते हैं। पुण्य और पाप और इन से आत्म

गति भी दो ही प्रकार की होती है। आत्मा को सुख देने वाला पितृ स्वर्गलोक और आत्मा को दुःख देने वाला नरकलोक–ये दोनों ही लोक एक मार्ग में मिलते हैं, जिसको पितृयान कहते हैं। यह मार्ग चन्द्रमा से लोकालोक तक फैला हुआ है। जिसमें चन्द्र से यम तक जितने लोक हैं वे सब पितृस्वर्ग कहे जाते हैं और उनमें सर्वत्र आत्मा को सुख शांति मिलती है। यदि इस पितृयान को मनुष्य देखना चाहे तो उसकी दिशा की आज्ञा बिना भी प्रत्येक प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ न कुछ किया ही करता है। किन्तु इनके यही बनाई जा सकती है, कि आकाश में वैश्वानर मार्ग अथवा अजवीथी अथवा मकरवृत से दक्षिण और अगस्त्य के तारे से उत्तर ४२ अक्षांश से परिच्छिन्न प्रदेश की ओर है इसी में सत्कर्म करने से पितृस्वर्ग तक या कुकर्म, अकर्म करने से नरकलोक में जाती है। इनमें पितृस्वर्ग तीन प्रकार का है—उदन्वती, पीलुमती और प्रद्यौ। इनमें प्रद्यौ सबसे उत्तम है और नरकलोक मुख्यतः सात माने जाते हैं उनमें प्रत्येक चार २ प्रकार के होने से २८ कहे गये हैं उनमें भी प्रत्येक तीन २ शाखा होने से ८४ नरक कहे जाते हैं। सात लोकों के ( नरकों ) के नाम—१–रौरव, २–महारौरव, ३–कुम्भीपाक, ४–कालसूत्र, ५–संघान, ६–तपन ७–अवीचि और २८ नरक भागवत् के पञ्चमस्कन्ध के २६ वें अध्याय में है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ तामिस्र | २ अन्धतामिस्र | ३ रौरव | ४ महारौरव |
| ५ कुम्भीपाक | ६ कालसूत्र | ७ आसिपत्रवन | ८ सूकर मुख |
| ९ अन्धकूप | १० कृमिभोजन | ११ संदंश | १२ तप्तसूर्मि |
| १३ वज्रकण्टक | १४ वैतरणी | १५ पूयोद | १६ प्राणरोध |
| १७ विशसन | १८ लालाभक्ष | १९ सारमेपादन | २० अवीचि |
| २१ अयःपान | २२ क्षारकर्दम | २३ रक्षोगण भोजन | २४ शूलप्रोत |
| २५ दन्दशूक | २६ वट निरोधन | २७ पर्य्यावर्तन | २८ सूचीमुख |

इस प्रकार पितृयान मार्ग के दो प्रधान विभाग हैं—१–तीन पितृ स्वर्गलोक और दूसरा ८४ यम यातना ( कष्ट ) के नरक लोक। इन की अनेक शाखा प्रशाखा होने पर भी उनमें सुख दुःख भोगने के तारतम्य अवश्य है। उस तारतम्य का कारण मुख्यकर कर्मों का बोलबाला है। किन्तु उन कर्मों के बला-बल का कारण कामना ही है। कामना विशेष से वह एक ही कर्म प्रबल पाप या कम पाप अथवा निष्पाप, इसी प्रकार प्रबल पुण्य या कम पुण्य या अपुण्य हो सकता है। तात्पर्य यह है कि कोई भी कर्म स्वतन्त्ररूप से पाप या पुण्य नहीं हो सकता, केवल उनके पाप पुण्य होने का कारण उस करने वाले के श्रद्धा, विचार और कामना पर निर्भर है। इसलिये कामना ही गति का मुख्य निमित्त है इसीलिये वेद में कहा है—

**कामान् यः कामयते मन्यमानः स कार्मभिर्जायते यत्र तत्र।**
**पर्याप्त कामस्य कृतात् मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥**

अर्थात् जो समझ बूझकर नाना प्रकार की कामनाओं की इच्छा रखता है, वह उन्हीं कामनाओं के बल से जहां तहां जन्म लिया करता है और जिसकी कामनायें आत्म शक्ति पहचानने के कारण नष्ट हो गई हैं, उसकी सब कामनायें अपनी आत्मा में ही पूरी हो जाने के कारण आत्मा में ही विलीयमान हो जाती है। इसीलिए उसकी कही भी अन्यत्र गति न होकर यहां ही समवलय मुक्ति हो जाती है।

यहां पर यह प्रश्न उठता है कि यदि कामना को गति में निमित्त माना जाता है तो पितृयान मार्ग से जाने वाले को सर्वदा स्वर्ग ही मिलना चाहिए, नरकलोक में गति होना असंभव है। क्योंकि आबाल वृद्ध, आपामर विद्वान् कोई भी प्राणी नरक में दुःख भोगने के लिये कामना नहीं रखता और कहा गया है कि कामना ही से खिचा हुआ प्राणी नीचे ऊँचे लोकों में जहां तहां भटकता है। तो जब कि नरक के लिये कामना नहीं तो वह प्राणी नरक में किस निमित्त से जा सकेगा। इसका उत्तर यह है कि कामना किसी लोक में जाने की नहीं हुआ करती, क्योंकि यह कामना प्रायः सम्पूर्ण जगत् के प्राणियों में उनके व्यवहारों में देखी जाती है। बिना काम के कोई भी व्यवहार जगत् का नहीं चलता, परन्तु इन प्राणियों में बहुत ही कम ऐसे हैं जो स्वर्ग, नरक जानते हों, या जानकर भी उनमें विश्वास रखते हों, तो ऐसी स्थिति में स्वर्ग, नरक की कामना के विचार का यहां प्रस्ताव नहीं है। कामना से तात्पर्य यह है कि जो कुछ कोई कर्म करता है वह कुछ न कुछ अवश्य ही उस कर्म का उद्देश्य या प्रयोजन रखता है। निष्काम कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती, तो ऐसी स्थिति में जिस काम से या जिस विचार से वह किसी कर्म को करता है, वह काम या विचार यदि समाज का या दूसरी आत्मा का विद्रोह या हानि को उद्देश्य रखकर किया जाता है तो पाप है और उस पाप के अनुसार जैसा दुःख प्राप्त होना प्रकृति में नियत है वह दुःख उस आत्मा को न्यून या अधिक परवश अवश्य ही मिलेगा यही नरक का तात्पर्य है। इसीलिये काम के द्वारा सुख या दुःख पाने योग्य स्थान में आत्मा का जाना अवश्यमेव है।

## शुक्र

शुक्र उस अतिशय का नाम है जो कर्म के द्वारा आत्मा में उत्पन्न हुआ करता है। परन्तु कर्म यदि किसी कामना से इच्छानुसार किया जाय तो उस कर्म से जो शुक्र उत्पन्न होता है उसे काम कहते हैं और उसका वर्णन पहले हो चुका है। परन्तु अब शुक्र उस कर्मजन्य अतिशय के लिये विवक्षित (कथनीय) है कि जो कर्म अपनी इच्छा पर निर्भर न करके पुराने ऋषि आचार्य आदि महानुभावों की आज्ञा के अनुसार अपना कर्तव्य समझकर किया जाता हो, जैसे सन्ध्यावन्दन या साग्नि द्विजातियों के लिये यज्ञ विधि कही गई हैं इसी प्रकार तप और दान की भी आज्ञा है जिनकी कर्तव्यता अपना इच्छानुसार न होकर आचार्यों की आज्ञानुसार ही किसी विशेष नियम के रूप में किये जाते है। अपनी इच्छानुसार मनमानी कार्यवाही न होने के कारण इनको काम तो कदापि नहीं कह सकते, इसलिये इनको शुक्र कहते हैं।

## यज्ञ

ऐसे कर्म तीन जाति के हैं। यज्ञ, तप, दान—इनमें अग्निचयन यज्ञ के अतिरिक्त और किसी भी यज्ञ से मुक्ति नहीं होती, किन्तु केवल स्वर्ग होता है जैसा कि वेद का सिद्धान्त हैं—

**"यज्ञेषु नामृतत्वस्याशाऽस्ति, ऋते चयनयज्ञात्"**

अर्थात् यज्ञों में मोक्ष की आशा नहीं है सिवाय अग्निचयन यज्ञ के।

यज्ञ ४ प्रकार के हैं । + पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, महायज्ञ, अतियज्ञ (बड़ा) इनमें पाकयज्ञ बिना अग्नि के या एक अग्नि से भी होता है । शेष सब यज्ञ तीन-तीन अग्नि से होते हैं और वे अग्नि ये हैं–आहवनीय गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि (एक प्रकार की चन्द्रमा की अग्नि) इन तीनों से हविर्यज्ञ होता है। किन्तु महायज्ञ और अतियज्ञ में आहवनीय, गार्हपत्य और धिष्ण्याग्नि, इन तीनों अग्नियों से यज्ञ होता है इन यज्ञों से एक नवीन आत्मा देवलोक या सूर्य सम्वत्सर में उत्पन्न की जाती है । अर्थात् जो विज्ञानमय आत्मा सूर्य रस से अपने आप प्राकृतिक नियमानुसार सभी प्राणियों में उत्पन्न होती रहती है । वह वृक्ष और कृमि आदि क्षुद्र जीवों से लेकर मनुष्य पर्यन्त कम २ से बढ़ती हुई मात्रा में उत्पन्न होती है किन्तु मनुष्य में भी साधारण मनुष्य की अपेक्षा विद्वान्, तपस्वी, सम्राट आदि में विशेषमात्रा से रहती है । तथापि वह विज्ञानमय आत्मा ❀प्रज्ञानमय आत्मा के प्रबल पातक कर्मों से दब जाता है । जिसके कारण अपने स्वभावानुसार सूर्य रूपी स्वर्ग में जाने की इच्छा रखती हुई भी उधर न जाकर दक्षिणामार्ग में चली जाती है इसी दुर्बलता को मिटाने के लिये यज्ञ का विधा है, इन यज्ञों से उस मानुषी विज्ञानमय आत्मा में प्रत्येक देवता का संस्कार करके उसी विज्ञानमय मानुषी आत्मा पर दैवी आत्मा उत्पन्न करली जाती है, जिसके कारण वह आत्मा देवताओं का घनरूप सूर्य सम्वत्सर में जाने के लिये अधिक बलवान् हो जाती है, और अवश्य ही चन्द्रमा से उसकी गति सूर्य की ओर जाने की स्वभाविक हो जाती है यही यज्ञों का रहस्य है । यज्ञ करने से विज्ञानमय मानुषीआत्मा में जो भिन्न-भिन्न देवताओं के रसों का संस्कार उत्पन्न होता है उसे ही शुक्र कहते हैं और वही शुक्र उस आत्मा को प्रबल वेग से सूर्य की ओर आकृष्ट करके ले जाता है ।

इन यज्ञों में हविर्यज्ञ ही मुख्य है । यद्यपि महायज्ञ अर्थात् सोमयज्ञ ही मुख्य यज्ञ है, अथवा यों कहिये कि अग्नि में सोम की आहुति देना इसी का नाम यज्ञ है । यह आहुति महायज्ञ और अतियज्ञ में ही दी जाती है, इसलिये उन्हीं को यज्ञ कहना चाहिये । हविर्यज्ञ में × पुरोडास के साथ घृत की आहुति दी

---

+ पाकयज्ञ स्मार्तयज्ञ है और शेष श्रौतयज्ञ है । (पाक=छोटा) ऐहिलौकिक कामनाओं को सिद्ध करने के लिये है ।

❀ प्राज्ञात्मा जिन-जिन विषयों से संयोग करता है उनमें उसका योग ४ प्रकार का होता है । सुयोग, हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग । इनमें विज्ञान के सम्बन्ध से प्रज्ञान सुयोग करता है, किन्तु विज्ञान के सहयोग की अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रूप से यदि प्रज्ञान योग करें तो हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग होंगे । यही तीन कुयोग त्रिविध दुःखों का मूल कारण है । इसीलिये प्रज्ञापराध से ही सब दुःखों का होना माना गया है प्रज्ञापराध से होते हुए तीनों कुयोग ही पाप के मुख्य लक्षण हैं । यदि विज्ञानआत्मा को यज्ञ संस्कार करके अत्यन्त प्रबल बनाई जाय तो वह प्रज्ञापराध से उत्पन्न प्रज्ञान के सब दोषों को अर्थात् पापों को नाश करके उस प्रज्ञान को अपनी योनि अर्थात् सूर्य की ओर बलात्कार से ले जाती है यही यज्ञ से लाभ है ।

× जौ के आटे का लुगद (पुरो=आगे और डास=देना)-आगे याने घृत के पहले ।

जाती है न कि सोम की, इसलिये इसको यज्ञ नहीं कहना चाहिये तथापि बिना हविर्यज्ञ के सोमयज्ञ नहीं किया जा सकता क्योंकि देव चक्र रूपी सूर्य सम्वत्सर के ५ विभाग किये जाते हैं—

१–अहोरात्र, २–शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, ३ऋतु (ग्रीष्म, वर्षा, शीत) ४–दोनों अयन और ५–सम्वत्सर। इनमें अहोरात्र आदि सम्वत्सर के अवयवों का संस्कार किये बिना पूर्ण सम्वत्सर का संस्कार नहीं हो सकता और सम्वत्सर संस्कार बिना सम्वत्सर में व्याप्त हुए देवताओं का मानुषी विज्ञानआत्मा में संस्कार नहीं हो सकता इसलिये अग्निहोत्र से आरम्भ करके पांच प्रकार के हविर्यज्ञों से सम्वत्सर के अवयवों का प्रथम संस्कार करके पूर्ण सम्वत्सर का संस्कार करना सोम यज्ञ रूपी महायज्ञ कहलाता है। इसलिये महायज्ञ की सिद्धि का कारण होने से हविर्यज्ञ भी यज्ञ कहा जाता है।

यह हविर्यज्ञ ५ प्रकार के हैं—१–अभ्याधान, २–अग्निहोत्र, ३–दर्शपूर्णमास, ४–चातुर्मास, ५–पशुबन्ध। इनमें अभ्याधान से केवल अग्नि का संस्कार होता है अर्थात् लौकिक अग्नि के अतिरिक्त एक नया वैध अग्नि उत्पन्न की जाती है जिसमें देवता के ग्रहण करने की शक्ति है। इसी अग्नि पर शेष पांच हविर्यज्ञ किये जाते हैं, जिनसे सम्वत्सर के पांच अवयवों का क्रम से संस्कार होता है। जैसे सायं प्रातः अग्निहोत्र करने से अहोरात्र का संस्कार होता है, और दर्शपूर्णमास से शुक्ल कृष्णपक्ष का संस्कार होता है और तीन चातुर्मास यज्ञ से ऋतु के तीन चातुर्मास का संस्कार होता है और पशुबन्ध से दोनों अयनों का संस्कार होता है। इसके पश्चात् यह विज्ञानआत्मा महाविशाल होकर पूर्ण सम्वत्सर में पहुंचता है, तब सोमयज्ञ से उस सम्वत्सर को संस्कार करने से मानुषी विज्ञानआत्मा में बब देवताओं का समावेश हो जाता है। जिससे विज्ञानमय मानुषी आत्मा में ३३ देवताओं से ६ वषट्कारों के द्वारा यज्ञमय दैवी आत्मा उत्पन्न हो जाती है। वही दैवआत्मा अपने साथ श्लिष्ट (संयुक्त) प्रज्ञानआत्मा को सूर्य सम्वत्सर में ले जाती है और वह सूर्य सम्वत्सर आनन्द घन है, इसलिये उसे देवस्वर्ग कहते हैं। उसमें जाना ही यज्ञ का फल है।

इन यज्ञों से हमारी विज्ञानआत्मा में एक प्रकार का बल उत्पन्न होता है, जिसको यज्ञ का 'ऊर्क' कहते हैं। यह ऊर्क आहुति के अनुसार उत्पन्न होता है। अर्थात् सबसे प्रथम अभ्यादान संस्कार से ब्राह्मण साग्निक बनता है अर्थात् ब्राह्मण के शरीर में प्राकृत नियमानुसार जो वैश्वानर अग्नि है, उसमें एक नये प्रकार का अग्नि संस्कार किया जाता है जिसके द्वारा ब्राह्मण की भूतात्मा विज्ञान में आये हुये देवताओं को धारण करने में समर्थ होता है। एक देवता को दूसरे देवता के साथ एक प्रकार का याज्ञिक सम्बन्ध होता है, जिस सम्बन्ध को आजकल पाश्चात्यविद्या ( Science ) के विद्वान्लोग रासायनिक संयोग के नाम से व्यवहार करते हैं। इस सम्बन्ध या संयोग से मिलने वाले दोनों पदार्थों के निज का स्वरूप सर्वथा नष्ट होकर एक नई वस्तु उत्पन्न होती है जिसमें कर्म, रूप, नाम तीनों बदल जाते हैं। इसी को सम्बन्ध उत्पन्न करने के लिये प्रत्येक संस्कार में अग्नि की आवश्यकता होती है। परन्तु यह सामर्थ्य प्रत्येक अग्नि में नहीं होती, इसके लिये कोई विशेष अग्नि उत्पन्न करनी पड़ती है उसी को वैध अग्नि कहते हैं। वैश्वानर अग्नि प्रत्येक प्राणी के शरीर में स्वभाव से उत्पन्न होता है, किन्तु उसमें याज्ञिक संस्कार करने का बल किसी किसी समय अपने आप उत्पन्न हो जाने पर भी प्रतिक्षण वह बल नहीं

रहता, परीक्षा से स्थिर हुआ है कि भोजन, जलपान, भाषण, शयन, मूत्र, पुरीषोत्सर्ग, मैथुन, सूर्य चन्द्र-ग्रहण, तीर्थ विशेष संसर्ग, किसी तपस्वी योगी का दृष्टि प्रभाव, किसी मन्त्रशास्त्र के मन्त्र का प्रभाव, भूतावेश इत्यादि निमित्त के समय प्रत्येक प्राणी के शारीरक वैश्वानर अग्नि में एक प्रकार का क्षोभ अवश्य उत्पन्न होता है। जिससे शारीरक विद्युत् प्रवाह एक दूसरे को मिलाकर याज्ञिक का सम्बन्ध उत्पन्न कर देता है, परन्तु यह शक्ति नैमित्तिक होने से सर्वदा बनी रहती। इसलिये अग्न्याधान संस्कार से इस वैश्वानर अग्नि में सदा के लिये दूसरा अग्नि उत्पन्न कर दिया जाता है जिसके कारण हमारे विज्ञानमय आत्मा के देवताओं में सूर्य सम्वत्सर के देवताओं का संयोग याज्ञिक सम्बन्ध से होकर विज्ञान-मय आत्मा में विशेष बलाधान किया जाता है यही बलाधान अग्न्याधान आदि हविर्यज्ञों का फल है।

वैश्वानर अग्नि में इस प्रकार याज्ञिक अग्नि उत्पन्न होने पर उस अग्नि की रक्षा के लिये अन्न की आहुति की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार प्राकृत शरीर की वैश्वानर अग्नि की रक्षा के लिये सायं प्रातः भोजन किया जाता है, और उसमें अग्नि नष्ट नहीं होने पाती उसी प्रकार इस नये याज्ञिक अग्नि की रक्षा के लिये भोजन दिया जाता है उसी को आहुति कहते हैं जिस प्रकार प्राणी के भोजन में दिन-भर अग्नि को स्थिर रखने का ही सामर्थ्य है। इसलिये रात्रि में फिर भोजन करना पड़ता है। अर्थात् भोजन की शक्ति के अनुसार अग्नि की तृप्ति होकर पश्चात् फिर भूख लगती है। इस प्रकार सायं प्रातः आहुति का भी ऊर्क ( बल ) अहोरात्र के आधे काल तक ही बना रहता है अर्थात् अग्निहोत्र की प्रातः आहुति का बल सायंकाल तक, और सायं आहुति का बल प्रातःकाल तक बना रहता है। यही अग्नि-होत्र में सायं प्रातः आहुति का फल है। प्राणोत्क्रमण के पश्चात् भी जन्म भर अग्निहोत्र करने को याज्ञिक ऊर्क सूर्य सम्वत्सर के अहोरात्र भाग में ही पर्याप्त होकर कार्यकारी हो सकता है। अर्थात् वह आत्मा सम्वत्सर के अहोरात्र के अहोभाग में ही रहकर उसका आनन्द भोग करता है। किन्तु अग्निहोत्र के बल से अहोरात्र की अपेक्षा बड़ा भाग शुक्ल कृष्ण पक्ष का सुख नहीं ले सकता, इसलिये अग्निहोत्र करने वाले को इष्टि अर्थात् दर्श पूर्णमास की आवश्यकता है। इस इष्टि से हमारे विज्ञानमय आत्मा में जो याज्ञिक अग्नि है उसकी रक्षा होकर प्राणोत्क्रमण के पश्चात् उस याज्ञिक ऊर्क के प्रभाव से शुक्ल, कृष्णपक्ष रूपी विभाग में जा सकती है। किन्तु उससे विस्तृत विभाग अर्थात् ऋतु विभाग में नहीं जा सकती, परन्तु दर्श पूर्णमास करता हुआ यदि चातुर्मास याज्ञिक यज्ञ करे तो उस आत्मा में चार मास तक अग्निस्थिति का ऊर्क उत्पन्न होकर सूर्य सन्वत्सर के ऋतु भाग में जाने के योग्य हो जाता है इसी प्रकार पशु बन्ध करने से आत्मा की याज्ञिक अग्नि में षाण्मासिक ऊर्क उत्पन्न होकर सम्वत्सर के आधे भाग में अर्थात् उत्तरायण में व्याप्त होकर उसका आनन्द पाने के योग्य हो जाता है। इसके अनन्तर ज्योतिष्टोम आदि सोम यज्ञ करने से शरीर की याज्ञिक अग्नि में पूर्ण सम्वत्सर का बल उत्पन्न होकर सूर्य के बिना अन्धकार वाले नित्य प्रकाश भाग में आत्मा प्रविष्ट होकर परमानन्दरूपी स्वर्ग सुख भोगता है, यही यज्ञ का फल है।
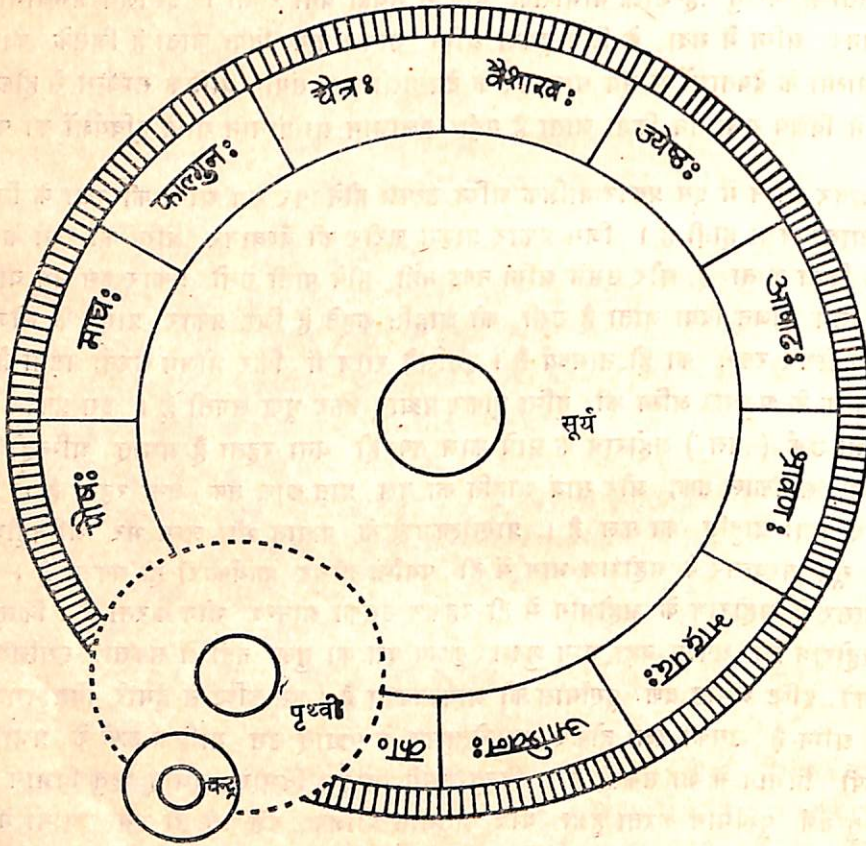
पृथिवी परिभ्रमण परिलेख:-

यदि सोमयज्ञ न भी किया जाय तो भी यदि ३० वर्ष तक लगातार दर्शपूर्ण मास करे तो ३६० दर्श ( अमावस्या ) या पूर्णमास का संस्कार होने से सम्पूर्ण सम्वत्सर का चारों ओर संस्कार हो जाता है जिसे केवल ३० वर्ष की पूर्णमासेष्टि से ही सोमयज्ञ का काम पूर्ण हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त यदि कोई निरग्निक ब्राह्मण हो तो वह ८० वर्ष से ऊपर जीवन पाने से पूर्ण सम्वत्सर में जा सकता है । यही तीन उपाय अर्थात् सोम यज्ञ और ३० वर्ष की अनवच्छिन्न इष्टि और ८० वर्ष से अधिक जीवन प्राणी को समानरूप से सम्वत्सर में पहुंचा सकते हैं । किन्तु अग्नि चयन में सप्तविद्या अग्नि की विद्या को जानकर उसके चयन करने से अथवा बिना विद्या के भी एक शतविद्-

अग्नि के चयन से अथवा १०० वर्ष से अधिक आयु पाने से आत्मा सम्वत्सर के सातों देवलोक को पार करके नाकलोक से भी परे काम प्रलोक में जाकर अवर मुक्ति पाती है। इस अवर मुक्ति के ये तीनों उपाय बराबर हैं।

यहां यह प्रश्न होता है कि सोमयज्ञ से मुक्ति न होकर अग्नि चयन से ही मुक्ति क्यों होती है। इसका उत्तर इस प्रकार है कि सोमयज्ञ महावेदी पर किया जाता है इसके पश्चिम भाग में ऐष्टिक वेदी होती है, जिसके पश्चिम भाग में गार्हपत्यायतन होता है। जिसका तात्पर्य पृथ्वी की अग्नि से है, और उस वेदी के पूर्व भाग में आहवनीय यतन होता है जिसका तात्पर्य सूर्य की अग्नि से है। दर्श पूर्णमास आदि इष्टियों में इसी आहवनीय अग्नि में आहुतियाँ दी जाती है। किन्तु सोमयज्ञ में यही आहवनीयाग्नि सूर्य से नहीं होने पर भी पृथ्वी में होने के कारण गार्हपत्यअग्नि माना जाता है और महावेदी के पूर्व भाग में यूप के सन्निहित पश्चिम में उत्तर वेदी बनाई जाती है, उस पर असली आहवनीय यतन होता है जिसमें सोम की आहुति दी जाती है। यह विधान मनुष्य की आत्मा से संबन्ध रखता है। अर्थात् मनुष्य का शरीर ऐष्टिक वेदी है, उसके पश्चिम भाग में अर्थात् नाभिकुण्ड में गार्हपत्या यतन है उसी पृथ्वी का रसरूपी अग्नि प्रज्वलित रहता है, और उस वेदी के पूर्वभाग अर्थात् शिर में देवाग्नि का आहवनीया यतन है। इसी में हमारे विज्ञानमय आत्मा सूर्य रस से उत्पन्न होकर प्रज्वलित रहती है, इन्द्रिय रूपी सूची–स्रुवा से घी की उसमें नित्य प्रति आहुतियाँ होती रहती हैं। अब इस मनुष्य शरीर से आरम्भ करके सूर्य तक त्रैलोक्यरूपी महावेदी समझनी चाहिए। जिसके पूर्व के छोर में सूर्य मण्डल ही यूप है, उसके सन्निहित पश्चिम में उत्तरवेदी निर्धारित करके उसमें पूर्ण सम्वत्सर रूपी सूर्याग्निमय आहवनीया यतन स्थिर किया जाता है। जो कोई यजमान सोमयज्ञ करता हुआ उत्तर वेदी में सोम की आहुति देता है उससे इस यजमान की आत्मा से आरम्भ करके सूर्य तक जो महावेदी है उसके आहवनीया यतन में सोम की आहुति होकर उससे अग्नि उत्पन्न होता है जिस अग्नि से यजमान का ज्योतिर्मय नवीन शरीर सूर्य के समीप उत्पन्न होता है जिसको यजमान की दैवआत्मा सदा उस आहवनीया यतन में ही स्थिर रहती है उस आहवनीया यतन को वेद में बार बार स्वर्ग नाम दिया है। उस दैवआत्मा से यजमान की मानुष-आत्मा याज्ञिक सम्बन्ध से संबद्ध रहती है। अर्थात् त्रिवृत्त, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, इस प्रकार वषट्कार ही याज्ञिक संबन्ध है। किन्तु इसमें एकविंशस्तोम पर ही सूर्य का मण्डल मिलता उसके आगे दो स्तोम के हैं, उसको छोड़कर एकविंशस्तोम ही स्वर्ग माना जाता है। मनुष्य की आत्मा से उस एक विंशस्तोम पर विद्यमान दैवआत्मा तक वेद के मन्त्रों में उत्पन्न हुई वाक् व्याप्त होती है। उसमें यज्ञ की क्रिया से प्राण का संचार होता है और यजमान या ऋत्विकों का विज्ञान, श्रद्धा, विश्वास आदि मनोयोग के द्वारा मन का प्रवेश होता है इस प्रकार मनुष्य आत्मा से दैवी आत्मा तक मन, प्राण, वाक् से सुदृढ़ मार्ग उत्पन्न हो जाता है। जिस मार्ग में मानुषआत्मा से दैवआत्मा तक और दैवआत्मा से मनुष्यआत्मा तक विद्युतरूपी इन्द्र के प्रबल वेग से सञ्चार होता रहता है और प्राणोत्क्रमण के पश्चात् उसी विज्ञानमय आत्मा में मिली हुई प्रज्ञानमय आत्मा उस ही मार्ग से जाती हुई दैवआत्मा में पहुंच जाती है और वह मार्ग भी टूट जाता है और यह मानुषआत्मा दैवआत्मा से एक होकर जब तक यज्ञ का बल रहता है तब तक वहां पर स्वर्ग सुख भोगती रहती है। यज्ञ बल नष्ट होने पर वह आत्मा फिर

यूप
आहवनीय
उत्तरवेदिः
सोमयज्ञ
की वेदी
उत्तर
धिष्ण्याग्नि
दक्षिण
महावेदिः
आहवनीय
अग्नि
हविर्यज्ञ की वेदी
ऐष्टिक वेदी
यकृत
दक्षिणाग्नि
गार्हपत्य अग्नि
पश्चिम
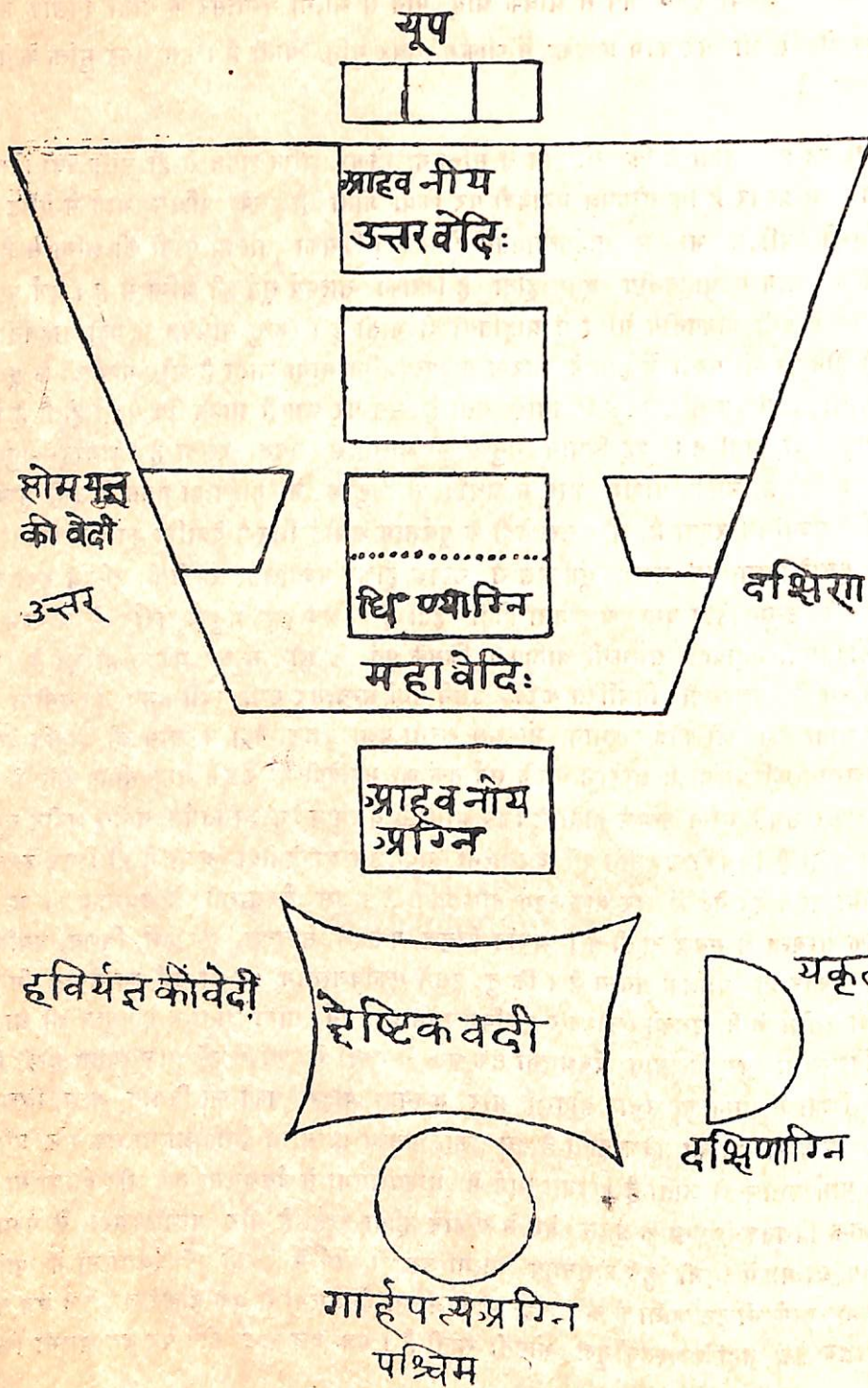
पृथ्वी की ओर भूतानुशय के द्वारा अवतीर्ण होकर पुनर्वार जन्म लेती है, यही सोमयज्ञ का रहस्य है। इससे सिद्ध हुआ कि सोमयज्ञ के द्वारा सूर्य के समीप यज्ञ तक ही जा सकता है, उससे ऊपर ले जाने का यज्ञ में बल नहीं है। इसी आत्मा के लिए वेद में लिखा है कि—

**"एष दैवे यजमानस्यामुष्मिन् लोके आत्मा भवति, यद् यज्ञः"**

और भी लिखा है कि—

**"तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः"**

पहली श्रुति का परिच्छेद—एष-द वै-यजमानस्य-अमुष्मिन् लोके-आत्मा-भवति-यत् यज्ञः।

दूसरी का—तं नयन्ति-एताः सूर्यस्य-रश्मयः-यत्र देवानाम् पतिः-एकः-अधिवासः।

पहली श्रुति का अर्थ यह है—यही यजमान की परलोक में आत्मा बनती है जोकि यज्ञ किया जाता है।

दूसरी श्रुति का अर्थ है कि—उसको ले जाते हैं ये सूर्य की किरणें जहां पर कि देवताओं का स्वामी है और जहां देवताओं का एक प्रधान निवास स्थान है।

## चयनयज्ञ

इस प्रकार सोमयज्ञ के करने से प्राण के शरीर में वैश्वानर नाम के मनुष्याग्नि का तो संस्कार नहीं होता है, उसके सम्बन्धी विज्ञान आत्मा के द्वारा सूर्य के पास जहां पृथ्वी का अग्नि मण्डल समाप्त होता है और सूर्य का अग्नि उससे मिलता है उस स्थान पर दिव्याग्नि या सूर्याग्नि का ही इस सोम यज्ञ से संस्कार होता है। उस स्वर्गीय दिव्याग्नि को आहवनीय बनकर उसमें हमारे भूतात्मा से मिले हुए हमारे विज्ञानमय क्षेत्रज्ञात्मा को साम के द्वारा बांध देना ही उसका संस्कार हैं। जिससे मेरी आत्मा उत्क्रमण के पश्चात् उसी दिव्याग्नि में जाकर जिरकाल तक ठहर सके। यज्ञ के ऊर्क के अनुसार ही वह दैव आत्मा कुछ समय तक विद्यमान रह सकती है और उसके संसर्ग से हमारे विज्ञान आत्मा के द्वारा भूतात्मा भी उसी स्थान में (१७ स्तोम से २१ स्तोम तक जो स्वर्ग है) रहकर सुख पा सकती है। किन्तु यज्ञ का ऊर्क समाप्त होनेपर दैव आत्मा नष्ट हो जाती है। आलम्बन के नष्ट हो जाने पर भूतात्मा को फिर पृथ्वी पर आना पड़ता है, इसी न्यूनता की पूर्ति के लिये अग्नि चयन का विधान है। अग्नि चयन में दो प्रकार का यज्ञ होता है। १-अध्वर ( जिससे डावाडोल नहीं ) २-चित्य—इनमें अध्वर सोम यज्ञ है और चित्य अग्नियज्ञ है। सोमयज्ञ के कारण दैव आत्मा रूपी विज्ञान आत्मा का संस्कार होता है किन्तु हमारी मानुष आत्मा की विज्ञान आत्मा और उसके साथी वैश्वानर आत्मा का संस्कार न होने के कारण भूतात्मा को पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। इसलिये इस चयनयज्ञ से हमारी भूतात्मा का वैश्वानर आत्मा की साथ लेकर हमारी आत्मा का संस्कार यहां तक किया जाता है कि उसका भूतात्मापना सवर्था नष्ट कर दिया जाता है जिससे भूतात्मा का भौतिक भाग परिपक्व होकर शुद्ध विज्ञानमय बनकर सूर्य से भी आगे "काम प्रलोक" से जाने की शक्ति उत्पन्न कर लेती है।

मनुष्य के शरीर में मनुष्य के जन्मने पर पृथ्वी के केन्द्र से अङ्गिरा अग्नि प्रपद के द्वारा प्रवेश करता है और द्यौ लोक से आदित्य अग्नि ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्रवेश करता है। ये दोनों अग्नि विरुद्ध दिशा से आकर परस्पर में घर्षण करते हैं जिससे शरीर में उत्ताप (गर्मी) उत्पन्न होती है और इसी उत्ताप को वैश्वानर अग्नि कहते हैं। वैश्वानर कहने का तात्पर्य यह है कि लोक को विश्व कहते हैं और उसके नायक अर्थात् अधिष्ठाता शासक को नर कहते हैं, अर्थात् चलाने वाला। तीन लोक होने से उन तीनों का लोकपति विश्वानर कहा जाता है। विश्व तीन होने से विश्वानर भी तीन हैं—पृथ्वी में अङ्गिराअग्नि, अन्तरिक्ष में यम या वायु अग्नि, और द्यौ लोक में आदित्याग्नि इन तीनों के मेल से जो नया शारीरक अग्नि उत्पन्न होता है, वह विश्वानरों से उत्पन्न होने के कारण वैश्वानर कहा जाता है इस वैश्वानर में तीन अग्नि के मेल होने के कारण इस शरीर के वैश्वानर से तीन प्रकार का प्राण शरीर में सञ्चार करता है। आदित्याग्नि के भाग को प्राण और पार्थिव, अग्नि के भाग को अपात और अन्तरिक्षाग्नि को को व्यान कहते हैं। आता हुआ प्राण व्यान के प्रत्याघात से प्रतिफलित होकर जब उलटा ऊपर को जाता है तब उसको उदान कहते हैं इसलिये प्राण और उदान एक ही अग्नि है। इसी प्रकार पार्थिव प्राण वायु भी व्यान से प्रत्याघात पाकर जब नाड़ियों में विश्राम पाता है तो उसे समान कहते हैं और जब कभी शरीर से बाहर पृथ्वी की ओर निकलता है तो उसे अपान कहते हैं। इसलिये समान और अपना एक अग्नि है। अभिप्राय यह कि तीनों ही अग्नियों के मेल से ॐ पांच प्राणों का भाव शरीर ये दीखता है किन्तु उन तीनों अग्नियों के मेल से उत्पन्न हुआ वैश्वानर अग्नि एक ही प्रकार का है यह वैश्वानर अग्नि तब तक ही जीवित रह सकता है, जब तक प्राकृत नियमानुसार तीनों अग्नियों का मिश्रण समान मात्रा में हो, किन्तु यदि किसी की मात्रा भी अधिक हो जायगी तो वैश्वानर का उत्पन्न होना स्वभावतः बन्द हो जाता है। देखा गया है भस्मान्तक रोग में पार्थिव अग्नि इस प्रकार प्रवल वेग से क्षुब्ध हो जाता है कि कितना ही अधिक भोजन करने से भी तृप्ति नहीं होती किन्तु वह मनुष्य थोड़े ही काल में मर जाता है। इसी प्रकार इस चयन प्रक्रिया से पार्थिव अग्नि पर प्राकृत नियमानुसार जितना दिव्याग्नि आता था उससे अधिक मात्रा में अग्नि लाकर उस पार्थिव अग्नि पर केवल आघात प्रत्याघात न करके याज्ञिक प्रक्रिया से चिति की जाती है। जिससे प्रत्याघात नष्ट होकर दोनों एक जीव हो जाते हैं और दिव्य अग्नि की मात्रा बढ़जाती है। अर्थात् इसका क्रम इस प्रकार है कि इस शरीर में वैश्वानर अग्निका आधारभूत जो पार्थिव अग्नि है उसके ऊपर पांच चिति पांच प्रकार के अग्नियों का होता है। यद्यपि यह अग्नि एक ही जाति की है, तथापि लोक तीन होने के कारण इसका स्वभाव, इसकी अवस्था, इसके कर्म ये सब वदल जाते हैं। इसलिये यह एक ही अग्नि तीन रूप में परिणत होकर अग्नि के तीन भेद कहे जाते हैं। अग्नि जो ऊपर जाने का स्वभाव रखता है उसे पार्थिव अग्नि कहते हैं और जो ऊपर

---
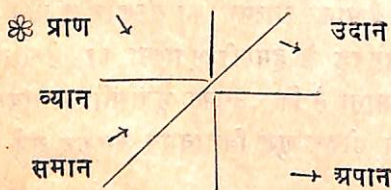
से नीचे आता है वह आदित्य अग्नि कहाता है, किन्तु जो अग्नि तिरछा चलता है उसे अन्तरिक्ष अग्नि
कहते हैं। इस प्रकार तीन अग्नि मुख्य हैं किन्तु पृथ्वी और अन्तरिक्ष की सन्धि और अन्तरिक्ष और द्यौ-
लोक की सन्धि में दो-दो अग्नि के मिलाव से स्वभाव में परिवर्तन होकर एक भिन्न प्रकार का अग्नि बन
जाता है जिससे कुल पांच प्रकार की अग्नि सिद्ध होती हैं। इन पांचों अग्नियों की दो-दो अवस्थायें हैं
विरलावस्था और संहतावस्था। इन दोनों में विरल अवस्था से ये पांचों अग्नि आकाश में भिन्न-भिन्न
पांचों स्थानों में व्याप्त रहते हैं अर्थात् तीनों लोक और दो सन्धि इनमें वायु रूप से फैले हुए हैं, उनका
संग्रह करना कठिन है। इसलिये इस पृथ्वी पर उन पांचों अग्नियों के सम्बन्ध से जो भिन्न पदार्थ उत्पन्न
हुए हैं उनको अग्नि में डालकर विशकलन (भिन्न करना=Analyis) करके उन अग्नियों का ग्रहण करना
ही सम्भव है।

परीक्षा करके देखने से सिद्ध हुआ है कि पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध से ९८ प्रकार के पदार्थ सिद्ध
होते हैं। अर्थात् इन ९८ जैसे—डाम, ढेला, पुष्करपर्ण, रुक्म, मोरिड़ा, दूब, काछना इत्यादि द्रव्यों के
विशकलन से पार्थिव अग्नि के भिन्न-भिन्न सब विकार नष्ट होकर उन सब विकारों की शक्तियों का
संकलन (इकठ्ठा) करना है पृथ्वी में यद्यपि पार्थिव अग्नि के बने हुए अनन्त द्रव्य हैं किन्तु उनमें से
एक-एक जाति लेने पर कुल ९८ द्रव्यों के द्वारा पार्थिव अग्नि की सब वैकारिक शक्तियां संकलित (जमा)
हो जाती हैं। उन सब द्रव्यों का चयन करना कुल पार्थिव अग्नि का आधान करना यही प्रथम चयन
कहलाता है।

पृथ्वी और अन्तरिक्ष की संधिगत अग्नि के कुल विकार पृथ्वी में ४१ हैं, इसलिये ४१ जाति के
द्रव्यों के आधान (रखने) करने में सन्धिगत अग्नि का चयन सिद्ध होता है, यह दूसरा चयन है।

इसी प्रकार अन्तरिक्ष की अग्नि के कुल ७१ विकार हैं जिनके आधार से तीसरा चयन होता है।

अन्तरिक्ष द्यौलोक के संधिगत अग्नि के विकार ४७ हैं जिनके आधान से चतुर्थ चयन सिद्ध होता है

सूर्याग्नि के कुल विकार १३८ हैं जिनके आधार से पञ्चमचिति सिद्ध होती है।

इस प्रकार इन पांच चितियों में कुल ३९५ यजुष्मति 'इष्ट का' उपघन (स्थापन) होता है।
तात्पर्य यह है कि चिति अर्थात् चयन इष्टकाओं से ही होता है। ये इष्टकायें दो प्रकार की होती है—१
लोकपृणा अर्थात् मिटट्ी पानी का ईंट २—क़ल्पित ईंट जिसे यजुष्मती कहते हैं। इनमें प्रथम यजुष्मती
नाम की ईटों को अर्थात् जो भिन्न-भिन्न द्रव्यरूप हैं उनका उपघान करके उनके ऊपर लोकपृणाओं का
उपघान किया जाता है जिससे पृथ्वी से लेकर सूर्य तक की पांच प्रकार की अग्नियों का चयन होने से
इन पांचों का रूप नष्ट होकर एक,ही प्रकार का विलक्षण अग्नि सिद्ध हो जाता। जिससे वैश्वानर अग्नि
या पार्थिव अग्नि और सूर्याग्नि आदि अग्नियों का भेद भाव नष्ट हो जाता है और दैवआत्मा के स्थान
में एक विलक्षरण अग्नि उत्पन्न होकर आत्मा बन जाता है। वह अग्निरूपी आत्मा पार्थिव न होने से
पृथ्वी पर लौटकर नहीं आती और सूर्याग्नि न होने से दैवलोक संवत्सर में भी नहीं रह सकती। इसलिये

पृथ्वी पर शरीर का सम्बन्ध छूटते ही आत्मा का उत्क्रमण होकर सूर्य के नाकलोक से भी परे स्कम्भ में जाता है। वहां पहले विद्युत् फिर वरुण फिर इन्द्र फिर प्रजापति और अन्त में ब्रह्म ये जो सब कामप्र-लोकों के भेद हैं, उनमें यथेच्छ विहार करता हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है यही चयनयज्ञ से मुक्ति की प्राप्ति है।
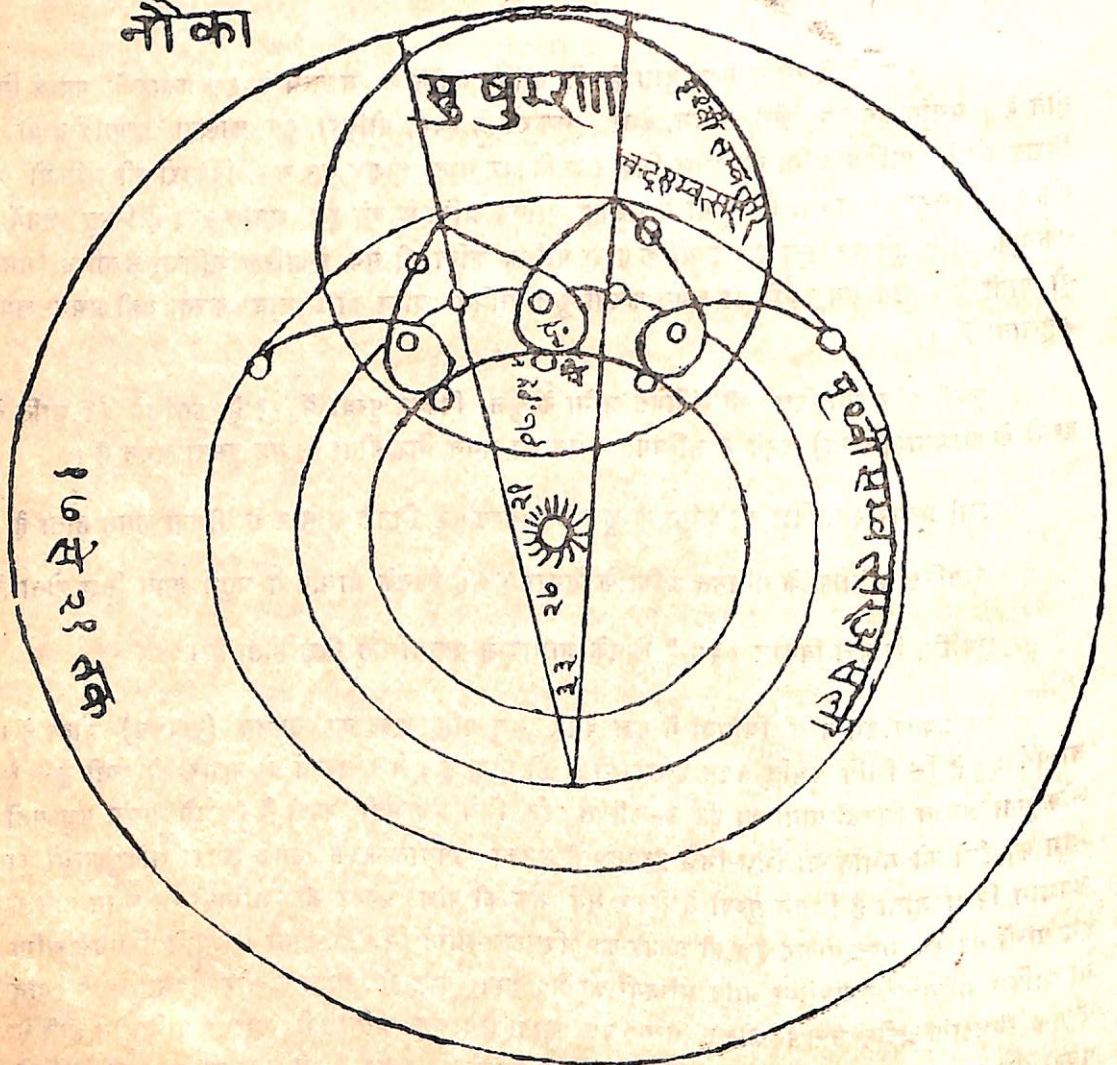
जो कि पृथ्वी पर देवयजन अर्थात् यज्ञ करने के लिये कल्पित भूमि में ऐष्टिक वेदी या महावेदी नियत की जाती है, उस पर इष्ट या सोमयज्ञ करने से जिस प्रकार यजमान के शरीर की आध्यात्मिक वेदी में संस्कार का प्रभाव पड़ता है, अथवा जिस प्रकार त्रैलोक्य रूपी आधिदैविक महावेदी में सोम आदि की आहुति होकर सूर्य के समीप दैवआत्मा बनता है वह इस पृथ्वी पर यज्ञ करने से इतनी दूर आकाश में सूर्य के पास उसका कैसे और कैसा प्रभाव पड़ा यह सब सिद्धान्त जानने के योग्य होने पर भी अधिक विस्तृत और अधिक गम्भीर विषय होने के कारण यहां पर 'गति के प्रसङ्ग में उसका उल्लेख करना अप्रासङ्गिक होगा अतएव ये विषय यज्ञमधुसूदन ग्रन्थ के आध्यात्मिक और आधिदैविक आध्यायों में देखना चाहिये वहां विस्तार से वर्णन है।

गति दो प्रकार की हैं—पितृयान, देवयान। इनमें पितृयान दो प्रकार का है– नारकी गति और पितृस्वर्ग। देवयान दो प्रकार का है–देवपथ और ब्रह्मपथ। देवपथ दो प्रकार का है–निरग्निको के लिये सुषुम्णा मार्ग है और साग्निक अर्थात् याज्ञिकों के लिये यज्ञ मार्ग अर्थात् सुतर्मा मार्ग है। ब्रह्मपथ भी दो प्रकार का है—अग्नि चयन याज्ञिकों के लिये अग्नि मार्ग है यह कर्म मार्ग है, किन्तु आत्मज्ञानियों के लिये विद्या मार्ग है। दोनों देवपथों से स्वर्ग लोक और दोनों ब्रह्मपथों से मुक्तिलोक होता है। इस प्रकार दो देवपथ दो ब्रह्मपथ इन चारों को देवयान मार्ग कहते हैं। चार देवयान और दो पितृयान इस प्रकार गति छ प्रकार की हुई।

इन छओं के अतिरिक्त दो अगति हैं—जिनमें कितने ही महापापों से उर्ध्वगति और अधोगति कुछ न होकर दुर्गति होती है। अर्थात् पृथ्वी के भू वायु में ही विचरता है, यह अगति निकृष्ट पक्ष की है किन्तु जिसकी आत्मा से क्लेश, कर्म, विपाक इन सबके आशय और निःशेष कश्मल दूर होने पर जब कि आत्मा सर्वथा विशुद्ध हो जाता है तो उसके पुनर्जन्म के लिये कर्म शेष न रहने से वह आत्मा मुक्त कहा जाता है। किन्तु आत्मज्ञान होने पर भी अन्य सब कर्मों के नाश होने पर भी ज्ञान से प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं होता, किन्तु भोगने से ही नाश होता है। इसलिये मुक्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म भोगने के लिये शरीर या जीवन बना रहता है। ऐसी ही आत्मा को जीवनमुक्त कहते हैं उसकी मृत्यु से शरीर छूटते ही वह आत्मा व्यापक परमब्रह्म में लीन होकर एक हो जाती है। जैसे घट फूटने पर घटाकाश भी महाकाश हो जाता है। उसी प्रकार यह आत्मा उपाधि रहित होने के कारण शरीर छूटते ही ब्रह्म हो जाता है, इसी को समवलय मुक्ति कहते हैं। उसके प्राण ऊपर नीचे कहीं भी नहीं जाते, इसलिये अगति होने पर भी इसको परमगति या अतिगति कहते हैं। इस प्रकार इन दोनों अगतियों के मिलने से गति कुल ८ प्रकार की सिद्ध होती हैं—

## दक्षिणमार्ग

**१–पितृयान—** १

१–स्वर्ग=(पितृस्वर्ग) २

२–नरक

## उत्तरमार्ग

## २–देवयान–

१–देवपथ—

| | |
|---|---|
| १–सुषुम्णामार्ग | ३=देव स्वर्गमार्ग। |
| २–सुतर्मामार्ग | ४= ,, |

२–ब्रह्मपथ—

| | |
|---|---|
| १–चितिमार्ग | ५=मुक्तिमार्ग। |
| २–विद्यामार्ग | ६= ,, |

## ३–अगति–

| | |
|---|---|
| १–दुर्गति | ७ |
| २–परमगति | ८ |

(समवलयः)

पितृयान में पृथ्वी से चन्द्रमा तक नारकीय गति के लिये धूममार्ग नियत है। अर्थात् शरीर में हृदय से नीचे वाली हितानाड़ी के द्वारा प्राण निकलकर धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष होता हुआ चन्द्रमा के काले भाग में दक्षिण की ओर शनि तक जाकर उससे परे लोकालोक तक जा सकता है। इस प्रकार नारकीय गति में गति की ४ भूमिका है।

१–हृदय से नाभि तक। २–नाभि से चन्द्रमा के कृष्ण भाग तक। ३–चन्द्रमा के कृष्णभाग से शनि तक। ४–शनि में लोकालोक तक। यह चौथी भूमिका ही नरकलोक है–जिसके सात भेद पहले कहे जा चुके हैं, उन सातों का अधिष्ठाता यम है। यह यम घोर अग्नि है जो सोम की अग्नि में आहुति का विच्छेद (अलग) करता है। अमृत सोम के न मिलने से हमारा वैश्वानर अग्नि बुभुक्षित (भूखा) होकर सोमरूपी अन्न न पाने से दुःखी रहता है यह निकृष्ट गति कहलाती है।

किन्तु पितृस्वर्ग जो पितृया न की दूसरी शाखा है उसमें भी ऊपर की तीन भूमिका समान है। किन्तु चौथी भूमिका नहीं होती किन्तु समान होने पर भी सर्वथा समानता नहीं है। पितृस्वर्ग जाने वालों की नाड़ी सीधी नीचे न जाकर दक्षिण उत्तर पार्श्व में तिर्यक् जाती है। दूसरी भूमिका भी सूर्य के प्रकाश में न जाकर चन्द्रमा के मन्द प्रकाश में होकर चन्द्रमा में जाती है और चन्द्रमा से शनि तक जो वास्तव में पितृलोक है वह भी चन्द्रमा का अथवा और किसी पिण्ड का प्रकाश भाग है। यह पितृलोक तीन प्रकार का है। उदन्वती ( जलवाली ) २–पीलुमती ( औषधि अर्थात् शुष्क सोमवाली ) ३–प्रद्यौ (प्रकाशवाली) यद्यपि इन पितृस्वर्गों का भी अधिष्ठाता यम है तथापि सोम की अधिकता होने के कारण यहां का यम (धर्मराज) दुःखदाई नहीं है। इस प्रकार यम की अध्यक्षता में नरक और दक्ष पितृस्वर्ग ये दोनों पितृयान अर्थात् दक्षिण मार्ग के लोक सिद्ध होते हैं।

अब देवयान जो ४ प्रकार के हैं उनका रुख पितृयान से सर्वथा विरुद्ध है अर्थात् पितृयान दक्षिण-मार्ग है। जो पृथ्वी से लोकालोक की ओर जाता है। किन्तु देवयान के ४ मार्ग पृथ्वी से सूर्य की ओर

१ ब्रह्मरन्ध्र=मुक्ति
१
२
२ कंठ=देवस्वर्ग
पितृस्वर्ग
३
३ हृदय=पितृस्वर्ग
४
४ पितृ स्वर्ग
ब्रह्मग्रन्थिनरक
५
नरक
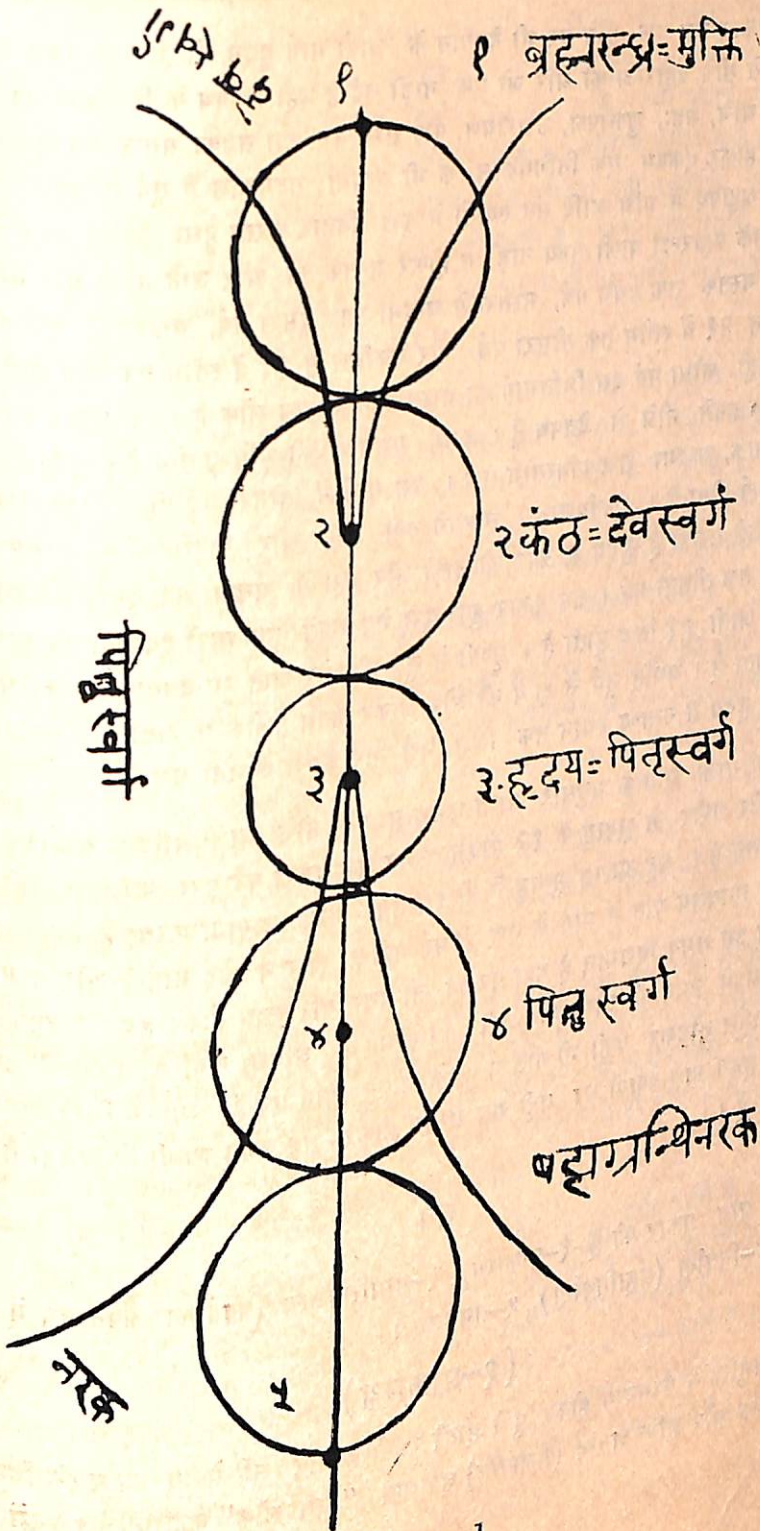
जाते हैं। इस प्रकार रुख एक होने पर भी देवयान के चारों मार्ग हृदय से ही भिन्न भिन्न अपना रुख रखते हैं। हृदय से सीधे ब्रह्मरन्ध्र की ओर जो एक नाड़ी गई है वही ब्रह्मपथ के विद्यामार्ग का प्रथम पर्व है। ब्रह्मरन्ध्र से अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, पूर्ण सम्वत्सर इन सबका असङ्ग रूप से स्पर्श करता हुआ चन्द्रमा में होकर एकदम एक निमिषकाल के भी अत्यन्त सूक्ष्मकाल में सूर्य में जाता है। किन्तु चिति मार्ग वाले ब्रह्मपथ में अर्चि आदि सब स्थानों में कुछ विहार करता हुआ विलम्ब से सूर्य में जाता है। शरीर में उसके ब्रह्मरन्ध्र वाली मुख्य नाड़ी न होकर मस्तक की ओर जाने वाली और नाड़ियां हैं। इसलिये हृदय से मस्तक तक प्रथम पर्व, मस्तक से चन्द्रमा तक दूसरा पर्व, चन्द्रमा से सूर्य की आहव-नीया यतन अर्थात् २१ वें स्तोम तक तीसरा पर्व और एकविंश से ३३ वें स्तोम तक काम प्रलोक है, यह चौथा पर्व है। यही चौथा पर्व इस चितिमार्ग का वास्तविक गन्तव्य लोक है। इस प्रकार ब्रह्मपथ दोनों दिखाये गये अब इनसे नीचे दो देवपथ हैं। इनमें यज्ञमार्ग की भूमिका तीन हैं—हृदय से चक्षु तक, चक्षु से चन्द्रमा तक, चन्द्रमा से एकविंस्तोम तक। इस मार्ग में तीसरा पर्व ही गन्तव्य लोक है, यह मार्ग यहाँ ही पूर्ण होता है। एकविंशस्तोम से आगे नहीं जाता और निरग्निकों के पुण्यमार्ग की भी तीन ही भूमिका हो सकती है हृदय से ऊपर की नाड़ी और वहां से चन्द्रमा तक दूसरा पर्व और चन्द्रमा से पूर्ण सम्वत्सर तक तीसरा पर्व। इस प्रकार कुछ कुछ भेद रखते हुए चारों देवयानों की मार्ग प्रणाली सूर्य की ओर ही जाती हुई सिद्ध होती है। पृथ्वी से सूर्य की ओर जाते हुए देवयानमार्ग का अनुक्रम सूर्य के आगे बदल जाता है। अर्थात् सूर्य से ध्रुव की ओर जाकर काम प्रलोक में जाता है। इस प्रकार चारों देवयान मार्गों के हृदय से गन्तव्य स्थान तक भिन्न-भिन्न चार शाखा जाननी चाहिये।

अगति में नरक गति के अनुसार प्राणोत्क्रमण हृदय से नीचे वाली नाड़ियों से होकर प्रथम पर्व पूरा करता है और शरीर से भूवायु के १२ योजन ऊपर तक दूसरा पर्व पूरा करता है, यही दूसरा पर्व उसका गन्तव्यस्थान है। वह आत्मा भूवायु में ही इतस्ततः चक्कर लगाया करता है। अब सबसे उत्तम परमगति अर्थात् समवलय गति में मार्ग के एक भी पर्व नहीं है और न कोई मार्ग है और न मार्ग में गति है। जहां आत्मा इस समय विद्यमान है वहां पर ही जो प्रथम परिच्छिन्न होकर हृदय में रहने वाला कहा जाता था, वही अपने हृदय की सीमा या शरीर की सीमा या अविद्या कर्मों का आवरण इत्यादि सभी परिच्छेदों को निर्मूल तोड़कर कहीं भी गति न करके अपने स्थान पर ही व्यापक चिदात्मारूप हो जाता है। जो पूर्व में हृदय मात्र व्यापी था वही अब असीम होकर सर्व जगत् व्यापी हो जाता है यही आठों गतियों का सार है।

## तप

मुक्तियां पांच प्रकार की हैं–१–प्राकाम्य, २–सम्पत्तिकैवल्य (कार्य का अपने रूप में आना) ३–अपवर्गकैवल्य, ४–निर्वाण (ब्रह्मनिर्वाण), ५–समवलय।

### (१–प्राकाम्य)

प्राकाम्यमुक्ति में कामनायें होकर पूरी होती रहती हैं और सूर्य से आरम्भ करके विद्युत, ब्रह्मण-स्पति, वरुण, इन्द्र और सच्चिदानन्द (प्रजापति) तक सब "कामप्रलोक" कहलाते हैं। इनमें जाकर वहां

के भोगों को प्राप्त करना ही प्राकाम्यमुक्ति है। इस मुक्ति में लोकों की स्थिति पिण्डमय है। पृथ्वी चन्द्र
के अनुसार सूर्य, वरुण आदि लोक भी पिण्डरूप हैं। उनमें भी सुख दुःख भोगने पड़ते हैं और भोगने
वाली आत्मा में जिस प्रकार यहां पुद्गल (शरीर) का सम्बन्ध है, उसी प्रकार वहां भी है। विशेषता
यह है कि पृथ्वी का रस नहीं रहता और पृथ्वी पर किये हुए कर्मों के बन्धन नष्ट हो जाते हैं किन्तु उस
आत्मा का शरीर परिच्छिन्न बना रहता है, हृदय और इन्द्रियां बनी रहती है, सुख दुःख की वासनायें
बनी रहती है और स्वाभाविक कर्मों की स्थिति बनी रहती हैं। इतना होने पर भी उसको मुक्ति इसलिये
कहते हैं कि सूर्य के स्कम्भ में जाने पर पृथ्वी का रस आत्मा में शेष नहीं रहता। इसलिये कामप्रलोक में
गयी हुई आत्मा लौटकर पुनर्वार पृथ्वी में नहीं आती।

यहां प्रश्न होता है कि–आत्मा की दो अवस्थायें हैं भुक्ति और मुक्ति—भुक्ति में आत्मा अपने
बाहर से आये हुए धर्मों के प्रभाव से जो कुछ परिवर्तन होता है उसको अपने में अनुकूल या प्रतिकूल रूप
से अनुभव करती है। इसी अनुभव करने को भोग या भुक्ति कहते हैं। किन्तु मुक्ति में इसके विपरीत
होता है अर्थात् बाहर से किसी धर्म को अपने में न लेकर अपने धर्म को भी छोड़ता है। कर्म या संस्कार
या अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग जितने धर्म आत्मा में संलग्न ( आसक्त ) हो गये हों उनके छोड़ने को ही मोक्ष
या मुक्ति कहते हैं ऐसी स्थिति में प्राकाम्य मुक्त को मुक्ति नहीं कहना चाहिये।

उत्तर यह है कि प्राकाम्य मुक्ति में यद्यपि सभी अन्तरङ्ग बहिरङ्ग कर्म और उनकी वासनाओं का
निर्मूलत्याग नहीं है, न अविद्या का त्याग है। तथापि पृथ्वीलोक में किए हुए कर्मों का संस्कार निर्मूल
नष्ट हो जाता है, इसलिए मुक्ति कह सकते हैं। केवल इसमें विशेता यह है कि इस मुक्ति में सुख की भुक्ति
भी संयुक्त है, और कामप्रलोक से नीचे के सब लोकों में जितनी भुक्तियां होती हैं वे देश और काल से
परिच्छिन्न होने से सान्त हैं अर्थात् मात्रा परिच्छिन्न है और कभी न कभी समाप्त हो जाती हैं। परन्तु
काम प्रलोक की भुक्ति नियमानुसार न होकर यथेच्छ होती हे और अनन्त काल तक रहती है इसी से इस
भुक्ति को मुक्ति कहते हैं।

यज्ञ, तप, दान इन तीनों से ये दोनों अवस्थायें उत्पन्न हुआ करती है, अर्थात् उन तीनों का फल
भुक्ति और मुक्ति दोनों हुआ करती हैं। किन्तु भुक्ति और मुक्ति के लिये वे तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार के
होते हैं अर्थात् जिन यज्ञों से भुक्ति होती है उनसे मुक्ति नहीं और मुक्ति देने वाले यज्ञ से भुक्ति नहीं। यह
कामप्रलोक की मुक्ति जिसे प्राकाम्य मुक्ति कहते हैं, वह चयनयज्ञ से ही होती है और किसी यज्ञ से नहीं।
इस प्रकार यज्ञ से होने वाली भुक्ति या मुक्ति कही गई हैं।

अब तप के द्वारा भुक्ति या मुक्ति जिस प्रकार होती है वह कही जाती है। तप का अर्थ शरीर-
अग्नि से वैश्वानरअग्नि के मूल कारण गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि से तात्पर्य है अर्थात् शरीर अग्नि
का क्षोभ है। पूर्व प्रकरण में कहा जा चुका है कि आत्मा के तीन अवयव हैं। मन, प्राण, वाक् इनमें
मन के क्षोभ को इच्छा, प्राण के क्षोभ को तप और वाक् के क्षोभ को श्रम कहते हैं। इनमें प्राण के क्षोभ
से तात्पर्य यह है कि शरीर में जो स्थिर आत्मा है उसकी गति उत्पन्न होकर शरीर से निकल जाना और
उसके स्थान पर किसी विशिष्ट प्राण का समावेश होना इसे ही तप कहते हैं। तप में प्राण का व्यय

अवश्य होता है। किन्तु यह प्राण का व्यय तीन प्रकार से होता है, इसीलिए तप भी तीन ही प्रकार का है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग। इनमें कर्मयोग से अभ्युदय अर्थात् स्वर्ग मुक्ति और भक्ति योग से अवरमुक्ति और ज्ञानयोग से परामुक्ति, इस प्रकार यज्ञ के अनुसार तप से मुक्ति और मुक्ति ये दोनों अवस्थायें आत्मा की होती हैं। विशेषता यह है कि यज्ञ से स्वर्गभुक्ति ही हुआ करती है, नरकभुक्ति नहीं होती। किन्तु तप में कर्म के दोष से कभी-कभी आत्मा का पतन भी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है शुभ और अशुभ-यद्यपि विज्ञान में शुभ अशुभ कोई शब्द नहीं है, सब कर्मों को शुभ या अशुभ कह सकते हैं, तथापि आपेक्षिक भावनाओं को लेकर इन दोनों शब्दों का व्यवहार होता हैं। हम आगे चलकर भूतआत्मा के स्वरूप का वर्णन करेंगे, उसमें पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि कितने ही आकाश में दीखते हुए पिण्डों के भिन्न-भिन्न प्रकार के रस न्यूनाधिक रूप से इस आत्मा में प्रवेश निर्गम करते हैं। उन रसों में परस्पर विरोधी भी है और मैत्री भी है, इसलिए जो रस सूर्य रस के विरोधी हैं उनको अशुभ और जो सूर्य रस के मित्र हैं उनको शुभ कहते हैं। इस प्रकार के रस जिन-जिन कर्मों से आत्मा में आते हैं उनको भी शुभ अशुभ कहते हैं। इनमें सूर्य रस के मित्र रसों को शुभ और विरोधी को अशुभ इसलिये कहते हैं कि हमारी आत्मा में सूर्य रस की वृद्धि से आत्मा सूर्य की ओर जाती है, किन्तु उसके विरोधी रस आने से सूर्य के विरुद्ध दक्षिण दिशा में आत्मा जाती है। यद्यपि आत्मा में दोनों प्रकार के रस आये हैं, तथापि जिन रसों की अधिकता होती है उधर ही आत्मा का झुकाव हो जाता है। परन्तु मेरी आत्मा का मूल भाग सूर्य के रस से उत्पन्न है। इसलिए सूर्य की ओर जाने से उसे अधिक आनन्द मिलता है इसी से उसे शुभ कहते हैं और सूर्य के विरुद्ध दिशा में जाने से अन्धकार के कारण दुःख होता है इसलिए उसको अशुभ कहते हैं। यही शुभ अशुभ की परिभाषा है। अशुभ कर्मों को × प्रत्ययवाय या पतनीय पातक कहते हैं और शुभ कर्मों को * अभ्युदय या पुण्य कहते हैं।

यदि आत्मा कर्मयोग करता हुआ प्रज्ञापराध से प्रत्ययवाय कर्मों से योग करें तो आत्मा बन्धन में आ जाता है तो उससे उसका पतन होता है किन्तु शुभ कर्मों के योग से अभ्युदय या स्वर्ग होता है परन्तु यज्ञ में अनिष्ट या पतन नहीं होता। यद्यपि यहां प्रश्न होता है कि यज्ञ भी एक प्रकार का कर्म है और कर्म शुभ, अशुभ दोनों होते हैं। तो सम्भव है कि किसी अशुभ यज्ञ से प्रत्ययवाय हो जैसा + अभिचारिकश्येन यज्ञ से प्रत्यवाय होना सांख्यवालों ने माना है और यज्ञ के विधान ठीक न होने से भी अनिष्ट होने की विधि ठीक न होने से यज्ञ निष्फल जाता है, किन्तु कोई अनिष्ट नहीं होता है और अभिचारक

---

× प्रत्यवाय=प्रति, अव, अय }
पीछे नीचे जाना

* अभ्युदय=अभि, उत्, अय। }
सामने ऊपर जाना

+अभिचार= (दूसरे का नुकसान)

श्येनयज्ञ यद्यपि पाप कर्म अवश्य है तथापि उससे आत्मा का बन्धन नहीं होता । यज्ञ की प्रक्रिया की परीक्षा करके प्राचीन आचार्यों ने ऐसा ही माना है, जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है—

**"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्म बन्धनः"**

अर्थात् यज्ञ के कर्मों से अन्यत्र (और कर्मों में) कर्म का बन्धन आत्मा में होता है, यज्ञ से नहीं। इसी से यज्ञ वेद में श्रेष्ठ कर्म और तप को द्वितीय कक्षा का कर्म कहा है ।

पांच प्रकार की मुक्तियों में से चयन यज्ञ के द्वारा सिद्ध होने वाली मुक्ति तो एक ही है जिसे प्राकाम्य मुक्ति कहते हैं । इस मुक्ति में चार मुक्ति सम्मिलित हैं । सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य । चयनयज्ञ की न्यूनाधिकता से अर्थात् सप्तविध चिति या एक शतविध चिति इत्यादिक क्रम से न्यूनाधिकता के कारण वे सब भिन्न २ मुक्तियां होती हैं । किन्तु ये ही मुक्तियां तप से भी हो सकती हैं । तप तीन प्रकार का कहा गया है । कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग ।

## ( १–कर्मयोग, २–भक्तियोग )

इनमें कर्म होने से केवल भुक्ति ही होती हैं मुक्ति नहीं होती । किन्तु भुक्ति दो प्रकार की है–स्वर्ग अर्थात् सुख भुक्ति और नरक अर्थात् दुःख भुक्ति । इसके पश्चात् भक्तियोग का कर्म है वह भी एक प्रकार का कर्मयोग है परन्तु उसमें ज्ञानयोग मिश्रित है । भक्तियोग का मुख्यतः तात्पर्य यह है कि यह जीवआत्मा ईश्वर का एक अङ्ग है, ईश्वर जो बहुत ही विस्तृत आकाश में व्याप्त होकर विराजमान है उसी के आत्म-भाग से क्षुद्र दो आत्मायें उत्पन्न होकर पृथक् शरीर धारण करती है, किन्तु उनकी स्थिति ईश्वर की नासिका, कर्ण, चक्षु, हस्त, पाद आदि अङ्गों के अनुसार न होकर भ्रूण आदि कीटों के अनुसार होती है । इसलिये जीवों के जन्म मृत्यु, रोग शोक आदि विकार होने के कारण भी ईश्वर के शरीर में किसी प्रकार का विकार नहीं होता, तो ऐसी स्थिति में कहना होगा कि ईश्वर के शरीर में जीवआत्मा की स्थिति के लिये कोई स्थान विशेष नहीं है, क्योंकि जीवआत्मा ईश्वर से उत्पन्न होने पर भी रस, रूप न होकर कीट ( जङ्ग ) रूप है, नियत रूप न होकर आगन्तुक विकार है । इसलिये ईश्वर के शरीर में रहने पर भी ईश्वर के शरीर के साथ सम्बन्ध रखते हुए भी उसका विशेष सम्बन्ध नहीं हैं । विशेष सम्बन्ध न होने के कारण ही इस जीव आत्मा में अविद्या, क्लेश, राग, द्वेष, पाप, पुण्य आदि कर्म, सुख दुःख आदि भोग इत्यादि नाना दोष उत्पन्न हो जाते हैं । ये सब दोष ईश्वर की आत्मा में कदापि नहीं थे इसलिये जीव-आत्मा को उचित है, कि इन दोषों को अपने में उत्पन्न न होने दे । इसका मुख्य उपाय एक ही है कि यह जीव अपने को मलरूप न होकर अपने को रस रूप बनावें, इसका भी उपाय ईश्वर शरीर के साथ विशेष सम्बन्ध नियत करना । वह सम्बन्ध आगन्तुक रूप न होकर नित्यरूप से ईश्वर का अङ्ग बनना है । यह सम्बन्ध ईश्वर में मनोयोग से सम्भव है, किन्तु ईश्वर का शरीर बहुत विस्तृत और जीव का शरीर अति क्षुद्र होने के कारण सर्वात्मना व्याप्ति नहीं हो सकती । इसलिये ईश्वर के शरीर में किसी न किसी अङ्ग प्रत्यङ्ग भाग में हो मनोयोग करके अपने को उस ईश्वर अङ्ग की भक्ति बनाना होगा । इस प्रकार भक्ति

करने से यह जीवआत्मा ईश्वर के अङ्ग का मुख्य भाग होकर उस ईश्वर शरीर का रस भागी बनता है और पृथक् आत्मा होकर भी ईश्वर का एक अङ्ग आत्मा बन जाता है, जिससे ईश्वर के आठ गुण जो रस रूप से ईश्वर के शरीर में व्याप्त हैं, वह इस भक्त जीव आत्मा में भी सञ्चार करने लगता है। जिससे इस जीवआत्मा की ईश्वर के साथ सायुज्य सिद्ध होती है। जिसको एक प्रकार की मुक्ति कहते हैं, यही मुक्ति इस भक्ति क्रिया का फल है। इस मुक्ति के भी पूर्वरूप से वे ही तीन मुक्तियां सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य सिद्ध होती हैं। इस सायुज्य मुक्ति में इस जीव आत्मा के स्वर्ग या नरक भोग होने के साधन पुण्य या पाप कर्मों के संस्कार सब मुक्त हो जाते हैं, इसलिये भी उसको मुक्ति कहते हैं जैसा कि उपनिषद् में कहा है—

**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।**
**तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूयनिरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।**

अर्थात् जब कि देखनेवाला देखता है सुनहरी रङ्ग को जिसने सम्पूर्ण संसार उत्पन्न किया जो ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला ईश्वर है। अथवा जिसकी प्राप्ति से ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है, उसका जब साक्षात्कार करता है तब पुण्य पापों को झाड़कर निर्मल होकर परम समानता को पा जाता है अर्थात् ईश्वर तुल्य हो जाता है।

यद्यपि इस दिशा में आत्मा अपने पुण्य पापों से मुक्त हो जाता है, तथापि कितने ही प्राकृत कर्मों से मुक्त नहीं होता, इसलिये इसको कैवल्य मुक्ति नहीं कहते। इस समय आत्मा में जो कर्म विद्यमान हैं वे सब इस आत्मा के निज के किये हुए भोग साधन कर्म नहीं है, किन्तु अनादि वासना से और अनादि काल से इस आत्मा में संसृष्ट हैं जो अपने आप इस आत्मा में लिङ्ग शरीर रूप से संयुक्त हैं, वह कैवल्यमुक्ति बिना मुक्त नहीं होता। इस कर्म के योग से यह आत्मा नाना कामनाओं को इच्छानुसार भोगता है अर्थात् सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य की कक्षा तक न्यूनातिशय का भाव बना रहता है इसलिये उन तीनों में लोकों नियत है और कामनाओं की पूर्ति की भी सीमा नियत है। कर्म की शक्ति के अनुसार ही लोकों में गति या कामनाओं की सिद्धि होती है। किन्तु सायुज्यमुक्ति होने पर वे सब कक्षायें या सीमायें टूटकर सच्चा प्राकाम्य हो जाता है अर्थात् फिर कामनाओं की अव्याहत (बेरोक) सिद्धियां होती हैं इसी को उपनिषद् में कहा है—

**यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्ध सत्वः कामयते यांश्च कामान् ।**
**तं तं लोकं जायते तांश्च कामान्, तस्मात् आत्मज्ञं ह्यर्चयेत भूतिकामः ।।**

अर्थात् जिन-जिन लोकों को मनसे खयाल करता है और रजोगुण, तमोगुण के न रहने से केवल सत्वगुण वाला वह आत्मा जिन-जिन कामनाओं को चाहता है उस-उस लोक में और उन कामनाओं को प्राप्त करता है। इसलिये आत्मज्ञान की अर्चा (पूजा) करनी चाहिये यदि अपना अभ्युदय चाहें।

इस प्रकार प्राकाम्य मुक्ति भक्ति योग तप से सिद्ध होती है यद्यपि सुगमता से समझने के लिये कर्म योग, भक्तियोग, ज्ञानयोग इस प्रकार तप के तीन भेद कहे गये हैं, किन्तु वास्तव में कर्म योग और

ज्ञानयोग ये दो ही तप के भेद जानने चाहिये क्योंकि भक्ति भी ऊँचे दर्जे का एक कर्म ही है। जैसा कि यज्ञ रूपी कर्म दो प्रकार का है, एक मुक्ति साधन जिसे चयन यज्ञ कहते हैं और दूसरे सब यज्ञ मुक्ति साधन न होकर भुक्ति साधन हैं। इसी प्रकार तप में भी दो विभाग हैं एक ऐसा कर्म योग जिससे मुक्ति न होकर भुक्ति होती है उसे कर्म योग कहते हैं, किन्तु जिस कर्म से मुक्ति सिद्ध होती है उसे भक्ति योग कहते हैं। मुक्ति होने के कारण ही इस भक्ति को कर्म से पृथक् माना है।

## (३—ज्ञानयोग)

अब तप का तीसरा भेद ज्ञानयोग कहा जाता है, यह प्रथम कहा जा चुका है कि आत्मा स्वयं विद्या रूप है। उसमें स्वयं उत्पन्न हुए बलकी चिति से अविद्या क्लेश, कर्म आदि कषाय उत्पन्न होते हैं, इन्हीं के आवरण को कर्म कहते हैं। इस कर्म के द्वारा मुक्ति को आत्मा की सिद्धि कही गई है, किन्तु अब विद्या के द्वारा आत्मा की स्थिति कही जाती है, किन्तु विद्या स्वयं आत्मा का स्वरूप है उसकी प्राप्ति ही को मुक्ति कहते हैं। इसलिये यह विद्या मुक्ति का द्वार नहीं हो सकती है, इसलिये गीता में कहा है कि—

**"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोश्नुते"**

अर्थात् बिना कर्म किये आत्मा इन कर्मों से मुक्ति नहीं पा सकता है।

इसलिये मुक्ति भी कर्म योग से ही सिद्ध होगी। तात्पर्य यह है कि कर्म दो प्रकार का है-एक विद्या रूपी आत्मा का आवरण करने वाला, उसको प्रवृत्तिकर्म कहते हैं और दूसरा कर्म आवरणों को दूर करने वाला होता है। जैसे जल में निर्मली डालने से जल का मैल दूर होता है, उसी प्रकार जिन कर्मों से विद्या रूपी आत्मा के सब आवरण या सब कर्म दूर हो जावें उस कर्म को ही ज्ञान योग कहते है। यह कर्म निवृत्तिकर्म कहलाता है, और ये दो प्रकार का है-१—भूमोदर्क, २—क्षीणोदर्क।

## (२—संपत्तिकैवल्य)

## (भूमोदर्क मुक्ति)

प्रत्येक प्राणी का शरीर तीन मात्राओं से बना हुआ पाया जाता है। प्रज्ञामात्र, प्राणमात्रा, भूत-मात्रा। हड्डी, मांस इत्यादि जो कुछ स्थूल पदार्थ इस शरीर में दृष्टि गोचर होते हैं, वे सब भूतमात्रा हैं, इन सबका परस्पर जोड़नेवाला या धारण करने वाला सब भूतों में अदृष्ट रूप से व्याप्त जो बल प्रतीत होता है वही प्राण मात्रा है। ये दोनों मात्रायें जड़ और चेतन दोनों में समान रूप से पायी जाती हैं, किन्तु जिससे जड़ की अपेक्षा चेतन में भिन्नता प्रतीत होती है, जिससे चेतन प्राणी अपने आपका या जगत् का अनुभव करता है वही भाग इस शरीर में प्रज्ञा मात्रा है। ये तीनों मात्रायें जीवित प्राणी में में नित्य नई उत्पन्न हुई प्रतीत होती हैं, इसमें इन तीनों मात्राओं का आत्मा से ही उत्पन्न होना पाया जाता है। पहले कहा जा चुका है कि आत्मा के नित्य तीन धर्म हैं मन, प्राण और वाक्—इनमें मन से

प्रज्ञा मात्रा, प्राण से प्राण मात्रा और वाक् से भूतमात्रा उत्पन्न हुआ करती हैं। ये तीनों भी एक ही किसी सूत्र में बंधे हुए है उसी सूत्र को अव्यय या पर कहते हैं, अथवा यों समझिये कि मन, प्राण, वाक् ये तीनों अक्षर एक ही किसी अव्यय आत्मा के विकास स्वरूप हैं और उन तीनों मन, प्राण, वाक् के विकास स्वरूप ये तीनों मात्रायें हैं। ये प्रत्येक मात्रायें अनन्त रूप होने पर भी स्थूल रूप से प्रत्येक पांच प्रकार के कहे जाते हैं, जिनको पांच ज्ञानेन्द्रिय या पांच कर्मोन्द्रिय या पांच भूत कहते हैं। इनमें यदि भूत का ही विचार करें तो पृथ्वी जल से, जल तेज से, तेज वायु से और वायु आकाश से अर्थात् शब्द घन से उत्पन्न होते हुए दीखते हैं। ऐसी स्थिति में पृथ्वी से पैदा होते हुए जगत् में जितने भूत भौतिक सङ्घ (ढेर) हैं उन सबको एक शब्द से मिट्टी कह सकते हैं यह भी विज्ञान का नियम है कि कारण की सत्ता को लेकर कार्य में सत्ता आती है जैसा कि पगड़ी की सत्ता कपड़े से और उसकी सूत से और सूत की रुई से और रुई की मिट्टी से सत्ता मिलती है। अथवा यों कहिये कि मिट्टी की सत्ता ही पगड़ी तक जाकर विद्यमान है। इसलिये यदि इस पगड़ी की मिट्टी नष्ट कर दी जावे तो उसके साथ-साथ ही उसका रूई, सूत, कपड़ा और पगड़ी सब नष्ट हो जायेंगें। यदि इन सब में सत्ता जुदी-जुदी होती तो ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार साक्षात् या परम्परा से जितनी वस्तुयें मिट्टी से बनी हैं उन सब की सत्ता मिट्टी की ही सत्ता है इसलिये सब मिट्टी है। इसी प्रकार पानी के विकार सब पानी है, और तेज के विकार सब तेज, वायु के विकार वायु और आकाश के विकार आकाश सिद्ध हुये। इस प्रकार जगत् में कुल पांच ही सत्ता सिद्ध होती हैं। अब यदि इन पांचों पर विचार करें तो सिद्ध होगा कि मिट्टी पानी से, पानी तेज से, तेज वायु से, वायु आकाश से उत्पन्न हैं। इसलिये आकाश की सत्ता ही इन पांचों की सत्ता है। इस प्रकार अन्त में समस्त जगत् की एक ही मूल सत्ता सिद्ध होती है, और इसी सत्ताघन को वाक् कहते हैं। इस प्रकार वाक् सत्ता की शाखा सिद्ध हुई। इसी प्रकार जगत् की कुल चेष्टा या क्रियाओं को लेकर प्राण की शाखा सिद्ध है, तथा समस्त ज्ञान (एकता का ज्ञान) विज्ञान (विविध ज्ञान विभेद) की एकता सिद्ध होने से मन की शाखा सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि जगत् भर में तीन ही सत्ता सिद्ध होती हैं, किन्तु जब इन तीनों पर भी विचार करते हैं तो ये तीनों भी किसी एक ही अव्यय तत्व के विकास हैं, इस अन्त में एक ही आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है। यही "एकता" की विद्या है—इस विद्या पर अभ्यास करने से भिन्न-भिन्न वस्तुयें जो मेरे शरीर में दीखती है या शरीर से बाहर जगत् में दृष्टि गोचर होते हैं उन सब की एक ही सत्ता सिद्ध होती है। अथवा यों कहिये कि ये सब एक ही आत्मा सिद्ध होते हैं या आत्मैकत्व विज्ञान ही आतमज्ञान कहा जाता है। यदि यह गुरु का उपदेश रूप केवल शब्द ज्ञान मात्र ही न रहकर आत्मा में पूरा निश्चय अनुभव होने लगे तो यह आत्मा अपने कुल परिकर (लवाजमा) परिग्रह वित परिवारों (Family) को आत्मा में ही परिणत कर लेता है। जिससे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का भाव न रहकर केवल एक ही आत्मा परिशेष रह जाता है यही आत्मा का ❀ सम्पत्ति × कैवल्य है या भूमोदर्क है। इस मुक्ति में आत्मा का कोई अंश छोड़ा नहीं जाता प्रत्युत जितने विकार इस समय आत्मा के साथ हैं वे सब ज्यों के त्यों बने रहते हैं। किन्तु उनमें आत्मा से भिन्नता का भाव

---

❀ कार्यों का कारण रूप में होना अथवा कामरूप नाश होना।

× सम्पत्ति के द्वारा एकता।

नष्ट होकर सब एक ही आत्मा सम्पन्न हो जाती है और आत्मा का परिणाम जो पहले छोटा समझा गया था वह बहुत विस्तृत होकर सर्व जगत् व्यापक होकर केवल एक ही असीम आत्मा सिद्ध हो जाती हैं, दूसरे का भाव नष्ट हो जाता है। भय या दुःख दूसरे से होता है जब कि आत्मा ही सब हो गया तब स्वतन्त्र होकर वह नित्य परमानन्द रूप हो जाता हैं, यही उसका मुक्तिपना है। अर्थात् भेदभावका मुक्त होना मुक्ति है यही वेद में लिखा है—

**"द्वितीयाद्वैभयं भवति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाऽभूत् केन कं पश्येत्"**

अर्थात् दूसरे से भय होता है जब कि सब आत्मा ही हो गया तब कौन किसको देखें।

## (३–अपवर्गकैवल्य)

## (२–क्षीणोदर्क मुक्ति)

क्षीणोदर्क–छोटे से छोटा परिणाम है जिसका यज्ञ आत्मा मन, प्राण, वाक् इन तीनों तत्त्वों से बना हुआ है। इन तीनों से पृथक्-पृथक् प्रज्ञामात्रा, भूतमात्रायें उत्पन्न होती हैं। आत्मा के चारों ओर इन ही तीनों मात्राओं के समष्टि रूप आवरण को ही शरीर कहते हैं। यह शरीर उसी आत्मा के आधार या विधरण (पकड़) से स्थिर रहता है, किन्तु यह शरीर क्षुद्र होने के कारण बाहर वायु, सूर्य आदि बलवान अन्नाद् पदार्थ प्रतिक्षण इस शरीर के अंशों को आकृष्ट करते हुए चूमते रहते हैं, जिसके कारण शरीर की प्रत्येक मात्रायें बाहर निकलते रहने के प्रवाह से क्षीण होती रहती हैं। उनकी क्षीणता के कारण आत्मा बुभुक्षित (भूखा) हो जाता है और उन तीनों के घन जहां कहीं बाहर मिलते हैं उनको आकृष्ट (खींच) करके अपने अहार को ले लेते हैं ये उस कमी को पूरा करते हैं। इस प्रकार यदि अन्न यह आत्मा न खावे तो उसका शरीर स्थिर नहीं रह सकता।

प्राण की चार जाति हैं–आप्यप्राण, सौम्यप्राण, आग्नेयप्राण और परोरजाप्राण। प्राण को ही अन्नाद (अन्न खाने वाला) कहते हैं किन्तु वह प्राण आत्मा के प्राण भाग में रहता हुआ मनो भाग और वाक् भाग में भी कमी की पूर्ति के लिये प्रवेश करके अन्न खाता रहता है, इसलिये आत्मा तीनों भागों से अपने प्राण के द्वारा बाहर से प्रज्ञात्मा, प्राणमात्रा या वाक्मात्राओं को प्रतिक्षण लेता रहता है। प्राण की चार जातियों में आप्यप्राण से पृथ्वी बनी हुई है, यह पृथ्वी पिण्ड या पांचों भूत (भौतिक ग्राम) सब आप्यप्राण है। उसको आत्मा अपने वाक् रूपी मुख के द्वारा पृथ्वी से प्रतिक्षण लेता रहता है, जिससे भूतमात्रा की कमी की पूर्ति होती रहती है। इसी प्रकार आत्मा अपने प्राण रूपी मुख सौम्यप्राण को चन्द्रमा से और आग्नेयप्राण को सूर्य से लेता हुआ अपनी प्राणमात्रा की कमी को पूरा करता है। ऐसे ही अपने मन रूपी मुख से परोरजाप्राण को त्रिलोकी बहिर्भूत ईश्वर चिदात्मा से लेता हुआ अपनी प्रज्ञा–आत्मा की कमी को पूरा करता है। इस प्रकार यह आत्मा प्रतिक्षण ४ भिन्न-भिन्न अन्नों को ४ भिन्न–भिन्न स्थानों से भोजन करता है जिससे वह क्षीण नहीं होने पाता, यह लोकस्थिति (जगत् का नियम) है।

ऐसी स्थिति में यदि आत्मा अपने इन प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा, भूतमात्रा इन तीनों आवरणों का जिनसे कि वह बद्ध है या जिससे वह परतन्त्र होकर उन मात्राओं के संयोग से सुख दुःख का भोग परवश

पाता है और इन मात्राओं के संयोग को त्याग करने की इच्छा करें तो तीन काम करने पड़ेगें। अनशन-व्रत, अमनस्कयोग और विद्या की प्राप्ति अनशन व्रत से स्थूल शरीर का बल कम हो जाता हैं जिससे पृथ्वी का रस लेने का सामर्थ्य कम हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि प्रत्येक प्राणी सात प्रकार का अन्न खाता है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, शब्द, बल, ज्ञान और अनशन व्रत का तात्पर्य इन सातों की न्यूनता करने से है। ज्यों ज्यों इनकी मात्रायें कम होगी उससे आत्मयज्ञ कम होगा। वेद के अनुसार अन्न, ऊर्क, प्राण इन तीनों के अन्योन्य (आपस के) परिग्रह (पकड़) को ही यज्ञ कहते हैं। अन्न से प्रथम ऊर्क होकर वही ऊर्क प्राण बनता है और वह प्राण फिर अन्न का ग्रहण करता है। प्राणरूपी अग्नि में रूपी सोम की आहुति पड़ने से ऊर्क रूपी ज्वाला उत्पन्न होना ही यज्ञ कहने से तात्पर्य है। इन तीनों का यह चक्र (चक्कर-दौरा) उस अनशन क्रिया से बन्द हो जाता है, और प्राण की न्यूनता आ जाती है। प्राण की न्यूनता से वाक् और मन ये दोनों भी न्यून हो जाते हैं, जिससे आत्मा के आवरण के लिये फिर आवरणों का उत्पत्ति क्रम निवृत्त हो जाता है और प्राण की बुभुक्षा भी धीरे-धीरे कम हो जाती है यही एक उपाय है। इस प्रकार स्थूल शरीर की क्षीणता हो जाती है और इस क्षीणता से सूक्ष्म और कारण शरीर में भी क्षीणता आ जाती है। इसके साथ-साथ यदि * अमनस्कयोग (लययोग) किया जाय तो मन का आत्मा में क्रम-क्रम से लय हो जाता है। मन की प्रेरणा से ही प्राण वाक् से सृष्टि उत्पन्न करता है, अतएव मन के लय होने से प्राण की क्रिया भी बन्द हो जाती है यह दूसरा उपाय है। इससे सूक्ष्म शरीर भी क्षीण हो जाता है। अब कारण शरीर को भी क्षीण करने के लिये तीसरा उपाय विद्या लाभ है। ज्यों-ज्यों आत्मज्ञान की वृद्धि की जाय त्यों-त्यों कर्म का बल आत्मा में नष्ट होता जाता है और आत्मा शुद्ध ज्ञान स्वरूप होता जाता है। इसका फल यह होता है कि प्राण मृत्युकाल में जिस प्रकार पार्थिव शरीर को छोड़कर उत्क्रमण करता है तो प्रथम चन्द्रमा में जाकर वहां से भी उसी प्रकार उत्क्रमण करता हुआ श्रद्धामय सौम्य शरीर को भी चन्द्रमा में ही छोड़ जाता है। सूर्य में जाने के पश्चात् विद्या के बल से वह विद्युत् लोक के लिये उत्क्रमण करता हुआ आग्नेय शरीर को भी वही छोड़ देता है, जिससे आप्य प्राण, सौम्य प्राण, आग्नेय प्राण इन तीनों के हटने से प्राणी की आत्मा केवल परोरजा प्राण रूप कही जाती है, यही उसका कैवल्य है। किन्तु इस कैवल्य में इस परोरजा आत्मा से भूतमात्रा, प्राण-मात्रा, प्रज्ञामात्रा इन तीनों मात्राओं की निवृत्ति होकर इन तीनों का उक्थ (जड़ कारण) मन, प्राण, वाक् भी निवृत्त हो जाते हैं। परोरजा प्राण को चिति कहते हैं, इसलिये उस समय वह आत्मा शुद्ध चिदात्मा हो जाता है और सब उसके आवरण क्षीण हो जाते हैं। इसलिये इस प्रक्रिया को क्षीणोदर्क कहते हैं और इसमें चिदात्मा आवरणों से छूटता है इसलिये इस चिदात्मा के केवल्य को अपवर्ग (छुटकारा) कैवल्य मुक्ति कहते हैं।

इस प्रकार दो कैवल्य मुक्ति कही गई हैं। ये दोनों ही निवृत्ति पक्ष के तप से सिद्ध होती हैं क्योंकि प्राचीन देवताओं के एक मन में अमृत और मृत्यु इन दोनों से ही सृष्टि मानी गई है। इन दोनों को ब्रह्म कर्म अथवा ज्ञान क्रिया कहते हैं। इन दो से अतिरिक्त जगत् का कुछ भी रूप नहीं है, अथवा यों कहिये कि मृत्यु अर्थात् कर्म ही जगत् का रूप है वह "अवार" है। और अमृत अथवा ब्रह्म जगत् का

* अमनस्क=बेमन का

"पार" है। ऐसा होने पर भी ब्रह्म व्यापक होने से अवार में भी सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु यह कर्म पार में व्याप्त नहीं इसलिते अवार में ब्रह्म वर्जित नहीं होता, किन्तु पार में मृत्यु अर्थात् कर्म की सर्वथा मुक्ति हो जाती है। यह कर्म दो प्रकार का है–प्रवृत्तिरूप और निवृत्ति। पहला कर्म संसार के लिये और दूसरा कर्म निस्तार के लिये होता है। पहले कर्म में ब्रह्म से मन, प्राण, वाक् भूत और भौतिक ये पांच धारायें-उत्तरोत्तर कर्म की ग्रन्थि पर ग्रन्थि होने को कहते हैं। यह घोर मार्ग है इसमें ब्रह्म का भाव अर्थात् सत्ता-ज्ञान और आनन्द का भाव उत्तरोत्तर घट जाता है और कर्म का भाव अर्थात् इच्छा, क्रिया, आवरण का भाव बढ़ता जाता है इसलिये इसको घोर मार्ग कहते हैं। आत्मा के लिये इस मार्ग में पड़कर परतन्त्र होना भयङ्कर है। किन्तु इसके विरुद्ध निवृत्ति कर्म में भौतिक भूत, वाक्, प्राण, मन होकर प्रतिसञ्चर होता है अर्थात् एक ग्रन्थि के उधड़ने से धीरे–धीरे सब ग्रन्थियें खुल कर सब विकार नष्ट हो जाते हैं। जिससे भौतिक, भूत वाक् प्राण, मन ये सब भी असली दशा में आकर निर्विकार ब्रह्म बन जाते हैं। यही भूमोदर्क मुक्ति है यह श्रेष्ठ मार्ग है, क्योंकि आत्मा के सब रोग नष्ट होकर स्वास्थ्य अर्थात् अपनी असली दशा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ब्रह्म में कर्म के द्वारा उत्पन्न हुए सब विकारों को अर्थात् मन, प्राण, वाक्, भूत भौतिक को लोह के कीट के अनुसार मल समझकर तपो बल के द्वारा निर्विकार आत्मा से परिमार्जित (छूटना) कर दिया जाय। फेन को छोड़कर शुद्ध जल के अनुसार शुद्ध आत्मा रूप रह जाने से भी कैवल्य मुक्ति होती है परन्तु यह क्षीणोदर्क मुक्ति है और यह भी श्रेयोमार्ग है क्योंकि वैकारिक अंश छूटकर इसमें भी आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द रह जाता है। इसलिये निवृत्ति मार्ग को ही श्रेयो मार्ग कहते हैं, क्योंकि ये दोनों कैवल्य मुक्ति निवृत्ति कर्म से ही सिद्ध होती हैं। इन दोनों में भेद इतना ही है कि भूमोदक में विकारों का कर्म के द्वारा वैकारिक भाव ही निवृत्त होता है किन्तु उसमें बैठा हुआ ब्रह्म-रस निवृत्त न होकर ज्यों का त्यों बना रहता है किन्तु क्षीणोदर्क में विकारों का विकार भाव नष्ट नहीं होता किन्तु आत्मा सहित सब निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु इतना भेद रहने पर भी निवृत्ति क्रिया दोनों में विद्यमान है, इसलिये ये दोनों कैवल्य मुक्ति निवृत्ति रूप से ही मानी जाती है।

## (४ निर्वाण)

इन उपरोक्त कैवल्य मुक्तियों में "श्रमणक" या वैनाशिक विद्वानों का पूर्व पक्ष है। उनका मत है कि कैवल्य मुक्ति श्रेयो मार्ग माननानितान्त भूल है, क्योंकि कैवल्य मुक्ति से ब्राह्मणों ने परमानन्द प्राप्ति मानी है, परन्तु वह संभव नहीं क्योंकि आनन्द का अनुभव होना बुद्धि की विचार शक्ति से होता है। प्रथम इन्द्रियों के द्वारा आये हुए विषयों की पर्यालोचन (गौर) करके मन उनको बुद्धि में समर्पित करता है, बुद्धि उसको आत्मा में समर्पित करती है, उसी को आत्मा का भोग कहते हैं, सुख या दुःख ये ही दो भाग हैं तो इससे सिद्ध हुआ कि आनन्द का अनुभव करने के लिये आत्मा के पास बुद्धि मन और इन्द्रियों की भी आवश्यकता है। जड़ पदार्थों में आत्मा के रहते भी बुद्धि मन इन्द्रियों के न रहने से जैसे आनन्द का अनुभव नहीं होता, उसी के सदृश कैवल्य मुक्ति में भी आत्मा को आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता इसलिये कैवल्य मुक्ति में आनन्द नहीं है। दूसरी बात यह है कि कैवल्य को मुक्ति मानना यह भी भूल है क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म से मन, प्राण, वाक् आदि की सृष्टि कर्म के द्वारा मानी गई है उसी प्रकार ब्रह्म का स्वरूप भी कर्म से ही बना हुआ है ब्रह्म से अतिरिक्त विकारों को कर्म से मानना और ब्रह्म को अकर्म

मानना ऐसा भेद करने में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि ब्रह्म भी ज्ञान या आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं माना गया है वह ज्ञान अवश्य ही क्रिया रूप है। अन्यान्य पदार्थों के अनुसार ज्ञान भी एक पदार्थ है और उनका भी उत्पति, स्थिति और नाश होता है। इसी प्रकार आनन्द का भी उत्पति स्थिति नाश है, और जैसे अन्यान्य पदार्थ परस्पर विभिन्न हैं वैसे ही ज्ञान और आनन्द भी परस्पर भिन्न हैं, तो फिर क्या कारण है कि ब्रह्म को कर्म न माना जाय। बहुत संभव है कि कर्म दो प्रकार का होकर कभी प्रवृत्ति वाक् भी निवृत्ति रूप हो, उसकी निवृत्ति का क्रम भौतिक, भूत, वाक्, प्राण मन पर ही समाप्त न होकर ब्रह्म तक जाता है। ब्रह्म की निवृत्ति पर शेष कुछ नहीं बचता है, जिस प्रकार केले का थम्भ उधेड़ने से परिशेष में कुछ नहीं बचता, छकड़े के प्रत्येक अङ्ग उधेड़ने से अन्त में शकट (छकड़े) की आत्मा कुछ नहीं बचती। दीपक को गुल कर देने पर ज्योति का कुछ भी अंश परिशेष नहीं बचता। ऐसे ही उल्का जलते-जलते निःशेष हो जाती है। उसी प्रकार आत्मा भी एक दीपक है, यह भी निवृत्ति क्रिया के क्रम से अन्त में गुल हो जाता है परिशेष में कुछ नहीं बचता इसे ही निर्वाणमुक्ति कहते हैं। (निर्वाण का अर्थ दीपक का गुल करना है)

यदि कोई प्रश्न करे कि इस मत में मुक्ति घोर अन्धकार स्वरूप है। इससे मुक्ति के लिये आत्मा का प्रयत्न करना अनुचित होगा क्योंकि अपने सर्व नाश का कोई भी विद्वान् अनुमोदन नहीं कर सकता, तो इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संपूर्ण जगत् दुःख ही दुःख है, सम्पूर्ण दुःख रूप है। आत्मा को उत्पन्न करके उसको चक्र में डालकर सर्वदा भ्रमण कराते हुए दुःख मय बनाते हैं। उस दुःख से शान्ति तभी संभव है जब कि आत्मा को उत्पन्न करने वाली कर्म ग्रन्थि सर्वथा विलुप्त हो जाय और आत्मा का भी कोई अस्तित्व न रहें। जगत् में जितने आनन्द अनुभव होते हैं वे सब किसी न किसी दुःख की ही निवृत्ति है। धन, पुत्र आदि के अभाव से जो दुःख हुआ है वह उनके मिलने से नष्ट होकर आनन्द होता है। रोग से जो दुःख हुआ है वह आरोग्य से नष्ट होकर सुख होता है। तात्पर्य यह कि सर्वत्र ही दुःख की मात्रा का नष्ट होना ही सुख की मात्रा है, वास्तव में सुख कोई वस्तु नहीं। ऐसी अवस्था में जबकि संपूर्ण संसार का दुःख हमारा निर्वाण मुक्ति से नष्ट हो जाता है तो उस मुक्ति को हम अवश्य ही परमानन्द रूप श्रेयष्कर मानेगे, इसलिये निर्वाण मुक्ति के लिये भी प्रवृत्ति करना इस मत में अच्छा है। इस मत के खण्डन में ब्राह्मणों का मत यह है कि श्रमणक या वैनाशिकों की दो विषयों पर विप्रतिपत्ति ( नाइत्तफाकी ) है। एक यह है कि आत्मा भी कर्म मय होने से विनश्वर है। दूसरी यह है कि सम्पूर्ण जगत् दुःखमय है जगत् रूप होने से आत्मा भी दुःखमय है इसलिये सब कुछ दुःख ही दुःख है। इस दुःख के क्षणिक अभाव को ही सुखनाम दिया गया है वास्तव में सुख कहकर कोई वस्तु नहीं है। इस पर दूसरा सिद्धांत मत है कि आत्मा कर्ममय न होकर ज्ञानमय है, और विनश्वर न होकर अविनाशी है जैसा कि ऋषियों ने कहा है—

**"अविनाशी वा अरे अपमात्मा अनुच्छितिधर्म्मा"**

अर्थात् यह आत्मा अविनाशी है और इसका मूल से उच्छेद ( उखड़ना ) नहीं होता।

इसका कारण यह है कि यदि यह कर्ममय होता तो मानों कि जिस समय यह कुछ न था तो एक इस आत्मा की उत्पत्ति की क्रिया का उद्भूत होना असंभव होगा। क्रिया जो स्वयं असत्रूप है त्रिक्षण

स्थायी है उसकी उत्पत्ति और अनेक क्रियाओं का सन्तान ( सिलसिला ) और उन अनेक क्रियाओं का सन्तान और उन अनेक क्रियाओं का परस्पर सम्बन्ध जो दीखता है वह बिना एक सत आधार के हो नहीं सकता । इसलिये एक एक क्षण में बदलती हुई अनन्तानन्त क्रियाओं का आधार भूत कोई क्रिया से पृथक् वस्तु अवश्य ही माननी होगी वह क्रिया से भिन्न है । इसलिये क्रिया की अपेक्षा भिन्न धर्म रखता है अर्थात् क्रिया अनेक हैं वह एक है, क्रिया विनश्वर है वह अविनाशी है, क्रिया में सत्ता नहीं है वह सत्ता रूप है, क्रिया दुःखमय हैं वह आनन्द स्वरूप है, क्रिया क्षणिक है वह शाश्वतिक है, वह क्षुब्ध है यह शांत है इन्हीं भेदों के कारण जगत् में स्थिति और परिवर्तन दोनों प्रत्येक वस्तु में साथ प्रतीत होते हैं । यदि क्रिया से भिन्न धर्म वाली कोई वस्तु सर्वथा न होती तो जगत् की प्रत्येक वस्तु में स्थिति और गति ये दोनों भेद कदापि प्रतीत न होते इसलिये आत्मा क्रिया से भिन्न होने के कारण अक्रिय ज्ञान रूप है और क्रिया दुःख रूप है, इसलिये वह आत्मा आनन्दरूप है ।

इसलिये आत्मा का निर्वाण हो नहीं सकता । आत्मा परम कल्याण रूप अस्तित्ववान् है, कर्मों का भी निर्वाण न होकर केवल उसी अविनाशी आत्मा में ही लय हो जाता है । लय हो जाने पर बिना कर्म का केवल एक आत्मा ही शेष रह जाता है, इसलिये उस मुक्ति अवस्था को नैष्कर्म्य या कैवल्य के नाम से ही व्यवहार करना चाहिए न कि निर्वाणपद से और वह कैवल्य दो ही प्रकार का है, सम्पत्ति कैवल्य और अपवर्ग कैवल्य, इस मुक्ति के निमित्त यज्ञ करना भी आवश्यक है । कैवल्यआत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है इसलिये इसी एक ब्रह्म में सब कर्मों का निर्वाण होता है इसलिये इस कैवल्य को ब्रह्म निर्वाण भी कह सकते हैं ।

## ( ५--समवलय )

पहले तप तीन प्रकार से कहा गया है—कर्मयोग से, भक्ति योग से और ज्ञानयोग से । इनमें कर्मयोग से नरक और स्वर्ग इन दोनों भोगों के अतिरिक्त अग्निचयन यज्ञ आदि विशिष्ट कर्मयोग से मुक्ति भी मिलती है, इस मुक्ति को प्राकाम्य मुक्ति कहते हैं और भक्तियोग से केवल प्राकाम्य मुक्ति ही मुख्य करके मिलती है और किसी प्रकार की मुक्ति इससे नहीं मिलती, किन्तु तीसरे ज्ञानयोग से शेष ४ प्रकार की मुक्तियां प्राप्त होती हैं । जिनमें ब्राह्मणों के मतानुसार २ प्रकार की तो कैवल्य मुक्ति है—भूमोदर्क और क्षीणोदर्क और तीसरी समवलय मुक्ति है । श्रमणकों के मतानुसार चौथी मुक्ति निर्वाण है इस प्रकार ५ तरह की मुक्ति सिद्ध है, जिनमें चार का तो वर्णन हो चुका है अब पांचवां समवलय का वर्णन इस प्रकार है—

इस शरीराभिमानी प्राण को ही आत्मा कहते हैं । यह आत्मा मुख्य करके चार संस्थाओं में बंटा हुआ है । चिदात्मा, विज्ञानआत्मा, महान्आत्मा और भूतात्मा—इनमें शास्त्र का तात्पर्य मुख्य करके दो आत्माओं से है । चिदात्मा और भूतात्मा से क्योंकि ऊपर की तीन आत्मायें भूतात्मा से मिले रहने के कारण जब भूतात्मा पृथ्वी से सम्बन्ध रखता है, तब तीनों आत्मायें पृथ्वी में बद्ध रहती हैं, किन्तु शरीर के द्वारा पृथ्वी का बन्धन टूटने पर चिदात्मा के ही आकर्षण से उसी की ओर नीचे की तीनों आत्मायें आकृष्ट हो जाती है । इनमें भूतात्मा का उन तीनों आत्माओं के स्थान में जाना ही भूतात्मा की गति है।

किन्तु भूतात्मा महान् के सम्बन्ध से सूर्य में जा सकता है, किन्तु जब तक यह भूतात्मा पृथ्वी का भूतरस, चन्द्रमा का सोमरस और सूर्य का अग्निरस इन तीनों प्राणों से मुक्त न होवें तब तक यह भूतात्मा चिदात्मा के लोक में नहीं जा सकता। उन तीनों रसों की मुक्ति का प्रतिबन्धक अथवा उन तीनों रसों से बन्धन कराने वाला अथवा यों कहिये कि भूतात्मा को भूतात्मा बनानेवाला या कायम रखने वाला जो इसमें धर्म है वह "काम" के नाम से कहा जाता है। काममय होना ही इस आत्मा में भूतात्मापना है अथवा यों समझना चाहिए कि चिदात्मा ही असंख्य कामनाओं के आवरण से ढका हुआ होकर भूतात्मा कहलाता है कामनाओं ही के आकर्षण से पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य आदि अनेकानेक लोकों की ओर खिंचाव होने के कारण यह शुद्ध चिदात्मा के लोक में नहीं जा सकता, इसलिए जब तक यह आत्मा सकाम रहेगा तब तक इसकी परामुक्ति नहीं हो सकती, परन्तु इस कामना की निवृत्ति केवल विद्या से ही हो सकती है। यह विद्या लोकान्तर में आत्मा की गति होने पर धीरे–धीरे कर्म भोगों के द्वारा क्षीण होने पर हो सकती है, अथवा अनेक जन्मों के सदाचार के द्वारा अन्तःकरण धीरे-धीरे शुद्ध होते-होते इस पृथ्वी पर केवल प्रारब्ध कर्म के द्वारा जन्म लेने पर उस कर्म के भोग के अन्त में आत्मा नैष्कर्म्य होकर ज्ञानस्वरूप बन जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि विद्या की प्राप्ति एकाएक नहीं हो सकती धीरे-२ कर्मों की निवृत्ति होते-होते किसी समय नैष्कर्म्य प्राप्ति कदाचित् सूर्यादि लोकान्तर में गति होने पर वहां भी हो सकती है और कदाचित् पृथ्वीपर भी हो सकती है। इन दोनों अवस्थाओं में यदि स्वर्ग भोग के अन्त में अथवा प्राकाम्य मुक्ति का समय यदि नैष्कर्म्य के द्वारा ज्ञानोदय होकर आत्मा निष्काम हो जावें तो उसें सद्योमुक्ति कहते हैं। इसी सद्योमुक्ति को * समवलय मुक्ति कहते हैं। यह मुक्ति जीवन मुक्तों की होती है। इस मुक्ति में प्राणी का शरीर छोड़ने के अनन्तर लोकान्तर में जाने के लिए प्राण का उत्क्रमण नहीं होता। सर्वत्र व्यापक चिदात्मा में भूतात्मा वाली चिदात्मा लीन होकर एक हो जाती है। उत्क्रमण अर्थात् गति का निमित्त आत्मा में काम, शुक्र और अविद्या हैं। व्यापक चिदात्मा ही काम, शुक्र, अविद्या के द्वारा परि–च्छिन्न होकर गति के योग्य होता है। किन्तु इन कामादि तीनों के नाश होने पर वह चिदात्मा पूर्ववत् अपने रूप में आ जाता है, और अपरिच्छिन्न व्यापक रूप में आने से उसकी गति नहीं होती। यह गति न होना या निरावरण निरञ्जन होना यही आत्मा के समवलय मुक्ति का लक्षण है। ऐसा ही उपनिषद में कहा है—

**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते, कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।**
**अथ मर्त्योऽमृत्यो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते॥**

अर्थात् जब सब कामनायें दूर हो जाती हैं जो कि इस प्राणी के हृदय में जमी हुई हैं तो उस दशा में यह मर्त्य अर्थात् मरण–धर्मा जीव अमृत अर्थात् जन्म, मृत्यु बन्धन से रहित हो जाता है और यहां ही ब्रह्ममय व्याप्त हो जाता है।

---

* समवलय=सम-एक, अव-धरा, लय-होना।

## दान

आत्मा अपनी व्याप्ति के द्वारा अपनी संस्था को पञ्चपर्वा बनाता है । आत्मा, जाया, प्रजा, पशु,
वित्त । इनमें जाया और प्रजा तो अन्तरङ्ग हैं और पशु, वित्त, बहिरङ्ग हैं । इन दोनों अङ्गों के बिना
अङ्गहीन आत्मा अपूर्ण रहता है, इसीलिए इन चारों अङ्गों को आत्मीय (आत्मा सम्बन्धी) भी कहते हैं
और आत्मा भी कहते हैं । मुख्य आत्मा की इन चारों पर ममता रहती है, इससे ये चारों आत्मीय हैं।
किन्तु इन चारों के बिना आत्मा भी अपूर्ण रहती है इसलिए ये पांचों एक साथ रहकर एक आत्मा की
संस्था बनती है । आत्मा की तीन संस्थायें होती हैं—अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग, साधारण, प्रत्येक संस्था पञ्चांग
है-ब्रह्मा, इन्द्र, विष्णु, अग्नि, सोम ये पांच दैवत्व अन्तरङ्ग संस्था हैं आत्मा, जाया, प्रजा, पशु, वित्त ये
पञ्चपर्वा बहिरङ्ग संस्था है और आत्मा, कुटुम्ब, समाज, जाति और विश्व ये साधारण संस्था हैं ।

मुख्य आत्मा का इन चारों आत्मीयों पर एक सम्बन्ध सूत्र नियत रहता है और वह प्राणमय है-
यह तीन प्रकार का है । भर्ग, मह और यश हमारी आत्मा में जितना आग्नेय भाग है वह सब भर्गप्राण
है और सब वायव्य मह प्राण है और सब सौम्य यशः प्राण हैं । चौथा आदित्य प्राण भी आग्नेय प्राण
में अन्तर्गत है इसलिए हमारे शरीर में क्षर जाति के सब प्राण तीन ही प्रकार के हैं । इन सब प्राणों
को दैवप्राण कहते हैं । ज्योतिष शास्त्रानुसार सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के या नक्षत्र राशियों के सम्बन्ध से
जो आत्मा पर कुछ विशेषता होती है वह इन्हीं तीनों प्राणों के रूप में परिणत होती है ।

इनके अतिरिक्त जो कुछ हम ज्ञान पूर्वक अथवा अज्ञानता से शुभ अशुभ कर्म करते हैं उसका भी
शुभ अशुभ अतिशय आत्मा में उत्पन्न हुआ करता है वह भी हमारी आत्मा का धर्म है इस प्रकार देव
और कर्म इन दोनों धर्मों को लिए हुए हमारा महा प्राण जो वायु रूप है नाना प्रकार का हो जाता है
देव अतिशय और कर्म अतिशय के परिवर्तन के अनुसार जैसे कर्पूर, कस्तूरी, केसर और चन्दन, कमल,
चम्पक आदि गन्धों के सम्बन्ध से वायु भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभूत होता है, उसी भांति देव संस्कार
या कर्म संस्कार के सम्बन्ध से महर्वायु भी भिन्न-भिन्न होकर मुख्य आत्मा के शरीर से निकलता है और
उन चारों अङ्गों में जिनमें आत्मा का ममत्व रूप स्वत्व है, चाहे उन्हें आत्मा जानता हो या न जानता
हो केवल स्वत्वमात्र से उन पर महर्वायु का संसर्ग होता है और उसी प्राण सूत्र के द्वारा आत्मा के साथ
वे चारों अङ्ग संबद्ध रहते हैं ऐसी स्थिति में यदि आत्मा का दैव संस्कार या कर्म संस्कार उत्तम है तो,
उस आत्मा के चारों अङ्ग उसके उत्तम प्राण में व्याप्त होंगे अथवा निकृष्ट हैं तो वे चारों अङ्ग भी
निकृष्ट होंगे जैसा कि महाभारत के राजनीति प्रसंग में कहा है—

**राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।**
**राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ।।**

अर्थात् राजा के धर्मात्मा होने से धर्मात्मा, पापी होने से पापात्मा, और समान होने से प्रजा भी
सम होती है । प्रजा राजा का अनुकरण करती है जैसा राजा होता है वैसी प्रजा होती है ।

जिस प्रकार सूर्य विम्ब पर मेघ का आवरण होने से पृथ्वी पर सूर्य प्रकाश में भी छाया का आवरण हो जाता है उसी प्रकार मुख्य आत्मा में भी शुभ या अशुभ जैसा संस्कार उत्तम होता है उसका असर उन सब अङ्गों पर जिनमें आत्मा की किरण पड़ती है तत्काल ही अवश्य संक्रान्त ( व्याप्त ) हो जाता है क्योंकि पांचों मिलकर एक आत्मा का स्वरूप सिद्ध है, इसलिये मुख्य आत्मा पर उत्पन्न हुआ संस्कार उन पांचों पर एक साथ ही व्याप्त होकर स्थिर रहता है।

आत्मा के इन पांचों पर्वों में से दो बहिरङ्ग अङ्गों का दान किया जा सकता है, क्योंकि वे दोनों विचाली हैं, परिवर्तनशील हैं। इनकी न्यूनाधिकता से आत्मा की अधिक क्षति नहीं होती, किन्तु दोनों अन्तरङ्ग अङ्गों का या मुख्य आत्मा का दान करना निषिद्ध है ये तीनों अदेय ( नहीं देने योग्य ) माने जाते हैं। इनका देना धर्म नहीं किन्तु आपत्तिकाल में इन तीनों को भी दे सकते हैं, किन्तु वह आपद धर्म कहकर धर्म का पृथग् विभाग है। सहसा इन तीनों को कदापि नहीं देना चाहिये किन्तु दोनों बहिरङ्गों में से जितना अधिक दान किया जाय उतना अच्छा है।

इन दोनों बहिरङ्गों के दान से देने वाले और लेने वाले इन दोनों की आत्माओं में अर्थात् प्राण में परिवर्तन होता है। देने वाले का धर्म जितना उन बहिरङ्गों में व्याप्त रहता है वह दान के द्वारा लेने वाले में संक्रान्त हो जाता है और देनेवाले का उतना धर्म कम हो जाता है। उसको यों समझना चाहिये कि किसी स्थान पर गदला पानी गिर पड़ा हो और उसको साफ करना हो तो एक कपड़े का टुकड़ा लेकर गदले पानी में भिगो-भिगो कर एक बार या अनेकबार बाहर निचोड़ा जावे तो वह स्थान शुद्ध हो सकता है। इसी प्रकार किसी दान पात्र से अपने द्रव्यों का सम्बन्ध कराकर अपने धर्मों की निवृत्ति करके अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकते हैं।

इस दान से तीन विषयों का संक्रमण या परिवर्तन होता है। १ प्रकृति, २ अदृष्ट या दैव, ३ कर्म यदि कोई व्यक्ति शान्त प्रकृति होने पर भी किसी क्रोधी, तामसी, दुराचारीप्रकृति के घर का अन्न नियम से भोजन करे तो क्रम क्रम कुछ कुछ परिवर्तन होते-होते उस भोजन करने वाले की प्रकृति अन्न देने वाले की प्रकृति से मिल जायगी याने सदृश हो जायगी।

इसी प्रकार शान्त आत्मा का अन्न खाने से क्रोध प्रकृति का मनुष्य भी कुछ काल में शान्त प्रकृति हो सकता है। यह प्रकृति परिवर्तन हुआ। इसी प्रकार यदि किसी का दिन चक्र (जीवनदशा) या दुर्दैव या दुरदृष्ट के कारण अधम हो, दुःखदाई हो तो उसके दान करने से उसका दुर्दैव या दुरदृष्ट लेने वाले में अवश्य संक्रान्त होगा और उससे दाता में उस दुर्दैव की कमी होगी। जितनी मात्रा में दुर्दैव ज्योतिष शास्त्र के द्वारा निश्चित हो, न्यूनाधिक उतनी ही मात्रा का दान करने से सब दुर्दैव निवृत्त हो सकता है। किन्तु दुर्दैव की मात्रा से कम दान करने पर सब दुर्दैव की निवृत्ति न होने पर भी दान मात्रा के अनुसार निवृत्ति अवश्य होगी, यह प्राकृत नियम है। इसी प्रकार पाप या पुण्य करने वाली आत्मा का कर्म जन्य अतिशय दान लेनेवाले में जाता है। पापी का दान लेने से लेने वाला पाप का भागी होगा किन्तु दाता के पाप की निवृत्ति होगी।

यह वस्तु भी जाननी चाहिये कि यदि प्रति उपकार बदले में कुछ मिलने की दृष्टि से किसी जान पहचान के आदमी को दान दिया जाय तो दाता के आत्मा में से दैव या कर्म की निवृत्ति नहीं होती। जिस वस्तु के पाने के अभिप्राय से दान दिया गया हो तो दिये हुये द्रव्य के बदले में उसी अभिप्रेत (इच्छित) वस्तु पर दाता का दुरदृष्ट या कर्म अवलम्बित होकर रह जाता है। इसी तरह यश या कीर्ति के अभिप्राय से दान देना भी निष्फल होता है गुप्तदान की महिमा इसीलिये अधिक है, क्योंकि उसके बदले में कोई चीज नहीं चाही जाती।

एक बात और जाननी चाहिये कि दाता अपने अदृष्ट या कर्म जिसकी निवृत्ति के लिये दान देना चाहता है, उस पाप की कमी लेनेवाले में अवश्य ही होनी चाहिये। क्योंकि यह प्रकृति का नियम है कि पानी भरे हुए खड्ढे में पानी नहीं जा सकता खाली खड्ढे में जाता है। इसलिये यदि दाता अपनी पाप निवृत्ति के लिये दान करे तो उसको पवित्र, सदाचारी, पुण्यात्मा विद्वान् ब्राह्मण जो अग्नि स्वरूप है या जो आये हुए पाप को अग्नि के सदृश्य दाह करने में समर्थ है ऐसा सर्वाङ्ग सम्पन्न दान पात्र ढूंढना चाहिये क्योंकि उस आत्मा में उसके शरीर का निर्माण (बनावट) और विद्या आदि सद्गुणों के द्वारा पुण्यात्मा होना या पाप की कमी होना निश्चित् है। इसलिये उसमें दान देने से उसमें पाप बहुत शीघ्र संक्रान्त हो सकता है। किन्तु अङ्गहीन मूर्ख, दुराचारी आदि निकृष्ट पात्र जिनमें पहले ही से पाप भरा है उसको दान देना निष्फल होगा। इसलिये इस दान के द्वारा जहां तक सम्भव हो यदि पापों को निःशेष निवृत्त कर सकें तो उससे नरक भोग की निवृत्ति हो सकती है यही दान का फल है, और यदि पाप न रहने पर भी हम दान करें तो उसमें लेने वाले का पुण्य दाता में आकर सञ्चित होता है। इससे उसके पुण्य को लेकर स्वर्ग भोग भी प्राप्त कर सकते हैं और यदि निरन्तर सब प्रकार के दान करते करते हम अपने पुण्य पाप दोनों को निःशेष निवृत्त करदें केवल प्राकृत कर्म ही हम में शेष रह जावे तो सम्भव है कि इस दान से ब्रह्मलोक की प्राकाम्य मुक्ति भी मिल सकती है। यहां प्रश्न हो सकता है कि—

**न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागे नैके अमृतत्व मानषुः।**
**परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति॥**

अर्थात् न कर्म से, न सन्तान से, न धन से, न दान से अमृतत्व याने मोक्ष मिल सकता है सातवां देवस्वर्ग जो नाक कहलाता है उससे भी परे छिपी हुई जगह में जो ज्योतिषः स्वरूप विराजमान है उसमें यति (आत्मदर्शी) लोग ही प्रवेश करते हैं।

इस वेद वचन के अनुसार दान से मुक्ति का न मिलना कहा गया है, फिर यहां दान से ब्रह्मलोक प्राप्ति कहना अनुचित है। तो इसका समाधान यह होगा कि यह वेद वाक्य साक्षात् दान से मोक्ष मिलने का निषेध करता है। किन्तु विशेष प्रकार के दान से आत्मा और अन्तः करण विशुद्ध होकर ज्ञान का उदय हो जाता है। इसलिये परम्परा से दान के द्वारा भी अवर मुक्ति मिल सकती है।

इसके अतिरिक्त यहां यह भी जानना चाहिये कि दान अनन्त प्रकार के होने पर भी विशेषतया तीन प्रकार का है। द्रव्यदान, अभयदान और विद्या दान—इनमें द्रव्यदान का विषय ऊपर कहा जा चुका है। उसमें भूमिदान, अन्न-वस्त्र दान, पशु दान, स्वर्णादि धन दान ये सब शामिल हैं इनसे भी अधिक

मात्रा में दान होने पर ऊपर कहे अनुसार परम्परा से कदाचित् ज्ञान उत्पन्न हो जावे तो अवर मुक्ति मिल सकती है किन्तु इन सब द्रव्यदानों की अपेक्षा ऊँची कक्षा का दान अभय दान है, जिसको प्राण दान भी कहते हैं। जिसका वध होना उपस्थित हो या शत्रु सङ्कट से मृत्यु के समान कष्ट उपस्थित हो या किसी प्रकार का आतङ्क प्राण बाधा का भय हो तो उस समय प्राण विह्वल हो उठता है और विह्वलित होकर अपना स्थान छोड़ने लगता है तो उस समय अभयदान देना जीवन दान है इस के द्वारा भी दाता की आत्मा का बल बहुत बढ़ जाता है, इसका अर्थ यह है कि दाता की आत्मा में इन्द्र की सत्ता अधिक-मात्रा में आ जाती है जिसके प्रभाव से दाता का आत्मा यज्ञ बल के अनुसार नियमतः स्वर्ग लोक में जाता है। इसी प्रकार इस प्राण दान की अपेक्षा भी उँची कक्षा का विद्यादान है, जिससे आत्मा के मूल स्वरूप विद्या की वृद्धि होती है, इससे आत्मा बनती है क्योंकि आत्मा ज्ञान मय है। ज्ञान की वृद्धि के द्वारा आत्मा की वृद्धि होती जाती है और सब अन्य दान आत्मा के अङ्गों का दान है। किन्तु विद्या से मुख्य अङ्गी का दान होता है इससे दाता की आत्मा विशुद्ध होकर मुक्ति के योग्य अवश्य हो जाती है। ऐसे दाता आत्मा को भी यति कह सकते हैं। इसलिये उस आत्मा को भी नाक लोक से परे विराज मान ज्योतिः स्वरूप श्री भगवान् सच्चिदानन्द ईश्वर अवश्य प्राप्त हो सकता है। विद्या दान, कन्यादान, शालिग्राम का दान, गोदान, भूमि दान ये पांच दान दाता और दान पात्र दोनों का कल्याण करते हैं।

## (उपसंहार)

इस प्रकार सिद्ध हो गया कि यज्ञ तप और दान दैवआत्मा की शक्ति बढ़ाकर उसे सूर्य मण्डल में जाने का अवसर देते हैं इससे उसे अपने कारण में पहुंचकर लीन हो जाने का सौभाग्य मिलता है।

यों भिन्न-भिन्न आत्मा और उनकी भिन्न गतियों का संक्षिप्त निरूपण किया गया। वस्तुतः आत्मा के पृथक् भाव रूप बन्धन मुक्त होकर अपना परम भाव प्राप्त करने में मन ही मुख्य कारण है इसलिये शास्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि—

**न देहो न च जीवात्मा, नेन्द्रियाणि परन्तप।**
**मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्ध मोक्षयोः॥**

अर्थात् बन्धन और मोक्ष का कारण न केवल देह है (क्योंकि वह तो पीछे बनता है) न शुद्ध जीव आत्मा है (क्योंकि बिना आगन्तुक सम्बन्ध के शुद्ध आत्मा में विकार ही क्यों होता) न इन्द्रियां ही स्वतन्त्र रूपसे बन्धन मोक्ष का कारण हो सकती हैं (क्योंकि देहकी तरह वे भी पीछे उत्पन्न होने वाली हैं इसलिये मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का मुख्य कारण मन ही है। जैसा कि पूर्व निरूपण प्रक्रिया में स्पष्ट हो चुका है।

**समाप्तम्**